

हिन्दीविवेचनसमन्वित
तत्त्वबोधविधायिनी टीकालङ्कृत

॥ सन्मति - तर्कप्रकरण ॥

खण्ड - ५



सूत्रकार :
सिद्धसेन दिवाकरसूरि

वृत्तिकार :
तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरि

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट, कलिकुण्ड
धोलका - ३८७८१०



श्री डिमरा श्वे. भू. जैन संध मंडुवा



श्री पद्मप्रभस्वामी भगवान
डिमरा (सूख)



मेरा मुझ में कछु नाहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सोंपतें, क्या लागत है मेरा ॥

युवाशिविर के आद्यप्रणेता
परम पूज्य भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा के
चरणों में
सादर समर्पण

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

आचार्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिविरचित

सन्मति-तर्कप्रकरण

जैन-श्वेताम्बर-राजगच्छीयमहर्षि-प्रद्युम्नसूरिशिष्य
तर्कपंचाननश्रीअभयदेवसूरिजीविरचित

✽ तत्त्वबोधविधायिनी-व्याख्या ✽

✽ हिन्दी विवेचन ✽

तृतीयकाण्ड

पंचमखंड

हिन्दी विवेचन के

मार्गदर्शक एवं प्रेरक

न्यायविशारद-संघहितैषी-शास्त्रमर्मज्ञ-आचार्यदेव

श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

प्रकाशक

दिव्यदर्शन ट्रस्ट

३६, कलिकुंड सोसायटी,

धोळका (गुजरात) - पीन - 387810

सन्मतितर्कप्रकरण-पंचमखंड

प्रकाशक :- दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाळ वि. शाह
३६, कलिकुंड सोसायटी,
धोळका (गुजरात) - पीन - 387810

मूल्य - ६००/- रूपये

सम्पूर्ण सेट मूल्य ३०००/- रूपये

प्रकाशन वर्ष

वीर नि.सं. २५२२
विक्रम सं. २०५२ (प्र० आवृत्ति)
विक्रम सं. २०६७ (द्वि० आवृत्ति)
वीर नि.सं. २५३७

टाईपसेटिंग

श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स
अमदावाद-३८०००८
फोन.(०७९) २५४६०२९५

✽ सर्वाधिकार श्रमणप्रधान श्री संघ को स्वायत्त ✽

- प्राप्ति स्थान :- (१) प्रकाशक
(२) सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथीखाना, रतनपोळ, अमदावाद-३८० ००१.
(३) हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय
हीराबाग, सी.पी.टेन्क, मुंबई-४.

✽ संपूर्ण आर्थिक सहायता ✽

श्री श्वे० मू० जैन संघ - उमरा - सूरत

शतशः धन्यवाद

आशिर्वचन

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानु सू.म.सा.

दुष्काल में घेवर मीले वैसा यह 'सम्मति-तर्क०' टीका-हिंदी विवेचन ग्रन्थ आज तत्त्वबुभुक्षु जनता के करकमल में उपस्थित हो रहा है । आज की पाश्चात्य रीतरसम के प्रभाव में प्राचीन संस्कृत-प्राकृत शास्त्रों के अध्ययन में व चिंतन-मनन में दुःखद औदासीन्य दिख रहा है । कई भाग्यवानों को तत्त्व की जिज्ञासा होने पर भी संस्कृत, प्राकृत एवं न्यायादि दर्शन के शास्त्रों का ज्ञान न होने से भूखे तड़पते हैं, ऐसी वर्तमान परिस्थिति में यह तत्त्वपूर्ण शास्त्र, प्रचलित भाषा में एक पक्वान्न-थाल की भांति उपस्थित हो रहा है ।

दरअसल राजा विक्रमादित्य को प्रतिबोध करने वाले महाविद्वान् जैनाचार्य श्री सिद्धसेनदेवाकर महाराज ने जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद-अनेकांतवाद का आश्रय कर एकांतवादी दर्शनों की समीक्षा व जैनदर्शन की सर्वोपरिता की प्रतिष्ठा करने वाले श्री संमतितर्क (सन्मति तर्क) प्रकरण शास्त्र की रचना की। इस पर तर्कपंचानन वादी श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने विस्तृत-व्याख्या लिखी जिसमें बौद्ध-न्याय-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसकादि दर्शनों की मान्यताओं का पूर्वपक्षरूप में प्रतिपादन एवं उनका निराकरण रूप में उत्तर पक्ष का प्रतिपादन ऐसी तर्क पर तर्क, तर्क पर तर्क की शैली से किया है कि अगर कोई तार्किक बनना चाहे तो इस व्याख्या के गहरे अध्ययन से बन सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु अन्यान्य दर्शनों का बोध एवं जैन दर्शन की तत्त्वों के बारे में सही मान्यता एवं विश्व को जैनधर्म की विशिष्ट देन स्वरूप अनेकान्तवाद का सम्यग् बोध प्राप्त होता है।

इस महान शास्त्र को जैसे पढते चलते हैं वैसे वैसे मिथ्या दर्शन को मान्य विविध पदार्थ व सिद्धान्त कितने गलत है इसका ठीक परिचय मिलता है, व जैन तत्त्व पदार्थों का विशद बोध होता है। इससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, और प्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल होता चलता है । सम्यग्दर्शन की अधिकाधिक निर्मलता चारित्र की अधिकाधिक निर्मलता की संपादक होती है । इसीलिए तो 'निशीथ-चूर्णि' शास्त्र में संमति-तर्क आदि के अध्ययनार्थ आवश्यकता पडने पर आधाकर्म आदि साधु-गोचरी-दोष के सेवन में चारित्र का भंग नहीं ऐसा विधान किया है । यह संमति-तर्क शास्त्र बढिया मनःसंशोधक व तत्त्व-प्रकाशक होने से इस पंचमकाल में एक उच्च निधि समान है । मुमुक्षु भव्य जीव इसका बार बार परिशीलन करें व इस हिन्दी विवेचन के कर्ता मुनिश्री अन्यान्य तात्त्विक शास्त्रों का ऐसा सुबोध विवेचन करते रहे यही शुभेच्छा !

वि.सं.२०४० आषाढ कृ.११

आचार्य विजय
भुवनभानुसूरि

* गुरुदेव के आशिर्वचन *

पंचम आरानो आ एक महत्वनो ग्रंथ पूर्वधर महाज्ञानी पुरुषे रच्यो छे कारणके चोथा आरामां केवळज्ञानी-अवधिज्ञानी अने अनेक लब्धिवाळा अने अनेकानेक विशिष्ट ज्ञानीओना योगनी प्राप्ति थवाथी सन्मार्गमां जोडाएला जीवो ज वधारे रहेता हता अने ते जीवो पण अधिक सरळ अने सूक्ष्म विचारक हता. ज्यारे पांचमा आरामां मिथ्यादर्शनोनुं बळ वध्युं - जैनदर्शनना विशिष्टज्ञानीओ वगैरेनी आपेक्षित ओछाश मंदता थवाथी मिथ्यादर्शनो अनेक प्रकारना कुतर्कोथी उन्मार्ग प्रवर्ताववा असत्प्ररूपणा करवा लाग्या. जोके सर्वकाळ माटे जैनदर्शन अने एना सिद्धांतो अबाधित अने प्रभावशाळी रह्या छे अने रहेवाना छे छतां श्री सिद्धर्षि गणधर बौद्धदर्शनथी भरमाया अने जैनदर्शनथी पाछा स्वस्थ थया, छेवटे तो ललितविस्तरा ग्रंथ ज एमने दृढ स्थिर थवामां कारण बन्यो. ए ग्रंथ पण आपनार एमना गुरु ज हता. ज्यारे गुरुनुं पण न चाले त्यारे एवा उत्तम मार्मिक शास्त्रो तेवा जीवोने मार्गमां स्थिर करवा काम लागे छे आ दृष्टिथी जेम ललितविस्तरानी रचना छे तेम मिथ्यादर्शनना अनेक असंबद्ध अने असत् पदार्थोनुं तार्किक अने संगीन खंडनपूर्वक जैनदर्शन मान्य वातोनुं सतर्क हृदयग्राही खंडन आ ग्रंथमां टीकाकार भगवंतोए कर्तुं छे - आ टीका ग्रंथ पण कठन अने श्रमग्राह्य तीक्ष्णबुद्धिग्राह्य छे तेथी ज आवा ग्रंथोने व्यवहारिक अने भाषागम्य करवा माटे सूक्ष्मबुद्धि न्यायनी मार्मिक समजण अने भाषामां उतारवा माटे चालु भाषानी पण सुंदर लेखन शैली पामेला वर्षो सुधी प्राचीन अने नव्य न्यायना ऊंडा उभ्यासी-जैनदर्शनना न्याय अने तत्त्वोना अभ्यासी एवा शिष्यरत्न आचार्यश्री जयसुंदरसूरिजीए ३०-३२ वर्षना परिश्रम द्वारा आ ग्रंथने लोकभाषामां सरळ ग्राह्य बनव्यो छे. जाते ज लेखन कर्तुं छे. बीजो आवो ज अति मोटो अने अतिगंभीर तर्क न्याय अने चर्चापूर्ण ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय ग्रंथ छे - एनुं पण सांगोपांग संपादन पोते कर्तुं छे आ ग्रंथना अभ्यासथी जैनशासन दर्शननुं व्यवहारिक गौरव तो घणुं ज वधशे अने तार्किकदृष्टिवाळा अभ्यासको प्रभुना मार्गमां दृढ स्थिर थशे. आवा ग्रंथोनुं माहात्म्य पांचमा आरामां सविशेष जरूरी छे.

ग्रंथकार अने टीकाकारनी जेम आवा ग्रंथोना अनुवादो विवेचनो ए संघनी कीमती मूडी छे अने भंडारोमां व्यवस्थित संग्रहणीय अने रक्षणीय छे. जेम अति कीमति रत्नो कोईने अने क्यारेक तेवा पून्यशाळीने ज काम लागे. परंतु तेनो संग्रह अने रक्षण सर्वप्रयत्नोथी कराय छे तेम आ ग्रंथना भणनार अल्प-अल्पतम होय तेथी एनुं माहात्म्य घटनुं नथी. आ ग्रंथनी जेम परमगुरुदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजे ललीतविस्तरानुं जे विवेचन लख्युं छे ते पण न्यायतर्क अने जैनमार्गना तर्को अने तत्त्वथी पूर्ण शासननो अमूल्यग्रंथ छे जे श्रद्धाने अने परमात्मा उपरनी भक्तिने अत्यंत विकसित करे छे. अनेक ज्ञानी महात्माओ आ रीते अतिउपयोगी ग्रंथोनुं विरचन अने विशुद्धीकरण करे छे आ पण प्रभुना शासननी बलिहारी छे. आ ग्रंथकार अनुवादना प्रयत्ननी खुब खुब अनुमोदना- संयम पालननी सर्वतोमुखी जागृति, प्रभु मार्गनी प्ररूपणा द्वारा देशनाद्वारा प्रभुशासनने अखंडित प्रवाहीत वहन करवो-कराववो अने शास्त्रचितन-मनन द्वारा आत्माने भावित करवानुं कार्य शासनना श्रमणोनुं छे. तेमां प्रवर्तन करनार टकी रहेनार सौने धन्यवाद !

अनुमोदना.

सान्ताक्रुझ - वि०सं० २०६७, श्रा० सु० १

लि० विजयजयघोषसूरि

❀ प्रकाशकीय निवेदन ❀

श्री सिद्धसेनदिवाकर सूरिविरचित श्री सन्मति तर्कप्रकरण की व्याख्या एवं हिन्दी विवेचन के साथ दूसरा खंड प्रकाशित करने के बाद अब पंचमखंड का प्रकाशन करते हुए हमें आनंद ही आनंद है।

श्री जैनशासन में दर्शनप्रभावक शास्त्रग्रन्थों में श्रीसन्मति तर्कप्रकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी महाराज जैन शासन के प्रभावक आचार्यों में अग्रगण्य रहे हैं। आप ने संवत् प्रवर्त्तक अवन्तिराज विक्रम को धर्मोपदेश दे कर श्रीजिनशासन का भक्त बनाया। विक्रमराजा ने आप को सर्वज्ञतुल्य समझ कर कोटि द्रव्य दान में दिया किंतु आपने निःस्पृहता से कह दिया — दरिद्रान् भर राजेन्द्र ! हे राजन् तू इस धन से दरिद्र-अनाथ लोगों को ऋणमुक्ति प्रदान कर ! विक्रम राजा ने पूज्यश्री के आदेश को शिरोधार्य कर के सभी कर्जदारों को कर्ज से मुक्ति दिलाई- उसी की याद में विक्रमसंवत् का प्रवर्त्तन हुआ। ऐसे महामहिम निःस्पृह आचार्य के चरणों में हम बार बार वन्दना करते हैं। उन का बनाया हुआ यह तर्कप्रकरण अनेक गूढ रहस्यों से भरा हुआ है। अनेक दार्शनिक तथ्यों का इस में स्पष्टीकरण किया गया है।

स्व.पूज्यपादगुरुदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा.की कृपा से ही इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन का लाभ हमें प्राप्त हुआ है। उन्हीं के आदेश को शिरोधार्य कर के उन्हीं के विद्वान् प्रशिष्यरत्न पूज्य पं.श्री जयसुंदरविजय गणि महाराज ने हिन्दी विवेचन की रचना कर के एवं पूरे ग्रन्थ का सम्पादन-संशोधन कर के जैन शासन की महती सेवा की है। इस खंड के प्रकाशनार्थ श्री उमरा जैन श्वे.मू.संघ (सूरत) की ओर से अपने ज्ञाननिधि से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है — उसकी हम अनुमोदना करते हैं।

इस कार्य में प्राचीन हस्तलिखित प्रतों के ज्ञानभंडार एवं मुद्रित ग्रन्थवाले ज्ञानभंडारों के व्यवहारचिन्तकों का भी सहयोग उल्लेखार्ह है, जिन्होंने उदारमन से अपने अपने मूल्यवान् ग्रन्थों का विनियोग किया है।

स्मरण में रहे कि सन्मति तर्क० के हिन्दीविवेचनवाले प्रथमखंड का प्रकाशन शेठ मोतीशा लालबाग ट्रस्ट-भूलेश्वर-मुंबई की ओर से वि.सं. २०४० में हुआ था। उस के बाद वि.सं. २०५१ में हमारी संस्था से इसी ग्रन्थ का दूसरा खंड प्रकाशित हुआ है। और अब हमारी संस्था से यह पंचम खंड का प्रकाशन हो रहा है। (उस की यह द्वितीयावृत्ति पुनर्मुद्रित है।)

ऐसे उत्तम ग्रन्थरत्न के प्रकाशनार्थ श्री उमरा जैन श्वे.मू.संघ (सूरत) की ओर से अपने ज्ञाननिधि में से संपूर्ण आर्थिक लाभ लिया गया है — धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थमुद्रण के लिये टाईप-सेटिंग करने वाले श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स (मणिनगर-अहमदाबाद) के अजयभाई एवं विमलभाई दोनों अभिनंदन के पात्र हैं। ऐसे उत्तम ग्रन्थरत्नों के प्रकाशनार्थ हमारी संस्था सदैव प्रगति करती रहे यही शासनदेव को प्रार्थना।

लि.

श्री दिव्यदर्शनट्रस्ट के ट्रस्टीगण की ओर से
कुमारपाळ वि. शाह

* सम्पादक अनुभव *

बहुत साल बीत गये सन्मतिकर्कप्रकरण का सम्पादन एवं हिन्दी विवेचन करते करते।

प्रथमभाग के सम्पादन में एक पत्राकार मुद्रित प्रति, एक पुस्तकाकार किताब एवं सुखलाल-बेचरदासयुगल सम्पादित किताब का सदुपयोग किया गया था, जिस में प्राचीन हस्तप्रतियाँ कागज-ताडपत्रों की हस्तप्रतियों का भी आवश्यकतानुसार उपयोग किया था। द्वितीय से पंचम खंड के सम्पादन में मूलाधार तो सुखलाल-बेचरदास सम्पादित आवृत्ति ही रही, विशेषतः ऊपर उल्लिखित हस्तप्रतियों का सहारा लिया गया। पंडितयुगल सम्पादित तृतीयखंड की आवृत्ति में बहुत ही अशुद्ध पाठ बहुत से प्रश्न चिह्न एवं कौंस लगा कर ऐसे ही छोड़ दिये गये थे - चूँकि उन्हें जो कागज की हस्तप्रत मिली थी वे सब वैसी ही अशुद्ध थी और उस खंड के लिये अति अपेक्षित ताडपत्रीय कोई प्रत उपलब्ध नहीं हुई। सम्पादनकाल में हमारी भी यही स्थिति रही। हमने हेतुबिन्दु एवं अन्य मुद्रित अनेक ग्रन्थों को देखा लेकिन उन से कुछ सहारा नहीं मिला।

हाँ, प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ बहुत स्थानों में उपयुक्त बना। प्रमाणवार्तिक की बहुत कारिकाएँ सन्मति० टीका ग्रन्थ में उद्धृत की गयी है अतः सम्पादन और हिन्दीविवेचन के लिये हम उस ग्रन्थ के ऋणी हैं।

पंडितयुगल के सम्पादन में विशमचिह्नों की दृष्टि से जहाँ जहाँ संमार्जन करने की आवश्यकता थी वह कर लिया है। तृतीयखंड सम्पादन में कौंसवाले प्रश्नचिह्नांकित जो परिच्छेद हैं वे सब हमने वैसे ही रखे हैं, फिर भी हिन्दी विवेचन में हमने जहाँ तक हो सके शुद्ध पाठ संभावना करके भावार्थ लिखने का प्रयास किया है। अत एव उन प्रभागों में हमारी भी क्षतियाँ पाठकों को दृष्टिगोचर हो सकती हैं एवं अन्य अन्य स्थलों में सम्पादन एवं विवेचन में भी हमारी त्रुटियाँ रह गयी होगी, पाठक वर्ग उनका सम्मार्जन करेंगे-हमारी यह प्रार्थना है। कारण, श्री जिनेश्वरप्रभु के वचनों में किसी भी क्षति को अवकाश नहीं होता, जो भी क्षतियाँ होगी वे हमारी हो सकती हैं।

जैन साधु पादचारी एवं भिन्न भिन्न प्रदेशों में विचरण करते हैं, बहुत परिमित सामग्री साथ में होती है, अतः अपेक्षित बहुभाग सामग्री के विरह के कारण भी अपेक्षित स्वरूप से सम्पादन और विवेचन कार्य करना सम्भवित नहीं रहता। हमारे इस विशालकाय कार्य में करीबन १ लाख से भी अधिक कि०मि० जघन्यरूप से पैदल विहार हो चुका होगा। अतः हमारे सम्पादन एवं विवेचन को कोई सम्पूर्ण मान लेने की जरूर नहीं है।

सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव प०पू०श्री वि०प्रेमसूरीश्वरजी म०सा०, न्यायविशारद प०पू०आ०श्री वि०भुवनभानुसू० म०सा० एवं उनके पड्डालंकार सिद्धान्तदिवाकर सुविशाल गच्छाधिपति आ०देव श्री वि०जयघोषसू०म०सा० आदि गुरुभगवंत की कृपादृष्टि से ही यह सुकृत हो सका है। अध्ययन-अध्यापन कराने वाले गुरुवर्ग, पंडितवर्ग, हस्तप्रत प्रदान करनेवाली संस्थाएँ, सुकृतकाल में उपयुक्त ग्रन्थ प्रदान करनेवाले जैन ज्ञानभंडार के संचालक, पूर्वमुद्रित प्रकाशन करनेवाली संस्थाएँ एवं पूर्व आवृत्तियों का सम्पादन करनेवाले विद्वज्जन ये सब इस सुकृत के सहभागी हैं, उन सभी का इस प्रकाशनकार्य पर ऋण है। इस आवृत्ति का प्रकाशन करने के लिये अपने ज्ञाननिधि से विशाल धनराशि का सदुपयोग करनेवाले जैन संघों को एवं इस ग्रन्थ के प्रकाशन की जिम्मेदारी वहन करनेवाली संस्था को हार्दिक धन्यवाद है। क्षतियों के लिये क्षमायाचना।

लि० जयसुंदरसूरि, वि०सं०२०६७.

इस सम्पूर्ण ग्रन्थ
(पाँच खंडों) के समुदित
नूतन प्रकाशन के लिये
श्री उमरा जैन श्वे० मू० संघ (सूरत)
ने विशाल धनराशि का सद्व्यय
अपने ज्ञाननिधि में से किया है -
एतदर्थ श्रीसंघ धन्यवादार्ह है।

प्रस्तावना

श्री सन्मति तर्कप्रकरण जैनशासन का अमूल्य निधान है। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद श्री जैनशासन का सर्वतो अधिक महत्त्वशाली प्रमुख सिद्धान्त है। जैनशास्त्रों में कहा है — एकान्तवाद मिथ्यात्व है, अनेकान्तवाद सम्यक्त्व है। एकान्तवाद संक्लेशकारक है, अनेकान्तवाद समाधानकारक, चित्तप्रसन्नताकारक है, क्लेशनिवारक है। हठ, जिद्द, कदाग्रह, मतममत्व, मतसंघर्ष — यह सब मिथ्यात्व का प्रदर्शन है। सापेक्षभाव से सत्य-तथ्य का स्वीकार एवं समर्थन, अनाग्रहिता, अपने अपने स्थान-अवसर में एक-दूसरे के मत की प्रस्तुतता-अप्रस्तुतता का विवेक, यह सब सम्यक्त्व का अलंकार है।

सन्मति तर्कप्रकरण के तृतीयकाण्ड-पंचमखंड में भारपूर्वक अनेकान्तवाद के स्वरूप एवं उस के महत्त्व का निरूपण किया गया है। सामान्य एवं विशेषपदार्थ सर्वथा एक-दूसरे से स्वतन्त्र भिन्न या अभिन्न नहीं है किन्तु अन्योन्य मिलित ही है, सामान्य-विशेष में भेदाभेद है। सन्मतिकार इस काण्ड की प्रथम कारिका से ही इस तरह सामान्य-विशेष के भेदाभेद दिखा कर के अनेकान्तवाद को पुरस्कृत करते हैं। इस काण्ड की अधिकतम कारिकाओं के द्वारा सन्मतिकार इसी तथ्य पर भार दे रहे हैं कि सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, व्यंजनपर्याय-अर्थपर्याय, उत्पाद-विनाश, हेतुवाद-अहेतुवाद, सत्कार्य-असत्कार्यवाद, कालादिकारणतावाद इत्यादि सभी वक्तव्यों में तद् तद् विषयों का निरूपण अनेकान्तवाद के आधार पर करने से ही सत्यप्ररूपणा को अवकाश मिलता है, एकान्तवाद के आधार पर होने वाली प्ररूपणा मिथ्या फलित होती है।

अन्य विशेष तो ठीक, अनेकान्त को भी अनेकान्तमय स्वीकारने के लिये सन्मतिकार इस ग्रन्थ में गाथा २७ में भारपूर्वक सूचना करते हैं। जैनशास्त्रकारों का यह प्रधान सूर रहा है कि जैन सिद्धान्तों का अध्ययन करते हुए पहले तो अनेकान्तवाद को समझ कर पूरे अपने विचारविश्व को अनेकान्त के रंग से रञ्जित कर देना चाहिये। एवं अपने प्रतिपादन को भी अनेकान्तगर्भित ही रखना चाहिये। अन्यथा अनर्थ हो सकता है।

जैन शास्त्रों में पृथ्वीकायादि छः जीवनिकायों का प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त का अध्ययन करनेवाला यदि एकान्ततः छः ही जीव निकाय की सदहणा कर ले तो वह पारमार्थिक सदहणा नहीं है। (देखिये गाथा २८) ऐसे महान् अनेकान्तवाद के प्रकाश में हम सरलता से यह समझ सकते हैं कि किसी भी सिद्धान्त को एकान्तवाद की पकड से ग्रहण कर के फिर उस एकान्तवाद-दूषित (वास्तव में अजैन) सिद्धान्त की रक्षा के नाम पर संघर्ष फैलाना, कलह की आग जलाना, उस आग में हजारों भद्र जीवों के हितों को बलि कर देना — यह सब घोर मिथ्यात्व — अभिनिवेशमिथ्यात्व का ताण्डव हो सकता है।

जैनशासन में वितण्डावाद या विवाद को कहीं भी स्थान नहीं है। धर्मवाद अवश्य अवसर प्राप्त है। कारण, धर्मवाद से मतिमालिन्य का शोधन होता है जब कि विवाद एवं वितण्डावाद से मतिमालिन्य की वृद्धि होती है। धर्मवाद और विवाद की भेदरेखा इतनी सूक्ष्म होती है कि कब धर्मवाद से विवाद में पतन हो जाय यह कहा नहीं जा सकता। इसी लिये अनेकान्तवाद के प्ररूपक को विवाद से बचा कर धर्मवाद में स्थिर करने के लिये पूज्य सन्मतिकार ने ४३ वीं गाथा में धर्मवाद के हेतुवाद एवं अहेतुवाद (आगम) ऐसे दो भेदों को उपदर्शित किया है। ४५ वीं गाथा में और स्पष्टता करते हुए कहा है कि जो प्रज्ञापक हेतुवादगम्य आगमिक पदार्थों का हेतु से और जहाँ हेतु की पहुँच नहीं है वैसे आगमिक पदार्थों का आगम से, प्रज्ञापन

करता है वही सच्चा जैन सिद्धान्तों का व्याख्याता है, उस से विपरीत प्ररूपणा करनेवाला सिद्धान्त का विराधक है। यहाँ भी अनेकान्तवाद की प्रधानता को नजर-अंदाज नहीं कर सकते।

जैनशासन में कारण-तत्त्वों का प्रतिपादन भी अनेकान्त से मुक्त नहीं है। ५३ वीं गाथा में यही तथ्य कहा गया है कि काल, स्वभाव, नियति, कर्म या पुरुषार्थ इन पांचों के समवाय (गौण-मुख्यभाव से समुदायापन्न) को कारण मानने में सम्यक्त्व दिखाया है, पृथक् एक एक को कारण मानने वाले एकान्तवाद में मिथ्यात्व दर्शाया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि अकेले प्रारब्ध या अकेले पुरुषार्थ से कहीं भी फलनिष्पत्ति नहीं होती।

जैनशास्त्रों में सम्यक्त्व के छः स्थान दिखाये गये हैं। ^१आत्मा है- ^२नित्य है- ^३कर्ता है- ^४भोक्ता है- ^५मोक्ष है- ^६मोक्षोपाय है। सन्मतिकार गाथा ५५ में कहते हैं कि ये छः स्थान भी मिथ्यात्व के हैं। कब ? एकान्तवाद से जब ऐसा मान लिया जाय तब। पूज्य श्री बार बार इस ढंग से एकान्तवाद की वासना तोड़ कर अन्तःकरण को अनेकान्तवाद की सुवास से सुरभित करने के लिये भारपूर्वक निर्देश करते हैं।

जैनागम के एक एक सूत्र अनेक नयों से अनुविद्ध होता है। किन्तु कुछ लोग उन्हीं सूत्रों को सिर्फ आभासिक एक एक नय से ज्ञात कर लेते हैं और अपने को 'सूत्रधार' (शास्त्रज्ञाता) मान कर समझ कर बैठ जाते हैं (इतना ही नहीं-मैं ही या मेरे गुरु ही शास्त्रज्ञाता है, बाकी सब अकोविद हैं ऐसा जोर-शोर से प्रचार करने में ही मस्त बने रहते हैं) वास्तव में तो उन महाशयों में अनेक नयों के गहन-परामर्श से फलित होनेवाले शास्त्रतात्पर्य का बोध-सामर्थ्य होता नहीं। ऐसे 'सूत्रधारों' को ६१ वीं गाथा में पूज्यश्री अज्ञानी ही निर्दिष्ट करते हैं। इतना ही नहीं वैसे सूत्रधार अनेकान्तवाद का अनादर करते हुए सम्यग्दर्शन गुण को भी गवाँ देते हैं (गाथा ६२), क्योंकि 'हम शासनभक्त हैं' ऐसी आभिमानिक शासनभक्ति मात्र से कोई सिद्धान्तज्ञाता (यानी वास्तव में शास्त्रज्ञाता) नहीं हो जाता (गाथा ६३)।

जो लोग सिर्फ सूत्र का पाठ करते हैं, अर्थ के अध्ययन की उपेक्षा करते हैं - उन के प्रति गाथा ६४ में कहा गया है कि अर्थानुसार सूत्र की प्रवृत्ति होती है; सूत्र के पीछे अर्थ को नहीं चलना है। अर्थबोध भी सरल नहीं होता, अति गहन नयवाद में अर्थ का आविष्कार दुष्कर है। इसीलिये अनेकान्तवाद सिद्धान्त का अध्ययन अत्यंत आवश्यक बन जाता है।

अनेक भयस्थानों के प्रति रेड सिग्नल दिखाते हुए सन्मतिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य के प्रति निर्देश करते हैं - अनेकान्तवाद को आत्मसात् कर के शास्त्रोक्त पदार्थों के विमर्श-परामर्श करने में प्रत्येक साधुजन का आदर होना चाहिए। 'कदाचित् कोई परामर्श-विमर्श किये बिना ही उपरि सतह से कुछ सूत्रों का पाठ कर के अपने को बहुश्रुत मान बैठे, एवं अपने अंगूठा छाप शिष्य-अनुयायीवर्ग में सम्मत-मान्य हो जाय, एवं अनेक शिष्यों के परिवार से समृद्ध बन जाय, तो ऐसा साधु या आचार्य वास्तव में शास्त्रज्ञ अथवा शासनभक्त नहीं है किन्तु शास्त्र-सिद्धान्त का बड़ा दुश्मन है - क्योंकि वह शास्त्र-शास्त्र कर के शास्त्रों के ही अनेकान्तवादादि अनेकानेक सिद्धान्तों की घोर अवज्ञा करता हुआ जैनशासन की लोकदृष्टि में अत्यन्त लघुता कर बैठता है।' (गाथा-६६) छोटी-सी बात में अखबारों के माध्यम से जो लोग आज-कल अपने मनमाने सिद्धान्त के प्रचार के नाम पर सत्य-तथ्य जिनसिद्धान्तों का जोर-शोर से खंडन करने में लगे हुए हैं उन के लिये (एवं सभी के लिये) श्री सन्मतिकार का यह हितवचन रेड सिग्नल है।

व्रतादि पालन में और पिण्डविशुद्धि आदि के आचरण में जो निरन्तर व्यस्त बने रहते हैं किन्तु सामर्थ्य होने पर भी जैन एवं जैनेतर शास्त्र-सिद्धान्तों के अध्ययन में आवश्यक उद्यम छोड़ बैठते हैं — एकान्त-अनेकान्त का विवेक नहीं रखते — वे कभी भी निश्चयात्मक शुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप चरण-करण के निष्कलंक सार को प्राप्त नहीं कर सकते। (गाथा ६७)

क्रियाशून्य ज्ञान एवं ज्ञानशून्य क्रिया ये दोनों ही एकान्त अभिगम हैं जो जन्म-मरण के दुःखों के भय का निवारण करने में असमर्थ है। (गाथा ६७)

ऐसे अनेक रेड-सिग्नल दिखाते हुए श्री सन्मतिकारने वस्तुतः एकान्तवाद की कुवासना को तोड़ कर अनेकान्तवाद की सुगंध से अन्तःकरण को सुवासित करने के लिये निःसंदेह असीम उपकार किया है।

समग्र ग्रन्थ के अन्तिम मंगल के रूप में श्री सन्मतिकार श्रीजिनवचन के कल्याण (प्रचंड उत्कर्ष) की कामना को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं — संविग्रजनों के लिये सुखबोध्य एवं अमृतनिःस्यन्दतुल्य भगवंत जिनवचन का कल्याण हो जो कि मिथ्यादर्शनों के समूहमय है। (गाथा ६९)

यहाँ श्रीजिनवचन को मिथ्यादर्शनों का समूह दिखाने का तात्पर्य समझने जैसा है। ऐसा नहीं है कि एक एक मिथ्यादर्शन के प्रतिपाद्य तत्त्वों को ग्रहण कर के जिनदर्शन की निष्पत्ति हुई। वास्तव में तो जिनदर्शन में प्रतिपादित अनेकानेक तथ्यों में से एक (या दो/तीन) तथ्यों को पकड़ कर के उस की नींव पर ही मिथ्यादर्शनों ने अपने अपने दर्शनों की इमारत खड़ी की है। फिर भी जिनदर्शन को मिथ्यादर्शनसमूहमय कहने का तात्पर्य यह है कि — एक बड़े व्यापारी ने लाखों रूपये की पूँजी लगा कर अनेकानेक सैंकड़ों सेल-आइटमों का डिपार्टमेंटल स्टोर खोल दिया। उस के स्टोर से या अन्यो से एक/दो बिकाउ माल खरीद कर के छोटे छोटे व्यापारियों ने अगल-बगल में उसी बाजार में छोटी छोटी दुकान लगा दी। तब लोग कहते हैं कि भाई पूरा बाजार ही यहाँ इकट्ठा हो गया है, सारे बाजार में जो माल मिलता है (अरे ! उस छोटी छोटी दुकानों में जो नहीं मिलता, वह भी यहाँ) इस स्टोर में मिलता है। इसी तरह अन्य अन्य दर्शनों में जो बात बतायी गयी है उस का पूरा समूह जैन-दर्शन में भी उपलब्ध होता है। हाँ- इतना विशेष है कि अन्य अन्य दुकानों में आप को हरा रंग मिलेगा तो नीला रंग नहीं मिलेगा, नीला रंग मिलेगा तो हरा रंग नहीं मिलेगा, कहीं दोनों ही मिलेंगे लेकिन सुंदर पेइन्टींग नहीं मिलेगा- जब कि उस बड़े स्टोर में आप को तय्यार सुंदर रेखांकन युक्त अनेक रंगों के समुदाय के रूप में अद्भूत चित्र मिल जायेगा। — ऐसे ही अन्य अन्य दर्शनों में कहीं ज्ञान की बात होगी तो आचरण की बात नहीं मिलेगी, किसी में आचरण पर भार होगा तो ज्ञान की गन्ध नहीं होगी और कहीं पर दोनों होंगे लेकिन उस का सुचारु समन्वय नहीं होगा — जब कि यहाँ जैन दर्शन में सम्यक्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक् चारित्र का अथवा सत्-असत् उभय का, नित्य-अनित्य उभय का, द्रव्य-पर्याय उभय का, भेद-अभेद उभय का बड़ा मनोहर सुश्लिष्ट संकलन देखने को मिलेगा। निष्कर्ष, अपनी जिज्ञासा को पूर्णरूप से संतोष करने वाला एक मात्र यह जैन दर्शन ही है।

ग्रन्थकर्ता श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी महाराज अपने समय में युगप्रधान आचार्य थे। जैनशासन की कीर्तिपताका को आपने समग्र भारतवर्ष में लहराई थी। सन्मति तर्क प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थरत्नों की रचना कर के उन्होंने जैनशासन के दार्शनिक साहित्य की श्रीवृद्धि की है। संवत् प्रवर्तक विक्रमराजा आदि अनेक महानुभावों को प्रतिबोध कर के अनेक हितकर कार्यों का प्रवर्तन करवाया है।

सन्मति० की समस्त कारिकाओं पर व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरिजी महाराजने विस्तृत 'तत्त्वबोधविधायिनी' व्याख्या का निर्माण किया है। आप विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में जैन शासन को रोशन कर गये। 'तर्क पञ्चानन' यह आपका सार्थक बिरुद था। आप की व्याख्या आप की सर्वतोमुखी प्रतिभा की साक्षि है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र, स्याद्वादरत्नाकर आदि अनेक पश्चात्कालीन ग्रन्थों पर आप की व्याख्या का अमिट प्रभाव है।

व्याख्या — तत्त्वबोधविधायिनी में सन्मति० के हार्द का अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है। ४९ वीं गाथा के विवरण में विस्तार से कणाद (वैशेषिक) दर्शन के द्रव्य-गुण आदि पदार्थों का निरूपण कर के, अनेकान्तवाद के अवलम्ब से उन का निराकरण किया गया है। ५० वीं गाथा के विवरण में सदसत्कार्यवाद उपरांत चित्र रूपवाद (पृ.७०८) का प्रासंगिकरूप से विवेचन किया है। ५२ वीं गाथा के विवरण में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म), पुरुषार्थ पाँचों की एकान्त-कारणता का खंडन और पाँचों की संकलित कारणता का समर्थन विस्तार से किया है। ५७ वीं गाथा की व्याख्या में 'विभज्यवाद' शब्द का एक बार 'अनेकान्तवाद' ऐसा अर्थ दिया है तो दूसरी बार 'एकान्तवाद' ऐसा भी अर्थ किया है — वह मननीय है। ६३ वीं गाथा के विवरण (पृ.७३२) में जैनदर्शन के जीवादि मोक्षपर्यन्त सात तत्त्वों का सप्रमाण विस्तृत विवेचन कुशलता से हुआ है। तथा, (पृ.७३४) आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्ल इन चार ध्यानों का भी सुचारु स्पष्टीकरण उपलब्ध है। गाथा ६५ में व्याख्या में (पृ.७४६) धर्मोपकरणविरोधी दिगम्बरमत का अच्छा निराकरण किया गया है। तथा, (पृ.७५१) स्त्रियों की मुक्ति के अधिकार को छिन लेने वाले दिगम्बर मत का भी सुंदर प्रत्याख्यान कर के स्त्रीमुक्ति की स्थापना की गयी है। तथा पृ.७५४ में श्रीजिनप्रतिमा की आँगी-रोशनी-विभूषा का समर्थन किया है।

पंडितयुगल सुखलाल-बेचर अपने भूतपूर्व-सम्पादकीय निवेदन में लिखते हैं — "वस्तुतत्त्व विचारना ग्रन्थोमां आवी चर्चाओने अवकाश न होवो जोईए..” — किन्तु यह एक भ्रमणा है कि "प्रतिमा-विभूषा की चर्चा का वस्तुतत्त्वविचार में समावेश नहीं होता।" उन के सम्पादकीय निवेदन में ऐसे अभिप्राय की अभिव्यक्ति को अनुचित दिखाया जाय तो वह उचित होगा।

व्याख्या की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि श्री अभयदेवसूरिजी आचार्यप्रद्युम्नसूरिजी के शिष्य थे।



तृतीयकाण्ड-पंचमखंड मूल एवं व्याख्या के इस सम्पादन में पंडितयुगल सम्पादित चिरपूर्वमुद्रित गुजरातविद्यापीठ की ओर से प्रकाशित पूर्व संस्करण का मुख्यरूप से उपयोग किया गया है। पूर्वसंस्करण सम्पादन का प्रथम प्रयास था, इस लिये सुंदर कार्य होते हुए भी जो कुछ क्षतियाँ नजर में आयी उन का, पाटण-हेमचन्द्राचार्य ज्ञानभंडार के दो ताडपत्रीय आदर्श एवं लिम्बडी-जैनसंघ के ज्ञानभंडार के सन्मति० ग्रन्थ के आदर्श के आधार पर, संशोधन कर लेने का प्रयास किया गया है — एवं उस संशोधित पाठ के आधार पर ही हिन्दी विवेचन किया गया है। प्रथम एवं द्वितीय खंड की तरह इस पंचमखंड के नूतन सम्पादन एवं हिन्दी विवेचन में यथाक्षयोपशम शुद्ध प्रयास करने पर भी कोई त्रुटियाँ रह गयी होगी, अध्येता गण उन का शोधन करें यही विज्ञप्ति।

पंडितयुगलने अपने संस्करण में तीसरे परिशिष्ट में (जो कि इस ग्रन्थ में भी यथासंभव उद्धृत किया है,) पू. महोपाध्याय यशोविजय म. के ग्रन्थों में उद्धृत सन्मति० की गाथाओं के आधार पर पू.आ. श्री प्रद्युम्नसूरिजी म. ने एक ग्रन्थ तैयार करवाया है (हस्तादर्श) जिस में पू. उपा. म.के ग्रन्थों से उन सभी अवतरणों का लेखनकार्य

किया गया है। उन की उदारता के कारण इस खंड में जितनी गाथाओं के ऊपर महोपाध्यायजी का छोटा-बड़ा विवेचन उपलब्ध है वह यहाँ टिप्पणीयों में मुद्रित किया गया है। एतदर्थ यह प्रकाशन उन का बड़ा ऋणी है।

तृतीय-चतुर्थ खंड का हिन्दी विवेचन, सम्पादन कार्य अभी प्रतीक्षाखंड में ही है, (अब तो सुप्रकाशित है) उस के पहले पंचमखंड के प्रकाशन का कारण यह है कि जब कोइम्बतूर (तमिलनाडु) में पूज्य गुरुदेव भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. के साथ चातुर्मास था तब दूसरे खंड का हिन्दी विवेचन कार्य पूरा हो गया था। तब पूज्यश्री का आदेश हुआ — तीसरे, चौथे को बाद में हाथ पर लेना, पहले पंचमखंड का विवेचन शुरू कर दो, न्याय पढ़नेवालों के लिये उस की बड़ी आवश्यकता है। न्यायदर्शन तो सब पढ़ेंगे, लेकिन उस के बाद तुरंत उस के एकान्तवाद का अनेकान्तवाद के आलोक में निराकरण नहीं पढ़ेंगे तो एकान्तवाद की वासना से मतिमोह हो जाने का पूरा सम्भव है - इस लिये इस पंचमखंड का शीघ्र प्रकाशन जरूरी है। पूज्यश्री की पवित्र इच्छा को शिरोधार्य कर के हमने पंचम खंड के हिन्दी विवेचन का कार्य पहले किया, इसी लिये दूसरे खंड का गतवर्ष प्रकाशन होने के बाद पंचमखंड का प्रकाशन किया गया है।

तत्त्वेषु सर्वेषु गुरुः प्रधानम् — यह पू. मुनिसुंदरसूरि महाराज की सूक्ति इस कार्य में बहुधा सार्थक हो रही है। सिद्धान्त-महोदधि - कर्मसाहित्यनिष्णात- सुविशालगच्छनिर्माता-शासनशशिराहुपीडानिवारक श्रीसंघरक्षाकारक प.पू. स्व. आचार्यदेवश्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी म.सा. एवं आप के पट्टालंकार - न्यायविशारद-वर्धमानतपोनिधि-उत्सूत्रवचनपीडानिवारक - श्रीसंघोत्कर्षविधाता प.पू. स्व. आचार्यदेवश्रीमद् विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. एवं आप के पट्टविभूषक-सिद्धान्तदिवाकर-गीतार्थगणचूडामणि-गच्छाधिपति परमोपकारी गुरुदेव प.पू. आचार्यदेवश्रीमद्विजय जयघोषसूरीश्वरजी म.सा. आदि गुरुजनों की निरंतर कृपावृष्टि के प्रभाव से यह कार्य निष्पन्न हो सका है। तथा, जिन महानुभावों के सद्भाव एवं प्रत्यक्ष/परोक्ष सहायता से यह कार्य हो सका है उन सब के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

अधिकारी-मुमुक्षु अध्येता गण इस ग्रन्थरत्न का अध्ययन कर के शीघ्र एकान्तवादभरे संसार की वासना से मुक्त हो जाय, यही मंगल कामना।

— जयसुंदरविजय - हस्तगिरितीर्थ

महा वदि ११.

(अब : आ० जयसुंदरसूरि म.सा.)

जह जह बहुस्सुओ संमओ अ सिस्सगणसंपरिवुडो य ।
अविणिच्छिओ य समए तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥६६॥
चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति ॥६७॥
जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वड(?ह) इ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो अणेगंतवायस्स ॥६८॥
भइं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥६९॥

सन्मति० पञ्चमखंड - विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
प्रकाशकीय	3	सातवीं गाथा	१६
प्रस्तावना	4	आत्मस्वभाव भी अनेकान्तगर्भित	१६
विषयानुक्रम	9	आठवीं गाथा	१७
प्रथमगाथा व्याख्यानारम्भ (तृतीयकाण्ड)	१	द्रव्य और गुण का सर्वथा भेद-वैशेषिकादिमत	१७
सामान्य-विशेषयोः परस्परानुवेधः	१	नवमी गाथा	१८
सामान्य एवं विशेष का परस्पर अविभक्तस्वरूप	२	गुण-गुणी में एकान्तभेद का परिहार	१८
एकान्तभेदपक्षे दोषनिरूपणम्	२	दसवीं-ग्यारहवीं गाथा	१९
द्वितीयगाथा	२	गुणार्थिक क्यों नहीं बताया ?	१९
एकान्तभेद-पक्ष में प्रमाणविरोध	२	सूत्रों में वर्णादि के लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग	१९
प्रस्तुतकाण्ड का आरम्भ व्यर्थ होने की आशंका	३	बारहवीं गाथा	२०
प्रस्तुत काण्ड का आरम्भ सार्थक है - उत्तर	४	पर्यायशब्द गुणशब्द समानार्थ हैं तो क्या ?	२०
समीक्षितार्थवचनस्वरूपनिरूपणम्	४	गाथा - १३-१४	२१
तृतीयगाथा	४	गुणार्थिकनय भगवदुपदिष्ट होने की आशंका	२१
आप्तवचन की विशेषता	४	सिद्धान्त में गुणशब्द गणितशास्त्रोक्तधर्मसूचक	२१
वर्तमान पर्याय की त्रैकालिक सत्ता मानने	४	गाथा - १५	२२
पर शंका-समाधान	४	गुणशब्द पर्यायभिन्नार्थ प्रतिपादक नहीं	२२
पूर्वोत्तर अवस्था में एक ज्ञानात्मा की अनुवृत्ति	६	गाथा - १६	२३
आत्मा और ज्ञान-पर्याय में भेदाभेद	७	एकान्त अभेदवादी की आशंका	२३
परमाणु एवं द्रव्यणुकादि द्रव्यों का तादात्म्य	८	गाथा - १७-१८	२४
परमाणु का उत्पत्ति-प्रलय सयुक्तिक	८	गाथा - १९	२५
समवायगर्भित अयुतसिद्धि का निरसन	९	एकान्तअभेदवादी के पक्ष में प्रसञ्जन	२५
'द्रव्यान्तर' शब्द की अन्य दो व्याख्या	१०	गाथा - २०-२१	२६
चतुर्थगाथा	११	सम्बन्धविशेष से सम्बन्धिविशेष की शंका	२६
अतीत-अनागत काल में वर्तमानत्व की आपत्ति	११	का समाधान	२६
वर्तमानत्व की आपत्ति का निराकरण	११	गाथा - २२	२७
पञ्चमगाथा	१२	परनिमित्त वैषम्य परिणाम की संगति	२७
विसदृश-सदृश पर्यायों से अस्ति-नास्ति विमर्श	१२	गाथा - २३-२४	२८
व्यंजनपर्याय-अर्थपर्याय से अस्ति-नास्ति विमर्श	१२	द्रव्य और गुण के लक्षण में दोषोद्भावन	२८
वर्तमानपर्याय में भी भजना	१३	द्रव्य और गुण के लक्षण में दोषोद्भावन	२८
छठी गाथा	१४	उपाध्यायजीकृत अवतरणिका की तुलना	२९
षट्स्थान हानि-वृद्धि का विवरण	१४	भेदपक्ष में गुणों के मूर्त्त-अमूर्त्त विकल्प	२९

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
गाथा - २५-२६	३०	मिट्टीपिण्ड के पुनरुन्मज्जन की आपत्ति का उद्धार	४९
जैन दर्शन में सर्वत्र पदार्थों में अनेकान्तवाद	३०	गाथा - ३५	५०
गाथा - २७	३१	उत्पाद-विनाश-स्थितियों का काल से भेदाभेद	५०
क्या अनेकान्त में भी अनेकान्त है ? - हाँ।	३२	विनाशोत्पाद के आधारभूत द्रव्य की	
अनेकान्त की अव्यापकता का भय निर्मूल	३३	त्रैकालिक स्थिति	५२
गाथा - २८	३४	अर्थान्तर-अनर्थान्तरत्व साधक अनुमान	५२
षड्जीवनिकाय और अहिंसाधर्म में भी अनेकान्त	३४	गाथा - ३६	५३
गाथा - २९	३५	अर्थान्तर-अनर्थान्तरत्वसाधक अन्य दो अनुमान	५३
गति परिणाम और अगति का अनेकान्त	३५	आकुंचन-प्रसारण का उदाहरण	५३
एकदिशा में गमन - अन्य दिशा में अगमन		अतीत-अनागत-वर्तमान पर्यायों में कथंचिद् भेद	५४
सर्वथा एक नहीं है	३६	गाथा - ३७	५५
गाथा - ३०	३७	वर्तमान पर्याय की त्रैकालिकता कैसे ?	५५
निषेधरूप से द्रव्य भी अद्रव्य है	३७	गाथा - ३८	५७
गाथा - ३१	३८	गाथा - ३९	५८
भावमात्र में अनेकान्त की व्यापकता पर		विभागजन्य द्रव्योत्पाद का अस्वीकार	५८
संदेह-समाधान	३८	द्व्यणुक-त्र्यणुकनिष्पत्ति की प्रक्रिया	५९
वचनविशेष में प्रयत्न-अजन्यत्व की मीमांसा	३९	स्वभावपरिवर्तन से कार्यसाधकता, शंका-समाधान	६०
गाथा - ३२	४०	संयोग को अतिशय मानने पर भी अनिस्तार	६१
उत्पाद के विविध प्रकार	४०	संयोग के अनुत्पन्न पक्ष में विकल्प प्रहार	६२
गाथा - ३३	४१	संयोगादिगुणाभिन्न परमाणु में कार्यत्व-जैन मत	६३
स्वाभाविक उत्पाद के दो प्रकार	४१	विभागजन्य अणुजन्म का समर्थन	६५
गगनादि में सावयवत्व प्रसिद्धि	४२	प्रागभाव-प्रध्वंस क्रमशः पूर्वोत्तर द्रव्यात्मक है	६६
संयोग की अव्याप्यवृत्तित्ता दुर्घट	४२	परमाणु की अपरिवर्तनशीलता अघटित है	६७
गगन निरवयव होने पर शब्द में व्यापकत्व		परमाणुपर्यन्त द्रव्यनाशवार्त्ता असंगत	६७
का अनिष्ट	४३	गाथा - ४०	६७
संयोग की अव्याप्यवृत्तित्ता से गगन-सावयवत्वसिद्धि	४३	घटादि में रूपपरावर्तन का उपपादन	६८
शब्दश्रवण से गगनसावयवत्व की सिद्धि	४४	गाथा - ४१	६९
सभी समवायिकारण सावयव है - व्याप्ति	४४	एकद्रव्यनाश से अनेक का उत्पाद	६९
गगन में सविनाशित्व की सिद्धि से सावयवत्व	४५	एककाल में एकद्रव्य के अनन्त पर्याय कैसे ?	६९
आश्रयत्वधर्म के नाश से गगननाश-सिद्धि	४७	गाथा - ४२	७०
एकत्विक उत्पाद में भी अनेकान्त	४७	शरीर के दृष्टान्त से अनन्तपर्यायों के उत्पाद	
गाथा-३४	४८	का निरूपण	७०
विनाश के विविध प्रकारों का व्युत्पादन	४८	शरीरोत्पत्ति के साथ सर्वद्रव्यसम्बन्धों का उत्पाद	७१

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
हेत्वहेतुभ्यां धर्मावादद्वैविध्यम्	७२	गुण और गुणी में भेद की स्थापना-पूर्वपक्ष	८८
वस्तु के अनन्तधर्मों का प्रत्यक्षग्रहण	७२	अवयव-अवयवी में भेद की स्थापना-पूर्वपक्ष	८९
गाथा - ४३	७३	गुण-गुणिभेदवाद का प्रतिविधान-उत्तरपक्ष	९०
धर्मावाद के दो भेद	७३	अवयवी का प्रतिविधान-उत्तरपक्ष	९०
अहेतुवाद-हेतुवाद की व्याख्या	७३	अभिभूतरूप का अस्वीकार	९१
भव्यत्वादिविभाग आगमगोचर ही क्यों है ?	७४	पूर्वरूपनाश-नूतनरूपोत्पत्ति पक्ष में शंका-समाधान	९१
गाथा - ४४	७५	षष्ठीविभक्तिप्रयोग भेदसाधक नहीं है	९२
हेतुवाद का प्रतिपादन	७५	छः पदार्थ-सिद्धान्त के भंग की विपदा	९३
गाथा - ४५	७६	षट्पदार्थव्यवस्था में विघ्नपरम्परा	९४
अन्यथाप्रतिपादन में सिद्धान्तविराधना	७६	ज्ञानमय अस्तित्व पक्ष में अयथार्थता	९४
षड्जीवनिकाय में चैतन्यसाधक प्रमाण	७७	भेदान्तरप्रतिक्षेप के लिये षष्ठीविभक्ति	९५
वनस्पति में चैतन्यसाधक लिंग	७७	अवयविभेदसाधक भिन्नकर्तृकत्वादिअनुमान निरर्थक	९५
अजीव द्रव्यों का लक्षण-निर्देश	७८	स्थूलद्रव्य के प्रतिभास का उपपादन	९७
धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्य	७८	अणुपरोक्षतावाद में अनुपपत्तियाँ	९८
गाथा - ४६	७९	सर्वशब्दानुपपत्ति का निवारण	९९
परिशुद्ध नयवाद-अपरिशुद्ध नयवाद	७९	जो स्थूल है वह एक नहीं होता	१००
गाथा - ४७	८०	अवयविपक्ष में संयोग की अव्याप्यवृत्तिता दुर्घट	१०१
वचनमार्ग, नयवाद और अन्यदर्शन की	८०	'अव्याप्यवृत्ति' शब्द का अर्थ	१०२
समान संख्या	८०	स्थूलविषयक प्रत्यक्ष एकव्यक्तिग्राहक नहीं है	१०३
गाथा - ४८	८१	अनेकरूप नीलादि स्थूल विषय अणुसमुदायात्मक	१०३
सांख्य-सौगतमत का उद्गमस्थान नय	८१	अवयवों में अवयवी का वृत्तित्व दुर्घट	१०४
गाथा - ४९	८२	समवायात्मक वृत्ति का उपपादन दुर्घट	१०५
वैशेषिकमतानुसारिणी पदार्थ-व्यवस्था	८२	वृत्ति की दुर्घटना का निराकरण-अवयवीवादी	१०६
कणादमत को मिथ्या कहने का प्रयोजन	८२	अवयवीवादी के पूर्वपक्ष का प्रत्युत्तर	१०७
वैशेषिकमतानुसारी पदार्थव्यवस्था	८२	कृत्स्न-एकदेश विकल्पयुगल का औचित्य	१०८
नव द्रव्य, २४ गुण, पंच कर्म इत्यादि	८३	शब्दगुण के आश्रयरूप में आकाश की सिद्धि	१०९
कणादोक्तपदार्थव्यवस्था न संगता	८४	शब्द पृथ्वी आदि अन्य द्रव्यों का गुण नहीं है	११०
वैशेषिक मत समालोचना का प्रारम्भ	८४	परत्वादिलिंगक कालद्रव्य की स्थापना	११०
कारणों के तीन भेद	८५	काल के विना पूर्व-पश्चाद्भावप्रतीति अशक्य	१११
अविद्धकर्णप्रदर्शित परमाणुनित्यत्व अनुमान	८६	दश प्रतितियों से दिग्द्रव्य की स्थापना	१११
धर्मिसाधक प्रमाण से नित्यत्वसिद्धि अशक्य	८६	मनोद्रव्य की स्थापना	११३
स्वतन्त्र अवयवी का अस्तित्व नहीं है	८७	प्रतिविधान प्रारम्भ-आकाशानुमान में दूषण	११३
अवयविनिषेध साधक अनुमान	८७	कर्णछिद्रगत आकाश श्रोत्रेन्द्रिय नहीं	११४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
दिक्-कालसाधक अनुमानों में दूषण	११५	विभाग सिद्धि में बाधक प्रमाण	१३८
दिक्-काल की कल्पना निरर्थक	११६	परत्व-अपरत्व के साधन का प्रयास	१३८
क्रियादिभेदमूलक पूर्वापरभेद मानने में अनवस्था	११६	परत्व-अपरत्व के उत्पाद की प्रक्रिया	१३९
विशेषरूप से मनःसाधक अनुमान में बाधादि दोष	११७	परत्व-अपरत्व साधक हेतु सदोष	१४०
पृथ्वी आदि द्रव्यों में गुणादिभेद का अनुमान व्यर्थ	११७	नीलादिगुणों में परत्वादिप्रतीति औपचारिक नहीं	१४०
नव से अधिक द्रव्य छ से अधिक पदार्थ का सम्भव	११८	प्रतिवादिकल्पित परत्वादिनिरपेक्ष साध्य निर्बाध है	१४१
न्यूनाधिक विशेषण की असंगति तदवस्थ	११९	आत्मा में बुद्धि आदि की आश्रयता पर विकल्प	१४२
द्रव्यों के निषेध से गुणादिव्यवस्था भी निषिद्ध	१२०	आत्मा में गुणस्थिति का निमित्तभाव असंगत	१४३
२४ गुणों का नामोल्लेख	१२०	स्थिति-अस्थितिभाव की स्थापकता दुर्घट	१४४
निरवयव सम्पूर्णरूप के ग्रहण की आपत्ति	१२१	बुद्धि आदि गुणों की समीक्षा	१४४
नीलादि में द्रव्यत्व का प्रसञ्जन	१२१	गुरुत्वआदि में गुणरूपता का प्रतिषेध	१४५
संख्या एकद्रव्या-अनेकद्रव्या नित्या-अनित्या	१२२	वेग-भावना-स्थितिस्थापक त्रिविधसंस्कार	१४६
समुदायव्यावृत्तभाव ही संख्या है	१२२	संस्कारों के खोखलेपन का दिग्दर्शन	१४७
गुणों में संख्या का ज्ञान औपचारिक नहीं है	१२३	वेगाख्य संस्कार की असंगतता	१४७
संख्या की व्यवस्था में एकार्थसमवाय निरुपयोगी	१२४	भावना संस्कार के साधक अनुमान की समीक्षा	१४८
अविद्धकर्णसूचित संख्या-अनुमान सदोष	१२५	स्थितिस्थापक संस्कार की कल्पना निरर्थक	१४९
महद् आदि परिमाण के चार प्रकार	१२६	आत्मगुण अदृष्ट की समीक्षा	१५०
परिमाणसाधक अनुमान में हेतु सदोष	१२७	उत्क्षेपणादि पञ्चविध कर्म	१५१
'महती प्रासादमाला' प्रतीति की छानबीन	१२८	क्रियासाधक अनुमानों में सदोषता	१५२
माला न अवयवी है न जाति	१२९	क्षणिकभाव में क्रियाजन्य अशक्य	१५३
पृथक्त्व गुण के साधक-बाधक	१२९	अक्षणिकभाव में क्रियोत्पत्ति अशक्य	१५३
पृथक्त्व के विना सुखादिगुणों में पृथक्पन का व्यवहार	१३०	गतिशिलता की शंका का निवारण	१५४
संयोग के साधक प्रमाण	१३१	पृथक्क्रिया के अंगीकार में प्रत्यक्षविरोध	१५४
विभाग के साधक प्रमाण	१३२	सामान्यपदार्थ का निरसन	१५५
'कुण्डलवान्' ऐसी प्रतीति से संयोगसिद्धिप्रयास	१३२	सामान्य के परापरभेद	१५६
अतिरिक्त संयोगवाद प्रतिषेध	१३३	सामान्य का साधक अनुमान	१५६
भ्रम के लिये आधारभूत मुख्यपदार्थ अनिवार्य नहीं	१३४	विभिन्न पिण्डों में समानाकारज्ञान का निमित्त	१५७
'सकुण्डल चैत्र' बुद्धि का निमित्त ?	१३५	प्रत्यक्ष में स्वतन्त्र सामान्य का अप्रतिभास	१५८
संयोगसाध्यक अनुमान में अनैकान्तिक दोष	१३६	प्रत्यक्ष गोचर पिण्डों से ही अनुगतप्रतीति	१५८
संयोगसिद्धि में बाधक प्रमाण	१३७	अश्वादि से गोबुद्धि की आपत्ति निरवकाश	१५९
		सामान्यसमीक्षा में मूर्तामूर्तविकल्प	१६०
		भेदाभेदविकल्पों की अनुपपत्ति	१६०
		सामान्याभाव ही भेदग्रहाभावप्रयोजक	१६०

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
सामान्य की वृत्ति पर एकदेश-पूर्णता विकल्प	१६१	अभेदग्राहक अध्यवसाय भ्रान्त क्यों ?	१८३
गोत्व का सम्बन्ध गो-पिण्ड से या अगोस्वरूप		जाति की नित्यता एवं एकत्व में बाधक प्रदर्शन	१८४
पिण्ड से	१६२	ब्राह्मणत्व स्वतन्त्र जाति नहीं है	१८५
अनुगताकार ज्ञान सामान्यविरह में भी	१६३	ब्राह्मणत्व ज्ञान में अतिरिक्त निमित्त अमान्य	१८५
अनभिव्यक्ति अप्रयोजक है	१६४	ब्राह्मणजन्य शरीर में ब्राह्मणत्व असंगत	१८६
अभिव्यक्ति स्वरूप सामान्य निराधार है	१६४	विशेषपदार्थनिरूपणम्	१८७
कात्स्न्य-एकदेशवृत्ति से अतिरिक्त वृत्ति का प्रश्न	१६५	अन्त्य नित्यद्रव्यवृत्ति विशेषपदार्थ	१८७
समवायात्मक वृत्ति के स्वरूप पर प्रश्न	१६६	विशेषपदार्थ पारमार्थिक नहीं है	१८९
उत्पन्न-अनुत्पन्न-उत्पद्यमान पिण्डों में		विशेषों में व्यावृत्तबुद्धि का निमित्त कौन ?	१८९
सामान्य कैसे ?	१६७	शुचि-अशुचि भाव कल्पना की निपज कैसे ?	१९१
उत्पद्यमान व्यक्ति के साथ सामान्य		समवायपदार्थ की स्थापना-पूर्वपक्ष	१९२
कैसे जुटेगा ?	१६७	समवायपदार्थ निषेध - उत्तरपक्ष	१९३
सर्पवत् सामान्य का संक्रम असंभव	१६७	घट में रूपादि की बुद्धि का विश्लेषण	१९४
सामान्य के विना भी अभाव में		समवाय को एक मानने पर अनिष्टप्रसंग	१९५
अनुगताकारप्रतीति	१६८	एक-समवाय पक्ष में पदार्थपंचक	
स्वव्यक्तिव्यापक सामान्य के पक्ष में एकत्वभंग	१६९	सांकर्यदोष अनिवार्य	१९६
अनुगताकार बुद्धि भी सामान्य की		विशेषणभेद से औपाधिक समवायभेद दुर्घट	१९६
ग्राहक नहीं क्यों ?	१७०	समवायएकत्वसिद्धि में संयोगदृष्टान्त व्यर्थ	१९८
पिण्ड-पिण्डान्तर वृत्तिप्रयोजक स्वभाव पर प्रश्न	१७१	समवायनित्य होने पर घटादिविनाश दुर्घट	१९९
एक पदार्थ अनेकवृत्ति क्यों नहीं ?	१७२	नष्ट-अनिष्ट संबन्धियों का एक समवाय दुर्घट	२००
अनुगत सामान्य के विना भी अभेदबुद्धि शक्य	१७२	समवायनित्यतापक्ष में जन्मपदार्थसमीक्षा	२०१
अनुगत निमित्त साधक अनुमान बाधित है	१७३	गाथा - ५०	२०२
व्यक्ति से अलग प्रतिभास न होने का निमित्त	१७४	बौद्ध न्याय-वैशेषिक और सांख्यमत	
विपरीतसिद्धि एवं साध्यद्रोह दोष	१७५	में परस्परदूषकता	२०२
अनुगतप्रतीति से वस्तुव्यवस्था अशक्य	१७५	शशसींग की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?	२०३
अतीत-अनागत भावों में अनुगतप्रतीति पर प्रश्न	१७५	असत् की उत्पत्ति अनभिमत है	२०४
केवल सामान्य के ग्रहण की अनुपपत्ति	१७६	कारण कार्यअसहभावी होने पर अनेक संकट	२०५
सामान्य की वृत्ति पर स्थिति-अभिव्यक्ति		सन्तानकृत कारण-कार्यभाव दुर्घट	२०६
के दो विकल्प	१७८	सन्तानकृतपक्ष में अन्वय-व्यतिरेक दुर्घट	२०६
अभिव्यक्तिस्वरूप वृत्ति के दोनों विकल्प दुर्घट	१७९	अर्थक्रियाधान सत्त्व के पक्ष में अनवस्थादि	२०७
सामान्य की सिद्धि के लिये कुमारिलप्रयास	१८०	बौद्धमत में प्रत्यभिज्ञा अप्रमाण है	२०८
कुमारिलप्रदर्शित अनुमानों में दोषपरम्परा	१८१	सांख्य के सत्कार्यवाद की समालोचना	२०९
प्रत्येकसमवेतार्थविषयत्व में दोषोद्धान	१८२	सांख्यसम्मत सत्कार्यवादे दोषाख्यानम्	२०९

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
सत्कार्यवाद में पुनः पुनः कार्योत्पत्ति का संकट	२११	कारण-अनुपलम्भहेतु अनैकान्तिक	२३०
कारण सत् ही हो - ऐसा एकान्त वर्ज्य	२११	अनुपलब्धि हेतु दोनों विकल्पों में असमर्थ	२३१
एकान्तसत् पदार्थ में अवस्थाभेद असंगत	२१२	ज्ञापक हेतुपक्ष में भी निर्हेतुकत्वसिद्धि दुष्कर	२३२
कारण-कार्य में समानकालता मानने पर संकट	२१२	एकान्तनियतिकारणवादिमतनिरूपणम्	२३३
कथंचित् सदसद्वाद की निर्दोषता	२१३	एकान्तनियतिवादनिरसनम्	२३३
प्रासङ्गिकी चित्ररूपमीमांसा	२१४	एकमात्र नियति ही सृष्टिमात्र का	२३३
चित्ररूप एकानेकता परामर्श	२१४	कारण-एकान्तवादी	२३३
एक पट में अनेकशुक्लादिरूप कैसे ?	२१५	एकान्तनियतिकारणवाद में निष्फलताएं	२३३
अवयवी में रूपसामान्य की ही उत्पत्ति असंगत	२१६	कर्म जगद्वैचित्र्यकारणम्-कर्मवादी	२३४
रूपसामान्य से चित्ररूपप्रतीति दुर्घट	२१६	कर्म ही एकमात्र कारण-कर्मवादी	२३४
एकद्रव्य में अनेकाकार अनेकरूपप्रतिपादन सदोष	२१७	एकान्त कर्मकारणवाद युक्तिसंगत नहीं	२३६
एकान्तवाद में भाष्यकथनविरोधपरिहार अशक्य	२१८	एकान्तपुरुषकारणवादिमतस्थापना	२३६
एक रूप के उपलम्भ में चित्रप्रतीति क्यों नहीं ?	२१९	एकान्तपुरुषमात्रकारणवादिमत का निरूपण	२३६
एक अवयव के उपलम्भ में चित्रप्रतीतिप्रसंग	२१९	एकमात्रपुरुषकारणवाद की समालोचना	२३७
तदवस्थ	२१९	एकमात्रपुरुषकारणतावाद में प्रयोजन की अनुपपत्ति	२३७
चित्ररूप एकानेकाकार मानने पर संगति	२२०	प्रशस्तमति के मत का स्थापन-उत्थापन	२३८
बौद्धमत में चित्रप्रतिभास एकानेक स्वरूप	२२१	स्वभावतः ईश्वरप्रवृत्ति असंगत	२४०
गाथा - ५१		स्वभाव से या अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति असंगत	२४०
निरपेक्ष दो नयों में मिथ्यात्व, सापेक्ष में सम्यक्त्व	२२२	गाथा - ५४ मिथ्यात्वप्रसक्ति के छः स्थान	२४१
गाथा - ५२		छः स्थानों में मिथ्यात्व का उपपादन	२४२
घट-पृथ्वी के दृष्टान्त से भेदाभेदसमर्थन	२२३	मिथ्या छः स्थानकों में अनुमानविरोधप्रदर्शन	२४३
गाथा - ५३	२२४	गाथा - ५५	२४४
कालैकान्तवादनिरसनम्	२२५	अस्ति आत्मा-आदि मिथ्यात्व के छः स्थान	२४४
काल ही समस्त कार्यो का कारण-एकान्तवाद	२२५	स्याद् अस्ति-आदि सम्यक्त्व के छः स्थान	२४५
सृष्टि का कारण एक मात्र काल नहीं	२२५	आत्म-अस्तित्वादि साधने में हेतु-दृष्टान्तदोष	२४५
स्वभावैकान्तवादविन्यास-निरसने	२२६	निरवकाश	२४६
एकान्त स्वभावकारणवाद की समीक्षा	२२७	गाथा - ५६	२४७
कोई कारण न होना ऐसा स्वभाव-पूर्वपक्ष	२२७	साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा एकान्तवाद में सिद्धि दुष्कर	२४७
बाह्य-अभ्यन्तर पदार्थमात्र निर्हेतुक-पूर्वपक्ष	२२७	प्रासंगिकी हेत्वाभासचर्चा	२४८
एकान्तस्वभावकारणवादनिरसनम्	२२८	प्रकरणसम यानी सत्प्रतिपक्ष का उदाहरण	२४९
कण्टकादि की तीक्ष्णता भी सहेतुक-उत्तरपक्ष	२२८	अन्यतरानुपलब्धि हेतु अनैकान्तिक ?	२५०
चाक्षुष ज्ञान में स्पर्श की कारणता का स्वागत	२२९	- शंकानिवारण	२५०
कण्टक और तीक्ष्णता के प्रति देश-कालहेतुतासिद्धि	२२९	प्रकरणसम की स्वतन्त्र-दोषता का समर्थन	२५२

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
अन्यतरानुपलब्धि हेतु का असिद्ध में		हेतु का त्रैलक्षण्य भी एकान्तवाद में दुर्घट	२७७
अन्तर्भाव दुष्कर	२५२	अनेकान्तमत में एकलक्षण हेतु-कथन का तात्पर्य	२७८
असाधारण/असिद्धता की आशंका	२५३	एकान्तवाद में व्याप्तिग्रहण दुष्कर	२७८
असाधारण/असिद्धता की आशंका का निर्मूलन	२५४	क्षणिकवाद में कार्य-कारणभाव का ग्रहण दुष्कर	२७९
अन्यतरशब्द किसी एक विशेष का वाचक नहीं	२५४	क्षणिकवाद में अनुभवबाध	२७९
कालात्ययादिष्ट स्वतन्त्र हेत्वाभास	२५६	गाथा - ६०	२८०
हेत्वाभास पाँच नहीं तीन-उत्तरपक्ष	२५६	द्रव्यादि आठ से सापेक्षनिरूपण का सन्मार्ग	२८०
नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु में अनैकान्तिकता		गर्दभसींग और जीवादिद्रव्यों में विशेषता का मूल	२८१
का विरोध - नैयायिक	२५८	गुणादि की पृथग् उपलब्धि के प्रसंग का निरसन	२८२
विपक्षीभूतपक्ष में साध्यनिश्चय का अनिष्ट - उत्तरपक्ष	२५९	वस्तुमात्र में एकानेकस्वरूप की सिद्धि	२८२
हेतु में पक्षधर्मताग्रहण की सार्थकता	२५९	क्षणिक-निराकारज्ञानवाद अनुभव बाह्य	२८३
अनुपलब्धि हेतु में प्रसज्य-पर्युदास के दो विकल्प	२६१	क्षणिकत्वसाधक सत्त्वादि हेतु विरुद्ध कैसे ?	२८४
एक धर्मी में विरुद्ध दो धर्म के समावेश		सादृश्य के आधार पर सन्तानव्यवस्था दुष्कर	२८५
से स्याद्वादसिद्धि	२६२	अन्वय-व्यतिरेक एवं प्रमाणविषयता की अनुपपत्ति	२८६
एक अनुमान दूसरे अनुमान का बाधक क्यों नहीं ?	२६३	शुक्ति में रजत-दर्शन कथंचिद् अभ्रान्त	२८६
पक्ष-सपक्षान्यतरत्व भी प्रकरणसम नहीं है	२६३	निरंश-क्षणिकस्वलक्षणग्राही निर्विकल्प का प्रतिषेध	२८७
कालात्ययापदिष्ट के लक्षण में असंगतियाँ	२६५	अक्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया अशक्य	२८८
अबाधितत्व हेतु का लक्षण दुर्घट है	२६६	सर्वदा भेदविशिष्ट अभेद की उपलब्धि	२८९
अबाधितत्व का निश्चय दुष्कर	२६७	विशिष्ट प्रतीति समवायमूलक नहीं	२९०
एकान्तवाद में पक्षधर्मता आदि की दुर्घटता	२६८	सामान्य के ग्रहण में संकट	२९०
एकान्तवाद में भाव-अभाव का ऐक्य-दुर्घट	२६८	सामान्य और विशेष का सर्वथा	
सामान्यात्मक हेतु का प्रयोग निर्हेतुक	२६९	अन्योन्य-विशेष अयुक्त	२९१
सामान्य की वृत्ति दोनों विकल्प में असंगत	२७०	'घट सत् है' प्रतीति से सामान्य-विशेषात्मक	
नित्यसामान्य ज्ञानोत्पाद में अकिंचित्कर	२७१	वस्तु की सिद्धि	२९२
सामान्यात्मक हेतु में असाधारणतादोषप्रसक्ति	२७१	सामान्य के पक्ष में निरर्थकतादि दोषसन्तान	२९३
सामान्य-विशेष उभय या अनुभय में हेतुत्व दुर्घट	२७२	व्यतिरेक-अव्यतिरेक पक्ष में दोषों का निराकरण	२९४
साध्य में चतुष्कोटि अनुपपत्ति	२७३	विविध मतों का एकान्त अनिष्ट, अनेकान्त इष्ट	२९४
गाथा - ५७		वैदिक-हिंसा में सदोषत्व-मीमांसा	२९६
एकान्तवाद की आपत्ति एवं परिहार	२७४	याज्ञिक हिंसा का बचाव निष्फल	२९७
गाथा - ५८		वेदमत एवं संसारमोचक मत में क्या विशेष ?	२९८
अनेकान्तवादगर्भित निरूपण अजेय	२७५	गाथा - ६१	२९९
गाथा - ५९	२७६	दीक्षा अंगीकार से आमोक्षप्राप्ति के विधान	
लौकिक और परीक्षकों में निन्दा का हेतु	२७६	का तात्पर्य	२९९

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
सूत्रधरशब्द से संतुष्ट जनों को उपालम्भ	२९९	पदार्थान्तरविशेषितपदार्थ-स्वरूप वाक्यार्थ	
गाथा - ६२	३००	प्रदर्शक पूर्वपक्ष	३२६
गाथा - ६३	३०१	एकान्तवाद में विशेषणोपराग की दुर्घटना	३२८
निर्दोष सम्यग्दर्शन का वास्तव स्वरूप	३०१	लिट् आदि प्रत्ययों से भाव की साध्यता	
शासनभक्ति में सिद्धान्तज्ञान का महत्त्व	३०१	के कथन की समीक्षा	३२८
सात तत्त्व - दो पदार्थों की व्यवस्था	३०२	फलसापेक्षभाव से पुरुष-प्रेरणा की अशक्यता	३२९
सांख्य-बौद्ध-वेदान्त दर्शन के पदार्थों का निराकरण	३०३	परस्परसापेक्ष भावाभावात्मक कार्यतापक्ष समीचीन	३३०
पृथक् आस्रवादि तत्त्वों के प्रतिपादन का हेतु	३०४	विधि के प्रवर्तकत्व सम्बन्ध में द्विविध मत	३३१
जैनमतप्रसिद्धध्यानचतुष्टयनिरूपणम्	३०६	विधि के सत्त्व-असत्त्व पक्ष में प्रेरकता की दुर्घटना	३३२
बन्धपदार्थ का निरूपण और प्रकार	३०६	विधि-निष्पत्ति के सम्बन्ध में अनवस्थादि दोष	३३३
आर्त्तध्यान का स्वरूप एवं चार भेद	३०६	विधि की प्रतीति पर दो विकल्प	३३४
रौद्रध्यान : स्वरूप एवं भेद	३०७	निष्पन्न धात्वर्थ धातुवाच्य हो तब विधि निरर्थक	३३४
प्रशस्त ध्यान का प्रयोगविधि	३०८	निषेधक विधि का नैरर्थक्य	३३५
धर्मध्यान : स्वरूप, बाह्य-अभ्यन्तर भेद	३०८	नञ्सम्बद्ध भावनादि में विधि का प्रवर्तकत्व अयुक्त	३३६
धर्मध्यान के दश भेद	३०९	पदार्थप्रतिपाद्य भावना ही वाक्यार्थ - मीमांसक	३३७
शरीर एवं विषयों के प्रति वैमुख्य का चिन्तन	३१०	श्वेत अश्व दौडता है- ऐसी बुद्धि का उदाहरण	३३७
संस्थान-आज्ञा-हेतुविचय धर्मध्यान	३११	एकान्तवाद में पुरुषव्यापारस्वरूप वाक्यार्थ	
शुक्लध्यान : स्वरूप एवं बाह्य-आध्यात्मिक भेद	३१२	का असंभव	३३८
आद्य शुक्लध्यानभेद का विशेष परिचय	३१३	क्रिया-कारकसंस्मरूप वाक्यार्थ की आलोचना	३३८
द्वितीय शुक्लध्यानयोग स्वरूप-कार्य-फल	३१४	असत् वाक्यार्थ की ज्ञापकता के	
केवलिसमुद्घातप्रक्रिया एवं चतुर्थ शुक्लध्यान	३१५	ऊपर विविध विकल्प	३३९
आस्रव एवं बन्ध तत्त्वों का साधक प्रमाण	३१६	वाक्यार्थज्ञापक पदार्थ कौनसा प्रमाण	३४०
आस्रव की सिद्धि में आक्षेप-समाधान	३१७	प्रत्यक्ष अर्थ धर्मस्वरूप होने की विपदा	३४१
संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्वों की प्रमाणतः सिद्धि	३१९	वाक्य के अनवबोध से वाक्यार्थअप्रतीति	३४२
मोक्ष के लिये आवश्यक संवरादि तत्त्वों का ज्ञान	३२०	अभिहित अन्वयवाद निरसन	३४३
बन्ध और मोक्ष के हेतु आगम-गम्य	३२१	अन्विताभिधानवादि एकान्तमत का निरसन	३४४
विकल्पचतुष्टयेनैकान्तवादे वाक्यार्थसम्भवप्रदर्शनम्	३२२	पदजन्य पदार्थज्ञान वाक्यार्थपर्यवसायि	
वाक्य के वाच्यार्थ पर विकल्प-चतुष्टय	३२२	मानने में अतिप्रसंग	३४४
सामान्यवादी की ओर से प्रथमविकल्प का समर्थन	३२३	अर्थवादादि वाक्यों का प्रामाण्य सुदुर्घट	३४५
सामान्यवादी के मत में विशिष्ट अर्थबोध		विशेष शब्दवाच्य है ? दूसरा विकल्प	३४६
की दुर्घटना	३२४	अनेकावयवात्मक स्थूल अवयवी का	
वाक्य में विशिष्टार्थवाचकता कि सिद्धि	३२५	अपलाप अशक्य	३४७
शब्दशास्त्र का व्यवहार	३२५		

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
सामान्य-विशेष उभय की वाच्यता का तीसरा विकल्प	३४८	सूत्रविधानों का परमार्थ	३७२
अनुभव की वाच्यता का चौथा विकल्प	३४९	स्त्रीमोक्षाधिकारे दिगम्बरमतनिर्मूलनम्	३७३
अनेकान्तवाद में शब्दप्रमाण का पदार्थविषय	३४९	स्त्रीमुक्ति के अधिकार में दिगम्बरमतप्रतिक्षेप	३७३
वासना भी अनन्तधर्मात्मक एकवस्तरूप स्वीकारार्ह	३५०	महिलाओं में निर्ग्रन्थता का सद्भाव आगमसिद्ध	३७४
सुगतज्ञान अम्रान्त नहीं हो सकता	३५०	सिद्धप्राभृत आदि आगमों में स्त्रीमुक्तिविधान	३७५
विशद नैरात्म्यज्ञान भी मिथ्या है	३५१	स्त्रीत्वहेतुक अनुमान में दोषपरम्परा	३७६
दृष्टविषयाविसंवादी होने से अनेकान्तवाद प्रमाण है	३५२	चौदहपूर्वज्ञानाभावसाधक आगम से मुक्तिसिद्धि	३७७
गाथा - ६४	३५३	कर्मक्षयसाधकाध्यवसायसाधक अनुमान की सदोषता	३७८
अर्थाधीनं सूत्रम् न सूत्राधीनोऽर्थः	३५३	सप्तमनरकप्रापकअध्यवसाय न कारण है न व्यापक	३७८
सूत्र अर्थाधीन है अर्थ सूत्राधीन नहीं	३५३	अतिक्लिष्ट और अतिशुभ परिणामों में व्याप्तिअभाव	३८०
सूत्र शब्द के विविध व्युत्पत्ति-अर्थ	३५३	आगमवचन में अनुमानबाध का असंभव	३८०
गाथा - ६५	३५४	अतीन्द्रिय वस्तु में आगमनिरपेक्ष अनुमान गतिहीन	३८१
वस्त्रादिवतां नैर्ग्रन्थ्यविरहः - दिगम्बर-पूर्वपक्षः	३५५	पूर्वों का ज्ञान न होने पर भी तीर्थंकर	
दिगम्बरों का पूर्वपक्षप्रारम्भ	३५५	को शुक्लध्यान	३८२
वस्त्रादि के आग्रह में प्रव्रज्यापरिणामशून्यता	३५६	गाथा - ६६	३८४
श्वेताम्बरों का उत्तरपक्ष	३५६	महाव्रतिअबन्धत्व हेतु की दुर्बलता	३८४
वस्त्रादि के ग्रहण में तृष्णामूलकत्व के भ्रम का निरसन	३५८	जिनप्रतिमा की आभरणादिविभूषा कर्मक्षयसाधक	३८५
आहारग्रहण की तरह वस्त्रादिग्रहण निर्दोष है	३५९	गाथा - ६७	३८६
वस्त्रादि के विरह में संक्लेशोत्पत्ति दिगम्बरपक्ष में	३६०	नय-प्रमाण से शास्त्रार्थ का परिभावन-कर्त्तव्य	३८६
आशयशुद्धि से अहिंसा और अपरिग्रह	३६२	चरण-सित्तरी - करण-सित्तरी	३८७
आहार की तरह वस्त्रादि में जयणा से शुद्धि	३६२	स्वपरसमयभेद के अजाण चरण-करणसारवंचित	३८८
वस्त्रादिग्रहण से रागादि का उपचय असिद्ध	३६३	सामायिकमात्र पदज्ञानी माषतुषमुनि	
दिगम्बरोक्त हेतु में विशेषणादि की असिद्धि	३६३	की मुक्ति कैसे ?	३८९
वस्त्रादि ग्रन्थरूप नहीं है- अनुमानसिद्धि	३६४	गाथा - ६८	३९०
वस्त्रादि की धर्मोपकरणतासाधक युक्तिवृन्द	३६५	परस्परशून्य ज्ञान-क्रिया से दुःखभयनिवारण	
पात्र के विना इस काल में विडम्बना	३६६	अशक्य	३९०
बाह्य तप का प्रयोजन अभ्यन्तरतपपुष्टि	३६७	सम्यग्ज्ञान-सम्यक्क्रिया से दुःखभय का वारण	३९१
शिष्य को गुरुधारितलिंग के ग्रहण का उपदेश व्यर्थ	३६९	जेण विणा लोगस्स० अधिक कारिका	३९१
वस्त्रधारकों में परिग्रहाग्रह का आपादन व्यर्थ	३७०	गाथा - ६९	३९२
आगमों में यति को वस्त्रादिग्रहण का स्पष्ट विधान	३७१	जिनवचन मिथ्यादर्शनसमूहमय फिर भी अमृततुल्य	३९२
		सांख्यादि के दर्शनों का अवयव समूह,	
		जिनदर्शन अवयवी	३९३
		सप्तभंगीव्युत्पादनेनानेकान्तवादसमर्थनम्	३९४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
अनेकान्तवाद - सप्तभंगी का निरूपण	३९४	अधिकवचन की निग्रहस्थानता अमान्य	४०३
पट के व्यापकत्व के बारे में सप्तभंगी	३९५	योग्यानुपलब्धि से अभावसिद्धि का	
एक अनुगतप्रतीति काल्पनिक नहीं	३९७	एकान्त अमान्य	४०४
अग्नि को अनुष्ण मानने में स्याद्वादी		वाद में जय-पराजय का आधार है स्वपक्षसिद्धि	४०५
को संकट नहीं	३९७	हेत्वाभासमात्र से निग्रहस्थान नहीं हो जाता	४०६
मिट्टी आदि भावों की निर्बाध त्रयात्मकता	३९८	वादन्यायग्रन्थोक्त निग्रहस्थान लक्षण असंगत	४०७
विद्युत् आदि निरन्वयविनाशी नहीं है	३९९	अमृततुल्य जिनवचन का कल्याण हो -	
प्रतिभास का भेद-अभेद वस्तुभेद-अभेद		अन्त्यमंगल	४०७
का स्थापक	४००	व्याख्याकार-अभयदेवसूरिकृता प्रशस्तिः	४०८
न्यायदर्शनोक्त निग्रहस्थान स्वरूप मीमांसा	४०१	व्याख्याकार अन्तिम प्रशस्ति	४०८
न्यायदर्शनोक्त निग्रहस्थान के स्वरूप की		अभयदेवसूरिस्तुतिगाथा	४०९
आलोचना	४०१	परिशिष्ट-१	४१०
दोषोद्घावन में अशक्तिमान से निग्रह अशक्य	४०२	परिशिष्ट-२	४११
पक्षादिवचन से निग्रह का बौद्धमत अनुचित	४०३	परिशिष्ट-३	४१३
		परिशिष्ट-४	४१४

संकेतस्पष्टीकरणम्

अनु०वृत्ति	अनुयोगद्वारवृत्तिः	नवत०	नवतत्त्वप्रकरणम्
आचारा० सू०	आचारांगसूत्रम्	पात० द०	पातञ्जलदर्शनम्
आ० नि०	आवश्यक निर्युक्ति	प्रव० सा०	प्रवचनसार
उत्तरा०	उत्तराध्ययनसूत्र	प्रव० सारो०	प्रवचनसारोद्धारः
ओ० नि०	ओघनिर्युक्तिसूत्र	ब्रह्मसू० शां०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
का०	कारिका	भग० सू०	भगवतीसूत्रम्
जी० वि०	जीवविचारप्रकरणम्	मनु०	मनुस्मृतिः
जीवाजीवा०	जीवाजीवाभिगमसूत्र	महा० शा०	महाभारतशान्तिपर्व
जम्बू० प्र०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रम्	विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्यम्
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	शास्त्रवा०	शास्त्रवार्तासमुच्चयः
त० सू० भा०	तत्त्वार्थसूत्रभाष्यम्	श्लो० वा०	श्लोकवार्तिकः
त० राज०	तत्त्वार्थराजवार्तिकम्	षड्द०	षड्दर्शनसमुच्चयः
धर्मसं०	धर्मसंग्रहणीसूत्रम्	स्वयंभू०	स्वयंभूस्तोत्रम्

॥ श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिप्रणीतं

सम्मति-तर्कप्रकरणम्

श्रीअभयदेवसूरिप्रणीता व्याख्या

तत्त्वबोधाविधायिनी

हिन्दीविवेचनसमलंकृता

पञ्चमः खण्डः

तृतीयः काण्डः

✽ सामान्य-विशेषयोः परस्परानुबोधः ✽

[त०वि०] एवं दर्शन-ज्ञानात्मनोः परस्पराविनिर्भागरूपतां प्रतिपाद्य इदानीं सामान्यविशेष-योरन्योन्यानुविद्धं स्वरूपमुपदर्शयन्नाह -

सामण्णाम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।

द्व्वपरिणाममण्णं दाएइ तयं च णियमेइ ॥१॥

सामान्ये = 'अस्ति' इत्येतस्मिन् विशेषो = 'द्रव्यं' इत्ययम्, तथा विशेषपक्षे च घटादौ 'अस्ति' इत्येतस्य वचनस्य नामनामवतोरभेदात् सत्तासामान्यस्य विनिवेशः=प्रदर्शनम् द्रव्यपरिणतिमन्यां =

✽ सामान्य एवं विशेष का परस्पर अविभक्तस्वरूप ✽

ग्रन्थकार श्रीसिद्धसेनदिवाकरजी ने सम्मति तर्कप्रकरण के द्वितीय काण्ड में काफी परामर्श कर के यह फलित किया कि दर्शनात्मा और ज्ञानात्मा परस्पर अपृथक् यानी अभिन्न ही है, उन में कोई विनिर्भाग = जुदाई नहीं है । तृतीय कांड में वे यह दिखाना चाहते हैं कि उसी तरह सामान्य और विशेष में भी जुदाई नहीं है, ये दोनों परस्पर मिले-जुले ही हैं, एक-दूसरे से दृढ अभेदभाव से संलग्न हैं -

मूलगाथा शब्दार्थ :- सामान्य में विशेष और विशेषपक्ष में वचननिवेश यह सूचित करता है कि द्रव्यपरिणति(कुछ) और ही है, तथा विशेष का नियमन करती हैं ॥१॥

व्याख्या विशेषार्थ :- इस गाथा का स्पष्टार्थ दिखाने हुए व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरिजी कहते हैं - 'अस्ति द्रव्यम्' यहाँ 'अस्ति' इस प्रकार सत्ता सामान्य का निर्देश होने पर 'द्रव्यम्' इस प्रकार विशेष का निर्देश साथ

सत्ताख्यस्य द्रव्यस्य पृथिव्याख्यां परिणतिमन्यां सत्तारूपाऽपरित्यागेनैव वृत्तां दर्शयति; विशेषाभावे सामान्यस्याप्यन्यथाभावप्रसक्तेः । यद् यदात्मकं तत् तदभावे न भवति, घटाद्यन्यतमविशेषाभावे मृद्वत्, विशेषात्मकं च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्यभावः । तथा, तर्कं च विशेषम् द्वितीयपक्षे सामान्यात्मनि नियमयति — विशेषः सामान्यात्मक एव तदभावे तस्याप्यभावप्रसंगात्, यतः सामान्यात्मकस्य विशेषस्य सामान्याभावे, घटादेरिव मृदभावे, न भावो युक्तः ॥१॥

✽ एकान्तभेदपक्षे दोषनिरूपणम् ✽

न च 'विशेषाद् व्यतिरिक्तं सामान्यमेकान्ततः, तस्माद् वा विशेषा नियमतो भिन्ना' इत्यभ्युप-
गन्तव्यम् अध्यक्षादिप्रमाणविरोधात् इत्याह —

एगंतणिव्विसेसं एयंतविसेसियं च वयमाणो ।

दव्वस्स पज्जवे, पज्जवाहि दवियं णियत्तेइ ॥२॥

साथ ही किया जाता है । मतलब, सामान्यघोटक 'अस्ति' के साथ अभेदान्वय से ही 'द्रव्यम्' इस प्रकार विशेष का निरूपण किया जाता है । तथा, 'घटः अस्ति' इस प्रकार के वचनप्रदर्शन में घटादि विशेषपक्ष का निर्देश होने पर 'अस्ति' इस वचन का यानी सत्तासामान्य का, (नाम और नामवत् यानी नामार्थ में अभेद होता है इस न्याय से कहा है सत्तासामान्य का) निवेश यानी प्रदर्शन अभेदान्वय से किया जाता है । इस प्रकार, सामान्य का विशेष के साथ और विशेष का सामान्य के साथ अभेदान्वय से निरूपण यह सूचित करता है कि द्रव्य का कुछ और ही परिणाम होता है । मतलब, सत्ता यह द्रव्य का ही नाम है और सत्तानामक द्रव्य का घटादिमय पृथ्वीसंज्ञक अभिन्न परिणाम होता है जो सत्तास्वरूप का परिहार किये बिना ही द्रव्य से संलग्न रहता है । तात्पर्य यह है कि विशेष के न होने पर सत्तास्वरूप सामान्य में भी अन्यथाभाव यानी असत्पन का प्रवेश हो जाता है ।

ऐसा नियम है कि जो जिस स्वरूप में होता है वह उसके न होने पर नहीं होता है, जैसे — मिट्टी घट-
पिण्डादि किसी एक विशेष अवस्थामय ही होती है, अतः विशेषावस्था के न होने पर मिट्टी भी नहीं होती है ।

सामान्य से अभिन्न विशेष का निर्देश, जैसे सामान्य में विशेष का नियमन कर के द्रव्य सामान्य में पृथ्वीरूप परिणामविशेष का अभेद सूचित करता है; वैसे ही विशेषपक्ष में सामान्य का अभेद-निर्देश विशेष में सामान्य का नियमन करता है । नियमन इस प्रकार कि विशेष सामान्य रूप ही होता है, क्योंकि सामान्यरूपता के विरह में विशेष भी असत् बन जाता है । कारण, घटादिविशेष मिट्टीसामान्यरूप होने से मिट्टी के विरह में घट नहीं होता वैसे ही विशेष भी सामान्यात्मक होने के कारण, सामान्य के विरह में विशेष का होना युक्ति-
संगत नहीं है ॥१॥

✽ एकान्तभेदपक्ष में प्रमाणविरोध ✽

“सामान्यपदार्थ विशेषपदार्थ से एकान्तभिन्न है, अथवा विशेष पदार्थ सामान्य पदार्थ से एकान्तभिन्न है”
— ऐसा मानना अच्छा नहीं, क्योंकि उस में प्रत्यक्षादि कई प्रमाणों का विरोध खडा हो जाता है । इस तथ्य को ग्रन्थकार दूसरी गाथा से प्रकट करते कहते हैं —

मूलगाथा-शब्दार्थ : एकान्त निर्विशेष (यानी सामान्य) तथा एकान्त विशेष को कहनेवाला, द्रव्य से पर्यायों

एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात् सामान्यात् तद् विशेषविकलं सामान्यं वदन् द्रव्यस्य पर्यायान् ऋजुत्वादीन् निवर्त्तयति; ऋजु-वक्रतापर्यायात्मकाङ्गुल्यादिद्रव्यस्य अध्यक्षादिप्रमाणप्रतीयमानस्य विनिवृत्तिप्रसक्तेरध्यक्षादिप्रमाणबाधापत्तिः । तथा, एकान्तविशेषं सामान्यरहितं वदन् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यो द्रव्यं निवर्त्तयति, एवं चाङ्गुल्यादिद्रव्याऽव्यतिरिक्तऋजु-वक्रतादिविशेषस्य प्रत्यक्षाद्यवगतस्य निवृत्तिप्रसक्तिः । न चाऽबाधितप्रमाणविषयीकृतस्य तथाभूतस्य तस्य निवृत्तिर्युक्ता, सर्वभावनिवृत्तिप्रसक्तेः अन्यभावाभ्युपगमस्यापि तन्निबन्धनत्वात् तत्प्रतीतस्याप्यभावे सर्वव्यवहाराभाव इति प्रतिपादितम् ।

अत्राह - 'सामण्णम्मि०' इत्यादिकाण्डं नाऽऽरब्धव्यम् उक्तार्थत्वात् । यतो न तावदनेन वस्तु अनेकान्तात्मकं प्रतिपाद्यते 'एगदवियम्मि' [प्र० का० गा० ३१] इत्यादिना 'इहरा समूहसिद्ध' - [प्र० का०, गा० २७] इत्यादिना च तस्य प्रतिपादितत्वात् । तथा, 'उप्पाय-ट्टिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं' [प्र० का० गा० १२] इत्यनेन लक्षणद्वारेण सर्वस्य सतः अनेकान्तात्मकत्वं प्रदर्शितमेव । अथ

का और पर्यायों से द्रव्य का निवर्तन (= वियोजन) कर बैठता है ॥२॥

व्याख्यार्थ : निर्विशेष यानी जिस में अपृथग्भाव से विशेष मौजूद नहीं है ऐसा, अर्थात् सामान्य । जब वादी ऐसे एकान्ततः सामान्य का प्रतिपादन करता है तब उस में यह दोष सिर उठाता है कि ऋजुता आदि पर्याय द्रव्य का त्याग कर जाते हैं । मतलब यह है कि सभी को प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह भासित होता है कि अंगुली आदि द्रव्य कभी ऋजुतापर्याय से तो कभी वक्रतापर्याय से अपृथग्भूत अथवा अभिन्न होता है । किन्तु जब प्रवक्ता विशेषपर्यायशून्य द्रव्यसामान्य के अस्तित्व की घोषणा करता है तब प्रत्यक्षादि से प्रसिद्ध ऋजुतादिपर्यायविशिष्ट अंगुली द्रव्य को तो अपना मुँह छिपाना पड़ेगा । इस में प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधरूप अन्याय की आपत्ति सिर उठाती है ।

इस प्रकार, जो प्रवक्ता सामान्यशून्य एकान्त विशेष के अस्तित्व को घोषित करता है वह पर्यायों (विशेषों) से द्रव्य का बहिष्कार कर बैठता है । फलतः अंगुली आदि द्रव्य से अपृथग्भूत-अभेदापन्न ऋजुता-वक्रतादि पर्यायों को अपना मुँह छिपाना पड़ेगा, भले ही वे प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रसिद्ध हो ।

सच कहें तो, जो निर्बाध प्रमाणगोचर वस्तु है जैसे द्रव्यमिलित पर्याय और पर्यायमिलित द्रव्य, उन को कहीं मुँह छिपाना पड़े यह जायज नहीं है । कारण, वैसी स्थिति में समस्त प्रमाणगोचर पदार्थसमूह को सामूहिक विश्वत्याग करना होगा, क्योंकि द्रव्य-पर्याय की तरह अन्य पदार्थों का स्वीकार भी प्रमाणाधीन होता है, जब प्रमाणसिद्ध वस्तु को भाग निकलना पड़ेगा तो प्रमाणाधीन समूचा व्यवहार लुप्त हो जायेगा ।

✽ प्रस्तुत काण्ड का आरम्भ व्यर्थ होने की शंका ✽

शंका :- 'सामण्णम्मि विसेसो०' इस गाथा से ले कर आप जिस कांड का श्रीगणेश कर रहे हो वह बिनजरूरी है क्योंकि उस के अर्थ का प्रतिपादन हो चुका है । यदि आप इस कांड से वस्तु की अनेकान्तात्मकता का निरूपण करना चाहते हैं तो वह निरर्थक है क्योंकि वह तो पहले कांड की एगदवियम्मि० इस ३१वीं गाथा से, तथा उसी कांड की इहरा समूहसिद्ध० उस २७ वीं गाथा से कहा जा चुका है । उपरांत, उसी कांड की १२ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में "उप्पाय-ट्टिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं" इस लक्षण कथन से समूचे सत् पदार्थ अनेकान्तात्मक होने का कहा जा चुका है । यदि तृतीयकांड से आप चाहते हैं कि प्रमाण के विषय

प्रमाणविषयवाक्यनिरूपणार्थमिदं प्रस्तूयते — तदपि न सम्यक्, 'सवियप्प-णिब्बियप्पं०' [प्र० का० गा० ३५] इत्यादिना तस्यापि निरूपितत्वात्, वाक्यस्य च वस्तुत्वात् तन्निरूपणे तस्यापि निरूपितत्वात् न तन्निरूपणार्थमप्येतदपुनरुक्तम् । — एवमेतत्, किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्येतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकवाक्यावतारः प्राग् विहितः, इह त्वविद्यमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वाऽसम्भवात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेणैतद्वाक्यावतार इत्यदोषः ।

यद्वा अनेकान्तपक्षोक्तदोषपरिहारोऽनेकधा व्यवस्थाप्यते इति न कश्चिद् दोषः 'सामण्णम्मि०' इत्यादिसूत्रसंदर्भविरचने ॥२॥

✽ समीक्षितार्थवचनस्वरूपनिरूपणम् ✽

सामान्य-विशेषानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकं वचनमाप्तस्य, इतरदितरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह —

पच्चुप्पन्नं भावं विगय-भविस्सेहिं जं समण्णेइ ।

एयं पडुच्चवयणं दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥३॥

के प्रतिपादक वाक्य का व्युत्पादन किया जाय, तो यह भी बिनजरूरी है, क्योंकि सवियप्प-णिब्बियप्पं० इस प्रथम कांड की ३५ वीं गाथा से वह व्युत्पादन भी (यानी प्रमाणविषयप्रतिपादक वाक्य कैसा होना चाहिये यह भी) किया जा चुका है । तथा वाक्य भी तो एक वस्तु ही है, अतः वस्तु की अनेकान्तात्मकता का निरूपण करने पर वाक्य की अनेकान्तात्मकता का निरूपण अपने आप हो जाता है अतः उस के लिये तृतीयकांड का प्रारम्भ पुनरुक्ति के सिवा और कुछ नहीं है ।

✽ प्रस्तुत काण्ड का प्रारम्भ सार्थक है - उत्तर ✽

उत्तर :- उत्तर में व्याख्याकार कहते हैं कि आपका कथन वाजिब है, लेकिन प्ररूपणा के प्रकार में अन्तर है । देखिये, पहले—प्रमेय की मुख्यता रख कर प्रमेयग्राहक होने से प्रमाण का निरूपण होता है यह प्रदर्शित करते हुए प्रमाणनिरूपण के अंगभूत प्रमाणविषय प्रतिपादक वाक्य का, सवियप्प-णिब्बियप्पं० इस गाथा से अवतार किया गया था । अब यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि जिस प्रमाण का कोई प्रमेयभूत विषय ही नहीं है वह वास्तव में प्रमाण ही नहीं है, अतः प्रमाण का व्युत्पादन करने द्वारा प्रमेय का व्युत्पादन विवक्षित किया जाता है — इस तथ्य को दर्शाते हुए तृतीय कांड में प्रमेयव्युत्पादक वाक्य का अवतार किया जा रहा है । अतः पुनरुक्ति या अन्य किसी दोष को अवकाश नहीं है ।

अथवा उक्त शंका के उत्तर में संक्षेप में यह ज्ञातव्य है कि अनेकान्तवाद में प्रसञ्जित दोषों का निरसन अनेक तरीके से हो सकता है, यहाँ तीसरे कांड में भी नये तरीके से वही कार्य सिद्ध किया जा रहा है, अतः सामण्णम्मि विसेसो० इत्यादि सूत्रसंदर्भ की रचना में कोई अपराध नहीं है ॥२॥

✽ आप्तवचन की विशेषता ✽

तीसरी गाथा में ग्रन्थकार यह दिखाना चाहते हैं कि सामान्य-विशेष उभयमिलित अनेकान्तात्मक वस्तु प्रदर्शित करने वाला वचन यह आप्तवचन है, जब कि उस से विपरीत वस्तु दिखाने वाला वचन, आप्त का नहीं होता ।

मूलगाथा शब्दार्थ :- जिस वचन से वर्तमान पदार्थ का अतीत-अनागत पर्यायों से समन्वय दिखाया जाता है तथा (परमाणुआदि को) द्रव्यान्तर से सम्बद्ध दिखाया जाता है वह वचन प्रतीत्यवचन (=समीक्षितार्थवचन) है ॥३॥

प्रत्युत्पन्नं भावं वस्तुनो वर्त्तमानपरिणामम् विगत-भविष्यद्भ्यां पर्यायाभ्यां यत् समानरूपतया नयति = प्रतिपादयति वचः तत् प्रतीत्यवचनं = समीक्षितार्थवचनं सर्वज्ञवचनमित्यर्थः, अन्यच्चानाप्तवचनम् ।

ननु वर्त्तमानपर्यायस्य प्रागपि सद्भावे कारकव्यापारवैफल्यम् क्रिया-गुण-व्यपदेशानां च प्रागप्यु-पलम्भप्रसंगश्च । उत्तरकालं च सद्भावे विनाशहेतुव्यापारनैरर्थक्यम् उपलब्ध्यादिप्रसंगश्च । ततो यद् यदैवो-पलम्भादिकार्यकृत् तत् तदैव, न प्राक् न पश्चात्, अर्थक्रियालक्षणसत्त्वविरहे वस्तुनोऽभावात् । असदेतत् — तस्य प्रागसत्त्वेऽदलस्योत्पत्त्ययोगात् । न चात्मादिद्रव्यं विज्ञानादिपर्यायोत्पत्तौ दलम् तस्य निष्पन्न-त्वात् । न च निष्पन्नस्यैव पुनर्निष्पत्तिः अनवस्थाप्रसंगात् । न च तत्र विद्यमान एव ज्ञानादिकार्योत्पत्तिः, 'तत्र' इति सम्बन्धाभावतो व्यपदेशाभावप्रसंगात्, समवायसम्बन्धप्रकल्पनायां तस्य सर्वत्राऽविशेषात् तद्वद् आकाशादावपि तत् स्यात् ।

व्याख्या: - 'प्रत्युत्पन्न' शब्द वर्त्तमानकालवाची है, प्रत्युत्पन्न भाव यानी वस्तु का वर्त्तमानकालीन परिणाम । वर्त्तमान परिणाम की अतीत-अनागत पर्यायों के साथ समानरूपता दिखाने वाला वचन यह प्रतीत्यवचन है । प्रतीत्यवचन यानी सुचारुदंग से परीक्षित अर्थ का प्रतिपादक वचन । तात्पर्य यहाँ सर्वज्ञवचन से है । जो वैसा वर्त्तमान परिणाम को अतीत-अनागत पर्यायों से समानता दिखाने वाला नहीं होता, भिन्नता दिखानेवाला होता है, वह वचन ऐसे पुरुष का है जो आप्त नहीं है, विश्वासपात्र नहीं है ।

✽ वर्त्तमानपर्याय की त्रैकालिक सत्ता मानने पर शंका-समाधान ✽

शंका - वर्त्तमान पर्याय को अतीत पर्याय से अभिन्न बताने का मतलब होगा कि वर्त्तमान पर्याय पूर्व काल में भी विद्यमान था, उस की उत्पत्ति वर्त्तमान में हुई ऐसा कुछ नहीं है । अतः वर्त्तमान में उस की उत्पत्ति करने वाले कर्त्ता-करण आदि कारकों का कुछ भी योगदान निष्फल बना रहेगा । तथा, वर्त्तमान पर्याय वर्त्तमान काल में जिन क्रियाओं को सम्पन्न करता है, जिन गुणों से आलिंगित है, जिन पदों से व्यवहृत हो रहा है; उन क्रियाओं का, गुणों का तथा उन पदों के व्यवहार का पूर्वकाल में भी प्रचलन मानना होगा क्योंकि वर्त्तमान पर्याय की पूर्वकाल में भी आप विद्यमानता स्वीकारते हैं । ऐसे ही, वर्त्तमान पर्याय भविष्य पर्याय से अभिन्न होने के कारण भावि में भी उपलब्ध होता रहेगा और उस के विनाशकों का प्रयास निष्फल रहेगा । इन सभी अनिष्टों को टालने के लिये यह मानना उचित है कि जिस का उपलम्भादिकार्यकारित्व जिस काल में होता है उसी काल में उस की सत्ता है, पूर्व में भी नहीं और उत्तरकाल में भी नहीं । कारण, जिस काल में अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व न हो उस काल में वस्तु भी नहीं होती ।

उत्तर :- यह शंका गलत है । यदि वर्त्तमान भाव की पूर्वकाल में किसी न किसी रूप में सत्ता नहीं मानेंगे तो उस की उत्पत्ति के आधारभूत किसी दल का पूर्वसद्भाव न होने से उस वर्त्तमान भाव की निराधार उत्पत्ति हो नहीं सकेगी । यदि कहें कि -- वर्त्तमान विज्ञानपर्याय की उत्पत्ति के लिये जो आधारभूत दल चाहिये वह आत्मा मौजूद है -- तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा यदि वर्त्तमान पर्याय से सर्वथा भिन्न है तो वह पूर्वकाल में किसी रूप से अपूर्ण नहीं है, सर्वप्रकार से निष्पन्न ही है । जो परिपूर्णरूप से निष्पन्न (यानी सम्भवित सर्वप्रकार से लब्धसत्ताक) है उसको नया कुछ प्राप्तव्य न होने से पुनः विज्ञानात्मना उसकी निष्पत्ति शक्य नहीं है । यदि निष्पन्न होने पर भी पुनः पुनः निष्पत्ति होने का मानेंगे तो उसकी निष्पत्ति का चक्र रुकेगा ही नहीं । यदि कहें कि -- विज्ञानभिन्न आत्मा जो पूर्वकाल में विद्यमान है उस में स्व से भिन्न वर्त्तमान

अथात्मादिद्रव्यमेव तेनाऽऽकारेणोत्पद्यत इति नाऽदलोत्पत्तिः कार्यस्य । भवत्येवमुत्पत्तिः किन्त्वात्मद्रव्यं पूर्वमप्यासीत् पश्चादपि भविष्यति, तत्सर्वावस्थासु तादात्म्यप्रतीतेः, अन्यथा पूर्वोत्तरावस्थयोस्तत्प्रतिभासो न भवेत् । न चैकत्वप्रतिभासो भ्रान्तिः, बाधकाभावे भ्रान्त्यसिद्धेः । न चार्थक्रियाविरोधो नित्यत्वे बाधकः, अनित्यत्वे एव तस्य बाधकत्वेन प्रतिपादनात् । न चोत्पाद-विनाशयोरपि तत्र प्रतिपत्ताबेकान्ततो नित्यत्वमेव, परिणामिनित्यतया तस्य नित्यत्वात्, अन्यथा खरविषाणवत् तस्याऽभावप्रसंगात् । न चैवं तस्य विकारित्वप्रसंगो दोषाय, अभीष्टत्वात् । न च नित्यत्वविरोधस्तथैव तत्त्वप्रतीतेः । न च तस्य तथात्वप्रतिपत्तिर्भ्रान्तिः, बाधकाभावादित्युक्तत्वात् ।

विज्ञान पर्याय का उद्भव हो सकेगा -- तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'उस में उद्भव' ऐसा दिखाने के लिये उन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध होना चाहिये, जो नहीं है इसलिये 'उस में' ऐसा वचनप्रयोग निरर्थक है । यदि यहाँ समवाय सम्बन्ध की कल्पना करेंगे तो व्यापकरूप से सर्वत्र आकाशादि में उस के विद्यमान होने से आकाश में भी समवाय सम्बन्ध से विज्ञानोद्भव हो जायेगा ।

✽ पूर्वोत्तर अवस्था में एक ज्ञानात्मा की अनुवृत्ति ✽

यदि कहें कि -- 'सम्बन्ध की जरूर ही नहीं है, आत्मद्रव्य ही वर्तमानविज्ञानपर्यायरूप से उत्पन्न होता है अतः विज्ञानोत्पत्ति निर्दल -- निराधार नहीं है' -- तो इस में हम सम्मत हैं, इस प्रकार उसकी उत्पत्ति बिना सम्बन्ध हो सकती है, किन्तु अब यह ध्यान में लिया जाय कि विज्ञानाकार आत्मद्रव्य से अभिन्न है, आत्मद्रव्य पूर्वकाल में भी था और भाविकाल में भी रहने वाला है, फलतः आत्मद्रव्य के अभेद से वह विज्ञान भी आत्मद्रव्यरूप में पूर्व काल में था और भाविकाल में रहेगा, क्योंकि पूर्व-पश्चात् काल भावी सर्वअवस्थाओं के साथ आत्मद्रव्य का तादात्म्य अनुभवोपाख्य है । यदि इस बात को नहीं मानेंगे तो पूर्वपश्चात् अवस्थाओं में निरन्तर आत्मद्रव्य का जो अनुभव होता है वह नहीं हो पायेगा । यदि ऐसा कहें कि -- 'पूर्वपश्चात् अवस्थाओं में आत्माभेद का जो प्रतिभास होता है वह भ्रान्ति है' -- तो यह ठीक नहीं है, भ्रान्ति की बात जूठी है क्योंकि उस अनुभव में कोई बाधक प्रतीति नहीं होती । यदि कहें कि -- 'पूर्वपश्चादनुगामी यानी नित्य आत्मा को मानने में अर्थक्रिया का विरोध बाधक है, नित्य भाव में क्रमशः या एकसाथ, किसी भी प्रकार अर्थक्रिया संगत नहीं होती' -- तो यह अयुक्त है चूँकि क्षणभंगुर होने से अनित्य भाव में ही 'अर्थक्रिया-असंगति'रूप बाधक व्यथाकारक है, वह बात पहले कही जा चुकी है ।

आत्मा को हम (स्याद्वादी) एकान्तनित्य नहीं मानते, विज्ञानाकार के अभेद से हम आत्मा में भी उत्पत्ति-विनाश स्वीकारते हैं, अतः उस में एकान्तनित्यत्व नहीं किन्तु परिणामिनित्यत्वस्वरूप नित्यत्व मानते हैं । परिणाम के रूप में बदलते रहने पर भी अपने आत्मत्वादि मूलस्वरूप से स्थायी बने रहना यही परिणामिनित्यत्व है । यदि एकान्तनित्य मान कर उसकी उत्पत्ति-विनाश का बहिष्कार किया जाय तो वह गधेसींग की तरह असत् होने की विपदा खड़ी होगी, क्योंकि जिस का किसी भी रूप में उत्पाद-विनाश नहीं होता वह गर्दभशृंग की तरह असत् होता है । यदि कहें कि -- 'परिणाम के रूप में आत्मा के उत्पाद-विनाश मानेंगे तो निर्विकार आत्मा की कथा समाप्त हो कर उसे विकारी मानने की कथा चालु हो जायेगी ।' -- तो यह ठीक ही है, क्योंकि मूलस्वरूप से निर्विकार रहते हुए भी आत्मा में पूर्वापर विज्ञानपरिणाम के रूप में कथंचित् सविकारता मानने में कोई संकट नहीं है । कथंचित् सविकारता मानने में नित्यत्व के साथ विरोध खड़ा होने की चिन्ता भी निरर्थक है क्योंकि आत्मद्रव्यत्वरूप से आत्मा में कथंचित् नित्यत्व भी अनुभवसिद्ध ही है । ऐसा नहीं कह सकते कि 'आत्मा में आत्मद्रव्यत्वरूप से स्थायित्व

अथ ज्ञानपर्यायादात्मनो व्यतिरेके भेदेनोपलम्भः स्यात्, अव्यतिरेके पर्यायमात्रम् द्रव्यमात्रं वा भवेत्, व्यतिरेकाऽव्यतिरेकपक्षस्तु विरोधाघ्रातः, अनुभयपक्षस्त्वन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधेना-परविधानादसंगतः । असदेतत् - व्यतिरेकाऽव्यतिरेकपक्षस्याभ्युपगमात् । न च व्यतिरेकपक्षभावी तद्रव्यतिरेकेणोपलब्धिप्रसंगो दोषः, एकज्ञानव्यतिरेकेण ज्ञानान्तरेऽपि तस्य प्रतीतेर्व्यतिरेकोपलम्भस्य सद्भावात् । अव्यतिरेकोऽपि, ज्ञानात्मकत्वेन तस्य प्रतीतेः । न च व्यतिरेकाऽव्यतिरेकयोरन्योन्यपरि-हारेणावस्थानाद् विरोधः, अबाधितप्रमाणविषयीकृते वस्तुतत्त्वे विरोधाऽसम्भवात्, अन्यथा संशयज्ञानस्यैकानेकरूपस्य वैशेषिकेण, ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिरूपस्य बुद्ध्यात्मनश्चैकानेकस्वभावस्य सौगतेन कथं प्रतिपादनमुपपत्तिमद् भवेत् यदि प्रमाणप्रतिपत्ने वस्तुतत्त्वे विरोधः संगच्छेतेत्यादि पूर्वमेव प्रतिपादितम् । वर्तमानपर्यायस्यान्वयिद्रव्यद्वारेण त्रिकालास्तित्वप्रतिपादकं प्रतीत्यवचनमिति सिद्धम् ।

का अनुभव भ्रान्तिरूप है' -- इस अनुभव में कोई बाधक प्रतीति का उदय नहीं है अतः वह भ्रान्तिरूप नहीं हो सकता । यह बात पहले ही कही जा चुकी है ।

✽ आत्मा और ज्ञानपर्याय में भेदाभेद ✽

शंका :- यहाँ चार पक्ष हैं, आत्मा विज्ञानपर्याय से भिन्न है ? अभिन्न है ? भिन्न-अभिन्न (उभय) है ? या अनुभय यानी दो में से एक भी नहीं है ? प्रथम पक्ष में विज्ञान से अलग आत्मद्रव्य का उपलम्भ प्रसक्त होगा । दूसरे अभेद पक्ष में, या तो सिर्फ द्रव्यरूप आत्मा ही रहेगा अथवा सिर्फ विज्ञान ही अकेला उपलब्ध होगा, क्योंकि अभेद में द्वित्व नहीं टिकता । उभयवाले तीसरे पक्ष में स्पष्ट ही विरोध है, क्योंकि भेद-अभेद परस्परपरिहारवृत्ति हैं । चौथे अनुभय पक्ष में, एक का निषेध दूसरे (उस के अभाव) का आक्षेपक होने से, संगत नहीं होगा ।

उत्तर :- यह गलत शंका है । तीसरे भिन्नाभिन्न पक्ष को तो हम मानते ही हैं । इस का मतलब यह नहीं है कि विज्ञान से अलग उस की उपलब्धि का दोष होगा, क्योंकि एक विवक्षित ज्ञान में परिणत होने पर, अन्य अपरिणत ज्ञान से भिन्नरूप में आत्मद्रव्य की उपलब्धि हो सकती है -- इस में कोई दोषगन्ध नहीं है । तथा आत्मा ज्ञानमय होने की प्रतीति किस को नहीं होती ? अतः आत्मा ज्ञान से कथंचित् अभिन्न भी है । यदि कहें कि -- भेद-अभेद परस्पर परिहारी होने से एक-दूसरे से विरुद्ध है, अतः विरोधदोष प्रसक्त होगा -- तो यह ठीक नहीं है, जब पूर्वोक्त रीति से बाधकरहित प्रमाण से यह अनुभव होता है कि आत्मा कथंचित् ज्ञानमय है और ज्ञान से कथंचित् भिन्न है तब प्रमाणसिद्ध वस्तुतत्त्व होने पर विरोध को अवकाश नहीं रहता । यदि प्रमाणसिद्ध वस्तुतत्त्व के ऊपर भी ऐसे विरोध थोपा जायेगा तो वह वैशेषिक और बौद्धमत में भी सावकाश रहेगा -- वैशेषिक मानता है कि संशयज्ञान एक होते हुए भी परस्पर विरुद्ध कोटिद्वयावगाही होने से तद्ग्राही -- अतद्ग्राही ऐसे उभयरूप होता है । तथा, बौद्ध मानता है कि एक ही बुद्धि, ग्राह्य संवेदन रूप और ग्राहक संवेदनरूप उभयात्मक होती है और बुद्धिरूप में एक भी होती है । यदि प्रमाणसिद्ध वस्तु में भी विरोध संगत माना जाय तो वैशेषिक-बौद्धवादी कैसे अपने मत का उपपादन कर पायेंगे ? पहले ही यह बात कही जा चुकी है ।

निष्कर्ष, यह सिद्ध होता है कि प्रतीत्यवचन वर्तमान परिणाम को अपने अन्वयि द्रव्य के माध्यम से त्रिकालावस्थायि प्रदर्शित करता है ।

परमाण्वारम्भकद्रव्यात् कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादि द्रव्यान्तरं वैशेषिकाभिप्रायतः, तेन निःसृतं = सम्बद्धं कारणं परमाण्वादि यत् प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्यवचनम् । तथाहि — त्र्यणुकुरूपतया परमाणवः प्रादुर्भूताः द्व्यणुकतया प्रच्युताः परमाणुरूपतया अविचलितस्वरूपा अभ्युपगन्तव्याः, अन्यथा तद्रूप-तयाऽनुत्पादे प्राक्तनरूपताऽपगमो न स्यात् परमाण्ववस्थावत्, प्राक्तनरूपापगमे वा नोत्तररूपतयोत्पत्ति-स्तदवस्थावत् । परमाणुरूपतयाऽपि विनाशोत्पत्त्यभ्युपगमे पूर्वोत्तरावस्थयोर्निराधारविगम-प्रादुर्भावप्रसक्तिः । न च तदवस्थयोरेवाऽऽधारत्वम् तयोस्तदानीमसत्त्वात् । न च पूर्वोत्तरकार्यद्रव्यविनाशप्रादुर्भावयोः कारणस्याविनाश-प्रादुर्भावौ, ततस्तस्यैकान्ततो हिमवद्-विन्ध्ययोरिव भेदप्रसक्तेः । न च कारणाश्रितस्य कार्यद्रव्यस्योत्पत्तेर्नायं दोषः, तयोर्युतसिद्धितः कुण्ड-बदरवत् पृथगुपलब्धिप्रसक्तेः । अयुतसिद्धावपि

❀ परमाणु एवं द्व्यणुकादि द्रव्यों का तादात्म्य ❀

मूलगाथा के चतुर्थपाद में प्रतीत्यवचन का अन्य एक स्वरूप दिखाया गया है -- द्रव्यान्तर निःसृत जो वचन है वह भी प्रतीत्यवचन है । यहाँ 'द्रव्यान्तर' शब्द का अर्थ वैशेषिकमतानुसार लेना है द्व्यणुक आदि, क्योंकि द्व्यणुकादि के आरम्भक यानी उपादान रूप से जनक जो परमाणु द्रव्य हैं उन से सर्वथा भिन्न हैं ये द्व्यणुकादि द्रव्य, इसलिये उस को वैशेषिक मत में 'द्रव्यान्तर' कहा गया है । निःसृत यानी सम्बद्ध, अर्थात् कारणतासम्बन्धवाले परमाणुद्रव्य । तात्पर्य यह है कि परमाणु आदि कारण द्रव्य को द्रव्यान्तर से यानी द्व्यणुकादि द्रव्य से, सम्बद्ध यानी तादात्म्य भाव से अथवा परिणाम-परिणामी भाव से विशिष्ट, बतानेवाला जो वचन है वह भी प्रतीत्यवचन है । इस तथ्य का समर्थन करते हुए व्याख्याकार कहते हैं -- त्र्यणुकुरूप से परमाणु उत्पन्न होते हैं, द्व्यणुकुरूप से च्युत होते हैं और फिर भी परमाणुरूप से अविचलितस्वभाव रहते हैं -- ऐसा स्वीकार लेना चाहिये । यदि ऐसा नहीं मानते हैं, यानी परमाणुओं की त्र्यणुकुरूप से उत्पत्ति नहीं मानेंगे तो पूर्वकालीन द्व्यणुकुरूपता का परमाणुस्वरूप की तरह च्यवन भी अमान्य रहेगा, अथवा द्व्यणुकुरूप से परमाणु का च्यवन नहीं मानेंगे तो जैसे परमाणु अवस्था की उत्पत्ति नहीं है वैसे त्र्यणुकुरूप से भी उत्पत्ति नहीं होगी । यदि त्र्यणुकोत्पत्तिकाल में या द्व्यणुकप्रच्यवकाल में परमाणु का परमाणुरूप से भी उत्पत्ति-विनाश स्वीकार करेंगे तो उत्तरकालीन त्र्यणुकोत्पत्ति और पूर्वकालीन द्व्यणुकप्रच्यव दोनों को निराधार-निर्दल मानना पड़ेगा । यदि कहें कि त्र्यणुकावस्था और द्व्यणुकावस्था ही उन दोनों का आधार बन जायेगी तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति-विनाशकाल में वे अवस्था ही मौजूद नहीं हैं ।

❀ परमाणु का उत्पत्ति और प्रलय सयुक्तिक ❀

यदि ऐसा कहें कि -- 'द्व्यणुकविनाश स्वतन्त्र है, द्व्यणुक रूप में द्व्यणुक के कारणभूत परमाणु का विनाश मानने की जरूर नहीं है । तथा त्र्यणुक उत्पत्ति भी स्वतन्त्र है, त्र्यणुकुरूप में कारणभूत परमाणु की उत्पत्ति मानने की भी जरूर नहीं है । तात्पर्य, कार्य के उत्पत्तिविनाश के साथ कारण के उत्पाद-प्रलय मानने की क्या जरूर ?' -- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कारण-कार्य में कथंचिद् अभेद होता है इसलिये कार्य के उत्पाद-विनाश में कारण का भी कथंचिद् उत्पत्ति-प्रलय मानना युक्तियुक्त है, अन्यथा हिमाचल-विन्ध्याचल की तरह कारण-कार्य में सर्वथा भेद प्रसक्त होगा । फलतः कारण-कार्य भाव विलीन हो जायेगा । अथवा हिमाचल-विन्ध्याचल की तरह उपादान कारण से सर्वथा पृथगरूप से कार्य का उपलम्भ प्रसक्त होगा । यदि कहें कि -- 'कार्य के साथ कारण की उत्पत्ति नहीं मानेंगे, किन्तु कारणाश्रित ही कार्यद्रव्य उत्पन्न होता है

कार्योत्पत्तौ कारणस्याप्युत्पत्तिप्रसक्तिः, अन्यथाऽयुतसिद्ध्यनुपपत्तेः ।

अथाऽयुताश्रयसमवायित्वमयुतसिद्धिः, सा च कार्योत्पत्तौ कारणानुत्पत्तावपि भवत्येव । न, समवायाऽसिद्धावयुतसिद्ध्यसिद्धेः । न चायुतसिद्धित एव समवायसिद्धिः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । न चाध्यक्षतः समवायसिद्धेर्नायं दोषः, तन्त्वात्मकपटप्रतिभासमन्तरेणाध्यक्षप्रतिपत्तावपरसमवायाऽप्रतीतेः । 'इह तन्तुषु पटः' इत्यत्रापि प्रत्यये 'इह तन्तुषु' इति प्रतिपत्तिस्तन्त्वालम्बना, 'पटः' इति प्रतिपत्तिः पटालम्बना संवेद्यत इति नापरः समवायप्रतिभासः । न च 'इह तन्तुषु पटः' इति लौकिकी प्रतिपत्तिः किन्तु 'पटे तन्तवः' इति । न चान्यथाभूतप्रतिपत्त्याऽन्यथाभूतार्थव्यवस्था । न चानुमानादपि समवायप्रसिद्धिः, प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्य तस्य तत्राऽप्रवृत्तेः । अनुमानपूर्वकस्य तु तस्यानवस्थादिदोषाघ्रातत्वात्

ऐसा मानेंगे तो कार्य-कारण में सर्वथा भेद या पृथग् उपलब्धि का दोष नहीं होगा' - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारण-कार्य की युतसिद्धि (= असंश्लिष्टता) और अयुतसिद्धि (= संश्लिष्टता) इन दो विकल्पों में से एक को तो मानना ही पड़ेगा, यदि युतसिद्धि मानेंगे तो कुण्ड और बदरीफल की भाँति उन दोनों की पृथग् उपलब्धि बरबस प्रसक्त होगी । यदि अयुतसिद्धि मानेंगे तो यही कथंचिद् अभेदरूप होने से कार्य उत्पन्न होने पर कथंचिद् कारण भी उत्पन्न होने की बात फलित हो जाती है, क्योंकि इस के विना अयुतसिद्धि यानी प्रगाढ संश्लिष्टता (अपार्थक्य) घट नहीं सकती । (जहाँ प्रगाढ मैत्रीसम्बन्ध होता है वहाँ एक के दुःख से दूसरा भी दुःखी होता है ।)

✽ समवायगर्भित अयुतसिद्धि का निरसन ✽

नैयायिक :- अयुतसिद्धि का मतलब कथंचिद् अभेद नहीं है । उसका मतलब है समवाय सम्बन्ध से अयुत यानी अपृथग्भूत आश्रय में रहना । अयुत आश्रय में वृत्ति होने से कार्य की कारण से पृथग् उपलब्धि का दोषप्रसंग नहीं होगा । तथा कार्य उत्पन्न होते समय कारण की उत्पत्ति न मानने पर भी समवाय से अपृथग् आश्रय में वृत्तित्वरूप अयुतसिद्धि घट सकती है ।

जैन :- यह निवेदन अयुक्त है क्योंकि समवाय ही सिद्ध नहीं है तो वैसी अयुतसिद्धि कैसे प्रसिद्ध हो सकेगी ? यदि कहें कि - अयुतसिद्धि से ही समवाय सिद्ध होगा तो यह अयुक्त है क्योंकि एक दूसरे के आधार पर एक दूसरे की सिद्धि मानने में अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । यदि इस दोष को टालने के लिये प्रत्यक्ष को ही समवायसाधक कह दिया जाय तो वह भी अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष में सिर्फ तन्तुमय पट का दर्शन होता है, उसके अतिरिक्त किसी समवायात्मक सम्बन्ध का दर्शन नहीं होता । 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र है' इस प्रतीति में भी समवाय दृष्टिगोचर नहीं है, क्योंकि 'यहाँ तन्तुओं में' इस रूप में तन्तु दृष्टिगोचर होते हैं और 'वस्त्र है' इस रूप में वस्त्र ही दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उन से अतिरिक्त समवाय का कुछ भी आभास नहीं होता । वास्तव में तो जनसाधारण को 'वस्त्र में तन्तु हैं' ऐसा ही अनुभव होता है न कि 'तन्तुओं में वस्त्र है' ऐसा । एक प्रकार की प्रतीति से दूसरे प्रकार के अर्थ को सिद्ध करने वाली व्यवस्था कहीं देखी नहीं ।

अनुमान से समवाय की सिद्धि की आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि अनुमानप्रवृत्ति प्रत्यक्षपूर्वक ही होती है, समवाय जब प्रत्यक्षसिद्ध ही नहीं है तो तत्पूर्वक अनुमान भी समवायसिद्धि के लिये प्रवृत्त नहीं हो सकता । यदि कहें - 'प्रत्यक्षपूर्वक अनुमानप्रवृत्ति न होने पर भी अनुमानपूर्वक अनुमानप्रवृत्ति से समवायसिद्धि हो सकेगी'

तत्राप्रवृत्तिरित्यनेकशः प्रतिपादितं न पुनरुच्यते । इति व्यवस्थितमेतत् — तथाभूतवस्तुप्रतिपादक-
मेवाऽऽप्तवचनम्, एकान्तप्रतिपादकं तु नाप्तवचनम् ।

अथवा एकद्रव्यादन्यद् द्रव्यं 'द्रव्यान्तरम्' तस्मिन् 'निःसृतं' = सम्बद्धं यत् तदपि प्रतीत्यव-
चनम् । यथा — दीर्घतरं मध्यमिकाङ्गुलीद्रव्यमपेक्ष्य ह्रस्वतरमङ्गुलकद्रव्यमिति वचः । ह्रस्व-दीर्घादि-
कस्तु स्वधर्म एव द्रव्यान्तरविशेषाभिव्यंग्यः पितेव पुत्रादिना ।

यद्वा गोत्वसदृशपरिणतियुक्ताच्छाबलेयद्रव्यात् तत्सदृशपरिणतियुक्तं बाहुलेयादि 'द्रव्यान्तरं' तस्मिन्
निःश्रितं = सम्बद्धं वाचकत्वेन 'गौः' इति यद् वचनं तदपि प्रतीत्यवचनम् । न पुनः केवलतिर्यक्-
सामान्य-विशेष-तद्बहुभयादिप्रतिपादकम् असद्भूतार्थप्रतिपादकत्वाद् उन्मत्तवाक्यवत् ॥३॥

ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य स्वकालवदतीताऽनागतकालयोः सत्त्वे अतीताऽनागतकालयोर्वर्तमानकाल-

-- तो यह आशा भी व्यर्थ है क्योंकि बार बार कहा जा चुका है कि पूर्वानुमान की भी प्रवृत्ति उत्तर अनुमानपूर्वक
मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा । यदि पूर्वतर अनुमान पूर्वक पूर्वानुमान की प्रवृत्ति मानेंगे तो उस पूर्वतर
अनुमान की प्रवृत्ति भी पूर्वतमानुमानपूर्वक... इस प्रकार पूर्व-पूर्व अनुमानपूर्वकत्व की कल्पना का अन्त ही नहीं
आयेगा -- इत्यादि दोष होने से अनुमानपूर्वक अनुमानप्रवृत्ति से समवाय की सिद्धि अशक्य है । फिर से इस
बात को दोहराने की जरूर नहीं ।

निष्कर्ष यह फलित होता है कि द्रव्यान्तरनिःसृत अर्थ का प्ररूपक वचन ही आप्तवचन हो सकता है, जो
एकान्तवादप्रदर्शक वचन है वह आप्तवचन नहीं हो सकता ।

✽ द्रव्यान्तरशब्द की अन्य दो व्याख्या ✽

चतुर्थ पाद की व्याख्या एक अन्य प्रकार से व्याख्याकार प्रस्तुत करते हैं — किसी एक द्रव्य से उस
के जैसा किन्तु भिन्न जो अन्य द्रव्य वह द्रव्यान्तर है, ऐसे द्रव्यान्तर का सम्बन्धि वचन यही प्रतीत्यवचन है
। उदा० मध्यमिका ऊँगली अंगूठे से लम्बी है जब कि उस की अपेक्षा अंगूठा द्रव्य छोटा है -- यह प्रतीत्यवचन
है । ह्रस्वता और दीर्घता ये अंगूठ आदि द्रव्यों के अपने ही धर्म हैं किन्तु इनकी सही अभिव्यक्ति विशिष्ट
द्रव्यान्तर के सापेक्ष होती है । जैसे पितृत्व आदि पिता का अपना धर्म है किन्तु वह पुत्रादि से अभिव्यक्त
होता है ।

अथवा अन्य एक प्रकार से चतुर्थपाद की व्याख्या इस तरह है — द्रव्यान्तर यानी सदृशपरिणतिवाला अन्य
द्रव्य । शबला और बहुला इन दो गायों में गोत्वरूप से परिणामसादृश्य है इसलिये शबल गौद्रव्य की अपेक्षा
बहुला गौ द्रव्यान्तर कही जायेगी । यहाँ गोत्वरूप से समानपरिणति को नजर में रख कर इस द्रव्यान्तर के
लिये जो 'गाय' ऐसा वचनप्रयोग किया जाता है वह प्रतीत्यवचन है । तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्र तिर्यक् सामान्य
गोत्वादि अथवा शबलत्वादि स्वतन्त्र विशेष (एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न) का निरूपण करने वाला जो 'गाय'
ऐसा वचन है वह प्रतीत्यवचन नहीं है । तथा स्वतन्त्र गोत्व से विशिष्ट अथवा स्वतन्त्र शबलत्व से विशिष्ट
अथवा स्वतन्त्र तदुभय से विशिष्ट द्रव्य के लिये जो 'गाय' शब्द का प्रतिपादन किया जाय तो वह भी प्रतीत्यवचन
नहीं है । कारण, उन्मत्तपुरुष के प्रलाप की तरह ये भी असद्भूत स्वतन्त्र सामान्य-विशेष के प्रतिपादन करनेवाले
हैं । प्रतीत्य वचन तो गोत्वरूपसदृशपरिणति से अनुविद्ध, एवं शबलत्वरूप विशेष अथवा बहुलात्वरूप विशेष
से अभेदभाव से आलिङ्गित, द्रव्यान्तर का निरूपण करता है ।

तापत्तेः, अन्यथा तद्रूपतया तयोस्तत्सत्त्वाऽसम्भवात् - त्रैकाल्याऽयोगात् तस्य तद्विशिष्टतानुपपत्ते-
स्तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्यवचनमेवेत्याशङ्क्याह -

द्वयं जहा परिणयं तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि ।

विगत-भविस्सेहि उ पज्जएहिं भयणा विभयणा वा ॥४॥

द्रव्यं = चेतनाचेतनम् यथा = तदाकारार्थग्रहणरूपतया घटादिरूपतया वा परिणतं [†]वर्त्तमान-
समये तथैव अस्ति । विगत-भविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना = कथंचित् तैस्तस्यैकत्वम्, विभजना =
विगतभजना नानात्वं कथंचित्, 'वा'शब्दस्य कथंचिदर्थत्वात् । ततः प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य विगत-
भविष्यद्भ्यां न सर्वथैकत्वमिति कथं तत्प्रतिपादकवचनस्याऽप्रतीत्यवचनतेति भावः ॥४॥

ननु घटादेरर्थस्य कैः पर्यायैरस्तित्वं अनस्तित्वं वा ? इत्याह -

✽ अतीत-अनागत काल में वर्त्तमानत्व की आपत्ति ✽

शंका :- वर्त्तमान पर्याय का अतीतानागत पर्यायों के साथ अभेद दिखाया गया, उस के ऊपर यह शंका
हो सकती है कि अतीत-अनागत काल में अगर वर्त्तमान कालीन पर्याय की सत्ता स्वीकार लेंगे तो अतीतकाल
और अनागत काल अतीतत्व-अनागतत्व को छोड़ कर वर्त्तमानरूप बन जाने की विपदा होगी । कारण, अतीत-
अनागत काल में अतीत-अनागतरूप से वर्त्तमानपर्याय की सत्ता की आधारता सम्भव नहीं है इसलिये वर्त्तमानताप्राप्त
अतीतानागत काल में ही वर्त्तमान पर्याय की सत्ता हो सकती है । फलतः काल में अतीतत्व-अनागतत्व का
भंग हो कर सिर्फ वर्त्तमानत्व ही शेष रहने से त्रैकाल्य का योग नहीं रह पायेगा; तब वर्त्तमानपर्याय में अतीतकालवैशिष्ट्य
या अनागतकाल वैशिष्ट्य भी नहीं रह पायेगा । तात्पर्य, वर्त्तमानपर्याय की अतीतादिकाल में सत्ता प्रदर्शित करनेवाला
वचन भी अप्रतीत्यवचन है ।

उत्तर :- इस शंका को मन में रख कर ग्रन्थकार चौथी गाथा में कहते हैं -

✽ वर्त्तमानत्व की आपत्ति का निराकरण ✽

मूल गाथा शब्दार्थ :- द्रव्य जिसरूप में परिणत होता है उस काल में वह वैसा ही होता है । विगत-
भविष्यत् पर्यायों के साथ भजना अथवा विभजना होती है ।

व्याख्या :- द्रव्य कोई भी हो चेतन या अचेतन, वह वर्त्तमानकाल में (क्रमशः) चेतन है तो किसी एक
अर्थाकार ग्रहण के रूप में, और अचेतन है तो घटादिरूप में, जैसा परिणत होता है वैसा ही उस काल
में वास्तविक होता है । यानी उस रूप से उसका पूरा अभेद होता है । जब कि विगत-भविष्यत् पर्यायों के
साथ उस द्रव्य की भजना यानी कथंचिद् एकत्व अथवा विभजना यानी कथंचित् भिन्नता होती है । मूलगाथा
में जो अंतिम 'वा' शब्द है उसका यहाँ 'कथंचित्' ऐसा अर्थ लिया गया है । तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान
पर्याय का अतीतानागत पर्यायों के साथ एकद्रव्याश्रय के रूप में अभेद होने पर भी सर्वथा अभेद नहीं है,
यानी काल से भी अभेद है ऐसी बात नहीं है, काल से तो कथंचित् भिन्नता ही है । इसलिये शंकाकार की
अतीतानागत काल में वर्त्तमानतापत्ति की शंका निर्मूल हो जाती है । इस स्थिति में वर्त्तमान पर्याय का अतीत-
अनागत पर्याय से अभेद प्रदर्शित करनेवाले वचन को अप्रतीत्यवचन कैसे कहा जा सकता है ?! ॥४॥

† 'तम्मि समयम्मि' इत्यस्य व्याख्या 'वर्त्तमानसमये' इति ।

परपज्जवेहिं असरिसगमेहिं णियमेण णिच्चमवि नत्थि सरिसेहिं पि वंजणओ अत्थि ण पुणऽत्थपज्जाए ॥५॥

वर्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूतभविष्यत्पर्यायाः परपर्यायास्तैर्विसदृशगमैर्विजातीयज्ञानग्राह्यैः नियमेन = निश्चयेन नित्यं = सर्वदा नास्ति तद् द्रव्यम्, तैरपि तदा तस्य सद्भावे अवस्थासंकीर्णताप्रसक्तेः। सदृशैस्तु व्यञ्जनतः सामान्यधर्मैः सत्-द्रव्य-पृथिवीत्वादिभिः विशेषात्मकैश्च शब्दप्रतिपाद्यैरस्ति, सामान्यविशेषात्मकस्य शब्दवाच्यत्वात्। सामान्यमात्रस्य तद्वाच्यत्वे शब्दादप्रवृत्तिप्रसक्तेरर्थक्रियासमर्थस्य तेनानुक्तत्वात् सामान्यमात्रस्य च तदुक्तस्यार्थक्रियाऽनिवर्त्तकत्वात्, विशेषमन्तरेण सामान्यस्याऽसम्भवात् सामान्यप्रतिपादनद्वारेण लक्षणया विशेषप्रतिपादनमपि शब्दान् सम्भवति, क्रमप्रतिपत्तेरसंवेद-

✽ विसदृश-सदृश पर्यायों से अस्ति-नास्ति विमर्श ✽

प्रश्न :- घट-वस्त्र इत्यादि पदार्थ का भूत-भविष्य काल में भी आपने कथंचिद् सत्य होने का निर्देश किया, इस से यह जिज्ञासा ऊठती है कि व्यापकरूप से, किन पर्यायों से घट-वस्त्रादि पदार्थ का अस्तित्व होता है और किन पर्यायों से नहीं होता है ?

उत्तर :- इस प्रश्न का उत्तर पंचमी कारिका में दिया जा रहा है -

मूलगाथाशब्दार्थ :- हमेशा के लिये, विसदृशगमात्मक परपर्यायों से निश्चयतः द्रव्य का नास्तित्व ही होता है। सदृश परपर्यायों में भी व्यञ्जनतः अस्तित्व होता है, अर्थपर्यायों से नहीं होता ॥५॥

व्याख्या :- परपर्याय के दो प्रकार हो सकते हैं - विसदृशगम और सदृश। वर्तमान पर्यायों से भिन्न जो भूत-भावि पर्याय हैं उन को यहाँ परपर्याय समझना है। विसदृशगम यानी विजातीयस्वरूप से ज्ञानग्राह्य ऐसे परपर्याय—उदा० पूर्वोत्तरकालीन पिण्ड-कपालखण्डसमूह जो कि घटज्ञान से नहीं किन्तु विजातीयज्ञान से जाने जाते हैं। विजातीय स्वरूप वाले परपर्यायों की अपेक्षा से घटादि द्रव्य का अस्तित्व कभी भी नहीं होता यह पक्की बात है। यदि विसदृश परपर्यायों से भी घटद्रव्य का वर्तमानकाल में अस्तित्व माना जाय तो पिण्डावस्था -- घटावस्था और खण्डीभूतकपालसमूहावस्था, इन का सांकर्य प्रसक्त होगा।

✽ व्यञ्जनपर्याय-अर्थपर्याय से अस्ति-नास्ति विमर्श ✽

सदृश-पर्यायों के दो भेद किये जा सकते हैं, व्यञ्जन यानी शब्द से प्रतिपाद्य पर्याय और अर्थपर्याय (जो कि शब्दप्रतिपाद्य नहीं होते)। शब्दप्रतिपाद्य सदृश पर्याय भी सामान्य-विशेषोभयात्मक हैं, जैसे सत्-द्रव्य-पृथ्वी आदि सामान्यात्मक हैं और घट-कुम्भादि विशेषात्मक हैं, परस्परमिलित इन दोनों से अभिन्न ऐसी शब्दवाच्य वस्तु, सदृशव्यञ्जनपर्याय की अपेक्षा से अस्तित्वशाली होती है।

यहाँ सामान्यविशेषात्मक वस्तु का निर्देश इसलिये किया गया है कि वही शब्दवाच्य होती है। सामान्यमात्र को शब्दवाच्य मानेंगे तो शब्द से होने वाली प्रवृत्ति स्थगित हो जायेगी क्योंकि तब शब्द से किसी अर्थक्रियासमर्थ रूप का निर्देश नहीं मिलता। जिस सामान्यरूप का निर्देश मिलता है वह अर्थक्रिया का निर्वर्त्तक यानी साधक नहीं होता; जैसे कि गोत्व-घटत्व सामान्य से दोहन-जलानयन आदि कोई अर्थक्रिया कहीं नहीं होती। यदि कल्पना करें कि - 'सामान्य विशेष से मिला-जुला ही रहता है अतः सामान्यनिर्देश होने पर लक्षणावृत्ति से विशेष का निर्देश प्राप्त होने से अर्थक्रियाप्रवृत्ति हो सकेगी' -- तो यह कल्पना व्यर्थ है क्योंकि शब्द सुनने

नात्; विशेषाणां त्वानन्त्यात् संकेताऽसम्भवतः शब्दाऽवाच्यत्वम् । परस्परव्यावृत्तसामान्य-विशेष-योरप्यवाच्यत्वम् उभयदोषप्रसंगात् । तत उभयात्मकं वस्तु गुण-प्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति सदृशैर्व्यञ्जनतोऽस्तीत्युपपन्नम् । न पुनः = नैव अर्थपर्यायैः = ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायैः तद् अस्ति, अन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकत्वात् तस्य ।

अयं चार्थः पूर्वसूत्र एव प्रदर्शितः इत्यन्यथा गाथासूत्रं व्याख्येयम् — अन्यवस्तुगताः पर्याया विसदृश-सदृशतया द्विप्रकाराः, तत्र विसदृशैर्विवक्षितो घटादिर्नैवास्ति, सदृशैस्तु कैश्चिदुक्तवदस्ति कैश्चिन्नेति तात्पर्यार्थः ॥५॥

ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायेण भावस्याऽस्तित्वनियमे एकान्तवादापत्तिः — इत्याशङ्क्याह —

के बाद प्रथम सामान्य का बोध और बाद में विशेष का बोध ऐसा क्रमिक संवेदन अनुभवारूढ नहीं होता । दूसरी बात यह है कि विशेष तो व्यक्तिरूप से अनन्त है, इसलिये उनमें संकेत का सम्भव न होने से वह शब्दवाच्य हो नहीं सकता । एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र ऐसे सामान्य-विशेष का युगल मिल कर भी शब्दवाच्य नहीं हो सकता क्योंकि स्वतन्त्र सामान्य-विशेष के एक-एक पक्ष में जो विपदाएँ हैं वे सब इस पक्ष में भी आ कर खड़ी रह जायेगी ।

उपरोक्त रीति से स्वतन्त्र सामान्य-विशेष शब्दवाच्य नहीं हो सकते इसलिये यही मानना उचित है अन्योन्य मिलित सामान्य-विशेषोभयात्मक वस्तु ही कभी 'सामान्य गौण और विशेष मुख्य' हो कर तथा कभी 'विशेष गौण और सामान्य मुख्य' हो कर शब्दवाच्य होती है । इस स्थिति को ध्यान में रख कर ग्रन्थकार ने कहा है कि व्यञ्जनसापेक्ष सदृश पर्यायों से घटादि पदार्थ का अस्तित्व होता है ।

सदृश व्यञ्जन पर्याय नहीं किन्तु सदृश जो तद्रूप, तद्रस आदि अर्थपर्याय हैं उन पर्यायों से प्रस्तुत घट आदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं हो सकता । कारण यह है कि तद् तद् व्यक्ति के जो व्यक्तिगत रूप-रसादि भूत-भावि पर्याय हैं वे वर्तमान के रूप-रसादि पर्यायों से सदृश होने पर भी ऋजुसूत्र के मत से असत् हैं । ऋजुसूत्र के मत से, अतीत-अनागत और परकीय वस्तु वस्तु ही नहीं होती । वह तो सर्वथा एक-दूसरे से विलक्षण स्वलक्षणमात्रवस्तु का ग्राहक होने से, वास्तव में उस के मत में सादृश्य जैसी चीज ही नहीं है, अतः सदृश पर्यायों से वस्तु का अस्तित्व वह कैसे स्वीकार करेगा ? ध्यान में रहे कि शब्द-समभिरूढादि शब्दनय हैं, ऋजुसूत्र शब्दनय नहीं है इसलिये व्यञ्जनपर्याय की चर्चा में ऋजुसूत्र को विचारणा में नहीं लिया है, जब कि ऋजुसूत्र अर्थनय होने से अर्थपर्याय की विचारणा में उस को स्थान मिला है ।

व्याख्याकार कहते हैं कि भूत-भाविकालीन परपर्यायों को लेकर जो बात यहाँ हुई वह तो करिब करिब पूर्वगाथाओं में भी हो चुकी है, इस लिये यहाँ 'पर पर्याय' शब्द से भूत-भाविकालीन पर्यायों को छोड़ कर सिर्फ अन्यवस्तुगत पर्यायों को लेकर इस गाथा की अर्थव्याख्या करना उचित है — जैसे — अन्यवस्तुगत पर्याय दो प्रकार के हैं विसदृश और सदृश । उन में से विसदृशपर्यायों की अपेक्षा को विवक्षित करके कहा जायेगा कि घट आदि पदार्थ का अस्तित्व नहीं है । सदृश पर्याय की अपेक्षा की विवक्षा की जाय तो कहना होगा कि कुछ सदृश (व्यञ्जन) पर्यायों की अपेक्षा घट आदि पदार्थ का अस्तित्व जरूर है, किन्तु कुछ सदृश (अर्थपर्यायरूप) पर्यायों की अपेक्षा से वह नहीं है — यह पाँचवी गाथा का तात्पर्यार्थ है ॥५॥

✽ वर्तमानपर्याय में भी भजना ✽

शंका :- चौथी गाथा में जो कहा गया है कि वर्तमान काल में वर्तमान पर्याय से भाव का नियमतः

पञ्चुप्पणम्मि वि पज्जयम्मि भयणागइं पडइ दवं ।

जं एगगुणाईया अणंतकप्पा १गमविसेसा ॥६॥

वर्तमानेऽपि परिणामे स्व-पररूपतया सदसदात्मरूपताम्, अधो-मध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदाभेदात्मकतां च भजनागतिमासादयति द्रव्यम् । यत एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषास्तेषां च मध्ये केनचिद् गुणविशेषेण युक्तं तत् । तथाहि — कृष्णं द्रव्यं तद्द्रव्यान्तरेण तुल्यम् अधिकं ऊनं वा भवेत् प्रकारान्तराभावात्, प्रथमपक्षे सर्वथा तुल्यत्वे तदेकत्वापत्तिः^१, उत्तरपक्षयोः संख्येयादिभागगुणवृद्धि-हानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यंभाविनी ।

अस्तित्व ही है — तो यहाँ नियम दिखाने से एकान्तवाद की आपत्ति जरूर होगी ।

उत्तर :- इस शंका का उत्तर छट्टी का० से दिया जाता है —

मूलगाथा शब्दार्थ :- वर्तमानपर्याय के बारे में भी द्रव्य भजनागति को प्राप्त है, क्योंकि एकगुणादि अनन्त प्रकार, विशेषों के होते हैं ।

व्याख्या :- वर्तमान परिणाम में नियम बताने से एकान्तवादप्राप्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि वह नियम भी विकल्पसंमिलित ही है । देखिये—वर्तमान परिणाम में भी स्वरूप से सद्रूपता और पररूप से असद्रूपता के विकल्प होते हैं, तथा अधोभाग—मध्यभाग और ऊर्ध्वभाग से भी भेदात्मक और अभेदात्मक विकल्प होते हैं । विवक्षित नीलादि वर्तमान पर्याय कभी द्रव्य के मध्यभाग के साथ अभिन्न होता है तो कभी अधोभाग या ऊर्ध्वभाग के साथ अभिन्न रहता है, ऊपर रक्त, मध्य में श्वेत और अधोभाग में नील ऐसी ध्वजा इस का उदाहरण है । स्व-पर रूप से भी सद्रूपता-असद्रूपता इसलिये हैं कि पूरे वस्त्र में जब एक ही कृष्णादि वर्ण होता है तब भी कृष्णादि में एक-गुण काला, द्विगुण काला... अनन्तगुण काला ऐसे जो अनन्तप्रकार कृष्णवर्ण के हैं उनमें से किसी एक प्रकार से ही वह सत् होता है और तदन्य सभी प्रकारों से वह असत् होता है । इस प्रकार सोचिये कि — जो एक कृष्णरूपवाला द्रव्य है उस में अन्य कृष्णद्रव्य की तुलना में तीन विकल्प से कृष्णता हो सकती है १ — समान कृष्णता, २ — अधिकगुण कृष्णता, ३ — न्यून कृष्णता । इन में से किसी एक विकल्प का ही सम्भव हो सकता है, अन्य विकल्प सम्भव नहीं है । प्रथम विकल्प में भी सर्वथा तुल्यता नहीं किन्तु कथंचित् तुल्यता ही मानना होगा, क्योंकि सर्वथा तुल्यता मानेंगे तो सर्वथा एकत्व = अभेद मानने की भी आपत्ति हो सकती है । अतः वहाँ भी भजनागति सावकाश है । तथा न्यूनाधिकपक्षों में तो छः स्थानों की सम्भावना से यानी छः छः प्रकार की हानि-वृद्धि यथासम्भव मानना होगा ।

✽ षट् स्थान हानि-वृद्धि का विवरण ✽

छ छ प्रकार हानि-वृद्धि यह जैन शास्त्रमें विशेषतः 'षट्स्थान हानिवृद्धि प्रक्रिया' रूप से प्रसिद्ध है — एक व्यक्ति में दूसरी व्यक्ति की अपेक्षा जो न्यूनाधिकता होती है वह सम्भवतः छः प्रकार से वर्गीकृत की जा सकती है । इसको इस प्रकार समझेंगे - १ एक वस्तु दूसरी वस्तु से गुण अवगुण में सम्भवतः अनन्तभाग हानिवाली हो सकती है । २-अथवा असंख्य भाग हानिवाली हो सकती है । ३ - अथवा संख्यात भाग हानिवाली हो सकती है । ४ अथवा संख्यात गुण हानिवाली हो सकती है । ५ अथवा असंख्यात गुण हानिवाली हो

१. 'गुणविसेसा' इति पाठान्तरम्, २. भजनागतिं = विकल्पपद्धतिम् इति, तथा

३. 'तदेकत्वापत्तिः, तथा च नील-नीलतरादिप्रतीतिबाधः, उत्तरपक्षयोः' इति व्याख्यातं श्रीयशोविजयोपाध्यायेन अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरणे ।

स्यादेतत्—पुद्गलद्रव्यस्य तादृग्भूतापरपुद्गलद्रव्यापेक्षया अनेकान्तरूपता युक्ता, प्रत्युत्पन्ने त्वात्मद्रव्य-पर्याये कथमनेकान्तरूपता ? - न, आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्तत्तद्ग्राह्यार्थपेक्षयाऽनेकान्तरूपता पुद्गल-वन्न विरुध्यते । तथा द्रव्य-कषाय-योगोपयोगज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यप्रभेदात्मकत्वादात्मनः पुद्गलवदने-कान्तरूपता आर्षे प्रतिपादितैव - “कइविहे णं भंते ! आया पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्टविहे । तं

सकती है । ६ अथवा अनंत गुण हानिवाली हो सकती है ।

सहस्र (१०००) की संख्या को ले कर इस बात को ऐसी कल्पना से समझ सकते हैं (१) १००० - ५ = ९९५, यहाँ अत्यन्त कम हानि होने से कल्पना से इस को अनन्तभाग की हानि कह सकते हैं । यानी एक विशाल राशि में से उसका अनन्तवाँ (बहुत छोटा) हिस्सा कम किया जाता है ।

(२) १००० - १२५ = ८७५, यह पूर्व की हानि से कुछ बढ कर हानि है इसलिये कल्पना से इसको असंख्यातभाग की हानि कह सकते हैं । यानी इस में असंख्यातवाँ भाग (पूर्व से बडा हिस्सा) हीन हो जाता है । (३) १००० - २५० = ७५०, यहाँ चौथाई हिस्सा कम हो गया है, कल्पना से इस को संख्यात भाग हानि कह सकते हैं, इस में संख्यातवाँ यानी खासा बडा हिस्सा कम हो जाता है । (४) संख्यात गुण हानि का मतलब है मूल राशि सिर्फ संख्यातवाँ भाग ही शेष रह जाय, उदा० १००० - ७५० = २५० । यहाँ सिर्फ चौथाई हिस्सा शेष रह जाता है । (५) असंख्यात गुण हानि में सिर्फ असंख्यातवाँ भाग ही शेष रह जाता है जैसे १००० - ८७५ = १२५ । यहाँ आठ भाग में से सिर्फ आठवाँ भाग बचता है, बाकी सात भाग कम हो जाते हैं । (६) अनन्तगुण हानि में सिर्फ अनन्तवाँ भाग ही बच जाता है जैसे १००० - ९९५ = ५, यहाँ २०० वाँ भाग ही बचता है ।

इस से उलटे क्रम से चले तो १अनन्तगुणवृद्धि (५+९९५=१०००) २ असंख्यगुण वृद्धि (१२५+८७५=१०००) ३ संख्यातगुणवृद्धि (२५०+७५०=१०००) ४ संख्यातभागवृद्धि (७५०+२५०=१०००) ५ असंख्यातभागवृद्धि (८७५+१२५=१०००) ६ अनन्तभाग वृद्धि (९९५+५=१०००) इस प्रकार के छः स्थान वृद्धि में भी यथासम्भव हो सकते है । इस प्रकार की हानि-वृद्धि को जैन शास्त्रों में ‘षट् स्थान हानि-वृद्धि’ कहा जाता है ।

एक काले वर्ण वाले द्रव्य की कालिमा दूसरे काले द्रव्य की कालिमा से यथासंभव षट्स्थानहानिवृद्धि में से कोई भी प्रकार से हो सकती है, क्योंकि कृष्णता के न्यूनतम अंश को प्रारम्भिक मानक बनाया जाय तो ऐसे अनन्तानन्त अंश हरेक कृष्णवर्ण के द्रव्य में हो सकते हैं अतः उन में उपरोक्त छः प्रकार की हानि-वृद्धि भी सम्भवित है ।

निष्कर्ष यह है कि एक कृष्णद्रव्य अपने में जितने अंश वाली कृष्णता को वर्त्तमान में धारण करता है वह तथाविध कृष्णतापर्याय से अस्तित्व में होता है और तब अन्य सकल विकल्पवाले कृष्णता पर्याय से अस्तित्वशाली नहीं होता । इस प्रकार वर्त्तमान पर्याय में भी भजनागति सावकाश होने से एकान्तवाद की आपत्ति नहीं है ।

प्रश्न :- पुद्गल (परमाणु) द्रव्य में तो सजातीय अन्य पुद्गल द्रव्य की अपेक्षाओं की विवक्षा से अनेकान्तवाद की स्थापना हो सकती है । वर्त्तमान आत्मद्रव्य के पर्यायों में वह कैसे की जायेगी ?

उत्तर :- इस शंका का कुछ भी महत्त्व नहीं है क्योंकि आत्मा के जो वर्त्तमान ज्ञानादिपर्याय हैं वे भी अपने ग्राह्य विषयभेद की अपेक्षा अनेकान्तरूप ही होते हैं, जैसा पुद्गल के लिये कह आये हैं । इस में कोई विरोध नहीं है । तथा आर्ष यानी आगमशास्त्र में भी भगवती सूत्र में “भगवन् ! आत्मा कितने प्रकार के हैं ?” इस प्रश्न के उत्तर में ‘हे गौतम ! आठ प्रकार के हैं’ ऐसा उत्तर दे कर, द्रव्यात्मा (आत्मद्रव्य),

जहा — दविए आया...’’ * [भगवती० शत० १२ — उ० १०] इत्यादौ ॥६॥

इतश्चानेकान्तात्मकता आत्मनः प्रतिपत्तव्येत्याह —

कोवं उप्यायंतो पुरिसो जीवस्स कारओ होइ ।

तत्तो विभएयव्वो परम्मि सयमेव भइयव्वो ॥७॥

कोपपरिणतिमुपनयन् पुरुषो जीवस्य परभवप्रादुर्भावे निर्वर्तको भवति, तन्निमित्तस्य कर्मण उपादानात् । कोपपरिणाममापद्यमानश्च पुरुषस्ततः = परभवजीवाद् विभजनीयो = भिन्नो व्यवस्थापनीयः, कार्य-कारणयोर्मृत्पिण्डघटवत् कथंचिद् भेदात्, अन्यथा कार्य-कारणभावाभावप्रसंगात् । न चासौ ततो भिन्न एव, परस्मिन् भवे स्वयमेव पुरुषो भजनीयः = आत्मरूपतया अभेदेन व्यवस्थाप्यत इति भावः, घटाद्याकारपरिणतमृद्द्रव्यवत् कथंचिद् भिन्न इत्यनेकान्तः ।

यद्वा - कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीवे उत्पादयन् पुरुषः कारको भवति । ततोऽसौ कोपकारकत्वेन विभजनीयः = कोपपरिणतियोग्ये जीवे कारकः, अन्यत्राऽकारक इति ॥७॥

कषायपरिणतात्मा, योगपरिणतात्मा, उपयोगपरिणतात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा ऐसे आठ प्रकार गिनाये गये हैं ॥६॥

✽ आत्मस्वभाव भी अनेकान्तगर्भित ✽

निम्नोक्त तरीके से भी आत्मा की अनेकान्तरूपता स्वीकारना चाहिये —

मूल गाथा शब्दार्थ : - गुस्सा को पैदा करनेवाला पुरुष जीव का कारक है । उस परभव जीव से पुरुष विभजनीय है (तथा) स्वयमेव पुरुष परभव में भजनीय है ॥७॥

अपनी आत्मा में गुस्सा के अध्ववसाय को उत्पन्न करनेवाला जीव ऐसा दुष्कर्म का बन्ध करता है जिस से वह स्वयं अग्रिमभवग्रहणपरिणामविशिष्ट स्व का यानी खुद अपने जीव का उत्पादक बन बैठता है, क्योंकि गुस्सा के जरिये अग्रिमभवप्रापक कर्म का ग्रहण हो जाता है । यहाँ, अग्रिमभव का जीव कार्य है और वर्तमान भव का जीव उस का कारण है, इसलिये कोपाध्ववसाय में परिणत जीव कारणरूप होने से, कार्यरूप अग्रिमभव-परिणामवाले जीव से भिन्न है — यह व्यवस्था उचित व्यवस्था है । जैसे, मिट्टीपिण्ड और घट में कारण-कार्य भाव होने से वे दोनों कथंचिद् भिन्न माने जाते हैं । यदि ऐसा भेद नहीं मानेंगे तो कारण-कार्यभाव सर्वथा अभेद में सम्भव न होने से विलीन हो जायेगा ।

कथंचिद् भिन्न कहने का मतलब यह है कि उन दोनों में कथंचिद् अभेद भी है, सर्वथा भिन्न ही नहीं है । अतः अग्रिमभवशाली जीव के साथ वर्तमान में कोपाध्ववसायपरिणत आत्मा को भजनीय मानना होगा, अर्थात् आत्मभाव से अभिन्न है इस प्रकार की व्यवस्था दिखाना होगा । उदा० घटाकार परिणत मृद्द्रव्य और मिट्टीपिण्ड रूप मृद्द्रव्य में मिट्टी के रूप में कथंचिद् अभिन्नता होती है — इस प्रकार यहाँ भी अनेकान्त स्थापित होता है ।

अथवा इस गाथा की कुछ अन्य रीति से व्याख्या इस प्रकार हो सकती है — जीव में कोपाध्ववसाय

* दवियाया कसायाया जोगाया उवओगाया णाणाया दंसणाया चरित्ताया वीरियाया’’ - इति सम्पूर्णसूत्रम् (भगवतीसूत्रे सू० ४६७)

• श्री यशोविजयोपाध्यायेन अनेकान्तव्यवस्थायाम् ‘प्रसंगात्’ इत्यनन्तरम् — ‘वीतरागजन्मादर्शनन्यायेनैकत्वेन सिद्धस्य जीवस्य कथं भवभेदेन भेद इति चेत् ? मृद्द्रव्यतयैकत्वेन सिद्धस्य मृत्पिण्डघटभावाभ्यामपि कथं भेदः ? न हि मृत्पिण्डघटभावाभ्यां मृद इव देव-मनुजभावाभ्यां जीवस्य वैलक्षण्यमप्रामाणिकमिति विभावनीयम्’ - इत्यधिकं परिभाषितमेतां गाथां विवृण्वता ।

द्रव्यं गुणादिभ्योऽनन्यत् तेऽपि द्रव्यादनन्य एवेत्येतदनेकान्तममृष्यमाणा आहुः --

रूप-रस-गंध-फासा असमाणग्रहण-लक्षणा जम्हा ।

तम्हा द्वाणुगया 'गुण'त्ति ते केइ इच्छंति ॥८॥

रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः असमानग्रहणलक्षणा यस्मात् ततो द्रव्याश्रिता गुणा इति केचन वैशेषिकाद्याः, स्वयूथ्या वा सिद्धान्तानभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति । तथाहि — गुणा द्रव्याद् भिन्नाः, भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भिन्नलक्षणत्वाच्च, स्तम्भात् कुम्भवत् । न चासिद्धौ हेतू, द्रव्यस्य 'यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामि' इत्यनुसंधानाध्यक्षग्राह्यत्वात् — रूपादीनां च प्रतिनियतेन्द्रियप्रभवप्रत्ययावसेयत्वात् 'दार्शनं स्पर्शनं च द्रव्यम्' इत्याद्याभिधानादसमानग्रहणता द्रव्य-गुणयोः सिद्धाः । तथा, विभिन्नलक्षणत्वमपि — 'क्रियावद्

की आग लगानेवाला पुरुष उसका कर्ता बना हुआ है । यहाँ भी गुस्सा के कर्ता के रूप से उस पुरुष की विभजना इस प्रकार जानना चाहिये — गुस्सा की आग सभी में नहीं लग सकती । जो कषायाधीन जीव है उसी में वह आग कटुवचनादि से लगायी जा सकती है, कषायविजेता जीव में वह शक्य नहीं है । अतः गुस्सा की आग लगानेवाला पुरुष कोपपरिणतियोग्य कषायाधीन जीव के प्रति कर्ता है, कषायविजेता के प्रति वह कर्ता नहीं है ॥७॥

✽ द्रव्य और गुण का सर्वथा भेद - वैशेषिकादिमत ✽

द्रव्य और पर्याय के भेदाभेदसम्बन्ध में अनेकान्तप्रदर्शन कर दिया है, उस से यह भी फलित हो जाता है कि 'द्रव्य गुणादि से भिन्न नहीं है और गुणादि भी द्रव्य से भिन्न नहीं है' । ऐसा अनेकान्त है, क्योंकि गुण वस्तुतः पर्याय से अलग चीज नहीं है । फिर भी इस बात पर परामर्श न करनेवाले कुछ लोगों का कहना ऐसा है —

मूलगाथा शब्दार्थ :- चूँकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का ग्रहण और लक्षण असमान है इसीलिये कुछ लोग गुणों को द्रव्यानुगत (द्रव्यभिन्न) मानते हैं ॥८॥

व्याख्यार्थ :- यहाँ कुछ लोग से तात्पर्य है वैशेषिक-नैयायिक आदि जैनेतर दार्शनिक, अथवा अपने जुथवाले यानी कुछ दिगम्बर वादी, जिनको वास्तविक सिद्धान्त की जानकारी नहीं है । उनके कहने का तात्पर्य यह है कि गुण द्रव्याश्रित जरूर हैं किन्तु द्रव्यमय या द्रव्यरूप (यानी द्रव्य से अभिन्न) नहीं है अर्थात् द्रव्य से भिन्न हैं । (मूलगाथा में गुण द्रव्य से भिन्न हैं ऐसा अक्षरशः नहीं कहा है, किन्तु 'द्रव्यानुगत शब्द से इसका सूचन किया है ।) द्रव्य से भिन्न होने में दो हेतु हैं — १ उनका ग्राहक प्रमाण द्रव्यग्राहक प्रमाण से अतिरिक्त है, २ तथा स्तम्भ और कुम्भ में जैसे लक्षणभेद है वैसे गुण और द्रव्य के लक्षण भी भिन्न हैं । ग्राहकप्रमाण के भेद से तथा लक्षण के भेद से जरूर वस्तुभेद सिद्ध होता है । ये दोनों हेतु वास्तविक हैं, असिद्ध नहीं हैं । द्रव्यग्राहक प्रमाण — 'जिस को देखा उसी को स्पर्श करता हूँ' यह दर्शन-स्पर्शन के विषय को एक

✽ मूलगाथा में जो 'ते' पद है उसका श्रीअभयदेवसूरि या उपाध्यायजीने कुछ भी विवरण नहीं किया है । यदि मूलगाथा में 'गुण त्ति ते' के बदले 'गुणभिन्ने' ऐसा कुछ पाठ होता और श्री अभयदेवसूरिजी की व्याख्या में 'गुण इति' के स्थान में 'गुणा भिन्ना इति' ऐसा पाठ होता तो बहुत अच्छा रहता, क्योंकि उपाध्यायजीने तो 'गुणाः तद्भिन्ना एवेति' ऐसा ही व्याख्यान अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरण में किया है ।

गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्' [विशे० द० १-१-१५] 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्व-कारणमनपेक्षः' [विशे० द० १-१-१६] इतिवचनात् सिद्धम् ॥८॥

एतत्परिहारायाह —

दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं ।

किं पज्जवाहिओ होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥९॥

दूरे तावद् गुण-गुणिनोरेकान्तेनाऽन्यत्वम्-असम्भावनीयमिति यावत् — गुणात्मकद्रव्यप्रत्ययबाधि-तत्वाद् एकान्तगुणगुणभेदस्य । न च समवायनिमित्तोऽयमभेदप्रत्ययः तस्य निषिद्धत्वात् । न चैकत्व-प्रत्ययस्य प्रागुपन्यस्तानुमानबाधा, एकत्वप्रत्ययाध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनैकशाखाप्रभवत्वानु-मानस्येव तस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् । ततो गुण-गुणिनोरेकान्तान्यत्वस्याऽसम्भवात्, गुणशब्दे एव तावत् पारीक्ष्यमस्ति किं पर्यायादधिके गुणशब्दः ? उत पर्याय एव प्रयुक्त इति ? अभिप्रायश्च न पर्यायादन्यो गुणः, पर्यायश्च कथंचिद् द्रव्यात्मकः इति विकल्पः कृतः ॥९॥

दिखानेवाला जो ऐक्य अनुसंधायि प्रत्यक्ष प्रमाण है उस से दर्शन और स्पर्शन के एक विषयभूत द्रव्य का ग्रहण होता है । रूपादि के लिये कभी भी ऐसा एक प्रत्यक्ष नहीं होता कि 'जिस रूप को देखा था उसी का स्पर्श कर रहा हूँ... इत्यादि'; क्योंकि रूप-रसादि (द्रव्य की तरह) दो इन्द्रियों से नहीं किंतु पृथक् पृथक् नियत इन्द्रियजन्य प्रतीति से गृहीत होते हैं । (रूप का चक्षु से, रस का जिह्वा से, गन्ध का घ्राणेन्द्रिय से और स्पर्श का त्वचा से ग्रहण होता है) । कहा गया है कि 'द्रव्य दर्शनग्राह्य और स्पर्शनग्राह्य होता है (जब कि रूपादिगुण एक-एक इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं) इत्यादि कथन से द्रव्य और गुण में असमानग्रहणता प्रसिद्ध है।

द्रव्य और गुण का लक्षण भी भिन्न भिन्न बताया गया है । वैशेषिक सूत्रों में कहा है कि 'जो क्रियाश्रय गुणाश्रय और समवायी कारण होता है वह द्रव्य है' । तथा 'जो द्रव्याश्रित होते हैं, निर्गुण होते हैं संयोग-विभाग के कारण नहीं होते, निरपेक्ष होते हैं वे गुण हैं ।' — इस प्रकार द्रव्य और गुण के लक्षण-प्रतिपादक सूत्र वचन से यहाँ लक्षणभेद सिद्ध होता है ॥८॥

✽ गुण-गुणी में एकान्तभेद का परिहार ✽

गुण-गुणी के सर्वथा भेदवाद का परिहार ९वीं गाथा से करते हैं —

मूल गाथा शब्दार्थ :- अन्यत्व तो दूर रहो, 'गुण' शब्द की ही परीक्षा की जाय — क्या पर्यायातिरिक्त में 'गुण' संज्ञा करते हैं या पर्याय में ही ? ॥९॥

व्याख्यार्थ :- गुण-गुणी के एकान्त भेद की कथा को अभी बाजु पर रहने दो, क्योंकि एकान्तभेद का संभव ही नहीं है । द्रव्य से अभिन्न गुण की उपलब्धिरूप प्रत्यक्ष प्रतीति ही एकान्त गुण-गुणीभेद की बाधक है । समवाय के प्रभाव से गुण और द्रव्य में अभेदप्रतीति होती है ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रथमखंड में विस्तार से समवाय के अस्तित्व का निषेध हो चुका है । ८ वीं गाथा में जो असमानग्रहणहेतुक तथा लक्षणभेदहेतुक दो अनुमान दिखाये हैं वे कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित होने से, गुण-गुणी के एकत्व की प्रतीति में वे बाधक नहीं बन सकते । दोनों अनुमान इसलिये बाधित है कि उस के कर्म यानी साध्य का निर्देश एकत्व साधक

✽ अत्र 'पज्जवाहिण' इति वक्तव्ये 'पज्जवाहिओ' इति वचनमार्षे न दोषाय ।

यदि पर्यायादन्यो गुणः स्यात् पर्यायार्थिकवद् गुणार्थिकोऽपि नयो वचनीयः स्यादित्याह —
दो उण णया भगवया द्ब्वट्टिय-पज्जवट्टिया नियया ।

एत्तो य गुणविसेसे गुणट्टियणओ वि जुज्जंतो ॥१०॥

द्वावेव मूलनयौ भगवता द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ नियमितौ । तत्रातः पर्यायादधिके गुणविशेषे ग्राह्ये सति तद्ग्राहकगुणास्तिकनयोऽपि नियमितुं युज्यमानकः स्यात्; अन्यथा अव्यापकत्वं नयानां भवेत् अर्हतो वा तदपरिज्ञानं प्रसज्येत ॥१०॥

न च भगवताऽसावुक्त इत्याह —

जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ।

पज्जवसण्णा णियया वागरिया तेण पज्जाया ॥११॥

यतः पुनर्भगवता तस्मिंस्तस्मिन् सूत्रे 'वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं' [भगवती सू० १४-४-५१३]

प्रत्यक्ष प्रतीति से पूर्वबाधित होने पर भी उन अनुमानों का प्रयोग किया जाता है । जैसे एक शाखा में उत्पन्न दो आम्रफल, एक अपक और दूसरा पक, प्रत्यक्ष आस्वादनप्रतीति से पता चल जाय कि एक खट्टा है और दूसरा मीठा है, इस प्रकार रसभेद की प्रत्यक्षप्रतीति के बाद यदि एकशाखाजन्यत्वरूप हेतु से समानरसात्मक साध्य का निर्देश कर के अनुमानप्रयोग किया जाय तो वह कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित हो जाता है । इस प्रकार गुण-गुणी के एकान्तभेद का सम्भव न होने से, उस की बात को बाजु पर रख कर, गुणशब्द की ही समीक्षा करने दो - गुणशब्द का प्रयोग पर्याय से अधिक यानी अतिरिक्त किसी चीज का निर्देश करता है या पर्याय का ही ? मूल ग्रन्थकार के प्रश्नात्मकविधान का फलित अभिप्राय यह है कि 'गुण' पर्याय से भिन्न नहीं है किन्तु पर्यायात्मक ही है, तब इस समीक्षा से स्पष्ट है कि पर्याय कथंचिद् द्रव्यात्मक होने से गुण भी कथंचिद् द्रव्यात्मक ही है, द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं है ॥९॥

✽ गुणार्थिक नय क्यों नहीं बताया ? ✽

'गुण यदि पर्याय से भिन्न होता तो पर्यायार्थिकनय की तरह गुणार्थिक नय का भी निरूपण अवश्य किया जाता' - इस विपक्ष बाधक तर्क के निरूपण के द्वारा ग्रन्थकार गुण-पर्याय की अभिन्नता दिखाते हैं -

मूलगाथा एवं व्याख्या का अर्थ :- श्री अरिहंत भगवानने भारपूर्वक यह नियम बताया है कि मूलनय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही हैं । नय के निरूपण में, यदि पर्याय से भी बढ़कर, यानी उससे स्वतन्त्र - अलग कोई 'गुण'संज्ञक विशेष चीज नय की ग्राह्य होती तो उसके ग्राहक के तौर पर उस नियमविधान में गुणास्तिक नय का प्रवेश कर के 'मूल नय तीन ही हैं' ऐसा नियमविधान दिखाना कर्त्तव्य था, उचित था । यदि ऐसा नहीं करते तो नयों का निरूपण गुण के बारे में अव्यापक यानी अपूर्ण रह जाता । अथवा नयनिरूपण करनेवाले अरिहंत भगवान को गुणास्तिकनय का ज्ञान नहीं था, ऐसी क्षति होती ॥१०॥

✽ सूत्रों में वर्णादि के लिये 'पर्याय'शब्द का प्रयोग ✽

गुणास्तिकनयापादन अथवा भगवंत में अज्ञानापादान रूप प्रसंगापादान १०वीं गाथा से कर के अब ११ वीं गाथा से उस के फलित विपर्यय का निर्देश करते हैं -

✽ जीवाजीवाभिगम प्रतिप० ३ सू० ७८ तथा जम्बूद्वीप प्र० वक्ष० २ सू० ३६ ।

इत्यादिना पर्यायसंज्ञा नियमिता वर्णादिषु गौतमादिभ्यः व्याकृतास्ततः पर्याया एव वर्णादयो न गुणा इत्यभिप्रायः ॥११॥

अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्तः तुल्यार्थत्वात्, आगमाच्च 'य एव पर्यायः स एव गुणः' [] इत्यादिकात् । एतदेवाह -

परिगमणं पज्जाओ अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लत्था ।

तह वि ण 'गुण'त्ति भण्णइ पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥१२॥

परि = समन्तात् सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैर्वस्तुनः परिणतस्य गमनं = परिच्छेदो यः स पर्यायः, विषय-विषयिणोरभेदात् । अनेकरूपतया वस्तुनः करणं = करोतेर्ज्ञानार्थत्वात् ज्ञानम् विषयविषयिणोरभेदादेव गुणः इति तुल्यार्थौ गुण-पर्यायशब्दौ, तथापि न 'गुणार्थिकः' इत्यभिहितः तीर्थकृता, पर्यायनयद्वारेणैव देशना यस्मात् कृता भगवतेति ॥१२॥

गाथा-व्याख्यार्थः :- श्रीअरिहंत भगवानने अलग अलग भगवती-जीवाजीवाभिगम-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में 'वण्णपज्जवेहिं (=वर्णपर्यवों से) गंधपज्जवेहिं (= गंधपर्यायों से)' इस तरह गुणसंज्ञा का प्रयोग छोड़ कर 'पर्यव' संज्ञा का प्रयोग किया है और इस तरह वर्णादि का पर्यायरूप से नियमन किया है । मतलब, गौतमआदि शिष्यों के समक्ष भगवान महावीरस्वामीने वर्णादि का पर्यायरूप से प्रतिपादन किया है इसलिये वर्णादि 'गुण' नहीं है । यह विपर्यय का अभिप्राय = भावार्थ है ॥११॥

✽ पर्यायशब्द गुणशब्द समानार्थ हैं तो क्या ? ✽

आशंका :- भगवती आदि सूत्रों में 'पर्याय' शब्द का प्रयोग वर्णादि गुणों के लिये ही किया गया है, क्योंकि 'पर्याय' और 'गुण' दोनों शब्द का अर्थ एक ही है । आगमवचन भी ऐसा मौजूद है कि 'जो पर्याय है वही गुण है' । अतः गुणात्मक पर्याय के लिये तीसरा गुणास्तिक नय क्यों न माना जाय ? आशंका का तात्पर्य यह है कि पर्याय शब्द संस्थानादि आकारस्वरूप पर्याय और वर्णादि गुण, दोनों अर्थ में प्रयुक्त है । उन में जो 'गुण' के अर्थ में प्रयुक्त 'पर्याय' शब्द है वह गुणशब्द का समानार्थक है और अन्यपर्यायों से गुण को अलग सिद्ध करता है इसलिये उस के प्रतिपादक 'गुणास्तिक' नय की कल्पना करने में कोई औचित्यभंग नहीं है । इस आशंका का निर्देश और उस का समाधान करते हुए सन्मतिकार कहते हैं -

मूलगाथा शब्दार्थः :- पर्याय परिगमनरूप है और गुण अनेककरणरूप है - ये दोनों अर्थ समान हैं । फिर भी 'गुण'० नहीं कहा जाता क्योंकि देशना पर्यायनय की है ॥१२॥

व्याख्यार्थः :- 'परिगमन' शब्द में 'परि' का अर्थ है सहभावि और कर्मभावी ऐसे अनेक प्रकार यानी अनेक भेद में परिणत वस्तु, उसका गमन यानी परिच्छेद अर्थात् बोध यह (ज्ञानात्मक) पर्याय है । यद्यपि 'उस बोध का विषय पर्याय है' - ऐसा कहना चाहिये किंतु विषय-विषयी के अभेदोपचार से बोध पर्याय है ऐसा कहना निर्बाध है । 'गुण' का अर्थ है एक वस्तु को अनेकरूप से करे, 'करे' यानी जाने । अर्थात् अनेकरूप से वस्तु का ज्ञान । ज्ञान का मतलब यहाँ ज्ञान का विषय समझना, क्योंकि यहाँ भी विषय-विषयी में अभेदोपचार किया है । उक्त रीति से, अनेक भेद में परिणत वस्तु (पर्याय) और अनेक रूप से ज्ञात होनेवाली वस्तु (गुण) - इन दोनों अर्थों में कोई भेद न होने से गुण-पर्याय शब्दयुगल तुल्यार्थक ही है । (आशंकाकार ने जो कहा वह बात ठीक है) फिर भी तीर्थकरोंने कहीं भी 'गुण' यानी गुणार्थिक नय का

गुणद्वारेणाऽपि देशनायां भगवतः प्रवृत्तिरूपलभ्यते इति न गुणाभाव इत्याह[✱]—

जंपन्ति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।

रूवाई परिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥१३॥

जल्पन्ति द्रव्य-गुणान्यत्ववादिनः — विद्यते एव सिद्धान्ते ‘एगगुणकालए दुगुणकालए’ [भगवती सू० ५-७-२१७] इत्यादिः रूपादौ व्यपदेशः तस्माद् रूपादिर्गुणविशेष एवेत्यस्ति गुणार्थिको नयः उपदिष्टश्च भगवतेति ॥१३॥

अत्राह सिद्धान्तवादी —

गुणसद्दमंतरेणावि तं तु पज्जवविसेससंखाणं ।

सिज्झइ णवरं⁺ संखाणसत्थधम्मो ‘तइगुणो’त्ति^० ॥१४॥

प्रतिपादन नहीं किया । (मूल गाथा में ‘गुण’ शब्द है जिस के लिये व्याख्या में ‘गुणार्थिक’ ऐसा सीधा निर्देश कर दिया गया है ।) किन्तु भगवत ने तो ‘पर्यायनय’ कह कर ही देशना वरसायी है, इसलिये ‘गुणार्थिक’ नय निरवकाश है ॥१२॥

✱ गुणार्थिक नय भगवदुपदिष्ट होने की आशंका ✱

आशंका :- ‘गुण’ शब्दप्रयोग के द्वारा भी भगवान की देशनाप्रवृत्ति उपलब्ध होती है, अतः द्रव्य और पर्याय से अतिरिक्त गुण का सर्वथा अभाव नहीं है — इसी आशंका को ग्रन्थकार कहते हैं —

मूलगाथा शब्दार्थ : — समय में एकगुण दसगुण अनंतगुण रूपादि परिणाम कहा गया है इसलिये गुणविशेष कह सकते हैं ॥१३॥

व्याख्यार्थ :- द्रव्य और गुण का भेद बताने वाले कहते हैं कि भगवती आदि सूत्रों में रूपादि के लिये ‘एकगुणकाला दुगुणकाला, दस गुण काला, अनन्तगुण काला’ ऐसा शब्दनिर्देश किया गया है । इस से फलित होता है कि रूपादि (जिस को आप पर्याय दिखाना चाहते हैं वह) गुणविशेषस्वरूप ही है । इसीलिये पर्याय को बाजु पर रख कर वहाँ गुणशब्द का निर्देश, तीसरे गुणार्थिक नय के प्रतिपादन के विना असंगत हो जाने से, अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध हो जाता है कि भगवान ने तीसरे गुणार्थिक नय का भी उपदेश किया है ॥१३॥

✱ सिद्धान्त में गुणशब्द गणितशास्त्रोक्तधर्मसूचक ✱

मूलगाथाशब्दार्थ :- गुणशब्द के विना भी पर्यायविशेष संख्या सिद्ध है, सिर्फ ‘इतना गुणा’ इस प्रकार गणितशास्त्रधर्म है ॥१४॥

✱ अनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे श्रीयशोविजयवाचकैरेवं कृताऽवतरणिका — ‘ननु पर्यायशब्दः क्रमभाविधर्मवाचक एव, गुणशब्दश्च सह-भाविधर्मवाचक एव, तथा च गुणाः पर्यायैभ्योऽतिरिच्यन्ते पर्यायातिरिक्तगुणाभिधानान्यधानुपपत्त्या च गुणार्थिकनयोऽपि भगवताऽर्थादुपदिष्ट एवेत्याशंक्ते —

✱ “संखाणे.... सुपरिनिहिण्” — (व्याख्या) — ‘संखाणे’त्ति गणितस्कन्धे सुपरिनिष्ठिते इति योगः” (भग०श०२ उ०१ सू० ९०) ।

✱ अनेकान्तव्यवस्थायां ‘न उ गुणो त्ति’ इतिपाठान्तरनिर्देशोऽपि विद्यते ।

रूपाद्यभिधायिगुणशब्दव्यतिरेकेणापि 'एकगुणकालः' इत्यादिकं पर्यायविशेषसंख्यावाचकं वचः सिध्यति न पुनर्गुणास्तिकनयप्रतिपादकत्वेन, यतः संख्यानां गणितशास्त्रधर्मः — 'अयं तावद्गुण' इति 'एतावताऽधिको न्यूनो वा भावः' इति गणितशास्त्रधर्मत्वादस्येत्यर्थः ॥१४॥

दृष्टान्तद्वारेणामुमेवार्थं दृढीकर्तुमाह —

जह दससु दसगुणम्मि य एगम्मि दसत्तणं समं चव ।

अहियम्मि वि गुणसदे तहेय एयं पि दद्वब्बं ॥१५॥

यथा दशसु द्रव्येषु एकस्मिन् वा द्रव्ये दशगुणिते दशशब्दातिरेकेऽपि दशत्वं सममेव तथैव एतदपि न भिद्यते — 'परमाणुरेकगुणकृष्णादिः' इति एकादिशब्दाधिक्ये । गुण-पर्यायशब्दयोर्भेदः, वस्तु पुनस्तयोस्तुल्यमिति भावः । न च गुणानां पर्यायत्वे वाचकमुख्यसूत्रम् 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' [तत्त्वार्था०

व्याख्यार्थः :- सिद्धान्तवादी का उत्तर यह है कि — भगवती सूत्र आदि में 'एकगुणकालए' इत्यादिसूत्र में रूपादि के लिए 'गुण' शब्दप्रयोग मानने की जरूर ही नहीं है, क्योंकि द्रव्य के पर्यायविशेष स्वरूप संख्या को कृष्णादिरूप की कृष्णता अन्य कृष्णद्रव्य की अपेक्षा दसगुणी या अनन्तगुणी अधिक या न्यून है — इस प्रकार के संख्याविशेष को, बताने के लिये वह वचनप्रयोग है यह सिद्ध यानी सर्वजनसम्मत तथ्य है । अतः उस वचन को अर्थापत्ति से गुणार्थिकनय प्रतिपादक मानना निरर्थक है । मूलगाथा में प्रयुक्त 'संखाण' शब्द का अर्थ है गणितशास्त्र । तात्पर्य यह है कि 'यह इतनागुणा है' इस प्रकार जो तावद्गुणत्वस्वरूप गणितशास्त्रप्रसिद्ध धर्म है उस का निर्देश 'एकगुणकालए....' इत्यादि सूत्र में किया गया है, न कि रूपादि का गुणरूप में, इसलिये रूपादि गुण के लिये गुणार्थिक नय की मान्यता निराधार सिद्ध होती है ॥१४॥

✽ 'गुण'शब्द पर्यायभिन्नार्थ प्रतिपादक नहीं ✽

'गुण'शब्द किसी अतिरिक्त अर्थ का प्रतिपादक नहीं है, इस तथ्य के दृढीकरण के लिये दृष्टान्त दिखाते हैं—
मूलगाथाशब्दार्थः :- दश और दशगुणित एक, दोनों में दशत्व समान है, यद्यपि गुण शब्द अधिक है, इसी तरह यह भी समझ लीजिए ॥१५॥

व्याख्यार्थः :- समीकरण सिद्धान्त के अनुसार गणित में $१० = १० \times १$ बराबर होता है, इस में 'दशगुणित एक' ऐसे व्यवहार में गुण शब्द का दश उपरांत अधिक प्रयोग करने से संख्या में कुछ फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि दोनों ओर दशत्व संख्या समान है । इसी तरह 'एकगुणकाला परमाणु' यहाँ भी एकशब्द उपरांत गुणशब्द का प्रयोग करने से भी किसी नये अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता एक अंश काला और एकगुणित एकअंशकाला — ऐसा कहने पर कुछ अधिक-न्यून नहीं होता । मतलब यह है कि 'गुण' शब्द और 'पर्याय' शब्द में शब्दभेद ही है, दोनों का अभिधेय वस्तु यानी अर्थ तो समान ही है ।

यदि यह कहा जाय — गुण और पर्याय को एक मानने वाले पक्ष में, वाचकवर्य श्रीमद् उमास्वातिजी विरचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा गया है 'गुण और पर्याय वाला हो वह द्रव्य है' — इस के साथ विरोध आयेगा । कारण, पर्याय के पहले यहाँ गुणशब्द का प्रयोग सूचित करता है कि उन दोनों में भेद है । — तो यह गैरमुनासिब है क्योंकि वहाँ युगपद्भावि यानी द्रव्य के सहभावि पर्यायों

✽ 'गुणशब्दातिरेकेऽपि' इति वाचकोक्तमनेकान्तव्यवस्थायाम् ।

५-३७] इति विरुध्यते, युगपद्युगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात्^१ तस्य । न चैवमपि मत्प्रयोगाद् द्रव्यविभिन्नपर्यायसिद्धिः, नित्ययोगेऽत्र मत्त्वविधानात् द्रव्यपर्याययोस्तादात्म्यात् सदाऽविनिर्भागवर्त्तित्वात् अन्यथा प्रमाणबाधोपपत्तेः । संज्ञा-संख्या-स्वलक्षणाऽर्थक्रियाभेदाद् वा कथंचित् तयोरभेदेऽपि भेदसिद्धेर्न मत्त्वबनुपपत्तिः ॥१५॥

एवं द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तप्रतिषेधेऽभेदैकान्तवाद्याह —

एयंतपक्खवाओ जो उण दव्व-गुण-जाइभेयम्मि ।

अह पुव्वपडिकुट्ठो उआहरणमित्तमेयं तु ॥१६॥

के लिये ही 'गुण'शब्द प्रयोग है और अयुगपद्भावि यानी क्रमभावि पर्यायों के लिये पर्यायशब्द का प्रयोग किया गया है, इस प्रकार पर्यायविशेष ही गुण हैं यह सिद्ध होता है ।

यदि यह कहा जाय — सूत्रकार महर्षि ने गुण-पर्याय समास के ऊपर वत्-प्रत्यय का प्रयोग किया है उस से सिद्ध होता है कि द्रव्य और पर्याय अलग अलग है, क्योंकि भेद में ही वत्(मत्) प्रत्यय लगाया जाता है । — तो यह गलत है क्योंकि 'विशिष्टस्वरूपवत् द्रव्यम् = विशिष्टस्वरूपवाला द्रव्य' ऐसे प्रयोग में जैसे स्वरूप और द्रव्य में भेद न होने पर भी द्रव्य और उसके स्वरूप का नित्ययोग वत्प्रत्यय से सूचित होता है, वैसे ही यहाँ भी द्रव्य और पर्याय में भेद न होने पर भी उनका नित्ययोग सूचित करने के लिये वत् प्रत्यय लगाया गया है । द्रव्य और पर्याय में नित्य ही तादात्म्य रहता है, परस्पर मिल कर ही रहते हैं, इसलिये नित्ययोग कहने में कोई बाध नहीं है । यदि द्रव्य-पर्याय के बीच भेद मानेंगे तो उसमें 'पानी का बर्फ हो गया' इत्यादि जो अभेदग्राही प्रतीति होती है उस का बाध जरूर प्रसक्त होगा । अथवा दूसरा समाधान यह है कि 'द्रव्य' और 'पर्याय' इस प्रकार संज्ञाभेद, एक द्रव्य के असंख्य पर्याय इस प्रकार संख्याभेद, द्रव्य और पर्याय के अपने लक्षणों में भेद तथा दोनों की अर्थक्रिया में भेद, इतना भेद होने से उन दोनों में कथंचिद् अभेद के रहते हुए भी कथंचिद् भेद सिद्ध है, उस कथंचिद् भेद को सूचित करने के लिये 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग करने में कोई असंगति नहीं है ॥१५॥

✽ एकान्त अभेदवादी की आशंका ✽

उपरोक्त चर्चा में द्रव्य और पर्याय के एकान्त भेद का निषेध किया है, अब यहाँ अभेद एकान्तवादी आशंका व्यक्त करता है —

मूलगाथाशब्दार्थ :- द्रव्य-गुण-जाति के भेद में जो एकान्त-पक्षपात है उसका पहले निषेध हो चुका है, यहाँ मात्र उदाहरण ही कहना है ॥१६॥ पिता-पुत्र-भतीजा-भाणजा-भ्राता के साथ एक पुरुष का सम्बन्ध होता

✽ तस्येत्यन्तरं श्रीयशोविजयवाचकैरनेकान्तव्यवस्थायामेवमभाणि — 'सहभाविधर्मवाचकगुणशब्दसमभिव्याहृतस्य पर्यायशब्दस्य धर्ममात्रवाचकस्यापि 'गो-बलिवर्द'न्यायेन तदतिरिक्तधर्मप्रतिपादकत्वे दोषाभावात् । न हि काल्पनिको गुण-पर्याययोर्भेदो वास्तवं तदभेदं विरुणद्धि । कल्पनाबीजं च तत्र तत्र प्रदेशे व्युत्पत्तिविशेषाधानमेव । अत एव "गुणाणामासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे" (उत्तरा० २८-६) इत्युत्तराध्ययनवचनं 'दव्वणामे गुणाणामे पज्जवणामे' इत्याद्यनुयोगद्वार (सू० १२३) वचनं च शिष्यव्युत्पत्तिविशेषाय काल्पनिकगुणपर्यायभेदाभिधानपरमेव, स्वाभाविकतद्भेदाभिधानपरत्वे तु गुणार्थिकनयप्रसंगात् । न च 'नाणदंसणइयाए दुवे अहं' इत्याद्यागम एव गुणार्थिकनयप्रतिपादक इति शंकाशे(?ले)शोऽपि विधेयः, अनेकीकरणस्य पर्यायार्थगोचरत्वादस्येति दिक् ।

पिउ-पुत्त-णत्तु-^२भव्वय-भाऊणं एगपुरिससम्बन्धो ।

ण य सो एगस्स पिय त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥१७॥

जह संबन्धविसिद्धो सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ ।

तह दव्वमिंदियगयं रूवाइविसेसणं लहइ ॥१८॥

एकान्तव्यतिरिक्ताभ्युपगमवादो यः पुनर्द्रव्य-गुण-क्रियाभेदेषु स यद्यपि पूर्वमेव प्रतिक्षिप्तः, भेदैकान्तग्राहकप्रमाणाभावात् अभेदग्राहकस्य च 'सर्वमेकं सदविशेषात् विशेषे वा वियत्कुसुमवदसत्त्व-प्रसंगात्' इति प्रदर्शितत्वात् । तथापि तत्स्वरूपे दाढ्योत्पादनार्थमुदाहरणमात्रमभिधीयते — ॥१६॥

पितृ-पुत्र-नप्तृ-^३भाग्नेय-भ्रातृभिर्य एकस्य पुरुषस्य संबन्धः तेनासावेक एव पित्रादिव्यपदेशमासाद-यति । न चासावेकस्य पिता पुत्रसम्बन्धतः — इति शेषाणामपि पिता भवति ॥१७॥

यथा प्रदर्शितसम्बन्धविशिष्टः पित्रादिव्यपदेशमाश्रित्यासौ पुरुषरूपतया निरतिशयोऽपि सन् तथा द्रव्यमपि घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्रसम्बन्धमवाप्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दव्यपदेशमात्रं लभते

है । एक का पिता वह शेष सभी का पिता नहीं होता ॥१७॥ पुरुषरूप से निरतिशय भी जैसे वह पुरुष सम्बन्धविशिष्ट होता है वैसे इन्द्रियसम्बद्ध एक ही द्रव्य रूपादिविशेषव्यवहार को प्राप्त करता है ॥१८॥

व्याख्यार्थ :- द्रव्य-गुण-जाति में परस्पर भेद है ऐसा एकान्तभेद स्वीकारपक्ष जो है वह पहले ही निरस्त किया गया है; जैसे कि — भेद का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है, जब कि अभेदग्रहण के लिये यह अनुमानप्रयोग दिखा चुके हैं कि 'सब कुछ एक है क्योंकि सत् तत्त्व से अविशिष्ट है' । इस के विपर्यय में यह बाधक भी दिखाया गया है कि 'यदि वस्तु मात्र सत् तत्त्व से अविशिष्ट न हो कर व्यतिरिक्त होगी तो गगनपुष्प की तरह उस में असत्त्व प्रसक्त होगा ।' इस प्रकार एकान्तभेद पक्ष का निषेध तो किया जा चुका है, उसी के दृढीकरण हेतु सिर्फ उदाहरण सूचित करते हैं कि —

एक ही पुरुष के साथ पिता का, पुत्र का, भतीजा का, भाणजा का और भाई का — इस प्रकार अनेकों का सम्बन्ध होता है और इन के जरिये वह एक ही पुरुष पुत्र, पिता, चाचा, मामा, भाई कहा जाता है, सम्बन्ध भेद से यहाँ व्यक्तिभेद नहीं होता । यदि एक पुरुष को एकान्तरूप से पिता या पुत्र माना जाय तो वह एक व्यक्ति का पिता (एकान्त पितारूप) होने से शेष सभी व्यक्तियों का पिता बन जायेगा — इस अनिष्ट प्रसंग के विपर्यय की सूचना देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि किसी पुरुष का एक व्यक्ति के साथ पुत्रत्व का सम्बन्ध होने पर उस व्यक्ति का पिता होने मात्र से सारे जगत् का, शेष सभी व्यक्तियों का पिता नहीं हो जाता ।

वह पुरुष पुरुषरूप से निरतिशय यानी साधारण व्यक्तिरूप होने पर भी पुत्रादि के सम्बन्ध से विशिष्ट हो कर 'पिता' आदि सम्बोधन का सौभाग्य प्राप्त करता है, वैसे ही रूपि द्रव्य घ्राणेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय-नेत्रेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के सम्पर्क से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के सम्बोधनों को प्राप्त करता है, हालाँकि वह द्रव्य द्रव्यरूप से एक अविशिष्ट यानी सामान्य है । तात्पर्य यह है कि जैसे देवताओं के स्वामी के लिये

१. 'भव्वो बहिणीतणए' 'भव्वो भाग्नेयः' - देशी० ना० ६-१०० ।

२. भग्नी = भगिनी (पृषो० साधुः), (सं०-हिं० कोशे), भग्न्या अपत्यं भाग्नेयः ।

द्रव्यस्वरूपेणाऽविशिष्टमपि । नहि शक्रेन्द्रादिशब्दभेदाद् गीर्वाणनाथस्येव रूपादिशब्दभेदाद् वस्तुभेदो युक्तः ॥१८॥

‘तदा द्रव्याद्वैतैकान्तस्थितेः’ कथंचिद् भेदाभेदवादो द्रव्य-गुणयोर्मिथ्यावादः’ इति अस्य निराकरणा-
याह —

❖ होज्जाहि दुगुणमधुरं अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं ।

ण उ डहरओ महल्लो वा होइ संबंधओ पुरिसो ॥१९॥

यदि नामाम्नादिद्रव्यमेव रसनसम्बन्धाद् ‘रसः’ इति व्यपदेशमात्रमासादयेत् द्विगुणमधुरं रसतः कुतो भवेत् ? तथा, नयनसम्बन्धाद् यदि नाम ‘कृष्णम्’ इति भवेत् अनन्तगुणकृष्णं तत् कुतः स्यात् ? वैषम्यभेदावगतेर्नयनादिसम्बन्धमात्रादसम्भवात् । तथा, पुत्रादिसम्बन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेत् न त्वल्यो महान् वेति युक्तः । विशेषप्रतिपत्तेरुपचरितत्वे मिथ्यात्वे वा सामान्यप्रतिपत्तावपि

शक्र-इन्द्र या पुरंदर ऐसे विविध शब्द प्रयुक्त होते हैं किन्तु शब्दभेद से वहाँ वस्तुभेद नहीं होता वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ॥१६॥१७॥१८॥

“इस प्रकार द्रव्याभेद एकान्तवाद सिद्ध होता है तब स्पष्ट है कि द्रव्य और गुण में कथंचिद् भेदाभेद का निरूपण मिथ्यावाद है ।”

एकान्त अभेदवादी के इस कथन के प्रतिकार में अब अनेकान्तवादी कहते हैं -

❖ एकान्त अभेदवादी के पक्ष में प्रसञ्जन ❖

मूलगाथाभावार्थ :- द्रव्य दुगुण मीठा या अनन्तगुण काला (कैसे) होगा ? सम्बन्ध के जरिये पुरुष छोटा-बड़ा नहीं हो जाता ॥१९॥

व्याख्यार्थ :- अभेद-एकान्तवादी यदि आम के फल की रसना के सम्पर्क से ‘रस’संज्ञा करते हैं, (अर्थात् वह स्वयं रसात्मक नहीं है), लेकिन दूसरे किसी फल के रस की अपेक्षा दुगुण मधुर कैसे बता सकेंगे ? रसना का सम्पर्क तो दोनों फल में समान है तो यह भेद कैसे ? तथा, यदि वे नेत्र के सम्पर्क से द्रव्य की ‘कृष्ण’ संज्ञा करते हैं तो अनन्तगुण कृष्णता का व्यवहार किस से फलित करेंगे ? दो द्रव्य के रूप में और रस में यह जो वैषम्य यानी असमानता है, उस के भेद का बोध, यानी यह उस से इतना गुण अधिक काला अथवा मधुर है इस प्रकार का बोध सिर्फ नेत्रादि इन्द्रियों के सम्पर्क से ही हो जाता हो ऐसा तो संभव नहीं है । कारण, इन्द्रियसम्पर्क तो सिर्फ मधुर, काला इत्यादि व्यवहार का सम्पादक हो सकता है किन्तु उनमें वैषम्यभेद का तो आधान कर नहीं सकता, फिर स्वतः वैषम्यभेद के विना इन्द्रियों से उसका पता कैसे चलेगा ? यह तात्पर्य है । कदाचित् इतना मान ले कि पुत्रादि के सम्बन्ध के जरिये कोई पुरुष ‘पिता’ या ‘पुत्र’

१. ‘कान्तः स्थिते’ इति पाठान्तरम् लिं० आदर्शे । वस्तुतः अत्र ‘तदा द्रव्याद्वैतैकान्तस्थितेः’ अस्य स्थाने ‘तदेवं द्रव्याद्वैतैकान्ते स्थिते’ इति पाठः सम्यक् प्रतिभाति ।

❖ अनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे श्रीयशोविजयवाचकैरस्या गाथाया अवतरणिकेत्यमालेखिता - “नन्वेवं द्रव्याद्वैतैकान्तसिद्धेः कथंचिद्भेदाभेदवादो द्रव्यगुणयोरघटमानः स्यादिति चेत् ? न, रूपादीनां गुणभेदेन व्यवहारोपपत्तावपि द्रव्याऽविशेषेऽपि तद्विशेष-दर्शनेन भेदस्यापि सम्भवात्, आह च - होज्जाहि० ।” इति ।

तथाप्रसक्तेरिति भावः ॥१९॥

अत्राहाभेदैकान्तवादी —

भण्णइ संबंधवसा जइ संबंधित्तणं अणुमयं ते ।

णणु संबंधविसेसे संबंधिविसेसणं सिद्धं ॥२०॥

सम्बन्धसामान्यवशाद् यदि सम्बन्धित्वसामान्यम् अनुमतं तव, ननु सम्बन्धविशेषद्वारेण तथैव सम्बन्धविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते ? ॥२०॥

सिद्धान्तवाद्याह —

जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसणं ण उण एयं ।

णयणाइविसेसगओ रूवाइविसेसपरिणामो ॥२१॥

सम्बन्धविशेषवशाद् युज्यते सम्बन्धिविशेषः यथा दण्डादिसम्बन्धिविशेषजनितसम्बन्धविशेषसमासा-

कहा जा सकता है किंतु रमेश के पिताजी महेश के पिताजी से बड़े हैं या छोटे हैं ऐसी जो विषमता है वह सिर्फ पुत्रादि के सम्बन्ध से कैसे स्थान पायेगी ? यदि कहें कि — यह मधुर अथवा काला है ऐसा बोध सामान्य है जो वास्तविक है, किन्तु 'यह दुगुना मधुर अथवा अनन्तगुना काला है' ऐसा बोध या तो औपचारिक है अथवा मिथ्या है, कारण — सामान्य ही वास्तव है, विशेष अवास्तव है — तो इस से उल्टा भी कह सकते हैं कि विशेष ही वास्तव है, सामान्य अवास्तव है, इसलिये सामान्यबोध मिथ्या अथवा औपचारिक है जब कि विशेषबोध ही सम्यक् है । — इस का क्या जवाब है ?! तात्पर्य, सामान्यवादी का एकान्त अभेदपक्ष निर्दोष नहीं है ॥१९॥

✽ सम्बन्धविशेष से सम्बन्धिविशेष की शंका का समाधान ✽

एकान्त अभेदवादी कहता है, सुनो जवाब —

मूलगाथार्थ :- कहा जाता है, सम्बन्ध के आधार पर अगर सम्बन्धित्व में आप की सम्मति है तो सम्बन्धविशेष के आधार पर संबंधिविशेष सिद्ध हो जाता है ॥२०॥

व्याख्यार्थ :- नेत्रादि इन्द्रियों के सामान्य सम्बन्ध से अगर रस, रूप आदि सामान्य सम्बन्धि का आप स्वीकार करते हैं तो इन्द्रियों के सम्बन्धविशेष के आधार पर दुगुना मधुर रस तथा अनन्त गुण कृष्णद्रव्यरूप विशेष सम्बन्धीयों को स्वीकार करने में आप क्यों हिचकिचाते हैं ? मतलब यह है कि सामान्य इन्द्रियसम्बन्ध जो रस-रूपादि के व्यवहार का प्रयोजक है वही इन्द्रियसम्बन्ध विशेषरूप से सम्बन्धिविशेष के व्यवहारों का भी प्रयोजक हो सकता है अतः द्रव्याद्वैत मानने में कोई आपत्ति नहीं है । इन्द्रिय के सामान्य सम्पर्क से जो द्रव्य 'रस' संज्ञा प्राप्त करता है वही द्रव्य विशेषसम्पर्क से 'दुगुना मधुर' संज्ञा प्राप्त कर लेता है, द्रव्य में कोई भी फर्क नहीं है ॥२०॥

इस जवाब के सामने सिद्धान्तवादी कहता है —

मूलगाथार्थ :- सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धिविशेष की बात घट सकती है किन्तु (द्वैतवाद में) नयनादिगत विशेष और उससे रूपादि परिणामविशेष की बात संगत नहीं है ॥२१॥

दितसम्बन्धिविशेषोऽवगतः । द्रव्याद्वैतवादिनस्तु न सम्बन्धिविशेषः नापि सम्बन्धिविशेषः संगच्छत इति कुतो रसनादिविशेषसम्बन्धजनितो रसादिविशेषपरिणामः ? ॥२१॥

नन्वेकान्तवादिनोऽपि रूप-रसादेरनन्त-द्विगुणादिवैषम्यपरिणतिः कथमुपपन्ना ? इत्याह -

भण्णइ विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं ।

तं होइ परिणमित्तं ण व त्ति एत्थऽत्थि एगंतो ॥२२॥

शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधाद् भण्यते एकत्र आम्रफलादौ विषमपरिणतिः कथं भवति ? इति परेण प्रेरिते उपनीतं = प्रदर्शितमाप्तेन - तद् भवति परनिमित्तम् - द्रव्यक्षेत्रकालभावानां सहकारिणां वैचित्र्यात् कार्यमपि वैचित्र्यमासादयति तद् = आम्रादि वस्तु विषमरूपतया परनिमित्तं भवति । न वा 'परनिमित्तमेव' इत्यत्राप्येकान्तोऽस्ति, स्वरूपस्यापि कथंचिन्निमित्तत्वात् । तन्न द्रव्याद्वैतेकान्तः सम्भवी ॥२२॥

द्रव्य-गुणयोर्भेदैकान्तवादिना प्राक् प्रदर्शिततल्लक्षणस्यैकत्वप्रतिपत्त्यध्यक्षबाधितत्वाद् लक्षणान्तरं वक्तव्यम् तदाह^४ -

व्याख्यार्थ :- कथंचिद् भेदवादी के मत में सामान्य से अधिक विशेष भी स्वीकृत है इस लिये सम्बन्धिविशेष और उस के द्वारा सम्बन्धिविशेष की बात यथार्थ घट सकती है । जैसे - पुरुष के साथ दण्डादि विशेषसम्बन्धी से जन्य संयोगरूप सम्बन्धिविशेष की महिमा से 'दण्डी'स्वरूप सम्बन्धिविशेष की प्रसिद्धि सुविदित है । किन्तु एकान्त अद्वैतवाद में समस्या यह है कि विशेष जैसा कुछ है ही नहीं, न सम्बन्धिविशेष है न सम्बन्धिविशेष, इस स्थिति में रसनादि इन्द्रियविशेष के सम्बन्धिविशेष से आम्रफल में विशिष्ट मधुर रसादिपरिणाम की बात को अवकाश ही कहाँ है ? ॥२१॥

✽ परनिमित्त वैषम्यपरीणाम की संगति ✽

प्रश्न - अनेकान्तवाद में, रूप या रसादि में जो अनन्तगुणकृष्णता अथवा दुगुनी मधुरता इत्यादि वैषम्य परिणति दीखाई देती है उस का क्या समाधान है ? उत्तर में प्रश्न का अनुवाद करके कहते हैं -

मूलगाथार्थ :- पूछा जाय कि वह विषम परिणाम कैसे होता है - इसके उत्तर में कह दिया है कि वह परनिमित्त होता है, अथवा 'वैसा ही है' ऐसा एकान्त भी नहीं है ॥२२॥

व्याख्यार्थ :- प्रश्नकार का पूछने का आशय यह है कि एक काल में एक ही स्थान में शीत और उष्ण स्पर्श का यानी विषमस्पर्शों का अस्तित्व विरोधग्रस्त है इसलिये यहाँ भी प्रश्न खड़ा होता है कि आप जो विषमपरिणाम एक ही आम्रफलादि द्रव्य में दिखाते हैं वह कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के सामने ग्रन्थकार कहते हैं कि आम्रपुरुषों ने यह दिखाया है कि एक ही द्रव्य में परनिमित्त से, यानी पर द्रव्य अथवा क्षेत्र, काल या भावरूप सहकारीयों की विषमता से विषमपरिणामरूप कार्यवैचित्र्य हो सकता है । यहाँ भी ऐसा एकान्तवाद नहीं है कि 'परनिमित्त से ही होता है,' कभी कभी उस विषमपरिणामात्मक विचित्र कार्य में अपना तथास्वभावात्मक स्वरूप ही निमित्त होता है । आम्रफल कभी दूसरे सड़े हुए फल के संसर्ग से सड़ जाता है और कभी अपने आप भी सड़ता है । निष्कर्ष, एकान्तद्रव्याद्वैतवाद (एकान्त अभेदवाद) सम्भव नहीं है ॥२२॥

✽ अथ द्रव्य-गुणयोर्भेदैकान्तवादिनो द्रव्यगुणलक्षणानुपपत्तिमुद्भावयन्ति इत्यनेकान्तव्यवस्थान्त्रे यशोविजयवाचककृतावतरणिका ।

द्वस्स ठिई जम्म-विगमा य गुणलक्खणं ति वत्तवं ।

एवं सइ केवलिणो जुज्जइ तं णो उ दवियस्स ॥२३॥

द्रव्यस्य लक्षणं स्थितिः, जन्म-विगमौ लक्षणं गुणानाम्, एवं सति केवलिनो युज्यते एतल्लक्षणम् तत्र किल केवलात्मना स्थिते एव चेतनाऽचेतनरूपा अन्ये अर्था ज्ञेयभावेनोत्पद्यन्ते, अज्ञेयरूपतया च नश्यन्ति । न तु द्रव्यस्याण्वादेर्लक्षणमिदं युज्यते, न हि अणौ रूपादयो जायन्ते अत्यन्तभिन्नत्वात् गव्यश्चादिवत् । अथवा केवलिनोऽपि सकलज्ञेयग्राहिणो नैतल्लक्षणं युज्यते न चापि द्रव्यस्य अचेतनस्य, गुण-गुणिनोरत्यन्तभेदेऽसत्त्वापत्तेः — असतोश्च खरविषाणादेरिव लक्षणाऽसम्भवादिति ॥२३॥

*द्वत्थंतरभूया मुत्ताऽमुत्ता य ते गुणा होज्ज ।

जइ मुत्ता परमाणू णत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं ॥२४॥

✽ द्रव्य और गुण के लक्षण में दोषोद्भावन ✽

भेदवादी ने आठवीं गाथा में द्रव्य और गुण के भिन्न भिन्न लक्षण को ध्यान में रख कर उन का भेद बताया था, किन्तु ९वीं गाथा से द्रव्य और गुण में ऐक्यबोध से उस में प्रत्यक्ष बोध का प्रदर्शन किया गया था । अतः वह भेदवादी नया लक्षण प्रस्तुत करता है और ग्रन्थकार उसमें असंगति दिखाना चाहते हैं — पूर्वार्ध से लक्षण और उत्तरार्ध से उस में असंगति दिखायेंगे —

मूलगाथार्थ :- द्रव्य का लक्षण स्थायित्व और गुण का लक्षण उत्पत्ति-विनाश बतायेंगे तो वह केवली में घटेगा (अथवा उसमें तो नहीं घटेगा) किन्तु द्रव्य में नहीं घटेगा ॥२३॥

व्याख्यार्थ :- यदि अभेदवादी ऐसा लक्षण दिखावे कि द्रव्य का लक्षण स्थायित्व है, यानी वह सदा अवस्थित होता है । गुण का लक्षण है उत्पत्ति-विनाश, यानी वे कभी उत्पन्न हो कर विनष्ट हो जाते हैं — तो इस में द्रव्य के लक्षण में अव्याप्ति दोष आयेगा । मतलब यह है कि केवलज्ञानी के आत्मद्रव्य में यह लक्षण घट सकेगा क्योंकि दर्पणवत् केवली के रूप में वह स्थायी रहता है और उन में प्रतिबिम्बित होने वाले सारे जगत के जड-चेतन पदार्थ (जिन में अन्य द्रव्य भी शामिल हैं वे) प्रतिक्षण अज्ञेयरूप से नष्ट हो कर ज्ञेयरूप से प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं, इस लिये अन्य किसी भी ज्ञेय द्रव्य में वह स्थायित्वरूप लक्षण नहीं घटेगा । अणु आदि द्रव्यों में भी द्रव्य का लक्षण नहीं घट सकता, क्योंकि गाय के गर्भ में जैसे अत्यन्तभेद के कारण अश्व की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही अेकान्तभेदपक्ष में अत्यन्तभिन्न रूप-रसादि गुण अणुद्रव्य के गर्भ में उत्पन्न नहीं हो पायेंगे; फलतः गुणशून्यता के कारण उस में स्थायित्वरूप लक्षण भी नहीं घटेगा ।

अथवा व्याख्याकार इस गाथा के उत्तरार्ध की दूसरे ढंग से, व्याख्या कर दिखाते हैं कि केवली द्रव्य में भी यह स्थायित्व लक्षण संगत नहीं होगा भले ही वह सकल ज्ञेय वस्तु का प्रकाशक हो, तथा अचेतनद्रव्य में भी वह लक्षण नहीं घट सकेगा । कारण, लक्षणभेद से अगर गुण-गुणि का एकान्त भेद मानने जायेंगे तो उन में असत्त्व की आपत्ति आयेगी, तब लक्षण भी क्या संगत होगा ? जो गर्दभर्सींग की तरह असत् है उस में कभी भी कोई लक्षण यानी सत्त्वव्याप्य धर्मविशेष का सम्भव ही नहीं होता ॥२३॥

✽ यशोविजयवाचकैस्तु 'अत्रोत्तरम्' इत्यवतरणिका चतुर्विंशतिगाथाया निर्दिष्टा

द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनः द्रव्यादर्थान्तरभूतगुणा मूर्त्ता अमूर्त्ता वा भवेयुः ? यदि मूर्त्ताः, परमाणवो न तर्हि परमाणवो भवन्ति, मूर्त्तिमद्रूपाधारत्वात् अनेकप्रदेशिकस्कन्धद्रव्यवत् । अथाऽमूर्त्ताः अग्रहणं तेषाम् अमूर्त्तत्वात् आकाशवत् । ततो द्रव्य-गुणयोः कथंचिद् भेदाऽभेदावभ्युपगमनीयौ अन्यथोक्तदोषप्रसक्तेः । तथाहि - द्रव्य-गुणयोः कथंचिद् भेदः यथाक्रममेकानेकप्रत्ययावसेयत्वात्,

✽ उपाध्यायजीकृत अवतरणिका की तुलना ✽

यहाँ इस संदर्भ में ध्यान में लेने जैसी बात यह है कि २३वीं गाथा की अवतारिका और तेवीसवीं गाथा की व्याख्या से यह फलित होता है कि २३ वीं गाथा में भेदवादी पूर्वार्ध से नया लक्षण प्रस्तुत करता है और अभेदवादी उत्तरार्ध से उस में दोषारोपण करते हैं । फिर २४वीं गाथा की व्याख्याकार ने कोई अवतरणिका नहीं की है और उसकी व्याख्या में द्रव्यभिन्न-गुणवादी के मत में और दोषारोपण किया गया है । दूसरी ओर,

श्रीमद् उपाध्यायजीने अनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थ में (प्रताकार पृष्ठ ८३/१) २३वीं गाथा की अवतरणिका इस ढंग से बतायी है कि भेदवादी द्रव्य-गुण के लक्षण में २३वीं समूची गाथा से सिर्फ अनुपपत्ति ही दिखाता है; मतलब वह पूर्वार्ध से अभेदवादी की ओर से आशंकित लक्षण का प्रदर्शन करता है और उत्तरार्ध से उस में स्वयं ही दोषारोपण करता है । बाद में कहते हैं कि द्रव्यभिन्नगुणवादी ने जो कहा है उस का जवाब २४वीं गाथा में ग्रन्थकार दिखा रहे हैं । इस तरह व्याख्याकार और श्री उपाध्यायजी महाराज २३वीं गाथा की व्याख्या अलग ढंग से करते हैं । किन्तु उपाध्यायजी महाराज की व्याख्या में यह बात अखरती है कि भेदवादी जब लक्षण का खंडन करता है तब कैसे यह कह सकता है कि गुण-गुणि में अत्यन्त भेद होने पर असत्त्व की आपत्ति आयेगी ? वह स्वयं तो भेदवादी है और भेदवाद में आपत्ति दिखाकर उक्त लक्षण में दोषारोपण कैसे करता है ? ऐसे ही अत्यन्त भेद के आधार पर अणु में रूपादि की उत्पत्ति का भी वह निषेध करता है, यह भी स्वमत-कुठारप्रहार जैसा हो जाता है । - इस के सामाधान में कह सकते हैं कि भेदवादी गुण-गुणी के अत्यन्त भेदपक्ष में असत्त्व की आपत्ति का अभ्युपगमवाद से आधार लेकर ही द्रव्य के लक्षण की असंगति दिखाना चाहता है । किन्तु यह समाधान अथवा उक्त प्रश्न कितना उचित या अनुचित है यह विचार अध्येता के ऊपर छोड़ दिया जाता है ।

✽ भेदपक्ष में गुणों के मूर्त्त-अमूर्त्त विकल्प ✽

मूलगाथार्थ :- द्रव्य से अर्थान्तरभूत गुण मूर्त्त होंगे या अमूर्त्त ? यदि मूर्त्त होंगे तो परमाणु न होंगे, अमूर्त्त होंगे तो ग्रहण नहीं होगा ॥२४॥

२३ वीं गाथा के उत्तरार्ध से भेदवादी के मत में आपत्ति प्रदर्शन के बाद २४ वीं गाथा में नयी आपत्ति का प्रदर्शन करते हैं - 'गुण द्रव्य से अर्थान्तरभूत होते हैं' ऐसी मान्यतावाले को यह प्रश्न है कि द्रव्य से अर्थान्तरभूत गुणों को आप मूर्त्त मानेंगे या अमूर्त्त ? यदि मूर्त्त मानेंगे तो परमाणु के परमाणुत्व का भंग हो जायेगा । कारण, वे भी मूर्त्त रूपादि गुणों के आश्रय बन जायेंगे और जो मूर्त्तिमत् रूपादि का आश्रय होता है वह अवश्य अनेक प्रदेशवाला स्कन्ध (= अवयवी) द्रव्य ही होता है न कि परमाणु । यहाँ मूर्त्त का अर्थ है चाक्षुषादिप्रत्यक्षगोचर । परमाणु तो चाक्षुषगोचर नहीं होता, यदि वह भी चाक्षुषादि गोचर रूपादि का आश्रय होगा तब वह परमाणु कैसे कहा जायेगा ? स्कन्ध (= अवयवी) द्रव्य ही चाक्षुषगोचर होता है अतः वे परमाणु भी स्कन्ध में ही अन्तर्भूत हो जायेंगे ।

कथंचिद्भेदोऽपि रूपाद्यात्मना द्रव्यस्वरूपस्य रूपादीनां च द्रव्यात्मकतया प्रतीतेः, अन्यथा तदभावापत्तेः* ॥२४॥

सीसमईविष्फारणमेत्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो ।

इहरा कहामुहं चव णत्थि एवं ससमयम्मि ॥२५॥

ततः शिष्यबुद्धिविकाशनमात्राऽर्थोयं कृतः प्रबन्धः इतरथा कथैवैषा नास्ति स्वसिद्धान्ते 'किमेते गुणा गुणिनो भिन्नाः आहोस्विद् अभिन्नाः' इति, अनेकान्तात्मकत्वात् सकलवस्तुनः ॥२५॥

एवंरूपे च वस्तुतत्त्वे अन्यथारूपं तत् प्रतिपादयन्तो मिथ्यावादिनो भवन्तीत्याह —

ण वि अत्थि अण्णवादो ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।

तं चव य मण्णंता अवमण्णंता ण याणंति ॥२६॥

यदि भिन्न गुणों को अमूर्त्त मानेंगे तो उनका किसी को भी प्रत्यक्षात्मक ग्रह नहीं हो सकेगा, जैसे अमूर्त्त आकाश का चाक्षुषादिप्रत्यक्ष नहीं होता। इन दोषों से बचने के लिये बहुत आवश्यक है कि द्रव्य और गुणों के बीच कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद माना जाय। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो उपरोक्त दोष ज्यों के त्यों रहेंगे। देखिये — 'द्रव्यमेकम् = द्रव्य एक है, गुणाः बहवः = गुण अनेक हैं' इस प्रकार क्रमशः द्रव्य में एकत्व की प्रतीति होती है जब कि उसी द्रव्य के गुणों के बारे में अनेकत्व की प्रतीति होती है, ऐसी भिन्न भिन्न प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि द्रव्य और गुण में कथंचिद् भेद है। तथा, रूपादि गुणों द्रव्यमय होने की प्रतीति और द्रव्य रूपादिगुणमय होने की प्रतीति होती है, इस से यही सिद्ध होता है कि द्रव्य और गुणों में अत्यन्त भेद नहीं है किन्तु कथंचिद् अभेद भी है। यदि कथंचिद् अभेद नहीं मानेंगे तो द्रव्य में गुणमयत्व और गुणों में द्रव्यमयता की जो प्रतीति होती है उस का अभाव हो जायेगा, मतलब वैसी प्रतीति उत्पन्न नहीं हो पायेगी ॥२४॥

✽ जैन दर्शन में सर्वत्र पदार्थों में अनेकान्तवाद ✽

मूलगार्थ :- शिष्यबुद्धिवैशद्य के लिये इतना विस्तार किया, बाकी हमारे सिद्धान्त में ऐसी कथा का मुँह तक नहीं है ॥२५॥

व्याख्यार्थ :- गुण-गुणी के भेदाभेद की उपरोक्त चर्चा का एक मात्र यही प्रयोजन है — अब्युत्पन्न शिष्यों की बुद्धि को अनेकान्तवाद के बहुमूल्य संस्कारों से विकसित करना। अन्यथा, हमारे जैन दर्शन में सकलवस्तुओं की अनेकान्तगर्भता इतनी सुप्रसिद्ध है कि 'ये गुण गुणी से भिन्न हैं या अभिन्न हैं' ऐसी चर्चा को अवकाश ही नहीं मिलता। जैनदर्शन के व्युत्पन्न विद्वानों की बातों में तो स्थान स्थान में — 'कथंचिद् भिन्नाभिन्न, कथंचिद् सदसत् कथंचिद् नित्यानित्य, अमुक अपेक्षा से अच्छा लेकिन अमुक अपेक्षा से बुरा' इत्यादि प्रकार से स्याद्वाद ही झलकता रहता है ॥२५॥

उपरोक्त प्रकार से वस्तुतत्त्व अनेकान्तमय है यह सिद्ध होने पर भी जो लोग वस्तु के बारे में विपरीत प्रतिपादन करते हैं वे अवश्य मिथ्यावादी होते हैं, यह अब कहते हैं —

* अनेकान्त-व्यवस्थायामुपाध्यायशोविजयैरत्राधिकविस्तरो प्रपंचितो यथा 'एतच्च विवक्षामात्रेणोच्यतेऽन्यथा जात्यन्तरात्मके वस्तुनि भेदाभेदादन्यतरकथाया एवाऽसम्भवात् । न हि चित्रं वस्तु नीलपीताद्यन्यतरतया कथ्यते चर्च्यते वा, एकतरजिज्ञासया केवलं तथा प्रतीयत इति ।'

नैवास्ति अन्यवादो गुण-गुणिनोः नाप्यनन्यवादो जिनोपदेशे = द्वादशांगे प्रवचने सर्वत्र कथंचि-
दित्याश्रयणात् । तदेव अन्यदेवेति वा मन्यमानाः, मननीयमेव अवमन्यमाना वादिनोऽभ्युपगतविषयाव-
ज्ञाविधायित्वाद् अज्ञा भवन्ति अभ्युपगमनीयवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकोपायनिमित्ताऽपरिज्ञानाद् मृषावा-
दिवदिति तात्पर्यार्थः । ततोऽनेकान्तवाद एव व्यवस्थितः ॥२६॥

ननु 'सर्वत्राऽनेकान्तः' इति नियमे अनेकान्तोऽप्यनेकान्ताद् एकान्तप्रसक्तिः । अथ नानेकान्तेऽ-
नेकान्तवादस्तर्हि अव्यापकोऽनेकान्तवाद इत्यत्राह -

भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं ।
एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण ॥२७॥^४

मूलगाथार्थ :- श्री जिनेन्द्र के उपदेश में न तो अन्यवाद है, न अनन्यवाद । फिर भी (एकान्ततः) 'अन्य'
ही या 'अनन्य' ही माननेवाले और 'मानने योग्य' न माननेवाले अज्ञानी हैं ॥२६॥

व्याख्यार्थ - श्रीमद् जिनेश्वर देव ने द्वादशांग प्रवचन यानी आगमों में कहीं भी गुण-गुणी के एकान्त भेदवाद
का अथवा एकान्त अभेदवाद का समर्थन नहीं किया । भगवान ने उपदेश में कहीं भी एकान्त आग्रह को अवकाश
ही नहीं दिया, सर्वत्र उन्होंने कथंचिद्ववाद को यानी स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को ही अवकाश दिया है । फिर भी
कुछ लोग ऐसे कदाग्रही होते हैं जो 'एक ही है' अथवा 'भिन्न ही है' इस प्रकार एकान्त मान्यता धारण कर के,
वास्तव में मानने लायक जो अनेकान्तवाद है उस की अवज्ञा करते हैं, इस प्रकार तात्त्विक स्वीकार करने योग्य विषयों
की अवज्ञा करने के कारण वे अज्ञानी बने रहते हैं । तात्पर्य यह है कि मानने लायक वस्तु का प्रतिपादन किस

✠ अस्या गाथाया व्याख्याऽनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे श्रीयशोविजय वाचकैः कृता साऽत्रोद्ध्रियते -

यथा भजनाऽनेकान्तो भजते = सर्ववस्तूनि तदेतत्स्वभावतया ज्ञापयति, तथा भजनाऽपि = अनेकान्तोऽपि भजनीया
= अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इतीष्टमस्माकमिति नयप्रमाणापेक्ष्यैकान्तश्चानेकान्तश्चेत्येवमसौ ज्ञापनीयः । तथाहि -
नित्यानित्यादिशबलैकस्वरूपे वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वाद्येकतरधर्मावच्छेदकावच्छेदेनैकतरधर्मात्मकत्वमुभयावच्छेदेन बोधयात्मकत्वम्,
तथा नित्यानित्यत्वादिषडधर्मात्मकत्वप्रतिपादकतापर्याप्त्यधिकरणेऽनेकान्तमहावाक्येऽपि सकलनयवाक्यावच्छेदेनोक्तरूपमनेकान्ता-
त्मकत्वं प्रत्येकनयवाक्यावच्छेदेन चैकान्तात्मकत्वं न दुर्वचमिति भावः । एतदेवाह - एवम् = उक्तरीत्या भजना = अनेकान्तः
सम्भवति नियमश्च = एकान्तश्च; समयस्य = सिद्धान्तस्य "रयणप्पभा सिय सासया सिय असासया" इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य
'दव्वट्टयाए सासया पज्जवट्टयाए असासया' इत्येवं चैकान्ताभिधायकस्य अविरोधेन । न चैवमव्यापकोऽनेकान्तवादः,
स्यात्पदसंसूचितानेकान्तगर्भस्यैकान्तस्वभावत्वादानेकान्तस्यापि स्यात्कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्यानेकान्तस्वभावत्वात् । न चानवस्था,
देशकात्स्न्याभ्यामवयवावयविरूपस्य वस्तुन इव स्याद्वादस्याप्येकान्तानेकान्तात्मकस्यैव प्रमाणादेव प्रतीतेः । भिन्नैकान्ताऽ-
नेकान्तावलम्बनेऽप्यस्या ज्ञप्तिविरोधित्वाभावात्, स्वसामग्रीमहिम्ना तादृशस्यैवोत्पत्तेर्मिथोऽनपेक्षणादुत्पत्तिविरोधिताया अपि
वक्तुमशक्यत्वात् । न चोत्पत्ति-ज्ञप्त्यन्यतराऽप्रतिबन्धकाप्यनवस्था दूषणम्, यत्कारिकाः 'मूलक्षयकरां प्राहुरनवस्थां हि दूषणम्'
इति । न चेदेवं तदा प्रमेयत्वे प्रमेयत्वाद्युपगमेऽप्यनवस्थादोषो दुर्निवारः स्यात् । यद्वा यथा नैयायिकादीनां 'घटाभावोऽतिरिक्त
एव तदभावश्च घट एव, तृतीयाभावश्चाद्य एव चतुर्थश्च द्वितीय एव' इत्यादिरीत्या नानवस्था तथाऽस्माकं अनेकान्तः :-
'अनेकान्तानेकान्त एकान्तः तदनेकान्त आद्य एव तदनेकान्तश्च द्वितीय एवेति तृतीय-चतुर्थाद्यनेकान्तानामाद्यद्वितीययोरेव
पर्यवसानात् काऽनवस्था नाम ?! 'एकान्तनियामकस्व-पररूपयोरनवस्थानादेकान्तगर्भानेकान्तस्य परिज्ञातुमशक्यत्वाज्ज्ञप्ति-
प्रतिबन्धिकैवेयमनवस्था' इति कश्चित् । तन्न, इत्थमपि 'गुडशुण्ठी'न्यायेनानवच्छिन्नानेकान्ते दोषाभावात् । सावच्छिन्नानेकान्तवादेऽपि
सूक्ष्मावच्छेदकजिज्ञासोपरम एवानेकान्तप्रयोगान्तरपरिश्रमोपरमेऽनवस्थानवकाशादिति दिग् ।

यथा भजना = अनेकान्तो भजते = सर्ववस्तूनि तदतत्त्वभावतया ज्ञापयति तथा भजनाऽपि = अनेकान्तोऽपि भजनीयः अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इत्यर्थः । नयप्रमाणापेक्षया 'एकान्तश्चानेकान्तश्च' इत्येवं ज्ञापनीयः । एवं च भजना=ऽनेकान्तः सम्भवति, नियमश्च = एकान्तश्च, सिद्धान्तस्य "रयणप्पभा सिआ सासया सियाऽसासया" [जीवा० प्रतिप० ३-१-७८] इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य "द्व्वड्डयाए सासया, पज्जवड्डयाए असासया []" इत्येवं चैकान्ताभिधायकाऽविरोधेन ।

प्रकार करना, इसके उपाय का परिज्ञान जैसे असत्यवादी को नहीं होता वैसे ही एकान्तवादियों को भी नहीं होता, इसलिये वे अज्ञानी कहे जाते हैं । इस प्रकार अनेकान्तवाद की स्थापना हुयी ॥२६॥

✽ क्या अनेकान्त में भी अनेकान्त है ? हाँ ✽

प्रश्न — आपने कहा कि नियमतः अनेकान्त सर्ववस्तुव्यापक है, अनेकान्त भी एक वस्तु ही है अतः उस में भी अनेकान्त होना चाहिये, जब अनेकान्त में भी अनेकान्त मानेंगे तो उस से एकान्त ही फलित होगा । यानी एकान्तवाद गला पकड लेगा । यदि इस के भय से अनेकान्त में अनेकान्त नहीं मानेंगे तो उस की सर्ववस्तुव्यापकता का भंग क्यों नहीं होगा ?

उत्तर :- इसके उत्तर में कहते हैं -

मूलगाथार्थ :- जैसे भजना सर्व द्रव्यों को विभक्त करती है वैसे ही भजना में भी विभजन समझ लेना । अतः सिद्धान्त का विरोध न हो इस प्रकार से भजना नियमरूप भी हो सकती है ॥२७॥

जैन सिद्धान्त में 'ऐसा है - ऐसा नहीं भी है' इस ढंग से विकल्पों को सूचित करने के लिये बार बार 'भजना' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । परस्पर विरुद्ध विकल्पों का प्रस्तुतीकरण यही स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है । अतः ग्रन्थकार ने भी यहाँ अनेकान्त के लिये भजनाशब्द का प्रयोग किया है । वे कहते हैं कि भजना यानी अनेकान्त, जैसे प्रत्येक द्रव्यात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायोभयात्मक वस्तुओं का विभजन करती है, विभजन यानी यह सूचित करना कि प्रत्येक वस्तु कथंचित् तत्त्वभाव है और कथंचित् अतत्त्वभाव है; ठीक इसी ढंग से भजना का भी विभजन समझ लेना चाहिये । मतलब यह है कि अनेकान्त में अनेकान्त होता है । जैसे देख लिये - नय की अपेक्षा एकान्त भी होता है और सर्वनयनिवषयग्राहक प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त भी होता है । इस प्रकार जो भजना यानी अनेकान्त है वह कथंचिद् नियमस्वरूप यानी एकान्तात्मक भी हो सकता है । इस में लेशमात्र सिद्धान्तविरोध नहीं है क्योंकि सिद्धान्त के सूत्रों में अनेकान्त का और अनेकान्तगर्भित एकान्त का, दोनों का यथासम्भव दर्शन होता है । जैसे देखिये - जीवाजीवाभिगमसूत्र में एक प्रश्न के उत्तर में कहा है कि यह 'रत्नप्रभा पृथ्वी कथंचित् शाश्वत है कथंचिद् अशाश्वत है' । इस सूत्र में स्पष्ट ही अनेकान्त दिखाई देता है । उसी विषय में 'शाश्वत है तो कैसे और अशाश्वत है तो कैसे' इस पृथक् पृथक् प्रश्नों के उत्तर में एक सूत्र में कहा गया है कि 'द्रव्यार्थता से शाश्वत है, पर्यायार्थता से अशाश्वत है ।' यहाँ स्पष्ट ही अनेकान्तगर्भित एकान्त का दर्शन होता है । चूँकि पहले जो शाश्वत-अशाश्वत का अनेकान्त दिखाया गया है उन्हीं के एक एक अंश को यहाँ गृहीत किया है इसलिये अनेकान्तगर्भता स्पष्ट होती है, तो दूसरी और द्रव्यार्थता से सिर्फ शाश्वत ही कहा है न कि शाश्वताशाश्वत, तथा पर्यायार्थता से सिर्फ अशाश्वत ही कहा है न कि शाश्वताशाश्वत, अतः एकान्त भी यहाँ झलकता है । इस प्रकार सिद्धान्त के सूत्रों में अनेकान्त का तथा अनेकान्तअंशभूत एकान्त का, दोनों का दर्शन उपलब्ध होने से, कह सकते हैं कि अनेकान्त में भी अनेकान्त मानने पर सिद्धान्त के साथ कोई विरोध नहीं है; तथा अनेकान्त की व्यापकता में कोई क्षति भी नहीं रहती और एकान्तिक एकान्त को भी अवकाश नहीं रहता ।

न चैवमव्यापकोऽनेकान्तवादः, 'स्यात्'पदसंसूचितानेकान्तगर्भस्यैकान्तस्य तत्त्वात् अनेकान्तस्यापि 'स्यात्'कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्य अनेकान्तस्वभावत्वात् । न चानवस्था, अन्यनिरपेक्षस्वरूपत एव तथात्वोपपत्तेः । यद्वा स्वरूपत एवानेकान्तस्यैकान्तप्रतिषेधेनानेकान्तरूपत्वात् 'स्यादेकान्तः' 'स्यादनेकान्तः' इति कथं नानेकान्तेऽनेकान्तोऽपि । अनेकान्तात्मकवस्तुव्यवस्थापकस्य तद्व्यवस्थापकत्वं स्वयमनेकान्तात्मकत्वमन्तरेणाऽनेकान्तस्यानुपपन्नमिति न तत्राऽव्यापकत्वादिदोष इत्यसकृदावेदितमेव ॥२७॥

नन्वनेकान्तस्य व्यापकत्वे 'षड् जीवनिकायाः - तदघाते वा धर्मः' इत्यत्राप्यनेकान्त एव स्यादित्याशंक्याह -

❀ अनेकान्त की अव्यापकता का भय निर्मूल ❀

मन में डर रखने की जरूर नहीं है कि 'अनेकान्त के अनेकान्त से फलित एकान्त के सिर उठाने पर अनेकान्त उस अंश में अव्यापक ही रह जायेगा' - ऐसा डर तभी होता अगर वह फलित एकान्त अनेकान्त से सर्वथा निरपेक्ष होता । यहाँ तो 'स्यात् (कथंचित्) शाश्वत ही है' इस प्रकार का जो एक धर्मावगाही एकान्त है वह निर्विष सर्पतुल्य है, उस का विष तो 'स्यात्' पद से सूचित अनेकान्त की अमृतौषधि से ध्वंस किया हुआ है । लोग में भी प्रसिद्ध है मारणादि विधि से गुजरा हुआ विष औषध बन जाता है । अनेकान्त भी स्वयं अनेकान्तस्वभाव होने से उस में भी 'स्यात्'पदानुबिद्ध एकान्त, गर्भितरूप से शामिल रहता ही है ।

यदि यह कहा जाय - अनेकान्त के अनेकान्त से जो एकान्त फलित होता है उस के गर्भ में आप जो अनेकान्त प्रदर्शित करते हैं, उस में भी आप को अनेकान्त मानना होगा, परिणामस्वरूप एक नया एकान्त फलित होगा, उस को भी आप अनेकान्तगर्भित बतायेंगे तो उस गर्भित अनेकान्त में भी अनेकान्त मानना होगा... इस प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्त, उस में भी अनेकान्त... अन्त ही नहीं आयेगा । - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ अनेकान्त में अनेकान्त बताने का इतना ही तात्पर्य है कि अनेकान्त परस्पर सापेक्ष अनेक एकान्तगर्भित होता है । उसका मतलब यह तो कभी नहीं है कि अनेकान्त स्वभिन्न एक नये अनेकान्त पर अवलम्बित होता है । अन्य अनेकान्त से निरपेक्ष ही अनेकान्त का अपना स्वरूप होता है । अनेकान्त अपने स्वरूप से ही अनेकान्तात्मक होता है, इसलिये अन्य अन्य अनेकान्त की अपेक्षा से संभवित अनवस्था को कोई अवकाश ही नहीं है ।

अथवा, जब अनेकान्त का स्वरूप ही एकान्तनिषेधात्मक है तो फिर अनवस्था को अवकाश ही क्यों बचेगा ? एकान्तनिषेध यही अनेकान्त की अनेकान्तरूपता है, नये किसी अनेकान्त को ला कर अनेकान्तरूपता का उपपादन करने का क्लेश ही नहीं है फिर कैसे अनवस्था ?! अनेकान्त का अपना स्वरूप 'स्याद् अनेकान्तः' ऐसा है, इसी से फलित होता है 'स्याद् एकान्तोऽपि' अर्थात् कथंचिद् एकान्त है कथंचिद् अनेकान्त है - इस प्रकार अनेकान्त के भंगों में स्वयं ही अनेकान्त व्यक्त हो रहा है तो 'अनेकान्त में अनेकान्त है' ऐसा कहने में दोष क्या है ?! दूसरी बात यह है कि किसी भी वस्तु का स्वरूपनिर्धारण अन्यथाऽनुपपत्ति से जब फलित होता है तब उस में कभी भी कल्पित दोषों को स्थान नहीं होता क्योंकि अन्यथानुपपत्ति सर्वतो बलीयसी होती है । प्रस्तुत में, वस्तुमात्र में अनेकान्तात्मकता की स्थापना करनेवाला जो अनेकान्त(वाद) है वह स्वयं यदि अनेकान्तात्मक न हो तो उस से वस्तुमात्र में अनेकान्तात्मकता की स्थापना का सम्भव ही नहीं है, इस प्रकार वस्तु में अनेकान्तात्मकता

णियमेण सद्वहंतो छक्काए भावओ न सद्वहइ ।

हंदी अपज्जवेसु वि सद्वहणा होइ अविभत्ता ॥२८॥[✽]

नियमेन = अवधारणेन 'षडेवैते जीवाः कायाश्च' इत्येवं श्रद्धधानः षट्कायान् भावतः = परमार्थतो न श्रद्धत्ते, जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वात्, कायानामपि पुद्गलतयैकत्वात्, जीव-पुद्गल-प्रदेशानां परस्पराऽविनिर्भागवृत्तित्वाच्च—जीवप्रदेशानां स्याद् अजीवत्वम्, प्रत्येकं प्राधान्यविवक्षया स्याद् अनिकायत्वम् । सूत्रविहितन्यायेन प्रवृत्तस्याऽप्रमत्तस्य 'हिंसाऽप्यहिंसा' । इति 'तद्धाते स्यादधर्मः' इति न भावसम्यग्दृष्टिरसौ स्यात्, द्रव्यसम्यग्दृष्टिस्तु स्यात् 'भगवतैवमुक्तम्' इति जिनवचनरुचिस्वभाव-

की स्थापना की अन्यथानुपपत्ति से जब अनेकान्त में अनेकान्तात्मकता सिद्ध होती है तो वहाँ अव्यापकता या अनवस्थादि दोष निस्तेज हैं - यह पहले भी कई दफे कहा जा चुका है ॥२७॥

✽ षट्जीवनिकाय और अहिंसाधर्म में भी अनेकान्त ✽

आशंका - अनेकान्तसिद्धान्त यदि व्यापक है तो क्या इसमें भी आप अनेकान्त मानेंगे कि 'जीवनिकाय छः है, जीवों को न मारने में धर्म है', इस में भी अनेकान्त है क्या ? तात्पर्य यह है कि यहाँ भी अनेकान्त मानेंगे तो छः जीव निकायों का और अहिंसा का जो व्यापक जैन सिद्धान्त है उसमें भी संकोच करना पड़ेगा !

उत्तर :- इस आशंका का ग्रन्थकार सतर्क सानुकुल उत्तर देते हैं -

मूलगाथार्थ :- छ काय की नियमगर्भित श्रद्धा करनेवाला परमार्थ से श्रद्धा (ही) नहीं करता, अपर्यायों में श्रद्धा अविभक्त होती है ॥२८॥

व्याख्यार्थ : - जिन लोगों का अतिभारपूर्वक अटल नियम के रूप में कहना है कि 'जीवनिकाय छ ही है', उनकी यह श्रद्धा दृढ होने पर भी पारमार्थिक नहीं है । कारण, छ काय वाले (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) जीवों में जो काय(=शरीर)कृत भेदरेखा है उस से ऊपर ऊठ

✽ इयं गाथा श्रीयशोविजयवाचकैःनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे व्याख्याता यथा - 'नियमेन = अवधारणेन षडेवैते जीवाः कायाश्चेत्येवं श्रद्धधानः षट्कायान् भावतः = परमार्थतो न श्रद्धत्ते, जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वात्, कायानामपि पुद्गलतयैकत्वात्, जीव-पुद्गलप्रदेशानां परस्पराऽविनिर्भागवृत्तित्वाज्जीवप्रदेशानां स्यादजीवत्वम्, प्रत्येकं प्राधान्यविवक्षया स्यादनिकायत्वम् । सूत्रविहितन्यायेन प्रवृत्तस्याऽप्रमत्तस्य न हिंसा । इति तद्धातेऽपि स्यादधर्म इति न भावसम्यग्दृष्टिरसौ । द्रव्यसम्यग्दृष्टिस्तु स्यादेवान्यदर्शनाऽसद्ग्रहनिवृत्त्या जिनवचनरुचिस्वभावस्य संक्षेपसम्यक्त्वलक्षणत्वात् । तथा च पारमर्षम् [उत्तरा० २८-२६] इति ।

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरइत्ति होइ णायव्वो । अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥

ततोऽपर्यायेष्वपि न विद्यन्तेऽऽर्चिर्मुमुंरादयो विवक्षितपर्याया येषु पुद्गलेषु तेष्वप्यविभक्तश्रद्धानं यत्तदपि भावत एव भवेद् 'अर्चिष्मानयं भावो भूतो भावी वे'ति । न हि भूतभाविपर्यायोपरक्तवाक्यं द्रव्यतः सत्यं भवति । 'सविशेष०' इति न्यायाद् भूत-भाविपर्यायध्वंसप्रागभावावगाहित्वात् तत्र द्रव्यतः सत्यत्वम्-इति चेत् ? न, तथापि धर्मांशे द्रव्यतोऽविभक्तस्यापि धर्म्यंशे विभक्तस्य प्रत्ययस्य भावत एव सम्भवात् । तन्नात्राप्यव्यापकोऽनेकान्तवादः ।

वस्तुतो नियमेन षट् कायान् श्रद्धदधद् भावतो न सम्यग्दृष्टिरित्यत्रैव हेतुरयम् - 'हन्दि = यतः अपर्यायेषु = एकादिप्रकाररहितेषु षट्सु कायेषु श्रद्धाऽविभक्ता भवति = स्याद्वादज्ञानपरिसमाप्याकांक्षापरिपूर्त्याऽविश्रान्ता भवति - "एगविह-दुविहतिविहा" - इत्यादिप्ररूपणयैव तद्विश्रान्तिसम्भवादित्ययमर्थोऽनुभवसम्मुखीन इति ध्येयम् ।

त्वात् । ततोऽपर्यायेष्वपि 'न विद्यन्ते अर्चि-मुर्मुरादयो विवक्षितपर्याया येषु पुद्गलेषु तेष्वपि' अविभक्तश्रद्धानं यत् तदपि भावत एव भवेत् 'अर्चिष्मानयं भावो भूतो भावी वा' इति । तन्नाऽव्यापकोऽनेकान्तवादः ॥२८॥

नन्वेकान्तस्य व्यापकत्वे 'गच्छति-तिष्ठति' इत्यत्राप्यनेकान्तः स्यात्, तथाभ्युपगमे च तयोरभाव-प्रसक्तिः - इत्येतदेवाह -

गइपरिगयं गई चैव केइ णियमेण दवियमिच्छंति ।

तंपि य उड्ढुगईयं तहा गई अन्नहा अगई ॥२९॥

'गतिक्रियापरिणामवद् द्रव्यं गतिमदेव' इति केचिद् मन्यन्ते, तदपि गतिक्रियापरिणतं जीवद्रव्यं

कर देखा जाय तो समग्र जीवराशि की अपेक्षा सभी जीव एक ही हैं । इस तरह छ कार्यों में जो वर्णादिभेद है उस की अविषक्षा होने पर पुद्गलरूप से ही उस की विवक्षा करने पर वे काय भी एक ही हैं, उन में कोई भेद नहीं है । 'क्या जीव अजीव भी होता है' ? इस प्रश्न का भी यही उत्तर है कि जीव और पुद्गल के प्रदेश परस्पर अविभक्तरूप से आकाशप्रदेशों में रहते हैं, इस परस्पर अविभाज्यता के जरिये जीव को कथंचिद् अजीव भी कह सकते हैं । तथा, एक एक जीव व्यक्ति को किसी विवक्षावश प्राधान्य दिया जाय तब निकायरूप में ज्ञात जीवसमूह की विवक्षा न करने पर जीव में कथंचिद् अनिकायत्व भी मान सकते हैं । इसी तरह, व्याख्याकार कहते हैं कि शास्त्रोक्त विधान के अनुरूप प्रवृत्ति करनेवाला जो अत्यन्त सावधान अप्रमत्त साधु है उसकी नदी उत्तरण आदि प्रवृत्ति में जीव-घात अनिवार्यरूप से हो जाने पर भी वह हिंसा हिंसा नहीं है किन्तु फलतः अहिंसा ही है, इसलिये वहाँ जीवघात होने पर भी अधर्म नहीं होता । इस मीमांसा से यह सिद्ध होता है कि जो 'छ जीवनिकाय' की और 'जीवघात होने पर अधर्म होने' की बात ऊपर अतिगाढ श्रद्धा कर लेता है वह परमार्थ से तात्त्विक सम्यग्दृष्टि नहीं है । यदि वैसी श्रद्धा करनेवाला कदाग्रही नहीं है, सिर्फ 'भगवान ने ऐसा कहा है' ऐसा समझ कर वह तथोक्त श्रद्धा धारण करता है तो उसकी श्रद्धा में जिनवचनरुचि का स्वभाव अखंड होने से उस को 'द्रव्यसम्यग्दृष्टि' कहा जा सकता है । यहाँ 'द्रव्य' का मतलब है भविष्य में अनेकान्तसिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त होने पर भाव में परिणत होनेकी योग्यता रखने वाली श्रद्धा ।

तथा अदग्ध या अर्धदग्ध काष्ठ-तृणादि के पुद्गलद्रव्य में अभी वर्तमान में अग्नि या अग्निकण स्वरूप पर्याय विद्यमान नहीं है, वैसे तृण-काष्ठादि के विषय में 'ये पुद्गल अग्रिमय बन चुके हैं या बनेंगे' ऐसी जो अविभक्त यानी अभेदावगाही ज्ञानात्मक श्रद्धा है वह अतात्त्विक नहीं किन्तु तात्त्विक ही है । निष्कर्ष, छ जीवनिकाय और अहिंसा का सिद्धान्त भी अनेकान्तगर्भित होने से अनेकान्तवाद भलीभाँति व्यापक है यह सिद्ध होता है ॥२८॥

✽ गति परिणाम और अगति का अनेकान्त ✽

प्रश्न - अनेकान्त व्यापक है इसलिये जो 'गमन करता है' वह 'गमन नहीं करता है' तथा जो 'खडा है' वह 'खडा नहीं है' इस प्रकार यहाँ भी अनेकान्त मानना पड़ेगा । यहाँ अनेकान्त मानने का नतीजा यह होगा कि गति के होने पर भी गति-अभाव और स्थिति के होने पर भी वहाँ स्थिति-अभाव प्रसक्त होंगे - इसका क्या ?

उत्तर - ग्रन्थकार कहते हैं -

मूलगाथार्थ - कुछ लोग गतिपरिणत द्रव्य को गतिशील ही मानते हैं । (किन्तु) वह भी किसी एक उर्ध्वादिदिशा

सर्वतो गमनाऽयोगाद् ऊर्ध्वादिप्रतिनियतदिग्गतिकं तैर्वादिभिरभ्युपगन्तव्यम् । एवं च तत् तथा = प्रतिनियतदिग्गमनेनैव गतिमत्; *अन्यथाऽपि गतिमत् स्यात् तदाऽभिप्रेतदेशप्राप्तिवद् अनभिप्रेतदेश-प्राप्तिरपि तस्य भवेदित्यनुपलभ्यमानयुगपद्विरुद्धोभयदेशप्राप्तिप्रसक्तेरत्राप्यनेकान्तो नाऽव्यापकः । ‘अभि-प्रेतगतिरेव तत्राऽनभिप्रेताऽगतिरिति चेत् ? न, अनभिप्रेतगत्यभावाभावे प्रतिनियतगतिभाव एव न भवेत् तत्सद्भावे वा तदवस्थोऽनेकान्तः*॥२९॥

स्यादेतद् —‘दहनाद् दहनः पवनात् पवनः’ इत्यत्राप्यनेकान्ते दहनादावदहनादेर्विरुद्धरूपस्य सम्भवात्

में ही गतिकारक होगा, अर्थात् उस दिशा में गतिकारक और तदन्य दिशा में गतिहीन ही होगा ॥२९॥

व्याख्यार्थ — जिस द्रव्य में गमनक्रिया के परिणाम का उद्भव हुआ उस द्रव्य को उस वक्त कुछ एकान्तवादी नियमतः यानी एकान्ततः गतिशील ही मानते हैं । किन्तु अनेकान्तवादी कहते हैं कि वह गतिपरिणत जीवद्रव्य गमन करेगा तो कौन सी दिशा में ? सभी दिशाओं में एक साथ तो नहीं जा सकता, किसी एक ही ऊर्ध्व आदि दिशा में वह जा सकता है, इस बात में एकान्तवादी को भी सम्मति देना ही पड़ेगा । अब सोचिये कि यहाँ अनेकान्त कैसे है — जिस दिशा में वह जायेगा, उस को छोड़ कर शेष दिशाओं में तो गति का अभाव है ही । इस प्रकार गतिवाले में भी अन्यदिग्गमनाभाव की प्रसक्ति कोई आपत्ति नहीं अपि तु इष्टापत्ति ही है । यदि विवक्षित एक दिशा में जानेवाला जीवद्रव्य अन्य दिशाओं में भी उसी काल में गति करेगा तो जैसे उस द्रव्य को विवक्षित दिशा में गमन करने से वांछित देश की प्राप्ति होती है वैसे अन्य दिशाओं में आवांछितदेश की प्राप्ति भी प्रसक्ति होगी — यह एकान्तवाद के सिर पर दूषण है । एक काल में परस्पर विरुद्ध दिशावाले देश की उपलब्धि न होने पर भी उपरोक्त अनिष्ट प्रसंग यही सूचित करता है कि गति (और उसी प्रकार स्थिति) के बारे में अनेकान्त ही है अतः वह कहीं भी अव्यापक नहीं है ।

✽ एकदिशा में गमन-अन्यदिशा में अगमन, सर्वथा एक नहीं है ✽

शंका :- यदि एक द्रव्य में गति और गति-अभाव ऐसे परस्पर विरुद्ध दो धर्म का समावेश सिद्ध हो तब अनेकान्तप्रवेश होगा किन्तु यहाँ तो एक ही विवक्षितदिग्गमनरूप जो धर्म है वही अन्य दिशा में अगमनरूप

★ अन्यथा चागतिमदेव, अन्यथापि यदि गतिमत् स्यात्.... इत्यनेकान्तव्यवस्थायाम् पाठः ।

✽ एतदग्रे श्रीमदुपाध्यायैरधिकमुपदर्शितमनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे तच्चैवम् “ननु गतिमदेवेत्येकान्तेन गतिसामान्यवति गतिसामान्याभावो निषिध्यते, स च गतिविशेषाभावेन नाऽपोद्यते, न हि विशेषाभाव एव सामान्याभावः, इति कोऽयमनेकान्त इति चेत् ? न, गतिसामान्यवत्यपि गतिविशेषाभावेन भावाभावोभयरूपतासमावेशादेवानेकान्तसाम्राज्यात् । न च विशेषाभावेभ्यः सामान्याभावोऽपि सर्वथातिरिक्तः, किन्तु यावद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेनातिरिक्तो यत्किञ्चिद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन चानतिरिक्त इति गतिसामान्यवति विशेषरूपेण तत्सामान्याभावोऽपि न दुर्लभः । ‘गतिमति गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावनिषेधान्नैकान्तव्याघात’ इति चेत् ? न, सामान्यरूपेण विशेषाभावमादायेत्यमपि वक्तुमशक्यत्वात् । ‘गतित्वावच्छिन्नगतिसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकाभावेन सह गतिसामान्यविरोधैकान्त एव’ इति चेत् ? न, सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याधिकरणविशेषावच्छेदेनैव सम्भवात्, तत्तदधि-करणान्तभावेन विरोधाऽविरोधयोरप्यनेकान्तस्यैव साम्राज्यात् । यदि च सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽतिरिक्त एव तदा ‘द्रव्यविशेषे रूपं न तु द्रव्यसामान्ये’ इति प्रतीत्या सामान्यावच्छिन्नाधिकरणताकोऽव्यभावोऽतिरिक्तोऽभ्युपगन्तव्यः । तस्मादभावस्य सामान्याधिकरणकत्वस्य सामान्यप्रतियोगिकत्वस्य स्वतः सामान्यविशेषभावस्य चानेकान्तक्रोडीकृतत्वाद् भावाभावयोर्विरोधाऽविरोधावपि तादृशावेवेत्यभिप्रायात् । एतेन भावाभावसामान्ययोरेव विरोधकल्पनाद् भेदाभेदाद्यनेकान्तसमावेशोऽप्रामाणिकः — इत्यपास्तम्, विरोधस्यापि विशेषविश्रान्तत्वेन यथानुभवं गुणगुण्यादि-भेदाभेदाद्यविरोधकल्पन एव लाघवादित्यधिकं मत्कृतनयरहस्ये ।”

स्वरूपाभावः स्याद् इत्यत्राह -

गुणाणिव्वत्तियसण्णा एवं दहणादओ वि दट्ठ्वा ।

जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तथा होइ ॥३०॥

गुणेन = सहनादिना निर्वर्त्तिता - उत्पादिता संज्ञा = अभिधानं येषां तेऽपि दहन-पवनादय एवमेवाऽनेकान्तात्मका द्रष्टव्याः । तथाहि - दाहपरिणामयोग्यं तृणादिकं दहतीति दहनः, तदप-रिणतिस्वभावं स्वात्माकाशाऽप्राप्तवज्राण्वादिकं न दहतीति । तेन यद् द्रव्यं यथा दहनरूपतया प्रति-षिद्धं तद् अद्रव्यं = अदहनादिरूपम् तथा = भजनाप्रकारेण 'स्याद् दहनः स्यान्न' इति भवति ततो नाऽव्यापी अनेकान्तः ।

तथा 'अदहनः' इत्यत्राप्यनेकान्तः । तथाहि - यदुदकद्रव्यं यथा दहनरूपेण प्रतिषिद्धं - 'दहनो

है, दो विरुद्ध धर्म का उल्लेख ही नहीं है तो अनेकान्त कैसे ?

उत्तर :- (एक ही परिणाम में गमनत्व और अगमनत्व ऐसे दो परस्पर विरुद्ध धर्मों के समावेश का निर्देश कर के शंकाकार ने स्वयं ही अनेकान्त सिद्ध कर दिया है फिर भी) व्याख्याकार कहते हैं - अविवक्षित दिशाओं में कुछ काल के बाद जब अगमन का भंग कर दिया जायेगा तब अविवक्षित दिशा में अगमनाभाव तो रहेगा किन्तु अनेकान्तस्वीकार न करने पर उस वक्त विवक्षितदिशा में गमन तो नहीं मान सकेंगे क्योंकि अविवक्षितदिशा में गति-अभाव का अभाव प्रतिनियत दिशा में गति के अभावरूप हो जाने से विवक्षितदिशा में गति के साथ विरुद्ध होने पर एक द्रव्य में एकान्तवाद में वे दोनों नहीं रह पायेंगे, फलतः उस वक्त प्रतिनियत दिशा में भी गति का अभाव प्रसक्त होगा । यदि इस अनिष्ट से बचने के लिये उस वक्त प्रतिनियत दिशा में गति मान लेंगे तब तो एक द्रव्य में अविवक्षित दिग्अगमन और प्रतिनियत दिशा में गमन ऐसे पृथक् पृथक् विरुद्ध दो धर्मों का समावेश मान लेने से अनेकान्त की व्यापकता स्वतः सिद्ध हो जायेगी । तात्पर्य यह है कि यदि अविवक्षितदिशा में अगमन और प्रतिनियतदिशा में गति इन को एक ही माना जाय तो अविवक्षितदिशा में अगमन का अभाव होने पर प्रतिनियतदिशा में गति का भी अभाव प्रसक्त होगा, वह तो किसी को मान्य नहीं हो सकता । तब अविवक्षितदिशा में अगमन और प्रतिनियत दिशा में गति - इन दोनों को एक द्रव्य में स्वीकार करना ही होगा, फलतः अनेकान्त की व्यापकता सिद्ध हो जायेगी ॥२९॥

✽ निषेधरूप से द्रव्य भी अद्रव्य है ✽

प्रश्न :- दहनक्रियाकारक होने से 'दहन' कहा जाता है, पवनक्रिया (धावन) कारक होने से 'पवन' कहा जाता है । अब यहाँ यदि अनेकान्तप्रवेश होगा तो दहन में अदहनरूपता का और पवन में अपवनरूपता का, यानी विरुद्ध धर्म का प्रवेश होगा, उस का नतीजा - दहनादि के दाहकत्वादिस्वरूप का भंग प्रसक्त होगा । इसका निराकरण कैसे करेंगे ?

उत्तर :- ग्रन्थकार उत्तर में कहते हैं -

मूलगार्थ :- उसी प्रकार (गति आदि की भाँति), गुणप्रेरित संज्ञावाले दहनादि भी अनेकान्तस्वरूप समझ लेना । जो द्रव्य जिस रूप से प्रतिषिद्ध है उस रूप से वह अद्रव्य होता है ॥३०॥

व्याख्यार्थ :- अग्नि में दाहकारकता गुणधर्म है और वायु में पवनक्रिया गुणधर्म होता है इसलिये उन

न भवति इति अदहनः इति' — तदपि न सर्वथा अदहनद्रव्यं भवति, पृथिव्यादेरदहनरूपाद् व्यावृत्तत्वात् अन्यथा दहनव्यतिरिक्तभूतैकत्वप्रसङ्गः इत्यनेकान्त एव अदहनव्यावृत्तस्य तद्द्रव्यत्वात् ॥३०॥

नन्वेवं तदतद्द्रव्यत्वात् जीवद्रव्यमजीवद्रव्यम् अजीवद्रव्यं च जीवद्रव्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह —
कुंभो ण जीवदवियं जीवो ण होइ कुंभदवियं ति ।

तम्हा दो वि अदवियं अण्णोण्णविसेसिया होंति ॥३१॥

कुम्भो जीवद्रव्यं न भवतीति, जीवोऽपि न भवति घटद्रव्यम् । तस्माद् द्वावपि अद्रव्यमन्योन्यविशेषितौ

की सार्थक गुणधर्मप्रयुक्त 'दहन, पवन' ऐसी संज्ञा की गयी है । इसका मतलब यह कभी नहीं है कि ये दहनादि एकान्ततः दहनादिरूप ही होते हैं । यहाँ अनेकान्तवाद इस तरह है — ज्वलनशील परिणामवाले तृणादि पदार्थों का अग्नि दहन करता है इस लिये दाह्य तृणादि की अपेक्षा वह जरूर 'दहन' है, किन्तु जो ज्वलनपरिणामशील नहीं होते वैसे आत्मा, आकाश तथा दूरस्थ असंयुक्त वस्तु, वज्र, अणु आदि का वह दहन नहीं करता है; अरे ! वह खुद अपना भी दहन नहीं करता है, इसलिये अदाह्य वस्तु की अपेक्षा अग्नि अदहनरूप भी है। तात्पर्य, अग्नि आदि जिन द्रव्यों का जिस रूप में (आकाशादि के रूप में) निषेध किया जाता है उन रूपों से उन अग्निआदि द्रव्यों को अद्रव्य (अदहन) कहा जाय तो कोई गलती नहीं है, वास्तव में वहाँ इस प्रकार भजना यानी विकल्प को अवकाश रहता है कि (तृणादि की अपेक्षा से) अग्नि कथंचिद् दहनद्रव्य रूप है और कथंचिद् (आकाशादि की अपेक्षा) दहनद्रव्यरूप नहीं है, यानी अदहन है । इस प्रकार, अनेकान्त में अव्यापकता निरवकाश है ।

जलादि द्रव्य दहनभिन्न होने से 'अदहन' कहे जाते हैं — यहाँ भी एकान्तवाद नहीं है, क्योंकि 'अदहन' का मतलब है कि दहनरूप से प्रतिषेध, यानी जल दहन नहीं है इसलिये 'अदहन' है; किन्तु पृथ्वी आदि द्रव्य भी दहनात्मक न होने से 'अदहन' ही हैं, 'जलरूप' अदहन 'पृथ्वीरूप' अदहन से भिन्न है इसलिये कह सकते हैं कि जल भी कथंचिद् अदहन(पृथ्वी)रूप नहीं है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'दहन' से भिन्न जितने भी जल-पृथ्वी आदि द्रव्य हैं उन में एकत्व का अतिप्रसंग होगा । अतः, जलादि अदहनद्रव्य पृथ्वीआदि अदहन द्रव्य से कथंचिद् भिन्न होने पर ही जलादिरूप से सुरक्षित रह सकते हैं अन्यथा सर्वथा अदहनरूप होने पर पृथ्वीआदि से भिन्न न रहने के कारण वह जलद्रव्यरूप में सुरक्षित न रह कर पृथ्वीआदि द्रव्यरूप बन जाने की आपत्ति हो सकती है । इसलिये जलादि अदहन द्रव्य में अनेकान्त लब्धप्रसर है, कथंचिद् अदहनरूप है और कथंचिद् अदहनरूप नहीं है ॥३०॥

❀ भाव मात्र में अनेकान्त की व्यापकता पर संदेह-समाधान ❀

शंका :- अनेकान्त को सर्वव्यापक मानने पर यह विपदा है कि प्रत्येक द्रव्य तद्द्रव्य और अतद्द्रव्य उभयरूप मानना पड़ेगा, फलतः जीवद्रव्य को अजीवद्रव्यरूप और अजीवद्रव्य को जीवद्रव्यस्वरूप मानना होगा ।

उत्तर :- ग्रन्थकार कहते हैं —

मूलगाथार्थ :- कुम्भ है वह जीवद्रव्य नहीं है, जीव है वह कुम्भ द्रव्यरूप नहीं है, अन्योन्य की विशेषापेक्षा से दोनों ही अद्रव्य हैं ॥३१॥

व्याख्यार्थ :- अग्नि में पकाया हुआ मिट्टी का कुम्भ निर्जीव होता है अतः वह स्वयं जीवद्रव्यरूप नहीं

= परस्परभावात्मकौ ।

यतोऽयमभिप्रायः जीवद्रव्यं कुम्भादेरजीवद्रव्याद् व्यावृत्तम् अव्यावृत्तं वा ? प्रथमपक्षे स्वरूपापेक्षया जीवो जीवद्रव्यम्, कुम्भाद्यजीवद्रव्यापेक्षया तु न जीवद्रव्यमित्युभयरूपत्वादानेकान्त एव । द्वितीयविकल्पे तु सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तेः प्रतिनियतरूपाभावतस्तयोरभावः स्वरविषाणवत् । ततः सर्वमनेकान्तात्मकम् अन्यथा प्रतिनियतरूपताऽनुपपत्तेः - इति व्यवस्थितम् ॥३१॥

अत्र प्रागुक्तम् - 'प्रत्युत्पन्नं पर्यायं विगत-भविष्यद्भ्यां यत् समानयति वचनं तत् प्रतीत्यवचनम्' इति, तत्र वचनादिकोऽपि पर्यायः । 'स चाऽप्रयत्नानन्तरीयको वचनविशेषलक्षणः, घटादिकस्तु प्रयत्नानन्तरीयक' इति केचित् सम्प्रतिपन्नाः, तन्निराकरणाय 'यद् यतोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रतीयते तत् तत एवाऽभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा कार्यकारणभावाभावप्रसक्तिः' - इत्याह -

होता । इसी तरह जीव द्रव्य चेतनामय होता है, अतः वह कभी अचेतन कुम्भद्रव्यरूप नहीं होता । जीव और कुम्भ को अन्योन्य से विशेषित किये जाय यानी एक-दूसरे में एक-दूसरे के भाव की मीमांसा की जाय तो पता चलेगा कि वे दोनों एक-दूसरे के अभावरूप यानी भेदरूप है । अतः जीवद्रव्यरूप न होने से कुम्भ अद्रव्य है और कुम्भद्रव्यरूप न होने से जीव भी अद्रव्यरूप है ऐसा कह सकते हैं ।

तात्पर्य इस प्रकार के विकल्प से फलित होगा कि जीवद्रव्य कुम्भादि अजीवद्रव्य से व्यावृत्त है या अव्यावृत्त ? प्रथमपक्ष में यही फलित होगा कि जीव स्व-रूप की अपेक्षा जीवद्रव्य है और कुम्भादि (अजीवद्रव्य) की अपेक्षा जीवद्रव्यरूप नहीं है, इस प्रकार उभयरूपता फलित होने से अनेकान्त ही सिद्ध होता है । दूसरे विकल्प में, एक भाव अन्य भावों से अव्यावृत्त होगा तो एक ही भाव में अन्य सर्व भावों का तादात्म्य प्रसक्त होने से, प्रत्येक भाव में अन्यसर्वभावात्मकत्व की प्राप्ति होगी, फलतः अमुक कुम्भादि द्रव्य कुम्भादिरूप ही है ऐसा प्रतिनियतभाव टिकेगा नहीं, फलतः शशसींग की तरह प्रत्येक भाव प्रतिनियतरूप से यानी कुम्भादि का प्रतिनियत कुम्भादिरूप से अभाव ही प्रसक्त होगा, क्योंकि अब सर्व सर्वात्मक होने से किसी में कोई प्रतिनियतरूप (=असाधारणरूप) बचा ही नहीं है - इस अनिष्ट से पार उतरने के लिये कथंचित् प्रथमपक्ष का स्वीकार करने पर सर्वभाव अनेकान्तात्मक है इस तथ्य को स्वीकारना ही होगा । नहीं स्वीकारेंगे तो भाव का प्रतिनियतरूप से अस्तित्व संगत नहीं हो सकेगा । इस प्रकार सर्वत्र अनेकान्त की निर्दोष व्यवस्था सिद्ध होती है ॥३१॥

✽ वचनविशेष में प्रयत्न-अजन्यत्व की मीमांसा ✽

इस काण्ड की तीसरी गाथा में पहले यह कहा था कि 'प्रत्युत्पन्न पर्याय का भूत-भाविपर्यायों के साथ समन्वय करनेवाला वचन, वह प्रतीत्य वचन है' इस में वचन की बात है, उस के बारे में कहते हैं कि वचन एक पर्यायविशेषरूप ही है तो भी उस की उत्पत्ति के बारे में कुछ विवाद है, कुछ लोग कहते हैं कि वचनविशेषरूप ऐसा भी पर्याय होता है जो विना प्रयत्न ही अस्तित्वापन्न है, जब कि घटादिपर्याय ऐसे हैं कि उन की उत्पत्ति विना प्रयत्न नहीं होती । मीमांसा दर्शन मानता है कि शब्दरूप पर्यायविशेष नित्य सनातन हैं, किसी वक्ता के प्रयत्न से उस की उत्पत्ति होती है ऐसा नहीं है । ऐसी मान्यता में अपनी सम्मति दिखानेवाले विद्वानों के प्रति, उन की इस मान्यता का संशोधन करने के लिये ग्रन्थकार यह दिखाना चाहते हैं कि जो(धूमादि) अन्वय-व्यतिरेक सहचार से, जिस अवधि (अग्नि आदि) के साथ संलग्न होते दिखाई देते हैं वह उस से उत्पन्न होता है ऐसा अवश्य मानना चाहिये, अन्यथा धूम और अग्नि आदि भावों में जो कार्य-कारणभाव की व्यवस्था है उस का भंग हो जायेगा । इस तथ्य को ध्यान पर लाने के लिये ग्रन्थकार उत्पाद और विनाश के भेद

उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ य वीससा चेव ।

तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवाओ अपरिशुद्धो ॥३२॥

द्विभेदः उत्पादः* पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतयाऽध्यक्षानुमानाभ्यां तथा तस्य प्रतीतेः । पुरुष-व्यापारान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वेऽपि शब्दविशेषस्य तदजन्यत्वे घटादेरपि तदजन्यताप्रसक्तेर्विशेषाभावात्, प्रत्यभिज्ञानादेश्च विशेषस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । तत्र प्रयोगेण यो जनित उत्पादः मूर्तिमद्भव्यारब्धा-

क्रमशः ३२-३३-३४ गाथाओं से व्युत्पादित करते हैं -

(३२-३३-३४ वीं गाथाओ की अवतरणिका में ऐसा भी कह सकते हैं कि ग्रन्थकार अनेक स्थानों में अनेकान्त का प्रवेश कैसे है यह दिखाते दिखाते, उत्पाद-विनाश आदि में भी ३५ वीं गाथा में अनेकान्तवाद का प्रवेश दिखाना चाहते हैं, उस के लिये पहले ३२-३३ वीं गाथा से उत्पाद का और ३४ वीं गाथा से विनाश का जैन मत के अनुसार परिचय कराना चाहते हैं -)

✽ उत्पाद के विविध प्रकार ✽

मूलगाथार्थ :- उत्पाद के दो विकल्प हैं १-प्रयोगजन्य, २-विस्मसाजन्य । उन में प्रयोगजन्य उत्पाद समुदयवाद कहा जाता है और वह अपरिशुद्ध है ॥३२॥

व्याख्यार्थ :- उत्पत्ति के दो प्रकार हैं - प्रयोग यानी पुरुष के प्रयत्न से जन्य और दूसरा वीससा यानी स्वभाव से जन्य । प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाण से यह प्रसिद्ध तथ्य है कि घट-वस्त्र और वचनादि पदार्थ कुम्हार, जुलाहा, वक्ता आदि के प्रयत्न करने पर एवं अन्य कर्मादि कारकों के सक्रिय होने पर उत्पन्न होते हैं । जब कि आकाश में बीजली आदि पदार्थ स्वाभाविक यानी पुरुषप्रयत्न के विना ही अन्य मेघआदि कारकों के प्रभाव से उत्पन्न होता है । वचनात्मक शब्दविशेष भी वक्ता पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, यदि वक्ताशून्य गृह हो तो कोई वचन वहाँ नहीं सुनाई देता, इस प्रकार वचन में वक्ता के प्रयत्न के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण स्पष्ट उपलब्ध होता है । फिर भी यदि मीमांसक आदि दार्शनिक विद्वान शब्द को वक्ता के प्रयत्न के विना ही अस्तित्वप्राप्त यानी नित्य मानेंगे तब तो घटादि पदार्थ भी कुम्हार के प्रयत्न के विना ही अस्तित्वशाली मानने की आपत्ति प्रसक्त होगी । जन्यत्वरूप से वचन और घट में ऐसा कोई अन्तर नहीं है जिस से कि एक को प्रयत्नअजन्य और दूसरे को प्रयत्नजन्य ऐसा भेद सिद्ध किया जा सके ।

यदि कहें कि - 'घटादि में वैसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती कि 'यह वही घट है' । जब कि 'में उसी ध्वनि को, उसी ककार-खकार को सुन रहा हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है इसलिये शब्द नित्य ही है, पुरुष का प्रयत्न तो सिर्फ उस की अभिव्यक्ति करने में सार्थक होता है ।' - तो यह ठीक नहीं है, पहले खण्ड में ही शब्दनित्यत्ववाद का या स्फोटवाद का प्रतिषेध विस्तार से हो चुका है । 'वही ककार है' यह प्रत्यभिज्ञा तो सिर्फ सजातीय वर्ण को ही विषय करती है । प्रयोग जन्य उत्पाद को यहाँ समुदायवाद कहा गया है । कारण, वस्त्र-घटादि पदार्थ, मूर्त्त यानी रूपादिविशिष्ट पुद्गल द्रव्य के बने हुए छोटे बड़े अवयवों के संयोजन से, उत्पन्न होता है । इस प्रकार वह अवयवों के समुदाय से विरचित होने से कथंचित् अवयवसमुदायात्मक ही होता है इसलिये ऐसे

* अत्र 'पुरुषव्यापार-पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतया' इति पाठेन भवितव्यम्, एतद् स्याद्वादकल्पलतायाः सप्तमस्तबके उप्पाओ० साभाविओ वि० इति गाथाद्वयोद्धरणपूर्वनिरूपितव्याख्यानेन निश्चीयते ।

वयवकृतत्वात् स समुदायवादः, तथाभूताऽऽरब्धस्य समुदायात्मकत्वात् । तत एवाऽसावपरिशुद्धः, सावयवात्मकस्य तच्छब्दवाच्यत्वेन अभिप्रेतत्वात् ॥३२॥

विघ्नसाजनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह -

साभावो वि समुदयकओ व्व एगंति[एगत्ति]ओ व्व होज्जाहि ।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥३३॥

स्वाभाविकश्च द्विविध उत्पादः - एकः समुदयकृतः = प्राक्प्रतिपादितावयवारब्धो घटादिवत् । अपरश्च एकत्विको = अनुत्पादिताऽमूर्त्तिमद्द्रव्यावयवारब्ध आकाशादिवत् । आकाशादीनां च त्रयाणां द्रव्याणामवगाहकादिघटादिपरद्रव्यनिमित्तोऽवगाहनादिक्रियोत्पादोऽनियमाद् = अनेकान्ताद् भवेद् । अवगाहक-गन्तु-स्थातुद्रव्यसंनिधानतोऽम्बरधर्माधर्मेष्ववगाहन-गति-स्थितिक्रियोत्पत्तिनिमित्तभावो-त्पत्तिरित्यभिप्रायः ।

नन्वनारब्धाऽमूर्त्तिमद्द्रव्यावयवत्वे गगनादीनां निरवयवत्वप्रसक्तेरनेकान्तात्मकत्वव्याघातः । न,

उत्पाद को समुदायवाद कहा गया है । समुदायात्मक होने के कारण ही इसे अपरिशुद्ध कहा गया है, क्योंकि जिस में अनेक अवयवों का मिलन हो वही 'समुदाय' शब्द से निर्दिष्ट होता है । यहाँ समुदाय की पूर्णता या अपूर्णता अवयव की पूर्णता-अपूर्णता पर अवलम्बित है यही अपरिशुद्धि है । स्याद्वादकल्पलता के सातवे स्तबक में श्री उपाध्यायजी कहते हैं कि 'अत्राऽपरिशुद्धत्वं स्वाश्रययावदवयवोत्पादापेक्षया पूर्णस्वभावत्वम्, न ह्यपूर्णावयवो घट उत्पद्यमान कात्स्न्येनोत्पन्न इति व्यवह्रीयते इति' - अर्थः 'अपने आश्रयभूतअवयवों के उत्पाद की अपेक्षा पूर्णस्वभाव होना यही अपरिशुद्धता है, अवयव यदि अपूर्ण हैं तो उन से पूरा घटा उत्पन्न होने का व्यवहार नहीं होता' अवयवों के उत्पाद की आधीनता ही अपरिशुद्धि है- यह तात्पर्य है ॥३२॥

❀ स्वाभाविक उत्पाद के दो प्रकार ❀

स्वभाव से होनेवाले उत्पाद के दो भेद कहते हैं -

मूलगार्थ :- स्वभावजानित उत्पाद समुदायकृत और ऐकत्विक ऐसे द्विविध होता है । आकाशादि तीन द्रव्यों का विना नियम से अन्यनिमित्त होता है ॥३३॥

व्याख्यार्थ - विघ्नसा का अर्थ है स्वभाव । यद्यपि प्रयोगजनित उत्पाद भी स्वभावकृत तो होता ही है, किन्तु यहाँ पुरुषप्रयत्न विरह में भी स्वभाव से जो उत्पन्न होते हैं उदा० बीजली आदि, उस के उत्पाद की बात है । इस के भी दो भेद हैं - (१) पहला उत्पाद तो समुदयकृत ही है । जैसे मूर्त्तद्रव्य से निष्पन्न अवयवों से घट का उत्पाद होता है वैसे मेघ-बीजली आदि का भी होता है । फर्क है तो इतना कि घटादि के उत्पाद में पुरुषव्यापार कारण होता है, मेघादि के उत्पाद में किसी पुरुष का व्यापार कारण नहीं होता । (२) दूसरे प्रकार के उत्पाद को 'ऐकत्विक' कहा गया है । आकाश, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये तीन द्रव्य स्वतन्त्र एक एक द्रव्यरूप हैं किन्तु उनका उत्पाद पृथक् पृथक् मूर्त्तिमद् द्रव्य के अवयवसमुदायों के मिलने से नहीं होता किन्तु उनका उत्पाद पृथक् पृथक् मूर्त्तिमद् द्रव्य के अवयव समुदायों के मिलने से नहीं होता किन्तु अनादि काल से वे अपने अजन्य-अमूर्त्त अवयवों में नित्य समवेत जैसे हैं, अतः नूतन द्रव्य घटादि की तरह उनका उत्पाद नहीं होता । वे स्वयं अकेले ही क्रमशः अवगाहनशील घटपटादि द्रव्य, गतिशील सूर्य-चन्द्रादि द्रव्य तथा स्थितिअभिमुख

मूर्तिमद्भव्यानारब्धानामपि तेषां सावयवत्वात् । न च सावयवत्वमसिद्धम् प्रदेशव्यवहारस्याऽऽकाशे दर्शनात् । न च 'आकाशस्य प्रदेशः' इति व्यवहारो मिथ्या मिथ्यात्वनिमित्ताभावात् । न च संयोग-स्याऽव्याप्यवृत्तित्वनिमित्तः सावयवत्वाधारोपो मिथ्यात्वकारणम्, निरवयवेऽव्याप्यवृत्तिसंयोगाधार-त्वस्याऽधारोपनिमित्तस्यैवानुपपत्तेः । यदि च सावयवं नभो न भवेत् तदा श्रोत्राकाशसमवेतस्येव शब्दस्य ब्रह्मभाषितस्याऽप्युपलम्भोऽस्मदादि(?दे)र्भवेत्, निरवयवैकाकाशश्रोत्रसमवेतत्वात् । अथ धर्माधर्माभि-संस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धाकाशदेश एव श्रोत्रं तत्र च ब्रह्मभाषितस्याऽसमवायान्नास्मदादिभिः श्रवणम् । नन्वेवं सैव सावयवत्वप्रसक्तिः श्रोत्राकाशप्रदेशाद् ब्रह्मशब्दाधाराकाशदेशस्यान्यत्वात् ।

चक्रादि द्रव्यों की अवगाहना, गति और स्थिति में निमित्तभूत बनते हैं, तब जो उन आकाशादि की अनिमित्तभाव से निवृत्ति हो कर निमित्तभाव में उत्पत्ति होती है उसे 'ऐकत्विक' यानी अवयवसमुदाय के जन्यसंयोग के विना ही स्वगत एकत्वप्रयुक्त उत्पाद कहा जाता है । तात्पर्य, अन्यद्रव्यों के अवगाहनादि कार्य में उन का जो निमित्त भाव है वह आकाशादि की एक अपनी ही प्रधानता रखता है, अन्य कारकों की नहीं, इसलिये 'ऐकत्विक' उत्पाद कहा जाता है । उन में जो निमित्तभाव उभर आता है उस में आकाशादि से अन्य अवगाहकद्रव्य, गतिकारक द्रव्य और रुद्धगतिक द्रव्य भी निमित्त बनते हैं इसलिये यह ऐकत्विक उत्पाद, विना किसी नियम से, यानी कथंचिद्, परप्रत्ययिक (=परनिमित्तक) भी कहा गया है ।

✽ गगनआदि में सावयवत्व प्रसिद्धि ✽

प्रश्न :- जब अनेकान्त व्यापक है तो गगनादि में भी कथंचित् सावयवत्व, कथंचित् निरवयवत्व, इस तरह अनेकान्त होना चाहिये । किन्तु, जब आपने कहा कि गगनादि के ऐसे कोई अवयव नहीं है जो मूर्त्तद्रव्य से निष्पन्न हो, इसका मतलब यह होगा कि गगन निरवयव है, जितने भी सावयव द्रव्य हैं वे सब मूर्त्तद्रव्य के अवयवों से बना हुआ होता है, गगनादि वैसा नहीं है इसलिये उस में एकान्त निरवयवत्व प्रविष्ट होने से अनेकान्तात्मकत्व का व्याघात क्यों नहीं होगा ?

उत्तर :- अनेकान्तात्मकत्व का व्याघात शक्य नहीं है, क्योंकि गगनादि द्रव्य मूर्त्तद्रव्य के अवयवों से निष्पन्न न होने पर भी अमूर्त्त (अनिष्पन्न) अवयवों के शाश्वत योग से गगनादि का शाश्वत अस्तित्व जारी है । ऐसा नहीं कह सकते कि 'गगन में सावयवत्व असिद्ध है'; क्योंकि 'आकाश के प्रदेश' ऐसा जो व्यवहार विश्वप्रसिद्ध है उस से ही सिद्ध हो जाता है कि आकाश सावयव द्रव्य है । 'आकाश के प्रदेश' इस तरह के व्यवहार को मिथ्या कहना वाजिब नहीं, क्योंकि ऐसा कोई निमित्त यानी बाधक नहीं है जिस से कि उस व्यवहार को अप्रमाण घोषित किया जा सके ।

✽ संयोग की अव्याप्यवृत्तिता दुर्घट ✽

यदि यह कहा जाय - 'गगन की अवयवसंयोग से निष्पत्ति नहीं होती है, किन्तु उस में अव्याप्यवृत्तिभाव से संयोग रहता है - इसी के निमित्त से आकाश में भी सावयवत्व का आरोप किया जाता है, वास्तव में वहाँ सावयवत्व नहीं है किन्तु औपाधिक है, इसीलिये 'आकाश के प्रदेश' यह व्यवहार मिथ्या है ।' - तो यह गैरवाजिब है चूँकि आरोप का निमित्त जो आपने बताया संयोग का अव्याप्यवृत्तित्व, वही गगन के निरवयव होने पर नहीं घट सकेगा तो उस के निमित्त से व्यवहार में औपाधिकत्व की सिद्धि की आशा कैसे ? गगन यदि निरवयव है तो उस में रहने वाले संयोग को पूरे आकाश में व्याप्यवृत्ति हो कर ही रहना पड़ेगा, अवयव के विना एकदेशवृत्तित्व कैसे घटेगा ? गगन यदि निरवयव होगा तो यह भी आपत्ति आयेगी-श्रोत्राकाश में

यदि च सावयवमाकाशं न भवेत्, शब्दस्य नित्यत्वं सर्वगतत्वं च स्यात् आकाशैकगुणत्वात् तन्महत्त्ववत् । अथ क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः । नन्वेवमेक-देशवृत्तिविशेषगुणत्वाभ्युपगमे कथं न शब्दाधारस्याऽऽकाशस्य सावयवत्वप्रसिद्धिः ? न हि निरवयवत्वे 'तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्तते न सर्वत्र' इति व्यपदेशः संगच्छते । न च संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वनिबन्धनो-ऽयम् यत आकाशं व्याप्य संयोगो न वर्तत इति तदेकदेशे वर्तत इत्यभ्युपगमप्रसक्तिः । व्याप्यवृत्तित्वं हि सामस्त्यवृत्तित्वम्, तत्प्रतिषेधश्च पर्युदासपक्षे एकदेशवृत्तित्वमेव, प्रसज्यपक्षे तु वृत्तिप्रतिषेध एवः न चासौ युक्तः, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् तदभावे च तदभावात् । न च निरवयवत्वे

समवेत ही शब्द की उपलब्धि होने का आप मानते हैं उस के बदले अखिल ब्रह्माण्ड में ध्वनित होने वाले सभी शब्दों की उपलब्धि का अतिप्रसंग होगा, क्योंकि शब्द को आप आकाश का गुण मानते हैं और आप के मत में श्रोत्र भी आकाश रूप ही है और आकाश निरवयव अखिल ब्रह्माण्डव्यापी है, मतलब पूरा आकाश ही जब श्रोत्रेन्द्रिय है तब उस में गुणरूप से समवेत हो कर उत्पन्न होने वाला कौन सा शब्द अनुपलब्ध रहेगा ? यदि कहें कि - 'पूरा एक आकाश श्रोत्रेन्द्रियरूप नहीं है किन्तु धर्म-अधर्म के संस्कार से अभिव्याप्त कर्णछिद्र से अवरुद्ध जो आकाश-खंड है, इतना ही श्रोत्रेन्द्रिय है, अतः जो शब्द गुण उतने खंड में समवेत होगा वही सुनाई देगा, अखिलब्रह्माण्डगत शब्द का तो उस में समवाय अशक्य है इसलिये अखिल शब्दों के श्रवण की विपदा नहीं हो सकती' - तो यह भी व्यर्थ है क्योंकि ऐसे तो सरलता से आकाश के सावयवत्व की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि सावयवत्व के बिना कर्णछिद्र अवरुद्ध आकाश खंड की बात भी कैसे होगी ? आप को जरूर मानना पड़ेगा कि सुनाई देनेवाले शब्द के समवायि श्रोत्रमय आकाश खंड अन्य सभी ब्रह्माण्डगत शब्दों के समवायी महत् आकाशखंड से कथंचिद् भिन्न है अन्यथा शब्दमात्र के श्रवण की आपत्ति नहीं टाल सकते । इस तरह आकाश में सावयवत्व सिद्ध हो जाता है ।

✽ गगन निरवयव होने पर शब्द में व्यापकत्व का अनिष्ट ✽

गगन यदि सावयव न हो तो शब्दमात्र को सर्वव्यापी और नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि गगन के परममहत् परिणाम की तरह शब्द एकमात्र आकाश का ही गुण है । आकाश का परममहत् परिणाम सर्वव्यापि है और नित्य है तो शब्द भी वैसा क्यों नहीं होगा ? यदि कहें कि - 'न्याय-वैशेषिक परिभाषा के अनुसार बहिरिन्द्रिय ग्राह्य होने से शब्द आकाश का विशेषगुण है, तथा 'यह शब्द वीणा में उत्पन्न हो कर शीघ्र ही नष्ट हो गया' इस प्रतीति से शब्द में क्षणिकत्व और एकदेशवृत्तित्व प्रमाणसिद्ध है, इसलिये शब्द में नित्यत्व और सर्वव्यापित्व की दोषापत्ति को अवकाश नहीं ।' - तो यहाँ स्पष्ट देख सकते हैं कि शब्द को उक्त प्रतीति के बल पर एकदेशवृत्ति-विशेषगुणात्मक मानने पर, एकदेशवृत्तित्व को संगत करने के लिये शब्द के आश्रयभूत आकाश का सावयवत्व सुप्रसिद्ध हुए बिना कैसे रहेगा ? आकाश निरवयव होने पर, 'शब्द आकाश के एकभाग में ही रहता है न कि सर्वभागों में' ऐसा शब्दव्यवहार संगत नहीं हो सकता ।

✽ संयोग की अव्याप्यवृत्तित्ता से गगन-सावयवत्वसिद्धि ✽

यदि ऐसा कहेंगे कि - 'आकाश में एक भाग का शाब्दिक व्यवहार संयोग की अव्याप्यवृत्तित्तामूलक होता है न कि आकाश की सावयवतामूलक' - तो यह व्यर्थ है, क्योंकि अव्याप्यवृत्तित्ता का अर्थ क्या है ? पूरे आकाश को व्याप्त कर के संयोग नहीं रहता, यही । इसका अर्थापत्ति से यही अर्थ मानना पड़ता है कि 'संयोग आकाश के एक भाग में रहता है' इसलिये अनायास सावयवत्व सिद्ध हो जाता है । देखिये -

आकाशस्य संतानवृत्त्याऽऽगतस्य शब्दस्य श्रोत्रेणाप्युपलब्धिः सम्भवति, अन्यान्याकाशदेशोत्पत्तिद्वारेण तस्य श्रोत्रसमवेतत्वानुपपत्तेः । जलतरंगन्यायेनापरापराकाशदेशादावपरापरशब्दोत्पत्तिप्रकल्पनायां कथं नाकाशस्य सावयवत्वम् ?

किंच, आकाशं शब्दोत्पत्तौ समवायिकारणमभ्युपगम्यते, यच्च समवायिकारणं तत् सावयवम् यथा तन्त्वादि, समवायिकारणं च परेण शब्दोत्पत्तावाकाशमभ्युपगतम् । न च परमाण्वात्मादिना व्यभिचारः तस्यापि सावयवत्वात्, अन्यथा द्व्यणुक-बुद्ध्यादेस्तत्कार्यस्य सावयवत्वं न स्यात् । न च बुद्ध्यादेः सावयवत्वमसिद्धम् आत्मनः सावयवत्वेन साधितत्वात् तद्विशेषगुणत्वेन बुद्ध्यादेः कथंचित् तादात्म्य-सिद्धितः सावयवत्वोपपत्तेः । न च यत एव प्रमाणादणवः सिद्धास्तेषां निरवयवत्वमपि तत एव सिद्धमिति

- व्याप्यवृत्तित्व का अर्थ होता है 'अखिलद्रव्य में व्यापकरूप से रहना' । 'अव्याप्यवृत्ति' शब्द व्याप्यवृत्तित्व का प्रतिषेध करता है । प्रतिषेध के दो प्रकार हैं ? १ पर्युदास प्रतिषेध, जिस में निषेध्य के निषेध के साथ सदृश का विधान होता है । २ प्रसज्यप्रतिषेध, जिस में सर्वथा निषेध किया जाता है । यहाँ व्याप्यवृत्तित्व का पर्युदास प्रतिषेध मानेंगे तो अखिल ब्रह्म में व्यापक रूप से रहने के निषेध के साथ किसी एक देश में वृत्तित्व का विधान भी फलित होगा, तब अनायास सावयवत्व सिद्ध हो जायेगा । प्रसज्यप्रतिषेध यहाँ सावकाश नहीं है क्योंकि तब संयोग की अव्याप्यवृत्तित्ता का वृत्तित्वनिषेध अर्थ फलित होगा, किन्तु वह इष्ट नहीं है क्योंकि संयोग गुणात्मक होने से उस को द्रव्यवृत्ति ही मानना पड़ेगा, द्रव्यवृत्ति यदि वह नहीं होगा तो वह स्वयं अभावप्रतियोगी ही बन कर रह जायेगा ।

✽ शब्दश्रवण से गगनसावयवत्व की सिद्धि ✽

आकाश को निरवयव मानने पर, दूरदेश में उत्पन्न होने वाला शब्द परंपरागतश्रेणि के द्वारा उत्पत्तिस्थान से श्रोत्र तक पहुँच कर सुनाई देता है — यह बात नहीं घटेगी, क्योंकि शब्द तो गुण है वह स्वयं दूर से श्रोत्र तक दौड़ कर पहुँच नहीं सकता, न श्रोत्र दौड़ कर वहाँ जा सकता है, नैयायिक मत के अनुसार शब्द दूर देश में उत्पन्न हो कर दूसरे क्षण में निकटवर्ती आकाश में नये शब्द को उत्पन्न करता है, वह भी अग्रिम आकाश में नये शब्द को उत्पन्न करता है, इस प्रकार एकश्रेणि में नया नया उत्पन्न होने वाला शब्द जब श्रोत्र देश में उत्पन्न होता है तब सुनाई देता है, किन्तु यह प्रक्रिया आकाश को निरवयव मानने पर कैसे संगत होगी ? नैयायिकों ने जो जलतरंग का उदाहरण दिया है, जल में कंकरक्षेप होने पर कंकरस्पृष्ट जल में तरंग उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाती है किन्तु वह अपने आसपास के पानी में नयी तरंग पैदा करती है, वह भी उसी प्रकार नयी तरंग पैदा करती है — इस प्रकार नये नये तरंग की उत्पत्ति होने से, उत्पत्तिस्थान से तटप्रदेश तक तरंग पहुँच जाती है । ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति देश से नये नये शब्दों की उत्पत्ति हो कर शब्द श्रोत्रदेश तक पहुँच जाता है । किन्तु यह कब संभव होगा ? जल की तरह आकाश को भी सावयव माना जाय तभी, अन्यथा नहीं । जैसे तरंग की उत्पत्ति परिमित जल में होती है वैसे परम्परया नये नये शब्दों की उत्पत्ति भी परिमित आकाश में ही हो सकती है, तो आकाश को सावयव माने बिना कैसे चलेगा ?

✽ सभी समवायीकारण सावयव है - व्याप्ति ✽

सावयवत्व का साधक और एक प्रमाण है, नैयायिकादि विद्वान् शब्द की उत्पत्ति में आकाश को समवायिकारण मानते हैं, जो भी समवायिकारण होता है वह सावयव होता है जैसे तन्तु आदि । आकाश को शब्द की उत्पत्ति में समवायिकारण तो माना हुआ ही है । यदि कहें कि — 'परमाणु भी द्व्यणुकादि का समवायी कारण है

तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् सावयवत्वानुमानस्याऽप्रामाण्यम् प्रमाणतः परमाणूनामसिद्धावाश्रयाऽसिद्धितः सावयवत्वानुमानस्याऽप्रवृत्तिरिति वाच्यम्, यतः सावयवकार्यस्य सावयवकारणपूर्वकत्वे साध्ये न पूर्वोक्तदोषावकाशः । न च कार्य-कारणयोरात्यन्तिको भेदः, समवायनिषेधे हि हिमवद्-विन्ध्ययोरिव भेदे विशिष्टकार्य-कारणरूपतानुपपत्तेः । ततो द्रव्यणुकादेः परमाणुकार्यस्य सावयवत्वात् तदात्मभूताः परमाणवः कथं न सावयवाः - इति न परमाण्वादिभिर्व्यभिचारः ।

अपि च सावयवमाकाशं तद्विनाशान्यथानुपपत्तेः । न चाऽऽकाशस्य विनाशित्वमसिद्धम् - तथाहि - अनित्यमाकाशम्, तद्विशेषगुणाभिमतशब्दविनाशान्यथानुपपत्तेः । यतो न तावदाश्रय-विनाशाच्छब्द-विनाशोऽभ्युपगतस्तन्नित्यत्वाभ्युपगमविरोधात् । न विरोधिगुणप्रादुर्भावात्, तन्महत्त्वादेरेकार्थसमवायित्वेन

तथा आत्मा ज्ञानादि गुणों का स० का० है किन्तु परमाणु और आत्मा में सावयवत्व नहीं है अतः समवायी कारणत्व हेतु सावयवत्व का विद्रोही है । - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परमाणु और आत्मा भी सावयव है । यदि परमाणु और आत्मा निरवयव होंगे तो उन के कार्यभूत द्रव्यणुक और बुद्धि आदि में सावयवत्व असिद्ध हो जायेगा । 'बुद्धि आदि में सावयवत्व कहाँ सिद्ध है' ? यह प्रश्न निरवकाश है, क्योंकि प्रथमखंड (पृ. ५९२) में आत्मविभुत्व निराकरणवाद में आत्मा का सावयवत्व सिद्ध किया हुआ है, बुद्धि आत्मा का ही विशेषगुण है अतः आत्मा के साथ उसका कथंचित् तादात्म्यभाव सिद्ध होता है, इसलिये आत्मा से अभिन्न बुद्धि में भी सावयवत्व सिद्ध होता है ।

यदि कहें कि - "द्रव्यपरिमाणं क्वचिद् विश्रान्तम्... इस प्रकार के अनुमान से अणुपरिमाण द्रव्य की सिद्धि की जाती है, जिस द्रव्य की अणुरूप में सिद्धि की जा रही है उस को यदि सावयव मानेंगे तब तो उस के अवयव का परिमाण उससे भी लघु मानना होगा । उस लघु अवयव को सावयव कहेंगे तो उस के भी अवयव को लघुतर परिमाणवाला मानना होगा । इस प्रकार परिमाण के लघुता की अविश्रान्त धारा चलती रहेगी । इस अनिष्ट आपत्ति के फलस्वरूप अणुपरिमाण साधक अनुमान से अणुद्रव्य में निरवयवत्व भी सिद्ध हो जाता है । अब यदि उस में भी सावयवत्व की सिद्धि के लिये अनुमानप्रयास करेंगे तो वह पूर्वोक्त 'अणु'साधक प्रमाण से ही बाधित हो जायेगा । निष्कर्ष, परमाणु में सावयवत्वसाधक अनुमान अप्रमाण ठहरता है । यदि पूर्वोक्त अनिष्ट आपत्ति को इष्टापत्ति मान लिया जाय तब तो 'परमाणु' की ही सिद्धि नहीं हो सकेगी, फलतः उसमें सावयवत्व की सिद्धि के लिये प्रस्तुत किया जाने वाला अनुमान आश्रयासिद्धि दोष का ग्रास बन जायेगा । इसलिये सावयवत्व के अनुमान की प्रवृत्ति ही रुक जायेगी ।"

- तो यह निरर्थक है, क्योंकि हम परमाणु को पक्ष करके सावयवत्व की सिद्धि नहीं करते हैं किन्तु सावयव कार्य को पक्ष करके उसमें सावयवकारणपूर्वकत्व की सिद्धि करते हैं, जैसे 'द्रव्यणुक सावयवद्रव्यजन्य है क्योंकि सावयव है' । द्रव्यणुक तो प्रसिद्ध ही है, तब आश्रयासिद्धि कैसे होगी ?

उपरांत, इस बात पर ध्यान दीजिये कि समवाय का तो हम पहले निषेध कर आये हैं, अतः कार्यकारण में अत्यन्त भेद का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि यदि उन में अत्यन्त भेद मानेंगे तो विन्ध्य और हिमाचल की तरह उन में विशिष्ट कार्य-कारणभाव ही अनुपपन्न रहेगा । विन्ध्य और हिमाचल में क्या कभी कार्य-कारणभाव होता है ? जब कार्य-कारण कथंचिद् अभिन्न हैं तब परमाणुओं के कार्यभूत द्रव्यणुकादि सावयव होने से द्रव्यणुक से अभिन्न परमाणु भी कैसे सावयव नहीं होंगे ? आकाश में समवायिकारणत्व हेतु से सावयवत्व की सिद्धि के अनुमान से अब परमाणुआदि को ले कर साध्यद्रोह का आपादन बेकार है ।

रूप-रसयोरिव विरोधिताऽसिद्धेः । विरोधित्वे वा श्रवणसमयेऽपि तदभावप्रसंगः, तदापि तन्महत्त्वस्य सद्भावात् । नाऽपि संयोगादिविरोधिगुणः, तस्य तत्कारणत्वात् । नापि संस्कारः, तस्य गुणत्वेन शब्देऽसम्भवात् सम्भवे वा शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसक्तिः । आकाशस्य द्रव्यत्वेन तत्सम्भवेऽपि तस्याभावे आकाशस्याप्यभावप्रसक्तिः तस्य तदव्यतिरेकात् । व्यतिरेके वा 'तस्य' इति सम्बन्धाऽयोगात् । नापि शब्दोपलब्धिप्रापकधर्माद्यभावात् तदभावः, तस्य विभिन्नाश्रयस्यानेन विनाशयितुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा तदाधारस्यापि विनाशप्रसङ्गः, तस्य तदव्यतिरेकात् । ततोऽम्बरविशेषगुणत्वे शब्दस्य तद्विनाशान्यथानुपपत्त्या तस्यापि विनाशित्वम्, ततोऽपि सावयवत्वम् । न च बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारः उक्तोत्तरत्वात् ।

किं च, आश्रितविनाशे आश्रयत्वस्यापि विनाशः आश्रितत्वनिबन्धनत्वात् तस्य, धर्मस्य च धर्मिणः कथंचिदव्यतिरेकात् तथाऽऽकाशस्य विनाशित्वात् सावयवत्वं घटादेरिवोपपन्नम् । किंच, सावयवमाका-

✽ गगन में सविनाशित्व की सिद्धि से सावयवत्व ✽

आकाश में सावयवत्व साधक एक और अनुमान विनाश की अन्यथानुपपत्ति से कर सकते हैं । आकाश यदि निरवयव होगा तो उसका विनाश असंगत रहेगा । 'रहने दो, हमें आकाश का विनाश अस्वीकार्य ही है' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आकाश में विनाशिता असिद्ध नहीं है, उस का साधक अनुमान हो सकता है, जैसे - आकाश अनित्य है क्योंकि उस के विशेषगुणभूत शब्द का विनाश आकाश को विनाशी माने विना शक्य ही नहीं है । कैसे यह देखिये - आपके आकाश में नित्यत्व के सिद्धान्त के साथ विरोध होता है इसीलिये आपने शब्द का नाश आश्रयभूत आकाशविनाश से प्रयुक्त नहीं माना है । किन्तु आखिर तो आकाशविनाश से प्रयुक्त ही शब्दनाश मानना पड़ेगा । कारण, और कोई शब्द का नाशक घटता नहीं है; विरोधिगुण के उद्भव से शब्द का नाश शक्य नहीं है, क्योंकि आकाश का परममहत् परिमाण और शब्द दोनों एक साथ एककाल में एक अर्थ में समवाय से बिना किसी विरोध रहने वाले हैं, जैसे रूप और रस, अतः परममहत्परिमाण और शब्द में कोई विरोध असिद्ध है । आँख मुंद कर विरोध मानेंगे तो परममहत् परिमाणरूप विरोधि नित्य होने के कारण सदा विद्यमान होने से शब्द को श्रवणकाल में भी स्थिति प्राप्त नहीं होगी । संयोगादि गुण भी शब्द के विरोधि नहीं है, उल्टे संयोग-विभाग तो शब्द के जनक हैं, जैसे भेरी-दण्ड संयोग और वंशावयवविभाग । संस्कार भी शब्द का विनाशक नहीं हो सकता । गुण होने के कारण, संस्कार शब्दरूप गुण में तो रह ही नहीं सकता वह कैसे शब्द का विनाश करेगा ? यदि शब्द में उस के विनाशक संस्कारगुण का प्रादुर्भाव मानेंगे तो शब्द गुणाश्रय होने से उस में द्रव्यत्व प्रसक्त होगा जो जैन को इष्ट है किन्तु नैयायिकादि को इष्ट नहीं है । यद्यपि आकाश में संस्कार होता नहीं है, फिर भी द्रव्य होने के नाते आकाश में संस्कार मान कर उसको शब्द का नाशक बतायेंगे तो आकाश के भी नाश की आपत्ति होगी क्योंकि (समवायअसिद्धि पक्ष में) गुण-गुणी में अभेद होता है अतः शब्द नष्ट होगा तो आकाश भी नष्ट होगा । यदि शब्द और आकाश में भेद मानेंगे तो 'आकाश का गुण' इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का सम्बन्धमूलक प्रयोग संगत नहीं होगा क्योंकि अभेद के अलावा और कोई समवायादि सम्बन्ध यहाँ संगत नहीं हो सकता । यदि कहें कि - 'शब्द की उपलब्धि का जनक धर्मादि गुण का जब विनाश हो जाता है तो वह विनाश शब्द का भी विनाश कर देता है' - तो यह गैरवाजिब है क्योंकि धर्मादिगुण के विनाश का आश्रय आत्मा है जो शब्द का आश्रय नहीं है, अतः भिन्न आश्रय में रहा हुआ धर्मादिनाश शब्द का नाश नहीं कर सकता । फिर भी यदि धर्मादि के नाश से शब्द का नाश मानेंगे तो ऊपर कहा है तदनुसार शब्द के आधारभूत आकाश का विनाश भी प्रसक्त होगा,

शम् हिमवद्-विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वात् तदवष्टम्भदेशमूभागवत्; अन्यथा तयो रूप-रसयोरिवैकदेशा-काशस्थितिप्रसक्तिः, न चैतद् दृष्टमिति सर्वं वस्तुत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकत्वात् कथंचित् सावयवं सिद्धम् ।

ततः प्रयोग-विस्मसात्मकमूर्त्तिमद्रव्यानारब्धत्वेनाऽऽकाशादेरुत्पाद 'ऐकत्विको'ऽभिधीयते, न पुन-निरवयवकृतत्वादैकत्विकः । अयमपि स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकः, न त्वैकत्विक एव । एवं मूर्त्तिमद-मूर्त्तिमदवयवद्रव्यद्वयोत्पाद्याऽवगाह-गति-स्थितीनां यथोक्तप्रकारेण तत्रोत्पत्तेः अवगाह-गति-स्थिति-स्वभावस्य च विशिष्टकार्यत्वाद् विशिष्टकारणपूर्वकत्वसिद्धेस्तत्कारणे आकाशादिसंज्ञाः समयनिबन्धनाः सिद्धाः ॥३३॥

उत्पादवद् विगमोऽपि तथाविध एवेत्याह -

क्योंकि आकाश शब्द से अभिन्न है । निष्कर्ष, शब्द जिन लोगों के मत में आकाश का विशेषगुण है उन के मतानुसार, आकाशरूप आश्रय के नाश के विना शब्द का नाश संगत होना कठिन है इसलिये आकाश में भी विनाशित्व सिद्ध होता है । विनाशित्व की सिद्धि से सावयवत्व भी सिद्ध होगा । यहाँ विनाशित्व हेतु को बुद्धिआदि में सावयवत्व का विद्रोही बताना युक्त नहीं है क्योंकि बुद्धि आदि भी सावयव ही हैं यह भी कुछ समय पहले ही कह आये हैं - आत्मा का सावयवत्व प्रथम खंड में सिद्ध हो चुका है और बुद्धिरूप उसका विशेषगुण उस से कथंचिद् अभिन्न होने से वह भी सावयव ही है ।

✽ आश्रयत्वधर्म के नाश से गगननाश सिद्धि ✽

इस ढंग से भी आकाश में विनाशित्व की सिद्धि हो सकती है - शब्द आकाश का आश्रित है, आश्रित का नाश होने पर आकाश के आश्रयता धर्म का भी नाश हुए विना नहीं रहेगा, क्योंकि आश्रयता आश्रितत्वमूलक होती है । धर्म और धर्मी में कथंचिद् अभेद ही होता है, अतः आश्रयतारूप धर्म का नाश होने पर धर्मीरूप आश्रय यानी आकाश का नाश होना अनिवार्य है । आकाश में विनाशित्व की सिद्धि से अनायास सावयवत्व सिद्ध हो जाता है क्योंकि विनाशी द्रव्य सावयव ही होता है, जैसे घट-वस्त्रादि ।

तदुपरांत, हिमाचल और विन्ध्य आकाश के भिन्न भिन्न देश में अवष्टम्भन = आश्रयण करते हैं, जैसे कि हिमाचल और विन्ध्य पर्वत अपने से आक्रान्त भिन्न भिन्न भूखंड में अवष्टम्भन करते हैं । इस से भी सिद्ध होता है कि आकाश सावयव है । यदि रूप-रस की तरह उन दोनों को निरवयव एक पूरे ही आकाश में अवस्थित मानेंगे तो जहाँ रूप है वहाँ ही रस होता है वैसे ही जहाँ विन्ध्याचल है वहाँ ही हिमाचल की अवस्थिति प्रसक्त होगी, किन्तु वह इष्ट नहीं है । इस प्रकार, विविध प्रकार से हर कोई वस्तु उत्पत्ति-स्थिति-विनाश त्रयात्मक सिद्ध होने से कथंचित् सावयव मानना चाहिये । (चाहे वह द्रव्य हो या गुण हो) ।

✽ ऐकत्विक उत्पाद में भी अनेकान्त ✽

मुख्य बात यह है कि आकाशादि का उत्पाद 'ऐकत्विक' इसलिये नहीं कहा गया कि आकाशादि निरवयव स्वयंरचित है, किन्तु प्रयोगजन्य या विस्मसात्मक किसी मूर्त्तद्रव्य से आरब्ध अवयव वाले वे नहीं होते इसलिये आकाशादि के उत्पाद को 'ऐकत्विक' कहा गया है । यह जो ऐकत्विक उत्पाद है वह सर्वथा (एकान्त से) 'ऐकत्विक' ही है ऐसा नहीं है किन्तु कथंचिद् ऐकत्विक है कथंचिद् अनैकत्विक भी है (क्योंकि आकाशादि तीन के अवयव एकान्ततः अमूर्त्त नहीं है) । इस प्रकार मूर्त्तद्रव्य पुद्गल और अमूर्त्त अवयव वाले आकाशादि द्रव्य, इन के सम्पर्क से पुद्गलादि द्रव्य में अवगाहना, गति और स्थिति धर्मों की उपरोक्त रीति से उत्पत्ति होती है तब आकाशादि तीन में भी अवकाशदान, गतिपोषकत्व और स्थितिकारकत्व रूप स्वभाव उत्पन्न होता

विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो । समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥३४॥

विगमस्याप्येष एव द्विरूपो भेदः — स्वाभाविकः प्रयोगजनितश्चेति, तद्द्वयातिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात् पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्तरावस्थोत्पत्त्यनुपपत्तेः । न हि बीजादीनामविनाशोऽङ्कुरादिकार्यप्रादुर्भावो दृष्टः । न चावगाह-गति-स्थित्याधारत्वं तदनाधारत्वस्वभावप्राक्तनावस्थाध्वंसमन्तरेण सम्भवति । तत्र समुदयजनितो यो विनाशः स उभयत्रापि द्विविधः, एकः समुदयविभागमात्रप्रकारो विनाशः यथा पटादेः कार्यस्य तत्कारणपृथक्करणे तन्तुविभागमात्रम्, द्वितीयप्रकारस्त्वर्थान्तरभावगमनं विनाशः यथा मृत्पिण्डस्य घटार्थान्तरभावेनोत्पादो विनाशः । न चार्थान्तररूपविनाशविनाशे मृत्पिण्डप्रादुर्भावप्रसक्तिरिति वक्तव्यम्, पूर्वोत्तरकालावस्थयोरसंकीर्णत्वात् अतीततरत्वेन प्राक्तनावस्थाया उत्पत्तेः अतीतस्य च वर्तमानताऽयोगात् तयोः स्वस्वभावाऽपरित्यागतस्तथानियतत्वात् तुच्छरूपस्य ह्यभावस्याभावः स्यादपि तद(?द)भावरूपः, न तु वस्त्वन्तरादुपजायमानं वस्त्वन्तरमतीततरावस्थारूपं भवितुमर्हति तरतमप्रत्ययार्थव्यवहाराभावप्रसक्तेः । प्रतिपादितं च कस्यचिद् रूपस्य निवृत्त्या रूपान्तरगमनं वस्तुनः प्राक्, है, ये तीन स्वभाव सर्वद्रव्य साधारण न होने से विशिष्ट कार्यरूप हैं । जो विशिष्ट कार्य होते हैं वे विशिष्ट कारणपूर्वक ही होने चाहिये । अतः अवकाशप्रदानरूप असाधारणकार्य के विशिष्टकारणरूप में सिद्ध होनेवाले द्रव्य की सिद्धान्तानुसार 'आकाश' संज्ञा की गयी है, गतिसहायकत्वरूप विशिष्ट कार्य के जनकरूप में सिद्ध होने वाले द्रव्य की 'धर्मास्तिकाय' संज्ञा की गयी है । और स्थितिकारकत्वरूप विशिष्ट कार्य के उत्पादकरूप में सिद्ध होनेवाले द्रव्य की, सिद्धान्तानुसार अधर्मास्तिकाय संज्ञा की गयी है ॥३३॥

❀ विनाश के विविध प्रकारों का व्युत्पादन ❀

उत्पाद की तरह विनाश की बात करते हैं —

मूलगार्थ :- विनाश का भी विधि वही है (जो उत्पाद का है) समुदयजनित के दो भेद हैं - १, समुदायविभागमात्र और २, अर्थान्तरभावगमन ॥३४॥

व्याख्यार्थ :- उत्पाद की तरह विनाश के भी दो भेद हैं - १ स्वाभाविक और २ - प्रयोगजन्य । ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इन दोनों की जुगलबन्दी का शिकार न बनती हो । इन दो प्रकार के विनाश का साम्राज्य पूरे वस्तुजगत् पर छाया हुआ है । कारण, हर कोई वस्तु नयी अवस्था धारण करके उत्पन्न होती ही रहती है, किन्तु पूर्व अवस्था का विनाश हुये विना नयी अवस्था की उत्पत्ति अशक्य है । कहीं भी अंकुरादि कार्य का उद्भव बीजादि के विनाश के विना होता हो ऐसा दीखता नहीं है । आकाशादि में जो अवगाहना, गति और स्थिति कार्य की आधारता उत्पन्न होती है वह ऐसे ही नहीं होती, आकाश में पूर्वकालीन अनाधारता स्वरूप अवस्था का विनाश होता है तब आधारतापर्याय उत्पन्न होता है ।

विनाश के जो दो प्रकार हैं उन में से पहला प्रयोगजनित जो है उसका प्रयोगजन्य उत्पाद की तरह एक ही भेद है समुदायजनित । स्वाभाविक विनाश का स्वाभाविक उत्पाद की तरह दो भेद हैं - १समुदायजनित और २'ऐकत्विक' । प्रयोगजन्य और स्वाभाविक दोनों ही समुदायजनित विनाश के दो भेद हैं समुदायविभाजनकृत और अर्थान्तरगमनरूप । १पहला है (a) समुदायान्तर्गत अवयवों का विभाजन हो जाना । एक वस्त्ररूप कार्य के अनेक खंड किये जाय अथवा उसके कारणभूत एक एक तन्तु अलग कर दिया जाय तो वस्त्र का विनाश

इति न पुनरभिधीयते ॥३४॥ ❖

न चोत्पाद-विनाशयोरैकान्तिकतद्रूपताऽभ्युपगमेऽनेकान्तवादव्याघातः, कथंचित् तयोस्तद्रूपताऽभ्यु-
पगमात् । तदाह -

हो जायेगा वह समुदयजनित प्रयोगजन्य विनाश है । (b) प्रचंड वातविस्फोट से बड़े बड़े मकान गिर जाय तो वह स्वाभाविक समुदयकृत विनाश है । २ (a) मिट्टी के पिण्ड में से जब घट उत्पन्न होता है तब मिट्टी का घटरूप अर्थान्तर में परिणत हो जाना यही मिट्टीपिण्ड का विनाश है, यह प्रयोगजनित अर्थान्तरगमनरूप विनाश है । (b) गर्मी में बर्फ का पानी हो जाना, यहाँ बर्फ का स्वाभाविक अर्थान्तरगमनरूप विनाश है ।

स्वाभाविक विनाश का जो ऐकत्विक भेद है वह उत्पाद की तरह समझ लेना । उदा० अवगाहादि की अनाधारता का विनाश ।

❖ मिट्टीपिण्ड के पुनरुन्मज्जन की आपत्ति का उद्धार ❖

मिट्टीपिण्ड के अर्थान्तरगमनरूप विनाश के बारे में यदि ऐसी शंका की जाय कि - घटरूप अर्थान्तर (जो कि मिट्टीपिण्ड का विनाश ही है उस) का विनाश होगा तो पुनः मिट्टीपिण्ड का प्रादुर्भाव हो जायेगा' - तो वह वाजिब नहीं है क्योंकि मिट्टी का पिण्ड यह घट की पूर्वकालावस्था है और घटनाश यह घट की उत्तरकालीनावस्था है, स्वभावतः ये दोनों अवस्था असंकीर्ण होती है, असंकीर्ण का मतलब यह है कि किसी काल में किसी भी देश में घट की पूर्वावस्था उत्तरकालावस्थास्वरूप को धारण नहीं करती और उत्तरकालावस्था पूर्वावस्थास्वरूप को धारण नहीं करती, इस प्रकार पूर्वोत्तरावस्था का नियत पौर्वापर्य भाव होता है, यदि घटनाशकाल में मिट्टीपिण्ड का प्रादुर्भाव मानेंगे तो इस नियत पौर्वापर्यभाव का भंग हो जायेगा, क्योंकि पूर्वावस्था तब उत्तरावस्था का रूप धारण कर लेगी । हाँ, होगा तो यह होगा कि घटकाल में जो मिट्टीपिण्ड-पूर्वावस्था अतीत है वह घटनाशकाल में और भी अधिक अतीत होने से अतीततर बनेगी, किंतु उत्तरावस्था का रूप यानी वर्तमानतास्वरूप को कैसे धारण करेगी ? अतीत कभी वर्तमानता का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सकता । ऐसा स्वभाव है कि भावि-अवस्था क्रमशः वर्तमान और अतीत बनती है, वर्तमानावस्था स्वकाल में वर्तमान होती है और बाद में अतीत होती है, अतीतावस्था का स्वभाव है कि वह दिन-प्रतिदिन अतीततर, अतीततम होती है । इस स्वभाव का अतिक्रमण करके अतीतपूर्वावस्था वर्तमान बन जाय और वर्तमान अवस्था (घटनाश) स्वकाल में पूर्वावस्थारूप यानी अतीतात्मक बन जाय ऐसा शक्य नहीं है । हाँ, यदि हम मिट्टीपिण्ड के विनाश को वस्तुभूत घटात्मक न मान कर सर्वथा तुच्छ-असत् मानते तब तो उस मिट्टीपिण्ड के तुच्छ अभावात्मक विनाश का अभाव तद्भावरूप यानी मिट्टीपिण्डात्मक होने की आपत्ति हो सकती थी । यहाँ तो एक वस्तु से अपने विनाश के रूप में तुच्छ अभाव नहीं किन्तु दूसरी वस्तु ही उत्पन्न हो रही है, वह दूसरी वस्तु यानी ठीकरीयाँ तो अभी वर्तमान है, उस काल में मिट्टीपिण्ड अवस्था तो अतीततर है, जो वस्तुरूप वर्तमानावस्था वर्तमान में है वह वर्तमान में ही अतीततर कैसे हो सकती है ? यदि अतीत अवस्था उत्तरकाल में क्रमशः अतीततर और अतीततम होने के बदले उत्तरकालावस्था को धारण कर लेगी तब तो सारे विश्व में 'तर-तम' ये दो व्याकरणप्रत्यय लगा कर जो प्राचीन-प्राचीनतर-प्राचीनतम आदि का व्यवहार किया जाता है उसका विलोप ही हो जायेगा । पहले इस गाथा की व्याख्या के आरम्भ में यह कह दिया है कि वस्तु की किसी एक अवस्था का विनाश होने पर अन्य अवस्था (न कि पूर्वावस्था) उत्पन्न होती है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं ॥३४॥

❖ ऐकत्विकनाशश्चैकत्विकोत्पादवद् वैस्रसिकभेद एवेति स्याद्वादकल्पातायामुक्तम् सप्तमस्तबके । व्याख्याकृद्भिश्च नात्र किञ्चिदुल्लेखः कृतः ।

तिणि वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य ।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा ॥३५॥^ख

त्रयोप्युत्पाद-विगम-स्थितिस्वभावाः परस्परतोऽन्यकालाः, यतो न पटादेरुत्पादसमय एव विनाशः तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः । नाऽपि तद्विनाशसमये तस्यैवोत्पत्तिः, अविनाशापत्तेः । न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, तद्रूपेणैवावस्थितस्यानवस्थाप्रसक्तितः प्रादुर्भावाऽयोगात् । न च घटरूपमृत्स्थितिकाले तस्याः विनाशः, तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशानुपपत्तेः । न च घटविनाशविशिष्टमृत्काले तस्या एवोत्पादो दृष्टः । नापि तदुत्पादविशिष्टमृत्समये तस्या एव ध्वंसोऽनुत्पत्तिप्रसंगत एव युक्तः । ततस्त्रयाणामपि भिन्नकालत्वात् तद् द्रव्यमर्थान्तरं = नानास्वभावम्, न ह्यन्योन्यव्यतिरिक्तकालोत्पाद-विगम-ध्रौव्याऽव्यतिरिक्तमेकस्वरूपं द्रव्यमुपपद्यते तस्य तेभ्यो भेदप्रसक्तेः ।

✽ उत्पाद-विनाश-स्थितियों का काल से भेदाभेद ✽

अर्थान्तरगमनस्वरूप विनाश के विवरण में यह जो कहा है कि मिट्टी के पिण्ड का विनाश और घटोत्पाद अभिन्न है, उस से ऐसा नहीं समझ लेना कि - 'उत्पाद और विनाश में एकान्ततः अभेदरूपता ही होती है इसलिये अनेकान्तवाद में व्याघात आयेगा।' - व्याघात को अवकाश इसलिये नहीं है कि उत्पाद-विनाश को हम कथंचिद् एकरूप मानते हैं, सर्वथा एकरूप नहीं। यह तथ्य निम्नोक्त गाथाविवरण से स्पष्ट हो जायेगा -

मूलगाथार्थ :- उत्पाद-विनाश और स्थिति ये तीनों ही अभिन्नकालीन और भिन्नकालीन होते हैं, तथा द्रव्य से अर्थान्तर और अनर्थान्तर होते हैं ॥३५॥

व्याख्यार्थ :- उत्पादस्वभाव, विनाशस्वभाव और स्थितिस्वभाव ये तीनों स्वभाव अन्योन्य भिन्नकालीन होते हैं। (व्याख्या में पहले भिन्नकालीन की और बाद में अभिन्नकालीन की चर्चा है जब कि मूलगाथा में पहले अभिन्नकालीन और बाद में भिन्नकालीन की बात है।) यहाँ पहले ऽघट-पटादि अवस्थाओं (पर्यायों) के उत्पादादि में भेद बताया जायेगा, फिर ऽघटपर्याय से विशिष्ट मिट्टी की उत्पत्ति आदि में भिन्नकालता दिखायी जायेगी। ऽपश्चात् उसके भिन्न भिन्न प्रतियोगिक उत्पादादि में अभिन्नकालीनता दीखायी जायेगी। ऽपहले कहते हैं कि वस्त्र या घटादि के उत्पत्तिकाल में उसी घट या वस्त्र का विनाश असम्भव है, क्योंकि विनाशसामग्री उत्पत्तिविरोधी होने से उस समय में घट की उत्पत्ति को ही रोक देगी। तथा घट के विनाशकाल में घट की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है, क्योंकि उत्पादक सामग्री संनिहित रहेगी तो विनाश को ही रोक देगी। घट की उत्पत्ति के काल में घट की अवस्थिति भी नहीं मान सकते, क्योंकि यदि उस काल में घटरूप से घट की अवस्थिति के होने पर भी उत्पत्ति को लब्धावसर मानेंगे तो उसके उत्तरक्षण में... उस के उत्तरक्षण में... इस प्रकार यावदव-स्थितिकाल में उत्पत्ति की ही परम्परारूप अनवस्था प्रसक्त होगी, फलतः अनवस्था दोष के कारण उत्पत्ति अप्रामाणिक बन जाने से घट कभी उत्पन्न ही नहीं हो पायेगा। इस प्रकार घट के उत्पादादि भिन्नकालीन

✽ स्या० क० प्रथमस्तबके अस्या भावार्थ एवं निरूपितः - 'अत्रैकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वोत्पाद-स्थिति-विगमानां भिन्नकालता, यथा घटोत्पादसमये घटविशिष्टमृदुत्पादसमये वा न तद्विनाशः अनुत्पत्तिप्रसक्तेः । नापि तद्विनाशसमये तदुत्पत्तिः, अविनाशप्रसक्तेः । न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, तद्रूपेणावस्थितस्यानवस्था प्रसक्त्या प्रादुर्भावाऽयोगात् । अतो द्रव्यादर्थान्तरभूतास्ते, अनेकरूपाणामेकद्रव्यरूपत्वायोगात् । भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्य निरूपितत्वेन वाऽभिन्नकालता, यथा कुशूलतद्विशिष्टमृत्नाश-घटतद्विशिष्टमृदुत्पाद-मृत्स्थितीनाम् । अत एकरूप्येण द्रव्यादनर्थान्तरभूतत्वमिति सम्प्रदायः ।

न च तद् भिन्नमेवास्तु तत्रितयविकलस्य तस्य तथाऽनुपलब्धितोऽसत्त्वात् । न चैकस्य द्रव्यस्याभावाद्नेकान्ताभावप्रसक्तिः, यतोऽभिन्नकालाश्रोत्पादादयः । न हि कुशूलविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता अन्यथा विनाशात् कार्योत्पत्तिः स्यात्, घटाद्युत्तरपर्यायानुत्पत्तावपि प्राक्तनपर्यायध्वंसप्रसक्तिश्च स्यात् ।

पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादक्रियाया निराधाराया अयोगात् तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्या । न च क्रियाफलमेव क्रियाधारः तस्य प्रागसत्त्वात्, सत्त्वे वा क्रियावैफल्यात्तत्स्रयाणामभिन्नकालत्वात् तदव्यतिरिक्तं द्रव्यमभिन्नं न नाना । न च घटोत्पाद-विनाशापेक्षया भिन्नकालतयाऽर्थान्तरत्वम् कुशूलघटविनाशोत्पादापेक्षया अभिन्नकालत्वेनानर्थान्तरत्वादेकान्त इति वक्तव्यम्, द्रव्यस्य पूर्वावस्थायां भिन्नाऽभिन्नतया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायामपि भिन्नाऽभिन्नतया तस्यैव प्रतीतेरनेकान्ताऽव्याहतेः । न चाऽबाधिताऽध्यक्षादिप्रतिपत्तिविषयस्य तस्य विरोधाद्युद्भावनं युक्तिसंगतम् सर्वप्रमाण-प्रमेयव्यवहारविलोपप्रसंगात् ।

सिद्ध हुए । अब घटविशिष्ट मिट्टी की बात करते हैं - घटात्मकमिट्टी का जब स्थितिकाल प्रवर्तमान है तब उस काल में उस का विनाश संगत नहीं है, क्योंकि घटरूप से मिट्टी की स्थिति यह घटरूप से मिट्टी के विनाश की विरोधिनी है । तथा, घटविनाशविशिष्ट जो मिट्टी काल है जो कि कथंचिद् मिट्टी का भी विनाशकाल ही है, उस काल में घट के रूप में उसकी उत्पत्ति का कहीं भी दर्शन ही सम्भव नहीं है । तथा, घटोत्पत्तिविशिष्ट मिट्टीकाल में उसका विनाश भी संभव नहीं है, क्योंकि तब उसकी उत्पत्ति अशक्य बन जायेगी ।

इस प्रकार घट के उत्पाद-विनाश-स्थिति अथवा घटविशिष्टमिट्टीद्रव्य के उत्पाद-विनाश-स्थिति ये भिन्नकालीन होने से वह घटद्रव्य या घटपर्यायविशिष्ट मिट्टी द्रव्य अर्थान्तरभूत यानी विविधस्वभावों का अनुभव करता है, अर्थात् उत्पत्तिकालीनद्रव्य स्थिति-विनाशकालीन द्रव्यों से कथंचिद् भिन्न है; स्थितिकालीनद्रव्य उत्पत्ति-विनाशकालीन द्रव्य से कथंचिद् भिन्न है; तथा विनाशकालीन द्रव्य अपरद्रव्यकालीन द्रव्य से कथंचिद् भिन्न है । कारण, परस्पर भिन्नकालीन उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, एकस्वरूप द्रव्य से अव्यतिरिक्त नहीं रह सकता । तात्पर्य, भिन्नकालीन उत्पादादि, अपने से अभिन्न द्रव्य का, भिन्नकालीन स्थितिआदि से अभिन्न द्रव्य से, भेदक बन जाते हैं । अन्यथा, उस द्रव्य का उत्पादादि से भेद प्रसक्त हो सकता है ।

यदि कहें कि 'द्रव्य और उत्पादादि के बीच में भेद ही माना जाय' तो वह ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि और द्रव्य के बीच अगर भेद माना जायेगा तो द्रव्य स्वतः उत्पादादिशून्य हो जाने से उपलब्धियोग्य भी न रहने से असत् हो जाने की विपदा होगी । उत्पत्तिविशिष्ट द्रव्य, स्थितिविशिष्ट द्रव्य और विनाशविशिष्ट द्रव्य में उत्पत्तिआदिभेदप्रयुक्त भेद मानने का ऐसा मतलब नहीं है कि एकान्त भेद प्रसक्त होने से अनेकान्त का विलोप हो जाय, क्योंकि कथंचिद् भिन्नकालीन उत्पादादि कथंचिद् अभिन्नकालीन भी होते हैं । कुशूल यह मिट्टी की घटपूर्वकालीन अवस्थाविशेष है, उसका जिस समय नाश होता है उसी वक्त उत्तरावस्थारूप घट की उत्पत्ति होती है । अतः कुशूलविनाश और घटोत्पत्ति ये दोनों में भिन्नकालता नहीं होती । यदि कुशूलविनाश के उत्तरक्षण में घटरूपकार्य की उत्पत्ति मानेंगे तो तुच्छ विनाश से भावात्मक घट की उत्पत्ति मानने की विपदा आयेगी, यदि विनाश को घट का उत्पादक नहीं मानेंगे तो यह संभावना भी रह जायेगी कि कदाचित् उत्तरक्षण में घटावस्था की उत्पत्ति न होने पर भी कुशूलपर्याय का नाश हो जाय, क्योंकि न तो विनाश उस का उत्पादक है न तो विनाश की पूर्वावस्था यानी कुशूल । यदि कुशूल के चरमक्षण से घट का उत्पाद मानना है तब तो कुशूल के नाशक्षण में ही घट का उत्पाद मानना होगा ।

अत एव अर्थान्तरमनर्थान्तरं चोत्पादादयो द्रव्यात्, तद्वा तेभ्यस्तथेति प्रतिज्ञेयम्, द्रव्यात् = तथाभूततद्ग्राहकत्वपरिणतादात्मलक्षणात् प्रमाणादित्यपि व्याख्येयम् । न हि तथाभूतप्रमाणप्रवृत्तिस्तथा-भूतार्थमन्तरेणोपपन्ना धूम इव धूमध्वजमन्तरेण, संवेद्यते च तथाभूतग्राह्यग्राहकरूपतया अनेकान्तात्मकं स्वसंवेदनतः प्रमाणमिति न तदपलापः कर्तुं शक्यः, अन्यथाऽतिप्रसंगात् ।

यद्वा देशादिविप्रकृष्टा उत्पत्ति-विनाश-स्थितिस्वभावा भिन्नाभिन्नकाला अर्थान्तरानर्थान्तररूपाः द्रव्यत्वात् = द्रव्याऽव्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः, अन्यथोत्पादादीनामभावप्रसक्तेः तेभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरान-र्थान्तरम् द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशता च हेतोर्नाशकनीया द्रव्यविशेषे साध्ये द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनो-

❀ विनाशोत्पाद के आधारभूत द्रव्य की त्रैकालिक स्थिति ❀

जब इस ढंग से विनाशोत्पाद समकालीन सिद्ध होते हैं तो समानकाल में विनाशोत्पाद के आधारभूतद्रव्य की स्थिति का भी स्वीकार अनिवार्य है, क्योंकि आधार ही नहीं होगा तो पूर्वपर्याय का नाश और उस क्षण में उत्तर पर्याय की उत्पत्ति क्रिया किस के आलम्बन से होगी ? बिना आलम्बन वह अशक्य है । यदि कहें कि - 'उत्पत्तिक्रिया का फल यानी कुशूलनाश के बाद उत्पन्न होनेवाला फलरूप घट ही उत्पत्तिक्रिया का आधार बनेगा' - तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि फल तो पूर्वकाल की उत्पत्तिक्रिया के वक्त विद्यमान ही नहीं है, यदि विद्यमान है तब तो उत्पत्तिक्रिया ही निष्फल हो जायेगी । निष्कर्ष, उत्पाद-स्थिति और विनाश तीनों उक्तरीति से समानकालीन होने से, तीनों से अभिन्न द्रव्य भी तीनों के आधारभूत एक ही है अलग अलग नहीं है ।

यदि ऐसा कहा जाय - 'घट के उत्पाद-विनाश भिन्नकालीन होने से, उन की अपेक्षा से देखे तो द्रव्य भी भिन्न भिन्न है अभिन्न नहीं - मतलब कि तब एकान्त भेद है । तथा, कुशूल का विनाश और घट का उत्पाद समकालीन है इसलिये उनका आधारभूत द्रव्य अलग अलग नहीं किन्तु एकान्त से अभिन्न ही हैं । इस प्रकार दोनों ओर एकान्त सिर उठायेगा ।' - तो यह गलत है, क्योंकि द्रव्य की पूर्वावस्था में भी द्रव्य उस अवस्था से पूर्वोक्त ढंग से कथंचिद् भिन्नाभिन्न ही प्रतीत होता है और उत्तर अवस्था में भी द्रव्य उससे वैसा ही प्रतीत होता है तब कैसे अनेकान्त को चोट पहुँचेगी ? जो निर्बाध प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय होता है उस में विरोध का उद्भावन करना बुद्धिमानी नहीं है, अन्यथा प्रमाणभूत प्रत्यक्ष ही अविश्वसनीय हो जाने से उसके उपजीवक और भी सब प्रमाण अविश्वसनीय हो जायेंगे, फलतः प्रमेयमात्र का व्यवहार भी लुप्त हो जाने का अतिप्रसंग होगा ।

❀ अर्थान्तर-अनर्थान्तरत्व साधक अनुमान ❀

अनेकान्त प्रत्यक्षसिद्ध है इसीलिये, मूलगाथा के उत्तरार्थ की व्याख्या अनुमान-प्रदर्शन के रूप में भी की जा सकती है - जैसे - उत्पादादि तीनों अपने द्रव्य से अर्थान्तर और अनर्थान्तर उभय हैं, यह प्रतिज्ञा है, अथवा ऐसी भी प्रतिज्ञा की जा सकती है कि द्रव्य उत्पादादित्रय से अर्थान्तर और अनर्थान्तर उभय है, इस में हेतु है द्रव्य । यहाँ द्रव्य को हेतु बता कर यह कहना चाहते हैं कि उत्पादादित्रय को अथवा द्रव्य को, एक-दूसरे से कुछ अंश में अर्थान्तरभूत और कुछ अंश में अनर्थान्तरभूत रूप से, ग्रहण करने की क्रिया में परिणत (प्रत्यक्षादि) प्रमाण (ऐसा प्रमाण ही द्रव्यशब्दार्थ अभिप्रेत है जिस को हेतु किया गया है -) उक्त प्रतिज्ञा को सिद्ध करता है । जैसे अग्नि के विना धूम की सत्ता घट नहीं सकती वैसे ही द्रव्य और उत्पादादि के बीच अर्थान्तरत्व-अनर्थान्तरत्व उभय के विना, उनका उस रूप से ग्रहण करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण की

पन्यासात् ॥३५॥

अत्रैवार्थे प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह -

जो आउंचणकालो सो चव पसारियस्स वि ण जुत्तो ।

तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं णत्थि ॥३६॥

य आकुञ्चनकालोऽङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य स एव तत्प्रसारणस्य न युक्तः भिन्नकालतया आकुञ्चन-प्रसारण-योः प्रतीतेस्तयोर्भेदः, अन्यथा तयोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तम् । तत्तत्पर्यायाभिन्नस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्यापि तथाविधत्वात् तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा तदनुपलम्भात्; अभिन्नं च तदवस्थयोस्तस्यैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । तयोः पुनरुत्पादविनाशयोः प्रतिपत्तिश्च = प्रादुर्भावः, विगमश्च = विपत्तिः - प्रतिपत्ति-विगमं तत्र कालान्तरं भिन्नकालत्वमङ्गुलीद्रव्यस्य च नास्ति । पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पत्त्य-

प्रवृत्ति भी घट नहीं सकती । स्वयंप्रकाशी प्रमाण से जब इस प्रकार स्पष्ट संवेदन होता है कि - द्रव्य और उत्पादादि कथंचिद् भिन्नाभिन्न है और उसकी ग्रहण क्रिया में वैसे ही प्रत्यक्षप्रमाण परिणत है - तब उस का अपलाप कैसे हो सकता है ? यदि प्रमाणसिद्ध वस्तु का अपलाप करने जायेंगे तो बहुत बड़ा अनिष्ट होगा कि सारे जगत का व्यवहार ठप हो जायेगा ।

✽ अर्थान्तर-अनर्थान्तरत्वसाधक अन्य दो अनुमान ✽

व्याख्याकार और भी दो अनुमान सूचित करते हैं, (१) भिन्नकालीन या अभिन्नकालीन एवं देशभेद और स्वभावभेद से विभिन्न ऐसे उत्पादस्वभाव, विनाशस्वभाव और स्थितिस्वभाव परस्पर कथंचिद् अर्थान्तर और अनर्थान्तररूप होते हैं, क्योंकि ये सब द्रव्यात्मक हैं, अर्थात् द्रव्य से अव्यतिरिक्त हैं । विपक्ष में बाधक यह है कि यदि द्रव्य से अव्यतिरिक्त होने पर भी वे परस्पर सर्वथा भिन्न होंगे तो द्रव्य के साथ अभेद को गवाँ देने के कारण निराधार हो कर असत् हो जायेंगे ।

(२) ऐसा भी अनुमान कर सकते हैं कि द्रव्य उत्पादादिस्वभावत्रय से कथंचिद् अर्थान्तर-अनर्थान्तररूप होता है, क्योंकि वह द्रव्य है । हालाँकि, यहाँ पक्ष के रूप में द्रव्य प्रतिज्ञा में शामिल है और द्रव्य(त्व) ही हेतु है इसलिये हेतु में प्रतिज्ञातअर्थएकदेशतारूप दोष की आशंका हो सकती है । किन्तु वास्तव में वह दोष निरवकाश है क्योंकि हेतु तो द्रव्यसामान्य है जब कि विशिष्टद्रव्य यानी अर्थान्तरअनर्थान्तररोभयत्वविशिष्ट द्रव्य साध्य है, इस प्रकार विशिष्ट और सामान्य में कथंचिद् भेद होने से कोई दोष नहीं है, जैसे-अग्नि उष्ण है क्योंकि अग्नि है, इस स्थल में उष्णत्व विशिष्ट अग्नि की सिद्धि के लिये अग्निसामान्य को हेतु किया जाता है तब कोई दोष नहीं होता ॥३५॥

✽ आकुञ्चन-प्रसारण का उदाहरण ✽

भिन्नकालता और अभिन्नकालता को स्पष्ट दिखाने के लिये ३६वे सूत्र में प्रत्यक्ष-उपलब्ध दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं -

मूलगाथार्थ :- जो संकुचनकाल है वही प्रसारण का काल नहीं होता । उन के प्रतिपत्ति और विगम में भिन्नकालता नहीं होती (अथवा होती है ।) ॥३६॥

व्याख्यार्थ :- अंगुली आदि जो संकोच-विकासधर्मी द्रव्य है, जिस काल में वह संकोचावस्था में है उसी काल में प्रसारण अवस्था का होना न्यायसंगत नहीं है । संकोच-विस्तार ये दोनों क्रिया भिन्नकालीन प्रतीत

ङुलिद्रव्यावस्थितीनामभिन्नकालता अभिन्नरूपता च प्रतीयते, एकस्यैव द्रव्यस्य तथाविवर्त्तात्मकस्या-
ध्यक्षतः प्रतीतेः ।

अथवा, 'कालान्तरं नास्ति' इत्यत्र 'अ'कारप्रश्लेषाद् नञश्चोपादानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः
कालान्तरं कालभेद उत्पादादेर्द्रव्यस्य चास्तीति कथंचिद् भेद इत्यर्थः, कथंचिद् भेदेनापि प्रतिपत्तेः ।
तेनोत्पत्ति-विनाश-स्थितीनां परस्पररूपपरित्यागाऽपरित्याग-प्रवृत्तप्रत्येकत्रयात्मकैकरूपत्वेऽपि न वर्त्तमान-
पर्यायात्मकस्यैवाऽतीताऽनागतकालयोः सत्त्वम् वस्तुनस्त्रयात्मकत्वाभ्युपगमात् । अतीताऽनागतकालयोरपि
तद्रूपेण सत्त्वे उत्पाद-विनाशयोरभावेन कथं त्रयात्मकत्वं तस्य भवेत् ? द्रव्यस्योत्पत्ति-विनाशनिमित्तत्वादती-

होती है इसलिये संकोच-विस्तार दोनों अवस्था में भेद सिद्ध होता है । यदि उन दोनों में भेद नहीं माना
जाय तो परस्पर विरुद्ध ये दो अवस्था अपने स्वरूप को खो बैठेगी; जैसे आग पानी हो जाय या पानी आग
बन जाय तो अपने स्वरूप को खो बैठते हैं । पूर्वकालीन संकोचावस्थावाला अंगुलीद्रव्य और उत्तरकालीन विस्तरणा-
वस्थावाला अंगुलीद्रव्य, ये दोनों अपनी अपनी परस्परविरुद्ध अवस्था से अभेद रखते हैं इसलिये उस में भी
भेद का स्वीकार अनिवार्य हो जाता है । यदि भिन्न भिन्न अवस्थावाले द्रव्य को एक मानेंगे तो परस्पर विरोध
होने के कारण किसी एक के रहने में विनिगमना न होने पर, उन दोनों की उपलब्धि स्थगित हो जायेगी ।
स्याद्वाद सर्वोपरि है, इसलिये उन में सर्वथा भेद नहीं किंतु कथंचिद् अभेद भी मान्य है, क्योंकि पूर्वोत्तर अवस्था
में भी 'यह वही अंगुलीद्रव्य है' इस प्रकार एकत्वाध्यवसायरूप निर्बाध प्रत्यभिज्ञा होती है ।

संकोच-विकास अवस्था के जो उत्पाद-विनाश हैं, अर्थात् संकोचावस्था का प्रादुर्भाव और विकास अवस्था
का विगम, इन में भिन्नकालता नहीं होती । तात्पर्य, उन दोनों के आधारभूत अंगुलीद्रव्य में, संकोचप्रादुर्भाव
और विकासविगम अवस्था समकालीन होने से भेद मानने की जरूर नहीं रहती, अतः भिन्न भिन्न अंगुलीद्रव्य
मान कर उन में कालभेद मानने की भी जरूर नहीं है । यहाँ स्पष्ट प्रतीति होती है कि विस्तारात्मक पूर्वपर्याय
का नाश, संकोचात्माक उत्तर पर्याय का प्रादुर्भाव और अंगुलीद्रव्य की सातत्यात्मक स्थिति ये तीनों एक ही
हैं और समानकालीन हैं; वास्तविकता यह है कि यहाँ प्रत्यक्ष से ही यह प्रतीत होता है कि एक ही अंगुली
आदि द्रव्य सतत संकोच-विस्तार आदि पृथक् पृथक् विवर्त्तों में अभेदभाव से अनुवर्त्तमान रहता है ।

✽ अतीत-अनागत-वर्त्तमान पर्यायो में कथंचिद् भेद ✽

मूल सूत्र के उत्तरार्थ में 'कालन्तरं णत्थि' इस अंश की व्याख्या दूसरे ढंग से करते हुए व्याख्याकार कहते
हैं कि 'विगमे' शब्द के बाद संधिनियमानुसार लुप्त 'अ'कार को 'कालन्तरं' के साथ जोड़ने पर 'अकालान्तर
नहीं है' ऐसा वाक्य फलित होता है । इस में दो निषेध होने से 'कालान्तरं है' ऐसा विधेयार्थ प्राप्त होता
है । इस का भावार्थ यह है कि द्रव्य के उत्पादादि में कालभेद होने से द्रव्य में भी कथंचिद् भेद है, क्योंकि
भिन्न भिन्न काल में भेद से ही द्रव्य प्रतीत होता है । इस से यह निष्कर्ष निकलेगा कि यद्यपि उत्पत्ति, विनाश
और स्थिति ये तीनों, परस्पर का परिहार कर के एवं सहवर्त्ती हो कर रहने वाले एक एक करके उन तीनों
के साथ अभेदभावापन्न जो द्रव्य हैं उस के साथ एकरूपता रखनेवाले हैं, फिर भी, कालभेद अपरिहार्य होने
से जो वर्त्तमानपर्यायात्मक वस्तु है वह अतीत या अनागत काल में अस्तित्वधारक नहीं होती । कारण, वस्तु
को उत्पादादित्रयात्मक मानी गयी है । यह त्रयात्मकता तभी घट सकती है जब वर्त्तमानपर्याय अतीत-अनागत
से भिन्न हो । यदि वर्त्तमानपर्याय अपने व्यक्तिरूप से अतीत और अनागतकाल में भी सत्ताशाली रहेगा, तब
शाश्वत हो जाने से, उस के उत्पाद-विनाश की कथा ही समाप्त हो जायेगी तो फिर वस्तु की त्रयात्मकता

तादितायाः, अन्यथा वर्त्तमानवत् तदभावात् । न च तत्पर्यायस्यातीतानागतकालयोरभावे कथं नित्यत्व-
मिति वाच्यम्, कथंचित् तस्याभ्युपगमात् परित्यक्तोपादित्यमानपूर्वोत्तरपर्यायस्यान्यान्यवेषपरित्यागो-
पादानैकनटपुरुषवद् द्रव्यस्य विवर्त्तात्मकत्वात् । सर्वथा नित्यत्वे पूर्वोत्तरव्यपदेशाभावप्रसक्तेः । सर्वथाऽ-
नित्यत्वेऽप्युभयत्रैकप्रतिभासव्यपदेशादिव्यवहाराभावश्च स्यात् । न चैकानेकत्वप्रतिभासो मिथ्या । ततो
यदेव विनष्टं शिवकरूपतया तदेवोत्पन्नं मृद्द्रव्यं घटादिरूपतया अवस्थितं च मृत्त्वेनेति त्र्यात्मकं तत्
सर्वदा द्रव्यमिति व्यवस्थितम् ॥३६॥

यथोत्पाद-व्यय-स्थितीनां प्रत्येकमेकैकं रूपं तथा भूत-वर्त्तमान-भविष्यद्भिरप्येकैकं रूपं त्रिकालता-
मासादयतीत्येतेदेवाह -

उपपज्जमाणकालं उपपण्णं ति विगयं विगच्छन्तं ।

दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥३७॥

उत्पद्यमानसमय एव किंचित् पटद्रव्यं तावदुत्पन्नं - यद्येकतन्तुप्रवेशक्रियासमये तद् द्रव्यं तेन
रूपेण नोत्पन्नं तर्ह्युत्तरत्रापि तन्नोत्पन्नमित्यत्यन्तानुत्पत्तिप्रसक्तिस्तस्य स्यात् । न चोत्पन्नांशेन तेनैव
पुनस्तदुत्पद्यते तावन्मात्रपटादिद्रव्योत्पत्तिप्रसक्तेरुत्तरोत्तरक्रियाक्षणस्य तावन्मात्रफलोत्पादने एव प्रक्षयाद्

कैसे घटेगी ? अतीतत्व द्रव्यविनाशमूलक है और अनागतत्व द्रव्योत्पादमूलक है, ऐसा अगर नहीं मानेंगे तो
वर्त्तमान में जैसे उत्पाद-विनाशअन्यतरमूलकत्व नहीं होता वैसे ही अतीत-अनागत में भी क्रमशः विनाशोत्पादमूलकत्व
नहीं रहेगा ।

✽ वर्त्तमान पर्याय की त्रैकालिकता कैसे ? ✽

यदि कहें कि - 'वर्त्तमानपर्याय अतीत-अनागत काल में नहीं रहेगा तो वर्त्तमानपर्याय को नित्य कैसे
बता सकेंगे ?' - तो ऐसा प्रश्न असार है क्योंकि कोई बात एकान्तग्रस्त नहीं है, वर्त्तमान पर्याय को अतीत-
अनागत में कथंचित् विद्यमान होने का इन्कार नहीं करते । जैसे एक ही नटपुरुष पूर्ववेष को बदल कर नये
वेष का अंगीकार करता है वैसे ही द्रव्य भी विवर्त्तात्मक (यानी बार बार अपनी अवस्था का परिवर्त्तन करनेवाला)
होने से पूर्व पर्याय का त्याग और उत्तर पर्याय का ग्रहण करता रहता है अतः द्रव्य के रूप में उस से
कथंचिद् अभिन्न वर्त्तमान पर्याय को नित्य भी मान सकते हैं । लेकिन एकान्त नित्य मानेंगे तो 'पूर्वावस्था'
और 'उत्तरावस्था' ऐसा वचनप्रयोग भी शक्य नहीं रहेगा, क्योंकि एकान्त नित्य पदार्थ सर्वकालव्यापी होता है
। यदि उसे एकान्ततः अनित्य माना जाय तो वह भी संगत नहीं है, क्योंकि पूर्वोत्तर अवस्थाओं में जो एक
ही नटपुरुष का या द्रव्य का प्रमाणभूत प्रतिभास एवं उस के एकत्व का व्यवहार होता है उसके न होने की
आपत्ति होगी । कथंचिद् एकत्व का प्रतिभास भी होता है और कथंचिद् भेद का प्रतिभास भी होता है, दोनों
ही सापेक्ष होने से, उन में से एक को भी मिथ्या नहीं कह सकते ।

निष्कर्ष यह है कि पूर्वकालीन शिवकअवस्थाधारी के रूप में जो मिट्टी द्रव्य विनष्ट हुआ वही घटावस्थाधारी
के रूप में उत्पन्न हुआ और मिट्टी के रूप में अवस्थित रहता है, इस प्रकार द्रव्यमात्र उत्पादादित्रयात्मक होने
का सिद्ध होता है ॥३६॥

✽ त्रिकालविशेषित द्रव्य की प्रज्ञापना ✽

उत्पाद-व्यय और स्थिति, इन तीनों के एक एक का स्वरूप जैसे त्रयात्मक है, वैसे ही वह एक एक

अपरस्य फलान्तरस्याऽनुत्पत्तिप्रसक्तेः । यदि च विद्यमाना एकतन्तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका, विनष्टा सुतरां न भवेत् असत्त्वात् अनुत्पत्त्यवस्थावत् न ह्यनुत्पन्नविनष्टयोरसत्त्वे कश्चिद् विशेषः । ततः प्रथम-क्रियाक्षणः केनचिद् रूपेण द्रव्यमुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ तदेव अंशान्तरेणोत्पादयति अन्यथा क्रिया-क्षणान्तरस्य वैफल्यप्रसक्तेः । एकेनांशोत्पन्नं सद् उत्तरक्रियाक्षणफलांशेन यद्यपूर्वमपूर्वं तद् उत्पद्येत तदोत्पन्नं भवेत् नान्यथेति प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधिं यावद् उत्पद्यमानं प्रबन्धेन तद्रूपत-योत्पन्नम्, अभिप्रेतनिष्ठारूपतया चोत्पत्स्यत इत्युत्पद्यमानम् उत्पन्नमुत्पत्स्यमानं च भवति, एवमुत्पन्नमपि उत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानं च भवति, तथोत्पत्स्यमानमपि उत्पद्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण यथा त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पादादिरेकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते ।

तथाहि — यथा यद् यदैवोत्पद्यते तत् तदैवोत्पन्नम् उत्पत्स्यते च । यद् यदैवोत्पन्नं तत् तदैव

भूत-भविष्य-वर्तमानकाल को ले कर भी — त्रैकालिकभाव प्राप्त करते हैं — यह दिखाते हुए कहते हैं —

मूलगाथार्थ :- उत्पत्ति के क्रिया काल में द्रव्य को 'उत्पन्न' दिखानेवाला और विनाशक्रिया काल में द्रव्य को विनष्ट दिखानेवाला (पुरुष) तीनों काल को विषय के रूप में विशेषित करता है ॥३७॥

व्याख्यार्थ :- कोई एक वस्त्र द्रव्य अपनी उत्पत्तिक्रिया के काल में भी 'उत्पन्न' होता है — इस तथ्य की पुष्टि में कह सकते हैं कि वस्त्रनिर्माण के लिये ऊर्ध्वतन्तुसमूह के भीतर जब प्रथम तीरछे तंतु का प्रवेश कराया जाता है उस समय वह वस्त्र द्रव्य उतने अंश में, (मानों तिरछे हजार तंतुओं का वस्त्र बनने वाला है तो १०००वे अंश में,) उस वस्त्र को 'उत्पन्न' समझना चाहिये । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो उत्तरकाल में दूसरे, तीसरे यावत् चरम तन्तु का प्रवेश कराने पर भी वह अनुत्पन्न ही रहेगा, फलतः वह वस्त्र सदा के लिये सर्वथा अनुत्पन्न होने का अतिप्रसंग होगा । ऐसा नहीं है कि — प्रथमतन्तुप्रवेश होने पर जितने अंश में वह वस्त्र उत्पन्न हुआ, नये नये तन्तुप्रवेशकाल में भी उसी अंश में पुनः पुनः उस वस्त्र की उत्पत्ति ही चलती रहे — यदि ऐसा मानेंगे तो सर्वथा एकतन्तुमात्रप्रमाण वस्त्रादि द्रव्य की उत्पत्ति होने का अतिप्रसंग होगा । कारण, उत्तरोत्तर तन्तुप्रवेश क्रिया सिर्फ एक तन्तुमात्रप्रमाण वस्त्रोत्पादन करके क्षीण होती रहेगी, फलतः तन्तुद्रव्यप्रमाण या तन्तुत्रयप्रमाण आदि नये नये फलस्वरूप वस्त्र का उत्पादन ही नहीं हो पायेगा । अब यह सोचिये कि अपनी विद्यमानता में भी एक तन्तुप्रवेशक्रिया अगर फलोत्पादन नहीं करती तो विनष्ट होने के बाद तो सुतरां नहीं कर पायेगी क्योंकि अनुत्पन्नअवस्था की तरह विनष्ट अवस्था भी असत् है । अनुत्पन्न और विनष्ट इन दोनों अवस्था के असत्त्व में कोई फर्क नहीं है, जिस से कि यह आशा कर सके कि अनुत्पन्न अवस्था में भले कार्य न हो सके लेकिन विनष्ट अवस्था में तो हो सकेगा !

इस से यह निष्कर्ष फलित होता है कि प्रथम क्रियाक्षण कुछ अंश में द्रव्य का उत्पादन करता है, द्वितीय क्रियाक्षण उसी द्रव्य को कुछ अन्य अंश में उत्पन्न करता है; ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो द्वितीयक्षण की क्रिया से उसी अंश में द्रव्य की पुनः उत्पत्ति मानने पर निष्फलता का कलंक लगेगा । सम्पूर्ण वस्त्र की उत्पत्ति की आशा तब कर सकते हैं जब कि एक अंश में वस्त्र उत्पन्न होने के बाद उत्तरोत्तर क्रियाक्षणों के द्वारा अपूर्व-अपूर्व अंश से उस द्रव्य की उत्पत्ति होने का स्वीकार किया जाय, अन्यथा वैसी आशा व्यर्थ होगी । इस प्रकार प्रथमतन्तुप्रवेश से ले कर अन्तिमतन्तुसंयोगपर्यन्त वह द्रव्य परम्परया उत्पद्यमान रह कर उत्पन्न होता है तथा जिन अंशों से उत्पन्न होना बाकी है उन अंशों से उत्पत्स्यमान (=भविष्य में उत्पन्न होने वाला) रहता है ।— इस प्रकार समुच्चयरूप से देखा जाय तो यह कह सकते हैं कि एक ही द्रव्य जब उत्पद्यमान-अवस्था

उत्पद्यत उत्पत्स्यते च । यद् यदैव उत्पत्स्यते तत् तदैवोत्पद्यत उत्पन्नं च । तथा — तदेव तदैव यदुत्पद्यते तद् तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । तथा, यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पत्स्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । एवं विगमोऽपि त्रिकाल उत्पादादिना दर्शनीयः, तथा स्थित्यापि त्रिकाल एव सप्रपञ्चः प्रदर्शनीयः । एवं स्थितिरपि उत्पाद-विनाशाभ्यां सप्रपञ्चाभ्यामेकैकाभ्यां त्रिकाला प्रदर्शनीयेति द्रव्यमन्योन्यात्मकतथाभूतकालत्रयात्म-कोत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकं प्रज्ञापयंस्त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादितं भवति, अन्यथा द्रव्यस्याभावात् तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्रसक्तिरिति भावः ॥३७॥

नन्वर्थान्तरगमनलक्षणस्य विनाशस्याऽसम्भवात् विभागजस्य चोत्पादस्य; तद्द्रव्याभावे स्थितेरप्यभावात् तत् त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकमाह—

द्वन्तरसंजोगाहि केचि दवियस्स बेति उप्पायं ।

उप्पायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छन्ति ॥३८॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणात् तत्संयोगाऽसमवायिकारण-निमित्तकारणादिसव्यपेक्षाद् अवयवि कार्यद्रव्यं भिन्नं कारणद्रव्येभ्यः उत्पद्यत इति द्रव्यस्योत्पादं केचन ब्रुवते । ते चोत्पादार्थानभिज्ञा

में है तब उत्पन्न और उत्पत्स्यमान भी है; तथा जो उत्पत्स्यमान है वही उत्पद्यमान और उत्पन्नावस्था में भी है । जैसे एक एक उत्पन्नादि तीनों काल को लेकर यहाँ द्रव्य की त्रैकालिकता दर्शायी गयी है वैसे ही विनश्यमानादि तीनों काल को ले कर भी उत्पादादि में एक एक कर के त्रैकालिकता का उपदर्शन किया जा सकता है ।

वह उपदर्शन इस तरह है — जो जब उत्पन्न हो रहा है वह उस समय उत्पन्न भी है और उत्पन्न होने वाला भी । जो जब उत्पन्न हुआ है उसी समय वह उत्पन्न हो रहा है और उत्पन्न होनेवाला भी । जो जब उत्पन्न होनेवाला है वह उसी समय उत्पन्न है और उत्पन्न हो रहा है भी । ठीक इस तरह उत्पद्यमान, उत्पन्न और उत्पत्स्यमान के साथ विगम को जोड़ दीजिये — जो जब उत्पन्न हो रहा है वह उसी समय नष्ट है, नष्ट हो रहा है और नष्ट होनेवाला भी । तथा, जो जब उत्पन्न है वह भी उसी समय नष्ट है, नष्ट हो रहा है और नष्ट होने वाला भी । तथा, जो जिस समय उत्पन्न होनेवाला है वह उसी समय नष्ट है, नष्ट हो रहा है एवं नष्ट होनेवाला भी है ।

इसी प्रकार यह भी समझ ही लेना है कि — जो जब नष्ट हो रहा है वह उसी समय उत्पन्न है, उत्पन्न हो रहा है और उत्पन्न होने वाला भी है... इत्यादि, विगम की भी उत्पादादि के साथ त्रैकालिकता प्रदर्शित की जा सकती है । तथा स्थिति के साथ भी उसी ढंग से उत्पाद-विनाश के विस्तार से त्रैकालिकता प्रदर्शित की जा सकती है । तथा, उसी ढंग से स्थिति की भी उत्पाद-विनाश प्रत्येक के साथ त्रैकालिकता का प्रदर्शन विस्तार से किया जा सकता है ।

उक्त रीति अनुसार जो परस्पराभिन्न एक-दूसरे से अनुविद्ध त्रिकालव्याप्त उत्पाद-विनाश-स्थिति हैं वे सब एकद्रव्य-संसर्गी होने से द्रव्य भी उक्त प्रकार के उत्पादादि से अनन्य है — इस ढंग का प्रतिपादन करने वाला पुरुष द्रव्य को सही ढंग से त्रिकालविषय के रूप में विशेषरूप से प्रस्तुत करता है ॥ तात्पर्य, उपरोक्त ढंग से द्रव्य का स्वरूप त्रिकालव्यापक है यह प्रतिपादित होता है, यदि द्रव्य को त्रैकालिक न माने तो वास्तव में स्वरूपशून्य हो जाने से द्रव्य का अस्तित्व ही शून्य हो जाने से द्रव्यप्रतिपादक वचनप्रयोग मिथ्या हो जाने

विभागजातं नेच्छन्ति ॥३८॥

कुतः पुनर्विभागजोत्पादानभ्युपगमवादिन उत्पादार्थानभिज्ञाः ? यतः,

अणु दुअणुएहिं दब्बे आरद्धे 'तिअणुयं' ति ववएसो ।

तत्तो य पुण विभत्तो अणु त्ति जाओ अणू होइ ॥३९॥

द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धे 'अणुः' इति व्यपदेशः परमाणुद्वयारब्धस्य द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिभिर्द्रव्यणुकैश्चतुर्भिर्वाऽऽरब्धे 'त्र्यणुकम्' इति व्यपदेशः, अन्यथोत्पत्तावुपलब्धिनिमित्तस्य महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः ।

अत्र किल त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रत्येकं परमाणुभिरारब्धमणुपरिमाणमेव कार्यम् इति त्र्यादिपरमाणूनामा-

की दुर्घटना होगी ॥३७॥

✽ विभागजन्य द्रव्योत्पाद का अस्वीकार ✽

वादिशंका - आपने ३४ वीं गाथा में जो दो प्रकार का विनाश दिखाया है उस में से एक अर्थान्तरगमन को विनाश के रूप में प्रस्तुत करना असम्भव है, तथा विभागजन्य उत्पाद जैसी कोई चीज दुनिया में है नहीं। विनाश और उत्पाद के विरह में स्थिति भी संभवबाह्य हो जाती है। फलतः उन सभी की त्रैकालिकता का सपना भी देखना व्यर्थ है।

उत्तर - ऐसा मानने वाले वादी के समक्ष ग्रन्थकार विभागजन्य उत्पाद को मान्य रखते हुए प्रतिपादन करते हैं -

मूलगाथार्थ :- कुछ उत्पादपदार्थ के निरूपण में अकुशल वादी एक द्रव्य का अन्यद्रव्य के साथ संयोग होने पर नये द्रव्य की उत्पत्ति को मान्य करते हैं, किन्तु विभागजन्य उत्पाद को मान्य नहीं करते ॥३८॥

व्याख्यार्थ :- कुछ वादी कहते हैं, दो या दो से अधिक समानजातीय अवयवद्रव्य से अवयविद्रव्यात्मक कार्य उत्पन्न होता है और वह कारणद्रव्य से भिन्न होता है; यहाँ अवयवद्रव्य समवायिकारण होता है, अवयवों का संयोग असमवायिकारण होता है, उन दोनों से भिन्न शेष कारणों को निमित्त कारण कहा जाता है, असमवायि और निमित्त कारण के सहयोग वाले समवायिकारण से कार्य द्रव्य का जन्म होता है। इस प्रकार अवयवात्मक कारणद्रव्य के संयोग से ही कार्य द्रव्य का जन्म माननेवाले ये वादी वास्तव में उत्पादतत्त्व के अनभिज्ञ हैं इसीलिये विभागजन्य उत्पाद को नहीं मानते ॥३८॥

प्रश्न :- विभागजन्य उत्पाद को न मानने वाले उत्पादतत्त्व के वास्तव ज्ञाता नहीं है ऐसा क्यों ?

उत्तर :- इसलिये कि -

मूलगाथार्थ :- एक और एक ऐसे दो अणुओं से जनित द्रव्य को 'अणु(परिमाण)' ही कहा जाता है, बहु (-३) द्रव्यणुकों से जनित द्रव्य को त्र्यणुक कहा जाता है तो वैसे ही उन में से पृथक् हो जाने वाले अणुपरिमाण द्रव्य को 'अणु' ऐसा कहा जा सकता है ॥३९॥

व्याख्यार्थ :- दो परमाणु मिल कर जिस कार्य को उत्पन्न करते हैं वह द्व्यणुक होने परभी उस को 'अणु' द्रव्य कहा जाता है। कारण यह नियम है कि परिमाण अपने सजातीय सोत्कर्ष परिमाण को जन्म

✽ बहुषु त्वनियमः - कदाचित् त्रिभिरारभ्यते इति त्र्यणुकमित्युच्यते कदाचित्चतुर्भिरारभ्यते कदाचित् पञ्चभिरिति यथेष्टं कल्पना । प्रशस्त० कंदली ।

रम्भकत्वे आरम्भवैयर्थ्यप्रसक्तिः इति द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकमारभ्यते । त्र्यणुकमपि न द्वाभ्यामणुभ्या-
मारभ्यते, कारणविशेषपरिमाणतोऽनुपभोग्यत्वप्रसक्तेः । यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तद् उपलब्धियोग्यं
स्यात्तथा चोपभोग्यं कारणबहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च महत्त्वम् । न च द्वि-त्रिपरमाण्वारब्धे कार्ये महत्त्वम्,
तत्र महत्परिमाणाभावात् तेषामणुपरिमाणत्वात्, प्रचयोऽप्यवयवाभावान्न सम्भवति तेषाम् । नापि
द्वाभ्यामणुभ्याम्, कारणबहुत्वाभावात्, न प्रचयोऽपि प्रशिथिलावयवसंयोगाभावात् । उपलभ्यते च समा-
नपरिमाणैस्त्रिभिः पिण्डैरारब्धे कार्ये महत्त्वम् न द्वाभ्यामिति महत्परिमाणाभ्यां ताभ्यामेवारब्धे महत्त्वम्
न त्रिभिरल्पपरिमाणैरारब्धे इति समानसंख्या-तुलापरिमाणाभ्यां तन्तुपिण्डाभ्यामारब्धे पटादिकार्ये प्रशिथि-
लावयवतन्तुसंयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते न तद् इतरत्रेति ।

देता है । यदि यहाँ दो परमाणु के परिमाण से सजातीय उत्कर्षशाली परिमाण का जन्म मानेंगे तो वहाँ द्व्यणुक
में अणुतर परिमाण उत्पन्न होने की आपत्ति हो सकती है, इसलिये वहाँ अणुपरिमाण को जनक नहीं माना
जाता । अतः दो परमाणुओं से उत्पन्न द्व्यणुक में सिर्फ द्वित्वसंख्याजन्य अणुपरिमाण ही माना गया है, इसलिये
द्व्यणुक को भी 'अणु' ही कहा जाता है । तीन या चार द्व्यणुक के मिलने से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य को
'त्र्यणुक' कहा जाता है । यदि इसे भी 'अणु' ही माना जायेगा तो उसमें महत्त्व परिमाण का अस्तित्व लुप्त
हो जायेगा, जो कि द्रव्य के प्रत्यक्षोपलम्भ का निमित्तकारण है । फलतः त्र्यणुक अदृश्य बन जायेगा ।

✽ द्व्यणुक-त्र्यणुकनिष्पत्ति की प्रक्रिया ✽

आरम्भवाद में दो परमाणु से बने द्व्यणुक से ही जन्य द्रव्य का प्रारम्भ माना जाता है । उस का कारण
यह है कि तीन या चार प्रत्येक (यानी छूटे) परमाणुओं के मिलन से कोई भी द्रव्य उत्पन्न होगा तो उसका
परिमाण तो अणुपरिमाण ही उत्पन्न होगा । फलतः, तीन या चार पृथक् पृथक् परमाणुओं को द्रव्यारम्भक मानने
पर किसी प्रयोजन (महत् परिमाणोत्पत्ति आदि)की सिद्धि न होने से वहाँ निरर्थक आरम्भ होगा । यदि त्र्यणुक
की उत्पत्ति तीन द्व्यणुक के बदले दो अणुओं से होगी तो उस में भी विशेषकारणभूत अणुओं का समान
परिमाण यानी अणु परिमाण ही उत्पन्न होने से वह उपभोगयोग्य नहीं बनेगा । जो महत्त्व-परिमाण से आश्लिष्ट
होता है वही उपलब्धियोग्य हो सकता है और वही उपभोगयोग्य होता है । महत्त्व यथासम्भव तीन हेतु से
उत्पन्न होता है, १-तीन या तीन से अधिक समवायिकारण से, २- महत्त्व से और ३ - प्रचय (यानी शिथिलअवयव
संयोग) से । दो परमाणु से जन्य द्रव्य में न तो कारणबहुत्व है, न महत्त्व, अतः द्व्यणुक में महत्परिमाण
उत्पन्न नहीं हो सकता । तीन पृथक् पृथक् परमाणु में महत्त्व नहीं होने से उन से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य में
महत्त्व उत्पन्न नहीं होता, यदि यहाँ कारणगत बहुत्व संख्या से परिमाण की उत्पत्ति मानेंगे तो अणुपरिमाण
सजातीय होने से उत्पन्न होगा लेकिन महत् परिमाण उत्पन्न नहीं होगा । तीन पृथक् पृथक् परमाणु सावयव
न होने से वहाँ शिथिल अवयवसंयोगस्वरूप प्रचय से भी महत्त्वपरिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता । दो अणु से
उत्पन्न होने वाले द्रव्य में भी महत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ कारण-बहुत्व नहीं है और निरवयव
होने से शिथिल अवयवसंयोगात्मक प्रचय भी वहाँ नहीं है । दो समान(अणु)परिमाणवाले अवयवों से आरब्ध
द्रव्य में महत्त्व उपलब्ध नहीं होता, इसका मतलब यह नहीं है कि महत्त्व सर्वथा अनुपलब्ध है; तीन समान(अणु)
परिमाणवाले अवयवों से (जो स्वयं परमाणुरूप नहीं किन्तु द्व्यणुकात्मक है उन से) कारणबहुत्वसंख्या-जन्य महत्
परिमाण उपलब्ध होता है । तथा महत्परिमाणवाले दो सावयव द्रव्य से उत्पन्न द्रव्य में भी महत्त्व उपलब्ध होता
है । किन्तु तीन अणुपरिमाण निरवयव द्रव्य से उत्पन्न द्रव्य में महत्त्व उपलब्ध नहीं होता । तथा दो तन्तुपिण्ड

नन्वेवं यदि कार्यारम्भस्तदा 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्त द्वे बहूनि वा समानजातीयानि' इत्यभ्युपगमः परित्यज्यताम् यतो न परमाणु-द्रव्यणुकादीनामपरित्यक्ताजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननस्वभावानां च द्रव्यणुक-त्र्यणुकादिकार्यनिर्वर्तकत्वम्, अन्यथा प्रागपि तत्कार्यप्रसंगात् ।

अथ न तेषामजनकावस्थात्यागतो जनकस्वभावान्तरोत्पत्तौ कार्यजनकत्वं, किन्तु पूर्वस्वभावव्यवस्थितानामेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसद्भावात् तदा कार्यनिर्वर्तकत्वम्, प्राक् तु तदभावान्न कार्योत्पत्तिः कारणानामविचलितस्वरूपत्वेऽपि । न च संयोगेन तेषामनतिशयो व्यावर्त्यते अतिशयो वा कश्चिदुत्पाद्यते अभिन्नो भिन्नो वा; संयोगस्यैवाऽतिशयत्वात् । न च कथमन्यः संयोगस्तेषामतिशय इति वाच्यम् अनन्यस्याप्यतिशयत्वायोगात्, न हि स एव तस्याऽतिशय इत्युपलब्धम् । तस्मात् तत्संयोगे सति कार्यमुपलभ्यते तदभावे तु नोपलभ्यते इति संयोग एव कार्योत्पादने तेषामतिशय इति न तदुत्पत्तौ तेषां स्वभावान्तरोत्पत्तिः, संयोगातिशयस्य तेभ्यो भिन्नत्वादिति । असदेतत् —

जो कि संख्या, गुरुत्व और परिमाण में बिलकुल समान है वैसे तन्तुपिण्डों से उत्पन्न होने वाले वस्त्रादि कार्यों में शिथिलावयवसंयोगात्मकप्रचय से जन्य महत्त्व उपलब्ध होता है, अन्यत्र कहीं नहीं होता ।

✽ स्वभावपरिवर्तन से कार्यसाधकता, शंका-समाधान ✽

प्रतिवादी :- इस ढंग से आपने जो कार्यद्रव्य का आरम्भ दिखाया उस में तो आप का जो यह सिद्धान्त है कि 'समानजातीय दो या दो से अधिक द्रव्यों से अन्यद्रव्य का उद्गम होता है' इस सिद्धान्त को आप छोड़ दीजिये । कारण, परमाणु अथवा द्रव्यणुक आदि से द्रव्यणुक अथवा त्र्यणुकादि कार्य का निष्पादन तभी शक्य है जब वे परमाणु आदि अपनी पूर्वकालीन अजननावस्था का परित्याग करके द्रव्यणुकादिकार्यजननस्वभाव का अंगीकार करे । यदि पूर्व अजननस्वभाव को छोड़ कर नूतन जननस्वभाव का अंगीकार किये विना ही परमाणुआदि द्रव्यणुकादिकार्य के निष्पादन करने में लग जायेंगे तो जब वे पृथक् पृथक् बिखरे हुए थे तब भी अपने अपने कार्य के निष्पादन में लग जाने की दुर्घटना स्थान लेगी ।

वादी :- ऐसा नहीं है कि 'परमाणुआदि उपादानद्रव्य अजननावस्था त्याग कर के जननस्वभाव को अपना कर ही कार्य को जनम दे सकते हैं' । स्वभावपरिवर्तन के विना भी, पूर्वस्वभाव में ही रह कर, परस्पर संयोगात्मक सहकारी के प्रभाव से ही वे कार्य का निष्पादन कर सकते हैं । यह सहकारी पूर्वकाल में नहीं होता, इसलिये उस काल में कार्योत्पत्ति की दुर्घटना को अवकाश नहीं रहता । कारणसमुदाय तो उस वक्त भी तदवस्थ ही होता है । ऐसा भी नहीं है कि 'कारणों में पूर्वावस्था में जो अनतिशय था वह संयोग के द्वारा खदेड़ दिया जाता है, अथवा कारणों से भिन्न या अभिन्न ऐसा कोई नया अतिशय उत्पन्न किया जाता है' । अतिशय ही मानना हो तो उस संयोग को ही अतिशय के रूप में मान लो । ऐसा प्रश्न मत करो कि कारणों से भिन्न ऐसे संयोग को कारणों के अतिशय रूप में कैसे मान लिया जाय ? — यदि भिन्न संयोग 'अतिशय' नहीं बन सकता तो अभिन्न कोई पदार्थ भी कैसे 'अतिशय' हो सकता है ? अभिन्न का मतलब है स्वयं वह पदार्थ, वह स्वयं अपना अतिशय बन जाय ऐसा कहीं देखा नहीं है । निष्कर्ष — परमाणुआदि द्रव्यों के संयोग के होने पर कार्य उपलब्ध होता है और संयोग के अभाव में वह कार्य उपलब्ध नहीं होता, इसलिये निश्चित होता है कि वह संयोग ही कारणों का अतिशय है जिस से कार्य का उद्भव होता है । भिन्न संयोग की उत्पत्ति होती है इसलिये कारणों के स्वभाव में कोई परिवर्तन की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि संयोगरूप अतिशय कारणों से भिन्न है ।

प्रतिवादि :- यह वादिकथन गलत है ।

यतः कार्योत्पत्तौ तेषां संयोगोऽतिशयो भवतु, संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशयः इति वाच्यम् । न तावत् स एव संयोगः तस्याद्याप्यनुत्पत्तेः, नापि संयोगान्तरम् तस्यानभ्युपगमात्; अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः । न च क्रिया अतिशयः तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोष-प्रसंगात् । किञ्च, अदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात् परमाणुषु क्रियोत्पद्यत इत्यभ्युपगमादात्म-परमाणुसंयो-गोत्पत्तावप्यपरोऽतिशयो वाच्यः, तत्र च तदेव दूषणम् ।

किञ्च, असौ संयोगो द्व्यणुकादिनिर्वर्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः उत तदन्याश्रित आहोस्विद् अनाश्रित इति ? यद्याद्यः पक्ष तदा तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते नवेति ? यद्युत्पद्यते तदा परमाणूनामपि कार्यत्वप्रसक्तिस्तत्संयोगवत् । अथ नोत्पद्यते तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्, समवायस्याभावात्, तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् तदकारकत्वं तु तत्र तस्य प्रागभावाऽनिवृत्तेस्तदन्यगुणान्तरवत् । ततस्तेषां कार्यरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा तदाश्रितत्वं संयोगस्य न स्यात् । अन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तदोषप्रसंगः । अनाश्रितत्वपक्षे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तिः ।

❀ संयोग को अतिशय मानने पर भी अनिस्तार ❀

गलत होने का कारण यह है कि संयोग को कारणों का अतिशय मान लिया, किन्तु प्रश्न यह है कि संयोगरूप अतिशय से जैसे द्व्यणुकादि का जन्म होता है वैसे संयोग को उत्पन्न करने के लिये वे कौन सा अतिशय मानेंगे ? यह कहना पड़ेगा । वही संयोग तो अपनी उत्पत्ति के पहले 'अतिशय' नहीं बन सकता, क्योंकि तब उस की सत्ता ही नहीं है । अन्य संयोग को भी 'अतिशय' नहीं बता सकते क्योंकि संयोग के पहले संयोग मंजुर ही नहीं है । अगर उसे भी मंजुर कर ले तो उस की उत्पत्ति के लिये और कोई संयोगरूप अतिशय कारणों में था, उस अतिशयसंयोग की उत्पत्ति के लिये भी और कोई संयोगातिशय.. इस तरह की व्यर्थ कल्पना का अन्त ही नहीं आयेगा । यदि क्रिया को संयोग के पूर्व अतिशय माने तो क्रिया के लिये भी वे ही दोष आ पड़ेंगे जो संयोग के बारे में दिखाये गये हैं, क्योंकि क्रिया की उत्पत्ति के लिये भी अतिशय का प्रश्न सिर उठायेगा । दूसरी बात यह है कि सिद्धान्तानुसार क्रिया की उत्पत्ति अदृष्ट के सहकार से, आत्मा और अणु के संयोग से होती है; अतः आत्मा-अणु के संयोग की उत्पत्ति के लिये भी और एक अतिशय दिखाना पड़ेगा और फिर से वही अनवस्था आदि दूषण-परम्परा चल पड़ेगी ।

द्व्यणुकनिष्पादक संयोग के बारे में भी प्रश्न खड़े होंगे कि वह a परमाणुआदिआश्रित है या b अन्य किसी का आश्रित है या c अनाश्रित ही होता है ? a प्रथम पक्ष मंजुर करने पर प्रश्न खड़े होंगे कि a1 संयोग की उत्पत्ति के साथ साथ उसके आश्रयभूत परमाणु भी उत्पन्न होंगे या a2 नहीं ? a2 यदि नहीं उत्पन्न होते तब तो संयोग को उन में आश्रय भी नहीं मिलेगा, क्योंकि समवाय का तो बार बार निषेध हो चुका है; तथा वे परमाणुसंयोग के प्रति कारण भी नहीं हो सकते । कारण, परमाणु में बार बार संघटन-विघटन होने पर भी संयोग एवं अन्य गुण बार बार उत्पन्न होते रहने से यह मानना पड़ेगा कि वहाँ संयोग का प्रागभाव भी अन्यगुणों के प्रागभाव की तरह निवृत्त कभी नहीं होता; जब संयोग का प्रागभाव परमाणु से निवृत्त नहीं होता तब परमाणुसमुदाय कैसे संयोग को उत्पन्न कर सकते हैं ?! अतः मानना चाहिये कि संयोग के साथ साथ संयोगात्मकार्यपरिणाम में परिणत परमाणुओं की भी उत्पत्ति होती है । ऐसा यदि न मानेंगे तो संयोग परमाणुओं का अभेदभाव से आश्रित नहीं बन सकेगा । b यदि संयोग को अन्याश्रित मानेंगे तो वहाँ परमाणु का संयोग अतिशय न बन सकेगा और द्व्यणुकादि उत्पन्न नहीं हो पायेगा - वही पूर्वोक्त दोष की दुर्घटना

अथ संयोगो नोत्पद्यत इत्यभ्युपगमस्तदा वक्तव्यम् किमसौ A सन् B उताऽसन् ? यदि A संस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः 'सदकारणवन्नित्यम्' (वैशे० सू० ४-१-१) इति भवतोऽभ्युपगमात् । तथा चासौ गुणो न भवेत् — नित्यत्वेनाऽनाश्रितत्वाद्, अनाश्रितस्य च पारतन्त्र्याऽयोगाद्, अपरतन्त्रस्य चाऽगुणत्वाद् । B अथाऽसन्निति पक्षस्तदा कार्यानुत्पत्तिप्रसंगः, तदभावे प्राग्वद् विशिष्टपरिमाणोपेत-कार्यद्रव्योत्पत्त्यभावात् । तथा च जगतोऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वसंख्यापरिमाणमहत्त्वपरत्वाद्यनेक-गुणानां तत्रोत्पत्तिरभ्युपेया, कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्यानुत्पत्त्यभ्युपगमात् । 'इष्टमेवैतद्' इति चेत् ? ननु तेषां क आश्रय इति वक्तव्यम्, न तावत् कार्यम्, तदुत्पत्तेः प्राक् तस्याऽसत्त्वात्, सत्त्वे वोत्पत्तिवि-रोधाद् । न च प्रथमक्षणे निर्गुणमेव कार्यं गुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् गुणसम्बन्धवत् सत्तासम्बन्धस्या-प्याद्यक्षणे अभावतस्तत्सत्त्वाऽसम्भवात् । न चोत्पत्ति-सत्तासम्बन्धयोरेककालतयाऽद्यक्षण एव सत्त्वम्,

स्थान पायेगी । c यदि संयोग को अनाश्रित ही मानेंगे तो वह निर्हेतुक ही उत्पन्न होने की दुर्घटना प्रसक्त होगी ।

✽ संयोग के अनुत्पन्न पक्ष में विकल्प प्रहार ✽

यदि इस झंझट से बचने के लिये कहा जाय कि संयोग अतिशय उत्पन्न नहीं होता — तो यहाँ भी दो प्रश्न हो सकते हैं, A वह संयोग सत् है ? या B असत् है ? A सत् मानेंगे तो उस को नित्य भी मानना पड़ेगा क्योंकि आप के वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि जो 'सत् एवं कारणशून्य होता है वह नित्य होता है ।' यदि उसे नित्य मान लेंगे तो वह गुणात्मक नहीं होना चाहिये, क्योंकि जो गुण होता है वह किसी द्रव्य का आश्रित जरूर होता है, नित्य पदार्थ नित्य होने के कारण किसी का आश्रित नहीं होता, जो आश्रित नहीं होता वह किसी को परतन्त्र नहीं होता, जो किसी (द्रव्य आदि) को परतन्त्र नहीं है वह 'गुण' कैसे हो सकता है ?

B यदि वह संयोग, जो उत्पन्न नहीं होता, वह असत् है तब तो किसी भी कार्य की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं रहेगी । कारण, जब संयोग ही नहीं है तो दो परमाणु से द्व्यणुक पैदा नहीं होगा, तीन द्व्यणुक से त्र्यणुक भी उत्पन्न नहीं होगा, फलतः विशिष्ट महत् परिमाणवाले कार्यद्रव्य की उत्पत्ति ही असम्भव है । विशिष्ट परिमाण के विरह में किसी भी त्र्यणुकादि द्रव्य का प्रत्यक्ष शक्य न होने से सारा जगत् अदृश्य बन जायेगा । इस दुर्घटना से बचने के लिये, यानी दृश्य जगत् की संगति के लिये द्रव्यों में संयोग, एकत्वसंख्या, परिमाण, महत्त्व, परत्व आदि अनेक गुणों की उत्पत्ति अवश्य माननी पड़ेगी, उसका कारण यह है कि कार्य अथवा कार्यगत गुणादि की उत्पत्ति अपने कारणगत गुणों की परम्परा से होती है । अतः संयोग को अनुत्पन्न मानना ठीक नहीं हो सकता ।

वादी :- संयोगादि की उत्पत्ति हमें मान्य ही है ।

प्रतिवादी :- मान्य तो है लेकिन उन का आश्रय कौन होगा — यह भी तो कहना होगा ! कार्यद्रव्य तो उनकी उत्पत्ति के पहले है नहीं अतः कार्य तो उन का आश्रय बन नहीं सकता । और यदि वह पहले है, तब तो संयोग से उसकी उत्पत्ति की बात ही विरोधग्रस्त होने से समाप्त हो जायेगी ।

वादी :- संयोगादि के पहले कार्यद्रव्य की सत्ता मंजुर करने में कोई बाध नहीं है, क्योंकि संयोगादि गुणों की उत्पत्ति के पहले कार्यद्रव्य अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण ही होता है ।

प्रतिवादी :- यदि प्रथम क्षण में कार्यद्रव्य में गुण-सम्बन्ध का अस्वीकार करेंगे तो उस का सत्तासम्बन्ध

तदा रूपादिगुणसमवायाभावतोऽनुपलम्भे ततस्तत्सत्तासम्बन्धव्यवस्थापनाऽसम्भवात् । न हि 'सत्' इत्युपलम्भमन्तरेण तदा तस्य सत्तासम्बन्धः सत्त्वं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेर्गुणस्य द्रव्येण सहोत्पादे तद्द्रव्याधेयता तद्द्रव्यस्य वा तदाधारता अकारणस्याश्रयत्वाऽयोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः । तन्न कार्यं तदाश्रयः ।

अथाणवस्तदाश्रयस्तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रयः इत्येकाश्रयौ कार्य-गुणौ प्राप्तौ । तथाऽभ्युपगमेऽपि न तावद् युतसिद्धयोस्तयोः कुण्ड-बदरवत् आश्रयाऽऽश्रयिभावः; अकार्यकारणप्रसंगात् । नाऽयुतसिद्धयोः, अयुतसिद्ध्याऽऽश्रयाश्रयिभावविरोधात् । तथाहि - 'अपृथक्सिद्धः' इत्यनेन भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते समवायाभावे अन्यस्यार्थस्याऽत्राऽसम्भवात्; 'अधाराधेयभावः' इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियते

भी प्रथमक्षण में नहीं रह सकेगा, फलतः कार्यद्रव्य का सत्त्व ही प्रथमक्षण में गगनकुसुमवत् असम्भव हो जायेगा ।

वादी :- सत्ता और सत्तासम्बन्ध (समवाय) नित्य है इसलिये प्रथमक्षण में उत्पत्ति और सत्तासम्बन्ध दोनों एक ही क्षण में सम्पन्न हो जाते हैं ।

प्रतिवादी :- ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथमक्षण में रूपादि के अभाव में सत्तासम्बन्ध की स्थापना अशक्य है । सत्तासम्बन्ध की सिद्धि के लिये उस का प्रथमक्षण में उपलम्भ होना चाहिये, किन्तु उस क्षण में जब रूपादि का समवाय ही नहीं होगा तो सत्ता का उपलम्भ न होने से उस की सिद्धि कैसे हो पायेगी ? जब तक 'यह सत् है' इस प्रकार उपलम्भ न हो तब तक वस्तु के सत्तासम्बन्ध की अथवा सत्त्व की व्यवस्था असम्भव है ।

वादी :- इस बला को टालने के लिये हम महत्त्वादि गुण और द्रव्य का एक साथ ही उद्भव मानेंगे ।

प्रतिवादी :- तब दूसरी आपत्ति आयेगी, न तो महत्त्वादि गुण द्रव्य के आधेय हो सकेंगे, न द्रव्य उनका आधार हो सकेगा, क्योंकि एक साथ उत्पन्न होनेवाले दो पदार्थ में परस्पर कारणता न होने से एक-दूसरे की आश्रयता या आधेयता सम्भव नहीं हो सकती । जैसे बाये और दाये बैलसिंगों में सहोत्पत्ति होने के जरिये कार्य-कारणभाव शक्य नहीं है वैसे ही गुण और द्रव्य के सहोत्पाद पक्ष में भी वह शक्य नहीं हो सकता ।

निष्कर्ष :- कार्यद्रव्य संयोग का आश्रय नहीं है ।

✽ संयोगादिगुणाभिन्न परमाणु में कार्यत्व - जैन मत ✽

वादी :- कार्यद्रव्य नहीं, तो अणुओं को ही संयोग का आश्रय मान लेंगे ।

प्रतिवादी :- तब तो कार्यद्रव्य के भी अणु ही आश्रय मान लीजिये । ऐसा मानने पर कार्य और गुण भी एकाश्रय-आश्रित हो सकेंगे ।

वादी :- ऐसा ही हम मान लेते हैं ।

प्रतिवादी :- मान तो लेंगे लेकिन उन में आश्रय आश्रयिभाव कैसे संगति करेगा ? एक कारण के आश्रित कार्य और गुण उन दोनों में युतसिद्धता (पृथक्ता) मानेंगे तो जैसे कुण्ड और बेर में आश्रय-आश्रयिभाव होने पर भी कारण-कार्यभाव नहीं होता, वैसे ही कार्य और गुण में कारण-कार्यभाव नहीं घट सकेगा । यदि उन दोनों में अयुतसिद्धता (अपृथक्ता) मानेंगे तो अयुतसिद्धता के साथ आश्रय-आश्रयिभाव का विरोध हो जायेगा । जैसे देखिये - अयुतसिद्ध का मतलब है 'अपृथक्सिद्ध' । यहाँ अपृथक् कहने से ही भेद का निषेध हो जाता है । भेद का निषेध इसलिये कि भेद मानेंगे तो समवायसम्बन्ध मानना पड़ेगा, किन्तु वही तो गगनपुष्पतुल्य

इति कथमनयोरेकत्र सद्भावः ? अथ नात्राधाराधेयभावस्तर्हि तेषां सत्त्वमुताऽसत्त्वमिति वक्तव्यम् । यद्याद्यः पक्षः, तदा 'संयोगादिगुणात्मकाः परमाणव एव तथाभूतं कार्यम्' इति जैनपक्षः एव समाश्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु सर्वानुपलब्धिप्रसक्तिः ।

यदि च परमाणवः स्वरूपाऽपरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभन्ते स्वात्मनोऽव्यतिरिक्तं तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्ये परमाणुस्वरूपाऽपरित्यागे स्थूलत्वस्य सद्भावः तस्य तदभावात्मकत्वात् । तस्मात् परमाणुरूपतापरित्यागेन मृद्द्रव्यं स्थूलकार्यस्वरूपमासादयति इति तद्रूपतापरित्यागेन च पुनरपि परमाणुरूपतामनुभवतीति वलयवत् पुद्गलद्रव्यपरिणतेरादिरन्तो वा न विद्यते इति न कार्यद्रव्यं कारणेभ्यो भिन्नम् । न चार्थान्तरभावगमनं विनाशोऽयुक्त इति तद्रूपपरित्यागोपादानात्मकस्थितिस्वभावस्य द्रव्यस्य त्रैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च एकसंख्या-संयोग-महत्त्वाऽपरत्वादिपर्यायैः परमाणूनामुत्पत्तेः कार्यरूपाः परमाणवस्तथा बहुत्वसंख्याविभागाल्पपरिमाणपरत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात् परमाणवः कार्यद्रव्यवत् तथोत्पन्नाश्चाभ्युपगन्तव्याः, कारणान्वय-व्यतिरेकानुविधानोपलम्भस्य कार्यताव्यवस्थानिबन्धनस्यात्रापि सद्भावादिति अयमर्थः 'ततो य' इत्यादि गाथापश्चाद्धेन प्रदर्शितः ।

असत् है, तब दूसरा कोई भी सम्बन्ध रूप अर्थ भेदपक्ष में संभव न होने से, अपृथक् का अर्थ अभिन्न ऐसा करना ही होगा । दूसरी ओर, 'आधार-आधेयभाव' के बतलाने से एकत्व का निषेध फलित होता है (क्योंकि अनेक में ही आश्रयआश्रयिभाव हो सकता है) इसलिये भेद का निषेध करके एकत्व का निर्देश करनेवाले 'अपृथक्' शब्द का अर्थ अभेद और एकत्वनिषेध करनेवाले 'आधार-आधेयभाव' शब्द का अर्थ भेद, ये दोनों का एक स्थान में समावेश कैसे हो सकता है ?

वादी :- हम अपृथक्भाव मानेंगे लेकिन आधारआधेयभाव नहीं मानते हैं ।

प्रतिवादी :- तब यह दिखाना पड़ेगा कि कार्य और गुण 'सद्भूत हैं या असद्भूत ?' यदि सद्भूत हैं तब तो 'संयोगादिगुणात्मक जो परमाणुवर्ग है वही कार्य है' यह एकमात्र जैनपक्ष अंगीकार कर लेना होगा । यदि कार्य और गुण को (रूपादि को भी) असत् मानेंगे तो किसी भी चीज की उपलब्धि ही शक्य न रहेगी ।

प्रतिवादी आगे यही बात कहना चाहता है कि यदि परमाणु अपने (अजनकत्वादि) स्वरूप का परित्याग किये बिना ही अपने से अभिन्न द्रव्यणुक आदि कार्यद्रव्य का निर्माण करते हैं - ऐसा मानेंगे तब तो कभी कार्यद्रव्य का जन्म ही नहीं होगा । कारण, परमाणु द्रव्य अपने परमाणुस्वरूप का परिहार नहीं करेंगे तो उस से अभिन्न कार्यद्रव्य में स्थूलत्व का आविर्भाव ही कैसे होगा ? स्थूलत्व तो परमाणुत्वाभावात्मक है, अभाव और प्रतियोगी कैसे एकाधिकरण हो सकते हैं ? निष्कर्ष यह है कि दो परमाणु के संयोगात्मक अतिशय से कार्यद्रव्य के जन्म की थियोरी बराबर नहीं है, वास्तव में परमाणुस्वरूप मिट्टीद्रव्य ही अपने परमाणुस्वरूप का परिहार कर के स्थूल कार्यस्वरूप को धारण करता है और कभी वही कार्यद्रव्य अपने स्थूल स्वरूप का परिहार कर के परमाणुस्वरूप का आदर करता है । अनादि काल से इस प्रकार पुद्गलद्रव्य में कभी परमाणुस्वरूप तो कभी स्थूल-स्वरूप परिणामों की परम्परा चली आती है और भविष्य में अनन्त काल तक चलने वाली है, इसलिये इस प्रकार के परिणामों के प्रवाह का वलयाकार की तरह न तो कहीं प्रारम्भबिन्दु है न कहीं अन्तबिन्दु है । वलयाकार चूड़ी इत्यादि द्रव्यों में कोई प्रारम्भ-अन्त उपलब्ध नहीं होता जैसे किसी नेतर की

✽ तथोत्पन्ना अभ्यु० इति पाठान्तरम् ।

‘तस्माद्’ = एकपरिमाणाद् द्रव्याद् ‘विभक्तः’ = विभागात्मकत्वेनोत्पन्नः ‘अणुरिति अणुर्जातो भवति’, एतदवस्थायाः प्राक् तदसत्त्वात्, सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्याभाव-प्रसंगात्, इदानीं वा तद्रूपता तद्रूपाऽविशेषात् प्राक्तनावस्थायामिव स्यात् ।

एवं चतुर्विधकार्यद्रव्याभ्युपगमोऽसंगतः । न च य एव कार्यद्रव्यारम्भकाः परमाणवस्त एव तद्द्रव्य-विनाशोत्तरकालं स्वरूपेण व्यवस्थिताः, कार्यद्रव्यप्रागभाव-प्रध्वंसाभावयोरेकत्वविरोधात् घटद्रव्यप्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-मृत्पिण्डकपालवत् । न च प्रागभाव-प्रध्वंसाभावयोस्तुच्छरूपतया मृत्पिण्ड-कपालरूपत्वमसिद्धम् तुच्छरूपस्याभावस्य प्रमाणाऽजनकत्वेन तदविषयत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् इति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमुपजायते तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृत्पिण्डस्य घटद्रव्यं प्रति समवायिकारण-त्वमयुक्तमिति वक्तव्यम् अध्यक्षत एव मृत्पिण्डोपादानत्वेन तस्य प्रतीतेः । अत एव घटस्य कपालसम-

छडी में उपलब्ध होता है । परमाणु और स्थूलद्रव्य ये सब पुद्गलद्रव्य के ही परिणामविशेषरूप हैं इसलिये कारणभूत परमाणु द्रव्य और कार्यद्रव्य में कोई भेदकल्पना को स्थान नहीं है । परमाणुअवस्थागत पुद्गलद्रव्य जब स्थूलकार्यअवस्था को धारण करता है तब कह सकते हैं कि परमाणुद्रव्य का स्थूल कार्य में रूपान्तर हो गया, यानी अर्थान्तरभावगमनरूप विनाश हो गया । यह विनाश अप्रामाणिक नहीं है यह पहले सयुक्तिक बताया गया है । इस संदर्भ में ऐसा निष्कर्ष निकालने में कोई असंगति नहीं है कि - पूर्वस्वरूप का त्याग और नये स्वरूप का आदर करते हुए अपने द्रव्यात्मक स्वभाव में ध्रुव रहनेवाला द्रव्य त्रैकालिक ही होता है ।

यहाँ पुद्गलद्रव्यपरिणामवाद की स्थापना हो जाने पर परमाणु द्रव्य परमाणु के रूप में नित्य अथवा अनादि नहीं है किन्तु अनित्य और सादि कार्यरूप है यह भी सिद्ध होता है । कैसे यह देखिये, जब अनेक परमाणुओं से एक कार्यद्रव्य का निर्माण होता है तब वे परमाणुओं एकत्वसंख्या, परस्परसंयोग, महत्त्व और अपरत्वादि पर्यायों को अपने गर्भ में रखते हुए एक स्थूल कार्यद्रव्य के रूप में जैसे उत्पन्न होते हैं; ठीक वैसे ही उस स्थूल कार्यद्रव्य का विनाश होने पर बहुत्वसंख्या, परस्पर विभाग, अल्प परिमाण और परत्वादि पर्यायों को अपने गर्भ में लिये हुए वे परमाणु भी स्थूल कार्यद्रव्य की तरह ही प्रादुर्भाव को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार परमाणुअवस्था के रूप में परमाणुद्रव्य को भी उत्पत्तिशील ही मानना चाहिये; क्योंकि अन्य कार्यों के लिये भी यही न्याय है कि जो कारणों के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करते हुए उपलब्ध होते हैं उन को ‘कार्य’ कहा जाता है । यहाँ भी परमाणु-अवस्थावाले परमाणुद्रव्य, स्थूलकार्यात्मक कारण के अन्वय-व्यतिरेक के अनुसरण करते हुए स्पष्ट ही उपलब्ध होते हैं ।

यही तथ्य मूलगाथा के तत्तो य० इत्यादि उत्तरार्ध से ग्रन्थकार ने प्रकट किया है ।

❀ विभागजन्य अणुजन्म का समर्थन ❀

मूलगाथा के उत्तरार्ध का तात्पर्य यह है कि उस प्रारम्भिक महत्परिमाणवाले त्र्यणुक द्रव्य से जब विभाग उत्पन्न होता है तब विभागात्मकस्वरूप से विभक्त द्रव्य में अणुपरिमाण की उत्पत्ति के साथ अणुद्रव्य भी उत्पन्न होता है । इस तरह अणु का भी उत्पाद मानने का कारण यह है कि त्र्यणुकावस्था के काल में यह अणु-अवस्था विद्यमान नहीं थी । यदि त्र्यणुककाल में भी अणु-अवस्था को विद्यमान होने का आग्रह रखेंगे तो, जैसे वर्तमान अणु-अवस्थाकाल में स्थूलात्मक कार्यद्रव्य विद्यमान नहीं है वैसे ही त्र्यणुकावस्थाकाल में भी स्थूलकार्य के अविद्यमान होने का अतिप्रसंग प्राप्त होगा । अथवा, त्र्यणुककाल में विद्यमान अणु-अवस्था को जैसे स्थूलत्व के साथ विरोध नहीं है वैसे अणुकाल में भी न होने से अणुकाल में भी स्थूलरूपता की प्राप्ति का अतिप्रसंग

वायिकारणत्वानुमानमध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टम् । न चाल्पपरिमाण-तन्तुप्रभवं महत्परिमाणं पटकार्यमुपलब्धमिति घटादिकमपि तदल्पपरिमाणानेककारणप्रभवं कल्पयितुं युक्तम्, विपर्ययेणापि कल्पनायाः प्रवृत्तिप्रसंगात्, अध्यक्षबाधस्तु तदितरत्रापि समानः ।

किंच, परमाणूनां सर्वदैकं रूपमभ्युपगच्छन्नभावमेव तेषामभ्युपगच्छेत् अकारकत्वप्रसंगात्, तच्च प्रागभावप्रध्वंसाभावविकलत्वेनानाधेयातिशयत्वात् वियत्कुसुमवत् । तदसत्त्वे च कार्यद्रव्यस्याप्यभावः अहेतोस्तस्याऽसत्त्वात् । तदभावे च परापरत्वादिप्रत्ययादेरयोगात् कालादेरप्यमूर्तद्रव्यस्याभाव इति सर्वा-
हो सकता है ।

उपरोक्त चर्चा से यह फलित होता है कि अजैन दार्शनिकोंने जो अणु(द्रव्यणुक), महत् - ह्रस्व, दीर्घ ऐसे जो चतुर्विध कार्यद्रव्य का सिद्धान्त माना है वह असंगत है, क्योंकि अब परमाणु को भी कार्यद्रव्य में शामिल करना होगा ।

यदि यह कहा जाय कि - 'परमाणु का उत्पाद-विनाश नहीं होता, द्रव्यणुकादि कार्यद्रव्य के जनक परमाणु उस काल में संयुक्त हो कर विद्यमान रहते हैं, जब कार्य द्रव्य का विनाश हो जाता है तब वे अपने मूल पृथक् स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ कार्यद्रव्य के प्रागभावरूप भी परमाणु हैं और वे ही परमाणु कार्यद्रव्य के प्रध्वंसाभवरूप भी दिखाये जा रहे हैं जो असंगत है क्योंकि प्रागभाव और ध्वंस के एक होने में विरोध है । उदा० घटद्रव्य का प्रागभाव मृत्पिण्ड है और प्रध्वंसाभाव कपाल है, उन के एक होने में स्पष्ट ही विरोध है ।

✽ प्रागभाव-प्रध्वंस क्रमशः पूर्वोत्तर द्रव्यात्मक हैं ✽

यदि कहा जाय कि - 'प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव तो तुच्छ है इसलिये मिट्टीपिण्ड और प्रागभाव एक नहीं हो सकते, तथा कपाल और प्रध्वंसाभाव भी एक नहीं है ।' - तो यह ठीक नहीं है । कारण, जो तुच्छ है वे किसी के भी जनक नहीं होते, अतः वे प्रमाणज्ञान के भी जनक नहीं हो सकते, प्रमाण के अविषय होने के कारण तुच्छ ऐसे प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव की स्थापना भी शक्य नहीं होगी, इसलिये पहले ही कह आये हैं कि प्रागभाव और प्रध्वंस ये तुच्छ नहीं है किन्तु क्रमशः पूर्वद्रव्य और उत्तरद्रव्यरूप ही हैं ।

यदि यह कहा जाय कि - 'घटद्रव्य तो कपाल-कपाल के संयोग से उत्पन्न होता है और उन के विभाग से नष्ट हो जाता है यह वास्तविकता है, इसलिये मिट्टीपिण्ड को घट का समवायिकारण दिखाना ठीक नहीं है-' तो यह बात गलत है, क्योंकि प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है कि कुम्हार मिट्टी के पिण्ड रूप उपादान कारण से ही घटनिर्माण करता है न कि कपाल से । यह निर्बाधप्रत्यक्ष इतना बलवान है कि उससे, कपाल को समवायिकारण सिद्ध करनेवाला अनुमान भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि कपाल में समवायिकारणता का निर्देश, मिट्टीपिण्ड रूप कारण के प्रत्यक्ष से बाधित हो जाने के बाद उस अनुमान का प्रयोग करने को जाते हैं तो वह कालात्ययापदिष्ट दोष से ग्रस्त हो जाता है ।

यदि कहा जाय कि - 'बड़ा परिमाण वाला वस्त्रादि कार्य अपने से अल्प परिमाणवाले अनेक तन्तुओं से उत्पन्न होता हुआ देख कर यह कल्पना सहज हो सकती है कि घटद्रव्य भी अपने से अल्पपरिमाणवाले अनेक कपालादिरूप कारण से ही उत्पन्न होना चाहिये ।' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ विपरीत कल्पना को भी अवकाश है, देखिये - अधिक या समान परिमाणवाले मिट्टी पिण्ड से अल्प या समान परिणामवाले घटादि की उत्पत्ति को देख कर यह कल्पना हो सकती है कि वस्त्र भी अपने से समाधिकपरिमाणवाले अवयवों

भावप्रसक्तिः ।

यदपि 'अर्थान्तरगमनलक्षणो विनाशोऽसम्भवी परमाणुपर्यन्तत्वात्' सर्वविनाशानाम्' इत्यभिधानम्, तदप्यसंगतम्, तथाभूतविनाशे प्रमाणाभावात् । तथाहि — न तावदध्यक्षं तत्प्रतिपादने व्याप्रियते कपाल-पर्यन्तघटविनाशोपलम्भे तस्य व्यापारोपलम्भेः । नानुमानमपि, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः—अध्यक्षपूर्वकत्वेन तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थेऽनुपयोगात् । परमाणुपर्यन्ते च विनाशे घटादि-ध्वंसे न किञ्चिदप्युपलभ्येत, परमाणूनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । 'छिद्रघटेन(ना?)पाकनिक्षिप्तेन वा तेना-ऽनेकान्त' इति चेत् ? न, सर्वस्य पक्षीकृतत्वात्, अवयविनि च छिद्रस्योत्पन्नत्वात्, तस्य च निरवयव-त्वान्नावयवे तदुत्पत्तिः परमाणुषु तदसम्भवात् । 'पाकान्यथानुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो विनाशः परिकल्प्यत' इति चेत् ? न, विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिदविनाशोऽप्युत्पत्तिसम्भवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशाभ्युपगमे च तद्देशत्व-तत्संख्यात्वतत्परिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्पराद्यपात-प्रत्यक्षोप-

से ही उत्पन्न होना चाहिये । यदि कहे कि वैसी कल्पना तो प्रत्यक्षबाधित है क्योंकि अल्पपरिणामवाले तन्तु से वस्त्र उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष सर्वविदित है — तो घट के बारे में भी प्रत्यक्ष से सर्वविदित तथ्य यह है कि घट कपाल से नहीं किन्तु मिट्टीपिण्ड से ही उत्पन्न होता है अतः उस के कपालजन्यत्व की कल्पना भी बाधित हो जाती है ।

✽ परमाणु की अपरिवर्तनशीलता अघटित है ✽

उपरान्त, परमाणुओं का सदा-सर्वदा एकसा स्वरूप मानने वाले पक्ष में तो उन के सर्वथा अभाव को ही मानने का अतिप्रसंग हो सकता है । कारण, परमाणु का उत्पाद-विनाश न होने से उस का न तो कोई प्रागभाव है, न प्रध्वंसाभाव । इस स्थिति में उस में किसी भी अतिशय का आधान शक्य न होने से गगनकुसुम की तरह वह सर्वथा अकारक यानी कार्यक्रियाशून्य रह जायेगा जिस का दूसरा अर्थ है असत् होना । जब इस तरह परमाणु असत् हो जायेंगे तो फलतः द्रव्यणुकादि कार्यद्रव्य का अभाव भी प्रसक्त होगा, क्योंकि जिस का कोई हेतु (=जनक) नहीं है वह असत् होता है । कार्यद्रव्य के असत् हो जाने पर तदाश्रित परत्व-अपरत्वादि की प्रतीति भी घटेगी नहीं, फलतः काल-दिशारूप अमूर्तद्रव्य के भी अभाव की प्रसक्ति होगी, परिणामतः समग्र विश्व का अभाव प्रसक्त होगा ।

✽ परमाणुपर्यन्त द्रव्यनाशवार्त्ता असंगत ✽

जो यह कहा जाता है कि — 'अर्थान्तरगमनस्वरूप विनाश सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यनाश परमाणुपर्यन्त ही होता है । तात्पर्य, घट-वस्त्रादि द्रव्य जब नष्ट होता है तो अर्थान्तरभूत कपाल-खंडवस्त्रादि रूपान्तर को प्राप्त नहीं होते किन्तु कपाल-कपालिका-उपकपालिका यावत् द्रव्यणुक का भी नाश हो कर सिर्फ परमाणु बच जाते हैं । पुनः उन से द्रव्यणुकादि क्रम से कपालादि उत्पन्न होते हैं ।'— यह कथन, इस प्रकार के विनाश में कोई प्रमाण न होने से असंगत है । देखिये — 'घटादि द्रव्य का परमाणुपर्यन्त विनाश होता है' इस बात का निरूपण करने की प्रत्यक्ष की गुंजाईश ही नहीं है । प्रत्यक्ष तो सिर्फ कपालपर्यन्त विनाश को दिखाने की ही गुंजाईश धारण करता है ।

अनुमान की भी परमाणुपर्यन्तविनाश की सिद्धि में गुंजाईश नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष की जहाँ पहुँच नहीं

१. तेषां शरीरिन्द्रियाणां द्रव्यणुकादिविनाशक्रमेण तावद् विनाशो यावद् परमाणुरिति — प्रशस्त० कं० ।

लभ्यत्वादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । शूच्यग्रविद्धघटेनानेकान्तश्च परिहृत एव । न च कपालार्थी घटं भिन्द्यादापरमाण्वन्ते विनाशे । ततः प्रतीतिविरुद्धत्वान्नासावभ्युपगन्तव्य इति ॥३९॥

प्रस्तुतमेवाक्षेपद्वारेणोपसंहरत्याचार्यः —

बहुयाण एगसदे जइ संजोगाहि होइ उप्पाओ ।

णणु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ॥४०॥

वहाँ अनुमान की भी पहुँच नहीं हो सकती, कहा है कि अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्षानुसार होती है । इस विवादास्पद वार्त्ता में आगमप्रमाण तो निरुपयोगी है चूँकि ऐसा कोई उभयसम्मत आगम ही नहीं है जिस में इस तथ्य पर कोई प्रकाश डाला गया हो । परमाणुपर्यन्त विनाश के स्वीकार के विरुद्ध यह तर्क है कि घटादि का परमाणुपर्यन्त विनाश हो जाने पर वहाँ कपालादि कुछ भी दिखाई नहीं देगा, क्योंकि परमाणु जो बचते हैं वे तो अदृश्य होने का माना जाता है ।

यदि यह कहा जाय — ‘घटादि विनष्ट होने पर कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा — यह तर्क शिथिल है क्योंकि घट का विनाश होने पर भी छिद्रघट दिखाई देता है, तथा कच्चे घट को जब निभाडे में पाक के लिये रखा जाता है तब अग्निसंयोगरूप पाक से परमाणुपर्यन्त विनाश होने पर भी उसका सतत दर्शन होता है, अतः उस तर्क में अनैकान्तिकता है’ — तो यह ठीक नहीं है, चूँकि छिद्र घट और पाकगत घट भी पक्ष में ही अन्तर्भूत है, अतः वहाँ भी यह आपादन करना है कि परमाणुपर्यन्त विनाश मानने पर छिद्र घटादि की उपलब्धि नहीं हो सकेगी । दूसरी बात यह है कि परमाणुओं में छिद्र उत्पन्न नहीं हो सकता, अवयविविद्रव्य में ही वह उत्पन्न हो सकता है । छिद्र स्वयं आकाशमय होने से निरवयव होता है, अतः अवयव में तो छिद्रोत्पत्ति को अवकाश ही नहीं है, क्योंकि चरमावयव परमाणु कभी सछिद्र नहीं होता ।

❀ घटादि में रूपपरावर्त्तन का उपपादन ❀

यदि यह कहा जाय — ‘अग्निसंयोगरूप पाक से परमाणु में ही रूपपरावृत्ति सम्भव है, पाकनिहित घट के रूप की परावृत्ति होती है यह तो सर्वमान्य है, यदि परमाणुपर्यन्त विनाश न माना जाय तो परमाणु में रूप-परावृत्ति न होने से पक्व घट में भी वह संगत नहीं हो पायेगी, इस से सिद्ध हो जाता है परमाणुपर्यन्त विनाश’ — तो यह ठीक नहीं है । कारण, घटादिद्रव्य में रूपपरावर्त्तनकारक विशिष्ट सामग्री से, कथंचिद् अविनष्ट घटादि द्रव्य में भी नवीन रूपविशेष का उत्पाद हो सकता है । यदि परमाणुपर्यन्त विनाश माना जाय तो और भी बहुत विपदाएँ हैं, जैसे, ‘पाकनिहित घट का एक बार परमाणुपर्यन्त भंग हो जायेगा तो पुनः उसी घट में पाकदेशावस्थान शक्य नहीं होगा । ‘वही एकत्वादि संख्या भी तदवस्थ नहीं रह पायेगी । ‘पाक के पहले जितना परिमाण था उतना ही परिमाण संगत नहीं होगा । ‘पाक काल में घटादि के ऊपर जो ढक्कनादि रखा जाता है वह भी गिर जायेगा । ‘तथा, उस काल में वह सतत प्रत्यक्षोपलब्ध रहता है वह भी संगत नहीं होगा । यदि कहें कि — ‘सूई की नोक से अगर घट में अनुवेध किया जाय तब आप के मत में भी घट तो बदल गया है, तो वे सारी आपत्तियाँ यहाँ लगने से अनेकान्त दोष होगा’ — तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे जैन मत में तो परिणामवाद से इस का परिहार हो जाता है । यदि परमाणु-पर्यन्त विनाश माना जाय तो कभी कपालप्राप्ति के लिये घट को तोड़ दिया जाता है वह भी निरर्थक बन जायेगा । निष्कर्ष, परमाणु-पर्यन्तविनाश प्रतीति-विरुद्ध होने से स्वीकारार्ह नहीं है ॥३९॥

प्रतिपक्ष में आक्षेप के साथ प्रस्तुत चर्चा का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं —

द्व्यणुकादीनां सति संयोगे यद्येकस्य त्र्यणुकादेः कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति — अन्यथैकाभिधानप्रत्यय-
व्यवहाराऽयोगात्; नहि बहुषु 'एको घट उत्पन्नः' इत्यादिव्यवहारो युक्तः — 'ननु' इत्यक्षमायाम्
एकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशेऽपि युज्यते एव बहूनां समानजातीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभू-
ततया विभक्तात्मनामुत्पाद इति । तथाहि — घटविनाशाद् बहूनि कपालान्युत्पन्नानीत्यनेकाभिधानप्रत्यय-
व्यवहारो युक्तः, अन्यथा तदसम्भवात् । ततः प्रत्येकं त्र्यात्मकास्त्रिकालाश्रोत्पादादयो व्यवस्थिता इत्य-
नन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम् ॥४०॥

नन्वनन्ते काले भवत्वनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम्, एकसमये तु कथं तद् तदात्मकमवसीयते ?
— प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयते इत्याह —

एगसमयम्मि एगदवियस्स बहुया वि होंति उप्पाया ।

उप्पायसमा विगमा ठिईउ उस्सग्गओ णियमा ॥४१॥

एकस्मिन् समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति । उत्पादसमानसंख्या विगमा अपि तस्यैव

✽ एकद्रव्यनाश से अनेक का उत्पाद ✽

मूलगाथार्थ :- यदि बहु द्रव्यों के संयोग से ऐसा उत्पाद हो सकता है जो 'एक' शब्द का विषय बनता
है तो निश्चय ही एक के विभाग से बहु द्रव्यों का उत्पाद भी घट सकता है ॥४०॥

व्याख्यार्थ :- द्व्यणुकादि अनेक द्रव्यों के संयोग से त्र्यणुकादि एक कार्य द्रव्य का उत्पाद हो सकता है
— यह सर्वसम्मत तथ्य है । यदि ऐसा न होता तो 'एक' ऐसी संज्ञा, 'एक' ऐसी प्रतीति तथा 'एक' ऐसा
व्यवहार भी नहीं घटता । अनेक द्रव्यों का निर्देश करने के लिये 'एक घट उत्पन्न हुआ' ऐसा शब्दव्यवहार
करना उचित नहीं गिना जाता । अगर उक्त रीति से एक द्रव्य का उत्पाद संभव है — तो मूल ग्रन्थकार
यहाँ अक्षम्यतासूचक 'ननु' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं — एक कार्यद्रव्य का विनाश होने पर समानजातिवाले
एवं पूर्वद्रव्यविनाशात्मक, अनेक होने से परस्परविभक्त बहु द्रव्यों का उत्पाद भी हो सकता है । जैसे देखिये
— घट का भंग हुआ तब कहते हैं कि अनेक कपाल उत्पन्न हुए । वैसी प्रतीति भी होती है और वैसा ही
लोकव्यवहार भी होता है । यहाँ कोई अयुक्तता नहीं है, यदि कोई अयुक्तता होती तो वैसा कथन, वैसी प्रतीति,
वैसा लोकव्यवहार कुछ भी नहीं होता ।

समग्र चर्चा का निष्कर्ष यह है कि उत्पाद-व्यय और स्थैर्य ये एक एक त्रयात्मक यानी उत्पाद-व्ययस्थैर्यात्मक
है, तथा तीनों ही त्रैकालिक भी हैं । वास्ते एक एक द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक होने का सिद्ध होता है ॥४०॥

✽ एककाल में एकद्रव्य के अनन्त पर्याय कैसे ? ✽

शंका :- अनन्तकाल के पर्यायों की गिनती करने पर एक द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक हो सकता है, किन्तु
एक ही समय में एक द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक कैसे जान सकते हैं ?

समाधान :- पहले ३५-३६-३७ गाथा में दिखाया है उस दिशा में ध्यान से सोचेंगे तो एक ही द्रव्य
एक समय में अनन्त पर्यायात्मक हो सकता है यह भली भाँति जान सकते हैं । ४१वीं गाथा से भी यही
तथ्य दिखाते हैं —

मूलगाथार्थ :- यह औत्सर्गिक नियम है कि एक समय में एक द्रव्य के बहुत सारे उत्पाद होते हैं, जितने
उत्पाद होते हैं उतने ही विनाश और स्थितियाँ भी होती है ॥४१॥

तदैवोत्पद्यन्ते, विनाशमन्तरेणोत्पादस्याऽसम्भवात् । नहि पूर्वपर्यायाऽविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्भवितुमर्हति, प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसक्तिः, तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्येव स्यात् । स्थितिरपि सामान्यरूपतया तथैव नियता, स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात्, भावे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसंगात् ॥४१॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह —

काय-मण-वयण-किरिया-रूवाइ-गईविसेसओ वावि ।

संजोयभेयओ जाणणा य दवियस्स उप्पाओ ॥४२॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिकाहारभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातरसरुधिरादिपरिणतिवशाविर्भूतशिरोंऽगुल्या-
द्यङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्थूर-सूक्ष्म-सूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कायस्योत्पत्तिस्तदैवानन्तानन्तपरमाणु-

व्याख्यार्थ :- एक समय में एक द्रव्य के बहुत सारे उत्पाद होते हैं । जितने उत्पाद होते हैं उतने ही विनाश भी उस द्रव्य के उसी काल में आविर्भूत होते हैं । विनाश के विना उत्पत्ति का कभी संभव ही नहीं होता । पूर्वकालीनपिण्डादिपर्याय का विनाश हुए विना उत्तरकालीन घटद्रव्य का उत्पाद प्रगट ही नहीं हो सकता । (ध्यान में रहे कि यहाँ पूर्वकालीन और उत्तरकालीन यह क्रमशः पिण्ड और घट का विशेषण है न कि विनाश-उत्पाद का, क्योंकि वे तो समकालीन ही हैं ।) यदि पूर्वपर्याय-विनाश के विना ही उत्तरपर्याय उत्पन्न हो सकता है तब तो हर किसी द्रव्य में एककाल में सर्वपर्याय की संगति का अतिप्रसंग हो जायेगा, क्योंकि परमाणु-द्व्यणुकादि अथवा तन्तु-मिट्टीपिण्डादि द्रव्यों में पूर्व पूर्व पर्यायों का विनाश हुए विना ही नये नये भावि अनन्त पर्याय उत्पन्न हो कर पूर्वपर्यायसमुदाय में वृद्धि ही करते रहेंगे । अथवा, यह अतिप्रसंग हो सकता है कि घटपर्याय जैसे तन्तु द्रव्य का कार्य नहीं होता वैसे मिट्टी द्रव्य का भी कार्य नहीं होगा, क्योंकि घटोत्पत्तिकाल में जैसे तन्तुअवस्था विनष्ट नहीं होती वैसे ही मिट्टी की पिण्डावस्था भी नष्ट नहीं होगी । विनाश जैसे उत्पाद के साथ काल और संख्या से नियत है वैसे ही समानतया, उत्पाद के साथ उतनी स्थितियाँ भी उसी काल में नियत है ऐसा स्वीकारना चाहिये, क्योंकि विना स्थिति के जैसे शशसींग की उत्पत्ति नहीं होती वैसे उत्पाद भी सम्भव नहीं होगा । यदि विना स्थिति उत्पाद हो सकता है तो शशसींग की उत्पत्ति का भी अतिप्रसंग हो सकता है ॥४१॥

✽ शरीर के दृष्टान्त से अनन्तपर्यायों के उत्पाद का निरूपण ✽

एक काल में भी एक द्रव्य में अनन्तपर्याय कैसे होते हैं, इस तथ्य का दृष्टान्त के द्वारा समर्थन के लिये कहते हैं —

मूलगार्थ :- द्रव्य के उत्पाद के साथ शरीर-मन-वचन-क्रिया-रूपादि-गतिविशेष तथा संयोग-विभाग और ज्ञानपर्याय का भी उत्पाद होता है ॥४२॥

व्याख्यार्थ :- जिस समय एक काया द्रव्य उत्पन्न होता है उसी समय उसके साथ अनन्त उत्पाद मिले-जुले रहते हैं, वह इस प्रकार — अनन्तानन्त परमाणुप्रदेशों की आहाररूप में परिणति यानी उत्पत्ति होती है और तब उसके उपयोग के साथ रस-रुधिरादि धातुओं की उत्पत्ति होती है, उसके साथ ही रसादिपरिणाम के माध्यम से शिर, अंगुली आदि अंग-उपांग भावों के परिणमन से स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतरादि विविध अवयवों की उत्पत्ति होते समय समूचे अवयवसमुदायात्मक कायारूप एक अवयवी की उत्पत्ति होती है । काया की उत्पत्ति के साथ साथ उस के अंतरंगरूप में जो मन की उत्पत्ति होती है उस में भी मनोवर्गणा के अनन्तानन्त परमाणुओं

पचितमनोवर्गणापरिणतिप्रतिलभ्यमनउत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि 'कायोत्कृष्टतरवर्गणोत्पत्तिप्रतिलब्ध-वृत्तिरुत्पादः, तदैव च कायात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद् विषमीकृताऽसंख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्ताऽऽगाभिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्त-परमाण्वापादिततत्प्रमाणसंयोग-विभागानामुत्पत्तिः ।

यद्वा यदैव शरीरादेर्द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा सम्बन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्यव्याप्तिव्यवस्थिताकाश-धर्माधर्मादिद्रव्यसम्बन्धात् । तदैव च भाविस्वपर्याय-परज्ञानविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छोदर-चरणाद्यनेकावय-वान्तर्भावकमयूराण्डकरसशक्तीनामिव, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसंगात् । उत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकाश्च प्रतिक्षणं भावाः, शीतोष्णसम्पर्कादिवशादवान्तरसूक्ष्मतर-तमादिभेदेन तथैव स्व-परापेक्षया

की परिणति यानी अनन्त मनःपरमाणुओंमें मन के रूप में परिणमनशीलतारूप पर्यायों का आविर्भाव होता है ।

काया की उत्पत्ति के साथ साथ उस से सम्बद्ध विशेषक्रियात्मक वचन की उत्पत्ति होते समय काययोग से आकृष्ट भाषावर्णारूप अभ्यन्तरवर्गणा के अनन्त परमाणुओं की वाणीरूप में परिणमनशीलतास्वरूप अनन्त पर्यायों की उत्पत्ति होती है ।

तथा काय-क्रिया की उत्पत्ति में अनेक उत्पाद शामिल हैं, जैसे, शरीर और आत्मा के विलक्षण संयोग से जो अन्योन्यमयतारूप अन्योन्यानुप्रवेश होता है उसके प्रभाव से जीव के असंख्य प्रदेशों में वैषम्य हो जाने से शरीरक्रिया के उत्पाद काल में भी न्यूनाधिकतारूप वैषम्य का उदय होता है जिस से शरीरक्रिया का आविर्भाव होता है । तथा शरीर के साथ उस के रूपादि का भी उत्पाद होता है और ये रूपादि भी प्रतिक्षण जन्म-विनाशशील होते हैं । तथा काया उत्पन्न होती है तब मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के निमित्त से पूर्व में बँधे गये कर्म वर्तमानभव में उदयाभिमुख हो जाने पर तन्मूलक भावि (शरीर सहभावी)गतिविशेष भी फलोन्मुख होता है यह फलोन्मुखता भी विविध उत्पत्तिस्वरूप है जिस के अनेक भेद होते हैं । तथा, कायोत्पत्तिकाल में शरीरवासी आत्मा शरीरचयापचय के लिये अनन्तानन्त परमाणुओं का त्याग और ग्रहण करता है, उस वक्त उन परमाणुओं के समसंख्य संयोग-विभाग की आत्मा में उत्पत्ति होती है, अतः वह भी संख्या से अनन्त है ।

✿ शरीरोत्पत्ति के साथ सर्वद्रव्यसम्बन्धों का उत्पाद ✿

अथवा, जब शरीरादि एक द्रव्य की उत्पत्ति होती है उसी समय त्रैलोक्य में विद्यमान सभी द्रव्यों के साथ उस उत्पन्न द्रव्य के साक्षात् तथा परम्परा से अगणित सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं, क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश आदि द्रव्यों का सम्बन्ध सर्वद्रव्यव्यापी होता है । तथा उसी समय, उस शरीरादि द्रव्य में भविष्यत् युवा-वृद्धत्वादिस्वपर्याय तथा सर्वज्ञादिज्ञानविषयतादि परपर्यायों की जननशक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती है । इस तथ्य को मयूराण्डकगत रसशक्ति के दृष्टान्त से भलीभाँति समझ सकते हैं । मयूर के अण्डे में जिस समय रसोत्पत्ति होती है उसी समय रस के भीतर, सिर-ग्रीवा-चोंच-नयन-पीछ-उदर-पैर आदि आदि अवयवों को भावि में उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती है । ऐसा अगर न मानें तो भविष्यकाल में उन अवयवों की उत्पत्ति ही रुक जायेगी ।

१. स्याद्वादकल्पलतायां 'कायाकृष्टान्तरवर्ग०' इति पाठः समुचितः । हिन्दीविवेचन भी उसी पाठ के आधार पर लिखा है ।

युगपत् क्रमेण चोपलब्धेः । न च तर-तमादिभेदेन नव-पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिक्षणं तथोत्पत्ति-मन्तरेण सम्भवति । न चास्मदाद्यध्यक्षं निरवशेषधर्मात्मकवस्तुग्राहकं येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रति-पत्तेरभाव इत्युच्येत, अनुमानतः प्रतिक्षणमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलत्रैलोक्य-व्यावृत्तस्य च वस्तुनोऽध्यक्षेण ग्रहणे—तद्व्यावृत्तीनां पारमार्थिकतद्धर्मरूपतया—अन्यथा तस्य तद्व्या-वृत्तताऽयोगात्—कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्यक्षेण ग्रहणम् ? ॥४२॥

✽ हेत्वहेतुभ्यां धर्मावादद्वैविध्यम् ✽

इदानीं विदितनयत्वाद् विशिष्टप्रज्ञः शिष्यो विगृह्य कथनयोग्यः सम्पन्नः इति तस्य विग्रहकथनो-पदेशमाह — ‘दुविहो’ इत्यादि —

प्रत्येकं भाव प्रतिक्षण में उत्पाद-विनाश-स्थिति स्वभावत्रयात्मक होता है यह तथ्य, हेतु से भी सिद्ध होता है । हेतु यह है कि जिस भाव को एक साथ अथवा क्रमशः शीत और उष्ण द्रव्य का सम्पर्क होता है, उस भाव की अवान्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम आदि भेद से, तथा स्वअपेक्षा से यानी स्वतः शीत या उष्ण भेद से अथवा परतः (= परसम्पर्क से) शीतरूप में और उष्णरूप में अथवा शीतोष्णरूप में एक साथ अथवा क्रमशः उपलब्धि होती है । तात्पर्य यह है कि ठंडी या गर्मी की ऋतु में एक ही वस्तु का पहले अल्पतम शीत अथवा अल्पतम उष्ण के रूप में उत्पन्न होने का अनुभव होता है और बाद में उस के शीतोष्ण स्पर्श में तर-तम भाव से प्रतिक्षण परिवर्तन होता ही रहता है, यद्यपि मूलस्वरूप में तो वह अवस्थित ही रहता है । अल्पतम शीत या अल्पतमोष्ण रूप में नष्ट हो कर प्रतिक्षण अल्पतर शीत या अल्पतरोष्ण के रूप में उत्पन्न होता रहता है, इस प्रकार जो अनुभव होता है उस से यह सिद्ध होता है कि भाव मात्र प्रत्येक क्षण में उत्पाद-विनाश-स्थितिस्वभाव ही होता है, क्योंकि तर-तमादि भेद से नये-पुराने-स्वरूप में क्रमशः वस्तु की उपलब्धि तभी हो सकती है जब कि प्रतिक्षण उस प्रकार से उत्पत्ति मान्य की जाय ।

ऐसा नहीं कह सकते कि — ‘हम लोगों को कभी भी एक काल में एक वस्तु में अनन्त धर्मों का अनुभव नहीं होता, इसलिये एक वस्तु में अनन्त धर्म नहीं हो सकते’ — क्योंकि ऐसा तभी कहा जा सकता है कि कभी हम लोगों में से किसी को सकल (विद्यमान)धर्मात्मक वस्तु का ग्राहक प्रत्यक्ष यदि सिद्ध होता, तो सिद्ध वस्तु का अन्यत्र अभाव-प्रत्यक्ष माना जा सकता था, किन्तु वैसा नहीं है । वास्तव में, अनुमान से क्षण क्षण में वस्तु अनन्तधर्मात्मक कैसे होती है — इस का प्रतिपादन युक्तिपूर्वक पहले कर दिया है ।

✽ वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रत्यक्ष-ग्रहण ✽

वस्तु में अनन्त धर्मों का प्रत्यक्ष से ग्रहण हम लोगों को सर्वथा नहीं होता — ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सारे त्रैलोक्यगत पदार्थों से व्यावृत्त रूप में अश्वादि पदार्थों का प्रत्यक्ष बोध सर्वमान्य है, त्रिलोकवर्ती पदार्थों की व्यावृत्तियाँ तो वास्तव में हर किसी वस्तु के अपने ही धर्म हैं, यदि वे उसके धर्म नहीं माने जाय तो वह वस्तु अन्यपदार्थों से व्यावृत्त ही नहीं हो पायेगी । तात्पर्य यह है कि व्यावृत्ति स्ववृत्ति स्वैतरभेद स्वरूप होती है और वह स्व से अभिन्न होती है, अतः किसी भी वस्तु का स्व-रूप समस्त त्रैलोक्यवर्ती पदार्थों के भेदप्रतियोगितारूप सम्बन्ध के विना घटित ही नहीं होता । अतः अन्य सकल वस्तु से व्यावृत्तरूप में वस्तु के प्रत्यक्षबोध में भेदप्रतियोगी के रूप में अनन्त पदार्थों का ग्रहण भी हो जाने से वस्तु की अनन्तधर्मता का भी ग्रहण संगत है ॥४२॥

अथवा प्रत्यक्ष-परोक्षरूपः संक्षेपतो द्विविध उपयोग आत्मनः । तत्र प्रत्यक्षोपयोगस्त्रिविधः अवधि-मनःपर्याय-केवलभेदेन । तत्र केवलोपयोगः सकलविषयः प्राक् प्रतिपादितः । अवधि-मनःपर्यायोपयोग-स्त्वसकलविषयोऽस्मदादिभिरागमगम्यः । परोक्षोपयोगस्तु मति-श्रुतरूपो द्विविधः तत्राक्ष-लिंगप्रभवमत्यु-पयोगस्य स्वरूपमावेदितम् । श्रुतोपयोगस्य त्वाचार्यस्तद्धेतुभूतहेत्वहेतुवादभेदभिन्नागमप्रतिपादनद्वारेण स्वरूपमाह -

दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य ।

तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा ॥४३॥

वस्तुधर्माणामस्तित्वादीनाम् आ = समन्ताद् वादः = तत्प्रतिपादक आगमः अहेतु-हेतुवादभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपद्यते । प्रमाणान्तरानवगतवस्तुप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतस्त्वसौ हेतुवादः- 'हिनोति = गमयति अर्थमि'ति हेतुः, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः ।

✽ धर्मावाद के दो भेद ✽

४३ वीं मूलगाथा की दो प्रकार से अवतरणिका व्याख्याकार ने दिखायी है -

(१) पूर्व ग्रन्थ में विस्तार से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक एवं संग्रहादि नयों का प्रतिपादन किया गया है उस को पढने वाला शिष्य उस के ज्ञान को प्राप्त कर के विशिष्ट प्रज्ञावान् बन चुका है इसलिये विग्रह कर के यानी विभेद दिखा कर जो कथन किया जाय उसको समझने के काबिल हो गया है - ऐसा समझ कर अभी ४३ वीं गाथा से विग्रहकथन का उपदेश मूलग्रन्थकार करने जा रहे हैं - 'दुविहो' इत्यादि गाथा से ।

(२) अथवा, संक्षेप में आत्मा का उपयोग गुणधर्म दो भेद से है, प्रत्यक्ष और परोक्ष । इस में प्रत्यक्ष उपयोग के तीन भेद हैं अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान । उन में से केवलज्ञान उपयोग सर्व वस्तु स्पर्शी होता है यह पहले बताया जा चुका है । अवधि और मनःपर्याय ये दो उपयोग असंपूर्णवस्तुस्पर्शी हैं तथा सर्वज्ञ के आगम से ही आज-कल हम उन के बारे में कुछ जान सकते हैं । परोक्ष-उपयोग के दो भेद हैं - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । मतिज्ञानोपयोग का स्वरूप पहले दिखा आये हैं कि वह इन्द्रिय और लिंग (=हेतु) से उत्पत्तिशील होता है । अब यहाँ आचार्यश्री के द्वारा ४२ वीं गाथा से श्रुतोपयोग के स्वरूप को इस तरह दिखाया जा रहा है कि श्रुतोपयोग का हेतु आगम है जिस के दो भेद हैं हेतुवाद और अहेतुवाद । इस प्रकार श्रुतोपयोग का स्वरूप कहते हुए आगम के भेद का प्रतिपादन करते हैं -

मूलगाथार्थ :- धर्मावाद के दो भेद हैं अहेतुवाद और हेतुवाद, उन में भव्यत्व-अभव्यत्वादि भावों का निरूपण अहेतुवाद है ॥४३॥

✽ अहेतुवाद - हेतुवाद की व्याख्या ✽

व्याख्यार्थ :- 'धर्मावाद' शब्द में धर्म का मतलब है अस्तित्वादि वस्तुधर्म, 'आ-वाद' शब्द में आ यानी अनेक प्रकार से, वाद यानी (वस्तुधर्मों का) प्रतिपादन करनेवाला आगमशास्त्र । इस आगमस्वरूप धर्मावाद के दो भेद हैं अहेतुवाद और हेतुवाद । अहेतुवाद यानी अन्यप्रमाणों के लिये अगोचर ऐसी वस्तु का निरूपक जो आगम । हेतुवादागम इस से विपरीत होता है । बोधार्थक 'हि' धातु पर से 'हेतु' शब्द बना है, अर्थ का बोध करावे ऐसे लिंग को हेतु कहते हैं और यहाँ उस हेतु से ज्ञात होनेवाले अर्थ को भी 'हेतु' कहा

यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतुवादो दृष्टिवादात् प्रायेणान्यः । तत्र त्वहेतुवादो भव्याऽभव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः तद्विभागप्रतिपादनेऽध्यक्षादेः प्रमाणान्तरस्याऽप्रवृत्तेः । न हि ‘अयं भव्य अयं त्वभव्यः’ इत्यत्रागममन्तरेण प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसम्भवोऽस्मदाद्यपेक्षया ।

ननु ‘तद्विभागप्रतिपादकं वचो यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात् अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकवचोवत्’ इत्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानविषयता ? न, एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेः, तद्व्यतिरेकेण प्रमाणान्तरस्य तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्याभावात् । अर्हदागमस्य च प्रधानार्थसंवादानिबन्धन-तत्प्रणीतत्वनिश्चयेऽनुमानतोऽतीन्द्रियार्थविषये प्रामाण्यं निश्चीयते इत्यभ्युपगम्यत एव । आगमनिरपेक्षस्य तु प्रमाणान्तरस्यास्मदादेस्तत्र प्रवृत्तिर्न विद्यते इत्येतावताऽहेतुवादत्वमेतद्विषयागमस्योच्यत इति ॥४३॥

गया है । ऐसे ‘हेतु’ का प्रतिपादक आगम हेतुवादागम कहा जाता है । इस हेतुवादस्वभाव से जो विपरीत होता है वह वस्तुस्वरूपज्ञापक होने पर भी अहेतुवादागम कहा जाता है । प्रायशः दृष्टिवाद यानी १२वे अंगसूत्र से अन्य जितने भी आगम हैं वे करिब करिब अहेतुवादस्वरूप होते हैं । जैसे, कोई जीव भव्य होता है, कोई अभव्य, इस प्रकार के जीवविभाग का प्रतिपादन हम लोगों के प्रत्यक्षादि प्रमाण से शक्य नहीं है इसलिये भव्याभव्य-विभाग बताने वाला आगम अहेतुवाद है । ‘यह भव्य है, यह अभव्य है’ इस तथ्य की जानकारी में हम लोगों की अपेक्षा से देखा जाय तो जिनागम के अलावा और किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ।

❀ भव्यत्वादिविभाग आगमगोचर ही क्यों है ? ❀

प्रश्न :- भव्य-अभव्य विभाग अनुमानगम्य क्यों नहीं हो सकता ? देखिये – ‘भव्य-अभव्य जीवविभागप्ररूपक वचन (पक्षनिर्देश) यथार्थ है (–यह साध्य निर्देशः) क्योंकि जिनभाषित है (हेतु), जैसे अनेकान्तमयवस्तुप्ररूपक वचन (उदाहरण)’ – इस प्रकार के अनुमान में उक्त जीवविभाग भी विषय बन जाता है । अतः उक्त जीवविभाग अनुमानगम्य हो सकता है ।

उत्तर :- यहाँ पक्षनिर्देश यानी पक्ष के रूप में उक्त जीवविभाग का निर्देश आगम के विना शक्य ही नहीं है इसलिये ऐसा अनुमानप्रयोग करते समय भी आखिर यही सिद्ध होता है कि उक्त जीवविभाग आगमगम्य ही है, क्योंकि आगम को छोड़ कर, उक्त जीवविभाग का प्रथम बोध कराने वाला और कोई प्रमाण ही मौजूद नहीं है । हाँ, प्रधानभूत दृष्ट चन्द्र-सूर्यग्रहणादि अर्थ के संवादरूप हेतु से जिनभाषित आगम में आक्षरचितत्व का अनुमान से भान हो जाय तब अदृष्ट अतीन्द्रियपदार्थों के विषय में भी अनुमान के द्वारा आगमप्रामाण्य का निश्चय होता है – इस तथ्य को हम भी स्वीकारते हैं । यानी आगमनिर्दिष्ट भव्य-अभव्य जीवविभाग रूप विषय में आगम के प्रामाण्य का निश्चय संवादलिंगक अनुमान से जरूर हो सकता है, इसलिये उक्त जीवविभागादि पदार्थों को अनुमानगम्य (हेतुगम्य) मानने में कोई बाध नहीं है ।

अहेतुवाद कहने का मूल तात्पर्य इतना ही है कि अनुमान से जिस विषय में आगम-प्रामाण्य निश्चित होता है उस विषय का भान पहले आगम से हो जाय, तभी अन्य अनुमानादि प्रमाण की वहाँ प्रवृत्ति शक्य है, आगमनिरपेक्ष हमारे अन्य किसी प्रमाण की उक्त जीवविभागादि विषय में प्रवृत्ति शक्य नहीं है, इतना मात्र सूचित करने के लिये यहाँ उक्त जीवविभागादि प्रतिपादक आगम को अहेतुवादस्वरूप बताना अभीष्ट है ॥४३॥

(महोपाध्याय श्रीयशोविजयमहाराज भी स्याद्वादकल्पलता के दूसरे स्तबक में २३वे श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं कि “आगमान्य प्रमाण के अगोचर वस्तु का सर्वप्रथम प्रतिपादन आगम से ही शक्य है अतः वैसी अतीन्द्रिय वस्तु हेतुवाद का क्षेत्र नहीं है, यद्यपि आगमनिर्देश के बाद आगमसापेक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति शक्य होने से अतीन्द्रिय पदार्थ हेतुवाद की परिधि में आ जाता है, फिर भी हेतुवाद-आगमवाद की शास्त्रीयव्यवस्था

वचनव्यापारं केवलमपेक्षायं क्रमः । यदा तु ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यविषये यथावदनुष्ठानप्रवणः तद्विकलश्च पुरुषः प्रतीयते तदाऽनुमानगम्योऽपि तद्विभागो भवति, यथा भव्योऽभव्यो वायं पुरुषः सम्यग्ज्ञानादि-परिपूर्णाऽपरिपूर्णत्वाभ्याम् लोकप्रसिद्धभव्याभव्यपुरुषवत् । अहेतुवादागमावगते वा धर्मिणि भव्याऽभव्य-स्वरूपे तद्वि(?दवि)परीतनिर्णयफलो हेतुवादः प्रवर्तते । योऽयमागमे भव्यादिरभिहितः स तथैव, यथोक्तहेतुसद्भावादित्याह -

भविओ सम्महंसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।

णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥४४॥

भव्योऽयम् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यप्रतिपत्तिसम्पूर्णत्वात् उक्तपुरुषवत् । तत्परिपूर्णत्वादेव नियमात् संसारदुःखान्तं करिष्यति कर्मव्याधेरात्यन्तिकं विनाशमनुभविष्यति, तन्निबन्धनमिथ्यात्वादिप्रतिपक्षाभ्यास-सात्मीभावात्, व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथाविधातुरवत् । यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्म्यवान्

का भंग नहीं होता क्योंकि प्राथमिक ज्ञान के लिये ही उक्त व्यवस्था का निरूपण किया गया है ।)

यहाँ जो पहले अहेतुवाद, बाद में हेतुवाद ऐसा क्रम दिखाया गया है वह सिर्फ वचनव्यापार की अपेक्षा से ही दिखाया है, इस लिये यह कोई नियम नहीं कि पहले अहेतुवाद का विषय बनने के बाद ही वह हेतुवादविषय बन सके । कोई ऐसा भी अनुमान कर सकता है कि एक पुरुष विधिबहुमान से ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के अनुष्ठान में तत्पर है इसलिये भव्य है, दूसरा पुरुष वैसा नहीं है, इन दो पुरुषों के लिये क्रमशः ऐसे दो अनुमान आसानी से कर सकते हैं कि यह पुरुष भव्य है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि से अलंकृत है जैसे लोक में प्रसिद्ध सज्जनपुरुष । दूसरा पुरुष अभव्य है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि से सर्वथा पराङ्मुख है जैसे लोकप्रसिद्ध दुर्जनात्मा । इस प्रकार भव्याभव्यविभाग अनुमानगोचर हो सकता है ।

अथवा, केवलागमगम्य पदार्थों के बारे में जैसे कि भव्यस्वरूप-अभव्यस्वरूप आगमनिर्दिष्ट धर्म के बारे में आगम जिसे 'भव्य' करार देता है वह उस से विपरीत नहीं किन्तु वैसा ही है; तथा आगम जिसे अभव्य करार देता है वह उस से विपरीत नहीं किन्तु वैसा ही है - इस प्रकार के अविपरीतनिर्णय के फल को निपजाने में हेतुवाद अति उपयोगी बनता है । - इस तथ्य को नीचे ४४ वीं गाथा में बताया जा रहा है कि आगम में जो भव्य आदि तथ्य बताये गये हैं वे यथार्थ ही हैं -

मूलगार्थः :- 'जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के अंगीकार से समृद्ध है, वह अवश्य दुःख का उच्छेद करेगा' यह हेतुवाद का लक्षण है ॥४४॥

✽ हेतुवाद का प्रतिपादन ✽

व्याख्यार्थ :- यह आत्मा भव्य है क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के अंगीकार से परिपूर्ण है जैसे कि कोई सज्जन पुरुष । भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि से परिपूर्ण होने के कारण अवश्यमेव संसार के दुःखों का अन्त करेगा । तात्पर्य, कर्मरूप बिमारी का अत्यन्त यानी अपुनर्भाव से विनाश अनुभव करेगा । कर्म बिमारी का मूल मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-योग हैं । मिथ्यात्वादि का प्रतिपक्ष है सम्यग् दर्शनादि, जब उस का अभ्यास आत्मसात् हो जाता है तब बिमारी को टलना ही पडता है । जैसे, किसी बुखार आदि बिमारी के जो कारण होते हैं अतिभोजन आदि, उस के प्रतिकूल आचरण, हित-मित आहार और औषध का ग्रहण किया जाता है तो उस बिमार की बिमारी टल जाती है । जो कर्मव्याधि के प्रतिपक्ष का अभ्यास आत्मसात्

नासौ दुःखान्तकृद् भविष्यति तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधातुरवत् इति हेतुवादस्य लक्षणम् । हेतुवादश्च प्रायो दृष्टिवादः तस्य द्रव्यानुयोगत्वात्, “सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः (त० सू० १-१) इत्यादेरनुमानादिगम्यस्यार्थस्य तत्र प्रतिपादनात् । यथा चात्रानुमानादिगम्यता तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते ग्रन्थविस्तरभयात् ॥४४॥

‘जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्’ (त० सू० १-४) इत्युभयवादागमप्रतिपाद्यान् भावांस्तथैवाऽसंकीर्णरूपान् प्रतिपादयन् सैद्धान्तिकः पुरुषः, इतरस्तु तद्विराधक इत्याह —

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ ।

सो ससमयपण्णवओ सिद्धन्तविराहओ अन्नो ॥४५॥

यो हेतुवादागमविषयमर्थं हेतुवादागमेन, तद्विपरीतागमविषयं चार्थमागममात्रेण प्रदर्शयति वक्ता स स्वसिद्धान्तस्य = द्वादशांगस्य प्रतिपादनकुशलः, अन्यथा प्रतिपादयंश्च—तदर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् तत्प्रतिपादके वचस्यनास्थादिदोषमुत्पादयन् सिद्धान्तविराधको भवति, सर्वज्ञप्रणीतागमस्य निस्सारता

नहीं करता है वह सांसारिक दुःखों का विनाश नहीं कर पायेगा, जैसे कोई आदमी बुखार जैसी बिमारी के कारणभूत अपथ्य भोजन में ही प्रवृत्त रहता है वह बुखार को दाल नहीं सकता । इस प्रकार भव्यजीव के बारे में जो अनुमान बताया जाता है वह हेतुवाद का लक्षण है । द्वादशांग जैनागम में जो बारहवा अंग है ‘दृष्टिवाद’, वह प्राय हेतुवादागमस्वरूप होता है क्योंकि उसकी गणना चार अनुयोगों में से द्रव्यानुयोग में की गयी है । द्रव्यानुयोग में विविध द्रव्य-गुण-पर्यायों की विचारणा विस्तार से तर्क-हेतु आदि से की जाती है । अतः उस में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग इत्यादि अनुमानगोचर विषयों की चर्चा का प्रतिपादन विस्तार से किया जाता है । सम्यग् दर्शनादि तीन मिल कर कैसे मोक्षमार्ग बनता है — इस विषय की विस्तृत चर्चा यहाँ ग्रन्थविस्तार के भय से नहीं करते किन्तु वहाँ कैसे कैसे अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है इस की चर्चा में श्री गन्धहस्ती आदि पूर्वाचार्यों ने अच्छा कौशल दिखाया है ॥४४॥

✽ अन्यथाप्रतिपादन में सिद्धान्तविराधना ✽

सम्यग्दर्शन यानी तत्त्वार्थश्रद्धा है, यहाँ तत्त्व ये सात हैं; ^१जीव, ^२अजीव, ^३आश्रव, ^४संवर, ^५बन्ध, ^६निर्जरा और ^७मोक्ष । इन तत्त्वों में से कुछ जीवादि तत्त्व हेतुवादागमगम्य हैं, कुछ बन्ध-निर्जरादि अहेतुवादागमगम्य होते हैं, कुछ उभयगम्य भी होते हैं, जो तत्त्व जिस प्रकार के आगम का विषय हो उसका उसी प्रकार असंकीर्णरूप से प्रतिपादन करना चाहिये । तात्पर्य, जो हेतुवादगम्य हैं उन को सिर्फ आगमगम्य बताना या जो सिर्फ आगमगम्य हैं उन को आगमनिरपेक्ष हेतुवादगम्य भी बताना ऐसी संकीर्णता करना यह जैनागम की विराधना है । अतः उक्त द्विविध विभाग का असंकीर्णरूप से प्रतिपादन करनेवाला पुरुष वास्तव में सैद्धान्तिक पुरुष है, उस से विपरीत प्रतिपादन करनेवाला सिद्धान्तविराधक है — इस बातको ४५वीं गाथा से कहते हैं —

मूलगार्थः :- जो हेतुवादपक्ष में हेतुक (= हेतुवादी) है और आगमपक्ष में आगमिक (= आगमवादी) है वही स्वसिद्धान्त का प्ररूपक है, दूसरा तो सिद्धान्त-विराधक है ॥४५॥

व्याख्यार्थः :- प्ररूपक पुरुष यदि हेतुवादागमसम्बन्धि पदार्थ का हेतुवादागम के रूप में, तथा अहेतुवादागमसम्बन्धि पदार्थ का अहेतुवादागम के रूप में प्रदर्शन करता है वह स्वसमय यानी केवलभाषित द्वादशांग-आगम के प्रतिपादन में कुशल है, अधिकारी है । जो उलटा प्रतिपादन करनेवाला है वह, उलटे ढंग से अर्थ का यथार्थ प्रतिपादन

प्रदर्शनात् तत्प्रत्यनीको भवतीति यावत् ।

तथाहि — पृथिव्यादेर्मनुष्यपर्यन्तस्य षड्विधजीवनिकायस्य जीवत्वमागमेन अनुमानादिना च प्रमाणेन सिद्धं तथैव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापकः, अन्यथा तद्विराधकः । यतः प्रव्यक्तचेतने त्रसनिकाये चैतन्य-लक्षणं जीवत्वं स्वसंवेदनाध्यक्षतः स्वात्मनि प्रतीयते, परत्र त्वपरेणानुमानतः । वनस्पतिपर्यन्तेषु पृथिव्यादिषु स्थावरेषु अनुमानतश्चैतन्यप्रतिपत्तिः । तथाहि, “वनस्पतयश्चेतनाः, वृक्षायुर्वेदाभिहितप्रति-नियतकालायुष्क-विशिष्टौषधप्रयोगसम्पादितवृद्धि-हानि-क्षत-भग्नसंरोहण-प्रतिनियतवृद्धि-षड्भाववि-कारोत्पादनाशावस्थानियतविशिष्टशरीरस्निग्धत्व-रुक्षत्व-विशिष्टदौहद-बालकुमार-वृद्धावस्था-प्रतिनियत-विशिष्टरस-वीर्यविपाकप्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहणादिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः, विशिष्टस्त्रीशरीरवत्” — इत्याद्यनु-मानं भाष्यकृतप्रभृतिभिर्विस्तरतः प्रतिपादितं तच्चैतन्यप्रसाधकमित्यनुमानतः तेषां चैतन्यमात्रं सिद्ध्यति । साधारण-प्रत्येकशरीरत्वादिकस्तु भेदः —

शक्य न होने के कारण, उस के प्ररूपक श्री जिन के वचनों में अनास्था = अविश्वास आदि दोष को जन्म देता हुआ सिद्धान्तविराधक बन बैठता है । तात्पर्य, विपरीतवादी पुरुष सर्वज्ञरचित आगम को असार दिखा कर यानी उसमें लघुता का आपादन करके वह जिनागम का दुश्मन बन बैठता है ।

✽ षड्जीवनिकाय में चैतन्यसाधक प्रमाण ✽

स्पष्टता :- पृथ्वीकाय जीव से ले कर अप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पतिकाय और त्रसकाय में मनुष्यपर्यन्त छः जीवनिकायों में जीवत्व यानी चैतन्य, आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाण दोनों से सिद्ध है । दशवैकालिक सूत्र के षट्जीवनिकायाध्ययन तथा श्री आचारांगसूत्र के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन इत्यादि आगमों से पृथ्वीकाय आदि में चैतन्य सिद्ध है । अनुमान से भी सिद्ध है यह आगे दिखायेंगे । यह जैसा है वैसा ही प्रतिपादन करनेवाला उपदेशक स्वसिद्धान्त का प्ररूपक होता है, यदि इस से विपरीत प्रतिपादन करता है तो वह सिद्धान्त का विराधक है । त्रसकाय जीवों की चेतना सुव्यक्त होती है, हर एक त्रसकाय जीव को अपनी आत्मा में चैतन्यस्वरूप जीवत्व स्वसंविदित प्रत्यक्ष अनुभव से महेसूस होता है । अन्य त्रस जीव में चैतन्य का एहसास स्वदृष्टान्तमूलक अनुमान से हो सकता है । पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकायपर्यन्त स्थावरकाय जीवों में भी अनुमानप्रमाण से चैतन्य का बोध कर सकते हैं ।

✽ वनस्पति में चैतन्यसाधक लिंग ✽

देखिये - वनस्पति सचेतना होती है (यह प्रतिज्ञा है), क्योंकि वृक्षायुर्वेदशास्त्र में जो लक्षण कहे हैं वे चैतन्य के विना संगत नहीं हो सकते । (यह हेतु निर्देश हुआ) उदा० विशिष्ट महिला का शरीर । चैतन्य के विना संगत न होने वाले वे लक्षण ये हैं - स्त्री-शरीर की तरह वनस्पतियों का आयुष्यकाल मर्यादित ही होता है, विशिष्ट यानी प्रतिकूल-अनुकूल औषध प्रयोग से उन में हानि-वृद्धि भी होती है, उन में भी जखम होते हैं - हड्डी की तरह टूट-फुट होने पर भी पुनः रुझान आती है, क्रमशः नियत सीमा तक उनकी वृद्धि होती रहती है, छः प्रकार के ‘जन्म-अस्तित्व-विपरिणाम-वृद्धि-अपक्षय-विनाश’ इन विकारों का उन में दर्शन होता है, उन का विशिष्ट शरीर उत्पत्ति-विनाश अवस्था से ग्रस्त होता है, उनमें स्निग्धता-ऋक्षता भी होती है, उन में विशिष्ट दोहद भी देखे जाते हैं, बाल-कुमार-वृद्धावस्था भी उन में उपलब्ध हैं, विशिष्ट कोटि के नियत रस-वीर्य और विपाक भी दिखाई देता है तथा नियत प्रमाणवाले आहार का ग्रहण भी करते हैं । ये सब लक्षण स्त्रीशरीर और वनस्पतिकाय में समानरूप से उपलब्ध होते हैं जो चेतना के विना संगत नहीं हो

‘गूढसिर-संधि-पव्वं समभंग-महीरगं च छिण्णरुहं । साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥’
(जीवविचार प्र० गाथा-१२) इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव ।

जीवलक्षणव्यतिरिक्तलक्षणास्त्वजीवा धर्माऽधर्माकाश-काल-पुद्गलभेदेन पञ्चविधाः । तत्र पुद्गलास्ति-कायव्यतिरिक्तानां स्वतोमूर्त्तिमद्द्रव्यसम्बन्धमन्तरेणात्मद्रव्यवदमूर्त्तत्वाद् अनुमानप्रत्ययावसेयता । तथाहि, गति-स्थित्यवगाहलक्षणं पुद्गलास्तिकायादिकार्यं विशिष्टकारणप्रभवं विशिष्टकार्यत्वात्, शाल्यंकुरादिकार्यवत्, यथासौ कारणविशेषः स धर्माऽधर्माऽऽकाशलक्षणो यथासंख्यमवसेयः । कालस्तु विशिष्ट-परापरप्रत्ययादिलिंगानुमेयः । पुद्गलास्तिकायस्तु प्रत्यक्षाऽनुमानलक्षणप्रमाणद्वयगम्यः । यस्तेषां धर्मादीनामसंख्येयप्रदेशात्मकत्वादिको विशेषः तत्प्रदेशानां च सूक्ष्म-सूक्ष्मतरत्वादिको विभागः स ‘कालो य होइ सुहुमो’ () इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव नागमनिरपेक्षयुक्त्यवसेयः । एवमाश्रवादिष्वपि तत्त्वेषु

सकते । इस प्रकार के अनेक अनुमान विशेषावश्यकभाष्यकार ने विस्तार से कहे हैं (वि० आ० भा० गाथा १०३ पृ० ६८-६९), जो चैतन्य के उद्घोषक हैं ।

यद्यपि इस प्रकार के अनुमान से वनस्पति आदि जीवों में सिर्फ चेतना ही सिद्ध होती है, उन में जो ‘साधारण (=अनन्तकाय) और प्रत्येक’ ऐसा शास्त्रोक्त द्विविध विभाग है वह तो सिर्फ आगमगोचर ही होता है । आगम में (जीवविचार ग्रन्थ में) कहा है, ‘जिस के सिरा-संधि और पर्व गुप्त होते हैं, समान छेद होता है, भूमि के नीचे उगता है (ऐसे कन्द), छिन्न टुकड़े भी उगते हैं -- ऐसा वनस्पतिकाय ‘साधारण’ है और इन से उलटे लक्षणवाला वनस्पतिकाय ‘प्रत्येक’ हैं ।

✽ अजीव द्रव्यों का लक्षण-निर्देश ✽

जीव के कहे गये लक्षणों से विपरीत लक्षण जिन में होते हैं उन्हें ‘अजीव’ कहा जाता है । अजीव के पाँच भेद हैं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और पुद्गल (भौतिकद्रव्य) । पुद्गल की बात बाद में करेंगे । पुद्गलभिन्न जो चार अजीव हैं वे मूर्त्तद्रव्य के सम्बन्ध से उपचारतः मूर्त्त कहे जाय तो अलग बात है बाकी स्वयं तो आत्म-द्रव्य की तरह अरूपी और अमूर्त्त हैं, इसलिये उन का प्रत्यक्ष हम लोगों को अशक्य है, हाँ अनुमान से उन की प्रतीति शक्य है (आगम से तो है ही) । देखिये यह अनुमान -- ‘जीव और पुद्गल के जो गति, स्थिति और अवगाहना ये तीन कार्य हैं वे विशिष्टकारणजन्य हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे कार्य विशिष्ट कोटि के हैं (हेतु), जैसे शालीजन्य अंकुरादि विशिष्ट कार्य ।

✽ धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्य ✽

यहाँ क्रमशः जो गति का कारणविशेष सिद्ध होता है उस की ‘धर्मास्तिकाय’ संज्ञा की गयी है, स्थिति के कारणविशेष की ‘अधर्मास्तिकाय’ संज्ञा की गयी है और अवगाहना के कारणविशेष की ‘आकाश’ संज्ञा की गयी है । तथा, विशिष्ट ढंग से जो ‘यह उस से बड़ा है और यह इस से छोटा’ इस प्रकार के परत्व-अपरत्व की प्रतीति होती है उस को लिंग बना कर पूर्ववत् विशिष्ट कारण के रूप में ‘काल’ का अनुमान हो सकता है । तथा, पुद्गलास्तिकाय का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से तो होता ही है और वृक्षकम्पनादि लिंग से वायु आदि पुद्गलों का अनुमानप्रमाण से भी बोध होता है ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में अविभाज्य असंख्य प्रदेश होते हैं यह विशेषता है, आकाश के अनन्त प्रदेश यह उस की विशेषता है, काल के समय-आवलिकारूप खंड यह उसकी विशेषता है, पुद्गल का चरम

युक्त्यागमगम्येषु युक्तिगम्यमंशं युक्तित एव, आगमगम्यं तु केवलागमत एव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापकः, इतरस्तु तद्विराधक इति प्रज्ञापकलक्षणमवगन्तव्यम् ॥४५॥

यो हेतुसाध्यमर्थं हेतुना साधयति आगमसिद्धं च आगमेन, तस्य नयवादः परिशुद्धः नान्यस्येत्येतदेवाह 'परिशुद्धः' इत्यादि;

यद्वा वस्तुधर्मप्रतिपादकोऽहेतु-हेतुवादप्रभेद आगमो वाक्यनय-रूपः परिशुद्धेतरभेदेन द्विरूपतां प्रतिपद्यते इत्याह -

परिशुद्धो नयवाओ आगममेत्तत्थसाहओ होइ ।

सो चेव दुण्णिगिण्णो दोण्णि वि पक्खे विधम्मोइ ॥४६॥

परि = समन्तात् शुद्धो नयवादः यदा विवक्षिताऽविवक्षितानन्तरूपात्मकवस्तुप्रतिपादकं नयवाक्यं प्रवर्तते 'स्यान्नित्यम्' इत्यादिकं तदा भवति, प्रमाणपरिशुद्धागमार्थमात्रस्य न्यूनाधिकव्यवच्छेदेन प्रतिपादनात् अधिकस्याऽसम्भवेन न्यूनस्य च नयानामसर्वार्थत्वप्रसंगतोऽर्थस्य परिशुद्धागमविषयत्वाऽयो-

अंश परमाणु होता है, इन में कोई सूक्ष्म होता है (जैसे काल) तो कोई सूक्ष्मतर होता है (जैसे गगन) इत्यादिरूप में जो विभाग है वह केवल 'कालो य होइ सुहुमो' () = काल सूक्ष्म होता है इत्यादि आगमप्रमाण से ही जान सकते हैं, वहाँ आगमनिरपेक्ष अनुमानादि प्रमाण मूक हैं ।

जीव-अजीव के बाद आश्रव-संवरादि मोक्षपर्यन्त जो तत्त्व हैं, ये सभी कुछ अंश में आगमगम्य तो कुछ अंश में युक्तिगम्य होते हैं, अतः जो युक्तिगम्य अंश हैं उस का युक्ति से ही प्रतिपादन करनेवाला और आगमबोध्य अंश का आगम से प्रतिपादन का कर्ता वह स्व-समयप्रज्ञापक कहा जायेगा, उस के बदले उलटा प्रतिपादन करनेवाले को आगम का विराधक कहा जायेगा -- इस प्रकार यह प्रज्ञापक का लक्षण पिछान लेना चाहिये ॥४५॥

✽ परिशुद्ध नयवाद - अपरिशुद्ध नयवाद ✽

व्याख्याकार ४६ वीं मूलगाथा की अवतरणिका दो प्रकार से दिखाते हैं -

हेतुसाध्य अर्थ की सिद्धि हेतु के द्वारा और आगमसिद्ध अर्थों की सिद्धि आगम से करनेवाला जो प्रज्ञापक है उस की प्रज्ञापना जैसे स्वसमयप्रज्ञापना है वैसे ही उसीका नयवाद भी परिशुद्ध होता है, दूसरों का नहीं, यह तथ्य ग्रन्थकार प्रदर्शित करने जा रहे हैं -

अथवा, वस्तु के धर्मों को दिखानेवाला आगम जो अहेतुवाद और हेतुवाद ऐसे दो भेदवाला है वह वाक्यात्मक, अत एव नयगर्भित होता है, उन में कोई परिशुद्ध होता है तो दूसरा अशुद्ध होता है, इस प्रकार जो दो भेद हैं उन की स्पष्टता के लिये कहते हैं -

मूलगाथार्थ :- परिशुद्ध नयवाद आगमोक्त अर्थमात्र का साधक होता है । दुर्निर्णीय यानी असदरूप से प्रयुक्त नयवाद दोनों ही पक्ष का विधर्मी बनता है, (अर्थात् अपरिशुद्ध बन बैठता है) ॥४६॥

व्याख्यार्थ :- परिशुद्ध शब्द में 'परि' का अर्थ है समन्तात् यानी अनेक दृष्टि से, वह नयवाद शुद्ध है जो विवक्षित एवं अविवक्षित अनन्तधर्मात्मक वस्तु के प्रदर्शक 'कथंचित् यह नित्य ही है' इस ढंग से नयवाक्यों का प्रयोग करता है । कारण, इस प्रकार के नयवाक्य से प्रमाणविशुद्ध आगमोक्त अर्थमात्र का ऐसा निरूपण होता है जिस में न तो कोई न्यूनता हो या अधिकता। यदि न्यूनाधिक दोषयुक्त वाक्यप्रयोग किया जाय तो

गात् । स एव नयवादः इतररूपनिरपेक्षैकरूपप्रतिपादकत्वेन यदा दुर्निक्षिप्तः प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाऽवतारितस्तदा द्वितीयधर्मनिरपेक्षस्य प्रतिपाद्यधर्मस्याऽप्यभावतोऽप्रतिपादनाद् अपरिशुद्धो भवति, प्रमाणविरुद्धस्य तथातदर्थस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् ॥४६॥

अपरिशुद्धश्च नयवादः परसमयः, कियद्भेदो भवति ? इत्याह —

जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया ।*

जावइया णयवाया तावइया चेव होंति परसमया ॥४७॥

अनेकान्तात्मकस्य वस्तुन एकदेशस्य यद् अन्यनिरपेक्षस्यावधारणम् अपरिशुद्धो नयः, तावन्मात्रार्थस्य वाचकानां शब्दानां यावन्तो मार्गाः = हेतवो नयाः तावन्त एव भवन्ति नयवादास्तत्प्रतिपादकाः शब्दाः । यावन्तो नयवादास्तावन्त एव परसमया भवन्ति स्वेच्छाप्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात् परसमयानां परिमितिर्न विद्यते । ननु यद्यपरिमिताः परसमयाः कथं तन्निबन्धनभूतानां नयानां संख्यानियमः 'नैगम-

वह परिशुद्धागमोक्त अर्थविषयक नहीं होगा, क्योंकि अधिक अर्थ का सम्भव नहीं होता, (यानी सर्वज्ञभाषित आगममोक्त अर्थ से अतिरिक्त अर्थ के प्रतिपादन में उस की गुंजाईश नहीं होती) तथा न्यून अर्थ का प्रतिपादन करने में वे नयगर्भितवाक्य सर्वार्थव्यापक नहीं हो पायेंगे, यह अतिप्रसंग है ।

यदि वही नयवाद अन्यधर्मनिरपेक्ष किसी एक धर्म के प्रतिपादन पर बल करेगा तो तब उस का अवतार सिर्फ प्रमाणविरुद्धार्थ प्रतिपादक रह जायेगा, फलतः वह अविशुद्ध कहा जायेगा, क्योंकि प्रतिपाद्य धर्म अपने सापेक्ष धर्मों के विरह में शून्य हो जाने से प्रतिपादन के काबिल ही नहीं रहेगा । अन्यधर्मनिरपेक्ष विवक्षितधर्म तो प्रमाण से विरुद्ध है इसलिये अन्यधर्मनिरपेक्षरूप में उस की प्रतिष्ठा कभी शक्य नहीं होती ।

✽ वचनमार्ग, नयवाद और अन्यदर्शनों की समान संख्या ✽

अपरिशुद्ध नयवाद यही पर(जैनेतर) समय है । उस के कितने भेद हो सकते हैं — यह ४७ वीं गाथा से कहते हैं —

मूलगाथार्थ :- जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हो सकते हैं, जितने नयवाद हैं उतने ही इतर दर्शन होते हैं ॥४७॥

व्याख्यार्थ :- वस्तु स्वयं अनेकान्तात्मक होती है । उस के अनेक अंश होते हैं, उस में से अन्य अंशों की अक्षम्य उपेक्षा से साथ किसी एक अंश का निर्धारण कर लेना यह अपरिशुद्ध नय है । उतने मात्र अंशभूत अर्थ के वाचक शब्दप्रयोग के हेतुभूत जितने अध्यवसायात्मक नय हैं, उतने ही नयवाद यानी उन के प्रतिपादक शब्द होते हैं । तात्पर्य यह है कि किसी एक वस्तु के भिन्न भिन्न अंशों को लेकर उस वस्तु का जितने प्रकार से निरूपण किया जा सकता है उतने नयवाद हो सकते हैं । जितने नयवाद हैं उतने ही अन्य दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि वे सभी एकान्त दर्शन स्वच्छंद ढंग से किये गये विकल्पों की नींव पर खड़े होने वाले हैं इस लिये उन की संख्या की कोई सीमा ही नहीं है ।

यदि पूछा जाय — अन्य दर्शन जब अगणित हैं तो उनके मूलभूत नयों की संख्या सीमित क्यों है ?

✽ यावन्तो वचनपथाः = वक्तृविकल्पहेतवोऽध्यवसायविशेषाः तावन्तो नयवादाः = तज्जनितवक्तृविकल्पाः शब्दात्मकाः सामान्यतो नैगमादिसप्तभेदोपग्रहेऽपि प्रतिव्यक्ति तदानन्त्यात् । यावन्तश्च नयवादास्तावन्त एव परसमयाः, निरपेक्ष-वक्तृविकल्पमात्रकल्पितत्वात् तेषाम् ।

संग्रह-व्यवहार-जुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूता नयाः' इति श्रूयते ? न, स्थूलतस्तच्छ्रुतेः, अवान्तरभेदेन तु तेषामपरिमितत्वमेव स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थ-प्रवादानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वात् ॥४७॥

ननु कं नयमाश्रित्य कः परसमयः प्रवृत्तः ? को वा कस्य विषयः ? इत्याह -
जं काविलं दरिसणं एयं दब्बट्टियस्स वत्तव्वं ।

सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥४८॥

यत् कापिलं दर्शनं = सांख्यमतम् एतद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम्, तद्विषयविषयम् तदुत्था-पितं चेति भावः । शौद्धोदनेस्तु परिशुद्धः पर्यायविशेष एव वक्तव्यः - परिशुद्धपर्यायास्तिकनयविशेष-विषयं तदुत्थापितं च सौगतमतमित्यभिप्रायः । मिथ्यास्वरूपनयप्रभवत्वात् अनयोः मिथ्यात्वं 'प्राक् प्रदर्शितमेव ॥४८॥

ननु भवतु परस्परनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः सांख्यसौगतमतयोर्मिथ्यात्वम्, कणभुग्मतस्य तु द्रव्या-

जैसे कि सुना जाता है 'नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं ।' - तो यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ सात नय का कथन सिर्फ मोटे तौर पर किया हुआ है, एक एक के अवान्तर भेद-प्रभेद गिने जाय तो वे अगणित होने का पता चलता है, कारण, स्वच्छंद कल्पनात्मक शिल्पियों के रचे हुये विकल्पों की संख्या की कोई इयत्ता नहीं होती, अतः उन विकल्पों से जन्मे हुए अन्यतीर्थिक प्रवादों का संख्यापरिमाण भी उन विकल्पों के समान ही होगा ॥४७॥

प्रश्न :- किस नय को पकड कर कौन सा अन्य दर्शन प्रवृत्त हुआ ? अथवा कौन से अन्य दर्शन का क्या विषय है ? इन प्रश्नों के उत्तर में कहते हैं -

✽ सांख्य-सौगतमत का उद्गमस्थान नय ✽

मूलगाथार्थ :- कपिल ऋषि का सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिकनय का वक्तव्य है, शुद्धोदनपुत्र बुद्ध का दर्शन परिशुद्ध पर्यायावलम्बि है ॥४८॥

व्याख्यार्थ :- जैन मतानुसार श्री ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर का पौत्र मरिचि था उस के शिष्य कपिल ऋषि ने सर्व प्रथम सांख्य दर्शन का प्रतिपादन किया । उस का वक्तव्यभूत विषय वही है जो द्रव्यार्थिकनय का विषय है । इसलिये द्रव्यार्थिक नय ही सांख्यदर्शन का मूल उद्गमस्थान है । द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को प्रधानता देने वाला है, सांख्य दर्शन ने इस दृष्टि को अपना कर पुरुष और प्रकृति ऐसे दो तत्त्व को अपने दर्शन में मुख्य स्थान दिया और प्रकृतितत्त्व को ही सारे जगत् का द्रव्य यानी उपादान कारण बताया ।

शुद्धोदन यह गौतमबुद्ध के पिता का नाम था । गौतम बुद्ध ने बौद्धमत की स्थापना की । परिशुद्ध यानी द्रव्य से निरपेक्ष पर्यायविशेष जो कि पर्यायनयों का विषय है वही बौद्धमत का विषय है । तात्पर्य यह है कि सर्वनयसमवायवादी जैन दर्शन के एक अंशभूत पर्यायनय को पकड कर बौद्ध दर्शन प्रवृत्त हुआ । पहले ही यह कह दिया है कि अन्योन्य निरपेक्ष एकान्तावलम्बि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नय मिथ्यावादी हैं और इन मिथ्यावादी नयों से उक्त सांख्य-बौद्ध दर्शन का उद्भव हुआ है इस लिये सांख्य-बौद्ध दर्शन भी मिथ्या है ॥४८॥

र्थिकपर्यायार्थिकनयद्रव्यावलम्बिनः कथं मिथ्यात्वम् ? इत्यत्राह —

दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।

जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ॥४९॥

द्राभ्यामपि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेत्रा, द्रव्य-गुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यानित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् ।

✽ वैशेषिकमतानुसारिणी पदार्थ-व्यवस्था ✽

तथाहि द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाख्याः षडेव पदार्थाः, न्यूनाधिकप्रतिपादकप्रमाणा-भावे परस्परविविक्तस्वरूपषट्पदार्थव्यवस्थापकप्रमाणविषयत्वात्, उभयाभिमतघटादिषट्पदार्थवत् । तत्र पृथिव्यप्-तेजो-वाय्वाकाश-काल-दिगात्म-मनांसि नवैव द्रव्याणि । ‘पृथिवी आपः तेजो वायुः’ इत्येतत् चतुःसंख्यं नित्याऽनित्यभेदाद् द्विप्रकारं द्रव्यम् । तत्र परमाणुरूपं नित्यम् “सदकारणवन्नित्यम्” (वैशे० द० ४१-१) इति वचनात् । तदारब्धं तु द्रव्यणुकादि कार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशादिकं तु नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् । एषां च द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद् द्रव्यरूपता, द्रव्यत्वाभिसम्बन्धश्च द्रव्यत्वसामान्योप-

✽ कणादमत को मिथ्या कहने का प्रयोजन ✽

प्रश्न :- अन्योन्य सर्वथा निरपेक्ष एक-एक नय को पकड कर बैठ जाने वाले सांख्यमत और बौद्धमत को मिथ्या कहा गया, उस में कोई आपत्ति नहीं है । किन्तु आप तो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नय का आश्रय लेने वाले कणादऋषि के मत को भी मिथ्या कहते हैं — ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में, ४९ वीं गाथा से कहते हैं —

मूलगाथार्थ :- उलूक (=कणाद) ऋषि ने दोनों नय के आधार पर अपना शास्त्र बनाया, फिर भी उस में मिथ्यात्व है, क्योंकि अपने अपने विषय को ही प्रधानता देने वाला होने के कारण उन दोनों का परस्पर निरपेक्ष भाव है ॥४९॥

व्याख्यार्थ :- वैशेषिकशास्त्र के प्रणेता उलूकऋषि ने जो ‘वैशेषिकसूत्र’ के नाम से प्रसिद्ध शास्त्र बनाया है उन्होंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों का अवलम्ब ले कर द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय इन छः पदार्थों का निरूपण किया है, किन्तु उसमें भी कुछ सामान्यादि पदार्थों को सर्वथा नित्य ही बताया, जब कि अन्य कर्मादि पदार्थों को एकान्त रूप से अनित्य ही बताया है ।

✽ वैशेषिकमतानुसारी पदार्थव्यवस्था ✽

वैशेषिक दर्शन में छः ही मूल पदार्थ दिखाये गये हैं — १द्रव्य २गुण ३कर्म ४सामान्य ५विशेष ६समवाय । छ से कम या अधिक पदार्थ सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, जब कि एक-दूसरे से स्वतन्त्र द्रव्यादि छ पदार्थ को सिद्ध करनेवाला प्रमाण मौजूद है । उस प्रमाण के छ ही स्वतन्त्र विषय हैं इसलिये पदार्थ छः ही हैं । जैसे किसी दो पक्षों की, प्रमाणसिद्ध घटादि छ पदार्थों में पूर्ण सम्मति होती है वैसा ही यहाँ है ।

नव द्रव्य हैं — १पृथ्वी, २जल, ३तेज, ४वायु, ५आकाश, ६काल, ७दिशा, ८आत्मा और ९मन । पहले चार, पृथ्वी-जल-तेज और वायु — द्रव्यों में नित्य और अनित्य ऐसे दो विभाग हैं । (१) जो सूक्ष्मतम अंश है उसे परमाणु कहा जाता है वह नित्य होता है । यह वैशेषिकसूत्र का वचन है ‘जो कारणजन्य न होने पर

लक्षितसमवायः, तत्समवेतं वा सामान्यम्, एतच्चेतरव्यवच्छेदकमेषां लक्षणम् । तथाहि — पृथिव्यादीनि मनःपर्यन्तानि इतरेभ्यो भिद्यन्ते 'द्रव्याणि' इति वा व्यवहर्त्तव्यानि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्, यानि तु नैवं न च तानि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवन्ति यथा गुणादिवस्तूनि, इति केवलव्यतिरेकिहेतुबलात्, पृथिव्यादीनि द्रव्याणि गुणादिभ्यो व्यावृत्तरूपाणि सिद्धानि । पृथिव्यादीनामपि भेदवतां पृथिवीत्वाभिसम्बन्धादिकं लक्षणमितरेभ्यो भेदव्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूपं द्रष्टव्यम् । अभेदवतां त्वाकाश-काल-दिग्द्रव्याणामनादि-सिद्धतच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या ।

नवैव चैतानि द्रव्याणि, न्यूनाधिकत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावे परस्परव्यावृत्तनवलक्षणयोगित्वात्, उभयाभिमतनवघटादिवत् । एवं रूपादयश्चतुर्विंशतिगुणाः । उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि पराऽपरभेदभिन्नं

भी सत् होता है वह नित्य होता है' । (२) अनेक परमाणु से निष्पन्न होनेवाले द्रवणुकादि कार्य द्रव्य अनित्य होता है । तदुपरांत, आकाशादि पाँच द्रव्य नित्य ही होता है, क्योंकि उन की कभी भी नयी उत्पत्ति नहीं होती ।

इन नव द्रव्यों में द्रव्यत्वजाति के सम्बन्ध से द्रव्यरूपता होती है । द्रव्यरूपता के प्रयोजक द्रव्यत्वाभिसम्बन्ध के दो अर्थ हो सकते हैं, १द्रव्यत्वरूप सामान्य से उपलक्षित समवायात्मक सम्बन्ध, २अथवा द्रव्य में समवेत द्रव्यत्वरूप सामान्य । यही द्रव्यत्वाभिसम्बन्ध नव द्रव्यों का साधारण लक्षण है, जो कि गुणादि पदार्थों से उन का भेदक या व्यवच्छेदक बन जाता है । जैसे देखिये — इस प्रकार व्यतिरेक अनुमान हो सकता है कि — पृथ्वी से ले कर मन तक के पदार्थ अन्य(गुणादि) से व्यावृत्त हैं, अथवा 'द्रव्य'व्यवहार के योग्य हैं क्योंकि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवाले हैं । जो द्रव्यरूप नहीं होते वे (गुणादि) द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवाले भी नहीं होते जैसे गुण-कर्म आदि । इस प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु के बल से पृथ्वी आदि, गुणादिव्यावृत्तरूप से द्रव्यस्वरूप सिद्ध होते हैं ।

जैसे द्रव्यों में गुणादिभेद और द्रव्यस्वरूपता सिद्ध की गयी है वैसे ही पृथ्वी में जलादिभेद एवं पृथ्वीव्यवहार, तथा जलादि द्रव्यों में जलादीतरभेद एवं जलादिव्यवहार सिद्ध करने के लिये पृथ्वीत्वादिसम्बन्धरूप लक्षण को केवलव्यतिरेकी हेतु बना कर अनुमान से उन में स्वेतरभेदव्यवहार अथवा पृथ्वीआदिशब्दवाच्यता का निरूपण किया जा सकता है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आत्मा और मन ये छः द्रव्य परस्पर भिन्न तो है ही किन्तु प्रत्येक में अनन्त भेद हैं इस लिये उन की सिद्धि केवलव्यतिरेकी हेतु से बतायी गयी है । आकाश-काल और दिशा द्रव्य स्वयं एक एक अभिन्न ही हैं उन में जो आकाशादिशब्दवाच्यता है वह अनादिसिद्ध है । (दिशा में जो पूर्व-उत्तरादि भेद हैं और काल में अतीतादि भेद हैं वे सब व्यवहार के लिये वैशेषिकमत में काल्पनिक हैं ।)

✽ नव द्रव्य, २४ गुण, पंच कर्म इत्यादि ✽

ये द्रव्य नव ही हैं । हेतु — नव से न्यून अथवा अधिक द्रव्यसंख्यासाधक कोई प्रमाण नहीं है और एक-दूसरे से भिन्न भिन्न ऐसे 'समवायिकारणत्व' आदि नव लक्षण में से एक एक स्वतन्त्रलक्षण को एक एक द्रव्य ने धारण किया है । जैसे कि उभय मत सम्मत घट-पटादि नव वस्तु (अथवा नव ग्रह या नव निधान) ।

द्रव्य के बाद गुण पदार्थ आता है, गुण रूप-रसादि २४ हैं । पाँच कर्म (क्रियाएँ) हैं — उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन । सामान्य नाम के पदार्थ के दो भेद हैं १परसामान्य यानी सत्ता और २अपरसामान्य द्रव्यत्व, गुणत्व आदि । यह सामान्य अनेक समान पदार्थों में समानाकार बुद्धि यानी अनुगतज्ञान का कारण

द्विविधं सामान्यमनुगतज्ञानकारणम् । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवः । अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानाम् 'इह' इतिप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवाय एको व्यापकश्च । अत्र च पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च केचिन्नित्या एव, केचित् त्वनित्या एव । कर्म अनित्यमेव । सामान्य-विशेषसमवायास्तु नित्या एवेति पदार्थव्यवस्था । ततश्चैतत् शास्त्रं तथापि मिथ्यात्वम्, तत्प्रदर्शित-पदार्थषट्कस्य प्रमाणबाधितत्वात् ।

✽ कणादोक्तपदार्थव्यवस्था न संगता ✽

यतश्चतुःसंख्यं पृथिव्यादिद्रव्यं परमाणुरूपं यन्नित्यमुपवर्णितम् तदसंगतम्, एकान्ताऽक्षणिकत्वे क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्त्तते, ततश्च असत्त्वमेव तस्य । यदि च स्थूलकार्यद्रव्यकारणभूतानामणूनां तज्जनकैकस्वभावता तदा तत्कार्याणां सकृदेव सर्वेषामुत्पत्तिप्र-
बनता है । विशेषपदार्थ नित्य परमाणु-आकाशादि द्रव्यों में रहता है, वह अंतिम विशेषरूप यानी अंतिमभेदकतत्त्वरूप होते हैं । तात्पर्य, दो विशेषों का भेदक कोई अन्य विशेष नहीं होता किन्तु वे अन्तिम विशेष स्वतः भिन्न होते हैं । इन विशेषों के प्रभाव से ही उन नित्य द्रव्यों का भेद सुरक्षित रहता है और योगियों को नित्य द्रव्यों में भेदबुद्धि होती है ।

'समवाय' सम्बन्धात्मक पदार्थ है और वह सर्वत्र व्यापक एवं एक ही है । १समवायी द्रव्य और समवेत द्रव्य, २गुण और द्रव्य, ३क्रिया और द्रव्य, ४जाति और जातिमान् तथा ५विशेष-विशेषवान् -- इतने आधेय-आधारभूत युगल पदार्थ परस्पर अयुत यानी अपृथग्भाव से एक-दूसरे को सदा चिपक कर ही रहने वाले हैं और उन को सदा चिपक कर रखने वाला जो सम्बन्ध है उसी को समवायसम्बन्ध कहा गया है । उसी के प्रभाव से 'यहाँ वस्त्र में श्वेतरूप' इत्यादि प्रतीतियाँ हो सकती हैं ।

ये छः पदार्थ हैं, उन में कुछ द्रव्य और गुण नित्य होते हैं जैसे परमाणु और उस का अणुपरिमाणु इत्यादि । कुछ द्रव्य और गुण अनित्य होते हैं जैसे दीपक और उसका उष्णस्पर्श इत्यादि । कर्म(क्रिया) तो सब अनित्य ही हैं । सामान्य, विशेष और समवाय ये तीनों नित्य ही होते हैं । नित्य यानी अनुत्पन्न पदार्थ और अनित्य यानी सोत्पत्तिक पदार्थ । यह पदार्थव्यवस्था जो वैशिष्टिकशास्त्र में बतायी गयी है, उस में यद्यपि नित्य और अनित्य अथवा द्रव्य और पर्याय के अंगीकार से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक उभय नय का आशरा लिया गया है फिर भी उस में मिथ्यात्व तदवस्थ ही रहा हुआ है, क्योंकि इस प्रकार बताये गये एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य छ पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं किन्तु प्रमाणबाधित है ।

✽ वैशेषिक मत समालोचना का प्रारम्भ ✽

कणादभाषित तत्त्वव्यवस्था यानी षट्पदार्थी कैसे प्रमाणबाधित है इसकी स्पष्टता अब व्याख्याकार विस्तार से दिखाना चाहते हैं । अतः प्रारम्भ में कहते हैं कि परमाणुस्वरूप पृथ्वीआदि चार द्रव्यों को नित्य बताया है वह संगत नहीं है । कारण, एकान्त अक्षणिकत्व (यानी नित्यत्व) पक्ष में परमाणु के द्वारा क्रमशः अथवा एकसाथ अर्थक्रिया सम्पादन मानने में विरोध प्रसक्त है, फलतः अर्थक्रियारूप लक्षण की निवृत्ति से परमाणु में सत्त्व की भी व्यावृत्ति प्रसक्त होती है । इस तरह परमाणु में असत्त्व ही सिद्ध होगा । यदि कहें कि--'स्थूल कार्यद्रव्य के कारणभूत अणु द्रव्यों में ऐसा स्थूलकार्यजनकत्वरूप ही स्वभाव है, 'क्रमशः या एकसाथ' ऐसा कोई तत्त्व स्वभाव में अन्तर्भूत नहीं है, जनकस्वभावता होने से असत्त्व भी प्रसक्त नहीं हो सकता' -- तो यहाँ एक साथ सर्वकार्यद्रव्य की उत्पत्ति हो जाने का अतिप्रसंग दुर्निवार रहेगा, क्योंकि हर एक कार्यद्रव्य की जनकता का स्वभाव

सक्तिः अविकलकारणत्वात् । तथा च प्रयोगः — येऽविकलकारणास्ते सकृदेवोत्पद्यन्ते यथा समानोत्पादा बहवोऽङ्कुराः, अविकलकारणाश्च परमाणुकार्यत्वेनाभिमतता भावा इति स्वभावहेतुः । अविकलकारण-स्याप्यनुत्पादे सर्वदाऽनुत्पत्तिप्रसक्तिः विशेषाभावात् इति विपर्यये बाधकं प्रमाणम् ।

स्यादेतद् — समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् त्रिविधं कारणम् । यत्र हि कार्यं समवैति तत् समवायि-कारणम् यथा द्व्यणुकस्याणुद्वयम् । यच्च कार्यैकार्थसमवेतं कार्यकारणैकार्थसमवेतं वा कार्यमुत्पादयति तद् असमवायिकारणम् यथा पटावयविद्व्यारम्भे तन्तुसंयोगः, पटसमवेतरूपाधारम्भे पटोत्पादकतन्तु-रूपादि च । शेषं तु उत्पादकं निमित्तकारणम् यथा — अदृष्टाऽऽकाशादि । तत्र संयोगादेरपेक्षणीय-स्याऽसंनिधेरविकलकारणत्वमसिद्धम् ! — असदेतत्, संयोगादिनाऽनाधेयातिशयत्वात् नित्यतयाऽणूनां तदपेक्षत्वाऽयोगात् । न च तनु-करणादीनां कार्याणां सकृत् प्रादुर्भाव उपलभ्यते, तस्माद् विपर्ययः ।

जो कि अविकलरूप है, परमाणुओं में प्रत्येक क्षण में रहता है अतः कारण अविकल रहने पर एक साथ सर्वकार्यद्रव्य की उत्पत्ति हो जाना न्याययुक्त है । देखिये यह प्रसंगापादन प्रयोग -- जिन के कारण अविकल उपस्थित रहते हैं वे एक बार ही उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे घासवाली जमीं में एक बार ही अनेक अंकूरे पैदा हो जाते हैं । परमाणु के कार्यरूप में अभिमत जो द्व्यणुकादि पदार्थ हैं वे भी अविकल कारणवाले हैं इसलिये एक बार में ही उत्पन्न हो जाने चाहिये । यहाँ अविकलकारणता यह स्वभावहेतु है । यदि कारणसामग्री अविकल रहने पर भी एक बार उन सब कार्यों की उत्पत्ति न होगी तो फिर समझ लेना कि कभी भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो पायेगी, चूँकि अविकलकारणतारूप स्वभाव के अलावा और कोई नया विशेष बाद में आयेगा नहीं जो कार्योंत्पत्ति करा सके । — यह विपक्षबाधक प्रमाण यानी तर्क है । ‘अविकलकारणता होने पर भी अगर वे कार्य एक बार उत्पन्न नहीं होते तो क्या बाध ?’ इस प्रकार के विपक्ष की शंका में उक्त तर्क बाधक है ।

✽ कारणों के तीन भेद ✽

नित्यवादी :- कारण के तीन प्रकार हैं, १समवायि, २असमवायि और ३निमित्त । १ जिस कारण में कार्य समव्याप्त हो जाता है उसको ‘समवायि’ कहा जाता है, उदा० द्व्यणुक द्रव्य के दो परमाणु । २ जो कार्य अथवा उसके कारणद्रव्य के साथ एक अर्थ यानी अधिकरण में समवेत हो और कार्योंत्पत्ति में सक्रिय हो उसे असमवायि कारण कहा जाता है, उदा० वस्त्ररूप अवयविद्व्यारम्भ की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में, कार्यरूप वस्त्र के अधिकरण में समवेत हो कर रहने वाला तन्तुसंयोग, यह कार्यैकार्थसमवेत असमवायिकारण है । तथा, वस्त्र के रूप की उत्पत्ति में तन्तुगत रूप असमवायिकारण बनता है जो कि कार्य (=रूप) के कारणभूत वस्त्र के साथ एक अधिकरण भूत तन्तुओं में रहता है । ३ समवायि-असमवायि से भिन्न, जितने भी उत्पत्ति में सहयोग देने वाले कारण हैं जैसे-अदृष्ट (पुण्य-पाप) और आकाश-कालादि, उन को निमित्त कारण कहा जाता है ।

प्रस्तुत में बात यह है कि द्व्यणुक आदि सर्व कार्यों की एक बार उत्पत्ति हो जाने के लिये परमाणुओं का संयोग भी असमवायिकारणरूप में अपेक्षित है, पृथक् पृथक् रहे हुए परमाणुओं में जब तक वह संनिहित नहीं है तब तक अविकलकारणतारूप हेतु ही असिद्ध है इस लिये वह प्रसंगापादन व्यर्थ है ।

अनित्यवादी :- यह समाधान गलत है । कारण, संयोग कोई ऐसी चीज नहीं है जो पृथक् परमाणु में कोई नये अतिशय का आधान करे । परमाणु तो नित्य है, नित्य को संयोगादि किसी की भी अपेक्षा नहीं होती । अतः वह प्रसंगापादन तदवस्थ रहता है । प्रसंग के ऊपर से अब विपर्यय दिखाते हैं — शरीर-इन्द्रियादि कार्य का एक बार ही सहोत्पाद होता हो ऐसा दिखता नहीं है इस लिये यह विपर्यय फलित होता है कि

तथा च प्रयोगः — ये क्रमवत्कार्यहेतवस्तेऽनित्याः, यथा क्रमवदंकुरादिनिर्वर्तका बीजादयः, तथा च परमाणव इति स्वभावहेतुः ।

यदपि अविद्धकर्णोक्तमणूनां नित्यत्वसाधकं प्रमाणम् — ‘परमाणूत्पादकाभिमतं कारणं सद्धर्मोपेतं न भवति, सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाऽविषयत्वात् शशशृंगवत्’ इति । तत्र कुविन्दादेरणूत्पादकारणस्य सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणविषयत्वाद् असिद्धो हेतुः । यथा च पटादयः परमाण्वात्मकाः कुविन्दोत्पाद्यास्तथा प्रदर्शयिष्यामः । देश-काल-स्वभावविकृष्टानां च भावानां सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तावपि सत्त्वाऽविरोधाद् अनैकान्तिकश्च हेतुः । ततो न अण्वनित्यत्वप्रसाधकानुमानप्रतिज्ञाया अनुमानबाधा । न च ‘यत एव प्रमाणात् परमाणवः प्रसिद्धाः तत एव नित्यत्वधर्मोपेता अपि ते’ इति तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् तदनित्यत्वप्रसाधकस्यानुमानस्यानुत्थानम् प्रमाणतोऽप्रसिद्धौ चाणूनामाश्रयासिद्धतया तत्’ इति वाच्यम् सर्वस्य प्रमाणविषयस्य अनित्यत्वधर्मोपेतस्यैव तद्विषयत्वात् अन्यथाभूतस्य तदजनकत्वे तद्विषयत्वानुपपत्तेः

परमाणु नित्य नहीं है । यहाँ हेतुप्रयोग इस प्रकार देखिये -- जो क्रमबद्ध कार्यकारि हेतु होते हैं वे अनित्य होते हैं, उदा० क्रमबद्ध अंकूर-किसलय आदि कार्य करने वाले बीज आदि । परमाणु भी क्रमबद्ध द्रव्यणुकादि कार्य करने वाले हैं इस लिये अनित्य होने चाहिये । यहाँ ‘क्रमबद्धकार्यकारिहेतुत्व’ यह स्वभावहेतु-प्रयोग है ।

❀ अविद्धकर्णप्रदर्शित परमाणुनित्यत्व अनुमान ❀

परमाणुओं में नित्यत्व की सिद्धि के लिये एक अनुमान ‘अविद्धकर्ण’ विद्वान् ने ऐसे कहा है —

“परमाणुओं के जनकरूप में अभिप्रेत कारण सत् पदार्थ का समानधर्मी नहीं होता, क्योंकि वह सत्त्वसाधकप्रमाण का विषय नहीं है जैसे शशासींग” ।

इस प्रयोग में हेतु असिद्ध है क्योंकि वस्त्रादिस्वरूप अणुओं के उत्पादकरूप में प्रसिद्ध जुलाहा आदि कारण, सत्त्वसाधकप्रमाण का विषयभूत ही है । वस्त्रादि कैसे अणु-आत्मक ही हैं और वे किस प्रकार जुलाहे से निष्पन्न होते हैं यह तथ्य आगे बताया जायेगा । तदुपरांत, कुछ ऐसे भी पदार्थ (पिशाच जैसे) होते हैं जो देश-काल एवं स्वभाव से हमारे लिये दूरवर्ती होने पर भी सत्त्वशाली होते हैं, भले ही वहाँ सत्त्वसाधक प्रमाण न प्रसरता हो; अतः पूर्वोक्त प्रयोग का हेतु साध्यद्रोही ठहरता है । अब यह फलित होता है कि अणुओं में अनित्यत्व की सिद्धि के लिये पहले जो अनित्यवादी ने अनुमानप्रयोग किया है, उस में कोई प्रतिज्ञाबाध जैसा कुछ नहीं है ।

❀ धर्मीसाधक प्रमाण से नित्यत्वसिद्धि अशक्य ❀

शंका :- लघु-परिमाण कहीं पर जरूर विश्रान्त है... इस प्रकार के अनुमान से चरम अवयव के रूप में अणु की सिद्धि होती है, यदि इसे जन्य माना जाय तो उस के भी अवयव सिद्ध होने पर चरमावयवत्व के भंग की आपदा प्रसक्त होती है और वह अणुसाधक अनुमान भी व्यर्थ हो जाने की मुसीबत पैदा हो जाती है । अतः जिस अनुमान से अणु सिद्ध होगा उसी से वह नित्यत्वधर्मशाली ही सिद्ध होता है । अतः क्रमिककार्य-हेतुत्वहेतुक अनित्यत्वसाधक अनुमान, धर्मी(अणु)साधकप्रमाण से बाधित हो जाने पर, प्रस्तुतिपात्र ही नहीं रहता । यदि उक्त धर्मीसाधक प्रमाण से अणु की सिद्धि ही नहीं मानेंगे तब तो अणु में अनित्यत्वसाधक अनुमान का हेतु पक्षशून्य हो जाने से आश्रयासिद्धिदोषग्रस्त बन जायेगा ।

उत्तर :- यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जितने भी प्रमाणसिद्ध विश्ववर्ती पदार्थ हैं वे सब अनित्यत्व

‘नाऽकारणं विषयः’ इति प्रसाधितत्वात् । नित्यस्य चाऽकारणत्वात् । तन्न चतुःसंख्यं परमाण्वात्मकं नित्यद्रव्यं सम्भवति ।

नापि तदारब्धमवयविद्रव्यं सम्भवति, गुणावयवव्यतिरिक्तस्य तस्याऽनुपलम्भात् न हि शुक्लादिगुणेभ्यः तन्त्वाद्यवयवभ्यश्चार्थान्तरभूतं पटादि द्रव्यं चक्षुरादिज्ञानेऽवभासते । न चावयविनो द्व्यणुकादेरनुपलम्भे परमाणूनां विविक्तस्वरूपाणामुपलम्भाऽविषयत्वात् प्रतिभासाऽभावप्रसक्तेः, आश्रयासिद्धतया अवयव्यादिनिषेधकप्रसंगसाधनप्रयोगानुपपत्तिः इति वक्तव्यम्, परमाणूनामेव विशिष्टाकारतयोत्पन्नानां प्रतिभासविषयतया आश्रयासिद्धताद्यनुपपत्तेर्न प्रयोगानुपपत्तिः । एवं च यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सद् यत्र नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति, यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटादिरनुपलम्भविषयः; गुणावयवार्थान्तरभूतो

धर्मवाले हो कर ही प्रमाण का विषय बनते हैं । (नित्य भाव अर्थक्रियाकारी न होने से किसी का भी कारण नहीं बनता) जो अनित्य नहीं है वह प्रमाजनक भी नहीं होता, फलतः वह प्रमाणविषय भी नहीं हो सकता । पहले से यह सिद्ध है कि जो प्रमा का कारण नहीं होता वह उस का विषय भी नहीं हो सकता । नित्य पदार्थ तो निष्क्रिय होने से किसी का (प्रमा का) कारण ही नहीं होता । अतः अनित्यत्वसाधक प्रमाण सर्ववस्तुव्यापक होने से अणु यदि वस्तुभूत हैं तो उन में भी प्रमाणविषयत्व की अन्यथाअनुपपत्ति से अनित्यत्व की सिद्धि निर्बाध है, इस में कोई आश्रयासिद्धि दोष को अवकाश नहीं है ।

निष्कर्ष :- पृथ्वी आदि परमाणुरूप चार द्रव्य नित्यद्रव्यरूप नहीं हो सकता ।

✽ स्वतन्त्र अवयवी का अस्तित्व नहीं है ✽

वैशिष्टिक मतानुसार जिस को अवयवी द्रव्य कहा जाता है जो कि परमाणुसंयोगजन्य माना जाता है वह सम्भवारूढ नहीं है । इसलिये कि (रूपादि) गुण और (तन्तु आदि) अवयवों से पृथक् किसी (वस्त्रादि) अवयवी का उपलम्भ ही नहीं होता । तात्पर्य यह है कि जब वस्त्र को देखते हैं तो शुक्लादि गुण दिखाई देते हैं और व्यवस्थित गठे गए तन्तुआदि अवयव चाक्षुषज्ञान में उपलब्ध होते हैं किन्तु इन से अतिरिक्त कोई वस्त्रसंज्ञक अवयवी उपलब्ध नहीं होता कि जो तन्तु से भिन्न हो । यदि यह कहा जाय - ‘इस तरह यदि आप अवयवी का यानी द्व्यणुकादि द्रव्यों का उपलम्भ नहीं मानते हैं तब तो जगत् परमाणुमय शेष रहा, परमाणु तो चक्षुगोचर होते ही नहीं क्योंकि वे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न कणात्मक हैं, फलतः अवयवी और अवयव किसी का भी प्रतिभास सम्भव न होने से प्रतिभास मात्र का उच्छेद प्रसक्त होगा । अब तो द्रव्यरूप आश्रय ही असिद्ध हो गया तो किस को पक्ष बना कर अवयवी आदि का प्रतिषेध करनेवाले अनुमान का प्रयोग कर सकेंगे ?’ - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र परमाणु और परमाणु से सर्वथा अतिरिक्त द्रव्य के प्रतिभासविरह में भी, विशिष्टस्थूलाकार रूप से उत्पन्न परमाणुपुञ्ज तो प्रतिभासित होता ही है अतः प्रतिभासमान विशिष्टाकार परमाणुपुञ्जस्वरूप आश्रय के रहते हुए आश्रयासिद्धता आदि की बात ही असंगत हो जाती है । अतः अवयवी-निषेधक अनुमान के प्रयोग में कोई असंगति नहीं रहती ।

✽ अवयविनिषेध साधक अनुमान ✽

इस स्थिति में यह स्वभावानुपलब्धिहेतुक अनुमान हो सकता है कि - जो उपलब्धियोग्य होने पर भी जहाँ उपलब्ध नहीं होता वह वहाँ विद्यमान नहीं होता । उदा० ऊर्ध्वाकाशादि रूप विशिष्ट प्रदेश में उपलब्ध न होनेवाला घटादि । प्रस्तुत में गुण और अवयवों से अर्थान्तरभूत गुणी अथवा अवयवी दृश्यरूप से अभिमत

गुण्यवयवी च दृश्यत्वेनाऽभिमतो नोपलभ्यते च तत्रैव देशे इति स्वभावानुपलब्धिः । न च हेतो-
र्विशेषणमसिद्धम्, 'महति अनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः' (वैशे. ४-१-६) इति वचनात् तयोर्दृश्य-
त्वेनाऽभ्युपगमात् ।

ननु गुणव्यतिरिक्तो गुणी उपलभ्यत एव तद्रूपादिगुणाऽग्रहणेऽपि तस्य ग्रहणात् । तथाहि —
मन्दमन्दप्रकाशे तद्रतसितादिरूपानुपलम्भेऽपि उपलभ्यते बलाकादिः, स्वगतशुक्लगुणाऽग्रहणेऽपि च
सन्निहितोपधानावस्थायां गृह्यते स्फटिकोपलः, तथाऽऽप्रपदीनकञ्चुकावच्छन्नशरीरः पुमांस्तद्रतश्यामादि-
रूपाऽप्रतिभासेऽपि 'पुमान्' इति प्रत्ययोत्पत्तेः प्रतिभात्येव, कुङ्कुमादिरक्तं च वस्त्रं तद्रूपस्य संसर्गिरूपेणाऽ-
भिभूतस्य अप्रकाशेऽपि प्रकाशत एव 'वस्त्रम्' इति प्रत्ययोत्पत्तेः अध्यक्षत एव गुण-गुणिनोर्भेदः सिद्धः
तथा, अनुमानतोऽपि तयोर्भेदः । तथाहि — यद् यद्द्रव्यवच्छेद्यत्वेन प्रतीयते तत् ततो भिन्नम् यथा
देवदत्ताद् अश्वः गुणिव्यवच्छेद्यत्वेन प्रतीयते च नीलोत्पलस्य रूपादय इति । तथा, पृथिव्यपूतेजोवायवो
द्रव्याणि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शेभ्यो भिन्नानि, एकवचन-बहुवचनविषयत्वात् यथा 'चन्द्रः' 'नक्षत्राणि'

होने पर भी अवयवदेश में ही उपलब्ध नहीं होता । अतः अवयवी सत्ताशून्य सिद्ध होता है । यहाँ उपलब्धियोग्य
मानने पर भी उपलब्ध न होना यह उपलम्भस्वभाव की अनुपलब्धि हेतुरूप में प्रयुक्त है । हेतु में 'उपलब्धियोग्य
होना' यह विशेषण-अंश है जो कि गुणी या अवयवी के बारे में असिद्ध है ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि
वैशेषिकसूत्र में अवयवी के लिये कहा गया है कि 'महत्परिणामवाले अवयवी की, अनेकद्रव्यवत्ता और रूप के
प्रभाव से उपलब्धि होती है ।' अनेकद्रव्यवत्ता यानी अनेकद्रव्य में समवायित्व समझना । वैशेषिकसूत्र के उक्त
कथन से प्रतिवादी को गुणी अथवा अवयवी में दृश्यत्व का स्वीकार सिद्ध हो जाता है ।

❀ गुण और गुणी में भेद की स्थापना - पूर्वपक्ष ❀

भेदवादी :- गुण से भिन्न गुणी की उपलब्धि अवश्य होती है, क्योंकि किसी एक वस्तु के रूपादिगुण
का ग्रहण न होने पर भी उस वस्तु का ग्रहण होता है । जैसे देखिये - प्रकाश जब अत्यन्त मन्द हो जाता
है तब गगनादि में ऊडते हुए बगुले आदि का श्वेतादि रूप स्पष्ट न दिखाई देने पर भी 'कोई पक्षी ऊड रहा
है' इस ढंग से बगुले आदि का ग्रहण होता है । तथा, स्फटिक रत्न के पीछे कोई जपाकुसुमादि उपाधि संनिहित
रहती है तब उस स्थिति में यद्यपि स्फटिकगत अभास्वरशुक्ल रूप का ग्रहण नहीं होता फिर भी स्फटिकरत्न
का (गुणी का) ग्रहण तो होता ही है । तथा, मस्तक से पैर तक कंचुकवस्त्र से शरीर का आच्छादन कर लेने
वाले पुरुष का श्यामादि कोई रूप भासित नहीं होता फिर भी 'यह पुरुष है' ऐसा बोध उत्पन्न होता है इसलिये
पुरुष का प्रतिभास तो होता ही है । तदुपरांत, जब किसी श्वेत वस्त्र को केसररंग से रंगा जाता है तब
संसर्गी केसररंग के रक्तरूप से वस्त्र का श्वेत रूप पराभूत हो जाने से उपलब्ध नहीं होता, फिर भी वस्त्र
तो भासता ही है क्योंकि वहाँ 'यह वस्त्र है' एसी निर्बाध प्रतीति होती है । इन सब उदाहरणों से प्रत्यक्ष यह
सिद्ध होता है कि न भासने वाला गुण और फिर भी भासित होनेवाला द्रव्य ये दोनों भिन्न भिन्न हैं ।

प्रत्यक्ष उपरांत, अनुमान से भी गुण-गुणी का भेद सिद्ध है, देखिये, जो जिस से व्यवच्छिन्न होता हुआ
प्रतीत होता है वह उस से भिन्न होता है । उदा० देवदत्त से अश्व व्यवच्छिन्न होता हुआ भासित होता है
और वह उससे भिन्न भी होता है । प्रस्तुत में, नील-कमलादि गुणी से उस के रूपादि गुण, अपने गुणी
से व्यवच्छिन्न होते हुए भासित होते हैं इस लिये गुणी और गुण भिन्न होना सिद्ध होता है ।

यह दूसरा अनुमान - पृथ्वी, जल, तेज और वायु यह एक एक द्रव्य रूप-रस-गन्ध और स्पर्श गुणों

इति । तथा च 'पृथिवी' इति एकवचनम् 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः' बहुवचनमुपलभ्यते इति तयोर्भेदः ।

अवयवावयविनोरप्यनुमानतः सिद्धो भेदः । तथाहि — विवादाधिकरणेभ्यस्तन्तुभ्यो भिन्नः पटः भिन्नकर्तृकत्वात् घटादिवत्, भिन्नशक्तिकत्वाद् वा विषाऽगदवत्, पूर्वोत्तरकालभावित्वाद् वा पिता-पुत्र-वत्, विभिन्नपरिणामत्वाद् वा कुवलबिल्ववत् इति । विरुद्धधर्माध्यासनिबन्धनो ह्यन्यत्रापि भावानां भेदः, स च अत्राप्यस्ति इति कथं न भेदः ? यदि चावयवी अवयवेभ्यो भिन्नो न भवेत् स्थूलप्रतिभासो न स्यात् परमाणूनां सूक्ष्मत्वात् । न च अन्यादृग्भूतः प्रतिभासः अन्यादृगर्थव्यवस्थापकः अतिप्रसंगात् । न च स्थूलाभावे 'परमाणुः' इति व्यपदेशोऽपि संभवी, स्थूलापेक्षितत्वाद् अणुत्वस्य' — इति उद्घोतकरादयः ।

अत्र प्रतिविधीयते — यदुक्तम् 'स्वगतगुणाऽनुपलम्भेऽपि बलाका-स्फटिकादय उपलभ्यन्ते' इति तदसंगतम्, तज्ज्ञानस्य अयथार्थत्वेन भ्रान्ततया निर्विषयत्वात् । तथाहि — बलाकादयः शुक्लाः सन्तः

से भिन्न है, क्योंकि द्रव्य के लिये एकवचन का और गुण के लिये बहुवचन का प्रयोग होता है । उदा० चन्द्र का एकवचन में और नक्षत्रों का बहुवचन में प्रयोग होता है, चन्द्र और नक्षत्रों में भेद होता है । प्रस्तुत में 'पृथ्वी' एकवचनान्त प्रयोग है जब कि 'पृथ्वीव्यां रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः' यहाँ रूपादि गुणों का बहुवचनान्त प्रयोग होता है — इस से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी द्रव्यरूप गुणी और रूपादि गुणों में भेद है ।

✽ अवयव-अवयवी में भेद की स्थापना - पूर्वपक्ष ✽

अवयव और अवयवी के भेद की सिद्धि भी अनुमान से शक्य है । देखिये — तन्तु वस्त्र से अभिन्न है या भिन्न — इस विवाद के अधिकरण जो तन्तु हैं उन को पक्ष बना कर यह प्रयोग है, विवादास्पद तन्तुओं वस्त्र से भिन्न हैं क्योंकि वस्त्रकर्त्ता से भिन्नकर्तृक हैं जैसे कि घटादि । घटादि के कर्त्ता से तन्तु का कर्त्ता भिन्न है और तन्तुओं से घटादि भिन्न हैं । अथवा शक्तिभेद को भी हेतु कर सकते हैं, जैसे विष और औषध की शक्ति भिन्न भिन्न होती है और विष तथा औषध भिन्न होते हैं वैसे ही तन्तु और वस्त्र की शक्ति भी भिन्न भिन्न है, अतः तन्तु से वस्त्र भिन्न होना चाहिये । अथवा पूर्वोत्तरकालभावित्व को हेतु कर सकते हैं, पिता और पुत्र में पूर्वोत्तरकालभावित्व होता है और भेद होता है, इसी तरह तन्तु पूर्वकाल भावि हैं और वस्त्र उत्तरकालभावि हैं इस लिये उन में भेद ही होना चाहिये । अथवा, परिमाणभेद हेतु बनाईये । कुबल और बिल्व (मोती और बेल-फल) का परिमाण भिन्न भिन्न होता है और उन में भेद होता है वैसे ही तन्तु और वस्त्र में परिमाणभेद होने से वस्तुभेद होना चाहिये । सब जानते हैं कि वस्तुभेद सर्वत्र विरुद्धधर्माध्यासमूलक होता है, तन्तु और वस्त्र में भी उपरोक्त ढंग से कई प्रकार विरुद्धधर्माध्यास प्रतीत होता है, तो फिर उन में भेद क्यों न होगा ? अवयवी यदि अपने अवयवों से भिन्न न होता तो, परमाणुरूप अवयव सूक्ष्म होने के कारण, उस से अ-भिन्न अवयवी सूक्ष्मरूप से ही भासित होता न कि स्थूलरूप से भासित होता । ऐसा तो कभी नहीं होता कि एक तरह के वस्तु-प्रतिभास से अन्यप्रकार की वस्तु की स्थापना की जा सके, वस्त्र के प्रतिभास से कभी शस्त्र के अस्तित्व की स्थापना नहीं हो सकती । अगर एक तरह के वस्तु प्रतिभास से अन्य तरह की वस्तु की स्थापना मंजुर हो तब तो अश्वप्रतिभास से हस्ती की स्थापना का अतिप्रसंग हो सकता है । यदि अवयवी जैसे किसी स्थूलभाव को मंजुर नहीं करेंगे तो अणुत्व और स्थूलत्व परस्पर सापेक्ष होने के कारण 'परमाणु' ऐसा व्यवहार भी नहीं कर पायेंगे, अर्थात् स्थूल के विरह में परमाणु का भी अभाव प्रसक्त होगा ।

इस तरह उद्घोतकर आदि, अवयवी भेदवाद का समर्थन करते हैं । उस के प्रतिकार में अब कहते हैं—

श्यामादिरूपतया उपलभ्यन्ते, न च तेषां तद्रूपं तात्त्विकमस्ति, 'तद्रूपाऽग्रहणेऽपि तेषां ग्रहणम्' इत्यभ्युपगमक्षतिप्रसक्तेः । न च तदा श्यामादिरूपाद् व्यतिरिक्तोऽपरः स्फटिकादिस्वभावः उपलभ्यते, श्यामादिरूपस्यैवोपलम्भात् । न च अतद्रूपा अपि बलाकादयः श्यामादिरूपेणोपलभ्यन्ते, यत आकारवशेन प्रतिनियतार्थता ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यते, अन्याकारस्यापि तस्य अन्यार्थतायां रूपज्ञानस्यापि रसविषयताप्रसक्तेः अविशेषात् । न चान्याकारस्य अन्यविषयव्यवस्थापकत्वेऽपि तस्य परस्येष्टसिद्धिः, यतः शुक्लादय एव श्यामादिरूपेण प्रतिभान्ति तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वात् न पुनस्तद्व्यतिरिक्तस्य गुणिनस्ततः सिद्धिर्भवेत् ।

यच्च कञ्चुकावच्छन्ने पुंसि 'पुमान्' इति ज्ञानमध्यक्षम् अवयविव्यवस्थापकम् उक्तम् तदध्यक्षमेव न भवति, शब्दानुविद्धत्वात् अस्पष्टाकारत्वाच्च अपि तु रूपादिसंहतिमात्रलक्षणपुरुषविषयमनुमानमेतत् इति नातोऽवयविसिद्धिः । तथाहि — रूपादिप्रचयात्मकपुरुषहेतुकः कञ्चुकसंनिवेशः उपलभ्यमानः

✽ गुण-गुणीभेदवाद का प्रतिविधान - उत्तरपक्ष ✽

अब एकान्तभेदवाद के प्रतिकार में कहते हैं - वेदवादीने जो यह कहा है कि - 'अपने में रहे हुए गुण का उपलम्भ न होने पर भी बगुले - स्फटिकादि का दर्शन होता है' - यह बात असंगत है क्योंकि वैसा ज्ञान यथार्थ न होने से भ्रमात्मक होता है और इसी लिये विषयशून्य होता है । स्पष्टता - उस काल में बगुला आदि श्वेत होने पर भी श्याम दिखाई देते हैं, किन्तु उन का वह श्यामादिरूप वास्तविक नहीं होता, यदि उसे वास्तविक माना जाय तो वास्तविक रूप का ग्रहण सिद्ध होने पर 'उन के रूप का ग्रहण नहीं होता फिर भी उन का ग्रहण होता है' इस मान्यता को क्षति पहुँचेगी क्योंकि तब तो वास्तविक श्यामादिरूप का ग्रहण आप को स्वीकार्य प्रसक्त होता है । उस काल में स्पष्ट है कि श्यामादिरूप को छोड़ कर और कोई श्वेतादिस्वभाव स्फटिकादि का उपलब्ध ही नहीं होता, चूँकि उपलब्ध होता है वह तो श्यामादिरूप ही है जो अवास्तविक है । यदि ऐसा कहें कि 'श्यामादिरूप न होने पर भी श्यामादिरूपेण वहाँ बगुले आदि का उपलम्भ होता है' तो ऐसा भी नहीं है । कारण, ज्ञान के आकार के आधार पर 'यह ज्ञान इस विषय का है' इस प्रकार ज्ञान की नियतविषयता की व्यवस्था की जाती है, ज्ञान एक आकार का होने पर भी अगर उस में अपरार्थ-विषयता मान्य रखी जाय तब तो रूपाकार ज्ञान में रसविषयता का अतिप्रसंग सहज बन जायेगा, क्योंकि आप की मान्यता के अनुसार यहाँ कोई भिन्न स्थिति नहीं है । तथा, कदाचित् मंजुर किया जाय कि एक आकार वाला ज्ञान अपरविषयक हो सकता है, तो भी इस से भेदवादी का कुछ इष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जिस ज्ञान में शुक्लादि पदार्थ श्यामादिरूप से भासित होता है वह ज्ञान भ्रान्त है, भ्रान्त होने के कारण ही उस ज्ञान से, गुण से भिन्न गुणी की सिद्धि शक्य नहीं है । तात्पर्य, शुक्ल गुण के अनुपलम्भ में बगुले का दर्शन गुणी को गुण से भिन्न सिद्ध करने में समर्थ नहीं है ।

✽ अवयवी का प्रतिविधान - उत्तरपक्ष ✽

तदुपरांत, भेद सिद्ध करने हेतु जो यह कहा था - 'पैर से चोटी तक कञ्चुक पहने हुए शरीरधारी पुरुष का रूप न दिखाई देने पर 'पुरुष' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जिस से अवयवी की सिद्धि शक्य है' - उस के ऊपर विचार कीजिये कि वह ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है ? नहीं । कारण, वह ज्ञान एक तो शब्दज्ञानानुविद्ध है, दूसरे, स्पष्टाकार नहीं है । वास्तव में तो वह ज्ञान अनुमानात्मक है जो कि सिर्फ रूपादि-विशिष्ट पुरुषसामान्य को विषय करता है । अतः उस ज्ञान को प्रत्यक्ष समझ कर अवयविसिद्धि की आशा करना व्यर्थ है । स्पष्टता

स्वकारणमनुमापयति धूम इवाग्निम् ।

यच्च-कुङ्कुमादिरक्ते वस्त्रे तद्रूपाऽप्रतिपत्तावपि 'वस्त्रम्' इति ज्ञानम् — तदपि प्राक्तनशुक्लरूपविनाशे सामग्र्यन्तरोपजातरूपान्तरस्य अध्यक्षेण ग्रहणे सति उत्तरकालं तत्पृष्ठभाविषमयवशात् 'वस्त्रम्' इति समुदायविषयं सांवृतं परमार्थतो निर्विषयमेव प्रत्यवमर्शज्ञानम् इत्यसिद्धमस्य प्रत्यक्षत्वम् । न चैतद् अनुमानम् पूर्वाध्यक्ष(क्षाऽ)गृहितविषयत्वात् अलि(लै)ङ्गिकत्वात् च । तत्रात्र अभिभूतं किञ्चिद् रूपं विद्यते । न चाभिभूतवस्त्ररूपस्य तदवस्थायामभावे धौतवस्त्रावस्थायां पुनः शुक्लरूपानुपलब्धिः स्यादिति वक्तव्यम्, यतः अग्न्यादिसामग्रीप्रादुर्भूतभास्वरूपस्य लोहादेः पुनः श्यामादिरूपान्तरोत्पत्तित्वत् तत्रापि सामग्र्यन्तरात् शुक्लरूपोत्पत्तेरविरोधात् । न च 'प्राक्तनमेव रूपमभिभूतत्वात् तदानुपलब्धम् पश्चाद् अभिभवाभावाद् उपलभ्यते' इत्यस्य प्रतिषेधेन 'रूपान्तरमेव प्राक्तनरूपविनाशेनोपजातमत्रोपलभ्यते' इति भवतोऽपि किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, अनुमानस्य सद्भावात् । तथाहि — यदपरित्यक्तानभिभूत-स्वभावं तस्य न परेणाभिभवः यथा पूर्वावस्थायां तस्यैव, अपरित्यक्तानभिभूतस्वभावं चाभिभवावस्थायां रूपमिति

- जैसे धूम से अग्नि का अनुमान उदित होता है वैसे ही रूपादिसंघातविशेषात्मक पुरुषविरचित कंचुक के तथाविध ऊर्ध्वाकारादि रचनाविशेष और उस की हिल-चाल को लिंग बना कर लोग वहाँ उस के निमित्त के रूप में लिंगी 'पुरुष' का अनुमान कर लेते हैं ।

✽ अभिभूत रूप का अस्वीकार ✽

भेदवादीने जो कहा है कि - केसररञ्जित वस्त्र के बारे में वस्त्र के मूलरूप का उपलम्भ न होने पर भी 'यह वस्त्र है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है - वह भी ठीक नहीं है क्योंकि केसर से रंजित किये गये वस्त्र का पूर्वकालीन श्वेतरूप अभिभूत नहीं किन्तु नष्ट ही हो जाता है, एवं अन्यरूपजनक केसरादि सामग्री के प्रभाव से जो अन्य (केसरी) रूप उत्पन्न होता है उसी का वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस के बाद उत्तरक्षण में उस के पूर्वकालसंजात संकेत के प्रभाव से 'यह वस्त्र है' इस प्रकार समुदायावलम्बि कल्पनाप्रभव ज्ञान होता है, वास्तव में यह प्रत्यवमर्शी ज्ञान विषयशून्य ही होता है । इसी लिये उस में प्रत्यक्षत्व नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि (बौद्ध मतानुसार) रूप विनश्वर पदार्थ है, श्वेतरूप के विनाश के बाद यदि केसरी वर्ण उत्पन्न होता है तब उस का प्रत्यक्ष होता है किन्तु वस्त्र का नहीं होता, वस्त्र का परामर्शात्मक ज्ञान तो पूर्वकालीन वासना के प्रभाव से होता है इसीलिये उस को सांवृत या काल्पनिक कहा जाता है, जिस का वास्तविक कोई विषय ही नहीं है, अतः ऐसे परामर्शात्मक ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का सम्भव ही नहीं है । वस्त्रविषयक उक्त ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का सम्भव ही नहीं है । वस्त्रविषयक उक्त ज्ञान को अनुमानरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि अनुमेय पदार्थ पहले कभी प्रत्यक्ष से गृहीत होना चाहिये, किन्तु यह तो कभी प्रत्यक्ष से गृहीत ही नहीं हुआ । तथा अनुमान लिंग-जन्य होता है किन्तु यह कोई लिंगजन्य ज्ञान नहीं है । निष्कर्ष, पूर्वरूप का नाश माना जा सकता है किन्तु 'अभिभूत हो कर वह पूर्वरूप तब भी विद्यमान होता है' ऐसी बात अतथ्य है ।

✽ पूर्वरूपनाश - नूतनरूपोत्पत्ति पक्ष में शंका-समाधान ✽

यदि यह पूछा जाय - केसररंजित वस्त्र के पूर्व श्वेत रूप का अभिभव हो जाने की दशा में आप अगर उस का विनाश ही मान लेते हैं तो वस्त्रधावन के बाद पुनः जो श्वेतरूप की उपलब्धि होती है वह कैसे होगी ? - तो इस का जवाब यह है, जैसे अग्नि में रखे गये लोहे में जो भास्वरूप उपलब्ध होता है, बाहर निकालने

व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । परित्यक्ताऽनभिभूतस्वभावत्वाभ्युपगमेऽपि सिद्धमस्यान्यत्वम् स्वभाव-भेदस्य भावभेदलक्षणत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसंगात् ।

न च स्वतन्त्रेच्छामात्रभाविनः षष्ठीवचनभेदादेर्बाह्यवस्तुगतभेदाऽव्यभिचारित्वम् येन ततो गुण-गुणिनोर्भेदसिद्धिः स्यात् । तेन 'यद् यद् व्यवच्छिन्नम्' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः । यदि तु वस्तुगतभेद-मन्तरेण षष्ठ्यादिवृत्तिर्न भवेत् 'स्वस्य भावः' 'षण्णां पदार्थानामस्तित्वम्' 'दाराः' 'सीकताः' इत्यादौ षष्ठ्यादेर्वृत्तिर्न स्यात् भावादेस्त्र व्यतिरिक्तस्य तन्निबन्धनस्याभावात् । अथ सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्वं धर्मान्तरं षण्णामस्तित्वमिष्यत इति न हेतोर्व्यभिचारः । न, सप्तमपदार्थप्रसक्तेः षट्पदार्थाभ्युपगमो

के बाद वह नष्ट होता है और अन्य श्यामादिरूप का उद्भव होता है, इसी तरह वस्त्रधावन की सामग्री से वहाँ केसरी रूप का नाश हो कर शुक्लादि रूप की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है । यदि यह पूछा जाय कि - "एक पक्ष में केसररञ्जित वस्त्र में पूर्व रूप का अभिभव हो जाने से अनुपलम्भ होता है, पश्चात् वस्त्रधावन के बाद अभिभव न रहने पर पुनः प्रगट होता है । इस तथ्य का आप निषेध करते हैं और कहते हैं कि वस्त्र धुलाई के बाद पूर्वरूप नष्ट हो कर अन्य रूप उत्पन्न होता है जो उपलब्ध होता है - तो पूर्व पक्ष के निषेध में और अपने पक्ष के समर्थन में आप के पास क्या प्रमाण है ? तो जवाब है अनुमानप्रमाण का सन्द्राव । यहाँ व्यापक विरुद्ध उपलब्धिस्वरूप हेतु का प्रयोग देखिये - 'जो अनभिभूतस्वभावत्यागी नहीं है उस का कभी दूसरे से अभिभव शक्य नहीं है । जैसे, केसररञ्जन के पहले वस्त्र का रूप अनभिभूतस्वभावत्यागी नहीं था तो रूप का अभिभव भी नहीं था । जिस को प्रतिवादी (केसर रञ्जित दशा में) अभिभवावस्था कहते हैं उस अवस्था में वह रूप अनभिभूतस्वभावत्यागी नहीं है (यदि त्यागी है तब तो स्वभावत्यागरूप नाश सिद्ध हो जायेगा) अतः दूसरे से अभिभव भी नहीं है । (फलतः अभिभव के बदले, अनुपलब्धि से नाश मानना होगा ।) यहाँ पराभिभव व्यापक है जिस का विरोधी है अनभिभूतस्वभाव का अत्याग, उस की उपलब्धि से व्यापक का अभाव सिद्ध किया जाता है । यहाँ यदि ऐसा कहें कि 'अभिभवावस्था में हम अनभिभूतस्वभाव का परित्याग ही मानते हैं, अतः आपने जो कहा कि 'उस अवस्था में वह रूप अनभिभूतस्वभावत्यागी नहीं है' यह गलत है -- तो यह समझ लो कि स्वभावत्याग से वस्तुभेद होता है इसलिये अनायास ही अभिभवावस्था में रूपभेद यानी पूर्वरूपनाश, नये रूप की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है । यदि स्वभावभेद से वस्तुभेद नहीं मानेंगे तब तो दूध और दही इत्यादि में भेद का उच्छेद हो जायेगा, यह अतिप्रसंग होगा ।

✽ षष्ठीविभक्तिप्रयोग भेदसाधक नहीं है ✽

पहले जो यह कहा था कि -- 'उत्पल का रूप' यहाँ छठी विभक्ति के प्रयोग से तथा 'पृथिव्यां रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः' यहाँ गुणी के लिये एकवचन और गुणों के लिये बहुवचन के प्रयोग से गुणी और गुणों में भेद सिद्ध होता है -- वह ठीक नहीं है क्योंकि 'राहु का सिर' यहाँ अभेद होने पर भी छठी विभक्ति का प्रयोग होता है, तथा 'मिट्टी के घट-शराव' यहाँ अभेद होने पर भी एकवचन-बहुवचन का भेद किया जाता है -- इससे यह सिद्ध होता है कि छठीविभक्ति प्रयोग अथवा वचनभेद वक्ता की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर रहते हैं, वस्तुगत भेद के साथ उन का रिश्ता नहीं है, अर्थात् छठीविभक्तिप्रयोग एवं वचन-भेद वस्तुभेद के अविनाभावि नहीं है । अतः उन से गुण और गुणी के बीच भेदसिद्धि शक्य नहीं है । इस लिये पहले जो प्रयोग कहा था कि जो जिस से भिन्न प्रतीत होता है वह उस से भिन्न होता है जैसे देवदत्त से अश्व... इत्यादि, वैसा प्रयोग असंगत ठहरता है । यदि माना जाय कि -- वस्तुगत भेद के विना छठीविभक्तिप्रयोग आदि

हीयते । अथ षट्पदार्थव्यतिरिक्तानामपि धर्माणामभ्युपगमान्नायं दोषः । तथा च पदार्थप्रवेशकग्रन्थे - 'एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः ।' (प्र० पा० भाष्ये पृ० २६) इति । असदेतत्, तैस्तेषां सम्बन्धानुपपत्तेः तमन्तरेण च धर्म-धर्मिभावायोगात् अन्यथाऽतिप्रसंगात् । न च संयोगलक्षणोऽत्र सम्बन्धः, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्येष्वेव भावात् । नापि समवायस्वरूपः, सत्तावत् तस्य सर्वत्रैकत्वाभ्युपगमात्, समवायेन च सह समवायसम्बन्धे द्वितीयसमवायाभ्युपगमः स्यात् तत्र चानवस्था । न च षड्भिः पदार्थैर्धर्माणामुत्पादनात् 'तेषां ते' इति व्यपदेशः, तथाभ्युपगमे बदरादयोऽपि कुण्डादिसम्बन्धिनस्तथैव स्युः इति संयोग-समवायाख्यसम्बन्धान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः ।

शक्य नहीं है - तो वह गलत है क्योंकि 'स्वस्य भावः' तथा 'छः पदार्थों का अस्तित्व' इत्यादि में भेद के न रहते हुए भी षष्ठी का प्रयोग होता है । तथा, एक ही पत्नी के लिये भी 'दाराः' तथा एक बालुकण के लिये 'सीकताः' ऐसा बहुवचनप्रयोग बहुत्व के विरह में भी होता है । 'स्व का भाव' इत्यादि प्रयोग में षष्ठीप्रयोग आदि का निमित्त कोई अतिरिक्त भावादि नहीं होता ।

✽ छः पदार्थ - सिद्धान्त के भंग की विपदा ✽

यदि कहा जाय - 'छः पदार्थों का अस्तित्व' यहाँ 'यह सत् है' इस प्रकार के उपलम्भ कराने वाले प्रमाण के विषय के रूप में 'अस्तित्व' को हम स्वतन्त्र धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः इस स्थल में 'जो जिस से भिन्न प्रतीत होता है' इस हेतु में साध्यद्रोह का सम्भव नहीं है । - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तब छः से अतिरिक्त सातवे पदार्थ को मंजुर करने की आपदा होगी और 'पदार्थ छः ही हैं' इस सिद्धान्त का भंग हो जायेगा । यदि कहें - धर्मिस्वरूप छः पदार्थों से अतिरिक्त स्वतन्त्र अनेक धर्मों को (धर्मि को नहीं) हम स्वीकारते ही हैं, जैसे कि पदार्थप्रवेशक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि 'धर्मों को छोड़ कर (सिर्फ) धर्मियों का उद्देश किया गया है' । इस कथन से यह फलित होता है कि धर्मि सिर्फ छः हैं किन्तु उन के धर्म तो बहुत हैं जो उन से अतिरिक्त भी हैं । - तो यह ठीक नहीं है । कारण, धर्मियों के साथ उन अतिरिक्त माने गये धर्मों का कोई रिश्ता (सम्बन्ध) मेल न खाने से 'छः का अस्तित्व' ऐसा षष्ठी-प्रयोग ही शक्य नहीं रहेगा । सम्बन्ध के विना धर्मि-धर्म भाव भी संगत नहीं हो सकता, विना सम्बन्ध के 'धर्म-धर्मि' भाव मंजुर करेंगे तो हिमाचल-विन्ध्याचल आदि में भी वह प्रसक्त होगा । संयोग सम्बन्ध का यहाँ मेल नहीं बैठ सकता, क्योंकि संयोग गुणात्मक माने जाने के कारण वह सिर्फ द्रव्य-द्रव्य के बीच ही हो सकेगा, किन्तु द्रव्य और गुण-जाति इत्यादि के बीच नहीं हो सकेगा । समवायात्मक सम्बन्ध भी नहीं घट सकता, क्योंकि सर्वत्र जैसे सत्ता एक ही मानी जाती है वैसे ही समवाय भी एक ही माना गया है, फलतः पृथ्वी आदि में भी ज्ञान के समवाय की प्रसक्ति होगी । तथा पदार्थों के साथ समवाय का भी अगर अतिरिक्त समवायसम्बन्ध मानेंगे तो दूसरे समवाय की कल्पना करनी होगी, फिर उस के लिये भी नये नये समवाय की कल्पना करनी होगी, इस तरह अनवस्था दोष होगा । यदि कहें कि - छे पदार्थ अपने अपने धर्मों को उत्पन्न करते हैं अतः धर्मि और धर्म के बीच 'तदुत्पत्ति' सम्बन्ध होने से 'ये उस के' इस प्रकार सम्बन्धषष्ठीप्रयोग हो सकेगा - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तब तो 'कुण्ड में बेर' इत्यादि स्थल में भी तदुत्पत्ति सम्बन्ध मान कर उस सम्बन्ध से बेर को कुण्डादिसम्बन्धि मानने का अतिप्रसंग होगा । इस का नतीजा यह होगा कि संयोग और समवाय नाम के सम्बन्ध की कल्पना ही निरर्थक हो जायेगी, क्योंकि सर्वत्र तदुत्पत्ति सम्बन्ध से धर्म-धर्मिभाव मानने

भवतु वा षण्णामस्तित्वं धर्मान्तरम् तथापि व्यभिचार एव, तदस्तित्वे अपरास्तित्वाद्यभावेऽपि 'तदस्तित्वस्य अस्तित्व-प्रमेयत्व-अभिधेयत्वानि' इति षष्ठ्यादिप्रवृत्तेः । अथ तत्रापि अपरास्तित्वाभ्युपगमस्तदाऽनवस्थाप्रसक्तिः । न चेष्टत्वाद् अदोषः, सर्वेषामपि उत्तरोत्तरधर्माधारत्वाद् धर्मित्वप्रसक्तेः 'षडेव धर्मिणः प्रोक्ताः' इत्येतस्याऽनुपपत्तिः षट्पदार्थव्यतिरिक्तानामन्येषामपि वा धर्मिणामस्तित्वादीनां विशिष्टधर्माधाराणां सम्भवात् । न च धर्मिरूपा एव ये ते एव षट्केनावधारिता इति वक्तव्यम् गुणादीनामनिर्देशप्रसङ्गात् । न हि गुणादीनां धर्मिरूपतैव किन्तु द्रव्याश्रितत्वात् धर्मरूपत्वमपि । यस्त्वाह — सदुपलम्भकप्रमाणगम्यत्वं षण्णामस्तित्वमभिधीयते, तच्च षट्पदार्थविषयं ज्ञानम् तस्मिन् सति 'सत्' इति व्यवहारप्रवृत्तेः । एवं 'ज्ञानजनितं ज्ञानज्ञेयत्वम् अभिधानजनितं अभिधेयत्वम्' इत्येवं व्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी सिद्धा, न चाऽनवस्था, न च षट्पदार्थव्यतिरिक्तपदार्थान्तरप्रसक्तिः ज्ञानस्य गुणपदार्थेऽन्तर्भावात् । — सोप्ययुक्तवादी, एवमपि अस्तित्वादेः षट्पदार्थाव्यतिरेके व्यभिचारस्य तदवस्थत्वात्,

के लिये बाध्य होना पडेगा ।

❀ षट्पदार्थव्यवस्था में विघ्नपरम्परा ❀

अथवा, मान लिया कि छः पदार्थों का अस्तित्व एक स्वतन्त्र धर्म है फिर भी व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा क्योंकि उस 'अस्तित्व के अस्तित्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व' इस तरह वस्तुगत भेद के विरह में छद्दीविभक्ति का प्रयोग आप भी करेंगे । यदि अस्तित्व में नया अस्तित्व धर्म मान लेंगे तो व्यभिचार टल जाने पर भी अनवस्था दोष सिर उठायेगा । अगर कहें 'इष्टापत्ति ! हम उसको दोषरूप नहीं मानते' तो उत्तरोत्तर अस्तित्व धर्म को लेकर पूर्व-पूर्व अस्तित्व को धर्मिरूप मंजुर करना पडेगा क्योंकि वे उत्तरोत्तर धर्म के आधार हैं । फलतः 'ये छः ही धर्मों कहे गये हैं' इस कथन का व्याघात होगा, क्योंकि अब तो छः पदार्थ से अतिरिक्त अन्य भी अस्तित्वादि धर्मों — जो कि विशिष्ट धर्मों के आधार हैं, — संभव हैं । यदि बचाव करने जाय कि — जो धर्म-धर्मोपभयरूप न हो सिर्फ धर्मिरूप हो ऐसे ही छः धर्मों गिनाये गये हैं, अस्तित्वादि तो धर्म-धर्मोपभयरूप होने से उन से कोई व्याघात नहीं है — तो यह वाजिब नहीं, क्योंकि तब तो गुण-क्रियादि का भी धर्मिरूप से निर्देश गलत ठहरेगा, क्योंकि गुण-क्रियादि भी अस्तित्वादि के धर्मों हैं किन्तु द्रव्य के धर्म हैं, इस लिये वे केवल धर्मिरूप नहीं हैं ।

❀ ज्ञानमय अस्तित्व पक्ष में अयथार्थता ❀

यदि यह कहा जाय -- "यह सत् है इस प्रकार के उपलम्भ के जनक प्रमाण की गम्यता यही 'छः का अस्तित्व' इस प्रयोग से सूचित करना अभिप्रेत है, न कि छः भाव के स्वतन्त्र धर्मान्तरभूत अस्तित्व को सूचित करना । तथा यहाँ प्रमाणगम्यता छः पदार्थविषयक ज्ञानमय ही है, उस से अलग नहीं है, क्योंकि ज्ञान होने पर 'सत्' इस प्रकार व्यवहार प्रवृत्त होता है । यह ज्ञातव्य है कि 'ज्ञानजनित ज्ञेयत्व' — 'अभिधानजनित अभिधेयत्व' इन प्रयोगों में जैसे ज्ञेयत्व और अभिधेयत्व क्रमशः ज्ञान और अभिधान से भिन्न हैं, इसीलिये भेदमूलक उपरोक्त प्रयोग किया जाता है; वैसे ही 'छः पदार्थों का अस्तित्व' यहाँ भी भेदमूलक ही षष्ठीविभक्ति का प्रयोग किया जाता है । उपरोक्त प्रयोगों से ही सिद्ध है ज्ञान, अभिधान और छ पदार्थों से क्रमशः ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व एवं ज्ञानमय अस्तित्व भिन्न हैं । इस पक्ष में न तो अनवस्था है, न छः से अतिरिक्त पदार्थान्तर का प्रसंग है, क्योंकि प्रमाणगम्यत्वस्वरूप अस्तित्व ज्ञानमय है और उस का समावेश 'गुण'संज्ञक द्वितीय पदार्थ

व्यतिरेके सप्तमपदार्थप्रसक्तेर्न्यायप्राप्तत्वात् ।

किंच, यदि षण्णां पदार्थानामर्थक्रियासमर्थपदार्थस्वरूपं स्वतत्त्वं न स्यात् तदा शशशृंगरूपता तेषां भवेत् अर्थक्रियाऽसामर्थ्यात्, ततश्च कथं सदुपलम्भकप्रमाणगम्यता तेषाम् ? अथ अर्थक्रियासमर्थ रूपं तेषां विद्यते; त(?य)दा ते तद्रूपा एव भेदान्तरप्रतिक्षेपमात्रजिज्ञासायां 'तेषामस्तित्वम्' इत्येवं यदि व्यपदेशं व्यतिरेकविभक्त्या समासादयन्ति - तदा न कश्चिद् विरोधः । न हि तदव्यतिरिक्तमपि स्वरूपं बुद्ध्याऽपकृष्य ततो व्यतिरिक्तमिव अभिधीयमानं विरोधभाग् भवति, इच्छामात्रानुविधायित्वाद् वाच उत्पाद्यकथाश्रयातिसुन्दरपदार्थवचनवत् ।

भिन्नकर्तृकत्वाद्यनुमानमपि असंगतम्, यतो यदि अप्राप्तपटव्यपदेशेभ्यस्तन्तुभ्यः प्राक्तनावस्थेभ्यो भेदः पटस्यात्र साध्यते तदा सिद्धसाध्यताप्रसक्तिः सर्वभावानां क्षणिकत्वेन तद्विलक्षणपटाख्यपदार्था-

में किया हुआ है ।" - तो ऐसा कहनेवाला यथार्थवादी नहीं है । कारण, इस ढंग के प्रतिपादन से अगर यह सिद्ध हो जाय कि अस्तित्व अतिरिक्त नहीं है, तो वस्तुगत भेद न होने पर भी षष्ठीप्रयोग होने से व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा । यदि अस्तित्व को अतिरिक्त मानेंगे तो छः से अतिरिक्त यानी सातवे पदार्थ का आदर करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा क्योंकि आप के मतानुसार वहाँ षष्ठी के अनुसार वस्तुगतभेद सिद्ध होने के कारण सातवा पदार्थ न्यायप्राप्त हो जाता है ।

✽ भेदान्तरप्रतिक्षेप के लिये षष्ठीविभक्ति ✽

तदुपरांत, दूसरी बात यह है कि पदार्थों के अस्तित्व को ज्ञानमय घोषित करने पर यह फलित होगा कि छ पदार्थों का स्वतत्त्व यानी अपना स्वरूप अर्थक्रियासमर्थपदार्थत्व रूप नहीं है; फलतः उन में शशसींगतुल्य असत्त्व प्रसक्त हुये विना नहीं रहेगा, क्योंकि उन में अर्थक्रिया के लिये जरूरी सामर्थ्य नहीं है । तब फिर वे छ पदार्थ जब सत् भी नहीं हैं तब 'सद्' उपलम्भ करानेवाले प्रमाण से गम्य भी कैसे रहेंगे ? यदि कहें "उन में अर्थक्रियासामर्थ्य तो है ही, जब वे अर्थक्रियासमर्थरूप होते हुए ही अन्यप्रकारता (यानी छ से अधिकता) के निषेधमात्र की जिज्ञासा होने पर 'छः का अस्तित्व' इस प्रकार व्यतिरेकसूचक विभक्ति के प्रयोग से निर्देश प्राप्त करते हैं" - तो उस में कोई विरोध नहीं है । मतलब यह है कि पदार्थ के अव्यतिरिक्त स्वरूप को (यानी अस्तित्व को) सिर्फ बुद्धि से अलग कर के 'मानों कि अलग ही हो' इस ढंग से षष्ठीप्रयोग से निर्दिष्ट किया जाता है तो प्रतिवादी को कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वचनप्रयोग इच्छामात्रप्रेरित होते हैं यह हम पहले ही कह आये हैं । इच्छावचन वास्तविकता से सम्बद्ध हो यह आवश्यक नहीं है । कोई नयी कथा बनायी जाय तो उस में कथा का जो मुख्य आश्रय यानी नायक कोई चक्रवर्ती है, उस के लिये 'अतिसुन्दर' नामात्मक पदार्थ की कल्पना की जाती है, जिस को वास्तविकता के साथ सम्बन्ध नहीं होता, वैसे यहाँ भी अस्तित्व का काल्पनिक भेद किया जाय तो कोई विपदा नहीं है । वस्तुगत भेद न होने पर भी षष्ठीप्रयोग हो सकता है अतः षष्ठीप्रयोग से गुण-गुणीभेद की सिद्धि असम्भव हो जाती है ।

✽ अवयवीभेदसाधक भिन्नकर्तृकत्वादिअनुमान निरर्थक ✽

पहले जो अवयवीभेद सिद्ध करने के लिये भिन्नकर्तृकत्वादि हेतु से अनुमानप्रयोग कहा गया है - तन्तु के कर्त्ता से वस्त्र का कर्त्ता भिन्न है अतः वस्त्र तन्तु से भिन्न है... इत्यादि, वह भी अयुक्त है । कारण, यदि 'वस्त्र' संज्ञा को प्राप्त न हुए पूर्वकालीन अवस्था में तन्तुओं में अगर वस्त्रभेद सिद्ध करने की मनीषा हो

नुत्पादेऽपि प्रतिक्षणं भिन्नत्वात् । अथ पटावस्थायां ये तन्त्वस्तेभ्यः पटस्य भेदः साध्यस्तदा हेतुनामसिद्धता, न हि तदवस्थाभावितन्तुभ्यः पटस्य भेदाऽप्रसिद्धौ भिन्नकर्तृकत्वादयो धर्माः सिद्धिमासादयन्ति । न च तत्सिद्धिः, इदानीमेव तत्सिद्धये साधनस्योपन्यासात् । न च 'तन्त्वः 'पटः' इति च संज्ञामात्रात् पदार्थानां भेदसिद्धिः, संज्ञान्तरस्य प्रयोजनान्तरवशेनापि संकेतनात् । तथाहि — योषित्कर्तृकास्तन्त्वः शीतापनोदाद्यर्थाऽसमर्थाः तन्तुशब्दसमावेशभाजः, कुविन्दकर्तृका विशिष्टावस्थाप्राप्ताः प्रावरणाद्यर्थक्रियासमर्थाः पटव्यपदेशसमावेशिनस्तदर्थक्रियाप्रतिपादनाय व्यवहारिभिस्तथा तत्र संकेतकरणात् अन्यथा गौरवाऽशक्ति-वैफल्यदोषप्रसङ्गात् । तथाहि — यदि यावन्तो भावा विवक्षितैकार्थनिर्वर्तनसमर्थास्तेषु तावन्तः शब्दा निवेश्यन्ते तदा गौरवदोषः, न चैषामसाधारणं रूपं निर्देष्टुं शक्यमिति अशक्तदोषः, उत्प्रेक्षितसामान्याकारेण निर्देशे वरं 'पटः' इत्येकयैव श्रुत्या प्रतिपादनं कृतम् न च किञ्चित् फलमस्य प्रत्येकं पृथगभिधानप्रयासस्य पश्याम इति वैफल्यदोषः । सामस्त्येन त्वभिधाने सति व्यवहारलाघवादिगुण इत्येकार्थक्रियाकारिषु अनेकेषु एकशब्दसंकेत उपपन्नः सकलवस्तुविवक्षायां जगत्-त्रिभुवन-

तो सिद्धसाध्यता दोष है क्योंकि उस अवस्था में हम भी वस्त्रभेद स्वीकारते हैं। वास्तव में, (ऋजुसूत्रनय का अवलम्बन कर के देखा जाय तो) सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, अतः तन्तुओं से विलक्षण वस्त्रसंज्ञक पदार्थ उत्पन्न न होने के समय भी क्षण-क्षण में तन्तु भिन्न भिन्न ही हैं अतः उस काल में वस्त्रभेद तो सुतरां मान्य है। यदि कहा जाय — वस्त्रावस्था काल में जो तन्तु हैं उन से वस्त्र भिन्न है यह उस अनुमानप्रयोग का साध्य है — तो कहना पड़ेगा कि भिन्नकर्तृकत्वादि हेतु वहाँ असिद्ध है। वस्त्रावस्थाकाल में रहे हुए तन्तुओं से उस वस्त्र का और तन्तुओं का कर्त्ता भिन्न है इत्यादि कैसे आप सिद्ध कर पायेंगे? यदि कहें कि — उस भेद को ही हम पहले सिद्ध कर लेंगे तो यह ठीक नहीं क्योंकि आप तो अभी भिन्नकर्तृकत्व हेतु से उसकी सिद्धि का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु उसके पहले भेद असिद्ध होने के कारण भिन्नकर्तृकत्व हेतु ही असिद्ध है, वह कैसे वस्त्रभेद सिद्ध कर पायेगा। 'तन्तु' और 'वस्त्र' ये संज्ञा भिन्न है उसका मतलब यह नहीं कि उन दोनों के अर्थ में भी भेद है, अलग अलग प्रयोजन के वश अलग अलग संज्ञा की जाती है। देखिये — महिलाओं ने बनाये हुए तन्तु, प्रावरण के द्वारा सर्दी को दूर करने के लिये समर्थ नहीं होते, अतः उनको सिर्फ तन्तु संज्ञा दी जाती है, जब कि बुननेवाले ने विशिष्टसंयोजन से बनाये हुए तन्तु एक ऐसी विशिष्ट अवस्था को प्राप्त करते हैं जिस से वे प्रावरण आदि क्रिया करने के समर्थ बन जाते हैं (संस्कृत में वस्त्र के लिये 'पट' शब्द प्रयुक्त होता है, उस का अर्थ होता है अंगादि का आच्छादन करनेवाला)। और तब उन के लिये 'पट' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। प्रावरण आदि अर्थक्रिया का निरूपण करने के लिये व्यवहारी लोगों ने तन्तुओं का 'पट' ऐसा संकेत किया होता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो गौरव, अशक्ति और विफलता ये दोष प्रसक्त होंगे।

गौरवादि दोष :- अभिलषित एक कार्य के उत्पादन में जितने पदार्थ समर्थ होते हैं उन सभी के लिये व्यक्तिगत एक-एक शब्द जोड़ा जाय तो गौरव दोष प्रसक्त होगा। अलग अलग शब्दयोजना करने पर उनका क्या साधारण स्वरूप है यह निर्देश करना अशक्य हो जाने से अशक्ति दोष होगा। यदि उनमें एक साधारण धर्म = सामान्य की कल्पना करके उस साधारणरूप से सभी को संगृहीत निर्देश करने की चेष्टा करेंगे तो उस के बदले 'पट' ऐसे एक शब्द की ही योजना कर देना अच्छा रहेगा। तब फिर अलग अलग संज्ञा करने के प्रयास का कोई इच्छनीय फल नहीं दिखता, अतः वैफल्यदोष आयेगा। उक्त दोषों को टालने के लिये

विश्वादिशब्दवत् । एवमेकवचनादिकं सांकेतिकं व्यवहारलाघवार्थमुपादीयमानं न वास्तवं तयोर्भेदं प्रसाधयति ।

विशिष्टावस्थाप्राप्तानां चाणूनामिन्द्रियग्राह्यत्वाद् अतीन्द्रियत्वमिसिद्धमिति न अवयव्यभावे प्रतिभास-विरतिप्रसक्तिर्दूषणम् । नहि सर्वदैव इन्द्रियातिक्रान्तस्वरूपाः परमाणवः क्षणिकवादिभिरभ्युपगम्यन्ते तेषां सर्वदैकस्वभावताविरहात् । ततः परस्पराऽविनिर्भागवर्तितया सहकारिवशादुत्पन्नाः परमाणवः क्षणिक-वादिभिरभ्युपगम्यन्ते तेषां सर्वदैकस्वभावताविरहात् । ततः परस्पराऽविनिर्भागवर्तितया सहकारिवशा-दुत्पन्नाः परमाणवः एव अध्यक्षविषयतामुपयान्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विजातीयानां द्रव्यानारम्भ-कत्वात् पाव(?न)कतप्तोपल-हेमसूतादेरुपलम्भो स्यात् । न च तत्र संयोगस्योपलभ्यता अदृष्टाश्रयस्य तस्यापि उपलम्भाऽविषयत्वात् वाय्वाकाशसंयोगवत् ।

ननु पौर्वापर्यादिदिग्भेदेन परमाणवो व्यवस्थिताः न च ते तद्रूपेण उपलभ्यन्ते इति कथमध्यक्ष-तैषाम् ? न, सर्वाकारानुभवेऽपि यत्रैवांशेऽभ्यासादिकारणसद्भावाभिश्चयस्तत्रैवाध्यक्षविषयताव्यवस्थापनात्

व्यक्तिगतरूप से नहीं किन्तु समष्टिगतरूप से नामकरण किया जाय तो व्यवहार में लाघव आदि गुण प्राप्त होता है । अतः एक अर्थक्रिया का सम्पादन करनेवाले अनेक पदार्थों के लिये एक ही शब्द का संकेत करना न्यायोचित सिद्ध होता है । जैसे कि दुनिया की सर्ववस्तु का प्रतिपादन करने की मनीषा हो तब जगत्, त्रिभुवन, विश्व, लोक इत्यादि शब्दों का प्रयोग साधारणरूप से किया जाता है । जैसे संकेतानुसार संज्ञा की जाती है वैसे ही व्यवहार में सरलता लाने के लिये संकेतानुसार अर्थात् इच्छानुसार कभी एकवचन तो कभी बहुवचन किया जाता है जिस को वास्तविकता के साथ सम्बन्ध हो यह आवश्यक नहीं है । अतः वचनभेद कभी वस्तुभेद का साधक नहीं बन सकता ।

✽ स्थूल द्रव्य के प्रतिभास का उपपादन ✽

यह जो कहा था - 'परमाणु सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) होते हैं, अवयवी को भिन्न नहीं मानेंगे तो (स्थूल) द्रव्य का प्रतिभास अशक्य होगा' - उसका जवाब यह है कि परमाणु हर कोई अवस्था में अतीन्द्रिय नहीं होते, बादरपरिणामस्वरूप विशिष्टावस्था को प्राप्त हुए परमाणु इन्द्रियगोचर होते हैं, अतः स्वतन्त्र अवयवी के विरह में भी स्थूलप्रतिभास का अभाव रूप दूषण प्रसक्त नहीं हो सकता । क्षणिकवादी ऋजुसूत्रनय के मत में परमाणु हर-हमेश इन्द्रिय के लिये अगोचर होने का नहीं माना गया है, क्योंकि परमाणु हर-हमेश अणुस्वभाव ही रहता हो ऐसा नहीं है । फलतः मानना चाहिये कि सहकारीयों के सहकार से परस्पर अविभक्त रूप से जब परमाणु का उत्पाद होता है तब वे प्रत्यक्षविषयता से अलंकृत हो जाते हैं । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो मद्य, आग में तपा हुआ पथ्थर और सोने की जरी के धागे इत्यादि के प्रत्यक्ष का विलोप हो जाने की मुसीबत आयेगी । कारण, प्रतिवादी के मत में यहाँ विजातीय द्रव्यों का मिश्रण होने से नये किसी अवयवीद्रव्य के आरम्भ का सम्भव ही नहीं है, इस स्थिति में वहाँ परमाणुपुञ्ज के अलावा और कुछ नहीं है, इसलिये उनका प्रत्यक्ष प्रतिवादी के मत में निरुद्ध हो जायेगा । यदि कहें कि - वहाँ मिश्रणान्तर्गत द्रव्यों का सिर्फ संयोग ही उपलब्ध होता है न कि परमाणु - तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वह संयोग भी परमाणु यानी अदृश्य पदार्थ में आश्रित मानना होगा और अदृश्यपदार्थाश्रित संयोग का उपलम्भ अशक्य है, उदा० वायु और आकाश का संयोग ।

यदि पूछा जाय कि - परमाणुपुञ्ज में हर एक परमाणु पूर्व-पश्चिमादि भिन्न भिन्न दिशा में अवस्थित होता है लेकिन उस ढंग से तो वे उपलब्ध नहीं होते, वे तो पुञ्ज रूप में उपलब्ध होते हैं तो फिर उनका प्रत्यक्ष

अन्यत्र तु गृहीतस्यापि व्यवहाराऽयोग्यत्वेन निश्चयानुत्पत्तेरगृहीतकल्पत्वात् । ननु अवयव्यभावे बहुषु परमाणुषु अक्षव्यापारेण 'एको घटः' इति कथं प्रत्ययः ? न, अनेकसूक्ष्मतरपदार्थसंवेदनतः 'एकः' इति विभ्रमोत्पत्तेः, प्रदीपादौ नैरन्तर्योत्पन्नसदृशापरापरज्वालादिपदार्थसंवेदनेऽपि एकत्वविभ्रमवत् । ननु भेदेनानुपलक्ष्यमाणाः परमाणवः कथमध्यक्षाः ? न, विवेकेनाऽनवधार्यमाणस्यानध्यक्षत्वे प्रदीपादौ पूर्वा-परविभागेनानुपलक्ष्यमाणेऽनध्यक्षताप्रसक्तेरवयवविवेकेन वाऽगृह्यमाणोऽप्यवयवी कथं तथाप्रत्यक्षत्वेनेष्टः ?

यदि च नीलादिनिर्भासे नाऽणवः प्रतिभान्ति तदा बाह्यार्थवादिना नीलादिज्ञानं निर्विषयं वाऽभ्यु-पगम्येत सविषयं वा ? न तावन्निर्विषयम् विज्ञानवादप्रसक्तेरेव । बाह्यविषयत्वेऽपि नीलादिर्विषयः स्थूल-रूपतया प्रतिभासमानः ^Aएक ^Bअनेको वा ? एकोऽपि अवयवैरारब्धः, अनारब्धो वा ?

(A)तत्र न तावत् अयमुभयरूपोऽप्येको युक्तः, स्थूलस्यैकस्वभावत्वविरोधात् । तथाहि — यदि स्थूलमेकं स्यात् तदा एकदेशरागे सर्वस्य रागः प्रसज्येत, एकदेशाऽवरणे च सर्वस्यावरणं भवेत्

कैसे मंजुर हो सकेगा ? — तो इस का जवाब यह है कि परमाणुओं का हर एक सम्भवित आकार से प्रत्यक्ष होता ही है, फिर भी दिशाभेद से उनका प्रत्यक्ष (=निर्विकल्पज्ञान) नहीं होने का कारण यह है कि अति अभ्यास आदि कारणों के बल पर जिस अंश को लेकर निश्चय (=सविकल्पज्ञान) पैदा होता है उसी अंश में प्रत्यक्ष की विषयता घोषित की जाती है, अन्य अंशों का प्रत्यक्ष होने पर भी व्यवहारयोग्यता न होने के कारण उनका निश्चय न हो सकने से वे अंश गृहीत होने पर भी अगृहीततुल्य समझे जाते हैं ।

प्रश्न :- जब आप अवयवी नहीं मानते तब अनेक परमाणुओं पर दृष्टिपात होते समय 'ये बहुत हैं' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये उसके बदले 'एक घडा' ऐसी एकत्व की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :- इस प्रश्न की कोई कीमत नहीं है । जैसे दीपज्योत आदि के बारे में प्रतिक्षण लगातार अनेक नयी नयी समानाकार ज्वालाआदि की उत्पत्ति होती है यह मान्य होने पर भी उस के संवेदन के समय एकत्व का विभ्रम होना सुविदित है; इसी तरह यहाँ अनेक परमाणुओं का संवेदन होने पर भी नैकट्य के कारण एकत्व का विभ्रम होने में कोई आश्चर्य नहीं है ।

प्रश्न :- जैसे भिन्न भिन्न दो घडे पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं वैसे पुञ्जगत परमाणु परस्पर भिन्नरूप से उपलब्ध नहीं होते, तो उन को कैसे प्रत्यक्ष माना जाय ?

उत्तर :- यदि आप ऐसा समझ बैठे हैं कि पृथक् रूप से जिस का उपलम्भ नहीं होता उसका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, तो दीपज्योत आदि के बारे में भी पृथक् रूप से पूर्व-अपर के भेद से उसकी उपलब्धि न होने से उस के भी प्रत्यक्ष का भंग प्रसक्त होगा । उपरांत, अवयवों से पृथक् अवयवी भी कहीं उपलब्ध नहीं होता तो कैसे यह आप को प्रत्यक्षरूप से मान्य होगा ?!

❀ अणुपरोक्षतावाद में अनुपपत्तियाँ ❀

परमाणु को सर्वथा परोक्ष माननेवाले बाह्यार्थवादी के सामने ये दो विकल्पप्रश्न हैं — नील-पीतादि के प्रतिभास में जब अणु भासित नहीं होता तो उस वक्त जो नीलादि ज्ञान होता है वह निर्विषय होता है या सविषय ? यदि निर्विषय मानेंगे तो जगत् निराकार विज्ञानमात्र मानने की विपदा घेर लेगी । सविषय पक्ष में भी यदि सिर्फ ज्ञानमात्रविषयक मानेंगे तो भी विज्ञानवाद मंजुर करना पड़ेगा । सविषय यानी बाह्यार्थविषयक मानेंगे तो स्थूलरूप से भासमान नीलादि विषय का स्वीकार करना होगा । वहाँ ये दो विकल्प प्रश्न खडे होंगे, वह भासमान नीलादि ^Aएकव्यक्ति रूप है या ^Bअनेकव्यक्तिरूप ? एक व्यक्ति-पक्ष में भी वह अवयवारब्ध एक व्यक्तिरूप

रक्ताऽरक्तयोः आवृताऽनावृतयोश्च भवदभ्युपगमेनैकत्वात् । न च परस्परविरुद्धधर्माध्यासेऽप्येकत्वं युक्तम् अतिप्रसंगात्, तथाऽभ्युपगमे वा विश्वमेकं द्रव्यं स्यात् ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसंगः । न चैकदेशावरणे सर्वमावृतमुपलभ्यत इत्यध्यक्षविरोधः । अनुमानविरोधोऽपि । तथाहि — यद्विरुद्धधर्माध्यासितं न तदेकम् यथाऽश्व-महिषदिकमुपलभ्यमानाऽनुपलभ्यमानस्वरूपम्, आवृतानावृतस्वरूपेण च विरुद्ध-धर्माध्यासितं स्थूलमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । सर्वस्यैकत्वप्रसङ्गो विपर्यये बाधकं प्रमाणम् ।

— ‘एकस्मिन् भेदाभावात् सर्वशब्दप्रयोगानुपपत्तिः’ () इति उद्घोतकरः । तथाहि — सर्वशब्दो-
ऽनेकार्थविषयः, न च अवयवी नानात्मा, इति कथं तत्र सर्वशब्दप्रयोगः येनैकदेशावरणे सर्वा-
वरणप्रसक्तिरित्युच्येत ? — असदेतत्, यतो य एव वस्त्रादयो भावा लोके प्रसिद्धास्त एव भवद्भिरपि
अवयवित्वेन कल्पिताः, तत्र च ‘सर्वं वस्त्रं रक्तम्’ इत्यादिको लोके सर्वैकशब्दप्रयोगः प्रसिद्ध एवेति

भासता है या अवयवों से अनारब्ध एक व्यक्तिरूप भासता है ?

(A) इन में एक भी पक्ष में एकव्यक्तिरूपता का मेल नहीं खाता, क्योंकि स्थूल हो और एकव्यक्तिस्वभाव हो यह परस्पर विरुद्ध है । देख लीजिये — स्थूल वस्तु यदि व्यक्ति-आत्म होगी तो उस को एक भाग में रंग लगाने पर सम्पूर्ण व्यक्ति रंगीन बन जायेगी । एवं एक भाग में पर्दा पडा होगा तो सम्पूर्ण व्यक्ति आवृत हो जायेगी, क्योंकि आप के मतानुसार तो रंग लगायी हुई एवं न लगायी हुई वस्तु तथा आवृत एवं अनावृत वस्तु एक व्यक्तिरूप ही है अतः उस में आवृतत्व-अनावृतत्व दो धर्मों का समावेश शक्य नहीं है क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध धर्म हैं; परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक माने गये पदार्थ में आभास होने पर, वास्तव में उस पदार्थ में एकत्व का सम्भव ही नहीं रहता, क्योंकि फिर अश्वत्व और गोत्व का धर्म भी एक मानने का अतिप्रसंग हो सकता है । अरे फिर तो चेतनत्व, जडत्व आदि सभी धर्मों का एक ही धर्म मान लेने पर सारा विश्व ही एक द्रव्य रूप मान लेना होगा और उस की उत्पत्ति के साथ सारे विश्व की उत्पत्ति... इत्यादि बहुत बिगड़ेगा । दूसरी ओर, यह वास्तविकता है कि एकअंश में आवृत वस्त्र सम्पूर्ण आवृत नहीं दीखता अतः प्रत्यक्षविरोध दुवार है । वैसे ही अनुमानविरोध भी उपस्थित होगा । देखिये -- जो विरुद्ध धर्माध्यास से ग्रस्त है वह एक नहीं होता, उदा० जब अश्व उपलम्भविषय होता है और उस वक्त महिष उपलम्भविषय नहीं होता, तब उन दोनों में उपलम्भविषयता और अनुपलम्भविषयता क्रमशः अध्यस्त होती है और वे एक नहीं होते । वैसे ही आवृत-अनावृतरूप से विरुद्धधर्माध्यस्त होती है स्थूल वस्तु, अतः वह भी ‘एक’ होना अशक्य है । यहाँ हेतु व्यापकविरुद्ध उपलब्धिरूप है, एकत्वरूप व्यापक का विरुद्ध है विरुद्धधर्माध्यास, उस की उपलब्धि के बल से यहाँ एकत्व का निषेध किया जाता है । यदि ऐसी विपक्ष की शंका की जाय कि विरुद्धधर्माध्यास हो जाने पर भी एकत्व रह सकता है — तो उस में यह बाधक तर्क है, तब सारा विश्व एक हो जायेगा ।

✽ सर्वशब्दानुपपत्ति का निवारण ✽

इस विषय में उद्घोतकरने जो कहा है — ‘अवयवी पूर्ण रूप से एक होता है, उस में कोई भेदेरेखा नहीं होती, अतः उस के लिये ‘सर्व’ शब्द का प्रयोग असंगत है’ । उस के समर्थन में वे कहते हैं, ‘सर्व’ शब्द अनेकार्थवाचक है, अवयवी अनेकात्मक नहीं होता तो कैसे उसके लिये ‘सर्व’ शब्द का प्रयोग उचित माना जाय ? तात्पर्य यह है कि अवयवी अपने एक देश से आवृत होने पर सर्वांश से आवृत होने की प्रतिवादियों की आपत्ति है — उस का यह जवाब है कि अवयवी अनेकात्मक न होने से उस के लिये ‘सर्वांश से’ यह विकल्प उठाना गलत है । अतः एक देश का आवरण होने पर सर्वावरण का प्रसंजन कह नहीं सकते । -

कथं तत्र तत्प्रयोगानुपपत्तिः ? यदर्थविवक्षायां रक्तादिशब्दप्रयोगो लोके तस्यामेवास्माभिरपि तत्प्रतीति-
मनुसृत्य भवतां विरोधप्रतिपादनाय 'सर्व'आदिशब्दप्रयोगः क्रियते इति कथमस्यानुपपत्तिः ?

किञ्च, स्थूलस्यैकत्वमभ्युपगच्छतो भवत एवायं दोषः नास्माकम् तदनभ्युपगमात् । न च पटका-
रणेषु तन्तुषूपचारतः पटाभिधानप्रवृत्तेः 'सर्व'आदिशब्दप्रयोगानुपपत्तिर्दोषः परस्यापि न भविष्यतीति
वक्तव्यम्, एवं सर्वदैव बहुवचनप्रयोगापत्तेः । न हि भवदभ्युपगमेन बहुषु एकवचनमुपपत्तिम् । न
चावयविगतां संख्यामादाय पटादिशब्दस्तदवयवेषु तन्त्वादिष्वपरित्यक्तात्माभिधेयगतलिङ्गादिर्वर्तत इति
वाच्यम्, अस्य व्यपदेशस्य गौणत्वे स्वलद्वृत्तितयाऽगौणाद् भेदप्रसक्तेः, न चासावस्ति । तथाहि —
'रक्तं सर्वं वस्त्रम्' इत्यत्र नैवं बुद्धिः 'न वस्त्रं रक्तम् किन्तु तत्कारणभूतास्तन्तवः' इति । किञ्च,
भेदेनोपलब्धयोः गो-वाहिकयोर्मुख्योपचरितशब्दविषयता सम्भवति । न चावयवावयविनोः कदाचिद्
भेदेनोपलब्धिरिति नात्रोपचरितशब्दप्रयोगो युक्तः ।

- उद्योतकर का यह कथन गलत है, क्योंकि लोगों में जो वस्त्रादि भाव प्रसिद्ध हैं उन को ही नैयायिक उद्योतकरादि
ने 'अवयवी' रूप में स्वीकृत किया है, जब लोक में 'सम्पूर्ण वस्त्र रंगीन है' ऐसा 'सर्व' या 'एक' शब्द
का द्विविध व्यवहार अति प्रचलित है तो फिर अवयवी के लिये 'सर्व' शब्द का प्रयोग कैसे असंगत कहा जाय ?
जिस अर्थ को सूचित करने के लिये लोक 'रंगीन' शब्द का व्यवहार करते हैं उसी अर्थ के लिये प्रतीति के
अनुसार हम, आप के मत में विरोध दिखाने के लिये 'सर्व' इत्यादि शब्दव्यवहार करते हैं । तब बताईये क्या
असंगति है ?!

✽ जो स्थूल है वह एक नहीं होता ✽

दूसरी बात यह है कि यदि स्थूल अवयवी के लिये 'सर्व' शब्द का प्रयोग असंगत है तो यह असंगतिदोष
आप लोगों को (नैयायिकादि को) ही सिर पर ढोना होगा, क्योंकि स्थूल अवयवी को आप ही 'एक' मानने
पर डटे हुए हैं, हम नहीं, क्योंकि हमें स्थूल 'एक' होना मंजूर नहीं है । यदि यह कहा जाय — 'वस्त्र शब्द
का प्रयोग उपचार से वस्त्र के कारणभूत तन्तुओं के लिये भी होता है, वे अनेक होते हैं, अतः 'सर्व' आदि
शब्द का प्रयोग लोग में जो होता है उस को तन्तु-अर्थक मान लेने पर हमारे मत में भी कोई आपत्ति नहीं
है — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तन्तुओं के लिये पट तथा 'सर्व' शब्दप्रयोग करने पर सदा के लिये बहुवचनान्त
ही पट शब्द के प्रयोग की आपत्ति खड़ी होगी । आप का तो यह मत है कि बहुसंख्यक वस्तु के लिये एकवचनान्त
प्रयोग नहीं किया जा सकता । यदि यह कहा जाय — 'पट' शब्द का जब उपचार से तन्तुओं के लिये प्रयोग
होता है तब वह अपने मुख्य अर्थ पट के लिंग का जैसे परिवर्तन नहीं करता वैसे ही पटान्तर्गत एकत्व संख्या
का भी परिहार नहीं करता । तात्पर्य, पट शब्द का एकवचनान्त प्रयोग जब तन्तु के लिये उपचार से किया
जाता है तब पट के लिंग और संख्या का परिहार नहीं करता, सिर्फ पट रूप मुख्य अर्थ के बदले उपचार
से तन्तु का प्रतिपादन करता है, अतः सर्वदा बहुवचन की विपदा निरवकाश है । — यदि आप इस (अभ्रान्त)
प्रयोग को औपचारिक यानी गौण मानेंगे तो यह स्वलद्वृत्ति यानी अर्थासंवादी होने से भ्रान्त मानना होगा,
तब जो पट के लिये ही अगौण 'पट' शब्द का प्रयोग होता है उस में और इसमें भेद प्रसक्त होगा । वास्तव
में 'पट' शब्द के प्रयोग में, पट के लिये अभ्रान्त और तन्तु के लिये भ्रान्त ऐसा कोई भेद आज तक उपलब्ध
नहीं हुआ । देखिये — 'संपूर्ण वस्त्र रंगीन है' ऐसा प्रयोग सुन कर कभी ऐसी बुद्धि नहीं होती कि 'वस्त्र
रंगीन नहीं किन्तु उनके कारणभूत तन्तु रंगीन हैं' । दूसरी बात यह है कि भिन्न भिन्न उपलब्ध होनेवाले बैल

शंकरस्वामी अत्राह — “वस्त्रस्य रागः” कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोग उच्यते, स च अव्याप्यवृत्तिः, तत एकत्र रक्ते न सर्वस्य रागः, न च शरीरादेरेकदेशावरणे सर्वस्यावरणं युक्तम्” () इति । — असदेतत्, यतो यदि पटादिनिर्णशमेकं द्रव्यम् तदा किं कुङ्कुमादिना तत्राऽव्याप्तम् येन संयोगोऽव्याप्यवृत्तिर्भवेत् ? अथ अव्याप्तमपि किञ्चिद् रूपं तत्रावस्थितं तदा तयोर्भेदः व्याप्ताऽव्याप्तयोर्विरुद्धधर्माध्यासतः एकस्वभावत्वाऽयोगात् । न च पृथुतरदेशावस्थानमेकस्य युक्तम् निरंशत्वात्, अन्यथा सर्वत्र स्थूल-सूक्ष्मादिभेदो न स्यात् एकत्वेनाऽविशेषात् । न चाल्पबहुवयवारम्भादिकृतोऽसौ विशेषोऽवयवानाम् तथाभेदेऽपि अवयविनां निरंशतया परस्परं विशेषाभावात्, अवयवाल्पबहुत्वग्रहणकृते च स्थूलादिव्यवहारेऽवयमात्रमेवाभ्युपगतं दृश्यत्वेन स्यात् स्थूलादिव्यतिरेकेणान्यस्याऽदृश्यमानत्वात् । किञ्च, अवयवाल्पबहुत्वकृते तथा भेदेऽवयवा एव तथा तथोत्पद्यमाना अल्पबहुतराः स्थूल-सूक्ष्मादिव्यवस्थानिबन्धनं भविष्यन्ति किं तदारब्धावयविकल्पनया, तस्य कदाचिदप्यदृष्टसामर्थ्यात् ।

और उसके वाहक के लिये मुख्य और गौण शब्दप्रयोग का होना सम्भवित है, किन्तु अवयव-अवयवी का तो कभी भेदोपलम्भ हुआ ही नहीं है तो यहाँ तन्तु अवयवों के लिये उपचरितशब्दप्रयोग मानना कितना युक्त है ?! आप ही सोचिये ।

✽ अवयविपक्ष में संयोग की अव्याप्यवृत्तिता दुर्घट ✽

इस विषय में शंकरस्वामी ने कहा है — केसरादि द्रव्य का संयोग यही वस्त्र का रञ्जन है । संयोग तो एकदेशवृत्ति होने से अव्याप्यवृत्ति ही होता है, अतः एक भाग में रंग लगाने पर सर्वत्र रञ्जन होना अशक्य है, जैसे कि शरीर के किसी एक भाग में आवरण लगाने पर सम्पूर्ण देह का आवरण होना अयुक्त है । तात्पर्य, संयोग अव्याप्यवृत्ति होने से अवयवी एक होने पर भी एक भाग में रंग लगाने से सम्पूर्ण वस्त्र रंगीन हो जाने की आपत्ति अयोग्य है ।

शंकरस्वामी का यह कथन गलत है, क्योंकि जब वस्त्र अवयवी अखंड एक इकाई है तब उसके कोई अपने भाग ही नहीं है, तो वह कौनसा भाग है जिस में केसरादि का संयोग अव्याप्त रह जाता हैं, जिस से आप को थोथा बचाव करना पड़े कि संयोग अव्याप्यवृत्ति है.. इत्यादि । हाँ, अगर उस अवयवी वस्त्र में कोई भाग अव्याप्त ही रह गया हो तब तो उस में भी भेद प्रसक्त होगा क्योंकि व्याप्त और अव्याप्त ऐसे दो परस्पर विरुद्ध धर्म जहाँ अध्यासित हो वहाँ एकस्वभावता का होना सम्भव ही नहीं है । तदुपरांत, जो एक अखंड अवयवी है वह लम्बे-चौड़े देश में पूर्ण व्याप्त हो कर रह भी नहीं सकता क्योंकि वह निरंश है, अंश होते तो एक कोने में एक अंश, दूसरे कोने में दूसरा, इस प्रकार वह व्याप्त हो कर रहता । यदि निरंश होने पर भी वस्तु लम्बे-चौड़े देश में व्याप्त हो कर रह सकेगी तो कहीं भी स्थूल-सूक्ष्म, स्थूलतर-सूक्ष्मतर आदि भेद सावकाश नहीं रहेगा, क्योंकि हर एक अवयवी में समानरूप से एकत्व विद्यमान है, फिर एक स्थूल हो, दूसरा स्थूलतर हो यह कैसे हो सकता है ?

यदि कहा जय — जिस में अल्प अवयव होंगे वह अवयवी सूक्ष्म होगा, जिस में बहु अवयव होंगे वह अवयवी स्थूल होगा — इस प्रकार एकत्व समानरूप से होने पर भी स्थूल-सूक्ष्म का भेद हो सकेगा — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों में अल्प-बहुत्व के कारण यह भेद हो सकता है किन्तु उस में अवयवी को क्या ? वे तो निरंश होने से परस्पर समान हैं । उपरांत, स्थूल-सूक्ष्म के व्यवहार को अवयवों के अल्पबहुत्व-मूलक मानेंगे तो आप सिर्फ अवयव को ही दृश्य मान सकेंगे क्योंकि वह दीखाई देता है, अवयवी दीखता

किञ्च, अव्याप्यवृत्तिः संयोग इति यदि 'सर्वं द्रव्यं न व्याप्नोति' इत्ययमर्थः तदा द्रव्यस्य 'सर्व'-शब्दाऽविषयत्वाभ्युपगमादयुक्तः । अथ तदेकदेशवृत्तिः, तदसंगतम्, तस्यैकदेशाऽसम्भवात् । न च 'तदारम्भकेऽवयवे वर्तते' इत्यर्थप्रकल्पना, अवयवानामेव रक्तत्वात् तदवयविरूपस्याऽरक्तत्वप्रसक्तेर्युगपद् रक्ताऽरक्तरूपद्वयोपलब्धिः प्रसज्यते । किञ्च, तदारम्भकोऽपि अवयवो यद्यवयवीरूपस्तदा संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तितया तत्राप्येकदेशवृत्तित्वमिति तुल्यः पर्यनुयोगः । अथ अणुरूपस्तदा अणूनामतीन्द्रियत्वात् तदाश्रितः संयोगोऽप्यतीन्द्रियः एवेति न रक्तोपलम्भो भवेत् । न च यथाऽङ्गुलीरूपस्याश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिर्व्याप्तिस्तथा संयोगस्याश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिर्न विद्यत इति वक्तव्यम्, संयोगस्यापि आश्रयानुपलब्धावनुपलब्धेरन्यथा घट-पिशाचसंयोगस्याप्युपलब्धिः स्यात् । एवं च अङ्गुलीरूपवद् रागस्यापि

नहीं इस लिये उस को दृश्य नहीं मान सकेंगे, क्योंकि स्थूलता आदि तो अल्प-बहुत्वमूलक होने से अवयवी में रहते नहीं । एवं यह भी सोचना होगा कि स्थूल-सूक्ष्मादि का भेद जब अवयवों के अल्पबहुत्व से प्रयुक्त है तब अल्प-बहुत्व के जरिये सूक्ष्म-स्थूल रूप से उत्पन्न होनेवाले अल्प या बहुसंख्यक अवयवों के ही स्थूल-सूक्ष्मादि व्यवहार भी संपन्न हो जायेगा, अब अवयवों से आरम्भ अवयवी की कल्पना की क्या जरूर है ? किसी भी कार्य में अवयवी की तो कोई शक्ति प्रसिद्ध रही नहीं, तो निष्प्रयोजन उसकी कल्पना क्यों की जाय ?!

✽ 'अव्याप्यवृत्ति' शब्द का अर्थ क्या ? ✽

यहाँ संयोग की अव्याप्यवृत्तित्ता पर भी विचार करना आवश्यक है कि वह क्या है ? 'जो सर्व (पूरे) द्रव्य में व्याप्त नहीं होता वह अव्याप्यवृत्ति' ऐसा अर्थ अगर किया जाय तो वह उद्घोतकरादि के मत में मेल नहीं खायेगा, क्योंकि वे अवयवीरूप द्रव्य को 'सर्व' शब्द प्रयोग का विषय ही नहीं मानते हैं । यदि 'अवयवी के एक देश में रहना' यह अर्थ है तो वह असंगत है क्योंकि निरंश अवयवी का कोई देश यानी अंश ही नहीं होता । यदि ऐसी अर्थकल्पना करें कि 'अवयवी के आरम्भक अवयव में रहना' - तो वहाँ यह फलित होगा कि रंगसंसर्ग सिर्फ अवयवों में ही हुआ है, अवयवी में रंगसंसर्ग न होने से वह तो अरञ्जित ही रह जायेगा और वस्त्र को देखने पर रञ्जित अवयव और अरञ्जित अवयवी इस प्रकार एक साथ रञ्जित-अरञ्जित दो स्वरूप का उपलम्भ प्रसक्त होगा ।

तथा यह भी सोचना पड़ेगा कि अवयवी-आरम्भक अवयव भी यदि एक लघु अवयवीरूप ही होगा तो वहाँ भी संयोग अव्याप्यवृत्ति हो कर ही रहेगा । अर्थात् वहाँ भी एकदेशवृत्तित्व का अर्थ विचार करने पर पूर्ववत् दोषग्रस्त मालुम पड़ेगा । यदि 'एक देश वृत्तित्व' में एक देश अणुरूप माना जाय तो वह अतीन्द्रिय होने से, उस में रहा हुआ संयोग भी अतीन्द्रिय ही मानना होगा, फलतः रञ्जितत्व का उपलम्भ भी नहीं होगा । यदि यह कहा जाय - जैसे यह नियम है कि उँगली के रूप का उपलम्भ उस के आश्रयभूत उँगली का उपलम्भ होने पर ही होता है वैसे यह नियम नहीं है कि आश्रय का उपलम्भ होने पर ही संयोग की उपलब्धि हो - यही संयोग की अव्याप्यवृत्तित्ता है । अतः अणु अतीन्द्रिय होने पर भी रंगसंयोगात्मक रञ्जितत्व का उपलम्भ हो सकेगा ।' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग के लिये भी यह नियम है कि आश्रय का उपलम्भ न होने पर संयोग की उपलब्धि भी नहीं होती । यदि ऐसे नियम को नहीं मानेंगे तो घट और अतीन्द्रिय पिशाच के संयोग की उपलब्धि भी हो जायेगी । इस से तो यह निष्कर्ष फलित होगा कि 'आश्रय का उपलम्भ होने पर ही अपना उपलम्भ होना' यह नियम जैसे उँगली के रूप को लागु पड़ता है और वह

अदृष्टाश्रयस्यानुपलब्धेराश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिरिति व्याप्यवृत्तिरसावपि स्यात् ।

अथाऽरक्तेष्ववयवेषु समवेतस्य द्रव्यस्योपलब्धावपि न रागस्य संयोगस्वभावस्योपलब्धिरित्याश्रयोपलब्धौ नास्योपलब्धिरित्यव्याप्यवृत्तित्वम् । न, रक्ताऽरक्तावयवसमवेतस्यावयविन एकत्वात् रक्तेऽप्यवयवे रागस्य तद्द्वारेणानुपलब्धिप्रसङ्गात् आश्रयोपलम्भेऽपि तस्यानुपलम्भात् । न चान्यः संयोगग्रहणोपायः आश्रयोपलम्भात् समस्ति ततो नैकरूपो विषयो युक्तः ।

अनेकरूपोऽपि अणुसंचयात्मक एव सामर्थ्यात् सिद्धः, विद्यमानावयवस्यैकत्वाऽयोगात् । ततः पटादीनां परमाणुरूपत्वाद् नीलादिः परमाणूनामाकारः सिद्धः, स्थूलरूपस्यैकस्यापरस्य विषयस्याऽसम्भवात् । न च 'परमाणुः' इति व्यपदेशः स्थूलस्यैकस्याभावेऽयुक्तः, कल्पितस्थूलापेक्षयाऽपि तद्ब्रह्मपदेशस्य सम्भवात् । ततो न स्थूलमेकं द्रव्यमवयवानारब्धमपि घटते तदारब्धं तु सुतरामसम्भवि । तथा च 'यदनेकम् न तदेकद्रव्यानुगतम् यथा घट-कुट्यादयः, अनेके च तन्त्वादयः' इति व्यापकविरुद्धोपल-

व्याप्यवृत्ति ही होता है ऐसे ही यह नियम संयोगात्मक 'राग' को भी लागु होता है, क्योंकि आश्रय अदृष्ट रहने पर उसका उपलम्भ नहीं होता, अतः वह भी व्याप्यवृत्ति ही होना चाहिये ।

✽ स्थूल विषयक प्रत्यक्ष एकव्यक्तिग्राहक नहीं है ✽

यदि यह कहा जाय - 'एक दो अवयव रञ्जित होने पर भी जो अवयव अरिञ्जित हैं उन भागों में समवेत अवयविद्रव्य का उपलम्भ होने पर भी संयोगात्मक 'राग' की वहाँ उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार आश्रय उपलब्ध होने पर भी आश्रित 'राग' अनुपलब्ध रहता है यही संयोग की अव्याप्यवृत्तिता है ।' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अरक्तावयवों के भाग में अवयवि में राग की अनुपलब्धि मानेंगे तो रक्त और अरक्त अवयवों में समवेत अवयवी एक होने से रक्तावयववाले भाग में भी राग की अनुपलब्धि प्रसक्त होगी, क्योंकि आप के मतानुसार वहाँ आश्रय(अवयवी) उपलब्ध होने पर भी संयोगात्मक राग अनुपलब्ध रह सकता है । आश्रय के उपलम्भ के अलावा और कोई ऐसा उपाय नहीं है जो संयोग का उपलम्भक बन सके । अतः स्थूल-प्रत्यक्ष का कोई एक व्यक्तिरूप ही विषय होना घट नहीं सकता । प्रथम विकल्प समाप्त ।

✽ अनेकरूप नीलादि स्थूल विषय अणुसमुदायात्मक ✽

(B)नीलादि प्रतिभास बाह्यविषयक मानने पर स्थूल रूप से भासमान नीलादि एक है या अनेक - उनमें से प्रथम विकल्प की चर्चा हुई । अब यदि दूसरे विकल्प में उसे अनेकरूप माना जाय तो युक्तिबल के आधार पर अणुसमुदायात्मक ही उसे मानना ठीक रहेगा, क्योंकि अणुसमुदाय से अतिरिक्त द्रव्य को अनेकरूप मानेंगे तो आप को वह सावयव ही मानना होगा, और जो सावयव होगा (यानी लघु-बृहद् अवयवीरूप होगा) उस में एकत्व नहीं घट सकता, किन्तु निरवयव अणु में तो वह घट सकता है, और एक एक अणु मिल कर समुदाय भी घट सकता है । तात्पर्य यह है कि अणु से अतिरिक्त अनेक द्रव्य मानेंगे तो वहाँ अनेकता तो एक-एक के मिलने पर ही हो सकती है, किन्तु जब सावयव में एकत्व ही नहीं घट सकता तो अनेकता कैसे तय्यार होगी ? अणु निरवयव है इसलिये वहाँ कोई समस्या नहीं है । फलित यह होता है कि वस्त्रादि द्रव्य परमाणु(पुञ्ज)रूप ही होता है और नीलादि उसका आकारविशेष है, क्योंकि नीलादि आकारवाले परमाणु के अलावा और कोई स्थूलबुद्धि के विषयरूप में संगत नहीं होता ।

पहले जो कहा था कि - 'परमाणु' ऐसा शब्दप्रयोग, अणुत्व के स्थूलसापेक्ष होने से, स्थूल-एक द्रव्य के विना

ब्धिः । यद्वा, 'यदेकम् न तदनेकद्रव्याश्रितम् यथैकपरमाणुः, एकं चावयविसंज्ञितं द्रव्यमि'ति व्यापक-विरुद्धोपलब्धिप्रयोगः प्रसंगसाधनरूपः ।

प्रयोगद्वयेऽपि अवयविनोऽवयवेषु वृत्त्यननुपपत्तिर्विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । सा चैकावयवक्रोडीकृतेन वा स्वभावेनावयव्यवयवान्तरे वर्तते उत स्वभावान्तरेण, प्रकारान्तराऽसम्भवात् ? यदि तैनेवेति पक्षः स न युक्तः तस्य तेनैवावयवेन क्रोडीकृतत्वात् अन्यत्र वर्तितुमशक्तेः, शक्तौ वा तत्रावयवे तस्य सर्वात्मना वृत्त्यनुपपत्तिः, अपरस्वभावाभावान्न तस्यांपरावयववृत्तिस्वभावः, तद्भावे वा एकत्वहानिप्रसक्तेः । तथाहि — यदेकक्रोडीकृतम् न तत् तदैवान्यत्र प्रवर्तते, यथा एकभाजनक्रोडीकृतमाम्रादि न तदैव भाजान्तरमध्यमध्यास्ते, एकावयवक्रोडीकृतं चावयविस्वरूपम् इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । एकावयव-सम्बद्धस्वभावस्यातद्देशावयवान्तरसंबद्धस्वभावताऽभ्युपगमे तदवयवानामेकदेशताप्रसक्तिर्विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । एकदेशतायां चैकात्म्यम् अविभक्तरूपत्वात्, विभक्तरूपावस्थितौ चैकदेशत्वं न स्यात् ।

सम्भव नहीं है -- यह गलत बात है क्योंकि कल्पित गधेसींग की असत्यता की अपेक्षा से ही बैलसींग के लिये 'सत्य' का व्यवहार होता है वैसे ही कल्पित स्थूलत्व की अपेक्षा से ही अणुत्व का व्यवहार हो सकता है ।

निष्कर्ष :- अवयवों से अनारब्ध ऐसा स्थूल-एक द्रव्य न्यायसंगत नहीं है, तो फिर अवयवारब्ध तो कैसे न्यायसंगत हो सकता है ? नीलादि बाह्यविषय एक माना जाय तो अवयवारब्ध माना जाय या अनारब्ध, ये जो पहले दो विकल्प किये थे उन का यह निष्कर्ष, उपरोक्त चर्चा से अनायास फलित होता है । अनुमानप्रयोग इस प्रकार है — जो अनेक हैं वे किसी एक (अवयवी जैसे) द्रव्य से अनुगत (=व्याप्त) नहीं होता जैसे घट-कुटी आदि (का समुदाय) । तन्तु आदि भी अनेकात्मक हैं अतः उन में भी कोई एक अनुगत अवयवी हो नहीं सकता । — इस प्रयोग में, एकद्रव्यानुगततारूप व्यापक का विरोधी है अनेकत्व, उस की उपलब्धि हेतुरूप में प्रयुक्त है अतः व्यापक विरुद्धोपलब्धिस्वरूप हेतुप्रयोग है । अथवा ऐसा प्रसंगापादन प्रयोग देखिये — जो एक होता है वह अनेकद्रव्यों में आश्रित नहीं होता जैसे एक परमाणु, अवयवीसंज्ञक द्रव्य भी एक माना गया है अतः वह भी अनेकाश्रित नहीं होना चाहिये । इस प्रयोग में प्रतिवादिमान्य अवयवी में अनेकद्रव्याश्रितत्व के भंग का आपादन किया गया है । यहाँ अनेकाश्रितत्व व्यापक है और एकत्व उसका विरोधी है इसलिये व्यापकविरुद्धोपलब्धिस्वरूप हेतुप्रयोग किया गया है ।

✽ अवयवों में अवयवी का वृत्तित्व दुर्घट ✽

उक्त दोनों प्रयोगों के ऊपर अगर ऐसी विपक्ष शंका की जाय कि — अनेक अवयवों में एक अनुगत अवयवी क्यों नहीं हो सकता ? अथवा एक अवयवी क्यों अनेकाश्रित नहीं हो सकता ? तो विपक्षशंकाबाधक स्पष्ट प्रमाण यह है कि अवयवों में अवयवी की वृत्ति यानी स्थिति ही संगत नहीं होती । वृत्ति की असंगति इस प्रकार है — एक अवयवी जब अनेक अवयवों में रहेगा तो एक ही स्वभाव से सभी अवयवों में रहेगा या अलग अलग स्वभाव से अलग अलग अवयवों में रहेगा ? अर्थात् किसी एक अवयव में, उस अवयव की गोद में बैठ जाने के स्वभाव से वह जैसे बैठ जाता है, क्या उसी स्वभाव से वह अन्य अवयव की गोद में वृत्ति हो जाता है या अन्य स्वभाव से ? और तो कोई तीसरा विकल्प नहीं । यदि कहें कि उसी स्वभाव से, तो वह अयुक्त है, क्योंकि उस स्वभाव से तो वह एक ही अवयव से पकड़ लिया गया है अतः अन्य अवयव में उसी स्वभाव से ठहरने की शक्ति उस में कैसे हो सकती है ? यदि उसी स्वभाव से अन्य अवयव में भी रहने की शक्ति उस में होगी, तब तो पहले अवयव में उसकी सम्पूर्णतया वृत्ति ही नहीं घट सकेगी,

अथ स्वभावान्तरेणाऽवयवान्तरे वृत्तिस्तदा एकोऽनेकवृत्तिर्न स्यात् स्वभावभेदात्मकत्वाद्बस्तुभेदस्य, अन्यथा तदयोगात् ।

‘अवयवी अवयवेषु वर्तते’ इति समवायरूपा प्राप्तिरुच्यते’ () इति उद्घोतकराभ्युपगमेऽपि ‘किमेकावयवसमवेतेनैव स्वभावेन अवयवान्तरेषु वर्तते अथ अन्येन’ इति विचारः समान एवेति कृत्स्नैकदेशशब्दानुच्चारणेऽपि वृत्त्यनुपपत्तिर्युक्ता, तदुच्चारणेऽपि सा युक्तैव । तथाहि — यदि सर्वात्मना प्रत्येकमवयवेष्ववयवी वर्तते तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्त एवावयविनः स्युः स्वभावभेदमन्तरेण प्रत्यवयवं तस्य सर्वात्मना वृत्त्यनुपपत्तेः । एवं च युगपदनेककुण्डादिव्यवस्थितबिल्वादिवदनेकावयव्युपलब्धिप्रसक्तिः । अथैकदेशेनासौ तेषु वर्तते इति पक्षस्तदाऽनवस्थाप्रसक्तिः तेष्वप्यवयवेषु वृत्तावपरैकदेशवृत्तिकल्पनया । अथ यैरेकदेशैरवयवी अवयवेषु वर्तते ते तस्य स्वात्मभूता इति नानवस्था तर्हि तद्वत् पाण्यादयोप्यवय-

क्योंकि वह उसी स्वभाव से अन्य अवयव में भी वृत्ति है, हर एक अवयवों में अवयवी एक ही स्वभाव से सम्पूर्णतया कैसे ठहर सकेगा ? और दूसरी बात यह है कि जिस स्वभाव से अवयवी जिस अवयव में रहता है, अन्य अवयव में रहने के लिये भी अन्य वैसा स्वभाव चाहिये, जो एक अवयवी में होना सम्भव नहीं है, फिर कैसे वह अन्य अवयवों में भी रह सकेगा ? यदि वैसा अन्य स्वभाव अवयवी में है, तब तो स्वभावभेद प्रसक्त होने के कारण अवयवी के एकत्व का भंग हो जायेगा ।

देखिये यह प्रयोग - जो एक अवयव की गोद में बैठ गया वह अन्य अवयव में वर्तमान नहीं हो सकता, जैसे एक भाजन की गोद में रहे हुए आम-फलादि अन्य भाजन में उसी समय नहीं रह सकते । अवयवी का स्वरूप भी एक अवयव की गोद में पकड़ा हुआ है, अतः वह भी अन्य अवयव में नहीं रह सकता । इस प्रयोग में अन्यत्रवृत्ति व्यापक है, उस का विरोधी है किसी एक में ही वृत्ति हो जाना, उसकी उपलब्धि को यहाँ हेतु बनाया गया है, इस प्रकार व्यापकविरुद्ध-उपलब्धि हेतु है । यहाँ विपरीत शंका में बाधक प्रमाण इस तरह है - एकप्रदेशगत अवयव से सम्बद्ध स्वभाववाले एक अवयवी में यदि अन्यप्रदेशगत अवयव के साथ सम्बद्धस्वभावता मान ली जायेगी, तो उन अवयवों में समानदेशस्थिति भी माननी पड़ेगी यह अतिप्रसंग होगा । समानदेशस्थिति भी मान लेंगे तो अविभक्त स्थितिवाले उन अवयवों में एकात्मता यानी एकत्व को भी मान लेना पड़ेगा । यदि उन को विभक्त स्वरूपवाले मानना है तो फिर विभक्तदेशवृत्ति भी मानना होगा न कि समानदेशवृत्ति । यदि अवयवी को अन्य स्वभाव से अन्य अवयव में वृत्ति माना जाय तो अनेक में एक की वृत्ति को स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि वहाँ वस्तु-भेद ही स्थान ले लेगा, क्योंकि वह स्वभावभेदात्मक ही होता है । यदि स्वभावभेद से वस्तु-भेद नहीं मानेंगे तो विश्वभर में कहीं भी वस्तु-भेद को स्थान नहीं मिलेगा ।

❀ समवायात्मक वृत्ति का उपपादन दुर्घट ❀

उद्घोतकरादि विद्वानों ने माना है कि अवयवों में अवयवी की वृत्ति का मतलब है समवायात्मक सम्बन्ध । यहाँ भी असंगति तदवस्थ है -- जिस स्वभाव से अवयवी एक अवयव में समवेत है, क्या उसी स्वभाव से यह अन्य अवयवों में रहता है या अन्यस्वभाव से ? यह विचार यहाँ भी पूर्ववत् तुल्य ही है । यदि हम कृत्स्न-एकदेश का विकल्प उठाते तब तो आप किसी प्रकार उनका समाधान कर देते, किन्तु यहाँ तो उन विकल्पों को प्रस्तुत न करने पर भी उक्त दो विकल्पों से वृत्ति की असंगति फलित हो जाती है । वास्तव में तो, कृत्स्न-एक देश विकल्पों का समाधान भी दुष्कर है । देखिये, यदि अवयवी प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्णतया रह जायेगा तब तो जितने अवयव उतने अवयवी प्रसक्त होंगे, क्योंकि स्वभावभेद के विना एक स्वभाव से ही प्रत्येक अवयवों

वास्तस्य स्वात्मभूताः किं नाऽभ्युपगम्यन्ते ? तथाऽभ्युपगमे चापरावयवप्रकल्पना न स्यात् अवयवप्रचयात्म-
कत्वात् तस्य ।

नन्विदं प्रसङ्गसाधनम्, स्वतन्त्रसाधनं वा ? स्वतन्त्रसाधनेऽवयविनोऽप्रसिद्धेराश्रयासिद्धत्वादिदोषः ।
न च वृत्त्या परस्य सत्त्वं व्याप्तम् येन तन्निवृत्तौ तत्सत्त्वव्यावृत्तिर्भवेत्, वृत्त्यभावेऽपि रूपादेः परेण
सत्त्वाभ्युपगमात् । एकदेशेन सर्वात्मना वाऽवयविनो वृत्तिप्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात्
प्रकारान्तरेण वृत्तिरभ्युपगता स्यात् । यथा च वृत्तिद्वयमुपलम्भादभ्युपगम्यते तथाऽवयविनि वृत्तेरुपलम्भात्
प्रकारान्तरेणाऽसौ किं नाभ्युपगम्यते ?! वृत्तिश्च समवायः तस्य सर्वत्रैकत्वात् निरवयवत्वाच्च कृत्स्नैकदे-
शशब्दाऽविषयत्वम् । अथ प्रसंगसाधनम् तदप्यवयविनो वृत्तेश्चानुपलम्भेऽयुक्तम् । न च परस्य भवतो
वा कात्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकस्मिन्नेकस्य वृत्तिरुपलब्धिगोचरो यस्या असंभवादवयविद्वयमसत् स्यात् ।
अथैवम्भूता वृत्तिः क्वचिदुपलब्धा तदाऽवयविन्यपि सा भविष्यतीति न तत्प्रतिषेधो युक्तः, वृत्तिमात्रस्य

में सम्पूर्णतया अवयवी का रह जाना सम्भव नहीं है । अब तो जैसे भिन्न भिन्न कुण्डादि में रहे हुए बिल्वफलादि
की अलग अलग उपलब्धि होती है वैसे ही प्रति-अवयव समवेत अलग अलग अवयवी भी उपलब्ध हो जायेगा ।
यदि सम्पूर्णतया नहीं किन्तु एक देश से वृत्ति – यह दूसरा विकल्प मानेंगे तो अनवस्था दोष खड़ा है, क्योंकि उस
एकदेश की भी उन अवयवों में वृत्ति के बारे में सम्पूर्ण-एक देश दो विकल्पों में से दूसरे विकल्प का स्वीकार करने
पर एकदेश की भी एकदेश से वृत्ति, उस की भी एक देश से.... इस प्रकार मानशून्य कल्पना का अमर्याद कष्ट
भोगना पड़ेगा । यदि ऐसा कहें कि – ‘जिन एक एक अंश से अवयवी एक एक अवयवों में एकदेश से वृत्ति होता
है वे एक एक अंश अवयवी के आत्मभूत यानी अभिन्न ही होते हैं, अतः उन के लिये अपर अपर एक एक देश
की कल्पना का कष्ट अनावश्यक है’ – तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एकदेश से वृत्ति की उपपत्ति के लिये कल्पित
एक एक अंश को जब आप अवयवी के आत्मभूत मान लेने को तय्यार है, तब हाथ-पैर आदि अवयवों को भी
एक शरीर-अवयवी के आत्मभूत क्यों नहीं मान लेते ? तात्पर्य, अवयवी अवयवप्रचयात्मक यानी अवयवसमुदायरूप
ही होने से, अपर अपर एकदेशरूप अवयवों की कल्पना करना अनावश्यक है ।

✽ वृत्ति की दुर्घटना का निराकरण – अवयवीवादी ✽

अवयवीवादी :- अवयवी के निरसन के लिये आपने जो कुछ कहा वह सिर्फ प्रसंगापादनरूप में है या
स्वतन्त्र कुछ अपने मत का साधन करने के लिये ? स्वतन्त्रसाधन पक्ष में आप को आश्रयासिद्धि आदि दोष
है, क्योंकि अवयवी ही आप के मत में सिद्ध नहीं है तो उस के ऊपर लगाये गये दोष का साधन कैसे ठीक
होगा ? दूसरी बात यह है कि आप के मत में पदार्थ की सत्ता वृत्ति से व्याप्त तो है नहीं, तो वृत्ति की
निवृत्ति के साथ पदार्थसत्ता की निवृत्ति कैसे घोषित हो सकती है ? आप के मत में तो परमाणुओं में कात्स्न्य-
एकदेशवृत्ति के विरह में भी रूपादि की सत्ता मानी जाती है । तथा, एक-दो विशेष के निषेध से परिशेषरूप
विशेष को अपने आप मान्यता मिल जाती है, जैसे कि यह पुरुष ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है ऐसा कहने पर ‘वैश्य
या शूद्र है’ इस तथ्य को समर्थन मिलता है । प्रस्तुत में आप अवयवी की एकदेश से या सम्पूर्णतया वृत्ति
का निषेध करते हो तो अपने आप उन दोनों से अतिरिक्त किसी अन्यप्रकार की वृत्ति का समर्थन हो जाता
है । एक देश से और सम्पूर्णतया वृत्ति के दो प्रकारों का जब आप को कहीं उपलम्भ हुआ होगा तभी आप
उस को मानते हैं तो वैसे ही (उन दोनों से अतिरिक्त) किसी एक ढंग से अवयवी के बारे में भी वृत्ति
का उपलम्भ होता है तो तीसरे किसी प्रकार से भी वृत्ति क्यों मानते नहीं ? हमारे मत में वह तीसरा प्रकार

चानुपलम्भे 'एकदेशेन सर्वात्मना वा' इति विशेषप्रतिषेधोऽनुपपन्नः, सिद्धे धर्मिणि तस्योपपत्तेर्धर्म्यसिद्धौ च तस्यैव प्रतिषेधो विधेयः। तेनैतावदेव वक्तव्यम् 'वृत्तिरेव नास्ति' इति। न चैतदपि युक्तम् अध्यक्षत एवावयवेष्ववयविनो वृत्तिसिद्धेः। तथाहि - इन्द्रियव्यापारे सति 'इह तन्तुषु पटः' इति बुद्धिरबाधितरूपोपजायत एव। न चाबाधितरूपाया अस्या अप्रत्यक्षत्वं युक्तम् रूपादिस्वलक्षणग्राहि-णोप्यध्यक्षस्यानध्यक्षताप्रसक्तेः - अविशेषात्।

असदेतत् - यतो नेदमस्माभिः स्वतन्त्रसाधनमभिधीयते किन्तु प्रसङ्गसाधनम्। तस्य च 'व्याप्य-व्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको व्यापकनिवृत्तिर्वा व्याप्यनिवृत्त्यविना-भाविनी' इत्येतत्प्रदर्शनफलस्य प्रवृत्तिर्युक्तैव। व्याप्य-व्यापकभावसिद्धिश्चात्र लोकप्रसिद्धैव भवताऽभ्यु-पगमनीया। लोकश्च कस्यचित् सर्वात्मना वृत्तिं कुत्रचिदभ्युपगच्छति, यथा श्रीफलस्य कुण्डादौ, क्वचिच्च कस्यचित् एकदेशेन, यथाऽनेकपीठाधिशयितस्य चैत्रादेः। यत्र च प्रकारद्वयं वृत्तेर्व्यावृत्तं तत्र वृत्तेरभाव

समवाय है। वह नित्य एवं सर्वत्र एक व्यक्ति स्वरूप ही है तथा निरंश = निरवयव है इस लिये समवाय के ऊपर एकदेश या सर्वांश ऐसे विकल्प का जादू चलेगा ही नहीं।

यदि कहें कि यह हमारा प्रसंगापादनमात्र है, तो वह तब योग्य कहा जाता यदि अवयवी या उस की वृत्ति (= समवाय) का अनुपलम्भ होता, किन्तु ऐसा तो है नहीं। अन्यवादी या आप के मत में एक की अनेक में वृत्ति उपलम्भगोचर ही नहीं है तो फिर उस के असम्भव से अवयविद्रव्य को असत् होने का आपादन कैसे किया जा सकता है? अगर अनेकों में एक की वृत्ति एकदेश से या सम्पूर्णतया कहीं देख लिया है तब तो वह अवयवी के लिये भी घट सकती है अतः उस का प्रतिषेध करना निरर्थक है। यदि आपने उस प्रकार की वृत्ति को कहीं नहीं देखा तब तो 'एक देश से अथवा सम्पूर्णतया वृत्ति नहीं है' ऐसा विशेषनिषेध करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि वृत्ति रूप धर्मी सिद्ध होने पर 'एक देश से नहीं' इत्यादि निषेध घट सकता है, जब धर्मी ही सिद्ध नहीं है तब पहले धर्मी का ही निषेध करना चाहिये, अतः सिर्फ इतना ही कहना चाहिये कि 'वृत्ति जैसी कोई चीज ही नहीं है'। किन्तु जब प्रत्यक्ष से ही अवयवों में अवयवी की वृत्ति सिद्ध है तब आप वैसा कहने की हिंमत भी कैसे कर सकते हैं कि 'वृत्ति जैसी चीज नहीं है'? देख लीजिये - 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र है' इस प्रकार वृत्तिविषयक बुद्धि बेरोकटोक उत्पन्न होती है। इस निर्बाध बुद्धि को अप्रत्यक्ष करार देना ठीक नहीं है, क्योंकि बाद में रूपादिस्वलक्षणस्पर्शी निर्बाध प्रत्यक्ष को भी अप्रत्यक्ष करार दिया जायेगा क्योंकि उक्त वृत्तिप्रत्यक्ष और रूपादिप्रत्यक्ष में खास कोई भेद नहीं है। तात्पर्य, सम्पूर्णतया या एकदेश से अवयवी की वृत्ति न होने पर भी समवाय से उस की वृत्ति प्रसिद्ध है। अतः अवयवी सत्य है।

❀ अवयवीवादी के पूर्वपक्ष का प्रत्युत्तर ❀

अवयवीवादी का यह प्रतिपादन गलत है। कारण, हम वहाँ अवयविप्रतिवादप्रसंग में कोई स्वतन्त्रसिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं चाहते थे, सिर्फ उक्त अवयविप्रतिवाद से हम प्रसंगसाधन ही करना चाहते हैं। प्रसंगसाधन की प्रवृत्ति युक्तिसंगत है, क्योंकि उस से यह स्पष्ट फलित होता है कि 'जिन दो भावों में व्याप्य-व्यापकभाव प्रसिद्ध हो उन दो में से व्याप्य का स्वीकार करने पर व्यापक का स्वीकार अनिवार्य हो जाता है, एवं व्यापक के विरह में व्याप्य का अवश्य विरह होता है।' व्याप्य-व्यापक भाव किसी दो भावों में सिद्ध है या नहीं इस विषय में तो लोकप्रसिद्धि ही शरणभूत होती है। लोक में यह माना गया है-कोई पदार्थ किसी एक अधिकरण में रहता है तो सम्पूर्ण समाविष्ट हो कर रहता है, उदा० कुण्डादि में नारियल आदि। वैसे ही कोई पदार्थ

एव — कथं न व्याप्तिसिद्धिर्येनात्र प्रसंगसाधनस्यावकाशो न स्यात् ? निरस्ता च प्रागेवानेकस्मिन्नेकस्य वृत्तिर्न पुनः प्रतिपाद्यते । यच्चाध्यक्षत एव वृत्तिः सिद्धा 'इह इदम्' इत्यक्षानुसारिबुद्ध्युत्पत्तेः, तदप्यसंगतम् यतो न 'इह तन्तुषु पटः' इति विकल्पिकाऽपि लोके बुद्धिः प्रवर्तते । किं तर्हि ? 'पटे तन्तवः' इति । न चाध्यक्षे तन्तुसमवेतं व्यतिरिक्तं पटादिद्रव्यमवभासते । न च विवेकेनाऽप्रतिभासमानस्य 'इह इदं वर्तते' इति बुद्धिविषयता । न हि विवेकेनाऽप्रतिभासमाने कुण्डादौ बदरादिके 'इह कुण्डे बदराणि' इति प्रत्ययः प्रादुर्भवति ।

यदपि 'कात्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्तिर्न क्वचिदुपलक्षिता' इति तदप्यसंगतम्, बदरादेः कुण्डादौ सर्वात्मना, वंशादेरेकदेशेन स्तम्भादौ वृत्तेरुपलक्षणात् । यदपि उक्तमुद्घोतकरणे 'एकस्मिन् अवयविनि कृत्स्नैकदेशशब्दप्रवृत्त्यसंभवात् अयुक्तोऽयं प्रश्नः — किमेकदेशेन वर्तते अथ कृत्स्नो वर्तते इति । कृत्स्नम् इति हि खल्वेकस्याशेषस्याभिधानम् 'एकदेशः' इति चानेकत्वे सति कस्यचिदभिधानम् ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दावेकस्मिन्नवयविन्यनुपपन्नौ (२-१-३२ न्यायवा०) इति, तदपि प्रत्युक्तं प्राक्तनन्यायेनैव । तथा च कृत्स्नः पटः कुण्डे वर्तते एकदेशेन वा इत्येवं पटादिषु कृत्स्नैकदेशशब्दप्रवृत्तिर्दृश्यत

किसी एक अधिकरण में एक देश से रहता है, उदा० अनेक खंड खंड काष्ठफलक पर सोया हुआ चैत्र आदि । जहाँ इन में से एक भी प्रकार से वृत्ति नहीं होती वहाँ वृत्ति का सर्वथा अभाव होना चाहिये । इस प्रकार जब नियम सिद्ध होता है तब प्रसंगसाधन को अवकाश क्यों नहीं मिलेगा ? ! एक भाव की अनेक में वृत्ति पूर्वोक्त दो विकल्पों में से एक से भी घटती नहीं, इसलिये वह सम्भव ही नहीं है — यह पहले ही बता दिया है इसलिये पुनः उस का प्रतिपादन क्यों करना ?!

यह जो कहा गया कि — वृत्ति तो वहाँ प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है, क्योंकि 'यहाँ तन्तुओं में यह वस्त्र है' ऐसी इन्द्रियजन्य बुद्धि सभी को होती है — वह कथन असंगत है, क्योंकि प्रत्यक्ष में कभी 'तन्तुओं में वस्त्र है' ऐसी विकल्पबुद्धि प्रवृत्त नहीं होती, उलट में 'वस्त्र में तन्तु हैं' बुद्धि होती है । दूसरी बात यह है कि 'तन्तुओं में समवेत किन्तु तन्तु से अतिरिक्त' ऐसे वस्त्रादि द्रव्य का प्रत्यक्ष में भान नहीं होता । जो पृथक् रूप से भासित न हो उस के बारे में 'वह यहाँ है' ऐसी भेदबुद्धिविषयता का होना शक्य नहीं है । कुण्डादि में भी अगर पृथक् रूप से बेर का भान न होता तो 'यहाँ कुण्ड में बेर हैं' ऐसी प्रतीति कभी उदीत नहीं हो पाती ।

✽ कृत्स्न - एकदेश विकल्पयुगल का औचित्य ✽

यह जो अवयवीवादी ने कहा है कि 'सम्पूर्णतया अथवा एकदेश से कहीं भी वृत्ति उपलब्ध नहीं है' यह नितान्त गलत है क्योंकि कुण्ड में बेर का सम्पूर्णतया समावेश होता है, स्तम्भ के ऊपर तीरछा रखा गया बाँस एक देश से स्तम्भ पर वृत्ति होता है, यह सभी को मान्य है । उद्घोतकरने जो कहा है कि — 'एकव्यक्तिरूप अवयवी के बारे में किये जाने वाले प्रश्न में सम्पूर्ण और एकदेश से शब्दों का प्रयोग सम्भवोचित ही नहीं है, अतः यह प्रश्न भी अनुचित है कि 'क्या वह एक देश से रहता है या सम्पूर्णतया रहता है ?' 'सम्पूर्ण' यह शब्द एक के बारे में अशेष (= जिस में कोई बाकी नहीं रहा) का अभिधायी है, तथा एकदेश शब्द अनेक में से किसी एक का अभिधायी है । ये दोनों ही 'सम्पूर्ण-एकदेश' शब्द एक अवयवी के बारे में असंगत हैं ।' — उद्घोतकर के न्यायवार्तिक के इस कथन का पूर्वोक्तयुक्ति से प्रत्याख्यान हो जाता है । सम्पूर्ण-एकदेश शब्दयुगल की प्रवृत्ति तो वस्त्रादि अवयवी के लिये स्पष्ट उपलब्ध होती है, जैसे 'सम्पूर्ण वस्त्र जलकुंड में समाविष्ट है, तथा । 'एक भाग से वस्त्र जलकुंड में रखा गया है' — इत्यादि । 'ये तो गौण यानी उपचार से होने

एव । न चैयमुपचरिता, अस्खलद्वृत्तित्वाद् । न च शब्दप्रवृत्त्यनुपपत्तिमात्रप्रेरणया वस्त्वर्थस्य प्रतिषेधः शक्यो विधातुम्, तत्र तच्छब्दाऽप्रवृत्तावपि व्याप्त्यव्याप्तिशब्दयोः प्रवृत्त्युपपत्तेः । तथाहि — ‘अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं किं व्याप्त्या वर्तते उताऽव्याप्त्या ?’ इत्येवं विवक्षितार्थाभिधाने न कंचिद् दोषमुत्पश्यामः । तन्न नित्यानित्यरूपपृथिव्यादित्तुःसंख्यं द्रव्यमुपपत्तिमत् ।

आकाशाख्यैकनित्यद्रव्यप्रसिद्धये शब्दं गुणत्वाल्लिङ्गत्वेन प्रतिपादयन्ति । तथा च परेषां प्रयोगः — ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्माध्यासिताः ते क्वचिदाश्रिता यथा घटादयः, तथा च शब्दाः तस्मादेभिराश्रितैः क्वचिद् भवितव्यम्, यश्चैषामाश्रयः स पारिशेष्यादाकाशः । तथाहि — नायं शब्दः पृथ्व्यादीनां वायुपर्यन्तानां गुणः, अध्यक्षग्राह्यत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । ये तु पृथिव्यादीनां चतुर्णां गुणास्ते बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वका न भवन्ति यथा रूपादयः, न च तथा शब्दः । एवं ‘अयावद्द्रव्यभावित्वात्’ ‘आश्रयाद् भेयदिरेन्यत्रोपलब्धेश्च’ इत्यादयो हेतवो द्रष्टव्याः । स्पर्शवतां यथोक्तविपरीता गुणा उपलब्धाः । ‘प्रत्यक्षत्वे सति’ इति च विशेषणं परमाणुगतैः पाकजैः अनेकान्तिकत्वं मा भूद् इत्युपात्तम् । न चात्मगुणोऽहंकारेण विभक्तग्रहणात् बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वात् आत्मान्तर-

वाले शब्दप्रयोग हैं’ — ऐसा कहना गलत है, क्योंकि यह कोई स्वलद्वृत्ति यानी बाधित शब्दप्रयोग नहीं है । दूसरी बात यह है कि सिर्फ शब्दप्रयोग की असंगति दिखा कर के, उस शब्दप्रयोग से वक्ता जिस तथ्य का प्रतिपादन करना चाहता है उस तथ्य का निषेध तो कभी नहीं हो सकता । किसीने अश्व के लिये उस का हुबहु अंगोपांग आदि का वर्णन करते हुए ‘बैल’ शब्द का प्रयोग कर दिया, तो उस प्रयोग की असंगति दिखा देने मात्र से उसने जिस अश्व को देखा है उस का तो निषेध नहीं हो सकता । यदि अवयवी के लिये ‘सम्पूर्ण या एकदेश-वृत्ति’ शब्दों का प्रयोग न करे, तो भी व्याप्ति-अव्याप्ति शब्दों के प्रयोग से भी हमारी बात को हम बता सकते हैं । जैसे देखिये — अवयवों में रहनेवाला अवयवी क्या व्याप्ति से (यानी व्यापकरूप से) रहता है या अव्याप्ति से (यानी अव्यापक हो कर) रहता है ? इस प्रकार विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन में यानी अवयवी में प्रसंगसाधन करने में कोई दोष नहीं है ।

निष्कर्ष :- नित्यस्वरूप परमाणु आदि और अनित्य स्वरूप अवयवी ये दो प्रकार के पृथ्वी आदि चार द्रव्यों का युक्ति के साथ मेल नहीं बैठता ।

✽ शब्दगुण के आश्रयरूप में आकाश की सिद्धि ✽

न्याय-वैशेषिक मतवादी ‘शब्द’ गुण होने का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उस को लिंग बना कर उस के आश्रय के रूप में एक नित्य आकाशसंज्ञक द्रव्य की वे सिद्धि चाहते हैं । उन की ओर से यह प्रयोग है — विनाशित्व-उत्पत्तिशीलता आदि धर्मों से जो ग्रस्त रहते हैं वे किसी के आश्रित होते हैं जैसे घट-वस्त्रादि । शब्द (ध्वनि) भी उत्पत्ति-विनाशशील है, अतः सभी ध्वनियाँ किसी की आश्रित होनी चाहिये । इस प्रयोग से जो शब्द का आश्रय सिद्ध होता है वह परिशेषन्याय से आकाश ही है । देखिये — शब्द किसी भी पृथ्वी-जल-तेज-वायु इन चार में से एक का भी गुण नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्षग्राह्य है किन्तु कारणगुणपूर्वक नहीं है । पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के सभी गुण बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष होते हैं और कारणगुणपूर्वक ही होते हैं । कारणगुणपूर्वक यानी अवयवों के गुण से अवयवी में जिन गुणों की उत्पत्ति होती है वे रूपादि गुण । शब्द कारणगुणपूर्वक नहीं है इस लिये पृथ्वी आदि चार का गुण नहीं हो सकता । यहाँ पहले हेतु में ‘प्रत्यक्षग्राह्यत्व’ अंश अगर न रखा जाय तो पृथ्वीआदि के परमाणुओं में पाकजन्य रूपादि में अकारणगुणपूर्वकत्व हेतु के होने पर भी पृथ्वी-

ग्राह्यत्वाच्च, बुद्ध्यादीनामात्मगुणानां तद्वैपरीत्योपलब्धेः । न दिक्-काल-मनसाम् श्रोत्रग्राह्यत्वात् । अतः पारिशेष्याद् गुणो भूत्वाऽऽकाशस्य लिङ्गम् । आकाशं च शब्दलिङ्गाऽविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च एकम् विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् समवायित्वे सत्यनाश्रितत्वाच्च द्रव्यम्, अकृतकत्वाभित्यम् ।

पराऽपरव्यतिकर-यौगपद्याऽयौगपद्य-चिर/क्षिप्रप्रत्ययलिङ्गः कालो द्रव्यान्तरम् । तथाहि — परः पिता अपरः पुत्रः । युगपत् अयुगपत् वा, तथा चिरम् क्षिप्रम् वा कृतं करिष्यते वा इति यत्

आदिगुणत्व का विरह रूप साध्य न रहने से व्यभिचार दोष की सम्भावना है, किन्तु 'प्रत्यक्षग्राह्यत्व' विशेषणसहित हेतु करने से दोष नहीं होगा, क्योंकि परमाणु के रूपादिगुण प्रत्यक्ष नहीं होते । (यद्यपि उन के मत में ईश्वरप्रत्यक्ष होने से, अब भी वह दोष तदवस्थ रहता है किन्तु 'इन्द्रियग्राह्यत्वे सति' ऐसे विशेषण में तात्पर्य समझना चाहिये, फिर वह दोष नहीं रहेगा ।)

✽ शब्द पृथ्वीआदि अन्य द्रव्यों का गुण नहीं है ✽

शब्द में पृथ्वी आदि चार के गुणत्व का निषेध करने के लिये 'अयावद्द्रव्यभावित्व' अथवा 'भेरी आदि आश्रय से अन्यत्र उपलब्धि' इत्यादि और भी कई हेतु कहे जा सकते हैं । रूपादि गुण अपने आश्रयभूत द्रव्य में यावद्द्रव्य रहते हैं जब कि शब्द तो उत्पन्न हो कर त्वरा से नष्ट हो जाता है इस लिये वह पृथ्वी आदि चार का गुण नहीं हो सकता । तथा, संभवित भेरी-तबला आदि आश्रय से वह उत्पन्न होता है किन्तु दूर दूर पर्वत की गुफा में भी वह सुनाई देता है, पृथ्वी आदि चार के गुण ऐसे नहीं होते । स्पर्श के आश्रयभूत जो पृथ्वी आदि चार हैं उन के गुण यावद्द्रव्यभावी होते हैं और उनके आश्रय में ही उपलब्ध होते हैं अतः शब्द से विपरीत-विलक्षण ही है, यानी शब्द पृथ्वी आदि चार के गुणों से विलक्षण ही गुण है ।

शब्द आत्मा का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि 'मैं शब्दवाला हूँ' इस प्रकार उस का अहंकार से अविभक्त रूप में ग्रहण नहीं होता किन्तु अहंकार (अहंत्व) से विभक्त (=व्यधिकरण) स्वरूप में ही उसका ग्रहण होता है । शब्द बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष है इस लिये भी वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता । तथा एक ही शब्द अन्य जीवों से भी प्रत्यक्षगृहीत होता है इस लिये भी वह जीव का गुण नहीं हो सकता । कारण, आत्मा के जो बुद्धि आदि गुण हैं वे शब्द से विपरीत ही हैं, यानी न तो बुद्धि आदि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष है, न एक आत्मा के गुण दूसरे आत्मा को इन्द्रियग्राह्य होते हैं ।

शब्द दिक्-काल और मन का गुण भी नहीं हो सकता, क्योंकि श्रोत्रग्राह्य है, दिक् आदि तीन का एक भी गुण श्रोत्रग्राह्य नहीं है ।

इस प्रकार पृथ्वी आदि आठ में से एक भी द्रव्य का जो गुण नहीं है वह गुण होने से किसी द्रव्य का आश्रित तो होना ही चाहिये, अतः उस के आश्रय द्रव्य के रूप में परिशेष न्याय से आकाश सिद्ध हो जाता है ।

आकाश का विशेष तो कोई लिंग नहीं है, शब्दरूप सामान्य लिंग है इस लिये उस को 'एक' मात्र द्रव्य रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है । तथा उस का शब्द गुण कोने कोने में सर्वत्र उपलब्ध होता है इस लिये वह 'एक' हो कर भी विश्वव्यापक सिद्ध होता है । वह शब्दगुण का समवायी कारण है तथा स्वयं अनाश्रित है इस लिये 'द्रव्य'रूप सिद्ध होता है, एवं उस में कृतकत्व न होने से वह नित्य सिद्ध होता है ।

✽ परत्वादिलिङ्गक कालद्रव्य की स्थापना ✽

न्याय-वैशेषिक मत में काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है । उस की अनुमिति के लिये बहुत से लिंग हैं -

पराऽपरादिज्ञानम् तदादित्यादिक्रिया-द्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनम् तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्यय-वत् । योऽस्य हेतुः स पारिशेष्यात् कालः । यतो न तावत् पराऽपरादिप्रत्ययः दिग्देशकृतोऽयम्, स्थविरेऽपरदिग्भिर्भागावस्थितेऽपि 'परोऽयम्' इति प्रत्ययोत्पत्तेः । तथा यूनि परदिग्भावावस्थितेऽपि 'अपरोऽयम्' इति ज्ञानप्रादुर्भावात् । न च वलीपलितादिकृतोऽयं प्रत्ययः, तत्कृतप्रत्ययवैलक्षण्येनोत्पत्तेः । नापि क्रियानिर्वर्तितः, तत्प्रतिभावितज्ञानवैलक्षण्येन संवेदनात् । तथा च सूत्रम् 'अपरस्मिन् परं युगपद् अयुगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि' (वैशे० द० २-२-६) इति । आकाशवदेवास्यापि विभुत्व-नित्यत्वैकत्वादयो धर्मा अवगन्तव्याः ।

दिगपि एकादिधर्मोपेतं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम् । तथाहि — मूर्त्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तं द्रव्यमवधिं कृत्वा 'इदमस्मात् पूर्वेण, दक्षिणेन, पश्चिमेनोत्तरेण, पूर्वदक्षिणेन, दक्षिणापरेणापरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्ता-

- परत्व और अपरत्व का व्यवहार, समसामयिक और विषमसामयिक घटनाएँ, विलम्ब और शीघ्रता की प्रतीति ये सब लिंग है । स्पष्टता — पिता बड़ा और बेटा छोटा, यानी इन में पूर्वापर क्रम होता है वह काल के बिना अशक्य है । कभी कोई दो घटना एकसाथ कहीं होती हैं, कभी पूर्वापर क्रम से होती है । कभी कोई कार्य होने में बहुत विलम्ब होता है तो कभी शीघ्र कार्यसिद्धि होती है । यह कार्य कल हो गया, वह तो दो दिन के बाद होगा । इस प्रकार के व्यवहारों में जो किसी के बारे में पूर्वता का और अन्य के विषय में पाश्चात्यभाव का बोध होता है वह किसी ऐसे पदार्थ के प्रभाव से होता है जो न तो सूर्य आदि की क्रियारूप है, न तो द्रव्य यानी शरीर पर बुढापे में होनेवाले वली-पलित या कटीवक्रता आदि रूप है, किन्तु उन से अतिरिक्त ही है जिस को 'काल' संज्ञा दी गयी है, क्योंकि सूर्यक्रियादि की प्रतीति और यह पूर्व-पश्चाद्भाव की प्रतीति बहुत विलक्षण है, जैसे घटादि की प्रतीति । इस प्रतीति का जो मूलाधार है वही परिशेषन्याय से 'काल' कहा जाता है ।

✽ काल के विना पूर्व-पश्चाद्भावप्रतीति अशक्य ✽

यदि कहें कि 'यह पूर्व-पश्चात् की प्रतीति दिशाओं के विभाग से होती है' तो वह अनुचित है, क्योंकि वृद्ध पुरुष पश्चिम दिशा के विभाग में बैठा हो तो भी उस के विषय में 'यह पूर्व (बड़ा) है' ऐसी प्रतीति सभी को होती है और युवान पुरुष पूर्वदिशा के विभाग में बैठा हो तो भी 'यह पश्चिम (छोटा) है' इस प्रकार से बोध होता है । वली-पलितादि से पूर्व-पश्चात् की प्रतीति का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि दो बूढे व्यक्ति में समानरूप से वली-पलित आदि देखने पर भी पूर्व-पश्चात् की प्रतीति विलक्षण ही होती है । सूर्य आदि की क्रिया से प्रभावित, यानी जन्म लेनेवाला ज्ञान और पूर्वपश्चात्भाव की प्रतीति, दोनों में संवेदन विलक्षण होता है ।

वैशेषिकसूत्र (२-२-६) में कहा है कि — "अपर में पर (बुद्धि), समसामयिकता — विषमसामयिकता, विलम्ब-त्तरा ये सब काल के लिंग हैं ।"

आकाश में जैसे एकत्व-व्यापकत्व-नित्यत्व द्रव्यरूपत्व इत्यादि धर्म पहले दिखाये हैं वैसे काल में भी ये सब धर्म समझ लेना ।

✽ दश प्रतीतियों से दिग्द्रव्य की स्थापना ✽

'दिशा' एक स्वतन्त्र एकत्वादिधर्मवाला द्रव्य है यह प्रमाणसिद्ध तथ्य है । देखिये — एक मूर्त्त द्रव्य का सीमांकन कर के अन्य मूर्त्त द्रव्यों का स्थान ज्ञात करने के लिये ऐसी दश प्रतीतियाँ होती है —

दुपरिष्ठात्' अमी दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिग् इति । तथा च सूत्रम् — 'अत इदम् इति यतस्तद् दिशो लिंगम्' (वैशे० द० २-२-१०) इति । एते हि विशेषप्रत्यया न आकास्मिकाः सम्भवन्ति । न च परस्परापेक्षमूर्त्तद्रव्यनिमित्ताः इतरेतराश्रयत्वेनोभयप्रत्ययाभावप्रसक्तेः । ततोऽन्यनिमित्तोत्पाद्यत्वाऽसम्भवादेते दिशो लिंगभूताः । दिशश्च विभुत्वैकत्वनित्यत्वादयो धर्माः कालवद् अवगन्तव्याः । तस्याश्चैकत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद् व्यवस्थितम् । प्रयोगश्चात्र यदेतत् पूर्वाऽपरादिज्ञानम् तद् मूर्त्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनम्, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, सुखादिज्ञानवत् इति ।

आत्मद्रव्यस्य च विभुत्वादिधर्मोपेतस्य पराऽभ्युपगतस्य प्रागेव (प्रथमखंडे पृष्ठ ५३६) प्रतिषेधः कृत इति न तत्पूर्वपक्षः पुनः प्रदर्श्यते ।

इस से यह पूर्व में है अथवा इस से यह दक्षिण में है, अथवा इस से यह पश्चिम में है अथवा इस से यह उत्तर में है, अथवा इस से यह अग्निकोण में है, अथवा इस से यह नैऋत्य में है, अथवा इस से यह वायव्य में है, अथवा इस से यह ईशान में है, अथवा इस से यह निम्नस्थान में है, अथवा इस से यह ऊँचाई पर है ।

इन प्रतीतियों का मूलाधार जो है वही 'दिशा' द्रव्य है । वैशेषिकदर्शन के सूत्र में कहा है — "जिस के निमित्त 'इस से यह' ऐसा भान होता है वही (निमित्त) दिशा का लिंग है ।" उक्त दश भेद वाली जो विशेष-प्रतीतियाँ हैं वह निष्कारण नहीं हो सकती । सीमांकन करनेवाले मूर्त्तद्रव्यों के निमित्त से वे प्रतीतियाँ होती हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि अन्योन्याश्रय हो जाने से, दो में से एक भी प्रतीति जन्म नहीं पा सकेगी । तात्पर्य यह है कि किसी एक मूर्त्त में पूर्वत्व तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक उस के सामने रहे हुए मूर्त्त द्रव्य में पश्चिमत्व की स्थापना न हो जाय; तथा किसी एक मूर्त्तद्रव्य में पश्चिमत्व की स्थापना तब तक नहीं हो सकेगी जब तक उसके सामने रहे हुए मूर्त्त द्रव्य में पूर्वत्व सिद्ध न हो जाय । फलतः न तो पूर्व की प्रतीति होगी न पश्चिम की । आकाशादि अन्य किसी निमित्त से भी पूर्वादि का भान होना सम्भव नहीं है । अतः इन प्रतीतियों के लिंगभाव से 'दिशा' नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध होता है । काल की तरह दिशा में भी एकत्व, व्यापकत्व और नित्यत्वादि धर्म समझ लेना चाहिये । यदि कहें कि — दिशा एक ही द्रव्य है तो फिर पूर्वादि १० भेदों का क्या होगा ? — तो जवाब है कि दिशा तो एक ही है किन्तु किसी मूर्त्त द्रव्य में पूर्व का और किसी में पश्चिम का भान और व्यवहार कार्यभेद को ले कर हो सकता है । जैसे एक ही चैत्र कार्यभेद से पाचक-वाचक आदि कहा जाता है वैसे एक ही दिशा पूर्वादिप्रतीतियोरूप कार्यभेद से विविध मानी गयी है ।

दिशा के लिये यह प्रयोग देखिये — जो यह 'पूर्व-पश्चिम' इत्यादिरूप से ज्ञान होता है वह मूर्त्तद्रव्य से भिन्न किसी पदार्थ के निमित्त से होता है, क्योंकि मूर्त्तद्रव्य के ज्ञान से यह ज्ञान विलक्षण है, जैसे सुखादिज्ञान । मूर्त्तादिज्ञान से विलक्षण सुखादिज्ञान के मूलनिमित्त के रूप में जैसे स्वतन्त्र विषयद्रव्य सिद्ध है वैसे ही पूर्व-पश्चिमादिज्ञान मूर्त्तद्रव्यज्ञान से विलक्षण होने से उस के मूलाधार रूप में दिशा नाम का स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध होता है ।

न्याय-वैशेषिक मत में आत्म द्रव्य को विभु और नित्य माना गया है । वास्तव में, आत्मा में विभुत्व और नित्यत्व युक्तिसंगत न होने से पहले खंड में पृष्ठांक ५३६ से ही उसका सपूर्वपक्ष प्रतिषेध दिखाया है, अतः उस का पुनरावर्त्तन यहाँ नहीं किया जाता ।

मनोद्रव्यस्य तु युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्लिङ्गम् । तथा च सूत्रम् — ‘युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्’ (न्याय द० १-१-१६) इति । अनेकेन्द्रियार्थसंनिधाने सत्यपि एकदा, क्रमेण ज्ञानोत्पत्त्युपलम्भादनुमी-यत इन्द्रियार्थव्यतिरेकं हेत्वन्तरमस्ति इति यत्संनिधानाऽसंनिधानाभ्यां ज्ञानस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती भवतः । तथा च प्रयोगः — रूपाद्युपलब्धिः आत्मबाह्येन्द्रियार्थव्यतिरिक्तहेत्वन्तरापेक्षा, क्रमेणोपजायमानत्वात् रथादिवत् ।

अत्र प्रतिविधीयते — यदि सामान्येनाश्रितत्वमात्रं शब्दानां साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, तेषां भूतकार्यतया तदाश्रितत्वात्, कार्यस्य कारणप्रतिबद्धात्मलाभतया तदाश्रितत्वाभ्युपगमात् । अथ एक-नित्याऽमूर्त्त-विभुद्रव्यसमवेतत्वेनैषामाश्रितत्वं साध्यते तदा तथाभूतसाध्यान्वितत्वस्य दृष्टान्ते हेतोरभा-वात् अनैकान्तिकता हेतोः, प्रतिज्ञायाश्चानुमानविरोधित्वम् । तथाहि — यदि नित्यैकव्यापि-नभो-द्रव्यसमवेताः शब्दा भवेयुस्तदैकदोत्यन्नानेकशब्दवद् अन्यकाला अपि ते तदैव स्युः अविकलकारण-त्वात् एकाश्रयत्वाच्च । न च सहकार्यपेक्षा नित्यस्य सम्भवति इति प्रतिपादितम् । नापि समवा-यित्वमनुपकारिणो युक्तमतिप्रसङ्गात् । ततोऽक्रमभावित्वप्रसङ्गो व्यवस्थितः । तत्कारणस्य नित्यत्वे व्या-

✽ मनोद्रव्य की स्थापना ✽

मनस् एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है । पाँच पाँच इन्द्रिय होने पर भी एक साथ पाँच इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होते यही लिङ्ग है जो मन द्रव्य को सिद्ध करता है । न्यायदर्शन का यह सूत्र है — ‘एक साथ अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति यह मन का लिङ्ग है ।’ श्रोत्र-चक्षु आदि अनेकेन्द्रियों के साथ अपने अपने विषयों का एक साथ सम्पर्क हो जाने पर भी, क्रमशः शब्दज्ञान, रूपज्ञान आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, एक साथ नहीं होते । इस तथ्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रिय और विषय के अलावा और भी कोई (मन जैसा) हेतु है जिस के साथ इन्द्रियसम्पर्क रहने पर ज्ञान होता है और उस के न रहने पर नहीं होता ।

इस प्रकार अनुमानप्रयोग देख सकते हैं — रूपादि विषय का उपलम्भ, आत्मा-बाह्येन्द्रिय एवं विषय की त्रिपुटी से भी अतिरिक्त किसी हेतु से सापेक्ष है, क्योंकि क्रमशः उत्पन्न होते हैं । जैसे रथादि के एक एक विभाग को मिला कर क्रमशः रथ उत्पन्न किया जाता है और तब आत्मा, बाह्येन्द्रिय और विषय से अतिरिक्त हथोडा आदि साधनों की भी अपेक्षा होती है । प्रस्तुत में क्रमशः ज्ञानोत्पत्ति के लिये भी जो अतिरिक्त हेतु अपेक्षित है वही मन है ।

✽ प्रतिविधान प्रारम्भ - आकाशानुमान में दूषण ✽

आकाशादि को स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध करने के लिये जो यह सब कहा गया है वह गलत है । शब्द में आश्रितत्व की कथा में दो विकल्प प्रश्न हैं — १ सामान्यतया सिर्फ आश्रितत्व ही सिद्ध करना है तो वह सिद्धसाधन मात्र है । कारण, शब्द भूत(=पुद्गल) का कार्य होने से भूत का आश्रित होना हमें भी मान्य है । जो कार्य होता है वह किसी एक उपादानकारण से सम्बद्ध हो कर ही स्वभावलाभ करता है इस आधार पर हम मानते हैं कि शब्द भूतकार्य होने से भूताश्रित ही हो सकता है । दूसरे विकल्प में यदि एक-नित्य-अमूर्त्त-विभुद्रव्य में समवेत हो ऐसे विशेषरूप से यदि शब्द में आश्रितत्व सिद्ध करना है तो वैसे साध्य की व्याप्ति घटादि दृष्टान्तगत हेतु में न होने से उत्पत्तिविनाशशीलता हेतु साध्यद्रोही बन जायेगा । दूसरा दोष प्रतिज्ञा में अनुमान-बाधा है, वह इस प्रकार — शब्द यदि एक-नित्य-व्यापक आकाशद्रव्य में समवाय से आश्रित होगा तो जैसे

पित्वे च शब्दानां सर्वपुरुषैर्ग्रहणप्रसङ्गः । तथाहि — आकाशात्मकं श्रोत्रम् आकाशं चैकमेवेति तत्प्राप्तानां सर्वेषामपि श्रवणं स्यात् । न च निरवयवाकाशेऽयं विभागः 'इदमात्मीयं श्रोत्रम्' 'इदं च परकीयम्' इति ।

अथ यदीयधर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धं नभः तत्तस्य श्रोत्रमिति विभागः, अत एव नासिकादिरन्ध्रान्तरेण न शब्दोपलम्भः संजायते, तत्कर्णशष्कुलीविधाताद् बाधिर्यादिकं च व्यवस्थाप्यत इति । असदेतत् — अनंशस्य नभस एवविधविभागानुपपत्तेः । न च पारमार्थिकविभागनिष्पाद्यं फलं परिकल्पितावयवविभागो निर्वर्त्तयितुं क्षमः अतिप्रसंगात्, अन्यथा मलयजरसादिकमपि पावक-प्रकल्पनया प्लोषादिकार्यं विदध्यात् । न च कल्पिततदवयववशादपि प्रतिनियतशब्दोपलम्भदर्शान्नायं दोषः, शब्दोपलम्भकार्यस्यान्यथासिद्धत्वात् । न च 'संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वकृता आकाशस्य देशाः'

एककाल में भेरी-मृदंगादि के अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं जैसे सभी शब्द यानी भिन्न भिन्न काल के शब्द भी एक ही काल में उत्पन्न हो जायेंगे क्योंकि आकाशरूप अविकल कारण सदा संनिहित है और वह एक मात्र ही सभी शब्दों के आश्रयरूप में मान्य है । इस प्रकार नित्यसमवेतत्व हेतु से अक्रमिकत्व के अनुमान से शब्द के नित्यसमवेतत्व में जरूर बाधा पहुँचेगी । यदि कहें कि — सहकारी क्रमिक प्राप्त होने से शब्द क्रमशः उत्पन्न होते हैं न कि एक साथ — तो यह ठीक नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ को कभी सहकारी की अपेक्षा नहीं होती — यह पहले भी कहा हुआ है । तथा जो उपकारविहीन है उस में समवायित्व भी नहीं हो सकता, अन्यथा आत्मा भी शब्द का समवायी बन सकता है । इस प्रकार आकाश की सिद्धि में एक साथ सर्वशब्दोत्पत्तिरूप प्रसंग तदवस्थ रहेगा ।

दूसरी बात यह है कि शब्द के उपादान कारण को नित्य और व्यापक मान लेने पर प्रत्येक शब्द सभी पुरुषों से गृहीत होने का अतिप्रसंग भी होगा । कैसे यह देखिये — श्रोत्रेन्द्रिय भी आकाशरूप ही आप मानते हैं, आकाश तो सर्वसाधारण एक ही है अतः आकाशात्मक श्रोत्र में सम्बद्ध होने वाले प्रत्येक शब्द का सभी पुरुषों को श्रवण हो जाने की विपदा होगी । आकाश के यदि अवयव होते तब तो यह कह सकते कि 'यह श्रोत्र मेरा है और यह दूसरे का है' — किन्तु निरवयव आकाश में वैसा सम्भव ही नहीं है जिस से यह कहा जा सके कि मेरे श्रोत्र में उत्पन्न शब्द मुझे ही सुनाई देगा, अन्य को नहीं ।

✽ कर्णछिद्रगत आकाश श्रोत्रेन्द्रिय नहीं ✽

यदि यह कहा जाय — पूरा आकाश श्रोत्रेन्द्रियरूप नहीं है, उस का एक विभाग ही श्रोत्ररूप है; जिस पुरुष के पुण्य-पाप के विशिष्ट संस्कार से अवरुद्ध कर्णछिद्ररूप जो आकाश है वही उस व्यक्ति का श्रोत्र है । यही सबब है कि नासिका-मुख आदि अन्य छिद्रों से कभी शब्दश्रवण नहीं होता । कर्णछिद्र को चोट पहुँचती है तभी बहेरापन का उदय माना जाता है । — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निरवयव आकाश का कोई विभाग होना यह असंगत बात है । काल्पनिक बीज से कभी शस्यनिष्पत्ति नहीं होती जैसे ही पारमार्थिक गगन-विभाग से जो श्रवण-फल निष्पन्न होना चाहिये वह काल्पनिक अवयवविभाग से कभी उत्पन्न नहीं होता, अन्यथा शीतल चन्दनरस में अग्नि की कल्पना करने मात्र से दाहादि कार्य भी होने लगेगा । यदि कहें कि — सब कल्पना समान नहीं होती, अतः जब कल्पित गगनविभाग से भी नियत शब्दोपलम्भ दिखाई देता है तब उस में उक्त दोष को स्थान नहीं रहता । — तो यह भ्रमणा है, क्योंकि विना कल्पना भी अन्यथा यानी पार्थिवादि शरीरावयवरूप श्रोत्रेन्द्रिय से ही शब्द का श्रवण स्पष्ट अनुभवसिद्ध है ।

इति व्यपदेशः, प्रागेवास्य प्रतिषिद्धत्वात् । अपि च, अनल-कर्णशष्कुल्यादयोऽपि समानदेशाः स्युः अभिन्नैकनभः-संसर्गित्वात् । तथाहि — येनैको वियत्स्वभावेन संयुक्तस्तेनैवापरोऽपीति तद्देशभावी सोऽपि स्यात्, तत्संयुक्तस्वभाववियत्संसर्गित्वात् तद्देशावस्थितानलवत् । शब्दानामपि अत एवैकदेशत्वात् एकोपलम्भे सर्वोपलब्धिश्च स्यात् । दूरसन्नाद्यवस्थायिता तु भावानां प्रतीतिगोचरा विरोधिनी च भवेत् ।

दिक्-कालसाधनप्रयोगेष्वपि एते दोषाः — सामान्येन साधने सिद्धसाध्यता, विशेषसाधने हेतो-रन्वयाद्यसिद्धिरनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञायाः इति समानाः । तथाहि — पूर्वापरोत्पन्नपदार्थविषय-पूर्वापरशब्दसंकेतवशोद्भूतसंस्कारनिबन्धनत्वात् प्रकृतप्रत्ययस्य, कारणमात्रे साध्ये कथं न सिद्धसाध्यता ? विशेषे च कथं नान्वयाऽसिद्धिः ? अनुमानबाधा च प्रतिज्ञायाः पूर्ववद् भावनीयाः । अत एव नेतरेत-राश्रयदोषोऽपि पूर्वपक्षोदितो (पृ० ११२-४) विशिष्टपदार्थसंकेतप्रभवत्वेऽस्य प्रत्ययस्य । किंच, निरंशैकदिक्-कालाख्यपदार्थनिमित्तत्वं पराऽपरादिप्रत्ययस्य प्रसाधयितुमभ्युपगतम् तच्चाऽयुक्तम् स्वाकारानुकारिप्रत्य-

यह भी नहीं कह सकते कि — ‘संयोग की अव्याप्यवृत्तिता ही आकाश का देश है’ — क्योंकि उस का पहले ही प्रतिषेध कर आये हैं । दूसरी बात यह है कि अग्नि और कर्णछिद्र में समानदेशता प्रसक्त होगी, क्योंकि दोनों ही अखंड एक गगन के संसर्गी हैं । कैसे यह देखिये — एक के साथ संयोग का प्रयोजक जो गगनस्वभाव है वही दूसरे के साथ संयोग का प्रयोजक है । अतः दोनों ही समानदेशस्थायी होने चाहिये, क्योंकि दोनों ही अपने साथ संयुक्त स्वभाववाले एक ही गगन के संसर्गी हैं जैसे प्रकाश और अग्नि समानदेशस्थायी होते हैं । इस ढंग से जब यह सिद्ध होता है कि सभी शब्द समान (गगन) देशस्थायी हैं तब एक शब्द की उपलब्धि होने पर सभी शब्दों का उपलम्भ होने का अतिप्रसंग दुर्निवार है । दूसरा दोष यह होगा कि ‘वह दूर है यह निकट है’ इस प्रकार की प्रतीति से जो दूर-निकट भावों की व्यवस्था होती है उस के साथ विरोध होगा, क्योंकि निरवयव आकाश का कोई दूर-निकट विभाग सम्भव नहीं है ।

✽ दिक्-कालसाधक अनुमानों में दूषण ✽

दिशा और काल की सिद्धि के लिये जो प्रयोग दिखाया गया है उन में आकाशप्रकरण में दिये गये दोष समानरूप से लागू होते हैं — यदि सामान्यतः दिक्-काल तत्त्व की सिद्धि अपेक्षित है तब ‘सिद्ध का साधन’ दोष है, विशेषरूप से एकत्वादिधर्मयुक्त दिक्-काल की सिद्धि अभिप्रेत हो तब हेतु में अन्वय (=व्याप्ति) की असिद्धि, दृष्टान्तासिद्धि और प्रतिज्ञा में अनुमानबाध ये दोष पूर्ववत् प्रसक्त हैं । देख लीजिये — पूर्व-पश्चात् उत्पन्न पदार्थों के विषय में किये गये ‘पूर्व-अपर’ शब्दों के संकेत के प्रभाव से जाग्रत होनेवाले संस्कार पराऽपरत्व प्रतीति एवं व्यवहार का मूलाधार है — इस ढंग से संस्काररूप सामान्य कारण की सिद्धि करना अभिप्रेत हो तो वह हम भी मानते हैं, तब सिद्ध-साधन दोष कैसे टलेगा ? विशेषरूप से यानी एक-व्यापक-नित्यद्रव्यरूप कारण की सिद्धि यदि करना हो तो वैसे साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध न होने से व्याप्यत्वासिद्धि स्पष्ट है । प्रति-अनुमान से यहाँ बाध पहुँचता है — एकाश्रयत्व और अविकल दिक् और कालरूप कारण उपस्थित होने से सभी वस्तु में समान-दिग्बर्तित्व और समकालीनता का प्रतिअनुमान एक-नित्य-व्यापक दिक्-काल के अनुमान को बाधप्रहत कर देता है । पूर्वपक्षीने दिक्-सिद्धि के विपरीतपक्ष में जो, ‘पूर्वत्व सिद्ध नहीं होगा तब तक पश्चिमत्व असिद्ध रहेगा’... इत्यादि अन्योन्याश्रय दोष कहा था वह भी निरवकाश है, क्योंकि एक की अपेक्षा सूर्योदय के निकटवर्ती पदार्थ में एवं सूर्यास्त के निकटवर्ती पदार्थ में क्रमशः किये गये संकेत अनुसार यह ‘पूर्व’ है वह ‘पश्चिम’ है ऐसी प्रतीति आसानी से की जा सकती है । यह भी सोचना है परापरादिप्रतीति में जो निरंश-एक दिक्-काल संज्ञक

यजनकस्य तद्विषयत्वात्; निरंशस्य च पौर्वापर्यादिविभागाभावतस्तथाभूतप्रत्ययोत्पादकत्वाऽसम्भवात् । तथाभूतप्रत्ययाद्विपरीतार्थसिद्धेः इष्टविपर्ययसाधनात् विरुद्धश्चैवं हेतुः स्यात् ।

अथ बाह्याध्यात्मिकभावपौर्वापर्यनिबन्धनस्य दिक्-कालयोः पौर्वापर्यव्यपदेशस्य भावान्न हेतोर्विरुद्धता । नन्वेवं दिक्-कालपरिकल्पना व्यर्था तत्साध्याभिमतस्य कार्यस्य बाह्याध्यात्मिकैः सम्बन्धिभिरेव निर्वर्त्तितत्वात् । तथाहि — दिक् पूर्वापरादिव्यवस्थाहेतुरिष्यते कालश्च पूर्वापरक्षण-लव-निमेष-कला-मुहूर्त्त-प्रहर-दिवस-अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-संवत्सरादिप्रत्ययप्रसवनिमित्तोऽभ्युपगतः । अयं च स्वरूपभेदः स्वात्मनि तयोः समस्तोऽप्यसम्भवी तत्सम्बन्धिषु पुनर्भावेषु विद्यमानस्तत्र प्रत्ययहेतुरिति व्यर्था तत्प्रकल्पना । अथ तत्सम्बन्धिष्वप्ययं भेदोऽपरक्रियादिभेदनिमित्तस्तर्हि तत्राप्येवमिति अनवस्थाप्रसक्तिः । अथ पदार्थेषु पूर्वापरभेदः कालनिमित्तः, ननु कालोप्यसौ न स्वतः इति अपरकालनिमित्तो यद्यभ्युपगम्यते तदानवस्था । अथ पदार्थभेदनिमित्तस्तदेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अथ तत्र स्वतः

पदार्थ का योगदान सिद्ध करना आप चाहते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी पदार्थ किसी एक प्रतीति का विषय तभी माना जाता है जब वह पदार्थ अपने से समानाकार प्रतीति को उत्पन्न करता है । किन्तु प्रस्तुत में निरंश माने जानेवाले दिक्-काल पदार्थ में पूर्व-पश्चात्-आदि विभाग ही नहीं है तो उन से पूर्व-पश्चात्-आदि विभाग विषयक प्रतीति को कैसे उत्पन्न करेगा ?! वास्तव में तो दिक्-काल साधक पूर्वापरादिप्रतीतिरूप हेतु विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि वह तो पूर्वापरविभागावगाही होने से एक-अखंड-निरवयव पदार्थ से विपरीत अनेक सखंड-सावयव पदार्थ को सिद्ध करने के कारण इष्ट-सिद्धि का विघातक है ।

✽ दिक्-काल की कल्पना निरर्थक ✽

यदि यह कहा जाय — 'हेतु विरुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि हेतु से तो सिर्फ दिक्-काल ही सिद्ध करना अभिप्रेत है और दिशा और काल एक और निर्विभाग होने पर भी अपने सम्बन्धि बाह्य प्रदीपादि तथा अभ्यन्तर शरीरादि पदार्थों के पूर्वापरभाव के मूलाधार पर दिक्-काल में भी उपचरित पूर्वापरभाव का व्यवहार होता ही है ।' — अरे, तब तो दिक्-काल की कल्पना भी निरर्थक ठहरेगी । कारण, दिशा और काल से जो पदार्थगत परापरत्व की घटना रूप कार्य सिद्ध करना चाहते हैं वह कार्य तो बाह्य-अभ्यन्तर अपने सम्बन्धियों से निपट जाता है । कैसे यह देखिये — 'यह पूर्व में, वह पश्चिम में' ऐसी व्यवस्था का हेतु दिशा मानी जाती है, तथा पूर्वक्षण, पश्चिमक्षण एवं लव, निमेष, कला, मुहूर्त्त, प्रहर, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, माह, ऋतु, अयन, वर्ष इत्यादि में पूर्व-पश्चिमभाव की प्रतीति के जन्म में निमित्तरूप में काल की कल्पना की जाती है । किन्तु दिशा में और काल में एक और अखंड होने के कारण स्वतः तो सम्पूर्ण भेद होते नहीं, जो पूर्वापर भेद हैं वे तो दिक्कालसम्बन्धि पदार्थों में स्वतः आपने मान लिया है, उन से ही यानी पदार्थगत पूर्वापरभेद से ही पूर्वापरप्रतीति घटित हो जाती है तो अब दिक्-काल की कल्पना किस के लिये ?

✽ क्रियादिभेदमूलक पूर्वापरभेद मानने में अनवस्था ✽

यदि ऐसा कहें कि पदार्थों में भी पूर्वापरभेद स्वतः नहीं किन्तु अन्य क्रियादिभेद पर अवलम्बित है — तो फिर उन क्रियादिभेदों को अन्यावलम्बित मानने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होगा । यदि पदार्थगत भेदों को कालनिमित्त माना जायेगा तो काल में जो पक्ष-मासादि भेद हैं उन के लिये अन्यकाल-निमित्त की कल्पना होने पर पुनः अनवस्था दोष होगा । यदि उन काल के भेदों को पदार्थभेदावलम्बित मानेंगे तो दोनों एक-दूसरे पर अवलम्बी हो जाने से अन्योन्याश्रय दोष होगा । यदि कालगत भेदों को स्वतः होने का मान लेंगे

एवायं भेदः, पदार्थेष्वपि स्वत एवायं किं नाभ्युपगम्यते ? ततश्च पुनरपि दिक्-कालप्रकल्पनं व्यर्थम् ।

मनःसाधनेऽपि हेतौ कारणमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता, मनस्कारादेश्चक्षुरादिव्यतिरिक्तस्य कारण-मात्रस्येष्टेः । विशेषेण तु नित्यैकमनःसाधनेऽनन्वयदोषः प्रतिज्ञायाश्चानुमानबाधा इष्टविपर्ययसाधनाद्, विरुद्धश्च हेतुरिति दोषाः पूर्ववद् वाच्याः । चक्षुरादिव्यतिरिक्तानित्यकारणसापेक्षत्वस्य साधनाद्विरुद्धता प्रकटैव, अन्यथा ह्यत्रापि नित्यकारणत्वे चेतसामविकलकारणत्वात् क्रमोत्पत्तिर्विरुद्धैव भवेत् । तन्न पृथिव्यादेर्मनःपर्यन्तस्य द्रव्यनवकस्य प्रमाणतः सिद्धिः । ततः 'पृथिव्यादीनि द्रव्याणि इतरेभ्यो भिद्यन्ते द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्' (पृ० ८३-१) इत्यादिहेतूपन्यासोऽयुक्त एव, तत्स्वरूपाऽसिद्धौ हेतोराश्रयासिद्ध-त्वदोषात् । स्वरूपासिद्धश्चायं हेतुः द्रव्यत्वाभिसम्बन्धस्य समवायलक्षणस्याऽसिद्धेः । विशेषणाऽसिद्धश्च द्रव्यत्वसामान्यस्य निषिद्धत्वानिषेत्स्यमानत्वाच्च । न चात्रान्वयः सिद्धः, साधर्म्यदृष्टान्तस्याभावात् । न च सपक्षाभावे केवलव्यतिरेकी हेतुर्गमकः, प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणविषयसाधर्म्यदृष्टान्ताभावे सर्वत्र साध्याभावात् साधनस्य व्यावृत्त्यसिद्धेः । 'साध्यसद्भावे एव सर्वत्र साधनसद्भावः' इत्येवंभूतान्वयाऽप्र-तो (उस के एकत्व का भंग तो होगा ही, उपरांत) पदार्थों में भी स्वतः पूर्वापरभेद क्यों न मान लिया जाय ? नतीजतन, ऐसे भी दिक्काल की कल्पना निरर्थक ठहरेगी ।

✽ विशेषरूप से मनःसाधक अनुमान में बाधादि दोष ✽

मन की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हेतु से, इन्द्रियों से अतिरिक्त सिर्फ आन्तर कारण ही सिद्ध करना हो तो सिद्धसाधनदोष प्रसक्त है, क्योंकि चक्षु आदि से अतिरिक्त ज्ञानकारण के रूप में मनस्कार हमें भी मंजूर है । यदि विशेषतः नित्य एवं एकमात्र मन की सिद्धि अभिलषित हो तो हेतु में साध्य की अव्याप्तिरूप अनन्वय दोष होगा । प्रतिज्ञा में अनुमान बाधा ही होगी क्योंकि नित्य को किसी की अपेक्षा न होने से अविकलकारणत्व हेतु से सदैव ज्ञानोत्पत्ति की सिद्धि का अनिष्ट प्रसक्त होने से बाध पहुँचेगा । तथा इष्टविपर्यय यानी हेतु से नित्यविपरीत साध्यसिद्धि होने से विरुद्ध दोष होगा - ये दोष अकाश-काल के बारे में जैसे कहे गये हैं वैसे ही समझ लेना । इस में विरुद्धता इस तरह अत्यन्त प्रगट है कि जो सापेक्ष होता है वह अनित्य होता है, अतः चक्षुआदि से अतिरिक्त अनित्यमनःसापेक्षता ही सिद्ध होगी न कि नित्यमनःसापेक्षता । यदि सिद्ध होने वाले कारण को नित्य माना जाय तो नित्य चेतस् रूप अविकल कारण से तीन काल में होनेवाले सब ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न हो जायेगा न कि क्रमशः । क्रमशः ज्ञानोत्पत्ति मन की नित्यता से विरुद्ध है ।

निष्कर्ष, न्याय-वैशेषिकमताभिप्रेत 'पृथ्वी से मनः पर्यन्त नव द्रव्यों' की सिद्धि में प्रमाण नहीं है । (एकान्त नित्य आत्मा की सिद्धि का पहले खंड में ही प्रतिषेध किया है ।)

✽ पृथ्वीआदि द्रव्यों में गुणादिभेद का अनुमान व्यर्थ ✽

'पृथिवी आदि द्रव्य अन्य (गुणादि) से भेदशाली हैं, क्योंकि द्रव्यत्वजातिसम्बद्ध हैं' इस तरह जो व्यतिरेकी अनुमान पूर्व-पक्षियों की ओर से दिया जाता है वह अब निरर्थक है क्योंकि उक्त रीति से जब नव द्रव्यों की सिद्धि में बड़े बड़े बाधक उपस्थित हैं तब उन की स्वरूपतः एवं पक्षरूप में भी असिद्धि होने से द्रव्यत्वाभिसम्बद्धता हेतु आश्रयासिद्धिदोष-दूषित हो जाता है । हेतु भी स्वरूपासिद्ध है क्योंकि द्रव्यत्व का समवाय सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं है । हेतु में द्रव्यत्वरूप विशेषण भी असिद्ध है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक अभिलषित द्रव्यत्वजाति का पहले निषेध किया है और आगे किया जायेगा । दूसरी बात यह है कि केवलव्यतिरेकी हेतु से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उस का कोई सपक्ष यानी अन्वय दृष्टान्त नहीं होता । जब तक व्याप्ति के साधक

सिद्धौ 'साध्याभावे सर्वत्र साधनस्य अभावः' इति सकलाक्षेपेण व्यतिरेकस्याऽसम्भवात्' इत्यादे-
न्यायस्याऽसकृत् प्रतिपादितत्वात् ।

यदपि 'नवैव द्रव्याणि' इत्यादिप्रयोगप्रतिपादनम् । (पृ० ८२-९) तदप्यसंगतमेव; तत्स्वरूपाऽ-
सिद्धौ तत्संख्यासिद्धेर्दूरापास्तत्वात् । न च लक्षणयोगित्वमपि तेषाम् असिद्धपृथिवीत्वाभिसम्बन्धादेर्लक्षण-
स्यानुपपत्तेः । अत एवान्योन्यव्यावृत्तादेर्विशेषणस्यानुपपत्तिर्विशेष्याभावे विशेषणस्याप्यसम्भवात् । 'न्यूना-
धिक' (८२-७) — इत्याद्यपि तद्विशेषणमसंगतम्; प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-
अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां नैयायिकाभ्युपगतपदार्थानां
षट्पदार्थाधिकानाम् तमश्छायादीनां च नवद्रव्याधिकानां सद्भावात् । न च पदार्थषोडशकस्य षट्ष्वे-
वान्तर्भावात् तमश्छायादीनां च तेजोऽभावरूपत्वान्न तदधिकपदार्थसद्भाव इति वक्तव्यम् — द्रव्यादीना-
मपि षण्णां प्रमाण-प्रमेयरूपपदार्थद्वयेऽन्तर्भावात् पदार्थषट्कस्याप्यनुपपत्तेः ।

प्रमाण के विषयभूत साधर्म्य दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता तब तक सर्वत्र व्यापकरूप से साध्य के विरह में हेतु
के विरह का निश्चय भी नहीं हो सकता, अतः व्यतिरेकव्याप्ति का सम्भव भी वहाँ रह नहीं पाता । कई
बार यह न्याय पहले कहा जा चुका है कि साध्य की उपस्थिति में ही सर्वत्र साधन की उपस्थिति होती है,
इस प्रकार का अन्वय जिस साध्य-साधन में अप्रसिद्ध है, उन में, साध्य के विरह में साधन का अवश्य विरह
होता है — इस प्रकार के व्यतिरेक का भी सम्भव नहीं होता ।

✽ नव से अधिक द्रव्य, छ से अधिक पदार्थ सम्भव ✽

'द्रव्य सिर्फ नव ही है' इस प्रकार जो द्रव्यों की संख्या का निर्धारण किया गया है वह भी असंगत है
क्योंकि जब द्रव्यों का स्वरूप ही असिद्ध है तब उन की संख्या की सिद्धि की आशा कैसे की जा सकती है ?!
पृथ्वीआदि में इतरभेद की सिद्धि के लिये पृथिवीत्वादिलक्षण के सम्बन्ध को हेतुरूप में प्रयुक्त करना भी ठीक
नहीं है क्योंकि पृथिवीत्वादि जाति स्वयं असिद्ध है तब उस का सम्बन्धादिलक्षण हेतु कैसे संगत हो सकेगा ?
'पदार्थ छः ही हैं' और 'द्रव्य नव ही है' इस साध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हेतुओं में जो पूर्वपक्षीने यह
विशेषण किया था 'अन्योन्यव्यावृत्त' — यह विशेषण असंगत है क्योंकि जब षट् पदार्थसाधक प्रमाण विषयत्वरूप
विशेष्य तथा (परस्परव्यावृत्त) नवलक्षणयोगित्व रूप विशेष्य ही घटता नहीं है तब 'परस्परव्यावृत्त' इस विशेषण
का सम्भव ही कहाँ रहेगा ?! तथा उसी प्रयोगयुगल में जो 'न्यूनाधिकप्रतिपादक प्रमाण का अभाव' (पृ० ८२)
यह विशेषण दिया है वह भी असंगत है, क्योंकि छः पदार्थों से भी अधिक यानी १६ पदार्थ नैयायिकोंने कहे हैं
— प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास,
छल, जाति, निग्रहस्थान ये हैं उन के सोलह पदार्थ । तथा नव द्रव्यों से अधिक तमस्-छायादि द्रव्यों की प्रत्यक्ष
उपलब्धि होती है इसलिये नव से अधिक द्रव्यों का प्रतिपादक प्रमाण का सद्भाव है ।

यदि यह कहा जाय — 'प्रमाणादि सोलह पदार्थों का छः पदार्थों में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे प्रमाण
का ज्ञानगुण में, प्रमेय तो छः ही, संशय का ज्ञानगुण में.... इत्यादि । तथा तमस्-छाया तो तेजोद्रव्य
का अभाव ही है इस लिये भावसंख्या छ बताने में कोई दोष नहीं है और छ से अधिक पदार्थों का सद्भाव
नहीं है ऐसा कह सकते हैं' — तो ऐसा मत बोलिये, क्योंकि तब तो द्रव्य-गुणादि छ पदार्थों का प्रमाण और
प्रमेय इन दो पदार्थों में ही समावेश शक्य है, इस लिये 'छ से न्यून पदार्थ नहीं है' ऐसा भी नहीं कह सकेंगे
और छ पदार्थ वार्त्ता असंगत आ पड़ेगी ।

अथ तदन्तर्भावेऽपि अवान्तरविभिन्नलक्षणवशात् प्रयोजनवशाद्वा द्रव्यादिषट्कव्यवस्था तर्हि तत् एव प्रमाणादिषोडशकव्यवस्था तमश्छायादिद्रव्यान्तरव्यवस्थाऽपि भविष्यति इति 'न्यूनाधिक०' इत्यादि- विशेषणानुपपत्तिरेव । न च तमश्छायादेर्बहलत्वादि-तरतमविशेषयोगिनो विशिष्टार्थक्रियानिर्वर्तनसमर्थस्य च भासामभावरूपतेति वक्तव्यम्, भासामप्येवं तमश्छायाऽभावरूपताप्रसक्तेः । न चावारकद्रव्यसन्निधाना-पेक्षतेजोऽभावरूपता तयोः, स्वसामग्रीतो विशिष्टपदार्थोत्पत्तौ प्रतियोग्यभावरूपत्वे भासामपि तथात्वो-पपत्तेः । यदपि मधुर-शीतद्रव्योपयोगाद् ये गुणाः समुपजायन्ते छायादिसेवनादपि ते प्रादुर्भवन्तीत्युप-चारात् 'छाया मधुर-शीतला' इत्युच्यते तत् तेजस्यपि समानम् । यथा च छाया-तमसोः पुद्गलद्रव्यात्मकत्वं तथा प्राक् (चतुर्थखंडे) प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते । तदेवं 'पृथिव्यादीनि नव द्रव्याणि' इत्यनुपपन्नम् तत्सद्भावप्रतिपादकप्रमाणाभावात् बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात् ।

❀ न्यूनाधिक विशेषण की असंगति तदवस्थ ❀

अब आप कहेंगे कि प्रमाण-प्रमेय इन दोनों में छ पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाने पर भी उन प्रमेयों के जो अनेक भेद हैं उन में सभी का अवान्तर लक्षण भिन्न भिन्न हैं इसलिये, अथवा उन को स्वतन्त्ररूप से बोधित करने के प्रयोजन से, पदार्थव्यवस्था में छ पदार्थ बताये गये हैं - तब तो ऐसा भी कह सकते हैं कि विशेष प्रयोजन से न्यायदर्शन में सोलह पदार्थों की व्यवस्था बतायी गयी है, न कि पदार्थ उतने ही हैं इस लिये । तथा, नव द्रव्यों की व्यवस्था भी सिर्फ व्यवस्था के लिये ही की गयी होगी, अतः तमस् और छाया को नव से अतिरिक्त द्रव्य मान लेने में कोई बाध नहीं है । फलतः 'न्यूनाधिक प्रतिपादक प्रमाण नहीं है' यह (हेतुगत) विशेषण अंश असंगत ठहरता है । जिस तमस् और छाया में, निबिड, निबिडतर, निबिडतम अंधकार, घन-घनतर-घनतम छाया - इस प्रकार तर-तमभावस्वरूप विशेषता उपलब्ध होती है, तथा संतप्त पुरुषों को साताजननादि विशिष्ट अर्थक्रिया के फलन में जो समर्थ हैं उन को सिर्फ तेजस् के अभावरूप में करार देना उचित नहीं है, क्योंकि उस से उलटा यानी तेजस् को तमस् के अभावरूप में घोषित करने का अतिप्रसंग हो सकता है । यदि ऐसा कहेंगे कि - जब कोई आवरण द्रव्य बीच में आ जाता है तब तेजस का अभाव होने पर ही अन्धकार की या छाया की प्रतीति होती है इस लिये वे दोनों तेजस्अभाव स्वरूप होने चाहिये । - नहीं, ऐसी बात नहीं है । आवरण द्रव्य तो तमस् की उत्पत्ति के लिये सामग्रीरूप है, अपनी सामग्री से तमस्रूप अतिरिक्त द्रव्य उत्पन्न होता है, उस को आप अगर प्रतियोगिस्वरूप तेजस् का अभाव ही करार देंगे तो ऐसा भी मानने की विपदा होगी कि आवरण द्रव्य के हठ जाने से तमोद्रव्य का अभाव होने पर ही तेजस् की प्रतीति होती है अतः प्रभा 'तमस् का अभाव' ही है ।

तथा आयुर्वेद में बताया है कि 'छाया मधुर एवं शीतल होती है' इस से भी छाया द्रव्यरूप सिद्ध होती है । इस पर जो नैयायिकादि कहते हैं कि - 'मधुर-शीत द्रव्य के सेवन से जो लाभ होता है वही छायादि के सेवन से होता है इसी लिये छाया को उपचार से मधुर-शीतल बताया गया है' - वह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे विपरीत तेजस् के लिये ऐसा ही कहा जा सकता है कि उष्ण द्रव्यों के सेवन से जो लाभ होता है वही आतपादि के सेवन से भी होता है अतः उस को उपचार से द्रव्य कहा गया है, वास्तव में तेजस् द्रव्यरूप नहीं है । छाया और तमस् पुद्गलमय (= भौतिक) हैं - इस तथ्य का उपपादन पहले हो चुका है अतः पुनरुक्ति की जरूर नहीं । निष्कर्ष - 'पृथ्वी आदि नव ही द्रव्य हैं' यह न्याय-वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त असंगत है, क्योंकि उस में बाधक का प्रदर्शन किया जा चुका है और नव द्रव्यों का साधक कोई प्रमाण भी नहीं है ।

द्रव्याभावाच्च गुणादयो विशेषपर्यन्ताः असन्त एव, तेषां तदाश्रितत्वाभ्युपगमात्, आश्रयाभावे च तदाश्रितानां तत्परतन्त्रतयाऽवस्थानाऽसम्भवात् । गुण-कर्मणां च साक्षाद् द्रव्याश्रितत्वं परैरभ्युपगतम् । तथा च सूत्रम् 'द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणम् अनपेक्ष इति गुणलक्षणम्' (वै०द० १-१-१६) । एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम् (वै०द० १-१-१७) । एकमेवैकस्मिन्नैव च द्रव्ये आश्रितमेकद्रव्यं कर्म । गुणास्तु केचिदनेकस्मिन् वर्तन्ते संख्या-संयोगादयः अनेके वैकदैकत्र वर्तन्ते रूप-रसादयः । सामान्यविशेषाश्च केचिद् द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादयो द्रव्यवृत्तय एव गुणत्व-कर्मत्वादयस्तु द्रव्यसम्बन्ध(ऽद्भ)गुण-कर्माश्रिताः । सत्तासामान्यं तु द्रव्य-गुण-कर्मवृत्ति । विशेषास्तु नित्यद्रव्येष्वेव वर्तन्ते इति द्रव्यप्रतिषेधे गुणादिप्रतिषेधः प्रसिद्ध एव । समवायस्तु पञ्चपदार्थनिषेधे निषिद्ध एव, सर्वाश्रयाश्रिताभावे तस्याऽभावात् । ततो द्रव्यनिषेधादेवाशेषपदार्थनिषेधसिद्धावपि विशेषतो गुणादिप्रतिषेधः प्रदर्शयते, परदर्शनस्य सर्वथाऽयुक्ताप्रदर्शनात् ।

तत्र 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः' (वै०द० १-१-६) इति सूत्रसंगृहीताः सप्तदश, 'च'शब्दसमुच्चिताः गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्माऽधर्म-शब्दाश्च सप्त गृह्यन्ते इति चतुर्विंशतिर्गुणाः । तत्र चक्षुर्ग्राह्यं

❀ द्रव्यों के निषेध से गुणादिव्यवस्था भी निषिद्ध ❀

गुण से ले कर विशेष तक के पदार्थ सब साक्षात् या परम्परया द्रव्याश्रित ही माने गये हैं, किन्तु स्वकल्पित द्रव्य ही 'सत्' सिद्ध नहीं हो सकता, अतः गुणादि तो सुतरां असत् ठहरते हैं । कारण, आश्रित पदार्थ आश्रय को पराधीन होते हैं । आश्रय के अभाव में आश्रित का अवस्थान सम्भव ही नहीं है । परपक्षियों ने गुण और क्रिया को साक्षात् द्रव्याश्रित माने हैं । वैशेषिकसूत्र में कहा गया है कि 'द्रव्याश्रित हो, स्वयं निर्गुण हो, संयोग या विभाग का कारण न हो तथा निरपेक्ष हो यह गुण का लक्षण है ।' (वै.द. १-१-१६) । तथा 'जो एक द्रव्य होता है, निर्गुण है तथा संयोग-विभाग का निरपेक्ष कारण है वह कर्म है' (वै.द. १-१-१७) । सूत्र में 'एकद्रव्य' कहा है उस का यह अर्थ है - जो एक द्रव्य में एक ही होता है और एक द्रव्य में ही रहता है । गुणों में कुछ संख्या-संयोगादि अनेकद्रव्यों में रहते हैं, एवं कुछ रूप-रसादि अनेक हो कर एक द्रव्य में रहते हैं । जो सामान्य-विशेषोभयस्वरूप द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादि जातियाँ है वे सिर्फ द्रव्य में रहती हैं जब कि गुणत्व या कर्मत्वादि जातियाँ द्रव्य में नहीं किन्तु द्रव्यसम्बद्ध गुण या कर्म में रहती हैं । सत्ता महासामान्य द्रव्य-गुण-कर्म तीनों में वास करता है । विशेष पदार्थ सिर्फ नित्य द्रव्यों में ही रहते हैं । पूर्वग्रन्थ में द्रव्य का प्रतिषेध किया जा चुका है अतः उस के आश्रित गुणादि का भी प्रतिषेध जान लेना चाहिये । समवाय भी बाकी नहीं रहता, क्योंकि यद्यपि वह उक्त पाँच पदार्थों का सम्बन्ध है, किन्तु पाँच सम्बन्धियों के प्रतिषेध से उस का भी प्रतिषेध हो जाता है । जब कोई आश्रय-आश्रित ही नहीं हैं तब उस के सम्बन्ध का सद्भाव नहीं हो सकता । इस प्रकार, द्रव्य का निषेध हो जाने पर सकल परपक्षिप्रदर्शित पदार्थों का अपने आप निषेध हो जाता है, तथापि एकान्तवादीयों के दर्शन सर्वथा अयुक्त हैं यह प्रदर्शित करना अभीष्ट होने से, सविशेष गुणादि पदार्थों का निषेध दिखाया जा रहा है -

❀ चौबीस गुणों का नामोल्लेख ❀

गुण के लिये वैशेषिक दर्शन में कहा है - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्व-अपरत्व, बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये १७ गुण तो कंठतः ही कहे हैं और सूत्र

रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति । रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः । गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः । रूपादेश्च गुणत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यत्वादिकं लक्षणमित-
रव्यवच्छेदकम् ।

एषां च मध्ये रूपस्य महत्त्वाद्युपेतद्रव्यसमवेतस्य शुक्लादेर्निरवयवस्य यदि ग्रहणमिष्यते तदा कुञ्चि-
कादिविवरवर्तिसूक्ष्मप्रदीपाद्यालोकोद्द्योतिताऽपवरकादिव्यवस्थितपृथुतरघटादिद्रव्यसमवेतशुक्लादिरूपाभि-
व्यक्तौ सकलस्यैव यावद्द्रव्यवर्तिन उपलब्धिः स्याद्, निरवयवत्वात् । न ह्येकस्य तस्यावयवा विद्यन्ते
येनैकदेशाभिव्यक्तिर्भवेत् । एवं गन्ध-रस-स्पर्शानामपि तदाधारैकदेशस्थानामभिव्यक्तौ यावद्द्रव्यभाविनामु-
पलब्धिप्रसङ्गः । अथ भवत्येव सकलस्य नीलादेरुपलब्धिः । ननु तेनालोकादिना नीलादेरणुशो भेदाभ्यु-
पगमे पृथिव्यादिपरमाणुद्रव्यवदणुपरिमाणयोगित्वेन गुणवत्त्वाद् द्रव्यताप्रसक्तिर्भवेत् । न चैवमपि गुणसंज्ञा-
करणे कश्चिद् गुणोऽविवादप्रसक्तेः । न चाणुत्वेऽप्याश्रितत्वाद् गुणत्वमुपपन्नम् सदसतोराश्रयानुपपत्तेः,

में 'च' शब्द से अन्य भी सात गुण सूचित किये गये हैं - गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म-अधर्म, शब्द ।
इस प्रकार संकलित २४ गुण होते हैं । उन में, नेत्रेन्द्रियग्राह्य गुण रूप है जो सिर्फ पृथ्वी-जल-अग्नि तीन
में रहता है । रसनेन्द्रियग्राह्य गुण रस है, सिर्फ पृथ्वी और जल में वास करता है । घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य गुण
गन्ध है, सिर्फ पृथ्वी में रहता है । स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य गुण स्पर्श है, पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि इन चार में रहता
है । गुण होते हुए चक्षु/रसना/घ्राण/त्वचा से ग्राह्य होना ये क्रमशः रूपादि के लक्षण है जो उन को 'अन्य
पदार्थों से भिन्न' ज्ञात कराता है ।

✽ निरवयव सम्पूर्णरूप के ग्रहण की आपत्ति ✽

यहाँ परामर्शनीय यह है कि जब पूर्वपक्षी के मत में महत्त्वादिविशिष्टद्रव्य में समवेत निरवयव शुक्लादि रूप
का चक्षु से ग्रहण माना जाता है उस वक्त ऐसी परिस्थिति हो सकती है कि कुञ्जी के छिद्र से सूक्ष्म प्रदीपालोक
एक ओर कमरे में निकल रहा हो, वहाँ सामने पड़े हुए विशाल घटादिद्रव्य को वे किरण स्पर्श कर रहे हों,
तब उस घटादि में समवेत सम्पूर्ण, द्रव्य के एक एक भाग में जो निरवयव शुक्ल रूप है उस का सम्पूर्ण
का प्रत्यक्ष होने की आपत्ति होगी क्योंकि वह निरवयव है और एक है, उस के कोई अंश ही नहीं है जिस
से कि सिर्फ एक देश अग्रिमभाग के रूप की अभिव्यक्ति हो सके और पश्चाद्भागवर्त्ती रूप की नहीं, ऐसा
कहा जा सके । इसी तरह, आधारभूतद्रव्य के एक देश में जब गन्ध-रस-स्पर्श की उपलब्धि होगी तो निरवयव
होने के कारण सम्पूर्ण द्रव्यगत गन्धादि की उपलब्धि का अतिप्रसंग होगा ।

✽ नीलादि में द्रव्यत्व का प्रसंजन ✽

यदि ऐसा कहें कि - 'जब जब नीलादि का उपलम्भ होता है सम्पूर्ण का यानी सम्पूर्णद्रव्यगत नीलादि
का उपलम्भ होता है' - तो यहाँ ऐसी आपत्ति होगी, आलोकादि से सम्पूर्णद्रव्यगत नीलादि की यानी एक
एक अणुगतनीलादि की उपलब्धि मानेंगे तो उस नीलादि में भी एक-एक अणु जितना भेद मानना पड़ेगा,
इस स्थिति में पृथिवीआदि के अणुपरिमाणवाले द्रव्य की तरह उन नीलादि में भी अणुपरिमाण सम्बन्ध के कारण
तथा परिमाणगुणाश्रयता के कारण द्रव्यत्व प्रसक्त हो जायेगा । द्रव्य होते हुए भी अगर आप उस की 'गुण'
संज्ञा करने के अभिलाषी हैं तो उस में हमें कोई विवाद नहीं है किन्तु आप को कोई लाभ नहीं है । यदि
कहें कि - 'अणु होने पर भी वह द्रव्य का आश्रित होने से नीलादि में गुणत्व घट सकता है' - तो वह

अतिप्रसङ्गाच्च अवयविद्रव्यस्याप्यवयवद्रव्याश्रितत्वाद् गुणत्वापत्तेः ।

संख्या तु एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा परैरभ्युपगता । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकसंख्यैकद्रव्या, अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाण्वादिगतरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्यायास्तु एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः, अपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाशः क्वचिदाश्रयविनाशादिति । इयं च द्विविधापि संख्या प्रत्यक्षतः एव सिद्धा, विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वाद् अनुमानतोऽपि सिद्धिः — इति परे मन्यन्ते । अत्र समुदायव्यावृत्तैकत्वादिसंज्ञाविषयपदार्थव्यतिरेकेणोपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः संख्याया अनुपलब्धेरसत्त्वं शशविषाणवत् । न च विशेषणमसिद्धम् तस्या दृश्यत्वेनेष्टेः । तथा च सूत्रम् — ‘संख्या-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि’ (वै०द० ४-१-११) । न च विशेषबुद्धितोऽनुमानतोऽपि संख्यासिद्धिः, यतो यथा ‘एको गुणः’ ‘बहवो गुणाः’ इत्यादौ संख्यामन्तरेणापि

ठीक नहीं क्योंकि वह नीलादि गुण यदि असत् हैं तो वह किसी का आश्रित नहीं हो सकता, यदि सत् है तो भी उस का कोई आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि ‘सत्’ अपने आप में अविकार्य परिपूर्ण होता है अतः उस को किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती । दूसरी बात यह है कि द्रव्याश्रित हो उस को गुण मानेंगे तो अवयविद्रव्य भी अवयवद्रव्यों का आश्रित होता है अतः उसे भी ‘गुण’ मानने की आपत्ति होगी ।

✽ संख्या एकद्रव्या-अनेकद्रव्या-नित्या-अनित्या ✽

एक-दो... इत्यादिव्यवहार के हेतु एकत्व-द्वित्वादि गुण को न्याय-वैशेषिक दर्शन में ‘संख्या’ कहा गया है । उस के दो भेद हैं एकद्रव्या और अनेकद्रव्या । ‘एकत्व’ संख्या सिर्फ एक द्रव्य में ही समवेत होती है अतः वह एकद्रव्या है । द्वित्व आदि संख्या अनेकाश्रय में रहती है अतः वह अनेकद्रव्या है । एकद्रव्या एकत्व-संख्या नित्य भी होती है और अनित्य भी । परमाणु आदि नित्यद्रव्यगत एकत्व नित्य है, द्रव्यणुकादि और स्थूल जलादि द्रव्य में एकत्व अनित्य है, जैसे परमाणुगत रूपादि नित्य होता है और स्थूल द्रव्य में वह अनित्य होता है । अनेकद्रव्या संख्या की निष्पत्ति, अनेक द्रव्यों में रहे हुए अनेक एकत्व से तथा ‘ये अनेक हैं’ इस प्रकार की अनेकविषयकबुद्धि के सहयोग से होती है । अपेक्षाबुद्धिविनाश से तथा कभी कभी आश्रय के विनाश से वह संख्या नष्ट होती है ।

ये दोनों ही संख्या प्रत्यक्षसिद्ध हैं — यह एक है ये अनेक हैं — ऐसा बोध प्रत्यक्ष होता है । अनुमान से भी संख्या की सिद्धि की जा सकती है, संख्यावगाही बुद्धि विशेषबुद्धि है इसलिये वह द्रव्यादि से अतिरिक्त एवं रूपादि से अतिरिक्त किसी निमित्त के विना नहीं हो सकती, जो निमित्त सिद्ध होगा वही संख्यात्मक गुण है । यह न्याय-वैशेषिकों का मत है ।

✽ समुदायव्यावृत्त भाव ही संख्या है ✽

उन के सामने बौद्ध आदि दार्शनिकों का यह प्रतिपादन है — जब घट अकेला होता है तब उसमें समुदाय की बुद्धि नहीं होती अतः समुदायव्यावृत्त घट यही ‘एक’ इस संज्ञा का विषयभूत भाव है; इसी तरह ‘दो’ ‘तीन’ इत्यादि संज्ञा के विषयभूत भाव द्व्यधिकव्यावृत्त, त्र्यधिकव्यावृत्त घट आदि हैं, मतलब कि दृश्यमान पदार्थ ही संख्याभूत है उन से अतिरिक्त कोई संख्या, उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उपलब्ध न होने से, शशसींग की तरह असत् है । ‘उपलब्धिलक्षणप्राप्त’ यह विशेषण असिद्ध नहीं है क्योंकि संख्या सभी को दृश्यरूप से

एकादिबुद्धिस्तथा घटादिष्वपि असहायादिषु स्वेच्छाविरचितैकत्वादिसंकेताहितमनस्कारप्रभवमेकादिज्ञानं भविष्यतीति किमेकादिसंख्यया ?

न च गुणेषु संख्या सम्भवति अद्रव्यत्वात् तेषाम्, संख्यायाश्च गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । न च गुणेषूपचरितमेकत्वादिज्ञानमस्वलद्वृत्तित्वात् । न च गुणेषु संख्यासद्भावेऽनवस्थादिबाधकप्रमाणोपपत्तेरुपचरितमेकत्वादिज्ञानम्; घटादिष्वपि वृत्ति-विकल्पादेर्द्वित्वादिसंख्यायां बाधकस्य सद्भावात् तद्विज्ञानस्य तथात्वप्रसक्तेः । न च वृत्तिविकल्पादेर्बाधकस्याऽबाधकत्वम् तस्य निरस्तत्वात् । न च क्वचिद् मुख्यसंख्याभावे गौणप्रत्ययस्य तद्विषयस्याऽभाव इति घटादौ मुख्यसंख्यायोगोऽभ्युपगन्तव्य इति वाच्यम्, मुख्यपूर्वकत्वेन गौणप्रत्ययस्यैवंविधे विषये बौद्धं प्रति क्वचिदप्यसिद्धेः । न हि गवादिष्वपि 'गौः' इति ज्ञानं पारमार्थिकगोत्वनिबन्धनतया मुख्यं सिद्धम् नापि वाहिके तद् ज्ञानं वस्तुभूत-गोत्वाध्यारोपादुपचरितम् । किञ्च, यथा वाहिके 'गौरिवायम् न तु गौरैव सास्नाद्यभावात्' स्खलति प्रत्ययः इति गौणः, नैवम् 'एक इवैको गुणः न तु एक एव' इति प्रत्ययः किन्तु यादृशी घटादिष्वस्खलिता बुद्धिर्भवति तादृशी गुणादिष्वपि । अथ न सादृश्यापेक्षमेतज्ज्ञानम् किन्तु यत् तदाश्रयभूतं

अभीष्ट ही है । वैशेषिकसूत्र ४-१-११ में कहा है - "संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्व-अपरत्व और क्रिया रूपीद्रव्य में समवेत होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष होते हैं ।" विशेषबुद्धिहेतुक अनुमान से संख्या की सिद्धि की बात जो कही गयी है वह ठीक नहीं है । कारण, 'इस में एक गुण है' 'इस में बहुत गुण हैं' इस प्रकार एकादि की विशेषबुद्धि यहाँ होने पर भी गुण में संख्या नहीं मानी जाती तो इसी प्रकार, निःसहाय या द्वितीयादिसहित घटादि द्रव्यों में भी, संख्या न होने पर भी, इच्छानुसार किये गये 'एक-द्वि' आदि संकेतों से प्रभावित चित्तवृत्ति से 'एक-द्वि' आदि का ज्ञान गुणों की तरह हो सकता है । तब एकत्वादि स्वतन्त्र संख्या को मानने की आवश्यकता ही क्या है ?!

✽ गुणों में संख्या का ज्ञान औपचारिक नहीं है ✽

संख्या तो न्यायमत में गुणस्वरूप होने से द्रव्य में आश्रित ही होती है, गुण तो द्रव्यस्वरूप नहीं है इसलिये उन में संख्या का होना सम्भव नहीं । गुणों में एकत्वादि का ज्ञान उपचारमूलक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह ज्ञान स्खलद्वृत्ति (= बाध्य) नहीं है । यदि यह कहा जाय - 'गुणों में संख्या रहेगी तो उस संख्यागुण में भी 'एक-संख्या-दो संख्या' इत्यादि प्रकार से संख्या गुण मानना पड़ेगा, जिस से अनवस्था दोष होगा, इस दोषरूप बाधक प्रमाण से बाधित होने के कारण गुणों में एकत्वादि का ज्ञान उपचारमूलक सिद्ध होगा' -- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटादि द्रव्यों में भी द्वित्वादि संख्या मानने पर कृत्स्न-एकदेशवृत्ति के विकल्पस्वरूप बाधकप्रमाण मौजूद होने से घटादिगत संख्या का ज्ञान भी (अप्रमाण यानी) उपचारमूलक मानना होगा । 'कृत्स्न-एकदेश वृत्ति के विकल्परूप बाधक वास्तव में बाधक ही नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पहले अवयविनिरसनस्थल में उस की बाधकता का समर्थन हो चुका है । जो लोग ऐसा बोलते हैं कि - 'किसी एक स्थल में मुख्य संख्या का स्वीकार न करने पर संख्याविषयक गौणप्रतीति का सम्भव ही नहीं रहता, इस लिये घटादि द्रव्यों में मुख्य संख्या का योग मंजूर करना पड़ेगा' - यह बोलने जैसा नहीं है, क्योंकि संख्यादि के बारे में बौद्धमत में कोई ऐसी गौण प्रतीति सिद्ध नहीं है जो मुख्यपूर्वक होती है । (सभी प्रतीति एक-सी ही हैं) । देखिये - बौद्ध मत में, गो-आदि के बारे में 'गौ' ऐसा ज्ञान वास्तविक गोत्वमूलक होने का सिद्ध नहीं है और गो-वाहक में वास्तविक गोत्व के अध्यारोप से 'गौ' ऐसा उपचरित ज्ञान होता हो ऐसी बात भी नहीं है ।

द्रव्यं तद्रूपैकत्वादिसंख्यातो गुणादीनां तदेकार्थसमवायात् । नन्वेवम् 'एकस्मिन् द्रव्ये रूपादयो बहवो गुणाः' इति ज्ञानोत्पत्तिर्न स्यात् तदाश्रयद्रव्ये बहुत्वसंख्यायाः अभावात् ।

'षट् पदार्थाः' 'सुख-दुःखे' 'इच्छा-द्वेषौ' 'पञ्चविधं कर्म' 'परमपरञ्च द्विविधं सामान्यम्' 'एको भावः' 'एकः समवायः' इति व्यपदेशेषु च किं निमित्तमिति वक्तव्यम् । न ह्यत्रैकार्थसमवायिनी संख्या विद्यते इत्यव्यापिनीयमपि कल्पना न युक्तिसंगता । भवतु वैकार्थसमवायादन्यतो वा स्वप्रकल्पिताद् हेतोरयं प्रत्ययस्तथापि गुणादिगतमुख्यसंख्याऽभावतः स्वलद्धृत्तिः स्यात् माणवके सिंहप्रत्ययवत्, न चैवमुपलभ्यते इति संकेतमात्रनिबन्धन एव सर्वत्राभ्युपगन्तव्यः । यदपि — गज-तुरग-स्यन्दनादि-

दूसरी बात यह है कि गो-वाहक को देखने पर 'यह गौ-जैसा है लेकिन गौ तो नहीं क्योंकि यहाँ गल-गोदडी नहीं है' — इस प्रकार गौ-विषयक ज्ञान स्वलित होता है इस लिये उस को कुछ सीमा तक गौण कह सकते हैं, लेकिन गुण के बारे में जो संख्या का ज्ञान होता है वह 'यह गुण एक-जैसा है किन्तु एक ही नहीं है, इस प्रकार से स्वलित अनुभव नहीं होता; जैसी अस्वलित बुद्धि घटादि में संख्या की होती है वैसी ही गुणादि में भी होती है अतः 'एक को मुख्य, दूसरे को गौण' — ऐसा पक्षपात उचित नहीं है ।

पूर्वपक्षी :- हम ऐसा नहीं कहते हैं कि गुण में संख्या का ज्ञान गुण में घटादि के सादृश्य के प्रभाव से होता है अतः वह गौण है । किन्तु गौण इस लिये है कि गुण के आश्रयभूत जो द्रव्य हैं उस में एकत्वादिसंख्या भी रहती है और गुणादि भी, अतः उन के एकार्थ यानी समानार्थ में समवाय से निवास होने के कारण गुणों में संख्याविषयक गौणबुद्धि, संख्या के न रहने पर भी हो जाती है ।

उत्तरपक्षी :- द्रव्यगत संख्या के एकार्थसमवाय से यदि गुणों में गौण संख्याप्रतीति को मानेंगे तो 'एक द्रव्य में बहु गुण हैं' ऐसी प्रतीति असम्भव हो जायेगी, क्योंकि यहाँ गुणों के आश्रयभूत एक द्रव्य में बहुत्व संख्या ही नहीं है । अतः एकार्थसमवाय की बात गलत है ।

✽ संख्या की व्यवस्था में एकार्थसमवाय निरूपयोगी ✽

एकार्थसमवाय से संख्या की व्यवस्था बहुत संकुचित है, जितनी व्यापक होनी चाहिये उतनी नहीं है, क्योंकि 'छः पदार्थ' इस व्यवहार में षट्त्व संख्या एकार्थसमवाय से पदार्थों में नहीं मानी जा सकती क्योंकि किसी एक द्रव्य में छः पदार्थ का षट्त्व के साथ एकार्थ समवाय नहीं होता । तथा 'सुख-दुःखे' यहाँ भी द्वित्व के साथ सुख दुःख उभय का एकार्थसमवाय नहीं होता, होता है तो किसी एक का होता है । 'पञ्चविधं कर्म' यहाँ भी किसी एक द्रव्य में कभी समुदित पाँच क्रिया नहीं होती अतः एकार्थ समवाय नहीं है । 'सामान्य पर-अपर द्विविध होता है' यहाँ भी सामान्यगत परत्व और अपरत्व का एकार्थसमवाय नहीं है । 'भाव एक है' यहाँ भी भावसामान्य का एकार्थसमवाय नहीं है । 'एकः समवायः' यहाँ समवाय कहीं भी समवाय से नहीं रहता । तब दिखाना चाहिये कि यहाँ संख्या के व्यपदेश का पदार्थादि से अतिरिक्त कौन सा निमित्त है ? संख्या तो एकार्थसमवाय से भी उपरोक्त रीति से पदार्थादि में रहती नहीं है । अतः एकार्थसमवाय की कल्पना भी अनुचित है ।

अथवा मान लिया जाय कि एकार्थसमवाय या अन्य किसी न्यायमतकल्पित निमित्त से गुणादि में संख्या की प्रतीति होती है, किन्तु उस का फलितार्थ यह होगा कि द्रव्य में समवाय से जैसे मुख्य संख्या रहती है, गुणादि में वैसे समवाय से मुख्य संख्या नहीं रहती । अतः गुणादि में जो संख्याबोध होगा वह स्वलितवृत्ति यानी माणवक में सिंहोपचार की तरह औपचारिक होगा । किन्तु तथ्य यह है कि 'चौबीस गुण' इत्यादि प्रतीति

व्यतिरिक्तनिमित्तप्रभवः सेनाप्रत्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वात् वस्त्र-चर्म-कम्बलेषु नीलप्रत्ययवत् इति संख्यासिद्धये यदविद्धकर्णोक्तं प्रमाणम्-तदप्ययुक्तम्, गजादिव्यतिरिक्तसंकेतादिप्रभवत्वेनेष्टत्वात् सिद्धसाध्यतादोषाघ्रातत्वात् । अथ विशिष्टसंख्यानिमित्तप्रभवत्वमस्य साध्यत्वेनाभिप्रेतम् तदानैकान्तिको हेतुः बुद्ध्यादौ 'एका बुद्धिः' इत्यादिविशिष्टप्रत्ययस्य संख्यामन्तरेणापि भावात् । 'अनेकद्रव्या च द्वित्वादिसंख्या, एकत्वेभ्योऽनेकविषयैकबुद्धिसहितेभ्य उत्पद्यते' इत्यभ्युपगमश्चानुपपन्नः, संकेताभोगमात्रेण संख्येषु 'द्वे' 'त्रीणि द्रव्याणि' इत्यादिबुद्धेरुपपत्तेः, तथाप्यदृष्टसामर्थ्यस्यान्यस्य तद्धेतुत्वकल्पने हेतुत्व-वस्थाप्रसक्तिः । किञ्च, अपेक्षाबुद्ध्यन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वे द्वित्वादिप्रत्ययस्य द्व्यादिसंख्याप्रभवत्वा-भ्युपगमे तद्धेतुभूतसंख्याया एकस्या अनेकवृत्तित्वमभ्युपगतं भवति, तच्च प्रमाणबाधितमिति असकृदा-वेदितम्, अतोऽपेक्षाबुद्धिरेव द्व्यादिबुद्धिनिमित्तभूता वरमभ्युपगन्तव्येति स्थितम् ।

में कभी भी बाधप्रयुक्त स्वलना का एहसास किसी को नहीं होता । अतः सर्वत्र द्रव्यादि में संख्या का व्यवहार संकेतमात्रमूलक होता है ऐसा मानना उचित है ।

❀ अविद्धकर्णसूचित संख्या-अनुमान सदोष ❀

अविद्धकर्ण विद्वान् ने यहाँ संख्या की सिद्धि में और एक अनुमानप्रयोग कहा है - 'सेना' (या विशाल सेना) इस प्रकार की प्रतीति एक एक हाथी, अथ आदि की प्रतीति से विलक्षण है, इसलिये हाथी, अथ, रथ आदि से स्वतन्त्र किसी निमित्त से प्रभावित है । उदा० वस्त्र-चर्म-कम्बल इत्यादि में 'नील' ऐसी प्रतीति वस्त्र-चर्म-कम्बल इत्यादि से अतिरिक्त नीलवर्ण से प्रभावित होती है । यहाँ 'सेना' प्रतीति में यह जो स्वतन्त्र निमित्त है वही 'बहुत्व' संज्ञक संख्या है । - अविद्धकर्ण का यह प्रयास अनुचित है क्योंकि गजादि से व्यतिरिक्त संकेतरूप निमित्त भी यहाँ सिद्ध हो सकता है जो हमें इष्ट ही है इसलिये सिद्धसाधन दोष अनिवार्य है । यदि कहें कि - 'हम यहाँ विशिष्ट संख्यानिमित्तमूलकत्व साध्य करते हैं जो आप के मत में सिद्ध न होने से कोई दोष नहीं है' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'एक बुद्धि' ऐसी प्रतीति, बुद्धि में एकत्वसंख्या के न होने पर भी होती है अतः हेतु साध्यद्रोही है ।

यह जो माना हुआ है कि - द्वित्वादि 'अनेकद्रव्या' संख्या तब उत्पन्न होती है जब अनेक वस्तु विषयक 'यह एक और वह एक...' इत्यादिरूप से अनेकएकत्व-अवगाही अपेक्षाबुद्धि और एकत्वसंख्या सहयोगी बनते हैं । - ऐसा मानना भी अब अघटित है, क्योंकि संख्येय यानी अनेक वस्तु को देखने के बाद पूर्व संकेत के स्मरणमात्र से 'ये दो हैं' या 'तीन द्रव्य हैं' इत्यादि संख्यावगाही बुद्धि उत्पन्न हो सकती है और ऐसा अनुभव भी है । तब एकत्वसहकृत अनेकविषयक एक बुद्धि में हेतुता की कल्पना करना ठीक नहीं है क्योंकि उस में वैसा सामर्थ्य अनुभवबाह्य है । फिर भी आप वैसी बुद्धि में हेतुता की कल्पना करेंगे तो वैसे बुद्धि के लिये अन्य किसी अननुभूत बुद्धि में हेतुता की कल्पना, फिर उस बुद्धि के लिये भी अन्यकल्पना.... इस तरह कल्पना करते ही जाओ कोई अन्त नहीं आयेगा ।

दूसरी बात यह है - द्वित्वादिप्रतीति को आप द्वि-आदि संख्याजन्य मानते हो और द्वित्वादिसंख्या का अपेक्षाबुद्धि के साथ अन्वय-व्यतिरेक सहचार होने से द्वि-आदि संख्या को अपेक्षाबुद्धिजन्य मानते हो - यहाँ यह सोचना जरूरी है कि द्वित्वादिसंख्या जो कि द्वित्वादिप्रतीति की हेतुभूत है उस को अनेकवृत्ति भी मानना पड़ेगा, 'एक की अनेकवृत्तित्वा' अवयविनिरसनप्रकरण में प्रमाणबाधित है यह कई बार स्पष्ट हो चुका है । इस स्थिति में द्वित्वादिप्रतीति के लिए संख्या की कल्पना और संख्या के लिये अपेक्षाबुद्धि की कल्पना का दीर्घ

परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणं महद् अणु दीर्घम् ह्रस्वमिति चतुर्विधम् () इति परैरभ्युपगतम् । तत्र महद् द्विविधम् नित्यमनित्यं च । नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम्, अनित्यं त्र्यणुकादिषु द्रव्येषु । अण्वपि नित्याऽनित्यभेदात् द्विविधम्, परमाणु-मनस्सु पारिमाण्डल्यलक्षणम् नित्यम् अनित्यं द्व्यणुक एव । कुवलाऽऽमलकबिल्वादिषु तु महत्त्वपि तत्रप्रकर्षाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुव्यवहारः । तथाहि — यादृशं बिल्वे महत् परिमाणम् तादृशं नामलके यादृशं च तत् तत्र न तादृशं कुवल इति । ननु महद्-दीर्घयोस्त्र्यणुकादिषु वर्तमानयोः द्व्यणुके चाणुत्व-ह्रस्वत्वयोः को विशेषः ? महत्सु 'दीर्घमानीयताम्' दीर्घेषु 'महदानीयताम्' इति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्ति तयोः परस्परतो भेदः । अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शनामध्यक्ष एव । महदादि च परिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरम् तत्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात् सुखादिवत् ।

कष्ट करने के बदले 'तद्धेतोरेवास्तु किं तेन ?' इस न्याय से अपेक्षाबुद्धि को ही सीधे द्वित्वादिप्रतीति में हेतु मान लेना कितना अच्छा है !!

✽ महद् आदि परिमाण के चार प्रकार ✽

वैशेषिक मत में परिमाणव्यवहार के निमित्तरूप में एक स्वतन्त्र 'परिमाण' गुण माना गया है । उस के चार भेद हैं महत्, अणु, दीर्घ, ह्रस्व । महत् परिमाण के दो भेद हैं नित्य और अनित्य । आकाश, काल, दिशा और आत्मा इन में 'परममहत्त्व' संज्ञक उत्कृष्ट महत् परिमाण है जो नित्य है । त्र्यणुकादि द्रव्यों में तरतमभाववाला महत् परिमाण है वह अनित्य है । अणु-परिमाण के भी दो भेद हैं नित्य और अनित्य । परमाणु एवं मनस् में जो अणु परिमाण है वह नित्य है और अनित्य अणु-परिमाण सिर्फ द्व्यणुक द्रव्यों में ही रहता है । यद्यपि कुवल, आमला, बीलुफल इत्यादि में भी 'यह बहुत छोटा है' इस तरह से अणुत्व का व्यवहार होता है किन्तु वह उपचार से होता है, कुवलादि से बड़े द्रव्यों में जो प्रकर्षयुक्त महत् परिमाण है वैसा उन में नहीं है इसलिये उन को उपचार से अणु कहा जाता है । देखिये — बीलु का परिमाण जितना बड़ा है उतना आँवले का नहीं होता और आँवला जितना बड़ा है उतना बड़ा कुवल नहीं होता । अतः वहाँ आपेक्षिक अणु-महत् व्यवहार होता है ।

प्रश्न :- त्र्यणुकादि में वर्तमान महत् और दीर्घ परिमाण में क्या फर्क है और द्व्यणुक में अणुत्व और ह्रस्वत्व में क्या फर्क है ?

उत्तर :- महत्परिमाणवाले अनेक द्रव्यों में से जो दीर्घ द्रव्य को लाने के लिये, तथा दीर्घ अनेक द्रव्यों में से महत् द्रव्य को लाने के लिये आदेश दिया जाता है, इस भिन्न भिन्न आदेश व्यवहार की प्रतीति से यह फलित हो जाता है कि महत् और दीर्घ में भेद है । अणु और ह्रस्व परिमाण में यद्यपि वे अतीन्द्रिय होने से हमारे व्यवहार का विषय न होने से उन के भेद को स्पष्ट नहीं देख सकते, फिर भी उन का प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले योगिपुरुषों को उन में जो भेद है उस का भी प्रत्यक्ष होता है ।

परिमाण की सिद्धि के लिये यह प्रयोग है — महत् आदि परिमाण रूपादि से स्वतन्त्र इकाई है क्योंकि रूपादिप्रतीति से विलक्षण प्रतीति से गृहीत होते हैं, उदा० सुखादि । सुख-दुःखादि की प्रतीति रूपआदि की प्रतीति से विलक्षण अनुभूत होती है अतः जैसे सुखादि रूपादि से भिन्न होते हैं वैसे ही परिमाण भी विलक्षणप्रतीति के जरिये रूपादि से भिन्न गुण सिद्ध होता है ।

अत्र यदि 'रूपादिविषयेन्द्रियबुद्धिविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्' इति हेत्वर्थस्तदा हेतुरसिद्धस्तथाव्यवस्थि-तरूपादिव्यतिरेकेण महदादिपरिमाणस्याध्यक्षप्रत्ययग्राह्यत्वेनाऽसंवेदनात् । अथ 'अणु-महत्' इत्याकार-तत्प्रत्ययविलक्षणकल्पनाबुद्धिग्राह्यत्वादिति हेतुस्तदा विपर्यये बाधकप्रमाणाभावादनैकान्तिकः । न ह्यस्याः किञ्चिदपि परमार्थतो ग्राह्यमस्ति कल्पनाबुद्धित्वात् । एकदिङ्मुख्यादिवृत्तेषु विशिष्टरूपादिषूपलब्धेषु तद्विलक्षणरूपादिभेदप्रकाशनाय समयवशात् 'महत्' इत्यादि अध्यवस्यन्ती बुद्धिः प्रवर्तते इति नातो वस्तुव्यवस्था । न च रूपादिव्यतिरिक्तं ग्राह्यमप्यस्या अस्तीति असिद्धता हेतोः । प्रत्यक्षबाधा च प्रतिज्ञायाः, अध्यक्षत्वेनाभ्युपगतस्य महदादे रूपादिव्यतिरेकेणानुपलब्धेः । ततो दृष्टे स्पृष्टे वैकदि-ङ्मुखप्रवृत्ते रूपादौ भूयसि अतद्रूपपरावृत्ते 'दीर्घम्' इति व्यवहारः प्रवर्तते, परिमाणाभावेऽपि तदपेक्षया चाल्पीयसि रूपादौ समुत्पन्ने 'ह्रस्वम्' इति व्यवहारः । एवं महदादावपि योज्यम् । एकाऽनेकविकल्पाभ्यां रूपादिवद् महदाद्यनुपपत्तेश्चाभावः । अविद्यमानेऽपि महदादौ भवत्प्रकल्पिते प्रासादमालादिषु

❀ परिमाणसाधक अनुमान में हेतु सदोष ❀

परिमाणसाधक प्रयोग में यदि रूपादिप्रतीतिविलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्व हेतु का यह तात्पर्य हो कि रूपादिविष-यकेन्द्रियबुद्धिविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्व, तो ऐसा हेतु असिद्ध है । कारण, इन्द्रियबुद्धिग्राह्यरूपादि से अतिरिक्त महत्परिमाणादि का प्रत्यक्षप्रतीति के विषयरूप में कभी भी संवेदन नहीं होता, अतः विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्व हेतु असिद्ध है । यदि रूपादिप्रतीतिविलक्षण-अणु-महत्आकारकल्पनाबुद्धिग्राह्यत्व को हेतु करे तो यह हेतु अनैकान्तिकदोषग्रस्त हो जायेगा, क्योंकि ऐसा कल्पनाबुद्धिग्राह्यत्व परिमाण में रहता हो और रूपादिभेद न रहता हो तो उस में, यानी ऐसी विपरीत कल्पना में कोई बाधक नहीं है । कारण, कल्पनाबुद्धि प्रमाण नहीं होती, अतः रूपादि से अतिरिक्त न होने पर भी परिमाणग्राहककल्पनाबुद्धि रूपादिस्वलक्षणप्रतीति से विलक्षण हो सकती है । वास्तव में तो कल्पनाबुद्धि का कोई पारमार्थिक ग्राह्य विषय होता ही नहीं है, क्योंकि वह बुद्धि ही कल्पना (=वासना) प्रयुक्त है । एक-दो या दो-तीन दिशामुख की ओर व्याप्त रूपादि का ग्रहण हो जाने के बाद जब कभी अनेक अर्थात् तीन-चार या चार-पाँच दिशामुख की ओर व्याप्त रूपादि की प्रतीति होती है तब उत्तरकालीन गृहीत रूपादि में पूर्वकालीनगृहीतरूपादि का भेद प्रकाशित करने के लिये कल्पनाबुद्धि पूर्वगृहीत संकेतानुसार 'यह अणु है, यह महत् है' ऐसा अध्यवसाय कर लेती है, लेकिन संकेतानुसार होने वाली कल्पनाबुद्धि से कोई तथ्यभूत तत्त्वव्यवस्था नहीं होती । रूपादि से अतिरिक्त कोई इस बुद्धि का ग्राह्य नहीं है इसलिये रूपादिबुद्धि-विलक्षणबुद्धिग्राह्यत्व हेतु असिद्ध ठहरता है । तथा, उक्त प्रयोग में प्रत्यक्ष बाधा भी है, क्योंकि महत् आदि जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं वे रूपादि से अतिरिक्त यानी भिन्नरूप में कभी उपलब्ध नहीं होते, (रूपादि और परिमाण समानबुद्धिग्राह्य ही होते हैं) । स्वतन्त्र परिमाण न होने पर भी दीर्घ-ह्रस्व का व्यवहार इस तरह होता है कि जब एकदिगभिमुख पुष्कल रूप दिखाई देता है अथवा वह रूप अत्यधिक क्षेत्र को व्याप्त करता है और उस रूप में कोई परावर्तन नहीं होता तब तक उस के लिये 'यह दीर्घ है' ऐसा व्यवहार प्रवर्तता है । उस से विपरीत, पूर्व की अपेक्षा अल्प रूप का व्याप होने पर 'यह ह्रस्व है' ऐसा व्यवहार होता है । इस प्रकार, अनेक दिशाभिमुख रूप का व्याप अधिक होने पर महत् का व्यवहार होता है, अल्प दिगभिमुख व्याप रहने पर अणु का आपेक्षिक व्यवहार होता है ।

पहले रूपादि के निरसन में जैसे ये विकल्प किये गये थे कि एक भाग में अभिव्यक्त होने पर एक निरवयवरूप सारे द्रव्य में अभिव्यक्त हो जायेगा - इत्यादि, वैसे यहाँ भी एक निरवयव परिमाण, द्रव्य के एक भाग में

महदादिप्रत्ययप्रादुर्भूतेरनुभवादनेकान्तिकश्च हेतुः ।

न च यत्रैव प्रासादादौ समवेतो मालाख्यो गुणः तत्रैव महत्त्वादिकमपीत्येकार्थसमवायवशात् 'महती प्रासादमाला' इति प्रत्ययोत्पत्तेर्नैकान्तिकत्वम्, स्वसमयविरोधात् । तथाहि — न प्रासादो भवद्भिरवयविद्रव्यमभ्युपगम्यते, विजातीयानां द्रव्यानारम्भात्, किं तर्हि ? संयोगात्मको गुणः । न च गुणः परिमाणवान् 'निर्गुणा गुणाः' () इति वचनात् । ततो मालाख्यस्य गुणस्य प्रासादादिष्वभावात् 'प्रासादमाला' इत्ययमेव प्रत्ययस्तावदयुक्तः — दूरत एव 'सा महती ह्रस्वा वा' इत्यादि-प्रत्ययव्यपदेशसम्भवः । मालायाः संख्यात्वेन प्रासादादीनां च संयोगत्वेन महत्त्वादेश्च परिमाणत्वेन परैरभ्युपगमात् त्रयाणामपि गुणत्वाद् गुणेषु च गुणाऽसम्भवात् 'महती प्रासादमाला' इति नैकार्थसमवायात् प्रत्ययोत्पत्तिः । अथापि अवयविस्वभावा माला इष्यते; तथापि द्रव्यस्य द्रव्याश्रयत्वान्न मालायाः संयोगस्वरूपप्रासादाश्रयत्वं युक्तम् । अथ माला जातिस्वभावाऽभ्युपगम्यते; तथापि जातेः प्रत्याश्रयं परिसमाप्तत्वात् एकस्मिन्नपि प्रासादे 'माला' इति प्रत्ययोत्पत्तिर्भवेत् । 'एका प्रासादमाला महती दीर्घा ह्रस्वा वा' इत्यादिप्रत्ययानुपपत्तिस्तदवस्थैव स्यात् मालायां तदाश्रये च प्रासादा-

व्यक्त होने पर सम्पूर्ण परिमाण अभिव्यक्त हो जाने की विपदा होगी और अणु-अणु में भिन्न भिन्न परिमाण मानने पर महत् परिमाण का विलोप हो जाने का दोष होगा — इस प्रकार रूपादि निषेध की तरह परिमाण का भी निषेध समझ लेना । दूसरी बात यह है कि प्रासादमाला आदि में आप का माना हुआ महत् परिमाण नहीं होता, क्योंकि आप प्रासादमाला को एक अवयवी नहीं स्वीकारते, फिर भी 'यह प्रासादश्रेणि विशाल है' ऐसी अस्खलित प्रतीति अनुभूत होती ही है । यहाँ आप के मतानुसार रूपादिव्यतिरिक्त परिमाण नहीं है और विलक्षणबुद्धिग्राह्यत्व हेतु है अतः हेतु साध्यद्रोही ठहरता है ।

❀ 'महती प्रासादमाला' प्रतीति की छानबीन ❀

परिमाणवादी :- जिस प्रासादपरम्परा में 'माला'(श्रेणी)संज्ञक गुण (यानी भाव) समवेत है उस प्रासादादि में समवाय से महत्त्वादि भी रहता है, अतः एकार्थसमवाय से यहाँ 'विशाल प्रासादश्रेणी' ऐसी प्रतीति होना सहज है, विलक्षणबुद्धिग्राह्यत्व हेतु है और यहाँ रूपादि से अतिरिक्त महत्त्वपरिमाण भी एकार्थसमवायसम्बन्ध से है अतः हेतु साध्यद्रोही नहीं होगा ।

अभेदवादी :- यह कथन गलत है । कारण इस में परिमाणवादी को स्वसिद्धान्तविरोध प्राप्त होगा । कैसे यह देखिये — आप के मत में प्रासाद तो विजातीय काष्ठ-लोह-पत्थरादि द्रव्यों से निर्मित होने के कारण कोई स्वतन्त्र अवयवीद्रव्य ही नहीं है । आप के मत में कभी विजातीय द्रव्यों के मिलने से नये द्रव्यों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती । तब प्रासाद क्या है ? तो न्याय-वैशेषिक परिमाणवादी के मत में वह सिर्फ विजातीय द्रव्यों का 'संयोग'संज्ञक गुण ही है । 'गुण निर्गुण होते हैं' इस उक्ति के अनुसार संयोगगुणात्मक प्रासाद में परिमाण गुण रह नहीं सकता । तात्पर्य, प्रासादादि में 'माला'संज्ञक गुण जैसी कोई चीज न होने से, 'प्रासादमाला' यह प्रतीति ही संगत नहीं हो सकती । जब 'प्रासादमाला' ऐसा बोध भी असम्भव है तो 'वह विशाल अथवा ह्रस्व है' ऐसा बोध अथवा ऐसा व्यवहार तो सुतरां असम्भव हो जाता है । स्पष्टता यह है कि परिमाणवादी के मत में 'माला' यह संख्यात्मक गुण है, प्रासादादि संयोगात्मक गुण है और परिमाण भी

दावेकत्वादेर्गुणस्याऽसम्भवात्, काष्ठादिषु च प्रासादाश्रयेषु विवक्षितदीर्घाद्ययोगात् । बह्वीषु च प्रासाद-मालासु 'माला-माला' इत्यनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात् जातावपरजातेरनुपपत्तेः । न च तदाश्रयजाति-निबन्धन औपचारिकोऽयं प्रत्ययोऽस्खलद्वृत्तित्वात् । न हि मुख्यप्रत्ययाविशिष्टो गौणो युक्तोऽतिप्रसं-गात् । अत एव मालादिषु महत्त्वादिप्रत्ययोऽपि नौपचारिकः । उक्तं च - (प्र०वा० २-१५७)

मालादौ च महत्त्वादिशिष्टो यश्रौपचारिकः । मुख्याऽविशिष्टविज्ञानग्राह्यत्वान्नौपचारिकः ॥ इति । तन्न परिमाणं रूपादिषु पृथग् गुण इति स्थितम् ।

संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशात् 'अत्रेदं पृथक्' इत्यपोद्घ्रियते तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वं नाम

गुण है । तीनों ही गुणात्मक होने से एक-दूसरे में नहीं रह सकते क्योंकि गुण में कोई गुणों का सम्भव नहीं होता । अतः एकार्थसमवाय से 'यह विशाल प्रासादश्रेणी' ऐसा बोध भी सम्भव नहीं रहता ।

✽ माला न अवयवी है न जाति ✽

यदि आप 'माला' को 'संख्या'रूप नहीं किन्तु अवयवीद्रव्यरूप मानते हैं - तो भी प्रासाद संयोगात्मक गुणरूप होने से मालारूप अवयवी द्रव्य प्रासादात्मक गुण में नहीं रह सकेगा क्योंकि अवयवी का आश्रय अवयवद्रव्य ही होता है, गुण नहीं । यदि आप माला को जातिस्वभाव मानेंगे तो यद्यपि वह संयोगात्मक प्रासाद में रह सकती है, किन्तु जाति प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त हो कर रहती है इसलिये एक प्रासाद को देख कर भी 'प्रासादमाला' ऐसा बोध होने की आपत्ति हो सकती है । उपरांत, जातिपक्ष में 'यह एक प्रासादमाला दीर्घ/ह्रस्व है' ऐसे बोध की असंगति तो तदवस्थ ही रह जायेगी । कारण, जातिस्वरूप माला के आश्रयभूत संयोगात्मक प्रासादादि में एकत्वादि गुण का अभाव है और संयोगात्मक प्रासाद के आश्रयभूत काष्ठादि द्रव्यों में वह दीर्घ-ह्रस्वता नहीं है जो प्रासादमाला में दृष्टिगोचर होती है । दूसरी बात यह है कि चार दिशाओं में अलग अलग प्रासादमालाओं को देख कर 'माला-माला' ऐसा जो अनुगत बोध होता है वह संगत नहीं होगा क्योंकि जातिस्वरूप माला में अन्य किसी जाति का सम्भव नहीं होता । 'माला-माला' यह अनुगतबोध कभी भी बाधकप्रतीति से स्वलित नहीं होता, अतः जातिस्वरूप माला के आश्रयभूत प्रासादादि में रहे हुए जाति के प्रभाव से औपचारिक तौर पर 'माला-माला' बोध होता है ऐसा कह नहीं सकते । एक ओर मुख्य-जातिमूलक अनुगत बोध, और दूसरी ओर उपचार से अनुगत बोध, ये दोनों तुल्य नहीं हो सकते, अन्यथा यह अतिप्रसंग होगा कि मुख्य गोविषयक बोध और गौण गो-वाहक में गोविषयक बोध दोनों ही तुल्य हो जायेंगे । मालादि में जातिस्वरूप होने के कारण जैसे औपचारिक अनुगतबोध को मानना असंगत है वैसे ही महत्त्वादि की औपचारिक प्रतीति को मानना भी असंगत है । प्रमाणवार्तिक में कहा गया है -

“मालादि में महत्त्वादि (के बोध) को औपचारिक मानने को कहा जाय, लेकिन महत्त्वादि के मुख्य बोध की तरह माला में भी समान बोध होता है अतः औपचारिक नहीं कह सकते ।”

निष्कर्ष :- रूपादि से अलग, स्वतन्त्र परिमाणरूप गुण असत् है ।

✽ पृथक्त्व-गुण के साधक-बाधक ✽

पृथक्त्व :- द्रव्य को अन्योन्य संयुक्त है ऐसा देखने के बाद भी 'यह इस से है तो अलग' इस प्रकार

✽ उद्धृतोऽयं श्लोकः तत्त्वसंग्रह-का० ६५०-पंजिकायाम् ।

गुणः' इति काणादाः 'घटादिभ्योऽर्थान्तरम्, तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्, सुखादिवत्' इति व्यवस्थिताः । अत्र तावद् हेतोरसिद्धता, परस्परस्वरूपव्यावृत्तरूपादिव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पृथक्त्वगुणस्याध्यक्षेऽप्रतिभासेन घटादिविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वस्याऽसिद्धेः । अत एवोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वेनाभ्युपगतस्य तस्यानुपलम्भादसत्त्वम् । न च 'पृथक्' इति विकल्पप्रत्ययावसेयत्वेन तस्य सत्त्वम्, सजातीय-विजातीयव्यावृत्तरूपाद्यनुभवनिबन्धनत्वात् तत्प्रत्ययस्य । व्यावृत्तता च भावानां स्व-स्वभावव्यवस्थितेः, अन्यथा स्वत एवाव्यावृत्तरूपाणां पृथक्त्वादिवशात् तेषां पृथग्रूपताऽसिद्धेः, पृथक्त्वादेर्भिन्नाऽभिन्नपृथग्रूपभावकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् — भेदपक्षे सम्बन्धासिद्धेः, अभेदपक्षे तु पृथग्रूपस्य भावस्यैवोत्पत्तेरर्थान्तरभूतपृथक्त्वगुणकल्पनावैयर्थ्यात् तत एव 'पृथक्' व्यवहारसिद्धेर्हेतोरनैकान्तिकत्वम् ।

किञ्च, यथा परस्परव्यावृत्तात्मतया सुख-दुःखादिगुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्यय-विषयता पृथक्त्व-गुणाभावेऽपि गुणेषु गुणाऽसम्भवात् तथा घटादिष्वपि भविष्यतीति हेतोरनैकान्तिकता परिस्फुटैव ।

जुदाई महसूस हो जाती है जिस को 'अपोद्धार' कहा जाता है । इस अपोद्धारव्यवहार के निमित्तरूप में 'पृथक्त्व' संज्ञक गुण की कल्पना कणाद ऋषि के शिष्यों ने की है । वे इस प्रकार प्रयोग दिखलाते हैं — 'पृथक्त्व घटादि से अर्थान्तर है क्योंकि वह ऐसे ज्ञान से गृहीत होता है जो घटादिप्रतीति से विलक्षण होता है । उदा० सुखादि, जिस का ज्ञान घटादिप्रतीति से विलक्षण होता है और घटादि से सुखादि भिन्न ही होता है ।' अन्य वादी कहते हैं कि इस प्रयोग में हेतु असिद्ध है, क्योंकि घटादि को देखने पर अन्योन्यव्यावृत्त रूपादि का भान होता है लेकिन उन से अतिरिक्त कोई 'पृथक्त्व' गुण प्रत्यक्ष में भासित नहीं होता, अतः जब स्वतन्त्र ग्राह्य ही नहीं है तो विलक्षणज्ञानग्राह्यत्वरूप हेतु ही कैसे सिद्ध होगा ?! आप के मत में तो पृथक्त्व स्वतन्त्र उपलब्धिलक्षणप्राप्त गुण है, किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष में वह किसी को रूपादि से अतिरिक्त स्वतन्त्र उपलब्ध नहीं होता, अतः वह असत् सिद्ध होता है । 'यह इस से पृथक् है' ऐसी काल्पनिक प्रतीति में भासित होने के कारण पृथक्त्व की सत्ता मान लेना ठीक नहीं है, क्योंकि सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त रूपादि की अनुभूति ही 'यह पृथक् है' इस पृथक्त्वानुभव का बीज है । रूपादि को सजातीय-विजातीय पदार्थों से अपने आप को अलग करने के लिये किसी पृथक्त्वगुण की जरूर नहीं है, वह तो अपनी स्वभावव्यवस्था के बल पर ही अलग पीछाना जाता है । यदि उन्हें स्वतः व्यावृत्त न मान कर पृथक्त्वादिगुण के जरिये व्यावृत्त होने का मंजूर करेंगे तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जो स्वतः अव्यावृत्त स्वभाव है वह अन्य के योग से भी पृथग्रूप सिद्ध नहीं हो सकता । विकल्प ऊठ सकेंगे कि पृथक्त्व भिन्न हो कर पदार्थों को अलग रखेगा या अभिन्न रह कर ? दोनों पक्ष में वह अकिञ्चित्कर रहेगा । यदि वह पदार्थ से भिन्न होगा तो पदार्थ के साथ उस के सम्बन्ध का मेल नहीं खायेगा । यदि पदार्थ से अभिन्न होगा तब तो फलितार्थ यह हुआ कि पदार्थ स्वयं ही पृथक्स्वरूप उत्पन्न हुआ है, अतः अर्थान्तरभूत स्वतन्त्र पृथक्त्वगुण की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि पृथक्स्वरूप पदार्थ से ही 'पृथक्' व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी । इस प्रकार अर्थान्तरभूत पृथक्त्वसाध्य असिद्ध हो जाने पर कोई भी हेतु प्रयुक्त किया जाय, वह साध्यद्रोही ही ठहरेगा ।

❀ पृथक्त्व के विना सुखादिगुणों में पृथक्त्वन का व्यवहार ❀

दूसरी बात यह है कि गुणों में तो गुण का अस्तित्व सम्भव नहीं है अतः सुख-दुःखादि गुणों में पृथक्त्व गुण रह नहीं सकता, फिर भी परस्परव्यावृत्तता के आधार पर ही 'सुख से दुःख पृथक् है दुःख से सुख पृथक् है' इस प्रकार का पृथक्त्वबोध सुख-दुःख को लेकर होता है । ठीक ऐसे ही स्वतन्त्र पृथक्त्वगुण के विना घट-

न च गुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्ययो भाक्तः मुख्यप्रत्ययाऽविशिष्टत्वात् । 'पृथक्' इत्यपोद्धारव्यवहारस्य स्वरूपविभिन्नपदार्थनिबन्धनत्वात् परोपन्यस्तानुमाने प्रतिज्ञाया अनुमानबाधा । तथा च प्रयोगः — ये परस्परव्यावृत्तात्मानः ते स्वव्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधाराः यथा सुखादयः, परस्परव्यावृत्तात्मानश्च घटादय इति स्वभावहेतुः । एकस्यानेकवृत्त्यनुपपत्तिः, सम्बन्धाभावश्च समवायस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात्, सुखादिषु तद्व्यवहाराभावप्रसक्तिश्च विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । तन्न पृथक्त्वं गुणः तत्साधकप्रमाणाभावाद् बाधकोपपत्तेश्चेति व्यवस्थितम् ।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः, प्राप्तिपूर्विका चाऽप्राप्तिर्विभागः । तौ च द्रव्येषु यथाक्रमं 'संयुक्त-विभक्त'प्रत्ययहेतू अन्यतरोभयकर्मजौ संयोगविभागजौ च यथाक्रमम् । न च संयोगविभागयोः सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाऽविषयत्वात् सद्द्रव्यवहाराऽविषयता शशविषाणवत् इति वाच्यम्, संयोगस्य द्रव्ययोर्विशेषणत्वेनाध्यक्षतः प्रतीयमानत्वात् । तथाहि — कश्चित् केनचित् ^{२५}'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्तो ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभ्य(?)ते ते एव आहरति न द्रव्यमात्रम् । अन्यथा हि यत्किञ्चिदाहरेत् ।

वस्त्रादि में भी परस्परव्यावृत्तिमूलक 'पृथक्' व्यवहारसिद्ध हो सकता है, इस स्थिति में साध्य के न होने पर भी हेतु विलक्षणबोधग्राह्यत्व रह जायेगा तो साध्यद्रोह दोष होगा, यह स्पष्ट है । गुणों में जो 'पृथक्' ऐसा बोध होता है उसे औपचारिक नहीं बता सकते, क्योंकि मुख्य पृथक्त्व के बोध से यहाँ कोई वैसदृश्य नहीं होता । जब यह फलित हो गया कि 'पृथक्' इस प्रकार अपोद्धारव्यवहार स्वतःव्यावृत्तपदार्थमूलक ही होता है तब परवादी के अनुमान की प्रतिज्ञा दूसरे अनुमान से बाधित हो जाती है । उस दूसरे अनुमान का प्रयोग देखिये — जो परस्पर व्यावृत्तस्वभाव वाले होते हैं वे अपने से अतिरिक्त पृथक्त्व के आश्रयभूत नहीं होते जैसे सुखादि, घटादि भी परस्परव्यावृत्तस्वभाव ही होते हैं । यह स्वभावहेतुक अनुमान है । इस में व्यावृत्तस्वभावात्मक हेतु से अतिरिक्त पृथक्त्व का निषेध सिद्ध होता है जिस से अतिरिक्तपृथक्त्व होने की यानी विपर्यय की कल्पना की जायेगी तो उस में बहुत से बाधक प्रमाण हैं । जैसे — १ एक, पृथक्त्व की अनुयोगी-प्रतियोगी अनेक में वृत्ति एकदेश या अखंड रूप से संगत नहीं हो पायेगी । २ अतिरिक्त पृथक्त्व का अपने आश्रय के साथ कोई सम्बन्ध मेल नहीं खायेगा । ३ समवाय की कल्पना करेंगे लेकिन उस का अभी आगे निषेध किया जानेवाला है । ४ सुखादि गुणों में अतिरिक्त पृथक्त्व न होने से उस के व्यवहार के भंग की विपदा होगी । निष्कर्ष, पृथक्त्व कोई स्वतन्त्र गुण नहीं है, क्योंकि उस का साधक प्रमाण नहीं है और बाधक प्रमाण लब्धप्रसर है ।

✽ संयोग के साधक प्रमाण ✽

संयोग-विभाग :- पूर्व में अप्राप्त (दूरस्थित) द्रव्यों की एक-दूसरे को प्राप्ति यानी नैरन्तर्य हो जाना यह संयोग है, प्राप्त द्रव्यों की अप्राप्ति विभाग गुण है । 'ये संयुक्त है' इस प्रकार की प्रतीति का विषयभूत निमित्त संयोग है, संयुज्यमान किसी एक द्रव्य में या सभी द्रव्यों में संयोगानुकुल यानी अन्योन्यसन्मुख गतिप्रेरक वेग की जनक क्रिया उत्पन्न होती है वह संयोग की जनक होती है । भित्ति और हस्त का संयोग एकद्रव्यनिष्ठक्रियाजन्य होता है, मेषद्वयसंयोग उभयनिष्ठकर्मजन्य होता है । 'ये विभक्त हैं' इस प्रतीति का विषयभूत निमित्त विभाग है, हस्त-भित्ति विभाग हस्तगतक्रिया से उत्पन्न होता है, मेषद्वयविभाग उभयनिष्ठक्रिया से उत्पन्न होता है । ऐसा कहना कि — संयोग और विभाग 'सत्' व्यवहार के योग्य नहीं है क्योंकि सत्त्वसाधकप्रमाण के अपात्र हैं, उदा०

✽ दृष्टव्यं न्यायवार्तिके २-१-३१ सूत्रस्य ।

एतद् विभागसाधनेऽपि विपर्ययेण सर्वं समानम् । किञ्च, यद्यर्थान्तरभूतौ संयोगविभागौ वस्तुनो न स्याताम् तदा वस्तुमात्रनिबन्धनौ 'सान्तरमिदम् — निरन्तरम्' इति च प्रत्ययौ नोत्पद्येयाताम् न हि विशेषप्रत्ययौ वस्तुविशेषमन्तरेण सम्भविनौ सर्वदा भावप्रसङ्गात् । अपि च, दूरदेशवर्तिनः प्रमातुः सान्तरावस्थितेऽपि धव-खदिरादौ निरन्तरावसायिनी बुद्धिर्योत्पद्यते या च शाखिशिखरावसक्ते बलाकादौ सान्तरत्वाध्यवसायिनी समुपजायते द्विविधाऽपीयम् 'अतस्मिंस्तत्' इति प्रवृत्तेर्मिथ्याबुद्धिः, न चासौ मुख्यपदार्थानुभवमन्तरेण क्वचिदुपजायमाना संलक्ष्यते । न हि अननुभूतरजतस्य शुक्तिकायाम् 'रजतम्' इति विभ्रमः, इति कश्चिन् मुख्यो भावो विभ्रमधियो निमित्तमभ्युपगन्तव्यः, तदभ्युपगमे च संयोग-विभागसिद्धिः तद्बुद्धिरेकेणान्यस्य एतद्बुद्धेर्निबन्धनस्यासम्भवात् ।

तथा, 'कुण्डली देवदत्तः' इति मतिः किंनिबन्धनोपजायत इति वक्तव्यम् । न पुरुष-कुण्डलमात्र-निबन्धना, सर्वदा तयोस्तस्या उत्पत्तिप्रसंगात् । अपि च, यदेव क्वचित् केनचिदुपलब्धं सत्त्वेन,

शशसींग । — यह ठीक नहीं है, क्योंकि मिलित अनेक द्रव्यों के विशेषणरूप में संयोग की प्रत्यक्ष प्रतीति सभी को होती है । देखिये — एक ने दूसरे को कहा, 'संयुक्त दो द्रव्यों को ले आव' तब सुननेवाला जिन दो द्रव्यों का संयोग देखता है उन दो द्रव्यों को ले आता है, न कि जैसे तैसे द्रव्यों को । यदि संयोग अप्रत्यक्ष होता तो श्रोता किसी भी वस्तु को उठा लाता ।

❀ विभाग के साधक प्रमाण ❀

विभाग भी उक्त रीति से प्रत्यक्ष सिद्ध है, विभक्त दो द्रव्यों के आनयन के लिये आदेश को सुन कर सेवक वैसे दो द्रव्यों को ही लाता है जिन के विभाग को स्पष्ट देखता है । यदि द्रव्य से अतिरिक्त स्वतन्त्र संयोग-विभाग को न मान कर सिर्फ द्रव्य वस्तु का ही स्वीकार करेंगे तो समझ लीजिये कि मात्र द्रव्यवस्तु से (उस को देखने के बाद) इन दो के बीच में अन्तर है और ये दो निरन्तर हैं ऐसा बोध कभी उत्पन्न नहीं होगा । सान्तर-निरन्तरबोध विशेषप्रतीतिरूप हैं जो किसी संयोग-विभागस्वरूप विशेष वस्तु के विना हो नहीं सकता, अन्यथा कैसी भी दशा में सर्वत्र सर्वकाल में सान्तर और निरन्तर की प्रतीति होती रहेगी ।

यह भी सोचने की जरूर है — धव और खदीर के वृक्ष के बीच कुछ अन्तर रहने पर भी दूरदेशवर्ती दृष्टा को एक-दूसरे से सटे हुए दिखाई देते हैं, दूसरी ओर वृक्ष की चोटी के ऊपर छोटी सी टहनी के ऊपर बगुला बैठा हो तो दूरदेशवर्ती दृष्टा को वह वृक्ष से अलग दिखाई देता है । ये दोनों बुद्धियाँ मिथ्याप्रतीतिरूप हैं क्योंकि ये बुद्धि 'अतथाभूत विषय को तथाभूत' देखती है । यह सुविदित तथ्य है कि मुख्यपदार्थ के अनुभव के विना मिथ्याप्रतीति का उदय कहीं दिखता नहीं है, शुद्ध रजत के अज्ञाता पुरुष को शुक्ति में रजत का विभ्रम कभी नहीं होता । अतः पूर्वोक्त सान्तर-निरन्तर भ्रमबुद्धियों की पृष्ठभूमि में किसी मुख्य भाव को निमित्तरूप में मंजूरी देनी होगी । मुख्य भाव को मान लेने पर संयोग-विभाग की अनायास सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि उन के विना और कौई चीज उक्त सान्तर-निरन्तरबुद्धि का निमित्त बने यह असम्भव है ।

❀ 'कुण्डलवान्' ऐसी प्रतीति से संयोगसिद्धिप्रयास ❀

और भी सोचिये कि 'देवदत्त सकुण्डल है' इस बुद्धि में देवदत्त और कुण्डल से अतिरिक्त कोई निमित्त है या नहीं, है तो वह कौनसा है ? सिर्फ पुरुष और कुण्डल मात्र से तो वह बुद्धि हो नहीं सकती, यदि हो सकती है तब तो देवदत्त के पास भूमिगत कुण्डल को देख कर के भी वैसी बुद्धि उदित होती । यह

तस्यैवान्यत्र विधिः प्रतिषेधो वा दृष्टः । यदि च संयोगो न कदाचिदुपलब्धः कथं विभागेनास्य 'चैत्रोऽकुण्डलः कुण्डली वा' इत्येवं प्रतिषेधो विधिश्च भवेत् ? यतः 'अकुण्डलश्चैत्रः' इति न कुण्डलं प्रतिषिध्यते तस्यान्यदेशादौ विद्यमानस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्, अत एव न चैत्रः, ततश्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते । एवं 'कुण्डली चैत्रः' इत्यत्रापि चैत्र-कुण्डलयोर्नान्यतरस्य विधिः, तयोः सिद्धत्वात् । ततः पारिशेष्यादप्रतीतस्य तत्संयोगस्यैव विधिरिति संयोगादिर्वास्तवः समस्त्येव यद्वशाद् विभक्तविधि-प्रतिषेधप्रवृत्तिः 'चैत्रः कुण्डली' इत्यादिप्रयोगेषु । किञ्च, यदि संयोगः अर्थान्तरं न भवेत् तदा बीजादयः अविशिष्टत्वात् सर्वदैव स्वकार्यमङ्कुरादिकं विदध्युः, न चैवम्, सर्वदा तेषां कार्यान्तरम्भात्, अतो बीजादयः स्वकार्यनिर्वर्तने कारणान्तरसव्यपेक्षाः मृत्पिण्ड-दण्ड-चक्र-सूत्रादय इव घटादिकरणे । योऽसावपेक्ष्यः स संयोगः । () इत्युद्योतकरः ।

अत्र प्रतिविधीयते - यत् तावदुक्तम् 'पदार्थविशेषणभावेन संयोगोऽध्यक्षतः प्रतीयते' इति, तद्युक्तम्; यतो न संयुक्तपदार्थार्थान्तरभूतः संयोगः कदाचित् प्रतिपत्तुर्दर्शनपथमवतरति । न तद्दर्शनाद् विशिष्टे द्रव्ये असावाहरति, किं तर्हि ? प्राग्भाविसान्तरावस्थातो विशिष्टे निरन्तरावस्थे ये समु-
नियम है कि किसी को कहीं भी 'सद्'रूप से कुछ उपलब्ध यानी ज्ञात हुआ हो तभी वह अन्य स्थान में उस चीज को देखने- न देखने पर उस का विधान या प्रतिषेध करता है; संयोग जैसी चीज अगर कहीं उपलब्ध ही नहीं है तब 'चैत्र कुण्डलविहीन है' अथवा 'चैत्र सकुण्डल है' ऐसा पृथक् पृथक् निषेध या विधान किस के आधार पर होगा ? देखिये, 'चैत्र कुण्डलविहीन है' इस प्रकार किस का निषेध होता है ? कुण्डल का नहीं, क्योंकि कुण्डल तो अन्य किसी स्थानादि में अवश्य विद्यमान है, अतः उस का निषेध नहीं हो सकता । चैत्र का भी निषेध अशक्य है क्योंकि वह भी यहाँ विद्यमान है । अतः मानना होगा कि चैत्र के साथ कुण्डल के संयोग का निषेध होता है । ऐसे ही, 'चैत्र सकुण्डल है' यहाँ चैत्र या कुण्डल में से एक का भी विधान अशक्य है क्योंकि वे तो स्वतः सिद्ध है, अतः परिशेषन्यायानुसार उन दोनों के पूर्व-अज्ञात संयोग का ही विधान किया जा सकता है । इस से फलित होता है कि संयोगादि पदार्थ वास्तविक है, उसी के प्रभाव से 'चैत्र सकुण्डल....' इत्यादि प्रयोगों में पृथक् पृथक् विधि-निषेध का प्रतिपादन किया जाता है ।

और एक बात, संयोग यदि अर्थान्तर न होता तो भूमि-बीज के संयोग के बिना, भूमि सर्वदा अवस्थित है और बीज भी कोष्ठादि में सर्वकाल संचित है, जल भी नदीयों में सदा है । संयोगरूप विशेष की अपेक्षा न होने पर सदा सर्वदा अंकुरादि कार्यों की निष्पत्ति बीजादि से होती रहती, किन्तु नहीं होती है, सर्वकाल बीजादि से अंकुरोत्पत्ति का चक्र गतिशील नहीं होता । अतः अनुमान होता है कि अंकुरादि अपने कार्य के उत्पादन के लिये भू-जल-बीजादि को उन से अतिरिक्त किसी चीज की अपेक्षा जरूर है; जैसे मिट्टीपिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर आदि को घटादि उत्पादन में परस्पर उन से अतिरिक्त किसी की अपेक्षा रहती है; जो वहाँ अपेक्षणीय है उसी का नाम संयोग (परस्पर का मिलनरूप संयोग) है । - संयोग की सिद्धि में यह उद्योतकर विद्वान का वक्तव्य है ।

✽ अतिरिक्त संयोगवाद प्रतिषेध ✽

अतिरिक्त संयोगवाद का अब प्रतिकार देखिये - यह जो कहा है - संयुक्त पदार्थों के विशेषणरूप में प्रत्यक्ष ही संयोग प्रतीत होता है - वह अयुक्त है । कारण, संयुक्त पदार्थों से अतिरिक्तस्वरूप संयोग कभी भी दृष्टा को दृष्टिपथगोचर नहीं होता । 'संयोग को देख कर सेवक विशिष्ट संयुक्त पदार्थों को ले आता है'

त्पन्ने वस्तुनी; ते एव 'संयुक्त'प्रत्ययविषये तच्छब्दवाच्ये, अवस्थाविशेषे संकेतितत्वात् 'संयुक्त'शब्दस्य । ततो यत्र तथाविधे वस्तुनी 'संयोग'शब्दविषयतामुपगते निश्चिनोति तत्र ते एव आहरति नान्ये । न हि प्रेक्षावान् शब्दात् तदप्रेरितेऽर्थे प्रवृत्तिमारचयति । वस्त्वन्तरमेव च तथा तथोत्पद्यमानं 'निरन्तरमिदं वस्तु' 'सान्तरमिदम्' इति च बुद्धिभेदनिबन्धनं भविष्यति संयोग-विभागयोर्द्रव्या-र्थान्तरभूतयोरभावेऽपि इति अनैकान्तिको 'विशेषप्रत्ययत्वात्' इति हेतुः । तथाहि — विच्छिन्नं यदुत्पन्नं वस्तु तत् सान्तरबुद्धेर्निमित्तभावमुपयात्येव हिमवत्-विन्ध्याद्रिवत्, अविच्छिन्नोत्पत्तिकं च निरन्तरबुद्धिविषयः निरन्तरोपरचितदेवदत्त-यज्ञदत्तगृहवत् । न हि गृहयोः परेणापि संयोगगुणाश्रयत्वमभ्युपगम्यते निर्गुणत्वाद्गुणानाम्, तयोश्च संयोगात्मकत्वेन गुणत्वात् । नापि हिमवत्-विन्ध्ययोर्विभागाश्रयत्वम् प्राप्तिपूर्विकाया अप्राप्तेर्विभागलक्षणयास्तयोरभावात् ।

न च सर्वा मिथ्याबुद्धिः साधर्म्यग्रहणादुत्पद्यते; कस्याश्चित् तदन्तरेणापीन्द्रियवैगुण्यमात्रा-देवोत्पत्त्युपलब्धेः, अन्यगतचेतसस्तैमिरिकस्य द्विचन्द्राद्यविकल्पबुद्धिवत् । न च प्रधानार्थानुसारित्वेऽपि

इस बात में कोई तथ्य नहीं है । तो तथ्य क्या है ? पूर्व काल में सान्तरावस्थावाले दो द्रव्य जब प्रतिक्षणोत्पत्ति-वादानुसार विशिष्ट निरन्तर (संयुक्त) अवस्था के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं तब वे द्रव्य ही 'संयुक्त' ऐसी प्रतीति में विषय बनते हैं और 'संयुक्त' शब्द के प्रतिपाद्य होते हैं । 'संयुक्त'शब्द का संकेत भी वैसे निरन्तरअवस्थित पदार्थद्वय के संदर्भ में ही किया हुआ है । सेवक को जब यह निश्चयात्मक प्रतीति हो जाती है कि इस निरन्तरावस्थावाले दो द्रव्य 'संयुक्त'शब्दप्रयोग के लिये पात्र है तब कोई उसे 'संयुक्त' द्रव्य लाने का आदेश करता है तो वह उन्हीं दो द्रव्यों को ले आता है, अन्य द्रव्यों को नहीं, क्योंकि बुद्धिशाली नर शब्द से अप्रतिपादित पदार्थ के लिये शब्दप्रेरित प्रवृत्ति कभी नहीं करता । निरन्तर और सान्तर स्वरूप उत्पन्न होनेवाली वस्तु ही वास्तव में 'ये निरन्तर है' 'ये दो सान्तर है' इस प्रकार अलग अलग होने वाली प्रतीति का मुख्य निमित्त हो सकती है, अतः द्रव्यों से अर्थान्तरभूत संयोग-विभाग का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । फलतः उन की सिद्धि के लिये जो 'विशेषप्रतीतित्व' को हेतु बनाया गया है वह साध्यविरह में रह जाने से साध्यद्रोही निश्चित होता है । देखिये -- हिमालय और विन्ध्याचल की भाँति जो विच्छिन्नरूप से उत्पन्न भाव हैं वे ही 'ये सान्तर है' इस प्रतीति में निमित्तभूत हैं, तथा एक-दूसरे से जुड़े हुए देवदत्त और यज्ञदत्त के निवासस्थानों की तरह जो अविच्छिन्न मिलित रूप से उत्पन्न हुए भाव हैं वे 'ये निरन्तर हैं' इस बुद्धि के निमित्तभूत विषय हैं । न्यायवादी भी दिवार-लकड़ी आदि के संयोगविशेषरूप गृहों में नये संयोगगुण की आश्रयता तो मान ही नहीं सकते क्योंकि गुण निर्गुण होते हैं, गृह संयोगात्मक होने से उन के मत में गुणात्मक वस्तु है । हिमाचल और विन्ध्याचल को स्वतन्त्र विभाग का आश्रय मानना भी अयुक्त है, क्योंकि 'पहले मिले हुए द्रव्यों का बाद में विघटन होना' यह जो विभाग का लक्षण पहले बताया है वह यहाँ संगत नहीं हो सकता, क्योंकि ये दो पहाड़ पहले कभी मिले हुए थे ही नहीं ।

❀ भ्रम के लिये आधारभूत मुख्यपदार्थ अनिवार्य नहीं ❀

ऐसा नहीं है कि हर कोई भ्रमबुद्धि मुख्यपदार्थ के साधर्म्यबोध से ही होती है । उस के विना भी सिर्फ इन्द्रिय में विकार मात्र के निमित्त से भी भ्रम हो जाता है, उदा० चित्त जब अन्यत्र व्याक्षिप्त हो तब पुरुष कुछ का कुछ जगद्भ्रमण जैसा देखता है, जगद्भ्रमण कहीं भी वास्तविक नहीं है, तथा तिमिररोगवाले को आकाश में प्रथम जो सहवर्त्ती चन्द्रयुगल का विकल्पज्ञान होता है वहाँ भी सहवर्त्ती चन्द्रयुगल कहीं वास्तविक

मिथ्याबुद्धेः परस्येष्टसिद्धिः, विच्छिन्नाऽविच्छिन्नरूपतयोपजातस्य वस्तुनः प्रधानभूतस्य तद्बुद्धिनिबन्धनस्य सिद्धावपि तदर्थान्तरभूतसंयोग-विभागलक्षणगुणाऽप्रसिद्धेः । यथा च चैत्र-कुण्डलयोर्विशिष्टावस्थाप्राप्तौ संयोगः प्रादुर्भवति न सर्वदा तथा 'चैत्रः कुण्डली' इति मतिरपि तदवस्थाविशेषनिबन्धना कदाचिदेव भविष्यति न सर्वदा इति किमर्थान्तरभूतसंयोगकल्पनया ? यदपि 'यदेव क्वचिदुपलब्धम्' इत्याद्यभिधानम् (१३२-१०) तदपि असंगतम्, विशिष्टावस्थायाः प्रदर्शितमतिनिबन्धनाया उपलभ्यस्वभावाया अन्यत्रानुपलम्भतः प्रतिषेधोपपत्तेः । परपरिकल्पितस्य च संयोगस्य संयोगिपदार्थविवेकेन क्वचिदपि प्रत्ययेऽप्रतिभासनात् कुतः प्रतिषेधो विधिर्वा सम्भवी ? यदि च देवदत्त-कुण्डलयोर्देशान्तरादौ सत्त्वान्न निषेधोऽसत्त्वेऽपि तदाऽऽनर्थक्यम् तदा नञ्प्रार्थाभाव एव स्यात्, संयोगप्रतिषेधेऽपि चैतद् दूषणं समानम् तस्यापि विद्यमानत्वे प्रतिषेधानुपपत्तेः अविद्यमानत्वे तदानर्थक्यात् । यदपि 'बीजादयोऽविशिष्टत्वात् सर्वदैव कार्यं विदध्युः' इत्याद्युक्तम् तत्र बीजादीनामविशिष्टत्वमसिद्धम् सर्वभावानां प्रतिक्षणविशाररुतया विशिष्टावस्थाप्राप्तौ जनकत्वात् बीजादीनां स्वकार्यजनने सापेक्षत्वमात्रसाधने च सिद्धसाध्यता अव्यवधानाद्यवस्थान्तरसापेक्षाणां बीजादीनामङ्कुरादिस्वकार्यनिर्वर्तनस्याऽस्माभिरभ्युपगमात् ।

नहीं होता । कदाचित् मंजूर कर लिया जाय कि मिथ्याबुद्धि मुख्य के होने पर ही हो सकती है- तथापि प्रतिपक्षी का कुछ इष्ट सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि मिथ्याबुद्धि का पूर्व आधारभूत विच्छिन्न/अविच्छिन्न रूप से उपजात वस्तुस्वरूप प्रधान भाव तो दोनों के मत में सिद्ध है, जब कि उस से अर्थान्तरभूत संयोग-विभागात्मक गुण तो सिद्ध ही नहीं है । जैसे ही चैत्र और कुण्डल विशिष्ट (निरन्तर) अवस्था को प्राप्त होने पर ही आप के मतानुसार संयोग का प्रादुर्भाव होता है न कि सर्वदा जैसी तैसी अवस्था में भी, वैसे ही 'चैत्र सकुण्डल है' ऐसी बुद्धि भी निरन्तर अवस्थाविशेषमूलक होने से कभी उस अवस्था के होने पर ही होगी न कि सर्वदा, इस प्रकार बुद्धि का नियमन अन्यथा घटित हो जाने पर अर्थान्तरभूतसंयोग की कल्पना का कष्ट क्यों किया जाय ?

✽ सकुण्डल चैत्र-बुद्धि का निमित्त ? ✽

यह जो कहा गया है कि जो कहीं उपलब्ध होता है उसी का अन्यत्र विधान/निषेध किया जाता है... इत्यादि, वह निपट गलत है, क्योंकि 'चैत्र सकुण्डल है' इस प्रकार की बुद्धि का मूल निमित्त जो निरन्तरावस्थान रूप विशिष्टावस्था है वह उपलब्धिलक्षण को प्राप्त है, अतः जहाँ वह उपलब्ध नहीं रहती वहाँ उस का 'संयुक्त नहीं है' इस प्रकार निषेध किया जाय यह तो उचित ही है, लेकिन न्याय मत में कल्पित स्वतन्त्र संयोग का तो संयुक्त भाव से अतिरिक्त रूप में कहीं भान ही नहीं होता, तो फिर उस के बारे में कैसे विधि/निषेध सम्भव होंगे ? और जो आपने कहा था कि 'अकुण्डलो देवदत्तः' इत्यादि प्रयोगों में न देवदत्त का विधि/निषेध शक्य है न कुण्डल का, क्योंकि दोनों ही अन्य स्थान में यदि सत् हैं तो उनका निषेध निरर्थक है... इत्यादि - उसको सही माना जाय तब तो यह विपदा होगी कि निषेधार्थक नञ्-पद का अर्थ ही विलुप्त हो जायेगा । कारण, संयोग का प्रतिषेध मानने के पक्ष में भी वे कल्पित दूषण तदवस्थ हैं - यदि संयोग कहीं भी विद्यमान है तो उस का निषेध कर नहीं सकते और यदि कहीं भी विद्यमान नहीं है तो उस का निषेध व्यर्थ है ।

यह जो कहा है कि, संयोग की महत्ता नहीं मानेंगे तो भू-जल-बीजादि अविशिष्टरूप से सर्वदा विद्यमान होने से सर्व काल में अङ्कुरादि कार्यनिष्पत्ति होती रहेगी - वह अयुक्त इस लिये है कि बीजादि उस काल में अविशिष्ट होते हैं यह बात असिद्ध है, क्योंकि बौद्धमत में भावमात्र प्रतिक्षण विनाशी होता है अतः असंयुक्तदशा में अजनक होने पर भी जिस क्षण में वे विशिष्ट संयुक्तस्वरूप उत्पन्न होते हैं तब वे कार्य के जनक होते

अथ संयोगाख्यपदार्थान्तरसापेक्षत्वं तेषां साध्यते तदा तथाविधेन धर्मेण हेतोरन्वयाऽसिद्धेर-
नैकान्तिकता, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलताप्रसक्तिः । अथ अवस्थान्तरविशेषापेक्षा बीजादयः स्वका-
र्योत्पत्तिहेतवो न पुनरर्थान्तरभूतसंयोगापेक्षा इति कुतः सिद्धं येन सापेक्षत्वमात्रे साध्ये सामान्येन
सिद्धसाध्यतादोष उद्भाव्यते ? यदि हि संयोगमात्रसापेक्षा एव ते तदारम्भकास्तदा प्रथमोपनिपात एव
अंकुरादिकार्यप्रसवो बीजादिभ्यो भवेत् पश्चाद् अविकलकारणत्वात् । अथ प्रथमोपनिपाते न तदुदयः
पश्चादपि न स्यात् पूर्ववद् विकलकारणत्वाऽविशिष्टत्वात् । न च बीजादेः संयोगेऽनुपकारिणि अपेक्षा
युक्ता अतिप्रसङ्गात् । न च तत्कारणानां क्षिति-बीजादीनामेकस्वभावतया नित्यसंनिहितत्वात् संयोगानां
कादाचित्कत्वं युक्तम् । अथ क्षित्यादीनां संयोगेऽपि जन्ये कर्मादिसापेक्षत्वात् संयोगस्य कादाचित्क-
त्वम्, न, तत्रापि तुल्यपर्यनुयोगत्वात् । तथाहि — कर्मापि कस्मात् सर्वदा न जनयति ? इति
पर्यनुयोगस्याऽव्यावृत्तिरेव । न च 'तत्कारणाभावात्' इत्युत्तरं संगतम् नित्यकारणाभ्युपगमे तस्यापि

हैं न कि अविशिष्टावस्था में भी । अतः 'अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिये बीजादि को किसी की अपेक्षा
है' इतना ही अगर आप सिद्ध करना चाहते हैं तब तो सिद्धसाधन दोष खडा है, क्योंकि हम भी मानते हैं
कि अव्यवधानस्वरूप अवस्थाविशेष के सापेक्ष ही बीजादि अंकुरादि कार्य का उत्पादन करते हैं, न कि अप्रसिद्ध
संयोग के सापेक्ष ।

❀ संयोगसाध्यक अनुमान में अनैकान्तिक दोष ❀

यदि यह कहा जाय -- 'चैत्र सकुण्डल है' इत्यादि प्रतीतियों में विशेषप्रत्ययत्व हेतु से हम संयोगसंज्ञकभावसापेक्षत्व
सिद्ध करना चाहते हैं -- तो हेतु में अनैकान्तिकता दोष होगा, क्योंकि तथाविध साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति
सिद्ध नहीं है और व्याप्यत्वसिद्ध हेतु साध्यद्रोही बन जाता है । तथा, दृष्टान्त में भी वैसा साध्य प्रसिद्ध न
होने से दृष्टान्तासिद्धि दोष भी लगेगा ।

प्रश्न :- आपने अंकुरादि कार्योत्पत्ति के लिये बीजादि को अर्थान्तरभूत संयोग की नहीं किन्तु विशिष्टावस्था
की अपेक्षा होती है यह किस प्रमाण से सिद्ध कर दिखाया है जिस से यह गर्जना करते हो कि सामान्यतः
'यत्किंचित्सापेक्षता' ही सिद्ध करने में सिद्धसाधन दोष होगा ?

उत्तर :- संयोगसापेक्षता मानने में यह विपदा होगी कि बीजादि को अपने कार्य के उत्पादन में सिर्फ
संयोग की ही अपेक्षा रहती हो तब तो भू-जल-बीज का आपस में संयोग हो जाने पर त्वरित अंकुरादि कार्योत्पत्ति
हो जानी चाहिये, जैसे कुछ समय बाद सम्पूर्ण कारण सामग्री से होता है वैसे उस वक्त भी संयोग हो जाने
पर तो आप के मत में सामग्री सम्पूर्ण हो जाने से त्वरित अंकुर जन्म हो जाना चाहिये, किन्तु नहीं होता ।
अतः हमारा वह निर्णय ठीक है कि संयोग की नहीं किन्तु कार्याव्यवहितपूर्वक्षण में जैसी विशिष्टावस्था प्राप्त
होती है उसी की अपेक्षा होती है, उस के विरह से ही भू-जल-बीज संयोग होने पर भी पहले कार्य नहीं
होता था । जब संयोग का प्रथम आगमन होने पर भी कार्य नहीं होता तो उस का मतलब यह हुआ कि
कारणसामग्री में कुछ वैकल्य जरूर है, अतः उस वैकल्य के रहते हुए संयोग के होने पर भी भावि में कार्य
होने की आशा नहीं की जा सकती । संयोग से यदि बीजादि का कोई उपकार नहीं होता तो अनुपकारी
संयोग की कार्योत्पत्ति में अपेक्षा मानना गलत है, क्योंकि तब तो अनुपकारिभूत सारे विश्व की अपेक्षा मानने
का अतिप्रसंग हो सकता है ।

दूसरी बात यह है कि क्षिति-बीजादि को आप क्षणिक नहीं मानते किन्तु अनेकपलस्थायी अथवा नित्य

नित्यभावः इति पर्यनुयोगस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् । क्षणिकवादिनस्तु नायं दोषः पूर्वपूर्वहेतुप्रतिबद्धत्वात् तदुत्तरोत्तरकार्याणां युगपत् कारणवैकल्येन सर्वेषामसन्निधानात्, अतः परेषामङ्कुरादिकार्यहेतुत्वं बीजादीनां (न ?) सर्वदा प्रसज्यत इति नार्थान्तरसंयोगसापेक्षास्त इति व्यवस्थितम् ।

संयोगसद्भावबाधकं च प्रमाणं प्रत्यक्षवद् अनुमानमपि विद्यत एव । तथाहि - या संयुक्ताकारा बुद्धिः सा भवत्परिकल्पितसंयोगानास्पदवस्तुविशेषमात्रप्रभवा, 'संयुक्तौ प्रासादौ' इति बुद्धिवत्, संयुक्ताकारा च 'चैत्रः कुण्डली' इत्यादिबुद्धिः, इति स्वभावहेतुः । यद्वा याऽनेकवस्तुसंनिपाते सति समुत्पद्यते सा भवत्परिकल्पितसंयोगविकलानेकवस्तुविशेषमात्रभाविनी यथा विरलावस्थितानेकतन्तुविषया बुद्धिः, तथा च विमत्यधिकरणभावापन्ना संयुक्तबुद्धिः - इति स्वभावहेतुः । एतदेव प्रयोगद्वयं विभाग-

मानते हैं, एवं उन को एकस्वभावयुक्त ही मानते हैं क्योंकि स्वभावभेद मानने पर क्षणिकवाद प्रसक्त होता है । इस स्थिति में अगर उन का संयोगिस्वभाव मानेंगे तो उस के नित्य संनिहित होने से संयोग भी नित्य ही होगा न कि अल्पकालीन । तब उस के बिना कार्य की अनुत्पत्ति दिखाना भी ठीक नहीं है । यदि कहें कि - 'क्षिति-बीजादि को संयोग निपजाने के लिये क्रिया की अपेक्षा होती है, क्रिया कदाचित् होती है अतः तज्जन्य संयोग कादाचित्क होता है' - तो यह भी ठीक नहीं है, जो संयोग के लिये प्रश्न था वही अब बीजादि की क्रिया के लिये होगा, बीजादि स्थायि और एकस्वभाव यानी सक्रियस्वभाव वाले होने पर क्रिया कैसे कादाचित्क हो सकती है ? उस का भी उत्पाद सतत क्यों चालु नहीं रहता ? इस प्रश्न का निराकरण शक्य नहीं है । 'क्रिया के कारण सतत न होने से सतत क्रियोत्पत्ति नहीं होती' ऐसा उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि नित्यवादी जब कारणों को नित्य मानते हैं तब क्रियोत्पत्ति का भी नित्यभाव क्यों नहीं होता ? यह प्रश्न तदवस्थ ही रहेगा । क्षणिकवादी को तो ऐसी कोई समस्या ही नहीं है, क्योंकि उत्तर-उत्तरक्षण के कार्यों का जन्म पूर्व-पूर्व कारणक्षण परम्परा पर निर्भर होता है, एक साथ सर्व कारणों का संमिलन नहीं होता, अतः कारणवैकल्य होने पर सर्व कार्यों का एक साथ आगमन भी नहीं होता । यही कारण है कि नित्यवादी के मत में बीजादि में सर्वकाल अङ्कुरादिकार्यकारित्व का आपादन प्रसक्त हो सकता है, क्षणिकवाद में वह नहीं होता, अतः सिद्ध हो जाता है कि बीजादि को अर्थान्तरभूत संयोग की अपेक्षा नहीं होती ।

✽ संयोगसिद्धि में बाधक प्रमाण ✽

प्रत्यक्ष की तरह अनुमान भी संयोग की सत्ता में बाधक प्रमाण मौजूद है । देख लीजिये - जो 'संयुक्त' आकार की बुद्धि होती है वह प्रतिवादिकल्पित संयोग के अनाश्रयभूत वस्तुविशेष मात्र से उत्पन्न होती है, जैसे 'ये दो महल संयुक्त है' ऐसी बुद्धि । 'चैत्र सकुण्डल है' यह बुद्धि भी 'संयुक्त' आकारावगाही होती है । यह स्वभावहेतुक अनुमान है । महल तो गुणात्मक पदार्थ है, उस में संयोगात्मक गुण के न रहते हुए भी 'संयुक्त' बुद्धि होती है, वैसे अन्यत्र भी बिना संयोग के ही 'संयुक्त' बुद्धि हो सकती है, यहाँ संयुक्ताकारबुद्धिस्वभाव ही हेतु है ।

अथवा यह दूसरा स्वभावहेतुक अनुमानप्रयोग है - जो बुद्धि अनेक वस्तुओं के मिलने पर उत्पन्न होती है वह प्रतिवादीकल्पित संयोग के बिना ही सिर्फ अनेक वस्तुविशेष मात्रमूलक होती है जैसे छूटे छूटे बिखरे हुए (यानी अल्प-अतिअल्प अन्तर रख कर बिखरे हुए) तन्तु को विषय करनेवाली बुद्धि, विवादास्पद 'चैत्र सकुण्डल है' यह बुद्धि भी अनेक वस्तु के मिलने पर होती है अतः वह भी बिना संयोग के, अनेक वस्तुविशेष मात्रमूलक हो सकती है । यहाँ छूटे छूटे बिखरे हुए तन्तुओं को देख कर भी 'संयुक्त' या 'मिलित' ऐसी

प्रतिषेधेऽपि वाच्यम् । तथाहि — मेषादिषु विभक्तबुद्धिः विभागरहितपदार्थमात्रनिबन्धना विभक्तबुद्धित्वाद् अनेकपदार्थाऽसन्निधानायत्तोदयत्वाद् वा, देवदत्त-यज्ञदत्तगृहविभागबुद्धिवत् हिमवत्-विन्ध्यविभागबुद्धिवद् वा । साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकं प्रमाणम् एकस्यानेकवृत्त्यनुपपत्तिः, इति न संयोग-विभागगुणद्वयसद्भावः ।

‘इदं परम् — इदमपरम्’ इति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतस्तद्यथाक्रमं परत्वमपरत्वञ्च सिद्धम् । प्रयोगश्चात्र योऽयं ‘परम्-अपरम्’ इति च प्रत्ययः स घटादिव्यतिरिक्तार्थान्तरनिबन्धनः, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, सुखादिप्रत्ययवत् । तथाहि — एकस्यां दिशि स्थितयोः ‘परम्’ ‘अपरम्’ इति च प्रत्ययोत्पत्तेर्न तावदयं दिग्निबन्धनः, एकस्मिन्नपि वर्तमानकाले वर्तमानयोर्युव-स्थविरयोरनियतदिग्देश-संयुक्तयोः ‘परम्’ ‘अपरम्’ इति च प्रत्ययोत्पत्तेर्नाप्ययं कालनिबन्धनः तदविशेषेऽपि प्रत्ययविशेषात् । न चान्यदस्य निबन्धनमभिधातुं शक्यम् तस्माद् यन्निबन्धनोऽयं प्रत्ययः तत् परत्वम् अपरत्वञ्चाभ्यु-

बुद्धि होती है, संयोग तो यहाँ निमित्त नहीं है किन्तु परस्पर निकटवर्ती अनेक वस्तु ही उस में निमित्त हैं । वैसे ही अव्यवहित चैत्र और कुण्डल को देख कर संयोगनिरपेक्ष ‘चैत्र सकुण्डल है’ ऐसी बुद्धि हो सकती है ।

✽ विभागसिद्धि में बाधक प्रमाण ✽

संयोग की तरह विभाग के लिये भी वैसे ही दो अनुमान प्रयोगों का बाधक प्रमाण के रूप में विन्यास हो सकता है । जैसे देखिये — भेड़ों आदि में ‘विभक्त’ ऐसी बुद्धि विभागनिरपेक्ष वस्तुमात्रमूलक होती है, क्योंकि वह ‘विभक्त’बुद्धि है । अथवा, क्योंकि वह अनेक पदार्थों के अमिलन के आधार पर उदित होती है । उदा० अमिलित देवदत्तगृह और यज्ञदत्तगृह में होने वाली विभागबुद्धि अथवा हिमाचल-विन्ध्याचल में होने वाली विभागबुद्धि । गृह तो गुणात्मक होने से उन में विभागात्मक गुण रह नहीं सकता, अतः वहाँ विभाग निरपेक्ष अमिलित गृहद्वय को ही विभक्त बुद्धि का निमित्त मानना होगा । पहाड़ भी स्वतन्त्र अवयवी नहीं है किन्तु अनेक अवयवीयों का मिलन (यानी न्यायमत में संयोग) रूप होने से उस में भी विभाग गुण होने की सम्भावना नहीं रहती । यदि कहें कि दो भेड़ों में विभक्तबुद्धि विभागगुणमूलक ही माने तो क्या बाधक है — तो इस विपरीतशंका में बाधक यह है कि एक विभाग गुण को अनेक में आश्रित मानना पड़ेगा, किन्तु एक की अनेक में वृत्ति घटित नहीं होती यह बाधक पहले ही अवयवितरसनप्रकरण में कह आये हैं । निष्कर्ष — संयोग और विभाग ये कोई स्वतन्त्र सत्ताधारी गुण नहीं है ।

✽ परत्व-अपरत्व के साधन का प्रयास ✽

न्याय-वैशेषिकवादी परत्व-अपरत्व स्वतन्त्र गुणयुगल की सिद्धि के लिये प्रयास करते हैं — ‘यह पर है और यह अपर है’ ऐसी बुद्धि होती है, अर्थात् यह इस सीमा पर है और वह उस सीमा पर है अथवा ‘यह पहला है और वह बाद में हुआ’ इस प्रकार प्रतीति भी होती है और शब्दव्यवहार भी किया जाता है, इस से क्रमशः परत्व और अपरत्व ये दो गुण सिद्ध होते हैं । प्रयोग इस प्रकार है — ‘यह पर और वह अपर’ इस ढंग की प्रतीति घटादि से अतिरिक्त अर्थान्तरभूत वस्तु के निमित्त से होती है, क्योंकि घटादि की प्रतीति से यह प्रतीति विलक्षण होती है, जैसे सुखादि की प्रतीति घटादि से अतिरिक्त सुखादि के निमित्त से होती है । स्पष्टीकरण :- एक ही दिशा में रहे हुए दो पदार्थ को देख कर ‘यह पर है — वह अपर है’ ऐसा भान होता है, दिशाभेद न होने पर भी होता है अतः वह दिशामूलक नहीं हो सकता । तथा, एक ही वर्तमानकाल में रहे हुए अनियत दिशाभाग में रहे हुए युवान और बुजुर्ग पुरुष को देख कर ‘यह पर है वह अपर है’ ऐसा भान होता है,

पगन्तव्यम् ।

एतच्च द्वितयमपि दिक्कृतम् कालकृतं च । दिक्कृतस्य तावदियमुत्पत्तिः कस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरेकस्य द्रष्टुः संनिकृष्टमवधिं कृत्वा 'एतस्माद् विप्रकृष्टोऽयम्' इति परत्वाधारे बुद्धिरुत्पद्यते ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन योगात् परत्वमुत्पद्यते । विप्रकृष्टं वाऽवधिं कृत्वा 'एतस्मात् संनिकृष्टोऽयम्' इत्यपरत्वाधारे बुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्षा(?क्ष्या)परेण दिक्प्रदेशेन योगादपरत्वस्योत्पत्तिः । कालकृतयोस्त्वयमुत्पत्तिक्रमः, तथाहि — वर्त्तमानकालयोः अनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युव-स्थविरयोर्मध्ये यस्य वली-पलित-रूढश्मश्रुताऽऽदिनानुमितादित्योदयानां भूयस्त्वम् तत्रैकस्य द्रष्टुर्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते, तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेन योगात् परत्वस्योत्पत्तिः । स्थविरं चावधिं कृत्वा यस्याऽरूढश्मश्रुतादिनानुमितमादित्योदयाऽस्तमयानामल्पत्वम् तत्र यूनि संनिकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते, तामपेक्ष्यापरेण कालप्रदेशेन योगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति ।

अत्र च परत्वसाधनमनैकान्तिकम् साध्यविपक्षेऽपि हेतोर्वृत्तेः । तथाहि — यथा क्रमेणोत्पादाद् नीलादिषु कालोपाधिः क्रमेण च व्यवस्थानाद् दिगुपाधिश्च 'परं नीलमपरं च' इति प्रत्ययोत्पत्तिः

कालभेद न होने पर भी होता है अतः वह कालमात्रमूलक नहीं हो सकता, क्योंकि काल समान होने पर वह कालमात्रमूलक नहीं सकता, क्योंकि काल समान होने पर भी प्रतीति एक को 'पर' रूप में, दूसरे को अपररूप में गृहीत करती है यह विशेषता है । दिक् और काल के अलावा ओर किसी द्रव्य की तो यहाँ सम्भावना ही नहीं है अतः जिस के आधार पर ये प्रतीतियाँ होती हैं वह निमित्त परत्व और अपरत्व से अतिरिक्त नहीं है यह मानना होगा ।

✽ परत्वःअपरत्व के उत्पाद की प्रक्रिया ✽

परत्व-अपरत्व का युगल दैशिक और कालिक से दो प्रकार का है — दैशिक का उत्पत्तिप्रकार इस तरह है — एक दिशा में जब कोई दृष्टा दो पिण्डों को देखता है तब जो निकटवर्ती पिण्ड है उस को अवधि समझ कर 'वह इस से दूर है' इस प्रकार की परत्व के आधारभूत पिण्ड के बारे में बुद्धि करता है, उस अपेक्षाबुद्धि से पर दिशाभाग के योग से दूरस्थ पिण्ड में परत्व उत्पन्न होता है । अथवा, दूरस्थ को अवधि कर के 'यह उस से निकट है' ऐसी अपरत्वाधारभूत पिण्ड के बारे में बुद्धि उत्पन्न होती है तब उस अपेक्षाबुद्धि से अपर दिशाभाग के योग से उस पिण्ड में अपरत्व उत्पन्न होता है ।

कालिक परत्वापरत्व का उत्पत्तिक्रम इस प्रकार समझिये — वर्त्तमान काल में अनियत दिशाभाग में रहे हुए युवान और स्थविर जब दृष्टिगोचर रहते हैं तब उन में से जिस पुरुष के शरीर में पडी हुई झुर्री और पके हुए बाल को देख कर उस के साथ अनेक सूर्योदयों के सम्बन्ध की अनुमान से जानकारी प्राप्त होती है तब उस एक दृष्टा को युवान की अपेक्षा उस पुरुष में वृद्धत्व की विप्रकर्षावगाही बुद्धि उत्पन्न होती है; उस बुद्धि के जरिये 'पर' कालविभाग योग से उस वृद्ध पुरुष में परत्व का जन्म होता है । जब वह दृष्टा वृद्ध को अवधि कर के दूसरे को देखता है कि इस को अब तक कोई दाढी-मूछ भी नहीं आये हैं तब अनुमान से समझ जाते हैं कि उस वृद्ध की अपेक्षा इसने कम सूर्योदय देखे हैं, अतः उस के बारे में संनिकृष्टता की यानी कम उम्र की बुद्धि का उदय होता है, उस बुद्धि के जरिये जो अपर कालविभाग है उस के योग से उस जवान में 'अपरत्व' की उत्पत्ति होती है ।

असत्यपि परत्वापरत्वलक्षणे गुणे, गुणानां निर्गुणत्वात्, तथा पटादिष्वपि भविष्यतीति यद्यर्थान्तरनिमित्तत्वमात्रं परेणेह साध्यितुमिष्टं तदा कथं नानैकान्तिकता हेतोः ? अथ नित्यदिक्-कालपदार्थहेतुकगुणविशेषनिबन्धनत्वं प्रकृतप्रत्ययस्य तदा दृष्टान्ताभावोऽनुमानबाधा च प्रतिज्ञायाः । तथाहि यः पराऽपरादिप्रत्ययः स परपरिकल्पितगुणरहितार्थमात्रकृतक्रमोत्पादव्यवस्थानिबन्धनः, परापरप्रत्ययत्वात् रूपादिषु परापरप्रत्ययवत्, परापरप्रत्ययश्चायं घटादिषु इति स्वभावहेतुः ।

न च नीलादिकेषु एकार्थसमवायाद् उपचरितोऽयं परापरत्वादिप्रत्ययः इति अनैकान्तिकता भवत्प्रयुक्तस्यापि हेतोः, पारम्पर्येण च नीलादिष्वपि परत्वादेर्निमित्तभावोपगमात् साध्यविकलता च दृष्टान्तस्येति वक्तव्यम् अस्खलद्वृत्तित्वेनास्योपचरितत्वाभावात् । स्वाश्रयेऽपि च तयोरुपलब्ध्यभावाद् न तद्वलेन प्रत्ययो युक्तः इति कुतो रूपादिषु तन्निबन्धनो भविष्यति ? सुखादिषु वा पूर्वोत्तरकाल-

✽ परत्व-अपरत्व साधक हेतु सदोष ✽

न्याय-वैशेषिक के विपक्षियों का कहना है कि परत्व की सिद्धि के लिये प्रयोजित हेतु साध्यद्रोही है क्योंकि वह साध्य के विपक्ष में भी जा बैठा है । देखिये - पाक से जब घटादि में रक्तनाश हो कर नीलोत्पत्ति होती है तब वहाँ 'नील पर है और रक्तरूप अपर है' ऐसे कालिक परापरभाव का बोध होता है, ऐसे ही अवयवी के एक भाग में नील और अन्य भाग में रक्तरूप होने पर 'नील पर है और रक्त अपर है' ऐसा दैशिक परापर भाव का बोध होता है । वास्तव में नील-रक्त गुणात्मक होने से उन में गुणरूप परत्व-अपरत्व स्वरूप साध्य नहीं है, क्योंकि गुण में गुण नहीं रहता, फिर भी प्रत्ययविशेषरूप हेतु रह जाता है अतः हेतु साध्यद्रोही सिद्ध हो गया । जब परत्व और अपरत्व के विना नील-रक्त में परापरभाव की विशेष प्रतीति हो सकती है तब वखादि में भी उन के विना हो सकती है । अतः यदि उक्त प्रयोग से प्रतिपक्षी को अर्थान्तरमूलकत्व ही सिद्ध करना है (जिस के वहाँ न होने पर भी प्रतीति बन सकती है) तो हेतु क्यों साध्यद्रोही न गिना जाय ? यदि उक्त प्रतीति में निमित्तभूत ऐसा गुणविशेष सिद्ध करना अभीष्ट है जो नित्य दिशा और कालपदार्थ से जन्म लेता है, तो वैसा साध्य अप्रसिद्ध होने से दृष्टान्तविरह दोष होगा और उक्त प्रयोग में अन्य अनुमान से बाधा भी पहुँचेगी । कैसे यह देखिये - प्रतिअनुमान प्रयोग :- परापरभावप्रतीति प्रतिवादिकल्पितगुणनिरपेक्ष अर्थमात्रप्रेरित क्रमशः उत्पाद-स्थिति के निमित्त से होने वाली है, क्योंकि वह परापरप्रतीतिस्वरूप है, उदा० रूपादि में होने वाली परापरभावप्रतीति । घट आदि में भी यह प्रतीति परापरभावप्रतीतिस्वरूप है अतः प्रतिवादिकल्पित परत्वादिनिरपेक्ष ही होनी चाहिये । यह स्वभावहेतु प्रति-अनुमान पूर्वपक्षी की अनुमानप्रतिज्ञा का बाधक है ।

✽ नीलादिगुणों में परत्वादिप्रतीति औपचारिक नहीं ✽

परत्ववादी :- परत्वादि और नीलादिरूप, एक ही वस्त्रादि अर्थ में समवाय से वास करते हैं अतः औपचारिकरूप से नीलादि रूप में एकार्थसमवाय से परत्वादि की प्रतीति होती है । अतः आप के प्रयोग में 'प्रतिवादिकल्पितगुणनिरपेक्ष' यह अंश बाधित हो जाने से आप का प्रयोजित हेतु अनैकान्तिक यानी साध्यद्रोही बन जाता है । तथा आपने जो नीलरूपादि प्रतीति का दृष्टान्त दिया है उस में भी परम्परया परत्वादि का निमित्तभाव अक्षुण्ण है अतः परत्वादिनिरपेक्षतारूप साध्य उस में न होने का दोष प्रसक्त है ।

उत्तर :- नीलादि में जो परापरभाव की प्रतीति को आप औपचारिक दिखा रहे हैं वह गलत है क्योंकि वह प्रतीति किसी बाधज्ञान से स्खलित नहीं होती । दूसरी बात, नीलादि के आश्रय में भी समवाय से परत्वादि

भाविषु किंनिबन्धनोऽयं भवेत् ? न चैवं तत्रैकार्थसमवायादेस्तन्निबन्धनस्याभावात् । किञ्च, दिक्-कालयोः पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वात् तद्धेतुकयोः परत्वाऽपरत्वयोरभाव इति कुतस्तन्निमित्तत्वाऽऽशङ्का येन हेतोरनैकान्तिकता स्यात् ? न च परमार्थतो दिक्कालयोः प्रदेशाः सन्ति यतस्तत्संयोगादपेक्षा-बुद्धिसहितादुत्पत्तिस्तयोर्भवेत्, दिक्-कालयोरेकात्मकत्वेन निरवयवत्वाद् । न चार्थक्रियानिबन्धन उपचरितोऽवयवभेदो युक्तः अर्थक्रियाया वस्तुस्वभावप्रतिबद्धत्वात् उपचारस्य चाऽपारमार्थिकत्वात् । तत् कुतः अनैकान्तिकता प्रकृतहेतोः ? असिद्धता च परोपन्यस्तहेतोः पूर्ववद् वाच्या ।

“न संख्यादयो गुणा द्रव्याद् अव्यतिरेकिणः, तेषां तद्रव्यवच्छेदहेतुत्वात् । यो हि यद्रव्यवच्छेदको नासौ तद्रव्यतिरेकी, देवदत्तव्यवच्छेदकदण्डादिवत् । तथा च संख्यादयो द्रव्यव्यवच्छेदकाः तस्माद् न तद्रव्यतिरेकिणः” इत्यत्र प्रयोगे यदि द्रव्याद् अव्यतिरेकत्वनिषेधमात्रं साध्यं तदा सिद्धसाध्यता सर्वसंवृतिमतामवस्तुतया तत्त्वाऽन्यत्ववाच्यत्वेनाऽनिष्टेः । अथ ‘समूह-सन्तानादयः तत्त्वान्यत्वाभ्यामवचनीया न भवन्ति, प्रतिनियतधर्मयोगित्वात् रूपादिवत्’; अत्रापि यदि पारमार्थिकनियकी स्वतन्त्रोपलब्धि न होने से आश्रय में भी परत्वादि के निमित्त से परापरभाव प्रतीति शक्य नहीं है तब परम्परया उस के निमित्त से नीलादि में गौण प्रतीति मानना कैसे युक्त होगा ?

✽ प्रतिवादिकल्पितपरत्वादिनिरपेक्ष साध्य निर्बाध है ✽

तथा आत्मा में तो आप के मत से भी परत्वापरत्व नहीं है, तो आत्मगत सुखादिगुणों में परत्वादि की गौण प्रतीति किस निमित्त से होगी ? वहाँ तो एकार्थसमवाय से भी परापरप्रतीति का निमित्त परत्वादि विद्यमान नहीं है । दूसरी बात, आप के माने हुए दिशा और काल द्रव्य का तो पहले ही हम निषेध कर चुके हैं, अतः उन के समवेत कार्यभूत परत्व-अपरत्व भी सिद्ध नहीं है, इस स्थिति में वे परापर-भावप्रतीति के निमित्त होने की आशंका भी किस को उठेगी ? अब बताइये कि ‘प्रतिवादिकल्पित परत्वादिनिरपेक्ष’ यह हमारा साध्य कैसे बाधित है और हमारे प्रयोग में स्वभावहेतु भी कैसे साध्यद्रोही होगा ? वास्तव में तो आप के मत में निरवयव होने से दिशा और कालद्रव्य में कोई विभाग ही जब नहीं है तब उन के योग से अपेक्षाबुद्धि के सहकार से परत्वादि के उत्पाद की कथा ही कैसे बन पायेगी ?

यदि ऐसा कहें कि - ‘यद्यपि दिशा और काल अखंड एक-एक द्रव्यरूप होने से निरवयव हैं, फिर भी परत्वादिजन्मानुकुल अर्थक्रिया उन से होती हैं, अतः उस अर्थक्रियाजन्म के लिये औपचारिक यानी काल्पनिक अवयवभेद भी मान लेंगे’ - तो यह भी गलत है, क्योंकि अर्थक्रिया ठोस वस्तुस्वभाव पर निर्भर होती है न कि अवास्तविक वस्तु पर, जो औपचारिक है वह तो अवास्तविक होता है । इस स्थिति में प्रतिवादिकल्पितपरत्वादिनिरपेक्षतासाधक हेतु कैसे साध्यद्रोही हो सकता है ? पहले जैसे संयोग-विभागादि साधक हेतु में असिद्धि का उद्भावन कर दिखाया है वैसे यहाँ भी परत्वादिसाधक हेतु में असिद्धि दोष का आपादन कहा जा सकता है ॥

✽ संख्यादिगुण द्रव्य से सर्वथा व्यतिरिक्त नहीं है ✽

संख्यादि गुण द्रव्य से अव्यतिरिक्त नहीं हैं - यह सिद्ध करने के लिये किसीने यह प्रयोग किया है - संख्यादि गुण द्रव्य से अव्यतिरेकी नहीं है, क्योंकि संख्यादि तो द्रव्यों के व्यवच्छेदक (संख्यादि शुन्य वस्तु से भिन्नता-ज्ञापक) हैं । जो जिस का व्यवच्छेदक होता है वह उस से व्यतिरेकी नहीं होता । उदा० दण्ड, देवदत्त को अदण्डी लोगों से भिन्न प्रसिद्ध करता है और वह देवदत्त से अव्यतिरेकी नहीं होता । संख्यादि भी द्रव्यों

तधर्मत्वं हेतुत्वेनेष्टं तदाऽसिद्धो हेतुः । न हि सन्तानादीनां पारमार्थिकनियतधर्मयोगित्वं सौगतं प्रति सिद्धम् । अथ सामान्येन हेतुस्तदा शशशृङ्गादावपि कल्पितनियतधर्मयोगित्वस्याभावत्वाऽमूर्त्तत्वादेः सद्भावादनैकान्तिकः । अथ न द्रव्यादव्यतिरेकप्रतिषेधमात्रं साध्यम् किं तर्हि ? द्रव्यव्यतिरेकित्वम् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः । असदेतत्, संख्यादेर्द्रव्याद् व्यतिरेकेणानुपलम्भादभावतो हेतोरश्रयासिद्धत्वप्रसक्तेः । न च द्रव्यात्मकत्वेन प्रतीयमानस्यापि संख्यादेर्भेदः साध्यितुं शक्यः, तदात्मनस्ततो भेदे तस्य निःस्वभावताप्रसक्तेः । तन्न संख्यादयः परत्वाऽपरत्वपर्यन्ता द्रव्याद् व्यतिरेकिणः कुतश्चित् प्रमाणादवसीयन्ते इति न तथा ते सद्व्यवहारविषयाः ।

ये च बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ता आत्मसमवेतत्वेन तद्गुणा अभ्युपगताः ते तथाभूतात्मनिषेधादेव प्रतिषिद्धाः । तथाहि — आत्मा एषामुत्पत्तिकारणत्वेन वाऽऽश्रयोऽभ्युपगम्येत, स्थितिनिमित्ततया वा ? न तावदाद्यः पक्षः, अविकलकारणतया बुद्ध्यादेः सर्वदैव सर्वस्योत्पत्तिप्रसक्तेः अनाधेयातिशयस्य सह-

के व्यवच्छेदक हैं अतः वे द्रव्यों से अव्यतिरेकी नहीं होते । — इस प्रयोग में यदि संख्यादि में सिर्फ अव्यतिरेकित्व का निषेध ही सिद्ध करना अभिप्रेत हो तब तो सिद्धसाधन दोष ही होगा, क्योंकि बौद्धवादी तो इन सभी पदार्थों को काल्पनिक ही मानता है । काल्पनिक पदार्थ वस्तुभूत न होने से वह किसी से अभिन्न है या भिन्न — ऐसे विकल्पों का विषय बने यह इष्ट नहीं है, अतः अव्यतिरेकित्वविकल्प का निषेध उचित ही है ।

यदि यह कहा जाय — समूह अथवा सन्तानादि (बौद्धाभिमत काल्पनिक पदार्थ) अभिन्न/भिन्न विकल्पों का अविषय नहीं होता क्योंकि वे प्रतिनियत भेदादिधर्म से अलंकृत होते हैं जैसे रूप-रसादि । अतः अव्यतिरेकित्व के विकल्प का निषेध संख्यादि की काल्पनिकता से प्रयुक्त नहीं हो सकता । — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिनियतधर्मयोगित्व हेतु का यदि यह मतलब हो कि वास्तविक नियतधर्मयोगित्व, तो हेतु में असिद्धि दोष होगा, क्योंकि तथागत मत में सन्तानादि में पारमार्थिकधर्मसहितत्व असिद्ध है । यदि सामान्यतः प्रतिनियतधर्मसहितत्व को हेतु किया जाय तब तो अभावत्व-अमूर्त्तत्वादि कल्पित नियत धर्मों का योग शशसींग आदि में भी रह जाता है किन्तु वहाँ साध्य 'अभिन्न/भिन्न विकल्पों के अविषयत्व का अभाव' नहीं है अतः हेतु साध्यद्रोही हो बैठेगा।

यदि कहें कि — पूर्वोक्त प्रयोग में द्रव्य से अव्यतिरेक का निषेधमात्र साध्य नहीं है । तो क्या साध्य है ? इस का उत्तर यह है कि दो निषेध प्रकृत अर्थ का विधायक होता है अतः यहाँ भी अव्यतिरेक के निषेध से व्यतिरेकित्व की सिद्धि अभिप्रेत है । — तो यह कथन गलत है, क्योंकि संख्यादि कभी भी द्रव्य से भिन्नरूप में उपलब्ध नहीं होते अतः उस का अभाव फलित होने से हेतु में आश्रयासिद्धि दोष प्रवेश करेगा । संख्यादि द्रव्यात्मक ही होने का प्रतीत होता है अतः उन का द्रव्य से भेद का साधन शक्य नहीं है । यदि द्रव्यात्मक संख्या का द्रव्य से भेद होगा तो संख्यादि शशसींग तुल्य स्वभावविहीन हो जाने की विपदा होगी । **निष्कर्ष** :- संख्या से ले कर परत्वापरत्व तक के भाव किसी भी प्रमाण से द्रव्य से भिन्न प्रतीत नहीं होते, अतः वे भिन्न यानी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में 'सत्'व्यवहार के विषय नहीं बन सकते ।

✽ आत्मा में बुद्धि आदि की आश्रयता पर विकल्प ✽

न्याय-वैशेषिक वादियों ने समवाय से आत्मा में रहने वाले बुद्धि से लेकर प्रयत्न तक गुणों का अंगीकार किया है । किन्तु नित्य व्यापक आत्मस्वरूप का निषेध हो चुका है अतः उसके गुणों का भी निषेध हो जाता है । कैसे यह देखिये — आत्मा को इन गुणों का आश्रय उत्पत्तिकारण के रूप में मानेंगे या स्थिति के निमित्तरूप में ? प्रथम विकल्प नहीं बैठेगा, क्योंकि नित्य आत्मस्वरूप अविकल कारण के रहते हुए सभी आत्मा में सर्वदा

कार्यपेक्षाऽयोगात् । न च क्रम-यौगपद्यव्याप्तकार्योत्पादनसामर्थ्यस्य नित्ये सम्भवः तत्र क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्य प्रतिपादितत्वात् । न च द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तः, स्थितेः स्थातुरव्य-तिरेकात् तस्य तद्धेतुत्वे स्थातृहेतुत्वमेव स्यात्, तच्च प्राक्तनन्यायेनाऽसंगतम् । न च परिनिष्ठितात्म-रूपत्वात् स्थातुः कश्चिद्धेतुः सम्भवी, तत्र तस्याकिञ्चित्करत्वात् । व्यतिरेकेऽपि स्थितेः स्थातुर्न तेन किञ्चित् कृतं स्यात् स्थितेरर्थान्तरभूतायाः करणात् । एवं चाकिञ्चित्करः कथमाश्रयो बुद्ध्यादेरसौ भवेत् ? न च स्थितेस्तत्सम्बन्धितया करणात् तस्याऽसावुपकारकत्वादाश्रयः, तस्यास्तत्सम्बन्धित्वासिद्धेः, भिन्नायास्तदुपकाराभावे सम्बन्धाऽयोगात्, तत उपकारकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः, समवायसम्बन्धस्य चाऽसिद्धेः । न च तस्य स्थितिं प्रति हेतुत्वमपि युक्तम् नित्यस्य क्वचिदपि सामर्थ्याऽयोगात् ।

किञ्च, स्थाप्यमानो बुद्ध्यादिः ^aस्थितिस्वभावो वा तेन स्थाप्येत ^bअस्थितिस्वभावो वा ? यदि ^bअस्थितिस्वभावः नासौ केनचित् स्थापयितुं शक्यः तत्स्वभावाऽव्यतिक्रमात् । अथ ^aस्थितिस्वभावः, तदा तत्स्वभावस्य स्वयमेव तत्स्वभावतया तस्य स्थितिसिद्धेः किमकिञ्चित्करस्थापककल्पनया ? अथ स्थातुः पाताभावं कुर्वन् स्थापको नाकिञ्चित्करः । न, पाताभावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे कार-

ही बुद्धि आदि गुणों की उत्पत्तिपरम्परा लगातार चलती रहेगी । तब निद्रा आदि का लोप हो जायेगा । सहकारी के विरह से कदाचित् बुद्धि आदि का उद्भव रुक जाने की बात मानी जायी तो उस में तथ्य नहीं है क्योंकि नित्य एवं व्यापक पदार्थ में सहकारी के योग से किसी अतिशय का आधान अशक्य होने से सहकारी की अपेक्षा ही संगत नहीं है । दूसरी बात यह है कि नित्य पदार्थ क्रमशः अथवा एक साथ सभी कार्यों का उत्पादन करने में समर्थ बन सके ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि क्रमशः अथवा एक साथ होने वाली अर्थक्रिया के साथ नित्यत्व का पक्का विरोध है, पहले यह कहा जा चुका है ।

✽ आत्मा में गुणस्थिति का निमित्तभाव असंगत ✽

दूसरा विकल्प-स्थिति के निमित्तरूप में आत्मा को उन गुणों का आश्रय मानना अयुक्त है, क्योंकि स्थाता गुण स्थिति से अतिरिक्त नहीं है अतः स्थिति का निमित्त जो होगा वह स्थाता गुण का भी निमित्त यानी उत्पत्तिहेतु मानना पड़ेगा । किन्तु प्रथम विकल्प में ही कह दिया है कि नित्य आत्मा से गुण की उत्पत्ति संगत नहीं है । दूसरी बात यह है कि स्थाता गुण अगर स्वयं में परिपूर्णरूपवाला है तो उस का उत्पादन ही अशक्य है, क्योंकि परिपूर्ण वस्तु को नया कुछ देने में कोई समर्थ नहीं है । स्थिति यदि गुण से भिन्न है तो स्थिति का निमित्त बनने वाला आत्मा उस गुण का तो कोई उपकार कर नहीं सकता, जो कुछ उपकार करेगा वह तो अर्थान्तरभूत स्थिति का करेगा, तब गुणों को आत्मा के साथ क्या रिश्ता रहेगा ? कुछ नहीं, तब अकिञ्चित्कर आत्मा बुद्धि आदि का आश्रय कैसे हो सकेगा ? यदि कहें कि - 'स्थिति गुणसम्बन्धि है अतः स्थिति का उपकार परम्परया गुण पर होने से आत्मा बुद्धि आदि का आश्रय बन सकेगा' - तो यह बराबर नहीं है, क्योंकि भेद पक्ष में स्थिति गुणसम्बन्धि नहीं है, जो भिन्न है उसके ऊपर विना किसी उपकार के गुण उसका सम्बन्धि बन नहीं सकता, और विना उपकार के सम्बन्ध बैठेगा नहीं । यदि कुछ उपकार होने की कल्पना करेंगे तो उस उपकार को तत्सम्बन्धि होने के लिये और किसी उपकार की कल्पना, फिर उसके लिये भी अन्य उपकार.. ऐसे तो अनवस्था प्रसक्त होगी । समवाय सम्बन्ध को भूल जाईये क्योंकि वह तो सिद्ध ही नहीं है । तथा, कल्पित समवाय नित्य होने से पूर्वोक्त रीति से आत्मा की तरह समवाय भी स्थिति का हेतु नहीं बन सकता । नित्य पदार्थ में परमार्थतः कुछ भी अर्थक्रियासाधक शक्ति नहीं होती ।

कव्यापाराऽविषयत्वात्, पर्युदासरूपत्वेऽपि किमसौ पात एव उत पातादन्यत् पदार्थान्तरम् ? यदि पात एव तदा 'स्थापकः स्थातुः पातं करोति' इति प्राप्तम् तथा च कथमसौ स्थापको भवेत् ? अथ पदार्थान्तरं पातादन्यदसौ करोति । नन्वेवं पदार्थान्तरकरणेऽपि स्थाता पतेदेव पदार्थान्तरोत्पादेऽपि तस्य त्राणाऽसम्भवात् । न च पदार्थान्तरेण स्थापकोत्पादितेन स्थातुः पातप्रतिबन्धः क्रियते इति वक्तव्यम्, तस्यापि पातादन्यत्वे पात एव कृतः स्यात्, अन्यत्वे तेन तत्सम्बन्धाऽसिद्धेस्तत्करणेऽपि स्थातुस्तदवस्थ एव पातो भवेत्; तेनापि अपरपातप्रतिबन्धकरणे तद्भिन्नाभिन्नविकल्पद्वयानतिवृत्तिद्वारेणानवस्थादिप्रसक्तिः । तन्न कश्चित् कस्यचित् स्थापकः ।

किञ्च, भवेन्नाम बदरादेर्मूर्त्तद्रव्यस्याधोगमनप्रतिबन्धकत्वेन कुण्डादिराश्रयः, बुद्ध्यादेस्तु अमूर्त्तस्याधोगत्यभावात् किं कुर्वाणः आत्मादिराश्रयो भवेत् ? अपि, 'नोत्पन्नानां बुद्ध्यादीनां कश्चिदाश्रयः,

✽ स्थिति-अस्थितिस्वभाव की स्थापकता दुर्घट ✽

स्थिति के ऊपर थोडा और विचार करें - स्थापक आत्मा स्थितिस्वभाव बुद्धि आदि की स्थापना करेगा या अस्थितिस्वभाव बुद्धि आदि की ? अस्थितिस्वभाव बुद्धि आदि की स्थापना किसी भी उपाय से शक्य नहीं है, क्योंकि स्वभाव का कभी अन्यथाकरण किसी उपाय से नहीं होता । यदि बुद्धि आदि स्थितिस्वभाव ही है तो बुद्धि आदि स्वयं स्थितिरूप होने से अपने आप बुद्धि आदि स्थितिसम्पन्न बने रहेंगे, फिर उसके लिये कुछ भी न कर सकनेवाले स्थापक आत्मा की फिजुल कल्पना क्यों की जाय ? यदि कहा जाय - 'स्वयंस्थित गुण का पतन(नाश) न होने देना यही स्थापकता है अतः आत्मा अकिञ्चित्कर नहीं है ।' - यह ठीक नहीं है, क्योंकि पतनाभाव सर्वथा पतन का निषेधरूप यानी प्रसज्यप्रतिषेधरूप है, प्रसज्यप्रतिषेध स्वतः सिद्ध होता है, उसके लिये किसी कारक को कुछ कष्ट नहीं उठाना पडता । यदि पतनाभाव पर्युदासप्रतिषेधरूप माना जाय तो सम्भवित दो विकल्प हैं, १ पतनाभाव यानी पतन नहीं किन्तु पतन जैसा ही अन्य पतन, २ अथवा पतन से अन्य कोई पदार्थ । यदि प्रथम अर्थ लिया जाय तो फलित यह होगा कि स्थापक आत्मा पतनस्वरूप पतनाभाव का कारक है । जो पतन ही करानेवाला है उसको स्थापक मान सकते हैं क्या ? यदि दूसरा अर्थ ग्रहण करें, स्थापक आत्मा पात से भिन्न किसी अन्यपदार्थ का कारक है, तो अन्यपदार्थ का कारक भले हो किन्तु यहाँ जो स्थाता गुण है उसके पात को रोकेगा नहीं तो स्थाता गुण का पात होगा, अन्य पदार्थ के उत्पाद से उसका तो रक्षण नहीं होगा, तब वह स्थापक कैसे ? यदि कहा जाय कि स्थापक से उत्पादित अन्य पदार्थ स्थाता गुण के पतन को रोकेगा - तो यहाँ सोचना होगा कि पतनप्रतिबन्ध पतन से भिन्न होगा या अभिन्न ? यदि अभिन्न होगा तब तो प्रतिबन्ध करने का मतलब 'पात करना' ही होगा । यदि भिन्न होगा तो उस प्रतिबन्ध के साथ पात का कोई रिश्ता न होने से प्रतिबन्ध करने पर भी स्थाता का पात तो तदवस्थ ही होगा, रुकेगा नहीं । यदि कहें कि - पहला प्रतिबन्ध दूसरे पातप्रतिबन्ध को उत्पन्न करेगा अतः पात रुक जायेगा - लेकिन दूसरे प्रतिबन्ध के ऊपर भी 'पात से भिन्न-अभिन्न' ये दो विकल्पों का पंजा फैला हुआ है, अभिन्न पक्ष में पातकारकत्व प्रसक्त होगा, भिन्न पक्ष में और एक पातप्रतिबन्ध की कल्पना... फिर एक और पातप्रतिबन्ध... ऐसे तो अनवस्थादि दोष घुस जायेगा । इस पर इतना ही फलित होता है कि कोई किसी का स्थापक नहीं बन सकता ।

✽ बुद्धि आदि गुणों की समीक्षा ✽

दूसरी बात - कुण्डादि बेर आदि मूर्त्तद्रव्य का आश्रय बन सकता है, क्योंकि वह उस की अधोगति को रोकने वाला है । किन्तु बुद्धि अमूर्त्त है, उस की अधोगति होती नहीं तो आत्मा क्या उपकार कर के उस

सतां निराशंसतयाऽऽश्रितत्वानुपपत्तेः । ^bनाप्यनुत्पन्नानाम्, निरूपाख्यतया तेषां तत्त्वाऽयोगात् । किञ्च, “बुद्धिः उपलब्धिः ज्ञानम् इत्यनर्थान्तरम्” (न्यायसूत्र १-१-१५) इति वचनाद् बुद्धेर्ज्ञानरूपता परैरभ्युपगता । न च तस्याः स्वसंविदितत्वमभ्युपगतम् बुद्ध्यन्तरग्राह्यतयाऽभ्युपगमात् । न च तथाभूतायास्तस्या रूपादिवद् बुद्धित्वं युक्तमिति प्राक् प्रतिपादितम् । सुख-दुःखेच्छा-द्वेषादीनां चाज्ञानरूपत्वे रूपादिवन्नात्मविशेषगुणताऽभ्युपगन्तुं युक्ता । ज्ञानरूपत्वे बुद्धेर्भेदेनाभिधानमसंगतमेव, कश्चिद् विशेषमुपादाय ज्ञानात्मकानामपि ततो भेदेनाभिधानेऽभिमानादीनामपि भेदेनाभिधानं कार्यमित्यलमतिजल्पितेन ।

गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेहानां तु रूपादिवद् गुणरूपता प्रतिषेध्या । ‘गुरुत्वं हि पृथिव्युदकवृत्तिपतनक्रियानिबन्धनम् । द्रवत्वं तु पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति स्यन्दनहेतुः पृथिव्यनलयोनैमित्तिकम् अपां सांसिद्धिकम् । स्नेहस्त्वम्भसि एव स्निग्धप्रत्ययहेतुः’ इत्यादिप्रक्रिया पृथिव्यादीनामाधारत्वनिषेधात् तद्रतरूपादिनिषेधाच्च निषिद्धैव, तन्न्यायस्यात्रापि समानत्वात् ।

का आश्रय बन सकेगा ? बुद्धिआदि जब एक बार उत्पन्न हो गये तो अब उन को किसी की आशंसा या परवा नहीं है, इस लिये किसी का आश्रित होने की जरूर भी नहीं है, आश्रित नहीं है तो उन का आश्रय कौन होगा ? यदि वे बुद्धि आदि अनुत्पन्न हैं, उस काल में तो वे निरूपाख्य यानी तुच्छ हैं अतः किसी के आश्रित होने की या उन के कोई आश्रय होने की कथा ही सम्भव नहीं है ।

उपरांत, न्यायसूत्र में कहा है कि बुद्धि, उपलब्धि या ज्ञान इनमें कोई अर्थान्तर नहीं है । इस वचन के आधार पर प्रतिपक्षियोंने बुद्धि को ज्ञानस्वरूप मान लिया है, किन्तु बुद्धि को स्वसंविदित स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे उस को अन्यबुद्धिवेद्य मानते हैं । हम पहले यह स्पष्ट कर आये हैं कि रूप-रसादि स्वसंविदित न होने से बुद्धि-आत्मक नहीं है वैसे ही बुद्धि स्वसंविदित न होने पर बुद्धिस्वरूप नहीं हो सकती । सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष तो ज्ञानस्वरूप ही हैं क्योंकि स्वसंविदित हैं, फिर भी प्रतिपक्षी उन्हें ज्ञानात्मक मानने को तय्यार नहीं हैं । यदि वे ज्ञानात्मक न माने जाय तो आत्मवृत्ति विशेषगुणरूप भी मानता ठीक नहीं है, क्योंकि रूप-रसादि ज्ञानात्मक न होने से आत्मा के विशेषगुणरूप भी नहीं माने जाते । यदि सुखादि को ज्ञान रूप ही मान लेते हैं तो फिर उन का और ज्ञान का पृथक् पृथक् निरूपण करने की जरूर नहीं है । यदि ज्ञानात्मक होने पर भी किसी विशेषता को लेकर बुद्धि का पृथक् निरूपण करेंगे तो अब इतना ही कहना है कि किसी एक विशेषता को लेकर अभिमानादि की भी ज्ञान से पृथक् परिगणना करनी पड़ेगी, अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

✽ गुरुत्वआदि में गुणरूपता का प्रतिषेध ✽

जैसे रूपादि में गुणरूपता का निषेध किया गया है वैसे गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह का भी प्रतिषेध जान लेना चाहिये । प्रतिवादी की यह प्रक्रिया है - “गुरुत्व पृथ्वी और जलद्रव्य में रहनेवाला गुण है और वह अधःपतन क्रिया का निमित्त है । द्रवत्व गुण है जो कि पृथ्वी, जल और सुवर्णात्मक तेजोद्रव्य, तीन में रहने वाला है । वह स्यन्दन यानी प्रवाहपन का हेतु है । पृथ्वी और सुवर्ण में रहनेवाला द्रवत्व नैमित्तिक होता है, क्योंकि अग्निसंयोग से उत्पन्न होता है । जल में स्वभावतः द्रवत्व होता है, अतः उसे ‘सांसिद्धिक’ संज्ञा दी गयी है । स्नेह गुण तो सिर्फ जल में ही रहता है जो स्निग्धता की स्पर्शन बुद्धि का हेतु है ।” - इस प्रक्रिया का भी निषेध प्रगट है, क्योंकि पृथ्वी आदि में आश्रयता का निषेध किया जा चुका है और उन

संस्कारस्तु त्रिविधः, वेगः भावना स्थितिस्थापकश्चेत्यभ्युपगतः । तत्र वेगाख्यः पृथिव्यप्-तेजो-वायु-मनस्सु मूर्तिमद्द्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात् कर्मणः समुत्पद्यते नियतदिक्क्रियाप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च । तत्र शरीरादिप्रयत्नविशेषाविर्भूतकर्मविशेषनिमित्तः यद्द्रशादिषोरन्तरालेऽपातः स च नियतदिक्क्रियाकार्यसम्बन्धोऽनीयमानसद्भावः । लोष्टाद्यभिघातोत्पन्नकर्मोत्पाद्यस्तु शाखादौ वेगाख्यः संस्कारः । भावनासंज्ञः पुनः आत्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च दृष्टाऽनुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृति-प्रत्यभिज्ञानकार्योऽनीयमानसद्भावः । मूर्तिमद्द्रव्यगुणः स्थितिस्थापको घनावयवसंनिवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथा व्यवस्थितमपि प्रयत्नतः पूर्ववद् यथावस्थितं स्थापयतीति कृत्वा । दृश्यते च तालपत्रादेः प्रभूतरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यं मुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थानं संस्कारवशात् । एवं धनुः-शाखाशुङ्गदन्तादिषु भुग्रापवर्तितेषु च वस्त्रादिषु तस्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यत एवेति ततस्तत्सद्भावः

में रहनेवाले रूपादि गुणों का भी प्रतिषेध हो चुका है, उसी न्याय से गुरुत्वादि का भी निषेध हो जाता है क्योंकि न्याय तो सर्वत्र समान होता है, गुरुत्वादि में उस का कोई पक्षपात नहीं है ।

✽ वेग - भावना - स्थितिस्थापक त्रिविधसंस्कार ✽

संस्कार के तीन भेद हैं १ वेग, २ भावना, ३ स्थितिस्थापक । इन में जो 'वेग' नाम का संस्कार है वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इतने मूर्त्त द्रव्यों में ही रहता है और प्रयत्न एवं अभिघातविशेषात्मक संयोग से सहकृत कर्म से उस की उत्पत्ति होती है । वेग से अपने आधारभूत द्रव्य में नियत दिशा की ओर गति की प्रेरक क्रियापरम्परा उत्पन्न होती है । स्पर्श द्रव्यसंयोग वेग का विरोधी होता है । बाणादि में जो वेग उत्पन्न होता है वह उस विशेष क्रिया से उत्पन्न होता है जो सिर्फ शरीरादिगत प्रयत्न से उत्पन्न होती है और इसी वेग के कारण गति करते हुए बाण का मध्य में पतन नहीं होता है । मध्य में पतन हुए बिना नियत दिशाभिमुख गतिप्रेरक क्रियारूप कार्य के सम्बन्ध से बाणादि में 'वेग' संस्कार का सद्भाव अनुमित होता है । किसी वृक्ष की शाखा को कोई दुष्ट, पत्थर आदि से चोट लगाता है तब शाखाओं में जो कम्पनक्रिया उत्पन्न होती है उस से भी 'वेग' संज्ञक संस्कार का उद्भव होता है और वह शाखा-कम्पन से अनुमित होता है ।

'भावना' संज्ञक संस्कार आत्मा का गुण है जो ज्ञान से उत्पन्न होता है और स्मृति-आदिज्ञान का उत्पादक भी होता है । पूर्व दृष्ट, अनुभूत अथवा पूर्वश्रुत पदार्थों के बारे में कालान्तर में स्मरण या प्रत्यभिज्ञा स्वरूप कार्य उत्पन्न होता है उस से 'भावना' संस्कार का अनुमान किया जा सकता है । 'स्थितिस्थापक' संस्कार यह मूर्त्त द्रव्यों का गुण है । यह संस्कार अपने कालान्तरस्थायी सघनअवयवरचनाविशिष्ट आश्रयभूत द्रव्य को पूर्व स्थिति में पुनः स्थापित करता है । तात्पर्य, किसी एक कुत्ते की दुम जैसे द्रव्य को कुछ समय तक प्रयत्नपूर्वक अन्य प्रकार से रखा जाय तो बाद में प्रयत्न छोड़ देने पर यह संस्कार पुनः उस को पूर्वस्थिति में ला कर रख देता है । देखने वाले जानते हैं कि दीर्घकालतक तालपत्र-भोजपत्रादि को वस्त्र में लपेट कर रखा जाता है तो वे गोल नलाकार धारण कर लेते हैं, बाद में जब वस्त्र को छोड़ कर जमीं पर उन्हें प्रयत्नपूर्वक सीधे दबाये जाते हैं तो कुछ देर तक सीधे रहते हैं लेकिन प्रयत्न छोड़ देने पर वह संस्कार पुनः उन को नलाकार स्थिति में स्थापित कर देता है । ऐसे ही दृढ अवयववाले धनुष्य, वृक्ष शाखा, बैल-शींग, हस्तीदन्त आदि जो स्वतः वक्र होते हैं, तथा गड्डी कर के रखा गया वस्त्रादि-उन्हें जोर से दबाने पर अल्प या अत्यल्प मात्रा में वे सीधे होते हैं किन्तु दबाव से मुक्त होने पर उस संस्कार के प्रभाव से पुनः अपनी पूर्व (वक्र) स्थिति को धारण कर लेते हैं । ऐसे

सिद्धः ।

असदेतत् — क्षणभङ्गसिद्धौ वेगाख्यसंस्कारकार्यस्य कर्मप्रबन्धस्याऽसिद्धेः । न हि उत्पत्त्यनन्तरं भावानां नाशे नियतदिक्रियाप्रबन्धस्य तद्धेतोश्च संस्कारस्योत्पत्तिः । न च स्वोपादानदेशाऽनन्तरदेशोत्पाद एव भावानां क्रियाप्रबन्धः, हेतोरनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः । तथाहि — ततः प्राक्तनस्वहेतव एव सिद्धिमासादयन्ति न यथोक्तः संस्कारः, तेन सह क्वचिदप्यन्वयाऽसिद्धेः । यदि च तथाविधसंस्कारवशाद् इष्वादीनामपातस्तदा च न कदाचिदपि पातः स्यात् पातप्रतिबन्धकस्य वेगस्य सर्वदाऽवस्थानात् । एवं चाकाशप्रसर्पिणः शरस्याकस्मात् पातोपलब्धिर्न स्याद् भवदभ्युपगमेन ।

न च मूर्त्तिमद्वाद्यादिसंयोगाद्युपहतशक्तित्वाद् वेगस्य पतनम्, प्रथममेव पातप्रसक्तेः, वाद्यादिसंयोगस्य तद्विरोधिनस्तदैव सद्भावात् । न च प्राग् वेगस्य बलीयस्त्वाद् विरोधिनमपि मूर्त्तद्रव्यसंयोगमपास्य स्वाधारं देशान्तरं प्रापयति, पश्चादपि तस्य बलीयस्त्वात् तथैव तत्प्रापकत्वप्रसक्तेः । न हि

कार्य की स्पष्ट उपलब्धि से 'स्थितिस्थापक' संस्कार का अस्तित्व अनुमित होता है ।

✽ संस्कारों के खोखलेपन का दिग्दर्शन ✽

प्रतिपक्षिप्रतिपादित यह संस्कारवार्त्ता खोखली है । जब क्षणभङ्गवाद सिद्ध हो चुका है तब क्षणिकवादी के मत में स्थायी 'वेग' संज्ञक संस्कार के द्वारा क्रिया-परम्परा रूप कार्य ही असिद्ध है । भावमात्र यानी वेग का आश्रय भी अपनी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में नाशशील होते हैं, अतः नियतदिशाभिमुख क्रिया-परम्परा और उस के जनक संस्कार की उत्पत्ति उस आश्रय से हो नहीं सकती । यदि यह कहा जाय कि — 'क्षणिकवाद में भी क्रिया-परम्परा घट सकती है; अपने उपादानभूत देश के निकटतमप्रदेश में पुनः पुनः क्रिया की उत्पत्ति होना यही क्रिया-परम्परा है ।' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर क्रियाप्रबन्ध रूप कार्यहेतु में साध्यद्रोह दोष प्राप्त होगा । कैसे यह देखिये, निकटतम देश में उत्पन्न क्रिया हेतु से उस के तथाविध उत्पादक पूर्वक्षणगत कारणों की सिद्धि अवश्य होगी, किन्तु पूर्वोक्त संस्कार कैसे सिद्ध होगा ? फलतः साध्य के विरह में हेतु रह जाने से साध्यद्रोही ठहरेगा । संस्कार के साथ क्रिया की व्याप्ति ही सिद्ध नहीं है अतः क्रिया परम्परा से संस्कार की सिद्धि आशास्पद नहीं रहती । तथा, आप के कल्पित संस्कार के प्रभाव से अगर बाणादि का मध्य में पात नहीं होता तो आगे भी कैसे होगा ? कभी भी उस का पात सम्भव नहीं रहेगा, क्योंकि पातप्रतिबन्धक वेग, क्रिया के आश्रय में सतत उपस्थित है । क्रियापरम्पराजनक एवं मध्य में पातप्रतिबन्धक वेग की कल्पना के पक्ष में उक्त रीति से गगनचारी बाणादि के अकस्मात् पतन का उपलम्भ ही कभी नहीं होगा, यह दृष्टविरोध दोष होगा ।

✽ वेगाख्य संस्कार की असंगतता ✽

यदि यह कहा जाय — 'मूर्त्त वायुद्रव्य के संयोग से वेग की शक्ति उपहत हो जाने से कालान्तर में इषु का भूमिपतन हो जाता है' — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि धनुष्य से बाण छूटते समय ही उस का अधःपतन प्रसक्त हो जाना चाहिये क्योंकि वेग का विरोधी मूर्त्त वायुद्रव्य का संयोग वहाँ भी मौजूद है । यदि कहें कि — छूटते समय बाण में वेग अधिक बलवान् होता है अतः मूर्त्तद्रव्यसंयोग के विरोध को टुकरा कर वह अपने आश्रय (बाण) को लक्ष्य-देश तक पहुँचा सकता है । — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आदि से अन्त तक 'वेग' गुण तो एक ही है अतः आदि में बलवान् वेग अन्त में भी बलवान् होने से वह अपने आधार को

वेगस्य पश्चादन्यथात्वम्, अन्यथोत्पत्तिकारणाभावात् तत्समवायिकारणस्येष्वदेः सर्वत्राऽविशिष्टत्वात् । न च कर्माख्यं कारणं पश्चाद्विशिष्यत इति वक्तव्यम् तस्यापि तुल्यपर्यनुयोगत्वात् । अन्यत्वेऽपि च प्रतिक्षणं कर्मणो वेगस्य प्राक्तनस्यैवावस्थानाद् विनाशकारणाभावात् शरस्यापात एव स्यात् । न च वायुसंयोगस्तस्य विनाशकारणम् प्रथममेव तत्संयोगाद् वेगविनाशादिषोः पातप्रसङ्गात्, सर्वत्र वायोरविशेषेण तत्संयोगस्याऽप्यविशेषात् । न च प्रभूताकाशदेशसंयोगोत्पादनात् संस्कारप्रक्षयादिषोः पातः, संस्कारस्यैकस्वभावत्वेनावस्थितस्य प्रागिव पश्चादपि प्रक्षयानुपपत्तेः । न चाकाशदेशाः परेणाभ्युपगम्यन्ते येन तत्संयोगानां भूयस्त्वं संस्कारक्षयहेतुत्वं वा युक्तियुक्तं भवेत् । कल्पनाशिल्पिघटितानां तु आकाशदेशानां संयोगभेदकत्वमनुपपन्नम् तदायत्तभेदानां च संयोगानां संस्कारक्षयहेतुत्वं दूरोत्सारितमेव, इषोस्तु पातोऽन्यथासिद्ध इत्यलमतिप्रपञ्चेन ।

स्मृत्यादिकार्यात् तु सामान्येन यदि भावनामात्रं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, पूर्वानुभवाऽऽहित-

कहीं भी गिरने ही नहीं देगा और अन्य अग्रिम देश तक पहुँचाता ही रहेगा, रुकेगा नहीं । 'कालान्तर में वेग दुर्बल हो जाता है' ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि वहाँ दुर्बल वेग का उत्पादक कोई कारण ही नहीं है । जो उस का समवायी कारण बाण है वह तो पूर्व-पश्चात् काल में एक-सा ही है । यदि कहें कि - पहले तो बाण में क्रिया तीव्र होती है लेकिन पश्चात् मन्द हो जाती है - तो यहाँ भी वेग की तरह ही प्रश्न है - मन्द क्रिया का उत्पादक कारण कौन है ? समवायी कारण तो एक-सा ही है । कदाचित् क्रिया को प्रतिक्षण भिन्न भिन्न मानी जाय तो भी उस का जनक वेगरूप कारण तदवस्थ होने से पूर्व-पश्चात् उत्पन्न होने वाली क्रिया में कोई फर्क पड़ने वाला है नहीं और वेगरूप जनक का कोई नाशकहेतु न होने से बाण का पतन सम्भवबाह्य हो जायेगा । वायुसंयोग यदि उस का विनाश कारण माना जाय तब तो धनुष्य से छूटते समय ही, वायुसंयोग से वेग का नाश हो जाने पर पहले ही बाण का पतन हो जायेगा । वायु तो सर्वत्र फैला हुआ है, अतः वायुसंयोग तो सर्वत्र बाण में सुलभ है ।

यदि यह कहा जाय -- तीर ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है त्यों त्यों बहुसंख्यक आकाशदेश के साथ संयोगों का उत्पादन करते करते संस्कार (वेग) क्षीण हो जाता है, नतीजतन बाण का पतन होता है -- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि संस्कार का कोई एक ही अविरुद्ध स्वभाव हो सकता है, अतः प्रथम क्षण में वह यदि अवस्थित यानी अविनश्वरस्वभाव है तो कालान्तर में उस का वैसा ही स्वभाव रहने से वह कैसे क्षीण होगा ? तथा, आप तो आकाश को निरवयव मानते हैं तब बहुसंख्यक आकाशदेश के संयोगों की प्रचुरता और उस में संस्कारक्षयकारणता की बात कैसे युक्तिसंगत हो सकती है ? 'आकाश के देश' यह व्यवहार ही आप नहीं कर सकते । यदि 'कल्पना' शिल्पी से रचित यानी काल्पनिक आकाशदेशों को मंजूर कर ले तो भी कल्पित देश से संयोग की भिन्नता मानना उचित नहीं है, फिर अनेक देशाधीन प्रचुर संयोगों में संस्कारक्षय की हेतुता की तो बात ही कहाँ ? पहले जो कहा था कि प्रतिक्षण पूर्वपूर्व बाणक्षण से निकटवर्ती क्षेत्र में नये नये बाणक्षण उत्पन्न होते रहते हैं - इस पक्ष में वेग की कल्पना के विना भी तथा तथा नूतनोत्पत्ति के कारण बाण का पतन सिद्ध हो जाता है । अतः वेग के निरसन के लिये ज्यादा बोलने की जरूर नहीं रहती ।

❀ भावना संस्कार के साधक अनुमान की समीक्षा ❀

स्मृति आदि कार्यों के सहारे अगर आप सामान्यतः भावना को सिद्ध करना चाहते हैं तब तो सिद्धसाधन

सामर्थ्यलक्षणाया ज्ञानस्यात्मभूतायास्तस्याः स्मृतिहेतुत्वेनास्माभिरप्यभ्युपगमात् । अथात्मगुणस्वरूपा भावना साधयितुमभिप्रेता तदा तथा भूतया स्मृत्यादेः क्वचिदप्यन्वयासिद्धेरनैकान्तिकता हेतोः, प्रतिज्ञायाश्चानुमानबाधितत्वम् तदाधारस्यात्मनः पूर्वमेव निराकृतत्वात् तदभावे तस्या अप्यभावात् । तथाहि — ये यदाश्रितास्ते तस्याभावेऽवस्थितिं न प्रतिलभन्ते यथा कुड्याभावे चित्रादयः, आश्रिताश्च परेणात्मनि संस्कारादयोऽभ्युपगम्यन्त इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

स्थितिस्थापकस्तु संस्कारोऽत्यन्तमसंगत एव । तथाहि — असौ किं स्वयमस्थिरस्वभावं भावं स्थापयति उत स्थिरस्वभावमिति पक्षद्वयम् । यदि अस्थिरस्वभावम् तदा क्षणादूर्ध्वं तस्य स्वयमेवाभावात् कस्यासौ स्थापकः स्यात् ? अथ द्वितीयः पक्षः, तदा स्थिरे स्वभावेऽवस्थितानां भावानां ताद्रूप्यादे-वावस्थानात् किमकिञ्चित्करस्थापकप्रकल्पनया ? न च क्षणिकत्वेऽपि भावानामेकक्षणावस्थितानु(वु)-त्तरकालं स्थापकस्य सामर्थ्यमंगीक्रियते यतः स्वरूपप्रतिलम्बलक्षणैव भावानां स्थितिरुच्यते न पुनर्लब्धा-त्मसत्ताकानाम् आत्मरूपसंधारणलक्षणोत्तरकालं स्वयं चलात्मन उत्तरकालमवस्थानाऽसम्भवात्, सम्भवे

है । कारण, पूर्वानुभव से जिस में स्मृतिजनक सामर्थ्य का आधान होता है वैसी ज्ञानमय-ज्ञानस्वरूप 'वासना' संज्ञक संस्कार को हम भी स्मृतिजनक मानते हैं । आप को यदि ज्ञान से अतिरिक्त आत्मगुणस्वरूप भावना की सिद्धि अभिप्रेत है तो वैसी स्वतन्त्र भावना के साथ स्मृतिआदि की व्याप्ति कहीं भी सिद्ध नहीं है अतः साध्य असिद्ध रहने पर हेतु साध्यद्रोही ठहरेगा । दूसरी ओर पूर्ववत् प्रतिअनुमान से आप के प्रयोग में बाधा प्राप्त होगी । स्मृतिरूप प्रतीति पूर्वपक्षिअभिमत संस्कारनिरपेक्ष अपने हेतु से उत्पन्न होती है क्योंकि वह स्मृतिरूपप्रतीति है... इत्यादि प्रतिअनुमान स्वयं जान लेना । तथा, भावना का आधारभूत जो एकान्त नित्य आत्मद्रव्य है उसका पहले ही निरसन हो चुका है, अतः आत्मद्रव्य के अभाव में 'भावना' संस्कार का भी अभाव फलित हो जाता है । यहाँ अनुमान ऐसे भी हो सकता है, जो जिस के आश्रित माने जाते हैं वे उसके विरह में अवस्थित नहीं रह सकते, उदा० भिक्ती के विरह में चित्रादि । प्रतिवादी संस्कारादि को आत्मा के आश्रित मानता है अतः आत्मा के निषेध से उनका निषेध फलित होता है । यहाँ संस्कारादि की स्थिति की व्यापक है आत्मस्थिति, उस के विरुद्ध यानी आत्माभाव की उपलब्धि यहाँ हेतु है, उस से संस्कारादि का निषेध सिद्ध होता है ।

✽ स्थितिस्थापक संस्कार की कल्पना निरर्थक ✽

स्थितिस्थापक संस्कार तो अत्यन्त अयुक्त है । कैसे यह देखिये — भाव जो स्वयं अस्थिरस्वभाव है उसका यह स्थापक है या जो स्वयं स्थिरस्वभाव है उसका स्थापक होगा ? दो विकल्प हैं । अस्थिरस्वभाववाला भाव तो क्षणभंगुर होने से दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जायेगा, फिर किसका स्थापक संस्कार होगा ? दूसरे विकल्प में, जो स्थिरस्वभाववाले भाव हैं वे तो अपने स्वरूप में सदावस्थित रहने के स्वभाववाले ही हैं, संस्कार क्या उसका स्थापन करेगा ? उस का कुछ काम ही नहीं है । अकिञ्चित्कर स्थापक की कल्पना से क्या लाभ ? यदि पहले विकल्प में फिर से यह कहा जाय कि — 'भाव क्षणिक है, एक क्षण तो वह अपने आप रहेंगे, उत्तरक्षणों में उसकी स्थिति बनाये रखने में संस्कार सार्थक होगा । हम उस में वैसा ही सामर्थ्य मानते हैं ।' — तो यह गलत है, क्योंकि भावों की स्थिति का मतलब है भावों को स्वसत्ता की प्राप्ति । जो प्रथमक्षण में लब्धसत्ताक भाव है उसको संस्कार से क्या सत्ता उपलब्ध होगी जिस से उसको स्थापक माना जाय ? क्षणिक भाव ने प्रथम क्षण में तो आत्मस्वरूपधारण स्वयं किया है, दूसरे क्षण में वह स्वयं चलस्वभाव होने

वा न कदाचिदपि निवृत्तिः स्यात् पूर्ववत् पश्चादप्यविशिष्टत्वात् अतस्त्वभावत्वप्रसंगाच्च । न च क्षण-स्थितिप्रबन्धेऽपि स्थापकस्य सामर्थ्यसिद्धिः, पूर्व-पूर्वकारणसामर्थ्यकृतस्योत्तरोत्तरकार्यप्रसवस्य संस्कारमन्तरेणापि सिद्धेः । अक्षणिकस्य त्वन्यथात्वाऽसम्भवात् स्वत एव स्थितिरिति न तत्रापि स्थाप-कोपयोगः । न च संस्कारस्य क्षणोत्पादनेऽपि सामर्थ्यम् प्राप्तनक्षणमन्तरेणापरस्य तत्रापि सामर्थ्या-नवधारणात् । तथाहि — प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था । न च प्रसिद्धकारणव्यतिरेकेण वस्त्रादिषु प्रत्यक्षा-नुपलम्भाभ्यां चक्षुरादिवद् वा कार्यव्यतिरेकतोऽपरस्य सामर्थ्यावधारणम् । न चादृष्टसामर्थ्यस्यापि हेतुत्वकल्पना अतिप्रसङ्गात्, तदपरापरहेतुप्रकल्पनाया अनिवृत्तेः । न च संस्कार उत्पादकहेतुरिष्टः परैः किन्तुत्पन्नस्य वस्त्रादेरुत्तरकालं स्थापको गुणः । तत्र चास्याऽकिञ्चित्करत्वमेवेति प्राग् व्यवस्थापितम् ।

कर्तृफलदायी आत्मगुण आत्म-मनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवान् अदृष्टा-

से उत्तरकाल में उसकी अवस्थिति टिकनेवाली नहीं है तब संस्कार क्या टिकायेगा ? यदि क्षणिक भाव की उत्तरकाल स्थिति टिक जायेगी तो बाद में कभी भी उसकी निवृत्ति हो नहीं पायेगी और पूर्व-पश्चात् काल में वह एक-सा ही रह जायेगा, किन्तु तब उसके अस्थिरस्वभावत्व के भंग की आपत्ति आयेगी । यदि ऐसा कहें कि — भाव की क्षणिक स्थिति स्वयं हो सकती है लेकिन नयी नयी क्षणिक स्थिति की परम्परा स्थापक संस्कार के सामर्थ्य से ही सिद्ध होगी — तो यह गलत है, क्योंकि उत्तरोत्तर क्षण स्थितिकार्य तो अपने पूर्व-पूर्वक्षण स्थितिरूप कारणक्षणों के सामर्थ्य से ही, संस्कार के बिना भी सिद्ध होनेवाला ही है ।

भाव को अक्षणिक माना जाय तो उस में कालान्तर में अन्यथाभाव कभी होने वाला ही नहीं है, वह सदा अवस्थित रहने के स्वभाववाला है अतः उसकी स्थिति के लिये तो स्थापक की आवश्यकता ही नहीं है । यदि कहें कि — 'क्षणिक भाव की स्थिति का नहीं उत्पत्ति का ही हेतु संस्कार है' — तो यह नितान्त गलत है, क्योंकि हर एक क्षण का उद्भव उसके पूर्वक्षण के सामर्थ्य से ही होता हुआ देखा गया है, और किसी में वह सामर्थ्य नहीं देखा गया । कैसे यह देखिये — सब मानते हैं कि प्रमेयों की स्थापना प्रमाणाधीन होती है । प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से, वस्त्र के प्रति तन्तुआदि प्रसिद्ध कारणों को छोड़ कर और किसी का सामर्थ्य दिखाई नहीं देता । तन्तु रहते हैं तो वस्त्र बनता है, वे नहीं होते तो वस्त्र नहीं बनता अतः तन्तु में वस्त्र के उत्पादन का सामर्थ्य सिद्ध होता है । तथा चक्षु नहीं होती तो प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता अतः कार्य के व्यतिरेक से दर्शन के प्रति चक्षु सामर्थ्य अवधारित होता है, अन्य किसी संस्कारादि का सामर्थ्य अवधारित होता नहीं है । जिस में ऐसा सामर्थ्य उपलब्ध नहीं है उस में कारणता की कल्पना नहीं की जा सकती । आँख मूँद कर करेंगे तो सर्व में सर्व की कारणता की कल्पना का अतिप्रसंग होगा और उसके भी हेतु की, उसके भी हेतु की कल्पना करते ही जायेंगे तो अन्त भी नहीं आयेगा । स्पष्ट बात है कि प्रतिवादी को भी संस्कार में वस्त्रादि के प्रति उत्पादकत्वरूप हेतुता इष्ट नहीं है, उसको तो उत्पन्न वस्त्रादि का उत्तरकाल में स्थापक के रूप में संस्कार गुण का अंगीकार करना है । किन्तु पहले ही यह कह दिया है कि स्थिर या अस्थिर दोनों विकल्पों में संस्कार स्थापक के रूप में अनावश्यक ही है ।

✽ आत्मगुण अदृष्ट की समीक्षा ✽

वैशेषिक विद्वानों ने 'अदृष्ट' संज्ञक गुण को परोक्ष माना है और उसका स्वरूप वर्णन इस तरह किया है — 'अदृष्ट' नाम का गुण कर्त्ता को फलदाता है, वह आत्मा का गुण है, आत्मा और मन के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होता है, अपना कार्य ही अपना विरोधी यानी नाशक होता है, उस के दो भेद हैं धर्म

ख्यो गुणः इति वैशेषिकैः परोक्षादृष्टस्वरूपमुपवर्णितम् । 'कर्तुः प्रिय-हित-मोक्षहेतुधर्मः अधर्मस्तु अप्रिय-प्रत्यवायहेतुः' [प्रशस्तपा०भा० २७२/८ अथवा २८०/८] इति । एतच्च तत्समवायिकारणस्यात्मनो मनसः आत्म-मनःसंयोगस्य च निमित्तताऽसमवायिकारणत्वेनाभ्युपगतस्य निषेधात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात् सर्वमनुपपन्नम् ।

शब्दस्त्वाकाशगुणत्वेनाभिमतः, तस्य चाकाशगुणत्वं प्राग् निषिद्धमिति न चतुर्विंशतिरपि गुणाः प्रमाणोपपत्तिकाः ॥

उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि । तथा च सूत्रम् — 'उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनम् प्रसारणम् गमनमिति कर्माणि' [वै०सू० १-१-७] इति । तत्रोत्क्षेपणं यदूर्ध्वाधःप्रदेशाभ्यां संयोग-विभागकारणं कर्म उत्पद्यते । यथा शरीरावयवे तत्सम्बन्धे(?) वा मूर्त्तिमति मुशलादौ द्रव्ये ऊर्ध्वभाग्भिराकाशदेशाद्यैः संयोगकारणम् अधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणं प्रयत्नादिवशात् कर्म तदुत्क्षेपणमुच्यते । एतद्विपरीतसंयोग-विभागकारणं च कर्म अपक्षेपणम् । ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्म आकुञ्चनम् यथा ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य येऽग्रावयवास्तेषामाकाशादिभिः स्वसंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणाऽङ्गुल्यादिरवयवी कुटिलः सम्पद्यते तत् कर्म प्रसारणम् । अनियतदिग्देशैर्यत् संयोग-

और अधर्म । प्रशस्तपादभाष्य में भी कहा गया है कि 'धर्म अपने कर्त्ता का प्रिय करनेवाला, हितकारी और मोक्षप्रापक होता है, अधर्म अपने कर्त्ता को अप्रियकारी और नुकसानकारक होता है ।' वास्तव में यह सब असंगत है । कैसे यह देख लीजिये - पहले उसके समवायिकारण आत्मा का और निमित्त कारण मन का निषेध हो चुका है, तथा उसके असमवायिकारणरूप आत्म-मनःसंयोग का भी निषेध हो चुका है । इस प्रकार समवायि, असमवायि और निमित्त, सभी कारणों का निषेध हो जाने से कार्य का भी निरसन हो जाता है । (अदृष्ट आत्मगुण नहीं किन्तु पौद्गलिक है यह भी पहले खंड में कह आये हैं ।)

शब्द को आकाश का गुण माना गया है, किन्तु पहले खंड में उसके गगनगुणत्व का निरसन हो चुका है । इस प्रकार चौबीस में से एक भी गुण प्रमाण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता ।

✽ उत्क्षेपणादि पञ्चविध कर्म ✽

न्याय वैशेषिक मत में 'कर्म यानी क्रिया' तीसरा पदार्थ बताया गया है, उसके पाँच भेद हैं उत्क्षेपणादि । सूत्र में कहा है - 'उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म हैं' (वै० सू० १-१-७)

उत्क्षेपण :- किसी एक द्रव्य का ऊर्ध्व या अधः प्रदेश के साथ संयोग या विभाग कराने वाली क्रिया । उदा० शरीर के हाथ-पैर आदि अवयवों में अथवा उन से सम्बद्ध मुशलादि मूर्त्त द्रव्य में जीव के प्रयत्न से ऊर्ध्वदिशा के आकाशप्रदेशों के साथ संयोग करानेवाली और अधोदिशा के आकाशप्रदेशों के साथ विभाग करानेवाली क्रिया उत्पन्न होती है, उसको उत्क्षेपण कर्म कहा जाता है ।

अपक्षेपण :- उत्क्षेपण से उलटा समझना है, ऊर्ध्वभाग के साथ विभाग और अधोभाग के साथ संयोग कराने वाला कर्म अपक्षेपण है ।

आकुञ्चन :- द्रव्य की ऋजु अवस्था को वक्रावस्था में पलट देने वाली क्रिया को आकुञ्चन कहा गया है । उदा० अंगुली जब सीधी है तब उसके जो अग्रिम अवयव हैं उसका जिस आकाश-देश के साथ संयोग है उस आकाश देश के साथ विभाग को पैदा करके जो अंगुली का मूल देश है उस के साथ संयोग करानेवाला जो कर्म है वह आकुञ्चन है, उससे ऋजु अंगुली वक्र हो जाती है ।

विभागकारणं तद् गमनम् । चतुष्प्रकारमपि उत्क्षेपणादिकं कर्म नियतदिग्देशसंयोग-विभागकारणम् । अनियतदिग्भिस्तु भावैः संयोग-विभागकारणं तु कर्म गमनम् तेन भ्रमण-स्पन्दन-रेचनादीनामपि गमन एवान्तर्भावात् पञ्चैव कर्माणि । मूर्त्तिमद्द्रव्यसंयोगविभागकार्योपलम्भात् पञ्चविधस्यापि कर्मणोऽनुमानात् प्रसिद्धिः । तथा, अध्यक्षतोऽपि उत्क्षेपणादेः कर्मणः प्रतिपत्तिः, इन्द्रियव्यापारेण 'गच्छति' इत्यादि-प्रतिपत्त्युत्पत्तेः । तथा च — 'संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि' (वै० सू० ४-१-११) इति सूत्रमप्युपपन्नम् ।

अत्र संयोग-विभागलक्षणं तावत् तत्कार्यमसिद्धम् तयोः पूर्वमेव निषेधात् । न च नैरन्तर्योत्पादादिमात्रलक्षणौ तत्कार्यतया संयोग-विभागौ हेतुत्वेन वाच्यौ, तथाविधेन कर्मणा तयोः क्वचिदन्वयाऽसिद्धेरनैकान्तिकताप्रसक्तेः । साध्यविपर्ययेण च हेतोर्व्याप्तेर्विरुद्धताऽपि वक्तव्या । सिद्धसाध्यता च कारणमात्राऽस्तित्वे साध्ये तथाविधसंयोग-विभागकारणत्वे वाय्वादेरभीष्टेः । कारणविशेषाऽस्तित्वे

प्रसारण :- आकुञ्चन से उलटा प्रसारण है जो वक्र को ऋजु बना देता है । मूलदेश से अंगुली-अग्र का विभाग और अन्य आकाशदेश से संयोग पैदा कर के ऋजुता लाने वाला कर्म प्रसारण है ।

गमन :- अनियत दिशा के गगन विभाग के साथ द्रव्य का संयोग-विभाग करानेवाला कर्म गमन है । उत्क्षेपणादि प्रथम चार कर्म द्रव्य को नियत दिशा में आकाशदेश के साथ संयुक्त-विभक्त करता है, जब कि गमन कर्म किसी भी अनिश्चित दिशा के आकाशदेश के साथ द्रव्यों का संयोग-विभाग कराता है । इस का तात्पर्य यह है कि अनियतदेशसंयोग-विभागजनक भ्रमण, स्पन्दन, रेचनादि क्रियाओं का भी गमनकर्म में ही समावेश कर लिया गया है अतः पाँच से अधिक संख्या कर्मों की नहीं होती । कार्य से कारण का अनुमान होता है अतः भिन्न भिन्न देश या द्रव्य के साथ मूर्त्तद्रव्यों के संयोग-विभागरूप कार्य को देख कर सरलता से पाँचों क्रिया का अनुमान किया जा सकता है । तथा, इन्द्रियव्यापार से स्पष्ट दिखता है कि 'यह जा रहा है - गति कर रहा है' इस प्रकार की प्रतीति से गमनादि कर्मों की प्रत्यक्ष उपलब्धि सिद्धिप्राप्त है । इस प्रकार पहले जो सूत्र में कहा गया है कि - 'संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्वापरत्व और क्रिया ये सब रूपिद्रव्य के समवाय-सन्निकर्ष से चाक्षुष प्रत्यक्ष होते हैं'- (वै० सू० ४-१-११) यह सूत्र भी संगत हो जाता है ।

✽ क्रियासाधक अनुमानों में सदोषता ✽

वैशेषिकों के प्रतिवाद में यह कहना उचित है कि कार्य से कारण के अनुमान की बात ठीक है, लेकिन संयोग-विभाग कार्य का पहले निरसन हो गया है अतः कार्य ही असिद्ध है तो कारणभूत कर्म का अनुमान कैसे हो सकता है ? यदि दो द्रव्यों का निरन्तर-सान्तरभाव से उत्पाद होना इसी का नाम है संयोग-विभाग, और यही कार्यहेतु बन कर क्रिया का अनुमान करायेगा ऐसा कहा जाय तो वह गलत है, क्योंकि अनुमान के पूर्व क्रिया सर्वथा असिद्ध होने से उस के साथ तथाविध संयोग-विभाग का अन्वय(व्याप्ति) सिद्ध न होने से विना साध्य के रह जाने वाला हेतु साध्यद्रोही होगा । सिर्फ साध्यद्रोह ही नहीं, विरुद्ध दोष भी होगा क्योंकि तथाविध संयोग-विभाग रूप हेतु को क्रिया के बदले क्रिया के अभाव के साथ ही व्याप्ति बनती है, क्योंकि क्रिया असिद्ध है । यदि 'क्रिया'पदार्थ के बदले सिर्फ कारणमात्र का ही अस्तित्व सिद्ध करना चाहेंगे तो सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि दो द्रव्यों के संयोग-विभाग का प्रेरक वायु-अभिघात आदि स्वरूप कारण हमें इष्ट ही हैं । यदि सिर्फ कारणमात्र नहीं किन्तु उत्क्षेपणादिस्वरूप कारणविशेष सिद्ध करना चाहेंगे तो वहाँ

च साध्ये अनुमानबाधः प्रतिज्ञायाः । तथाहि—पदार्थानां क्रिया भवन्ती क्षणिकानां भवेत् अक्षणिकानां वा ? न तावत् क्षणिकानाम् उत्पत्तिदेश एव तेषां ध्वंसाद् देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात् । तथाहि यो यत्र देशे ध्वंसते स न तदन्यदेशमाक्रामति यथा प्रदीपादिः, जन्मदेश एव च ध्वंसन्ते सर्वभावा इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । न चाऽसिद्धता हेतोः अन्यस्य क्षणिकत्वायोगात् । अथ यदि नाम भावानां क्षणिकतेष्यते तथाप्युत्पत्तिकाल एव किं नैषां क्रिया भवति ? नैतत्—यतः पाश्चात्यदेशविश्लेषे पुरोवर्त्ति-देशश्लेषे च सति गन्ता भावो भवति नाकाशादिः । न चैकक्षणमात्रभाविनः क्रियाकालविलम्बः सम्भवति येन प्राक्तनदेशपरिहारेणापरदेशमाक्रामेत् सत्ताकाल एव ध्वंसवशीकृतत्वात् । तन्न जन्मकालभाविनी क्रिया । नापि पूर्वोत्तरयोः कोट्योः, तस्यैव तदानीमभावात् । अतः उत्पत्तिक्षणात् परतः क्षणमपि यो न व्यवतिष्ठेत् तस्याऽऽस्तां विदूरतरदेशावक्रमणसम्भवः, परमाणुमात्रप्रदेशसंक्रमणमपि नास्तीति कुतः क्षणिकस्य क्रिया ?!

नाप्यक्षणिकस्यासौ युक्ता । यत एकरूपं हि सर्वदा वस्त्वक्षणिकमुच्यते, न च तस्याऽऽकाशवत्

प्रतिज्ञा में अनुमानबाधा आ पहुँचेगी । कैसे यह देखिये - उत्पन्न होने वाली क्रिया क्षणिक पदार्थों में होगी या अक्षणिक पदार्थों में ये दो विकल्प हैं ।

✽ क्षणिक भाव में क्रियाजन्म अशक्य ✽

क्षणिक पदार्थों में क्रियोत्पत्तिवाला विकल्प प्रशस्त नहीं है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ जिस देश में उत्पन्न हुआ उसी देश में ध्वस्त हो जाता है, अन्य देश के साथ उसका संयोग यानी प्राप्ति शक्य ही नहीं है तो तत्प्रेरक क्रिया का क्या मतलब ? प्रयोग देखिये - जो जिस देश में ध्वस्त होता है वह अन्यदेश में नहीं जा सकता जैसे प्रदीपादि । क्षणिक सर्वभाव जन्मस्थान में ही ध्वस्त होते हैं अतः अन्यत्र गति असम्भव है । यहाँ अन्यदेशगमन का व्यापक है जन्मदेश में अध्वंस, उसका विरोधी है जन्मदेश में ध्वंस, उसकी उपलब्धि यहाँ हेतु है । हेतु में असिद्धि दोष को अवकाश नहीं है, क्योंकि जो जन्मदेश में ध्वस्त नहीं होगा उस में क्षणिकत्व नहीं हो सकता, यहाँ तो क्षणिक भाव का विकल्प है ।

प्रश्न :- भाव क्षणिक भले हो, किन्तु उसकी उत्पत्तिक्षण में अन्यदेशप्राप्तिप्रेरक क्रिया उस में क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर :- प्रश्न अनुचित है, वास्तविकता ऐसी है कि पूर्वदेश को छोड़ कर अग्रिम देश में भाव के गमन की बात है आकाशादि की तो नहीं है । अब भाव तो एकक्षणमात्रस्थायी है वह क्रियाकाल के लिये अपने ध्वंस में विलम्ब तो नहीं कर सकता कि जिस से पूर्वदेश का त्याग कर के अन्य देश में गमन कर सके; वह तो अपनी सत्ताक्षण में ही ध्वंस को समर्पण कर देता है । अतः जन्मक्षण में क्रिया का उद्भव अशक्य है । जन्म के पूर्व या उत्तरक्षण में तो वह स्वयं ही नहीं है तो क्रिया कहाँ उत्पन्न होगी ? फलित यही होगा कि उत्पत्तिक्षण के दूसरे क्षण में जो टिक नहीं पाता वह अति दूर देश में संक्रमण की बात तो दूर, परमाणुप्रमित देश में भी संक्रमण करने में सक्षम नहीं है । निष्कर्ष - क्षणिक भाव में क्रिया का उद्भव अशक्य है ।

✽ अक्षणिक भाव में क्रियोत्पत्ति अशक्य ✽

अक्षणिक भाव में क्रिया का उद्भववाला विकल्प भी प्रशस्त नहीं है । अक्षणिक उस वस्तु को कहते हैं जो सर्वकाल में एक अविचलित स्वरूपधारी हो । आकाश सर्वकाल में एक अविचलित स्वरूपधारी होने से

सर्वदाऽविशिष्टत्वात् क्रियासमावेशो युक्तः । तथाहि — यत् सर्वदाऽविशिष्टं न तस्य क्रियासम्भवो यथाऽऽकाशस्य, अविशिष्टं च वस्तु अक्षणिकाभिमत्तं सर्वदेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः । न चाऽक्षणिकस्याऽविशिष्टत्वेऽपि प्रकृत्यैव गन्तुरूपत्वात् क्रियावत्त्वं भविष्यतीत्यनैकान्तिकता हेतोराशङ्कनीया, यतो यदि प्रकृत्यैवोत्क्षेपणादिक्रियायोगिनो भावा भवेयुस्तदा नैषां कदाचिन्निश्चलता भवेत् सर्वदा एकरूपत्वात् । अथागन्तुरूपताऽप्येषामङ्गीक्रियते तथासति सर्वदैकरूपत्वादाकाशवदगन्तारो भवेयुः । एवं च गत्यवस्थायामप्यचलत्वमेषां प्रसक्तमपरित्यक्तागतिरूपत्वाद् निश्चलावस्थावत् । अथोभयरूपत्वाद्देशामयमदोषः, नैवम् गन्तृत्वाऽगन्तृत्वविरुद्धधर्माध्यासादेकत्वव्याहृतिप्रसक्तेः क्षणिकतैवापद्येत भिन्नस्वभावयोरचलानिलयोरिवात्यन्तभेदात् ।

अनुमानविरोधवद् अध्यक्षविरोधोऽपि प्रतिज्ञायाः । तथाहि — ‘यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सद् नोपलभ्यते न तत् प्रेक्षावता ‘सत्’ इति व्यवहर्त्तव्यम् यथा क्वचित् प्रदेशविशेषेऽनुपलभ्यमानो घटः । नोपलभ्यते च विशिष्टरूपादिव्यतिरेकेण कर्मे’ति स्वभावानुपलब्धिः । तथा, तथादेशान्तरावष्टम्भो-

उस में जैसे क्रिया का समावेश नहीं होता वैसे ही सर्वकाल में एकस्वरूप अक्षणिक पदार्थ में भी क्रिया का समावेश अशक्य है । प्रयोग देखिये — जो सर्वकाल में अविशिष्ट यानी एक-सरीखा होता है उस में क्रियाप्रवेश सम्भव नहीं, जैसे आकाश । अक्षणिक माना गया पदार्थ भी सदा के लिये अविशिष्ट होता है । यहाँ क्रियाप्रवेश की व्यापक है भिन्नभिन्न काल में विविधता, उस का विरोधी है सर्व काल में अवैशिष्ट्य, उस की उपलब्धि यहाँ हेतु है जिस से यहाँ प्रसंगापादन किया गया है ।

✽ गतिशीलता की शंका का निवारण ✽

यदि यह शंका की जाय — भाव अक्षणिक यानी सर्वकाल में अविशिष्ट भले रहे, उपरांत स्वभाव ही उस का गतिशील होने से उस में क्रियावत्ता भी रहेगी, अतः आप के प्रयोग में हेतु साध्यद्रोही हो सकता है । — तो यह शंका अयोग्य है क्योंकि यदि पदार्थ स्वभावतः उत्क्षेपणादिक्रियाधारक ही रहेगा तो उन में कभी भी स्थैर्य का उपलम्भ ही नहीं होगा क्योंकि सर्वकाल में एकरूप होने से स्वभावतः सर्वदा गतिशील ही रहेगा । यदि उन में अगतिशीलता को भी मानेंगे तो सर्वदा स्वभावतः एकरूप यानी अगतिशील होने से आकाश की तरह अगामुक यानी स्थिर ही बने रहेंगे और ऐसा मानने पर गतिअवस्था में भी उन पदार्थों में अचलता को मंजूरी देनी पड़ेगी, क्योंकि निश्चलावस्था में जैसे अगतिस्वरूप का त्याग नहीं होता वैसे यहाँ गतिअवस्था में भी अगतिस्वरूप का त्याग नहीं है । यदि गति-अगति उभयरूपता का स्वीकार करने जायेंगे तो दोषमुक्त नहीं हो सकेंगे, क्योंकि गतिकारकत्व और अगतिकारकत्व ये दो विरुद्ध धर्म हैं अतः उन दोनों का प्रवेश होने पर वस्तु का एकत्व भाग जायेगा और भिन्न भिन्न स्वभाव के कारण पहाड़ और पवन की तरह उन स्थिर और गतिशील पदार्थों में भेद हो जाने से क्षणिकत्व का आगमन हो जायेगा ।

✽ पृथक् क्रिया के अंगीकार में प्रत्यक्षविरोध ✽

कर्मवादियों की प्रतिज्ञा में अनुमान का विरोध है, इसी तरह प्रत्यक्षविरोध भी है । कैसे यह देखिये — यहाँ स्वभावानुपलब्धि हेतु से प्रत्यक्षविरोध दिखाया जा रहा है — जो उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने पर भी उपलब्ध नहीं होता वह ‘सत्’ रूप से व्यवहारयोग्य नहीं होता जैसे किसी एक स्थान में न उपलब्ध होने वाला घडा । द्रव्य जब दृष्टिगोचर होता है तब रूप-संस्थानादि से पृथक् कर्म का उपलम्भ नहीं होता अतः वह भी ‘सत्’

त्पादिरूपादिव्यतिरेकेणेन्द्रियज्ञाने कर्मणः प्रतिभासानुपलक्षणादुत्क्षेपणादिबुद्धेस्तु साभिजल्पत्वात् अनध्यक्षत्वम् । न चेयं कर्मपदार्थानुभवसामर्थ्यभाविनी, यथासंकेतं तथोत्पद्यमानरूपादिवशेनोत्पत्तेः, 'नित्याऽनित्ययोग्ययोगात्' इति प्रतिपादनात् । गतिव्यवहारस्तु लोकेऽपरापरनैरन्तर्योत्पत्तिमत्पदार्थो-पलब्धेः 'स एवायं गच्छति' इति भ्रान्त्युत्पत्तेः प्रदीपादौ गमनव्यवहारवदुपपद्यत एव । न हि प्रदीपादिः स एव देशान्तरमाक्रामति षट्क्षणस्थायित्वेन तस्य परैरभ्युपगमात् । "स्वकारणसम्बन्धकालः प्रथमः ततः स्वसामान्याभिव्यक्तिकालः ततोऽवयवकर्मकालः ततोऽवयवविभागकालः ततः स्वारम्भकावयव-संयोगविनाशकालः ततो द्रव्यविनाशकालः" () इति प्रक्रियोपवर्णनात् । अथ च तत्रापि 'स एव प्रदीपादिर्गच्छति' इति व्यवहारप्रवृत्तिरिति नान्यथासिद्धाद् व्यवहारमात्राद् द्रव्यव्यतिरिक्तकर्माभ्युप-गमः श्रेयानिति स्थितम् ॥

पराऽपरभेदभिन्नं सामान्यमपि द्रव्य-गुण-कर्मात्मकपदार्थत्रयाश्रितत्वाभ्युपगमात् तन्निरासान्निरस्तमेव

रूप से व्यवहार योग्य नहीं है । इस तरह अनुपलब्धि से प्रत्यक्ष विरोध फलित हो जाता है । इन्द्रियजन्य ज्ञान में क्षण क्षण में अग्रिमाग्रिमप्रदेश का अवष्टम्भ यानी आशरा ले कर नये नये रूपादि का उद्भव दिखाई देता है किन्तु उन से अधिक कर्म का प्रतिभास महसूस नहीं होता । 'उत्क्षेपणादि बुद्धि भी होती है उसको क्यों छिपाते हैं ?' छिपाने की बात नहीं है, वहाँ जो ऊर्ध्वादि दिशा की ओर नये नये रूपादि की उत्पत्ति होती है उस को देख पूर्व वासना के अनुसार मन में जो अभिजल्प होता है 'यह ऊपर जा रहा है' उसी का अनुभव होता है, कर्म का नहीं । और शब्दानुबुद्धि यह बुद्धि प्रत्यक्षरूप नहीं होती । उस बुद्धि में ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि वह कर्मात्मक स्वतन्त्र भाव का अनुभव निपजावे । वह तो पूर्वकृत संकेत के अनुरूप निरन्तर अवस्था में उत्पन्न होनेवाले रूपादि को देख कर ही उत्पन्न होती है । यह वास्तविक कहा गया है कि न तो क्षणिक पदार्थ में गति सम्भव है, न नित्य में ।

लोक में जो सर्वविदित गतिव्यवहार है उसका उपपादन कैसे करेंगे ? इस प्रकार, देखिये - नये नये निरन्तर समीपवर्ती गगनप्रदेशों में नियत दिशा के अभिमुख जब क्षण क्षण में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को देखते हैं तब 'यह वही जा रहा है' ऐसी भ्रमणा होती है - उसी से गतिव्यवहार होता है । जैसे प्रदीपादि में गतिव्यवहार होता है । जब दीपपात्र को झुलाया जाता है तब जानते तो सब है कि दीपज्योत क्षण क्षण में नयी नयी उत्पन्न होती है, फिर भी निरन्तरोत्पत्ति के कारण दीपज्योत में भी 'यह वही दीप झुल रहा है' ऐसी भ्रमणा और व्यवहार होता है । वहाँ 'एक ही प्रदीपादि देशान्तर में संचार करता है' ऐसा तो आप भी नहीं मान सकते, क्योंकि आप तो मानते हैं कि प्रदीपादि छः क्षण मात्र जीवित होते हैं । आपकी यह प्रक्रिया है याद कीजिये - प्रथम क्षण में अपने समवायि कारणों का सम्बन्ध होता है, दूसरा क्षण उसकी सामान्याभिव्यक्ति का होता है, तीसरे क्षण में उसमें विभागजनक क्रिया होती है, चौथे क्षण में समवायि अवयवों में विभाग जन्म लेता है, पाँचवे क्षण में अपने आरम्भक अवयवों के संयोग का नाश होता है, छठे क्षण में अवयवी द्रव्य का विनाश होता है । ऐसी प्रक्रिया जानते हुए भी वहाँ वही 'प्रदीपादि झुल रहा है' ऐसा जो व्यवहारप्रवर्तन होता है वह निरन्तरोत्पत्ति से अन्यथासिद्ध है, अतः सिर्फ व्यवहार के बल से द्रव्य से पृथक् कर्म का अंगीकार प्रशस्त नहीं है - यह निष्कर्ष है ।

❀ सामान्यपदार्थ का निरसन ❀

पर और अपर दोनों प्रकार के सामान्य को द्रव्य, गुण या कर्म ये तीन पदार्थों में आश्रित माना गया

आश्रयमन्तरेणाऽऽश्रितानां सद्भावेऽनाश्रितत्वप्रसङ्गात् । तथापि परेषां तत्राभिनिवेश इति पराभ्युपग-
मप्रदर्शनपूर्वकः तद्विशेषप्रतिषेधप्रदर्शनमार्गः प्रदर्श्यते ।

तत्र सामान्यं द्विविधम् परम् अपरञ्च । परं सत्ताख्यम् तच्च त्रिषु द्रव्य-गुण-कर्मसु पदार्थेषु
अनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात् सामान्यमेव न विशेषः । अपरं तु द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिलक्षणम्
तच्च स्वाश्रयेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यमित्युच्यते । स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो
व्यावृत्तप्रत्ययहेतुतया विशेषणात् सामान्यमपि सद् विशेषसंज्ञां लभते । तथाहि — द्रव्यादिषु ‘अगुणः’
इत्यादिका येयं व्यावृत्तबुद्धिरुत्पद्यते तां प्रत्येषामेव हेतुत्वं नान्यस्य । न हि अगुणत्वादिकमपरमस्ति ।
अपेक्षाभेदाच्चैकस्य सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते । यद्वा सामान्यरूपता मुख्यतः विशेषसंज्ञा तूपचारतः,

है किन्तु जब उन तीन पदार्थों का निरसन हो गया तो ‘सामान्य’ जो उन का आश्रित होने से उन के विना
रह ही नहीं सकता, उस का अनायास निरसन हो जाता है । यदि आश्रय के विना भी आश्रित के अडे रहने
की कल्पना करेंगे तो उसके आश्रितत्वस्वरूप का ही भंग-प्रसंग सिर उठायेगा । तथ्य इतना स्पष्ट होने पर
भी अन्य वादीयों को सामान्य के स्वीकार में दृढ आग्रह है तो एक बार उस के अस्तित्व का अनैच्छिक स्वीकार
करके हम यह प्रदर्शित करेंगे कि कल्पित सामान्य में अनेक बाबतों का मेल नहीं खाता ।

✽ सामान्य के परापरभेद ✽

सामान्य के दो प्रकार हैं पर और अपर । ‘सत्ता’ ही पर सामान्य है क्योंकि वह सर्वाधिक व्यापक सामान्य
है । यदि सत्ता से भी अधिक व्यापक कोई सामान्य होता तो वही ‘पर’ हो जाता और सत्ता अपर बन जाती,
किन्तु वैसा है नहीं । सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों पदार्थों में रहती है क्योंकि ‘द्रव्य सत् है गुण सत्
है क्रिया सत् हैं’ ऐसा अनुगत सत्ताप्रत्यय तीनों में होता है । ‘सत्ता’ सिर्फ इस अनुगतप्रतीति में ही हेतु
बनती है न कि किसी व्यावृत्तप्रतीति में, अतः वह ‘सामान्य’रूप ही है न कि विशेषरूप भी । द्रव्यत्व गुणत्व
या कर्मत्व इत्यादि अपर सामान्य हैं । ये द्रव्यत्वादि, अपने आश्रयभूत द्रव्यादि के विषय में अनुगतप्रतीति के
हेतु बनते हैं अतः उन्हें ‘सामान्य’ संज्ञा प्राप्त है, दूसरी ओर अपने आश्रयभूत द्रव्यादि को विजातीय गुणादि
पदार्थों से व्यावृत्तप्रतीति को भी जन्म देते हैं, इस प्रकार भेदप्रकाशानात्मक ‘विशेषण’रूप कार्य करने से उसे
‘विशेष’ संज्ञा भी प्राप्त है । स्पष्टता — द्रव्य के बारे में ‘यह गुण नहीं है’ ऐसी जो व्यावृत्तिआकार बुद्धि
उत्पन्न होती है उस के प्रति भी द्रव्यत्वादि अपर सामान्य ही हेतु होते हैं न कि अन्य कोई । अगुणत्वादि
किसी अपर सामान्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं है कि जिस से ‘अगुणः’ इत्यादि आकार बुद्धि का जन्म हो
सके । एक ही सामान्य में अपेक्षाभेद से सामान्यरूपता और विशेषरूपता दोनों के स्वीकार में कोई विरोध
नहीं है, सामानाकारबुद्धि के जन्म की अपेक्षा सामान्यरूपता और भेदाकारबुद्धिजन्म की अपेक्षा विशेषरूपता
दोनों समानाधिकरण हो सकते हैं । यदि इसमें अनेकान्तवादप्रवेश का डर हो तो ऐसा भी कह सकते हैं कि
मुख्यतया द्रव्यत्वादि में सामान्यरूपता ही है, उपचार से उन में ‘विशेष’ संज्ञा की प्रवृत्ति हो सकती है क्योंकि
स्वतन्त्र विशेषपदार्थ की तरह द्रव्यत्वादि भी व्यावृत्ताकार बुद्धि के जनक होते हैं । सामान्य प्रत्यक्षप्रमाण से
सिद्ध हैं, क्योंकि इन्द्रियसंनिकर्ष से अनुगताकार प्रतीति जन्म लेती है, इन्द्रियसंनिकर्ष न होने पर अनुगताकार
प्रतीति जन्म नहीं लेती ।

✽ सामान्य का साधक अनुमान ✽

अनुमान प्रमाण से भी सामान्य सिद्ध है । देखिये — भिन्न भिन्न खण्डित, मुण्डित, शबलवर्ण आदि गोपिण्डों

विशेषाणामिव द्रव्यत्वादीनामपि व्यावृत्तबुद्धिनिबन्धनत्वात् । सामान्यस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्य-
नुगताकारप्रत्ययग्राह्यत्वादध्यक्षतः प्रसिद्धिः ।

तथा, अनुमानाच्च । तथाहि — व्यावृत्तेषु खण्ड-मुण्ड-शाबलेयादिषु अनुगताकारः प्रत्ययः
तद्व्यतिरिक्तानुगताकारनिमित्तनिबन्धनः व्यावृत्तेष्वनुगताकारप्रत्ययत्वात्; यो यो व्यावृत्तेष्वनुगताकारः
प्रत्ययः स स तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः यथा चर्म-चीर-कम्बलेषु नीलप्रत्ययः, तथा चायं
शाबलेयादिषु 'गौः' 'गौः' इति प्रत्ययः, तस्मात् तद्व्यतिरिक्तानुगताकारनिमित्तनिबन्धनः इति ।
तथाहि — नेदमनुस्यूताकारज्ञानं पिण्डेषु निर्हेतुकम् कादाचित्कत्वात् । न शाबलेयादिपिण्डनिबन्धनम्
तेषां व्यावृत्तरूपत्वात् अस्य चानुगतरूपत्वात् । यदि चेदं पिण्डमात्रप्रभवं स्यात् तदा शाबलेयादिष्विव
कर्कादिष्वपि 'गौः गौः' इत्युल्लेखेनोत्पद्येत पिण्डरूपतायास्तेष्वपि अविशेषात् । अथ वाहदोहाद्यर्थ-
क्रियानिबन्धनेष्वेव तेषु 'गौः गौः' इति प्रत्ययहेतुता । न, तदर्थक्रियाऽभावेऽपि वत्सादौ गोबुद्धि-
प्रवृत्तेर्महिष्यादौ तत्सद्भावेऽपि चाऽप्रवृत्तेः ।

किञ्च, अर्थक्रियाया अपि प्रतिव्यक्तिभेदे कुतोऽनुगताकारज्ञानहेतुता ? अभेदे सिद्धमनुगतनिमित्त-
निबन्धनत्वमस्य ज्ञानस्य । न चास्य बाधितत्वम्, सर्वदा सर्वत्र सर्वप्रमातृणां शाबलेयादिषु

में 'यह गाय है' ऐसा जो समानाकार बोध होता है वह उन पिण्डों से अतिरिक्त समानाकाररूप निमित्त से प्रभावित है क्योंकि वह भिन्न पिण्डों में समानाकारप्रतीति रूप है । भिन्न भिन्न व्यक्ति में जो समानाकारप्रतीति होती है वह उन व्यक्तियों से पृथक् एक निमित्त से जन्य होती है जैसे — चमड़ा, वस्त्रखंड, कम्बलादि में नीलाकार प्रतीति, चर्मादि से अतिरिक्त नील रूप से जन्य होती है । ऐसे ही शबलवर्णादि पिण्डों में 'यह गाय है' ऐसी प्रतीति होती है, अतः वह भी उन पिण्डों से अतिरिक्त समान 'गोत्व' रूप सामान्य से जन्य होनी चाहिये ।

इस तथ्य की दृढता देखिये — भिन्न भिन्न पिण्डों में यह अनुविद्धाकार ज्ञान कभी कभी ही होता है इसलिये निर्हेतुक नहीं हो सकता । शबलवर्णादि पिण्डमात्रमूलक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे पिण्ड परस्पर भिन्नस्वरूप हैं जब कि यह प्रतीति अभेदाकारवगाही है । सिर्फ पिण्डमात्र से ही यदि वैसी प्रतीति बन सकती तो अश्वादि पिण्डों में भी 'यह गाय है, वह भी गाय है' ऐसे उल्लेख के साथ उत्पन्न हो जाती, क्योंकि अश्वादि में समानरूप से गाय आदि की तरह पिण्डरूपता विद्यमान है । यदि कहा जाय — 'जिन पिण्डों से वहन-दोहनादिक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं उन में ही 'यह गौ है — गौ है' इस प्रकार के बोध की हेतुता मान ली जाय तो अश्वादि से वैसी प्रतीति होने का प्रसंग नहीं रहता और अतिरिक्त निमित्त मानने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दोहनादि अर्थक्रिया के विरह में, बछड़े आदि में 'गाय' बुद्धि प्रवर्तमान है, दूसरी ओर दोहनादि क्रिया के रहते हुए भी महिषी आदि में गो-बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती, अतः समानाकार प्रतीति को अर्थक्रियामूलक मानना असम्भव है ।

✽ विभिन्न पिण्डों में समानाकारज्ञान का निमित्त ✽

दूसरी बात यह भी है कि भिन्न भिन्न पिण्डों की अर्थक्रिया भी भिन्न भिन्न होती है, तो उन में जो समानाकार ज्ञान होगा उसका हेतु किस को बतायेंगे ? उन अर्थक्रियाओं में तो अन्य कोई अर्थक्रिया नहीं होती । तब यदि भिन्न भिन्न पिण्डों में पिण्डभेद से अर्थक्रियाभेद न मान कर सभी पिण्डों में एक ही अर्थक्रिया

अनुस्यूतप्रत्ययोत्पत्तेः । न च दुष्टकारणप्रभवत्वम् विशदनेत्राणामप्यनुस्यूताकारस्याक्षजप्रत्यये प्रतिभासनात् । न च संशयविपर्ययानध्यवसायरूपतयाऽस्योत्पत्तिः, तद्वैपरीत्येनास्य प्रतिभासनात् । न चैवम्भूतस्यापि प्रत्ययस्याऽप्रमाणता स्वलक्षणविषयस्यापि तस्याप्रमाणताप्रसक्तेः । न च प्रतीयमानस्यापि अनुगतप्रत्ययस्यापलापः शक्यते कर्तुम्, सर्वत्ययापलापप्रसक्तेः । तस्मादनुगतप्रत्ययनिमित्तत्वात् सामान्यसद्भावः सिद्धः ।

अत्र प्रतिविधीयते — यत् तावदुक्तम् ‘अध्यक्षप्रत्ययादेव सामान्यं प्रतीयते’ इति तदयुक्तम्, शाबलेयादिव्यतिरेकेणापरस्यानुगताकारस्याक्षजप्रत्यये सामान्यस्याऽप्रतिभासनात् । न हि अक्षव्यापारेण शाबलेयादिषु व्यवस्थितं सूत्रकण्ठे गुण इव भिन्नमनुगताकारं सामान्यं केनचिद्भ्रश्यते । ‘गौः गौः’ इति विकल्पज्ञानेनापि त एव सामानाकाराः शाबलेयादयो बहिर्व्यवस्थिता अवसीयन्तेऽन्तश्च शब्दोल्लेखः, न पुनस्तद्भिन्नमपरं गोत्वम् । तन्न निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वाऽध्यक्षेण सामान्यं व्यवस्था-

मानने जायेंगे तो अनायास समानाकार ज्ञान में अनुगत निमित्त की हेतुता सिद्ध हो जायेगी, फिर उस निमित्त की ‘सामान्य’ संज्ञा हो या ‘अर्थक्रिया’ — उसका महत्त्व नहीं है । अनुगताकार प्रतीति को मिथ्या या बाधित नहीं मान सकते क्योंकि शबलवर्णादि पिण्डों में हमेशा के लिये सभी निर्भ्रान्त ज्ञाताओं को अनुगताकार बोध उदित होता है । उपरांत, ऐसा नहीं कह सकते कि अनुगताकार बोध सदोष हेतुओं से होता है, अर्थात् वह प्रतीति दोषमूलक होने से अनुगत निमित्त की सिद्धि उससे अशक्य है — कारण यह है कि निर्दोषनेत्रवाले लोगों को भी इन्द्रियजन्यबोध में अनुगत आकार का भान होता रहता है । यदि बौद्धवादी निर्दोष अभ्रान्त प्रतीति को भी अप्रमाण करार देंगे तो स्वलक्षणविषयक निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी अप्रमाणता का अतिप्रसंग होगा । अत्यन्त अनुभवसिद्ध अनुगताकार बोध का तिरस्कार भी करना अनुचित है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध का तिरस्कार करने पर सभी प्रतीतियाँ तिरस्कार की शिकार बन जायेगी ।

उक्त चर्चा से; यह निष्कर्ष फलित किया जाता है कि ‘सामान्य’ पदार्थ का सद्भाव प्रमाण-सिद्ध है, क्योंकि वह समानाकार बोध का हेतु है । कार्यलिङ्गक अनुमान से कारण का अस्तित्व सिद्ध होना सर्वसाधारण तथ्य है ।

✽ प्रत्यक्ष में स्वतन्त्र सामान्य का अप्रतिभास ✽

सामान्य का प्रतिविधान :- ‘प्रत्यक्षप्रतीति से ही सामान्य का बोध होता है’ ऐसा जो फरमाया वह गलत है, क्योंकि अनुगताकार प्रत्यक्षप्रतीति में शबलवर्णादि के अलावा और किसी सामान्य का प्रतिभास नहीं होता । चक्षुप्रयोग से किसी को भी यह लक्षित नहीं होता कि सूत्रकण्ठ (ब्राह्मण के गले) में धागे (जनोउ) की तरह शबलवर्णादि पिण्डों में कोई उन से भिन्न अनुगताकार सामान्य उपस्थित है । ‘गाय-गाय’ इस विकल्पज्ञान में भी बहिर्देशस्थ वे ही शबलवर्णादि समानाकार पिण्ड भासित होते हैं और अन्तर में ‘गाय’ ऐसा शब्दोल्लेख अनुभूत होता है किन्तु उन से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र गोत्व भासित नहीं होता । इस से यही फलित हुआ कि सामान्य की स्थापना न तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सम्भव है न सविकल्पप्रत्यक्ष से ।

✽ प्रत्यक्षगोचर पिण्डों से ही अनुगतप्रतीति ✽

अनुगताकारप्रतीतिस्वरूप कार्यलिङ्गक अनुमान से सामान्य की स्थापना दिखायी गयी है वह भी असंगत है, क्योंकि उस प्रतीति के हेतुरूप में सामान्य का निश्चय प्रमाण से नहीं होता । हाँ, वहाँ इतना मात्र सिद्ध

✽ सूत्रकण्ठः खञ्जरीटे द्विजन्मनि कपोतके (है० अने० ४-७०) ।

पयितुं शक्यम् । यदपि कार्यभूतानुगतप्रत्ययेनानुमानतः सामान्यव्यवस्थापनम् — तदप्यसंगतम् तस्य प्रत्ययहेतुत्वेन प्रमाणतोऽनिश्चयात् । तथाहि — अनुगताकारज्ञानस्य निर्निमित्तस्याऽसम्भवात् केन-चिन्निमित्तेन भाव्यभित्येतावन्मात्रं सिध्यति । तच्च सामान्यम् अन्यद्वेति न निश्चयो भवताम् । कार्या-न्वय-व्यतिरेकाभ्यां च कारणत्वावधारणम् पिण्डानाञ्च विज्ञानजन्मनि ततः सामर्थ्यं विशेषप्रत्यये सिद्धमितीहापि तेषामेव सामर्थ्यप्रकल्पनम्, न सामान्यस्य, तस्य क्वचिदपि सामर्थ्यानवधारणात् । तथाहि—पिण्डसद्भावेऽनुगताकारं ज्ञानमुपलभ्यते तदभावे नेति वरमध्यक्षप्रत्ययावसेयानां तेषामेव तन्नि-मित्तता कल्पनीया ।

यदपि 'पिण्डानामविशिष्टत्वात् प्रतिनियमो न स्यात् तज्जन्मनि' इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम्; यतो यथा पिण्डादिरूपतयाऽविशेषेऽपि तन्तूनामेव पटजन्मनि हेतुत्वम् न कपालादीनाम् तथा शबलेयादी-नामेव 'गौः गौः' इति ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यं भविष्यति कयाचिद् युक्त्या न कर्कादीनाम् । यथा वा गडूच्यादेरेव ज्वरादिशमने सामर्थ्यं प्रतीयते न दध्यादेर्वस्तुरूपतयाऽविशेषेऽपि, तथा प्रकृतेऽपि भविष्यतीति न पर्यनुयोगो युक्तः । किञ्च, सामान्यं परेण मूर्त्तमभ्युपगम्यतेऽमूर्त्तं वा ? यद्यमूर्त्तम्

हो सकता है कि उस अनुगताकार प्रतीति का कोई निमित्त होना चाहिये क्योंकि विना निमित्त के अनुगताकार बोध सम्भव नहीं है । फिर भी उस अनुमान से आप यह निश्चय नहीं कर पाते कि वह निमित्त 'सामान्य' ही है या अन्य कोई । यह सुनिश्चित तथ्य है कि कारणता का निश्चय कार्यानुगामी अन्वय-व्यतिरेक सहचार से होता है, जब विना किसी स्वतन्त्र विशेष को माने भी विशेषाकार प्रतीतिरूप विज्ञान की उत्पत्ति के प्रति गाय आदि पिण्डों को ही सक्षम माने जाते हैं वैसे ही अतिरिक्त सामान्य के विना भी उन्हीं पिण्डों में ही समानाकार बोध का जननसामर्थ्य मान सकते हैं न कि सामान्य में, क्योंकि किसी भी दाहादि क्रिया के प्रति सामान्य का सामर्थ्य निश्चित नहीं है । स्पष्ट तथ्य यह फलित होता है — पिण्ड के होते हुए समानाकार ज्ञान उपलब्ध होता है, पिण्ड के विरह में वह उपलब्ध नहीं होता, अतः प्रत्यक्षप्रतीतिगोचर पिण्डों में ही अनुगताकारप्रतीति की हेतुता मान लेनी चाहिये ।

✽ अश्वादि से गो-बुद्धि की आपत्ति निरवकाश ✽

यह जो कहा था — पिण्डमात्र से ही समानाकार बुद्धि का जन्म मानने पर अश्वादि पिण्डों से भी 'गाय-गाय' ऐसी बुद्धि सम्भव होने से कोई नियम ही नहीं रहेगा क्योंकि पिण्डरूपता गाय और अश्वादिपिण्डों में समानरूप से मौजूद है — यह कथन गलत है । कारण, तन्तु — कपालादि में पिण्डरूपता साधारण हाने पर भी वस्त्र के प्रति तन्तु और घट के प्रति कपाल ही हेतु बनता है, वस्त्र के प्रति तन्तु हेतु नहीं होता यह प्रसिद्ध तथ्य है वैसे ही अश्वादि और शबलवर्ण गो आदि में पिण्डरूपता साधारण होने पर भी शबलवर्ण गो आदि में ही समानाकार 'गाय-गाय' ज्ञान का जननसामर्थ्य रहेगा न कि अश्वादि में, चाहे कोई भी युक्ति यहाँ साधक बनेगी । अथवा गलो-औषधि और दही आदि में वस्तुरूपता साधारण होने पर भी बुखार के शमन में गलो - सुदर्शनचूर्ण आदि का ही सामर्थ्य होता है न कि दही का, इसी तरह 'गाय-गाय' समानाकार बुद्धि के लिये भी समाधान सुलभ है । यहाँ गलो आदि भिन्न भिन्न औषधियों में कोई 'सामान्य' नहीं माना जाता तो वैसे ही शबलवर्णादि में भी सामान्य का प्रश्न निरर्थक है ।

✽ सामान्यसमीक्षा में मूर्त्तामूर्त्त विकल्प ✽

मूर्त्तत्वादि विकल्प भी प्रसक्त हैं, जैसे देखिये — सामान्य मूर्त्त है या अमूर्त्त ? अमूर्त्त वस्तु सामान्यरूप

न सामान्यं स्याद् रूपवत् । अथ मूर्त्तम् तथा च न सामान्यं घटादिवत् । तथा, यदि अनंशं सामान्य-मभ्युपगम्यते तर्हि न सामान्यमनंशत्वात् परमाणुवत् । सांशत्वेऽपि न सामान्यम् घटवत् । किञ्च, यदि पिण्डेभ्यो भिन्नं सामान्यम्, भेदेनैवोपलभ्येत घटादिभ्य इव पटः । न चैकान्ततो व्यक्तिभ्यः सामान्यस्य भेदे 'गोर्गोत्वम्' इति व्यपदेशोपपत्तिः सम्बन्धाभावात्, समवायस्य तत्सम्बन्धत्वेन निषेत्स्यमानत्वात् । व्यक्तिभ्यस्तस्याऽभेदेऽन्यत्राननुयायित्वाद् न सामान्यरूपता पिण्डस्वरूपवत् । न च भेदेन व्यक्तिभ्यस्तस्याऽनुपलक्षणं भिन्नप्रतिभासविषयत्वादसिद्धम्, बुद्धिभेदस्य व्यक्ति-निमित्तत्वेन प्रतिपादनात् । किञ्च, यदि सामान्यबुद्धिर्व्यक्तिभिन्नसामान्यनिबन्धना भवेत् तदा व्यक्त्यग्रहणेऽपि भवेदश्वबुद्धिवद् गोपिण्डाऽग्रहणे, न च कदाचित् तथा भवेत् । ततो न व्यक्तिव्यतिरिक्तसामान्य-सद्भावः ।

अथाधारप्रतिपत्तिमन्तरेणाधेयप्रतिपत्तिर्न भवतीति तद्ग्रह एव तद्ग्रहः नाऽभावात्, अन्यथा कुण्डा-द्याधारप्रतिपत्तिमन्तरेण बदराधेयस्याऽप्रतिपत्तेः तस्याप्यभाव एव स्यात् । न, बदरादेः प्रतिनियताधार-

नहीं हो सकती जैसे 'रूप' अमूर्त्त है और सामान्यात्मक नहीं है । मूर्त्त वस्तु भी सामान्यरूप नहीं हो सकती जैसे घट मूर्त्त है तो वह सामान्यात्मक नहीं है । सामान्य यदि निरंश माना जाय तो परमाणु की तरह वह सामान्यात्मक नहीं होगा क्योंकि निरंश है । यदि अंशवत् माना जाय तो घट की तरह वह 'सामान्य' नहीं होगा ।

✽ भेदाभेद विकल्पों की अनुपपत्ति ✽

उपरांत, भेदाभेद विकल्प भी प्रसक्त हैं, सामान्य यदि पिण्डों से सर्वथा भिन्न होगा तो सदा के लिये घटादि से भिन्न वस्त्र की तरह पिण्डों से पृथक् ही उपलब्ध होगा । तथा, सामान्य एकान्तरूप से व्यक्तियों से भिन्न होगा तो 'गाय का गोत्व' इस प्रकार व्यवहार शक्य नहीं होगा क्योंकि एकान्त भेद में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । समवाय भी वहाँ सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि सामान्य-विशेष के बाद समवाय का भी निरसन आगे किया जायेगा । यदि सामान्य व्यक्तियों से एकान्तरूप से अभिन्न होगा तो जिस एक पिण्ड में रहेगा उसी में समाविष्ट हो जाने से अन्य पिण्ड में उसकी अनुवृत्ति नहीं हो सकेगी, जैसे एक पिण्ड के स्वरूप की अन्य पिण्ड में अनुगामिता नहीं होती । अतः अनुवृत्तिविरह के कारण वह सामान्यरूप नहीं रहेगा । यदि कहा जाय - पिण्डादि से अतिरिक्त सामान्य उपलक्षित नहीं होता इस बात में कोई तथ्य नहीं है क्योंकि पिण्डादि से अतिरिक्त स्वरूप गोत्वादिसामान्य का अनुगताकार प्रतिभासगोचर होना सुविदित है - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पहले ही कह आये हैं कि अनुगताकार प्रतीति विशेषव्यक्तिमूलक ही होती है न कि सामान्य-मूलक । तथा, सामान्यबुद्धि यदि व्यक्तिभिन्न सामान्य-मूलक मानी जाय तो कभी व्यक्ति अगृहीत रहने पर भी सामान्य का ग्रहण हो सकता है, जैसे गो-व्यक्ति अगृहीत रहने पर भी गो से सर्वथा भिन्न अश्व का ग्रहण होता है । किन्तु तथ्य यह है कि व्यक्ति के अज्ञात रहने पर कभी भी सामान्यबुद्धि नहीं होती । अतः व्यक्ति से भिन्न सामान्य का सद्भाव नहीं है यह फलित होता है ।

✽ सामान्याभाव ही भेदग्रहाभावप्रयोजक ✽

सामान्यवादी :- आधार का ज्ञान न होने पर आधेय का ज्ञान नहीं होता यह नियम है । अतः व्यक्ति का ग्रहण होने पर ही सामान्य का ग्रहण हो सकता है । अतः गोत्वादि सामान्य का अग्रहण व्यक्ति-अग्रहणमूलक

मन्तरेणापि स्वरूपेणोपलब्धेर्नाभावः, गोत्वादेस्तु प्रतिनियतपिण्डोपलम्भमन्तरेण स्वरूपेण कदाचनाऽपि अनुपलब्धेरभाव एव । तेन 'तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्' इत्यत्र 'सामान्याभिव्यञ्जकपिण्डग्रहण एव तदभिव्यङ्ग्यसामान्यबुद्धिसद्भावात् - प्रकाशग्रहणे एव गृह्यमाणघटादिसत्त्ववत् - सामान्यस्यापि सत्त्वम्' इति यदुक्तं तद् निरस्तं भवति घटनिमित्तघटबुद्धिवत् सामान्यनिबन्धनत्वेन तद्बुद्धेरसिद्धेः ।

किञ्च, सामान्यं निराधारं वाऽभ्युपगम्येत आधारवद्वा ? यदि निराधारम् न सामान्यं स्यात् अनाधारत्वात् शशशृङ्गवत् । आधारवत्त्वेऽपि तस्य तत्र वृत्त्यनुपपत्तिः । तथाहि - तस्यैकदेशेन वा तत्र वृत्तिर्भवेत् सर्वात्मना वा ? सर्वात्मना वृत्तावेकस्मिन्नेव पिण्डे सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाद् यावन्तः पिण्डाः तावन्ति सामान्यानि स्युः, न वा सामान्यम् एकपिण्डवृत्तित्वाद् रूपादिवत् । एकदेशवृत्तावपि न सामान्यं स्यात् सामान्यस्य निरंशत्वेनैकदेशाऽसम्भवात् । सम्भवेऽपि ते ततो भिन्ना वा स्युः अभिन्ना वा ? यदि भिन्नास्तदा तेषु सामान्यं वर्तत उत नेति ? यदि वर्तते तदा किं सर्वात्मना उतैकदेशेन ? यदि सर्वात्मना, तावत्सामान्यप्रसक्तिः प्रत्येकमेकदेशे तस्य परिसमाप्तत्वात्, न वा सामान्यम् प्रदेशवृत्तित्वाद् घटवत् । अथैकदेशेन एकदेशेषु वृत्तिः तदा तेऽप्येकदेशा यदि ततो भिन्नास्तदा तेष्वपि

हो सकता है न कि अभाव होने से । ऐसा न माने तो वहाँ बेर का भी अभाव मानना होगा जहाँ कुण्डात्मक आधार न दिखने पर बेर रूप आधेय भी नहीं देखाई देगा ।

प्रतिवादी :- यह कथन अयुक्त है । कारण, बेर की स्वतन्त्र उपलब्धि उस के नियत आधार का अनुपलम्भ होने पर भी हो सकती है अतः आधार अनुपलब्ध रहने पर बेर के अभाव का प्रदर्शन अनुचित है, किन्तु प्रस्तुत में नियत पिण्डोपलम्भ के विना कभी भी स्वरूपतः गोत्वादि जाति की उपलब्धि नहीं होती, अतः उस के, व्यक्ति से अतिरिक्त होने का निषेध हो सकता है । अतः व्यक्ति का ग्रहण न होने पर जाति का भान नहीं होता, इसलिये यहाँ जो सामान्यवादी का कहना है कि 'सामान्य के व्यञ्जक पिण्ड का ग्रहण होने पर ही पिण्ड से अभिव्यङ्ग्य सामान्य की उपलब्धि होती है । जैसे, प्रकाश का ग्रहण होने पर ही गृहीत होने वाले घटादि का सत्त्व सिद्ध होता है, वैसे ही अभिव्यङ्ग्य सामान्य का भी सत्त्व सिद्ध होता है ।' - यह कथन गलत सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे घट की बुद्धि घटसत्त्वमूलक सिद्ध होती है वैसे यहाँ सामान्याकारबुद्धि सामान्यमूलक सिद्ध नहीं है, किन्तु व्यक्तिमूलक ही होती है ।

✽ सामान्य की वृत्ति पर एकदेश-पूर्णता विकल्प ✽

और भी सोचिये - सामान्य को निराधार माना जाय या साधार ? जो निराधार है वह आधारशून्य होने से शशसींग की भाँति सामान्यात्मक नहीं हो सकता । यदि उसे आधारयुक्त माना जाय तो भी आधार में उसकी वृत्तित्ता का उपपादन कठिन है । देखिये - सामान्य की आधार में वृत्तित्ता एकदेश से होगी या सम्पूर्णरूप से ? यदि सामान्य को सम्पूर्णरूप से आधार में रहनेवाला माना जाय तो एक ही पिण्ड में उसका पूर्णतया समावेश हो जाने से अन्य पिण्डों में अन्य अन्य सामान्य को रखना होगा, यानी जितने गो-पिण्ड उतने गोत्व-सामान्य मानने होंगे । यदि उतने न मान कर एक ही मानेंगे तो उसकी सामान्यरूपता का भंग हो जायेगा, क्योंकि रूपादि की तरह वह भी सिर्फ एक ही पिण्ड में रहनेवाला है । यदि एक देश से वृत्तित्ता मानी जाय तो वह सम्भव नहीं है क्योंकि सामान्य को निरंश माना गया है अतः उसके कोई देश ही सम्भव नहीं है, अतः एकदेश से रहनेवाला पदार्थ सामान्यात्मक नहीं हो सकता । यदि उसके देश(अंश) भी मान लिये जाय

अपरैकदेशवशाद्धृत्तिरित्यनवस्था प्रसक्तिः । अथाभिन्नास्तदा तेषां सामान्यरूपत्वात् तावन्ति सामान्यानि स्युः । न च सामान्यात्मकानां तेषां करणरूपता युक्ता येन तैः पिण्डेषु सामान्यं वर्तेत, न हि घटत्वादिसामान्यं गोत्वस्य पिण्डवृत्तौ करणत्वेनोपलब्धम् । न च सामान्यस्यानुवृत्त्येकरूपत्वात् कात्स्न्यैकदेशशब्दयोस्तत्राऽप्रवृत्तिः, निरवयवैकरूपेऽपि व्याप्यव्याप्तिशब्दयोर्भवतैव प्रवृत्त्यभ्युपगमात् तत्र च कृत्स्नैकदेशवृत्तिपक्षोक्तदोषाणां समानत्वात् अपरस्य चात्र वक्तव्यस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् । तत्र वृत्त्यनुपपत्तेः सामान्यस्य सत्त्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् ।

किञ्च, पिण्डोत्पत्तिकाले किं गवात्मकेन पिण्डेन गोत्वं सम्बध्यते उताऽगवात्मकेन ? यद्याद्यः पक्षस्तदा गोत्वसम्बन्धात् प्राक् पिण्डस्य यद्यपरगोत्वसम्बन्धाद् गोरूपता तदाऽनवस्थाप्रसक्तिः । अथ तत्सम्बन्धमन्तरेणाऽपि तस्य गोरूपता तदा गोत्वसम्बन्धवैयर्थ्यम् तन्तरेणापि गोपिण्डस्य प्रागेव गोरूपत्वात् । अथागोरूपेण तदाऽगोरूपत्वाऽविशेषात् अश्वादिपिण्डैरपि गोत्वसम्बन्धप्रसक्तिः इत्यश्वाद-

तो ये प्रश्न खडे होंगे कि वे देश अपने सामान्य से भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न देशों में वह सामान्य रहता है या नहीं रहता ? रहता है तो एकदेश से रहता है या सम्पूर्णरूप से ? यदि सम्पूर्ण देश में रहेगा तो पूर्ववत् जितने देश उतने सामान्य को मानना होगा, क्योंकि एक एक देश में एक एक अलग अलग सामान्य ही पूर्णतया समाविष्ट हो रह सकता है । अथवा तो वह सामान्यरूप ही नहीं होगा क्योंकि घट की तरह अनेक प्रदेशों में रहता है । यदि वह अपने देशों में एकदेश से रहता है तो उन प्रश्नों की पुनरावृत्ति होगी – वे एक देश उस सामान्य से यदि भिन्न माने जायेंगे तो उन में भी नये एकदेश से सामान्य की वृत्तित्ता मानने पर अनवस्था प्रसंग होगा । यदि वे एक देश अभिन्न माने जायेंगे तो अभेद होने के कारण जितने देश उतने उन से अभिन्न सामान्य प्रसक्त होंगे । तथा, सामान्यात्मक एक देशों में करणरूपता भी नहीं घटेगी जिस से कि उन एकदेशों के माध्यम से सामान्य, पिण्डों में वास कर सके । कारण, सामान्य कभी करण नहीं होता, गोत्व को अपने पिण्ड में रहने के लिये घटत्वादि सामान्य करणरूप से सहयोगी बनता हो ऐसा कहीं भी दिखता नहीं । यदि ऐसा कहा जाय कि ‘सामान्य तो सिर्फ एकमात्र अनुवृत्तिस्वभावरूप ही है, न कि द्रव्यादिरूप जिस से कि ‘एकदेश और सम्पूर्ण’ ऐसे शब्दजाल में वह फँसाया जा सके । – किन्तु यह गलत उक्ति है क्योंकि एकमात्र निरवयवस्वरूप (संयोग-रूपादि) वस्तु के लिये खुद आप भी व्याप्यवृत्ति-अव्याप्यवृत्ति आदि शब्दों के प्रयोग करते हुए दृष्टि में आ चुके हैं । वहाँ भी एकदेशवृत्ति और सम्पूर्णवृत्ति दो पक्षों में बताये गये दोष समानरूप से लागू हैं, अतः एकदेश-सम्पूर्णवृत्ति के लिये आपने जो वक्तव्य दिया है उसका पहले जैसे निषेध किया जा चुका है वैसे यहाँ भी समझ लेना । निष्कर्ष यह है कि वृत्तित्व का उपपादन सम्भव न होने से सामान्य की सत्ता को अंगीकार करना अनुचित है ।

✽ गोत्व का सम्बन्ध गो-पिण्ड से या अगोस्वरूप पिण्ड से ✽

और भी विमर्श किजिये – पिण्ड के उत्पत्तिकाल में गोत्व किस से सम्बन्ध करता है ‘गो’स्वरूप पिण्ड से या ‘अ-गो’स्वरूप पिण्ड से ? प्रथम पक्ष में, गोत्व संयोजन से पहले वह पिण्ड ‘गो’स्वरूप कैसे बन गया ? यदि अन्य गोत्व के सम्बन्ध से बना तो उस अन्य गोत्व के सम्बन्ध के पहले भी अन्य गोत्व का सम्बन्ध.. इस तरह मानने पर अनवस्था प्रसंग होगा । यदि गोत्व सम्बन्ध के पूर्व में अन्य गोत्व सम्बन्ध के विना ही स्वतः वह ‘गो’स्वरूप है तब तो किसी भी गोत्व के योग की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके विना भी

योऽपि गोरूपाः स्युः । न चाऽगोरूपत्वाऽविशेषेऽपि गोत्वसम्बन्धात् प्राक् शाबलेयादिभिरेव गोत्वं सम्बध्यते न कर्कादिभिरिति वक्तव्यम्, नियमहेतोरभावात् । अथोपलक्षणभेदो नियमहेतुः । तथाहि — यत्र ककुदादीन्युपलक्षणानि पिण्डे तत्रैव गोत्वं वर्तते न केसराद्युपलक्षणवति । असदेतत् — गोत्वादेर-चेतनत्वेन निरभिप्रायस्य प्रदर्शितोपलक्षणप्रत्यभिज्ञानवशादन्यपरिहारेण प्रतिनियताधारवृत्तित्वानुपपत्तेः । न च ककुदाद्युपलक्षणयोगिनः पिण्डादेः स्वात्मनि गोत्वाधारसामर्थ्यं प्रतिनियतं निमित्तं कल्पयितुं युक्तम्, यतो यया शक्त्या ककुदादिमन्तः पिण्डविशेषाः गोत्वसामान्यं विजातीयपिण्डव्यवच्छेदेन स्वात्मनि व्यवस्थापयन्ति तथैव 'गौः गौः' इत्यनुगताकारज्ञानहेतवोऽपि भविष्यन्तीति किमन्तर्गडु-सामान्यप्रकल्पनया । न चादृष्टं गोत्वादेः सामान्यस्य प्रतिनियतव्यक्तिवृत्तिनिमित्तं कल्पनीयम्, तत्रापि अस्य दूषणस्य समानत्वात् ।

यदपि 'अनुगताकारं ज्ञानं सामान्यमन्तरेणाऽसम्भवि' इति, तत्रापि किं यत्रानुगतं ज्ञानं तत्र

पहले वह गोपिण्ड स्वयं 'गो'स्वरूप ही है । यदि कहें कि गोत्वसम्बन्ध के पहले वह 'अगो'स्वरूप ही था, तो अब ऐसा होगा कि गोत्व सम्बन्ध के पहले गो-अश्वादि सकल पिण्ड समानरूप से अगोस्वरूप होते हैं और बाद में अगोस्वरूप पिण्ड से गोत्व का सम्बन्ध होता है अतः गाय की तरह अश्वादि पिण्डों में भी वह होगा, फलस्वरूप अश्वादि भी गो-स्वरूप बन जायेंगे । ऐसा नियम नहीं बता सकते कि - अगोरूपता समान होने पर भी गोत्व सम्बन्ध होने के पहले जो शबलवर्णादिरूप है उसी के साथ गोत्व का सम्बन्ध होगा, अश्वादि के साथ नहीं होगा । - क्योंकि नियमप्रयोजक कोई हेतु नहीं है ।

यदि ऐसा कहें कि - 'लक्षण-भेद ही नियमप्रयोजक है । जैसे देखिये - 'जिस पिण्ड में खूँध-सींग इत्यादि उपलक्षण होते हैं (यानी भावि में फूटने वाले हैं) उसी में गोत्व सम्बद्ध होता है, केसरादि लक्षणों वाले पिण्ड में सम्बद्ध नहीं होता ।' - यह असत् प्रलाप है क्योंकि यह तो आप के अन्तःकरण के अभिप्राय का प्रदर्शन है न कि गोत्वादि के । गोत्वादि अचेतन है अतः उन में यह विवेकबुद्धि नहीं होती कि 'मुझे सामान्यवादी प्रदर्शित खूँध आदि लक्षण वाले पिण्ड से ही सम्बद्ध होना है और केसरादिलक्षणवाले पिण्ड का परिहार करना है । 'अतः गोत्वादि में नियताधारता का उपपादन दुःशक्य है । यदि ऐसी कल्पना की जाय कि 'खूँध आदि लक्षणवाले पिण्डों का अपने में ही नियत निमित्तभूत ऐसा सामर्थ्य होता है कि वे गोत्व को चुम्बक की तरह अपनी ओर खिंच कर गोत्व के आधार बन सकेंगे, अश्वादि में वह सामर्थ्य न होने से वे गोत्व के आधार नहीं बनेंगे ।' - ऐसी कल्पना अयुक्त है क्योंकि खूँध आदिलक्षणवाले विशिष्ट पिण्डों में गोत्वसामान्य को अन्यपिण्डों से सम्बद्ध न होने देने और खिंच कर अपने में रख लेने के लिये जिस सामर्थ्य की कल्पना की जाती है, उस के बदले 'गाय-गाय' ऐसे अनुगताकार ज्ञान को ही उत्पन्न करने में उन के उस सामर्थ्य की कल्पना कर ली जाय तो सुविधा रहेगी, फिर बीच में निरर्थक गोत्वसामान्य की कल्पना का कष्ट क्यों उठाया जाय ? यदि गोत्वादिसामान्य सिर्फ गोस्वरूप नियत पिण्डों में ही रह सके उसके लिये अदृष्ट किसी निमित्त की कल्पना की जाय तो उसके बदले अनुगताकार प्रतीति के निमित्तरूप में ही उस अदृष्ट की कल्पना कर लेनी चाहिये, इस प्रकार सामर्थ्य और अदृष्ट निमित्त की कल्पना में समान दोष है गोत्वसामान्य की निरर्थकता ।

✽ अनुगताकारज्ञान सामान्यविरह में भी ✽

यह जो कहा था - सामान्य के विना अनुगताकार ज्ञान नहीं हो सकता - उस के ऊपर प्रश्न है, आप

सामान्यसम्भवः प्रतिपाद्यते आहोस्वित् यत्र सामान्यसम्भवस्तत्रानुगतं ज्ञानमिति ? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, यतो गोत्वादिसामान्येषु बहुषु 'सामान्यम्-सामान्यम्' इति अनुगताकारप्रत्ययप्रवृत्तेर-परसामान्यकल्पनाप्रसक्तिः स्यात् । तथा, प्रागभावादिष्वप्यभावेषु 'अभावः-अभावः' इत्यनुगतप्रत्यय-प्रवृत्तिरस्ति, न च परैरभावसामान्यमभ्युपगतमिति व्यभिचारः । न च सामान्यादिषु अनुगतप्रत्ययस्य गौणत्वान्न व्यभिचारः, अस्खलद्वृत्तित्वेन गौणत्वस्यासिद्धेरित्युक्तत्वात् । अथ यत्र सामान्यं तत्रानुगत-प्रत्ययकल्पना । न, पाचकादिषु तदभावेपि अनुगतप्रत्ययप्रवृत्तेः । न च तत्रापि पचनक्रियानिमित्तोऽयं प्रत्ययः, तस्याः प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वात् तत्सामान्यनिमित्तत्वे प्रागेव तत्प्रत्ययप्रसूतिर्भवेत् सामान्यस्य नित्यत्वेन तदापि तद्धेतोर्भावात् ।

अभिव्यञ्जकक्रियाभावात् प्रागनभिव्यक्तात् तत्सामान्यात् न तत्प्रत्ययोत्पत्तिरिति चेत् ? पचनक्रिया-निवृत्तावपि अभिव्यञ्जकाभावेनानभिव्यक्तात् तत्सामान्यात् तत्प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, अनुत्पन्न-द्विनष्टस्यापि अभिव्यञ्जकस्याऽभिव्यञ्जकत्वाऽयोगात् । अथैकदाभिव्यक्तस्य तत्सामान्यस्य नित्यत्वेन

क्या कहना चाहते हैं - जहाँ अनुगताकार ज्ञान होता है वहाँ सामान्य की सत्ता होती है या जहाँ सामान्य की सत्ता होती है वहाँ ही अनुगताकार ज्ञान हो सकता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि 'सामान्य - सामान्य' ऐसा अनुगताकार ज्ञान गोत्वादि अनेक सामान्यों में भी होता है अतः सामान्यों में भी अन्य सामान्य की कल्पना का प्रसंग होगा । उपरांत, 'अभाव-अभाव' ऐसा अनुगताकार ज्ञान अनेक प्रागभावादि अभावों में भी होता है किन्तु सामान्यवादी को अभावसामान्य मान्य नहीं है । अतः सामान्य के विरह में अभावों में अनुगताकार ज्ञान होने से व्यभिचार दोष होगा । यदि बचाव किया जाय कि '-सामान्य, अभाव आदि में जो अनुगताकार ज्ञान होता है वह औपचारिक है जैसे मनु में सिंह का ज्ञान । अतः व्यभिचार निरवकाश है' - तो ऐसे थोथे बचावों के प्रति पहले ही यह कई बार कह दिया है कि जहाँ अस्खलित वृत्ति से प्रतीति होती है वहाँ औपचारिकता की बात अप्रामाणिक है, अर्थात् व्यभिचार दोष अनिवार्य रहता है ।

यदि कहने का मतलब यह हो कि जहाँ सामान्य हो वहाँ ही अनुगताकार प्रतीति होने की कल्पना शक्य है - तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि पाककर्त्ता में पाचकत्वरूप सामान्य के न होने पर भी अनुगताकार ज्ञान की कल्पना किये बिना उद्धार नहीं है । ऐसा नहीं कह सकते कि - 'पाचकादि में पाकक्रियाकर्तृत्वमूलक अनुगताकार ज्ञान हो सकता है ।' - क्योंकि ऐसा तब कह सकते यदि पाकक्रिया सर्वत्र एक होती, वास्तव में, अलग अलग पाककर्त्ता में पाकक्रिया भी भिन्न भिन्न ही होती है । यदि पाकक्रिया को एक सामान्यरूप मान कर उस के आधार पर अनुगताकार ज्ञान का समर्थन किया जाय, तब तो जिसने पहले पाकक्रिया नहीं की थी वैसे पाक-कर्त्ता में उस काल में भी पाचकत्व की प्रतीति का उद्भव प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि सामान्य नित्य होने से उस काल में भी अनुगताकारप्रतीति का हेतु उपस्थित था ।

✽ अनभिव्यक्ति अप्रयोजक है ✽

सामान्यवादी :- उस काल में नित्य सामान्य के होने पर भी उस से पाचकत्व की अनुगतप्रतीति न होने का कारण यह है कि पचनक्रियास्वरूप अभिव्यञ्जक के न होने से उस काल में वह सामान्य अनभिव्यक्त है ।

प्रतिवादी :- अच्छा, जब पाकक्रिया पूरी हो गई, उस के बाद भी अभिव्यञ्जक क्रिया मौजूद नहीं है उस काल में सामान्य अभिव्यक्त न होने से पुनः अनुगताकार प्रतीति नहीं हो सकेगी । अनुत्पन्न पाकक्रिया

सर्वदाऽभिव्यक्तत्वादुत्तरकालं तत्प्रत्ययोत्पत्तिस्तर्हि पचनक्रियायाः प्रागपि तत्सामान्यस्यैकरूपतयाऽभिव्यक्तत्वात्तस्तत्प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात् । अथ प्राग् न तस्याभिव्यक्तिस्तर्हि अभिव्यक्तानभिव्यक्तस्वभावद्वययोगात् तस्य नैकत्वम् स्वभावभेदलक्षणत्वाद्बस्तुभेदस्य । अथ व्यक्तिप्रतिभास-समय एव सामान्यस्य प्रतिभास इति न ततः प्राक् पश्चाद् वाऽभिव्यक्तैकरूपस्यापि तस्य ग्रहणम् — तर्हि व्यक्तिप्रतिभासकालेऽपरप्रतिभासस्याऽसंवेदनाद् अनुगतप्रतिभासस्य च तदा व्यक्तिनिबन्धनत्वात् सामान्यस्याभाव एवेति प्राप्तम् । तेन 'यत्र सामान्यसद्भावादनुगताकारं ज्ञानं प्रवर्त्तते तत्र तद् मुख्यम् यत्र तु तदभावात्तत् तद् गौणम्' इत्येतदपि निरस्तम् सामान्यनिबन्धनत्वेनानुगतज्ञानस्य क्वचिदप्यसिद्धेः, मुख्याभावे गौणकल्पनायाः दूरापास्तत्वात् ।

यदपि 'किमनेन प्रसङ्ग आपाद्यते परस्य, आहोस्वित् स्वतन्त्रसाधनमिति ? न तावत् प्रसङ्गसाधनम् पराभ्युपगमेनैव तस्य वृत्तेः । न च परस्य कात्स्न्येनैकदेशेन वा निरंशस्य वृत्तिः सिद्धा किन्तु वृत्तिमात्रं

जैसे अभिव्यञ्जक नहीं बन सकती वैसे ही विनष्ट पचनक्रिया भी अभिव्यञ्जक नहीं हो सकती । यदि ऐसा कहा जाय कि - 'पहले एक बार पाकक्रिया हो जाने पर नित्य सामान्य सदा के लिये अभिव्यक्त हो जाता है अतः उत्तरकाल में पाकक्रिया नष्ट हो जाने पर भी अभिव्यक्त सामान्य से अनुगताकार ज्ञान निर्बाध हो सकता है ।' - तो अब ऐसा भी हो सकता है कि सामान्य एकरूप नित्य होने से पाकक्रिया के बाद जैसे अभिव्यक्त होता है वैसे पाकक्रिया के पहले भी वह अभिव्यक्त एक स्वरूप होने से उस काल में पुनः अनुगताकार ज्ञान होने का प्रसंग तदवस्थ रहेगा । फिर भी यदि आप पूर्वकाल में सामान्य की अभिव्यक्ति को मंजुर नहीं करते तो फलतः एक ही नित्य सामान्य में अभिव्यक्त-अनभिव्यक्त स्वभावद्वय का प्रसंग होने से भेद प्रसक्त होगा जिस से सामान्य के एकत्व का भी भंग होगा, क्योंकि वस्तुभेद का प्रयोजक लक्षण ही स्वभावभेद है ।

❀ अभिव्यक्तस्वरूप सामान्य निराधार ❀

अब यदि ऐसा कहा जाय कि - 'पाककर्त्ता के रूप में पाचक व्यक्ति का प्रतिभास जिस काल में होता हो उसी काल में अनुगताकार ज्ञानजनक सामान्य का प्रतिभास शक्य होता है, अतः पाकक्रिया के पूर्व या पश्चात् काल में, सामान्य एकमात्र अभिव्यक्तस्वरूप होने पर भी उस का भान नहीं होता ।' - तब तो सामान्य का सर्वथा अभाव प्रसक्त होगा, क्योंकि व्यक्तिप्रतिभास-शून्य काल में तो सामान्य अज्ञात ही रहता है, व्यक्ति प्रतिभास काल में तो व्यक्ति के अलावा और किसी का संवेदन होता नहीं है और अनुगताकार ज्ञान तब व्यक्तिमूलक मानने में कोई बाध भी नहीं है, अब सामान्य को मानने के लिये आधार ही क्या रहा ? इस चर्चा से आप का वह कथन भी निरस्त हो जाता है कि - 'जहाँ सामान्य के रहते हुए उस के बल पर जो अनुगताकार ज्ञान प्रवृत्त होता है वह मुख्य है, सामान्य के विरह में जो अभावादि में अनुगतज्ञान होता है वह गौण है' - यह कथन अब तथ्यभूत नहीं हो सकता क्योंकि 'अनुगत ज्ञान सामान्यमूलक भी होता है' यह तथ्य ही जब तक सिद्ध नहीं हुआ, तब मुख्य के विरह में किसी के गौण होने की तो कल्पना भी कैसे सम्भव है ?!

❀ कात्स्न्य-एकदेश वृत्ति से अतिरिक्त वृत्ति का प्रश्न ❀

यह जो प्रश्न था कि - 'एकदेश-सम्पूर्णविकल्पों से आप अनिष्टापादन करना चाहते हैं या स्वतन्त्र कुछ सिद्ध करना ? अनिष्टापादन अशक्य है, क्योंकि वह परवादीमान्य पक्ष में ही हो सकता है, हमारे मत में निरंश वस्तु की सम्पूर्ण या एकदेश से वृत्ति ही जब सिद्ध नहीं है तब उन विकल्पों के द्वारा किया गया दोषारोपण

समवायस्वरूपं सिद्धम् तच्च विद्यत एव समवायस्य प्रमाणतः सिद्धेः। तच्च प्रसङ्गसाधनमेतत्। स्वतन्त्रं तु साधनं न भवति सामान्यलक्षणस्य धर्मिणोऽसिद्धेर्हेतोरश्रयासिद्धिप्रसङ्गात्, धर्मिसिद्धौ वा तत्प्रतिपादकप्रमाणबाधितत्वात् तदभावसाधकप्रमाणस्य अप्रतिपत्तिरेव इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम्, यतो नाऽस्माभिः किञ्चिदत्र सामान्यस्य साध्यते किन्तु येन सामान्यं व्यक्त्याश्रितमभ्युपगम्यते तेन तत्र तस्यैकदेशेन सर्वात्मना वा-अन्यथा वृत्तेरसम्भवात्-वृत्तिर्वाच्या।

अथ समवायलक्षणा वृत्तिस्तत्र तस्योक्तैव। न, तस्याः स्वरूपाऽनिर्देशात्। अथाश्रयाश्रयिभाव-स्तस्याः स्वरूपम्। न, अस्य पर्यायमात्रत्वात्, वृत्तिमात्रम् समवायः आश्रयाश्रयिभावः इति च पर्यायशब्दा एते, न तु कात्स्न्यैकदेशवृत्तिव्यतिरेकेण लोकप्रसिद्धापरवृत्तिप्रदर्शनं कृतम्। या तु समवाय-लक्षणा स्वशास्त्रपरिभाषिता वृत्तिः सा तु तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् सामान्यवदसिद्धस्वरूपैव। यदि च पिण्डेभ्यो व्यतिरिक्तम् कुण्डव्यतिरिक्तबदरवत् सामान्यं प्रमाणत उपलभ्यते तदा तेषु तस्य वृत्ति-प्रकल्पना स्यात्, न च तत् तथोपलभ्यत इत्युक्तं प्राक्। अपि च उत्पन्ने पिण्डे सामान्यं वर्तते

निरर्थक है। हमारे मत में तो समवायात्मक वृत्ति प्रसिद्ध है जो प्रमाणसिद्ध है और सामान्य के लिये वही वृत्ति विद्यमान है। अतः अनिष्टापादन अशक्य है। स्वतन्त्रसाधन भी आप नहीं कर सकते, क्योंकि सामान्यरूप धर्म ही आप के मत में प्रसिद्ध नहीं है अतः उस में वृत्ति-अभाव को या उस के अभाव को सिद्ध करने के लिये जिस हेतु का प्रयोग करेंगे वह आश्रयासिद्ध हो जायेगा। यदि आप के मत में सामान्यात्मक धर्म सिद्ध है, तब तो उसके साधक प्रमाण से ही उस के अभाव का प्रतिपादक प्रमाण बाधित हो जाने से, उस की प्रवृत्ति रुक जायेगी।” — यह पूरा प्रश्न असंगत है क्योंकि हम यहाँ सामान्य के किसी भी धर्म की सिद्धि नहीं करना चाहते किन्तु इतना ही कहना चाहते हैं कि वृत्ति के दो से अधिक विकल्प नहीं होते। एक देश से और सम्पूर्णरूप से — ये दो ही विकल्प हैं। अतः जो लोग सामान्य को व्यक्ति में वृत्ति यानी आश्रित मानते हैं उन लोगों की ओर से यह स्पष्ट करना जरूरी है कि सामान्य व्यक्ति में एक देश से आश्रित है या सम्पूर्णतया ? यदि दों में से एक भी विकल्प नहीं घटता, तो सामान्यरूप आश्रित की कल्पना निरर्थक बन जायेगी।

✽ समवायात्मक वृत्ति के स्वरूप पर प्रश्न ✽

आपने समवायस्वरूप वृत्ति का निदर्शन किया है लेकिन समवाय के स्वरूप के बारे में कुछ भी निर्देश नहीं किया है। आश्रयाश्रयिभाव ही यदि समवाय का स्वरूप दिखाया जाय तो वह स्वरूपनिर्देश नहीं किन्तु पर्यायवाची शब्दान्तरमात्र का निर्देश हुआ। वृत्तिमात्र या समवाय या आश्रयाश्रयिभाव ये शब्द पर्यायवाची हैं, इन से सम्पूर्ण-एकदेश विकल्पों के अतिरिक्त किसी लोकप्रसिद्ध वृत्ति का निर्देश (‘समवाय’ शब्द के प्रयोग से) नहीं हो जाता। न्याय-वैशेषिकदर्शन में परिभाषित जो स्वतन्त्र ‘समवाय’संज्ञक वृत्ति दिखायी जाती है वह तो सामान्य की तरह ही प्रसिद्ध है, क्योंकि उस के सत्त्व का प्रदर्शक कोई प्रमाण नहीं है। तथा, जैसे कि कुण्ड से बेर पृथक् होता है वैसे पिण्डों से पृथक् सामान्य प्रमाण से उपलब्ध होता तब तो पिण्डों में सामान्य के लिये समवायरूप वृत्ति की कल्पना उचित कही जाती, किन्तु पहले ही कह दिया है कि ‘सामान्य’ प्रमाण से उपलब्ध नहीं है।

आहोस्विदनुत्पन्ने उत उत्पद्यमाने इति विकल्पाः । न तावदनुत्पन्ने तदा पिण्डस्याऽसत्त्वात् । नाप्युत्पन्ने, अगोरूपेऽश्वपिण्ड इव तत्र तस्य वृत्त्ययोगात् इत्युक्तत्वात् । नाप्युत्पद्यमाने, अनिष्पन्नस्याधारत्वा-योगात् । विद्यमानस्वरूपाणामेव कुण्डबदराणामाश्रयाश्रयिभावदर्शनात् । अतो 'य एव पिण्डोत्पत्तिकालः स एव तत्सामान्यसम्बन्धकालः' इत्युक्तमन्यत्रैवमदर्शनात् ।

किञ्च, उत्पद्यमानेन पिण्डेन सह सामान्यं सम्बन्धमानं किमन्यत आगत्य सम्बन्ध्यते उत पिण्डेन सहोत्पादात् आहोस्वित् पिण्डोत्पत्तेः प्रागेव तद्देशावस्थानात् इति विकल्पाः । तत्र न तावद् अन्यत आगत्य सम्बन्ध्यत इति पक्षः आश्रयितुं युक्तः, यतः प्राक्तनपिण्डपरित्यागेन तत् तत्रागच्छति उताऽपरित्यागेनेति वाच्यम् । यदि परित्यागेनेति पक्षः स न युक्तः प्राक्तनपिण्डस्य गोत्व-परित्यक्तस्यागोरूपताप्रसक्तेः । अथापरित्यागेन तदाऽपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्य निरंशस्य रूपादेरिव गमनाऽसम्भवः । न ह्यपरित्यक्तप्राक्तनाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिः क्वचिदप्युपलब्धा ।

✽ उत्पन्न-अनुत्पन्न-उत्पद्यमान पिण्डों में सामान्य कैसे ? ✽

सामान्य इस तरह भी चर्चास्पद है — सामान्य कहाँ रहता है ? उत्पन्न पिण्ड में, अनुत्पन्न पिण्ड में या उत्पन्न हो रहे पिण्ड में ? अनुत्पन्न दशा में जब पिण्ड स्वयं ही असत् है तो उसमें किसी के रहने की बात ही नहीं है । उत्पन्न पिण्ड में भी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे अगोस्वरूप — उत्पन्न अश्वपिण्ड में वह सम्बन्ध नहीं करता वैसे गो-पिण्ड में भी नहीं कर सकता यह पहले ही कहा जा चुका है । उत्पन्न हुआ नहीं है किन्तु जो उत्पन्न हो रहा है ऐसे पिण्ड में भी वह नहीं रह सकता, क्योंकि जो अपने स्वरूप से अपूर्ण है वह किसी का आधार नहीं बन सकता । जो पूर्णस्वरूप से विद्यमान पिण्ड हैं उन में ही कुण्ड और बदर की तरह आश्रयाश्रयिभाव दृष्टिगोचर होता है । इस से यह फलित हो जाता है कि — 'जो पिण्ड का उत्पत्तिकाल है वही उसमें सामान्य का सम्बन्धकाल है'— यह वचन भी असार है, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी अपूर्णरूप से उत्पन्न पदार्थ में अन्य पदार्थ का सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है ।

✽ उत्पद्यमान व्यक्ति के साथ सामान्य कैसे जुटेगा ? ✽

सामान्य के बारे में यह एक रसप्रद चर्चा है — उत्पन्न होनेवाले पिण्ड के साथ सम्बद्ध होने वाला सामान्य क्या अन्यत्र कहीं से आ कर सम्बद्ध होता है या उसी पिण्ड के साथ उत्पन्न हो कर सम्बद्ध होता है ? अथवा पिण्डोत्पत्ति के पहले ही वहाँ वह मौजूद रहता है ? तीन विकल्प हैं । प्रथम विकल्प-अन्यत्र कहीं से आ कर सम्बद्ध होना यह पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ नये दो प्रश्न हैं — पूर्वोत्पन्न पिण्ड को छोड़ कर वह इस पिण्ड में आता है या बिना छोड़ के ? छोड़ कर आता है यह प्रश्न अयुक्त है क्योंकि गोत्व से बिछड़ा हुआ पूर्वोत्पन्न पिण्ड तब 'अगो'आत्मक हो जाने का प्रसंग खड़ा होगा । पूर्वोत्पन्न पिण्ड को बिना छोड़ के तो वह इस पिण्ड में नहीं आ सकता क्योंकि रूपादि की तरह निरंश सामान्य गतिशील नहीं है । पूर्वाधार को न छोड़ने वाले रूपादि अन्य किसी आधार में संक्रान्त हो जाय ऐसा कहीं भी नहीं देखा ।

✽ सर्पवत् सामान्य का संक्रम असंभव ✽

यदि ऐसा कहा जाय — सर्प जैसे पूर्वाधार को बिना छोड़े ही लम्बा हो कर अन्याधार में पहुँचता है इस तरह सामान्य का पूर्वतन पिण्ड से अन्य पिण्ड में संक्रम हो सकेगा । — तो यह ठीक नहीं है,

न च प्राक्तनाधाराऽपरित्यागेऽप्याधारान्तरसंक्रमः सपरिदिरिव सामान्यस्य भविष्यतीति वक्तव्यम्, सामान्य-स्यामूर्त्तत्वाभ्युपगमात् अमूर्त्तस्य च रूपादिवद् गमनाऽसम्भवात् । न च सर्पवत् पूर्वाधाराऽपरित्यागेना-धारान्तरक्रोडीकरणे सामान्यरूपता, सदेशस्य घटवत् सामान्यरूपतानुपपत्तेः । न च पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तद्देशे तस्यावस्थानादुत्पद्यमाने पिण्डे तस्य वृत्तिरित्यभ्युपगमोऽपि युक्तः, निराधारस्य सामान्यस्य तत्रावस्थानाऽसम्भवात् अवस्थाने वाऽऽकाशवत् सामान्यरूपताविरहात् । न च पिण्डेनैव सहोत्पद्यते इति पक्षप्रकल्पनाऽपि संगता, उत्पत्तिमत्त्वेन तस्यानित्यताप्रसक्तेः अनित्यस्य च ज्वालादिवत् सामान्य-रूपताऽयोगात् । न च शाबलेयादिपिण्डस्य सामान्यसम्बन्धविकलस्यैव परेणाऽवस्थानभ्युपगतम् । इति सामान्यप्रकल्पना अनेकदोषदुष्टत्वादसंगतैव । तदुक्तम् —

न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न वांऽशवत् ।

जहाति पूर्वं नाधारमहो ! व्यसनसन्ततिः ॥ ()

तथा, यत्रासौ वर्त्तते भावस्तेन सम्बध्यते न च ।

तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतद् महान्द्रुतम् ॥ ()

न च, गमनादिधर्मविकलस्यापि सामान्यस्योत्पद्यमानपिण्डसम्बन्धो 'गौः गौः' इत्यनुस्यूता-कारप्रत्ययात् प्रतीयत एवेति प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधाद्युद्भावनमसंगतमेवेति वाच्यम्, 'गौः-गौः'

क्योंकि मूर्त्त पदार्थ ही गतिशील होता है, अमूर्त्त रूपादि गतिशील नहीं होते अतः अमूर्त्त होने से सामान्य भी एक पिण्ड से दूसरे पिण्ड में साँप की तरह जा नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि साँप की तरह पूर्वतन आधार को छोड़े बिना नये आधार में संक्रान्त होनेवाले पदार्थ में सामान्यरूपता घट नहीं सकती।

तीसरा विकल्प — पिण्डोत्पत्ति के पहले उस देश में विना आधार के विद्यमान सामान्य उत्पन्न होने वाले पिण्ड में संक्रान्त हो जाता है ऐसी मान्यता भी अनुचित है, क्योंकि आधार के विना पिण्डोत्पत्ति के पूर्व उस देश में सामान्य का अवस्थान सम्भव नहीं है। फिर भी यदि किसी तरह उस की उपस्थिति मानेंगे तो आकाश की तरह वह भी सामान्यरूप नहीं हो सकता। पिण्ड के साथ ही सामान्य भी उत्पन्न हो जाय ऐसा नया विकल्प भी असंगत है, क्योंकि उत्पत्तिशील होने से उस को अनित्य मानना पड़ेगा और ज्वाला-अग्नि आदि की तरह अनित्य वस्तु में सामान्यरूपता सम्भव नहीं है। आखिर इतने दोषों से उब कर भी, सामान्य के योग से रहित ही शबलवर्णादिपिण्डों का अवस्थान स्वीकारने के लिये आप की तय्यारी नहीं है। निष्कर्ष, अनेक दोषों से दूषित होने के कारण सामान्य की कल्पना अयुक्त है प्रमाणवार्त्तिक में कहा गया है —

✽ सामान्य के विना भी अभाव में अनुगताकारप्रतीति ✽

‘न गमन करता है, न तो वहाँ पहले था, पीछे से सम्बद्ध हो जाता है किन्तु निरंश है, पूर्व आधार को छोड़ता भी नहीं है — जातिदूषणों की शृंखला आश्चर्यकारक है।’

‘पिण्ड जिस देश में वर्त्तमान होता है वहाँ तो यह (सामान्य) होता नहीं, फिर भी उस देश के पिण्ड में व्याप्त हो जाता है यह कोई महान् आश्चर्य है।’

सामान्यवादी :- सामान्य में गतिशीलतादि धर्म घटते नहीं है, फिर भी ‘गाय-गाय’ इस अनुगताकार प्रतीति से इतना तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि उत्पन्न हो रहे पिण्ड के साथ सामान्य का सम्बन्ध मौजुद है। अतः प्रमाणसिद्ध

इत्यनुगताकारप्रत्ययस्य प्रागभावादिष्वभावप्रत्ययवत् सामान्यसम्बन्धमन्तरेणाऽपि सिद्धत्वात् । किञ्च, पिण्डेभ्यो व्यतिरिक्तं यद्यनुस्यूतमेकं सामान्यमभ्युपगम्येत तदैकपिण्डोपलम्भे तस्याविभक्तत्वात् पिण्डान्तरालेऽप्युपलब्धिः स्यात् । न हि तस्यैकत्राभिव्यक्तस्यान्यत्रानभिव्यक्तस्वरूपता, विरुद्धधर्माध्यासतो भेदप्रसक्तेः । तथाप्यभेदे न किञ्चिद्भिन्नं स्यादिति सर्वत्र भेदव्यवहारनिवृत्तेः तदपेक्षस्याभेदव्यवहारस्यापि विरहात् सर्वाभावप्रसक्तिः । अथान्तराले संयुक्तसमवायसम्बन्धस्योपलम्भहेतोश्चक्षुषोऽभावादनूपलम्भः । असदेतत् - तत्र तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । यदि हि पिण्डद्वयान्तराले सामान्यस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सद्भावः सिद्धः स्यात् तदाऽग्रहणनिमित्तं यथोपवर्णितमुपपद्येताऽपि, न च तत्सद्भावः सिद्ध इत्यसकृदावेदितम् ।

न च स्वव्यक्तिसर्वगतत्वात् सामान्यस्याऽयमदोषः, अन्तराले तस्याभावे स्वव्यक्तिषु च सद्भावेऽनेकत्वप्रसक्तेः तदन्तरेणाऽन्तराले विच्छिन्नस्य सकलस्वव्यक्तिसम्बद्धत्वाऽनुपपत्तेः । यदपि - अत्रान्तराल-

वस्तु में वार्तिककार की ओर से जो दोषपरम्परा का निदर्शन किया गया है वह अनुचित है ।

प्रतिवादी :- ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्यसम्बन्ध के न होने पर भी प्रमाणवादि में अनुगताकार अभावप्रतीति होती है वह आप भी मानते हैं, अतः 'गाय-गाय' ऐसी अनुगताकार प्रतीति भी गोत्वादि सामान्य के सम्बन्ध के बिना ही होती है यह अनायास सिद्ध हो सकता है ।

दूसरी बात, यदि पिण्डों में अनुगत किन्तु उन से पृथक् ऐसा एक सामान्य माना जाय तो सभी सजातीय पिण्डों में एक ही सामान्य अनुगत होने की स्थिति में जब एक पिण्ड में सामान्य की अभिव्यक्ति होगी तो दो सामान्य पिण्डों के मध्य देश में भी उसकी अभिव्यक्ति यानी उपलब्धि हो जाने का अतिप्रसंग होगा । ऐसा नहीं कह सकते कि वह पिण्डदेश में अभिव्यक्त है किन्तु अन्तराल (= मध्य) भाग में अनभिव्यक्त है । यदि ऐसा कहेंगे तो विरुद्धधर्मसमावेशभय से भेद प्रसक्त होगा । विरुद्धधर्म समावेश के बावजूद भी अभेद मानेंगे तो सर्वत्र भेद का उच्छेद हो जायेगा, फलतः भेदव्यवहार की कथा ही समाप्त हो जायेगी और प्रतियोगीरूप भेद का उच्छेद होने पर भेदसापेक्ष अभेदव्यवहार की कथा भी शून्य हो जाने से सर्वशून्यतावाद प्राप्त होगा । यदि यह कहा जाय - दो पिण्डों के बीच सामान्य के रहते हुए भी उसके साथ चक्षु का संयुक्तसमवायात्मक सम्पर्क नहीं है जो कि उसका उपलम्भक है, अतः सम्पर्क के विरह में उसकी उपलब्धि नहीं होती । - तो यह गलत बात है, क्योंकि जब, कभी भी वहाँ उसकी उपलब्धि नहीं होती तो वहाँ उसके होने में कोई प्रमाण ही नहीं है । हाँ, दो पिण्डों के मध्यभाग में किसी अन्य प्रमाण से उसका सद्भाव सिद्ध होता तो उसकी अनुपलब्धि का आपने जो निमित्त बताया (सम्पर्कविरह) वह घट सकता था, किन्तु उस का मध्यभाग में सद्भाव ही सिद्ध नहीं है यह तो कई बार कह दिया है ।

✳ स्वव्यक्तिव्यापक सामान्य के पक्ष में एकत्वभंग ✳

यदि कहा जाय कि - 'सामान्य को सर्वगत मानने पर तथाकथित पूर्वोक्त दोष सम्भव है किन्तु सिर्फ अपने आधारभूत सर्वव्यक्तियों में व्यापक मानने पर मध्यभाग में अभिव्यक्ति आदि का सवाल नहीं रहता ।' - तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि इस तरह मध्यभाग में उसके अभाव और सर्वव्यक्ति में ही सद्भाव का स्वीकार करेंगे तो उसमें व्यक्तिभेद से अनेकत्व प्राप्त होगा, यानी एक एक व्यक्ति में भिन्न भिन्न सामान्य मानना होगा, क्योंकि अनेक होने पर ही वह मध्यभाग में न रहे और सकल व्यक्ति में रहे-ऐसा बन

शब्देन किं पिण्डान्तरमश्वदिरूपमभिधीयते आहोस्विद् मूर्त्तद्रव्याभावः उताकाशादिप्रदेश इति विकल्पाः । यद्यश्वादिपिण्डान्तराभिधानं तदा तत्र गोत्वसामान्यस्यावृत्तेरग्रहणमुपपन्नमेव । न हि यद्यत्र नास्ति तत्तत्र गृह्यत इति परस्याभ्युपगमः । अथाकाशादिदेशस्तदा तत्रापि सामान्यस्याऽवृत्तेरग्रहणमेव । एवं मूर्त्त-द्रव्याभावेऽपि अग्रहणमभावादेव । — इति दूषणाभिधानम् तदपि असंगतमेव, एवं दूषणाभिधाने सर्वत्र तदभिधानाऽनिवृत्तेः । तथाहि — ‘घटद्वयान्तराले पटादिद्रव्यस्याग्रहणादभावः’ इत्यत्रापि विकल्पौत- (?कल्प्यैत) दूषणाभिधानस्याभिधातुं शक्यत्वात् । अथ अत्र ‘अन्तराल’शब्दस्य लोकप्रसिद्ध एवार्थः प्रकल्प्यते तर्हि एतदन्यत्रापि समानमिति न पर्यनुयोगावकाशः ।

किञ्च, यद्युपलभ्यस्वभावं सामान्यमभ्युपगम्यते तदा सास्नाद्यवयवानामिव शाबलेयादौ तद्बुद्ध्या ग्रहणं स्यात्, अग्रहणात्तदसदित्यत्र — ‘किं सास्नादिबुद्ध्याऽग्रहणात् सामान्यस्याऽसत्त्वम् आहोस्वित् स्वबुद्धयेति कल्पनाद्वयम् । न तावत् सास्नादिबुद्ध्याऽगृह्यमाणत्वात्तस्याऽसत्त्वम् रूपादेरपि रसादि-बुद्ध्याग्रहणादसत्त्वप्रसक्तेः । अथ स्वबुद्ध्याऽगृह्यमाणत्वादसत्त्वम् तदयुक्तम् विरोधात् । न हि सामान्यबुद्धिः सामान्यस्य चाग्राहिका इत्यभिधानमविरुद्धम् ‘माता च मे वन्ध्या च’ इत्यभिधानवत् ।

सकता है। अनेक न होने पर मध्यभाग में विच्छिन्न सामान्य सकल स्वव्यक्तियों से सम्बद्ध नहीं हो सकता।

न्यायवार्त्तिककार ने जो कहा है — (सूत्र-२-२-६५ वार्त्तिक में) ‘अन्तराल’ शब्द से प्रतिवादी को क्या कहना है ? अश्वदिरूप पिण्डान्तर ? या मूर्त्तद्रव्याभाव ? अथवा आकाशादि का प्रदेश ? ये तीन प्रश्न विकल्प हैं। उन में से पहला यानी अश्वदिरूप पिण्डान्तर अर्थ लिया जाय तो उस में गोत्वसामान्य के न होने से उसकी अनुपलब्धि संगत है। हम भी ऐसा नहीं मानते कि जो जिस में नहीं है वहाँ वह गृहीत हो। आकाश के प्रदेश की बात में भी यही उत्तर है, उस में भी सामान्य (गोत्व) न होने से उसकी अनुपलब्धि संगत है। तथा, मूर्त्तद्रव्याभाव में भी गोत्वादि सामान्य नहीं रहता अतः वहाँ भी उसका ग्रहण नहीं होता। — इस प्रकार जो वार्त्तिककार ने अन्तराल में अनुपलब्धि का उपपादन किया है वह गलत है, क्योंकि अब तो प्रतिवादी पीतरूपादि अथवा वस्त्रादि को भी सामान्य की तरह सर्वत्र व्यापक मान सकता है। मतलब, सामान्य के प्रकरण में अन्तराल शब्द पर विकल्प करके दूषण आपादन करने पर पीतरूपादि अथवा वस्त्र की व्यापकता के लिये भी वैसा शक्य है। यदि पूछा जाय कि जब व्यापक है तो दो घटों के अन्तराल में क्यों वह उपलब्ध नहीं होता, उपलब्ध न होने से उसका वहाँ अभाव है — तो उसके जवाब में भी कहेंगे कि ‘अन्तराल’ शब्द से क्या अभिप्रेत है पिण्डान्तर, आकाश या मूर्त्तद्रव्याभाव... इत्यादि। यदि कहा जाय कि — ‘वस्त्र प्रकरण में ‘अन्तराल’ शब्द से जो लोकप्रसिद्ध अर्थ है वही अभिप्रेत है न कि पिण्डान्तरादि’ — तो फिर सामान्यप्रकरण में भी वह अर्थ समान है। अतः आप को कुछ भी प्रतिवाद के लिये अवकाश नहीं है।

✽ अनुगताकार बुद्धि भी सामान्य की ग्राहक नहीं क्यों ? ✽

सामान्य के विरोध में जो यह किसीने कहा है कि सामान्य को उपलब्धियोग्यस्वभाववाला मानने पर शबलवर्णादि में उसकी बुद्धि से उसका ग्रहण होना चाहिये जैसे गलगुदडी आदि अवयवों का उस में ग्रहण होता है, सामान्य का इस तरह ग्रहण नहीं होता इसलिये वह असत् है - इस के प्रतिकार में सामान्यवादी ऐसा विकल्प करता है — कि सामान्य को असत् क्यों कहते हैं, गलगुदडी आदि की बुद्धि से अगृहीत होने के कारण या सामान्य की बुद्धि से अगृहीत होने के कारण ? गलगुदडी की बुद्धि से अगृहीत होने

न चानुगताकारबुद्ध्या सामान्यं न गृह्यते, व्यावृत्तबुद्धेरपि विशेषं प्रत्यग्राहकत्वप्रसक्तेः। अतः 'तद्बुद्ध्याऽगृह्यमाणत्वादसत् सामान्यमित्ययुक्तम्' - इत्यप्यभिधानमसंगतम् यतो भवदभिप्रायेण समानाकारशाबलेयादिबुद्धिः सामान्यबुद्धिः तथा च देश-कालव्यापि सामान्यं न गृह्यते तथाभूतस्य बुद्ध्यजनकत्वेन तद्ग्राह्यत्वायोगात्। अत एवानुगताकारबुद्धेरव्यापकक्षणिकशाबलेयादिपदार्थप्रभवत्वात् तद्ग्राहकत्वमेव न सामान्यग्राहकत्वम्।

किञ्च, अक्षणिकव्यापकैकस्वभावत्वे सामान्यस्य किं येनैव स्वभावैकस्मिन् पिण्डे वर्तते सामान्यं तेनैव पिण्डान्तरे आहोस्वित् स्वभावान्तरेण ? यदि तेनैव ततः सर्वपिण्डानामेकत्वप्रसक्तिः एकदेश-कालस्वभावनियतपिण्डवृत्त्यभिन्नसामान्यस्वभावक्रोडीकृतत्वात् सर्वपिण्डानाम् प्रतिनियतदेश-काल-स्वभावैकपिण्डवत्। अथ स्वभावान्तरेण, तदाऽनेकस्वभावयोगात् सामान्यस्यानेकत्वप्रसक्तिः, स्वभाव-

मात्र से सामान्य को असत् मानना उचित है क्योंकि ऐसा मानने पर, रसादि की बुद्धि से अगृहीत होनेवाले रूपादि को भी असत् कहना पड़ेगा। यदि सामान्यबुद्धि से अगृहीत होने के कारण सामान्य को असत् माना जाय तो यह भी अनुचित है क्योंकि स्पष्ट विरोध खड़ा है। 'सामान्य की बुद्धि और उस से सामान्य का अग्रहण' यह बात विरोधशून्य नहीं हो सकती, जैसे 'यह मेरी माता बन्ध्या है' यह बात। 'अनुगताकारबुद्धि से सामान्य गृहीत नहीं होता' ऐसा नहीं मान सकते अन्यथा व्यावृत्ताकारबुद्धि में भी विशेषों की अग्रहकता का प्रसंग आ पड़ेगा। सारांश, सामान्यबुद्धि से सामान्य गृहीत नहीं होता यह विधान अनुचित है। - सामान्यवादी का यह दीर्घ विकल्पविधान संगत नहीं है। कारण, सामान्यवादी के अभिप्रायानुसार जो समानाकार शबलवर्णादि की बुद्धि है (जिस को वह सामान्यग्राहकबुद्धि मानता है) उससे (समानाकार शबलवर्णादि गृहीत होता है किन्तु) कभी भी देश-कालव्यापक 'सामान्य' तत्त्व का ग्रहण नहीं होता। देश-काल व्यापक 'सामान्य' तत्त्व तदाकारबुद्धि का जनक न होने से वह उस बुद्धि का ग्राहक नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि अनुगताकारबुद्धि अव्यापक एवं क्षणिक ऐसे शबलवर्णादिपदार्थ द्वारा जन्य होने से उस की ग्राहक तो है किन्तु व्यापक सामान्य की ग्राहक नहीं है।

✳ पिण्ड-पिण्डान्तर वृत्तिप्रयोजक स्वभाव पर प्रश्न ✳

सामान्य को नित्य और व्यापक एकमात्र स्वरूपवाला माना गया है वहाँ प्रश्न है कि एक सामान्य जिस स्वभाव से एक पिण्ड में रहता है क्या उसी स्वभाव से अन्य पिण्ड में रहता है या अन्य स्वभाव से ? यदि उसी स्वभाव से रहने का माना जाय तो सकल पिण्डों में एकत्व हो जायेगा क्योंकि वे सर्व पिण्ड देश-काल-स्वभाव से नियत किसी एक पिण्ड में रहनेवाले उसी सामान्य से घेर लिये गये हैं। जैसे नियत देश-काल और स्वभाववाले दो पिण्डों में भेद नहीं होता वैसा ही यहाँ भी समझिये। क और ख पिण्ड यदि नियत देश-काल में नियत एक स्वभावयुक्त होता है तो क और ख अभिन्न होता है। वैसे यहाँ यदि सामान्य समान देश-काल-स्वभाव से क, ख, ग आदि पिण्डों में रहता है तो उसका मतलब यह होगा कि क-ख-ग आदि पिण्डों में भेद नहीं है। यदि कहा जाय कि सामान्य अन्य स्वभाव से अन्य पिण्ड में रहता है, तो अनेक स्वभाव के प्रवेश से सामान्य में भी अनेकत्व प्रसक्त होगा। स्वभावभेद हरहमेश वस्तुभेदक माना गया है, यदि स्वभावभेद होने पर वस्तु में भेद मंजूर नहीं करेंगे तो सर्वथा भेदोच्छेद प्रसक्त होगा। यह भी युक्ति संगत नहीं है कि एक हो कर अनेक में रहे।

भेदस्य भावभेदकत्वादन्यथा भेदाऽयोगात् । न चैकस्यानेकवृत्तित्वं रूपादेरिव युक्तम् । अथ यथैकस्य रूपादेरेकवृत्तित्वं तथैवोपलम्भादभ्युपगम्यते तथैकस्य सामान्यस्यानेकवृत्तित्वमनेकत्रोपलम्भात् किं नाऽभ्युपगम्यते अबाधितोपलम्भस्य भावरूपव्यवस्थानिबन्धनत्वात् ? — भवेदेतत् यद्यनेकवृत्तितयैकं सामान्यं स्वरूपतोऽध्यक्षे प्रतिभासेत्, न चैवम् व्यक्तिव्यवस्थितस्यैकस्य व्यक्तिभ्यो भिन्नस्य कुत्रचित् प्रत्ययेऽप्रतिभासनात् । न च देशव्याप्तिः कालव्याप्तिर्वा कस्यचिद् भावस्य केनचित् प्रमाणेन प्रतिपत्तुं शक्येति प्राक् प्रतिपादितम् ।

न च परस्परव्यावृत्तात्मानो भावा अनुगतनिमित्तमन्तरेण कथमभिन्नाकारप्रत्ययनिबन्धनं भवन्तीति वक्तव्यम्, यतो यथा गुडूच्यादयो भावाः परस्परविविक्ता अपि सह प्रत्येकं चैकसामान्यमन्तरेणापि एकं ज्वरादिशमनलक्षणं कार्यं निर्वर्त्तयन्ति । न हि तत्रैकं सामान्यं तदर्थक्रियासम्पादनसमर्थमस्ति अन्यथा तेषां चिर-क्षिप्रादिभेदेन व्याध्युपशमसामर्थ्योपलब्धिर्न स्यात् सामान्यस्य सर्वत्रैकरूपत्वात् । न च सरसौषधाद्युपयोगसम्पाद्यशीघ्रव्याध्युपशमादिभेदोपलब्धिश्च स्यात् सामान्यस्य नित्यस्वभावतया परैरनाधेयातिशयस्य सर्वत्र सर्वदेकरूपत्वात् । गुडूच्यादिभावनिबन्धनत्वे तु नायं दोषः तस्य प्रतिक्षणं

✽ एक पदार्थं अनेकवृत्तिं क्यो नही ? ✽

‘जैसे एक द्रव्य में एक रूप का उपलम्भ होने पर एकरूप को एकद्रव्यवृत्ति माना जाता है वैसे ही एक सामान्य की अनेक पिण्डों में उपलब्धि होती है अत एव एक में अनेकवृत्ति भी क्यो नही माना जाय ? भावों के स्वरूप की व्यवस्था कल्पना से नहीं किन्तु उसकी जैसी निर्बाध उपलब्धि हो उसके मुताबिक होती है।’ ऐसा सामान्यवादी का विधान तब मान लिया जाय यदि एक सामान्य स्वरूप से अनेक में रहता हुआ प्रत्यक्ष प्रतीति में स्फुरित होता हो। किन्तु वास्तव में वैसा कुछ भी स्फुरित नहीं होता, क्योंकि किसी भी प्रतीति में ऐसा स्फुरित नहीं होता कि एक ही व्यक्तिभिन्न सामान्य अनेक व्यक्तियों में एक साथ वर्त्तमान हो। पहले यह भी कह दिया है कि किसी भी प्रमाण से यह जानना शक्य नहीं है कि कोई एक वस्तु सर्वदेश में या सर्वकाल में व्याप्त है।

✽ अनुगत सामान्य के विना भी अभेदबुद्धि शक्य ✽

ऐसा मत कहना कि — पदार्थ तो परस्पर व्यावृत्त होते हैं, तब उन में किसी एक अनुगतनिमित्त के विना अभेदाकारप्रतीति सिर्फ व्यावृत्तपदार्थों से कैसे होगी ? — निषेध का हेतु यह है कि अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है कि गुडूची, सुदर्शन चूर्ण आदि द्रव्य एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न होते हैं, उन में कोई एक सामान्य नहीं है फिर भी वे सब द्रव्य मिल कर अथवा पृथक् पृथक् एक एक भी ज्वरादिशमनरूप एक कार्य करते हैं। ज्वरशमनरूप अर्थक्रिया करने के लिये उन में किसी भी, एक सामान्यतत्त्व की जरूर नहीं रहती। यदि उन में एक सामान्यतत्त्व की सत्ता मान कर समान कार्य की निष्पत्ति मानेंगे तो सभी में समान अवधि में ज्वरशमनसामर्थ्य भी मानना होगा क्योंकि सभी में एक ही सामान्य है। किन्तु स्पष्ट दिखता है कि किसी से तत्कालीन व्याधिशमन हो जाता है तो किसी से चिरकाल के बाद व्याधिशमन होता है। तथा, सामान्य तो सभी पिण्डों में नित्य एकरूप एवं अनाधेय अतिशयवाला (यानी जो किसी से भी प्रभावित न हो ऐसा) होता है इसलिये रसाल एवं प्रत्यग्र (नूतन जात) औषधादि के सेवन से जो शीघ्र व्याधिशमन आदि विशेषता उपलब्ध होती है वह नहीं हो सकेगी। यदि सामान्य के बदले गुडूची आदि को ही ज्वरशामक मान लिया जाय तो उस में उपरोक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि क्षणिकवाद में प्रतिक्षण

भिन्नत्वे भिन्नशक्तित्वात्। तथेहापि केचिद् भावाः प्रकृत्यैवैकाकारपरामर्शहितवो भविष्यन्तीति न तदर्थं सामान्यप्रकल्पनं युक्तम्।

यदपि 'अनुगतप्रत्ययः पिण्डव्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः' इत्याद्यनुमानम् तत्र प्रतिज्ञाया अनुमानाबाधा। तथाहि - अनुगतप्रत्ययानां पिण्डव्यतिरिक्तमनुगतं निमित्तमालम्बनभूतं साधयितुमभिप्रेतम्, तच्चाऽयुक्तम् तस्य तत्राप्रतिभासनाद्, *वर्णाऽऽकृत्यक्षराकारस्यैवार्थस्य तत्र प्रतिभासनाच्च तद्रूपविकलतया सामान्यस्य परैरभ्युपगमात् कथं तत्रप्रतिभासे तस्य प्रतिभासः अन्याकारस्य विज्ञानस्यन्यालम्बनत्वेऽतिप्रसङ्गात् ? तथाहि - यो यद्विलक्षणार्थप्रतिभासः प्रत्ययः स तद्ग्राहको न भवति यथा रूपप्रत्ययो न रसादिग्राहकः, जातिविलक्षणपर्णादिप्रतिभासश्चान्वयी प्रत्यय इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

योऽपि शंकरस्वाम्यत्राह - "सामान्यमपि नीलत्वादि नीलाद्याकारमेव, अन्यथा 'नीलम् नीलम्'

वह औषध भिन्न होता है अतः उस में शक्ति भी भिन्न भिन्न होती है, अर्थात् प्रत्यग्र (ताजा) औषध शीघ्र लाभ करता है और पुराना हो तो विलम्ब से लाभ करता है यह भेद क्षणिकवाद में विना सामान्य के ही घट सकता है क्योंकि नूतन एवं पुराना औषध भिन्न होता है, उन में शक्ति भी भिन्न होती है। ठीक उसी तरह कुछ भाव स्वभाव से ही अनुगताकार परामर्श के हेतु बन सकते हैं अतः उसके लिये 'सामान्य' की कल्पना का कष्ट करने की जरूर नहीं रहती।

✽ अनुगतनिमित्त साधक अनुमान बाधित है ✽

सामान्यवादी ने जो अनुमानप्रयोग कहा था - अनुगतप्रतीति पिण्डों से पृथक् अनुगत निमित्त से प्रयोज्य है, क्योंकि वह अनुगताकार प्रतीतिस्वरूप है - इस प्रतिज्ञा में दूसरे अनुमान से बाधा उपस्थित है। पहले तो यह देखिये कि सामान्यवादी को अनुगतप्रतीतियों के विषयरूप में, पिण्डों से अतिरिक्त निमित्त सिद्ध करने की चाह है किन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि पिण्डों में वैसे सामान्य का प्रतिभास नहीं होता, प्रतीतियों में तो वर्णाकृतिअक्षराकार पदार्थ ही भासित होता है। नीलादि वर्ण, आकृति यानी वृत्तादि संस्थान, अक्षर यानी धेनु आदि शब्द - इन आकारों में पदार्थ प्रतीत होता है - जब कि सामान्यवादी सामान्य की प्रतीति को ऐसे आकार वाली नहीं मानते। सामान्य को वे लोग वर्णादिआकारशून्य ही मानते हैं। अतः यह प्रश्न तदवस्थ ही रहता है कि वर्णादिआकार अर्थ के प्रतिभास में सामान्य का प्रतिभास है ही कहाँ ? यदि एक आकार वाले ज्ञान को अन्य आकारवाला माना जायेगा तो गोआकार ज्ञान को अश्वाकार मानने की बड़ी आपत्ति होगी। यह बाधक अनुमान अब सप्रयोग देखिये - 'जो प्रतिभास जिस से विलक्षण अर्थ को विषय करता है वह उस अर्थ का ग्राहक नहीं होता, जैसे रूपप्रतिभास रस से विलक्षण अर्थ को विषय करता है तो रस का ग्राहक नहीं होता। विवादास्पद अनुगताकार प्रतिभास भी जाति से विलक्षण वर्णादिआकार अर्थ का प्रतिभासी होता है अतः वह जाति का ग्राहक नहीं हो सकता।' यहाँ तदर्थग्राहकता का व्यापक है तद्विलक्षणार्थाग्राहकत्व, उसका विरोधी है तद्विलक्षणार्थाग्राहकत्व जिस की उपलब्धि यहाँ तदर्थग्राहकत्व के अभाव को सिद्ध करने के लिये हेतुरूप में उपन्यस्त है।

✽ अनुमानबाध टालने का शंकरस्वामी का प्रयास व्यर्थ ✽

शंकरस्वामी पंडितने कहा है - व्यक्ति जैसे नीलाकार है वैसे नीलत्वादि सामान्य भी नीलाकार ही

✽. वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि वर्ण्यते - इति प्रमाणवार्तिके (२-१४७) वर्णो नीलादिः, आकृतिः संस्थानम्, अक्षरं गवादिशब्दः, तेषामाकारो यथाप्रतीतः, तेन शून्यं गोत्वं हि सामान्यवादिभिर्वर्ण्यते ॥

इत्यनुवृत्तिप्रत्ययो न स्यादिति हेतोरसिद्धत्वात् नानुमानबाधा” () इति सोऽप्ययुक्तकारी, नीलादेर्गुणाद् नीलत्वादेः सामान्यस्यैवमभेदप्रसंगात्। अथ गुणस्य व्यावृत्तत्वात् तत्सामान्यस्य त्वनुगतत्वादाकारभेदाद् भेदः। न, व्यावृत्तनीलादिगुणव्यक्तिरिक्तानुगतनीलत्वादिसामान्यस्य नीलाद्याकारस्याऽप्रतिभासनादध्यक्षेऽसाधारणस्य नीलादेरेकस्यैव प्रतिभासनात् विकल्पज्ञानेऽपि यथादृष्टस्यैव निर्णयाद् द्वितीयस्य सामान्याकारस्य तत्राप्यनिश्चयात्। न च क्षणिकत्ववत् प्रतिभासमानमपि सामान्यं व्यक्तिभेदेन नोपलभ्यत इति वक्तव्यम्, अनुपलक्षितस्य व्यक्तिष्वभिन्नधी-ध्वनिनिमित्तत्वाऽयोगात्। न हि विशेषणानुपलक्षणे विशेष्ये बुद्धिरुपजायते दण्डानुपलक्षणे दण्डिबुद्धिवत्। तथा च “समवायिनः श्वेत्यात् श्वेत्यबुद्धेः श्वेते बुद्धिः” (वै० द० ८-१-९) इति वचनं निरवकाशं भवेत्। किञ्च, अविकल्पविज्ञानवादिनः

है, अर्थात् जाति और व्यक्ति का प्रतिभास तो सामानाकार ही होता है क्योंकि दोनों के लिए ‘नील-नील’ ऐसा एकरूप ही प्रत्यय होता है। अतः नीलत्वग्राहक प्रतीति विलक्षणार्थप्रतिभासरूप नहीं किन्तु नीलत्वप्रकाशक नीलाकारप्रतिभासरूप ही है। अतः प्रतिवादी के अनुमान में नीलत्व-अग्राहकत्व की सिद्धि के लिये जो नीलत्वविलक्षणार्थ प्रतिभास का हेतुरूप में उपन्यास किया गया है वह असिद्ध है। अतः असिद्ध हेतु से अनुमान न होने से हमारे पूर्वोक्त ‘अनुगत प्रतीति में व्यक्तिभिन्न अनुगतनिमित्तहेतुकत्व साधक’ अनुमान में प्रस्तुत अनुमान से बाधा पहुँचने का सवाल ही नहीं है।

शंकरस्वामी का यह विधान अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर नीलादि गुण और नीलत्वादि सामान्य में अभेद ही प्रसक्त होगा क्योंकि दोनों का ज्ञान ‘नील-नील’ इस तरह समान ही आपने माना है। यदि कहा जाय - ‘गुण का स्वरूप व्यावृत्तिमय है और सामान्य का स्वरूप है अनुवृत्ति, इस प्रकार दोनों के आकारस्वरूप में भेद होने से उन दोनों में अभेद प्रसक्त नहीं हो सकता’ - तो यह कथन गलत है क्योंकि ‘नील-नील’ ऐसे प्रतिभास में व्यावृत्तिमयनीलादिगुण से अनुवृत्तिमयनीलत्वादिसामान्य पृथक् है इस ढंग से नीलादिआकार का भान नहीं होता। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में तो सिर्फ एक मात्र नीलादिस्वलक्षण ही स्फुरित होता है और निर्विकल्प में जैसा दुष्ट हो वैसा ही सविकल्पज्ञान में निश्चय का उद्भव होता है अतः सविकल्प में भी व्यावृत्तिमयनीलादि का ही भान होता है, उस से पृथक् सामान्याकार का वहाँ कोई निश्चय नहीं होता।

✽ व्यक्ति से अलग प्रतिभास न होने का निमित्त ✽

यदि यह कहा जाय - क्षणिकवाद में, निर्विकल्प में क्षणिकत्व का भान होने पर भी स्वलक्षणव्यक्ति से अलग क्षणिकत्व का जैसे सविकल्प में निर्णय नहीं होता, वैसे ही यहाँ नीलादिस्वलक्षण के साथ नीलत्वादि सामान्य का निर्विकल्प में भान होने पर भी सविकल्प में उसका व्यक्ति से अलग निश्चय नहीं होता - ऐसा मत कहिये, क्योंकि आप के मतानुसार जो व्यक्तियों में उपलक्षित नहीं होता वह व्यक्ति से अपृथग्रूप में अपने भान का अथवा उस से समान शब्दप्रयोग का हेतु नहीं बन सकता। आप का यह मत है कि विशेषण अज्ञात रहने पर विशेष्य में तद्रूप से बुद्धि नहीं होती जैसे दण्ड-ज्ञान न होने पर ‘यह दण्डधारी है’ ऐसी विशेष्य (यानी विशिष्ट) बुद्धि नहीं हो सकती। इस तथ्य को मंजुर नहीं करेंगे तो वैशेषिकदर्शन के सूत्र (८-१-९) में जो कहा है कि ‘समवायी में श्वेतता होने से श्वेतता की बुद्धि होती है और श्वेतता की (यानी विशेषण की) बुद्धि से श्वेत द्रव्य (विशेष्य) की बुद्धि होती है।’ यह विधान निरर्थक बन जायेगा। दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले बौद्ध मत में, प्रत्यक्ष से गृहीत का भी निश्चय में अप्रतिभासित होना माना जा सकता है, किन्तु जो न्यायवैशेषिकवादी सविकल्प को ही प्रत्यक्ष प्रमाण रूप मानते हैं उन के मत में गृहीत

प्रतिभातानुपलक्षणं युज्येताऽपि, भवतस्तु सविकल्पाध्यक्षवादिनो गृहीताऽनुपलक्षणमयुक्तम् निश्चयानामुपलक्षणमन्तरेण अपरग्रहणाऽसम्भवात्, न हि निश्चयैरनिश्चितं गृहीतं नाम ।

किञ्च, यद्यत्रानुगतं निमित्तं नित्यं साध्यते तदा तस्याऽसिद्धिः, विपर्ययसिद्धेः । तथाहि — अनुगताभिधानप्रत्ययाः क्रमवत्कारणप्रभवाः, क्रमेणोपजायमानत्वात्, प्रदीपज्वालाप्रभवक्रमभाविप्रत्ययवत् । यदि तु अक्रमसामान्यहेतुका एतेऽभविष्यन्न क्रमेणोत्पत्तिमासादयिष्यन् अविकलकारणत्वात् । तथापि तेषां तद्धेतुकत्वे सर्वं सर्वहेतुकं स्यात् इति प्रतिनियतकार्यकारणभावव्यवस्थायिलोपप्रसक्तिः । अनैकान्तिकश्च हेतुः, षट्सु पदार्थेषु अपरानुगतनिमित्ताभावेऽपि 'पदार्थाः पदार्थाः' इत्यनुगतप्रत्ययोपलब्धेः । न च सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्वादिकमनुगतं निमित्तमत्राप्यस्ति इत्यव्यभिचारः, प्रागुक्तोत्तरत्वादस्य । न च विपक्षे वृत्तावस्य बाधकं प्रमाणमस्तीति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः ।

होने पर भी अभासित रहना ऐसा मत प्रदर्शित करना ठीक नहीं है क्योंकि आप के मत में तो निर्विकल्प से गृहीत पदार्थ ही सविकल्प में परस्पर सम्बद्धरूप से भासित होता है । निश्चयों के द्वारा उपलक्षित होना या गृहीत होना एक ही बात है, उस में कोई भेद नहीं है, अतः निश्चय से जो अनिश्चित हो उस को आप गृहीत भी नहीं मान सकते, यानी अप्रतिभासित रहता है ऐसा नहीं मान सकते ।

✽ विपरीत सिद्धि एवं साध्यद्रोह दोष ✽

और भी विवादास्पद बात यह है कि यदि आप अनुगत निमित्त को नित्य सिद्ध करना चाहते हैं तो अनुगत निमित्त की ही असिद्धि हो जायेगी क्योंकि स्थिति उस से विपरीत सिद्ध होती है । देखिये प्रयोग — अनुगत शब्दप्रयोग और अनुगत प्रतीति क्रमशः उत्पत्तिशील कारणों से जन्य है क्योंकि वे भी क्रमशः उत्पत्तिशील हैं । उदा० प्रदीपज्वाला की प्रतीति क्रमशः उत्पत्तिशील हैं अतः प्रदीपज्वाला भी क्रमशः उत्पत्तिशील है । यदि अनुगत व्यवहार और प्रतीति अक्रमिक सामान्य पदार्थहेतुक होती तो उन की प्रवृत्ति कभी भी क्रमिक न होती, क्योंकि आदि में ही उन की सामग्री सकलरूप से उपस्थित है । यदि फिर भी क्रमिक भाव के प्रति अक्रमिक भाव को हेतु मानते रहेंगे तो फिर कोई भी वस्तु किसी भी अननुरूप कार्य का हेतु बन सकेगी, फलतः नियत कार्य-कारणभाव की व्यवस्था का विलोप प्रसक्त होगा ।

तथा अनुगतप्रत्ययत्व हेतु भी आप के अनुमान में साध्यद्रोही है, क्योंकि 'पदार्थ-पदार्थ' इस प्रकार होने वाली अनुगतप्रतीति में आप का हेतु तो रहता है किन्तु अनुगतनिमित्तमूलकत्व साध्य उस में नहीं रहता, क्योंकि आप के मतानुसार सकल पदार्थ में सत्ता भी अनुगत नहीं है । यदि ऐसा कहें कि- यहां 'सत्त्वरूप से उपलब्धि कराने वाले प्रमाण का विषयत्व' रूप अनुगत निमित्त विद्यमान होने से हेतु साध्यद्रोही नहीं हो सकता, — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पहले ही इस का उत्तर दे दिया है कि तथाविध प्रमाणविषयत्व प्रमाणादि और विषयतादि के भेद से भिन्न भिन्न है, अतः यहाँ कोई भी एक अनुगत विषयतारूप निमित्त न होने से साध्य असिद्ध है । विषयता विषयभेद से पृथक् पृथक् होती है ।

✽ अनुगतप्रतीति से वस्तुव्यवस्था अशक्य ✽

यदि ऐसा कहने जाय कि — 'अनुगत निमित्त न होने पर भी 'पदार्थ-पदार्थ' इत्यादि अनुगतप्रतीति को मंजुर करेंगे तो प्रतीतिभेदमूलक विषयभेद की जो व्यवस्था की जाती है उस में विघ्न होगा, क्योंकि अनुगतप्रतीति और व्यावृत्ताकार प्रतीति में आप को विषयभेद मंजुर नहीं है । फलतः रूप-आकृति आदि की प्रतीति के भेद से रूप और आकृति आदि विषय में भेद की व्यवस्था शक्य न होने से रूपादिप्रतीति अपने रूपादि विषयों

न चानुगतनिमित्ताभावेऽप्यस्य भावे प्रत्ययभेदकृता विषयभेदव्यवस्था न स्यादिति रूपादिप्रत्ययानामपि न स्वविषयव्यवस्थापकत्वं भवेदिति वक्तव्यम् अनुगतप्रत्ययस्याऽविशिष्टाभिलापत्वेन स्वलक्षणाऽविषयी-करणात् तद्व्यवस्थापकत्वाऽयोगात् यथासंकेतं तत्तद्व्यावृत्तिमादायैकत्रापि अनेकविरुद्धधर्माध्यवसायि-विकल्पप्रसूतेरविरोधात् ।

यदि चानुगतनिमित्तमन्तरेणानुगतप्रत्ययो न भवेत् इच्छाविरचितरूपेषु चन्द्रापीडादिभावे नष्टाऽ-जातेषु च महासम्मत-शंखचक्रवर्तिप्रभृतिषु कथं भवेत् ? न हि तत्रापि सामान्यसद्भावः, तस्य व्यक्त्या-श्रितत्वात् तदभावे तस्याप्यभावात् । न ह्याश्रितानामयं धर्मः यदुत आश्रयाभावेऽपि केवलानामवस्था-नम् अनाश्रितत्वप्रसंगात् केवलस्य वाऽवस्थाने ग्रहणप्रसक्तिरेवेति न नष्टाऽजातेषु अनुगताकारः प्रत्ययः सामान्यनिबन्धनः स्यात् इति अनेकान्त एव हेतोः । न च परेणाऽपि केवलस्य सामान्यस्य ग्रहणमभ्युपगम्यते । तथा चोक्तम् — ‘स्वाश्रयेन्द्रियसंनिकर्षपिक्षप्रतिपत्तिकं सामान्यम् ।’ () इति ।

केवलस्यापि च सामान्यस्य ग्रहणाभ्युपगमे सामान्यप्रत्ययस्य व्यक्त्यध्यवसायो न प्राप्नोति व्यक्ते-स्तदानीमभावाद् ‘व्यक्तीनामिदं सामान्यम्’ इति सम्बन्धश्च न स्यात् निमित्ताभावात् । तथाहि — की व्यवस्था करने में असफल रहेगी ।’ — ऐसा मत कहिये, क्योंकि वास्तव में अनुगत प्रतीति आन्तर्जल्पात्मक अभिलाप से भिन्न नहीं होती, अभिलापात्मक होने से वह परमार्थतः सत्य स्वलक्षणात्मक वस्तुस्पर्शी नहीं होती इस लिये अनुगतप्रतीति से अपने काल्पनिक सामान्यात्मक वस्तु की व्यवस्था न हो यह इष्ट ही है । अनुगताकार प्रतीति और व्यवहार तो गो-अश्वआदि संकेतों के अनुसार अगोव्यावृत्ति और अनश्वव्यावृत्ति के आधार पर भी होने में कोई विरोध नहीं है । संकेत यानी पूर्ववासना के प्रभाव से एक ही वस्तु में व्यावृत्तिग्राहक एवं अनुवृत्तिग्राहक ऐसे अनेक विरुद्ध धर्माध्यवसायी विकल्पों के उद्भव में कोई विरोध या आश्चर्य नहीं है ।

✽ अतीत-अनागत भावों में अनुगतप्रतीति पर प्रश्न ✽

सामान्यवादी के सामने यह भी प्रश्न है — यदि अनुगतनिमित्त के विना अनुगतप्रतीति सम्भव नहीं है तो अपनी इच्छानुसार कादम्बरी आदि काव्यों में कल्पित चन्द्रापीड आदि पात्रों में तथा कालगर्ता में विलीन [✽]महासम्मतादि चक्रवर्ती एवं अनागतकालभावी शंखादिचक्रवर्ती आदि में जो मनुष्यत्व-चक्रवर्तीत्वादि की अनुगतप्रतीति होती है वह कैसे हो सकेगी ? यहाँ तो आप सामान्य तत्त्व की सत्ता को नहीं बता सकते क्योंकि व्यक्तियों का आश्रित सामान्य, व्यक्तियों के वर्तमान में विद्यमान न होने से, नहीं हो सकता । आश्रितों का ऐसा धर्म नहीं होता कि आश्रय के विरह में स्वयं अकेले विद्यमान रहें । यदि ऐसा शक्य होगा तो फिर उन को किसी के आश्रित मानने की कभी भी आवश्यकता नहीं रहेगी । तथा, आश्रय के विना यदि उस का केवल अवस्थान शक्य होगा तो व्यक्ति के ग्रहण विना भी उन का स्वतन्त्र ग्रहण प्रसक्त होगा । सारांश, विनष्ट एवं भावि पदार्थों में अनुगताकार प्रतीति सामान्यमूलक न होने से अनुगताकारप्रत्ययत्व हेतु यहाँ साध्यद्रोही ठहरता है । सामान्यवादी ने भी व्यक्तिनिरपेक्ष केवल सामान्य के ग्रहण को मंजूर नहीं रखा है । जैसे कि कहा गया है — ‘सामान्य का भान, सामान्य के आश्रय के साथ इन्द्रिय संनिकर्ष को सापेक्ष होता है ।’

✽ केवल सामान्य के ग्रहण की अनुपपत्ति ✽

यह भी विचारणीय है कि यदि केवल सामान्य का ग्रहण माना जाय तो सामान्य की प्रतीति में व्यक्ति [✽] बौद्धसम्प्रदाय के ‘महाव्युत्पत्ति’ ग्रन्थ में चक्रवर्तियों के ६० नाम गिनाये हैं उन में प्रथम नाम ‘महासम्मत’ है (पं० सुखलाल आदि)

सम्बन्धस्य निमित्तं भवत् तद्ग्रहणत्वं वा सामान्यस्य भवेत् तज्जन्यता वा, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता वा ? तत्र न तावद् व्यक्तिभिर्व्यंग्यत्वात् सामान्यं ताभिः सम्बद्धम् परैरनुपकार्यस्य नित्यत्वात् सामान्य-स्याऽविशेषतो व्यंग्यत्वानुपपत्तेः । यो हि यस्याऽनुपकार्यः स तस्याऽभिव्यंग्यो न भवति यथा हिमवान् विन्ध्यस्य, अनुपकार्यं सामान्यं व्यक्तिभिः इति । अनुपकार्यस्यापि व्यंग्यत्वे सर्वः सर्वस्य व्यंग्यः स्यादित्यतिप्रसंगः । नापि तज्जन्यता तन्निबन्धनम् नित्यतयाऽभ्युपगतस्य तज्जन्यत्वाऽयोगात् केवल-स्यापि ग्रहणाभ्युपगमाच्च । नापि तज्ज्ञानपारतन्त्र्यमपि तस्य सम्भवति तेन 'स्वाश्रयेन्द्रियसंनिकर्षा-पेक्षप्रतिपत्तिकं सामान्यम्' इत्युक्तमभिधानम् आश्रयस्याऽयोगात् तद्गतेन्द्रियसंनिकर्षाद्यपेक्षाया दूरोत्सा-रितत्वात् । न चास्य नित्यतया परैरनाधेयविशेषत्वात् क्वचिदपि अपेक्षा, अतो यदि तत्स्वविषयज्ञानो-त्पादनसमर्थं तदा सर्वदैव तद् जनयेत् अथाऽसमर्थम् न कदाचिदपि जनयेत् । न हि समर्थम् असमर्थं वा तस्य तद्रूपं तत् केनचिदन्यथाकर्तुं शक्यम् नित्यत्वहानिप्रसंगात् । यदुक्तम् - ()

का अध्यवसाय नहीं होगा क्योंकि व्यक्ति के विना ही केवल सामान्य प्रतीत होता है उस वक्त व्यक्ति मौजूद ही नहीं है । जब व्यक्ति मौजूद नहीं है तब 'इतनी व्यक्तियों का यह सामान्य' इस प्रकार साधारणभूत से सामान्य की प्रतीति सम्भव न होने से व्यक्ति और सामान्य के सम्बन्ध की प्रतीति भी कैसे होगी ? आप के मत में सम्बन्धप्रयोजक निमित्त के विना तथाविध प्रतीति सम्भव नहीं है । कैसे यह देखिये - व्यक्ति से सामान्य व्यंग्य है अतः व्यक्तिव्यंग्यत्व जो सामान्य में है वह (१) व्यक्ति के साथ सामान्य सम्बन्ध का निमित्त हो सकता है ? या (२) सामान्य व्यक्ति से जन्य होने के कारण व्यक्तिजन्यत्व व्यक्ति के साथ सामान्य के सम्बन्ध का निमित्त हो सकता है ? अथवा (३) सामान्य का ग्रहण व्यक्तिग्रहणसापेक्ष होने से व्यक्तिग्रहणसापेक्षग्रहणत्व यह सम्बन्ध का निमित्त होगा ? तीन में से कौन सा निमित्त होगा ? (१) व्यक्ति से व्यंग्य होने के कारण सामान्य व्यक्तिस्मद्ध हो ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि सामान्य नित्य होने से दूसरे के द्वारा उपकार किये जाने योग्य नहीं है, सर्वदा अविशिष्ट एक स्वरूप रहता है इसलिये वह किसी से व्यंग्य नहीं हो सकता । जो जिस का उपकार-पात्र नहीं है वह उससे अभिव्यंग्य नहीं हो सकता, उदा० हिमवन्त पर्वत विन्ध्य का उपकारपात्र न होने से उस का अभिव्यंग्य भी नहीं होता । सामान्य भी व्यक्तियों के एहसान से दबा हुआ नहीं है अतः वह उन से अभिव्यंग्य नहीं हो सकता । एहसान से दबा हुआ न होने पर भी किसी का व्यंग्य कोई माना जाय तो प्रत्येक भाव अन्य सभी भावों से व्यंग्य मान लेना होगा, यह अतिप्रसंग होगा ।

(२) 'व्यक्ति से जन्य होने से सामान्य, व्यक्ति से सम्बन्ध हो' यह दूसरा पक्ष भी स्वीकृतिपात्र नहीं है, क्योंकि सामान्य नित्य माना गया है अतः वह किसी से भी जन्य नहीं हो सकता । दूसरी बात, केवल सामान्य का स्वतन्त्र ग्रहण (यहाँ यह पक्ष प्रवर्तमान है) पहले मान कर यह विचार चल रहा है इस लिये भी तज्जन्यत्व रूप निमित्त से सम्बन्ध होने की बात बुद्धिगम्य नहीं रहती । (३) तथा तीसरा पक्ष, व्यक्तिग्रहणसापेक्षग्रहणत्व भी सम्भव नहीं है क्योंकि नित्य पदार्थ किसी का भी परतन्त्र नहीं होता, अतः पहले जो किसीने कहा है कि सामान्य का ग्रहण अपने आश्रय के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष का सापेक्ष है - यह कथन भी युक्तिहीन है । उपरांत, जब नित्य पदार्थ का आश्रय भी कोई नहीं बन सकता तो आश्रय के साथ इन्द्रियसंनिकर्षादि की अपेक्षा की बात तो दूर हो जाती है । नित्य पदार्थ में दूसरे के द्वारा किसी भी संस्कार का आधान शक्य नहीं होता अतः उस को किसी की अपेक्षा रह नहीं सकती । फलतः यदि वह अपने विषय में ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होगा तो सर्वदा करता रहेगा, यदि असमर्थ होगा तो कभी भी उत्पन्न नहीं करेगा, किन्तु दूसरे की अपेक्षा का

“तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता । नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः ?” ।।
इति ।

अत एवास्य व्यक्तिषु वृत्तिरप्यनुपपन्ना । तथाहि — वृत्तिरस्य भवन्ती स्थितिलक्षणा वा भवेत्, अभिव्यक्तिलक्षणा वा ? स्थितिरपि निःस्वभावताप्रच्युतिरभ्युपगम्यते आहोस्विदधोगतिप्रतिबन्धस्वरूपा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, सामान्यस्य नित्यतया स्वभावाऽप्रच्युतेः स्वतः सिद्धत्वात् । नाप्यधोगतिप्रतिबन्धस्वरूपा स्थितिस्तत्र सम्भविनी, अमूर्त्त-सर्वगतत्वाभ्यां निष्क्रियत्वात् स्वत एवाधोगमनाऽसम्भवात् प्रतिबन्धकानां वैयर्थ्यात् । न च सामान्यस्य स्वव्यक्तिषु समवायः स्थितिरभ्युपगन्तव्या, तस्यैव विचार्यमाणत्वात् । तथाहि-अयुतसिद्धानामाश्रयाश्रयिभावो यः सम्बन्धः ‘इह’ इतिप्रत्ययहेतुः स समवायः परैरभ्युपगतः । ‘आश्रितत्वं च सामान्यस्य व्यक्तिप्रतिबद्धस्थितित्वेन वा, तदभिव्यंग्यतया वा’ इत्येतदेव पर्यालोचयितुं प्रक्रान्तम् परस्पराऽसंकीर्णरूपाणां भावानामकिञ्चित्करार्थान्तरसमवायाऽयोगात्, योगे वा सर्वः सर्वस्य समवायः प्रसज्येत । तथाहि — व्यावृत्तस्वरूपान् भावान् संश्लेषयन् पदार्थः समवायः प्रकल्पितः । न चार्थान्तरभावेऽपि स्वात्मव्यवस्थिता भावाः परस्परस्य स्वभावमात्मसात्कुर्वन्ति । न

नाम नहीं लेगा । उस का स्वरूप चाहे समर्थ हो या असमर्थ, किन्तु अन्य के द्वारा उस में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का सम्भव नहीं है, अन्यथा उस के नित्यत्व को चोट लगेगी । कहा भी है —

“स्वभावतः उस में जो शक्ति या अशक्ति होगी उस को चोट पहुँचाने में कौन समर्थ है ? क्योंकि वह नित्य होने से किसी भी चिकित्सा के लिये अयोग्य है।”

✽ सामान्य की वृत्ति पर स्थिति-अभिव्यक्ति के दो विकल्प ✽

नित्य है इसीलिये सामान्य की व्यक्तियों में वृत्ति भी असंगत है । देखिये — वृत्ति अगर है तो स्थिति स्वरूप है या अभिव्यक्तिस्वरूप है ? स्थिति भी स्वस्वभाव से अप्रच्युतिस्वरूप है या अधोगति में रुकावट स्वरूप है ? यदि ‘स्वस्वभाव से अप्रच्युतिरूप स्थिति’ यही व्यक्ति में सामान्य की वृत्ति हो तो यहाँ व्यक्ति की सापेक्षता और तत्प्रयुक्त आधाराधेयभाव को अवकाश ही नहीं है क्योंकि सामान्य नित्य होने से, अपने स्वभाव से अप्रच्युतिरूप स्थिति स्वतः सिद्ध है, उस के लिये व्यक्तिस्वरूप आधार अनावश्यक है । अधोगति में रुकावट स्वरूप स्थिति भी यहाँ असम्भव है क्योंकि सामान्य तो अमूर्त्त है एवं निष्क्रिय है इसलिये उस में जब अधोगमन ही संभव नहीं है तब उस में रुकावट रूप स्थिति की तो बात ही कहाँ ? अतः ऐसी स्थिति सम्भव न होने से व्यक्ति में सामान्य की वृत्ति सम्भवहीन है ।

यदि ऐसा माना जाय कि ‘समवाय’ ही व्यक्तियों में सामान्य की स्थितिरूप वृत्ति है — तो नामंजूर है क्योंकि विचार करने पर वह भी घटती नहीं है — देखिये, आप का मन्तव्य ऐसा है — जो अयुत यानी अपृथक् सिद्ध गुण-गुणवान् क्रिया-क्रियावान् आदि का आश्रयाश्रयिभावरूप सम्बन्ध है वही समवाय है जो ‘यहाँ फल में रस है’ इत्यादि प्रतीतियों में हेतु बनता है । — इसी के ऊपर तो यह विचार किया जा रहा है कि व्यक्तियों में सामान्य का आश्रितत्व, व्यक्ति से प्रतिबद्ध ही उस की स्थिति होने के कारण है या व्यक्ति से ही अभिव्यंग्यत्व होने के कारण है ? वास्तव में तो व्यक्ति और जाति दोनों परस्पर असंकीर्ण पदार्थ है अतः अकिञ्चित्कर अर्थान्तरभूत समवाय से उन का कोई सम्पर्क ही असम्भव है, यदि फिर भी उस को मानने का आग्रह हो तो प्रत्येक भाव का प्रत्येक भाव के साथ समवाय सम्बन्ध मानना पड़ेगा । कैसे यह देखिये — परस्पर व्यावृत्त द्रव्य-गुणादि के संयोजन करनेवाले पदार्थ के रूप में समवाय

चाऽर्थान्तराश्लेषकारिणो भावान्तरस्य 'समवायः' इति नामकरणेऽपि काचित् क्षतिः। न च श्लेषकरणात् समवायरूपत्वं संश्लेषस्य, संश्लिष्यमाणपदार्थेभ्यो भिन्नस्य करणे तैस्तस्य सम्बन्धाऽसिद्धेः, अभिन्नस्य करणे सामान्यादेः कार्यत्वेनाऽनित्यत्वप्रसक्तेः। तन्न सामान्यस्य व्यक्तिषु स्थितिर्वृत्तिः।

नापि तदभिव्यक्तिलक्षणाऽसौ युक्ता। तथाहि - तद्विषयविज्ञानोत्पादनलक्षणा वा तदभिव्यक्तिः स्वरूपपरिपोषलक्षणा वा ? न तावत् स्वभावपरिपोषलक्षणा, नित्यस्य स्वभावाऽन्यथाकरणाऽसम्भवात्। नापि तद्विषयविज्ञानोत्पादनस्वरूपाऽसौ युक्ता, सामान्यस्य स्वत एव विज्ञानोत्पादनसामर्थ्येऽभिव्यक्तिकारणापेक्षाऽयोगात् असामर्थ्येऽपि परैरनाधेयविशेषत्वात् सामान्यस्य तदपेक्षत्वानुपपत्तेः, परैराधेयविशेषत्वाभ्युपगमेऽप्यनित्यत्वप्रसक्तितो व्यक्तिवदसाधारणत्वात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः, तेन सामान्यस्य व्यक्तिषु वृत्तिनिबन्धनाऽभावाद् अवृत्तिः। तथा च प्रयोगः, यस्मिन् यस्य वृत्तिनिबन्धनं नास्ति न तत्र तद् वर्तते, विन्ध्य इव हिमवान्, नास्ति च भेदेषु वृत्तिनिबन्धनं सामान्यस्येति व्यापकानुपलब्धिः।

की कल्पना की गयी है, किन्तु अर्थान्तरभूत समवाय के होते हुए भी अपने स्वभाव में अवस्थित पदार्थ कभी एक दूसरे के गुणधर्मों को अपनाता नहीं है। सिर्फ एक भाव के साथ आश्लेषकारी अन्य भाव का 'समवाय' ऐसा नामकरण कर दिया जाय तो क्या क्षति है ? एक-दूसरे का आश्लेष कोई अलग चीज हो और एक-दूसरे का आश्लेष कराने वाले को समवायात्मक कहा जाय तो उस में कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि संयुज्यमान पदार्थों से भिन्न ऐसे आश्लेष को मानने पर यह प्रश्न होगा कि उस आश्लेष का उन पदार्थों से कौन सा रिश्ता है ? उस का कोई सरल उत्तर नहीं। अभिन्न आश्लेष का करण माना जायेगा तो फलस्वरूप सामान्य का ही करण सिद्ध होने से उस में जन्यत्वप्रयुक्त अनित्यत्व का प्रसंग होगा। अतः निष्कर्ष यही फलित हुआ कि व्यक्ति में सामान्य की वृत्ति स्थितिस्वरूप नहीं घटती।

✽ अभिव्यक्तिस्वरूप वृत्ति के दोनों विकल्प दुर्घट ✽

अभिव्यक्तिस्वरूप वृत्ति का दूसरा पक्ष भी अयुक्त है। कैसे यह देखिये - सामान्य की अभिव्यक्ति यानी ^Aक्या सामान्यविषयक विज्ञान का उत्पादन समझना या ^Bसामान्य के स्वरूप का परिपोषणमात्र ? ^Bस्वभावपोषणमात्र घट नहीं सकता, क्योंकि नित्य पदार्थ अपने स्वरूप से परिपूर्ण होता है, अतः व्यक्ति के द्वारा स्वभावपोषण के नाम पर सामान्य के स्वभाव में यत्किञ्चित् भी नया संस्कार या परिवर्तन किया जाना शक्य नहीं है। ^Aव्यक्ति के द्वारा सामान्य के विषय में ज्ञान का जनन-यह पहला पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य स्वयं ही स्वविषयक ज्ञान के जनन में समर्थ है और समर्थ को अपनी अभिव्यक्ति के लिये स्वभिन्न कारण की कोई अपेक्षा नहीं हो सकती। नित्य सामान्य में नया कोई अतिशयाधान शक्य न होने से, सामान्य यदि स्वविषयकज्ञानजनन के लिये असमर्थ होगा तो भी व्यक्ति की अपेक्षा नहीं करेगा, क्योंकि व्यक्ति के द्वारा नित्य पदार्थ पर कोई उपकार होनेवाला नहीं है। यदि सामान्य में व्यक्ति द्वारा किसी उपकारात्मक अतिशय के आधान को मंजूर करेंगे तो सामान्य को अनित्य मानने की विपदा होगी और अनित्य हो जाने पर व्यक्ति की तरह वह भी असाधारणस्वरूपधारी हो जाने से उस की सामान्यरूपता पलायन हो जायेगी। निष्कर्ष, व्यक्तियों में सामान्य की वृत्ति को स्थापित करनेवाला कोई साधन न होने से उस को अवृत्ति ही सिद्ध करना उचित है। जैसे प्रयोग देखिये - जिस में जिस की वृत्ति का स्थापक निमित्त नहीं है वह उस में वृत्ति नहीं होता। उदा० विन्ध्याचल में हिमालय की वृत्ति नहीं होती। भेदों में यानी व्यक्तियों में सामान्य की वृत्ति का स्थापक कोई निमित्त नहीं है अतः सामान्य की वृत्ति व्यक्तियों में नहीं हो सकती। - इस प्रयोग में वृत्ति (की

सर्वेऽपि च परप्रकल्पिताः सामान्यसाधनाय हेतवोऽनया दिशा प्रतिषेद्धव्याः ।

कुमारिलप्रकल्पितास्तु — गोपिण्डभेदेषु गोबुद्धिः एकगोत्वनिबन्धना गवाभासत्वात् एकाकारत्वाच्च एकगोपिण्डविषयबुद्धिवत् । अथवा येयं गोबुद्धिः सा शाबलेयान्न भवति तद्व्यतिरिक्तार्थान्तरालम्बना वा, तदभावेऽपि भावात्, घटे पार्थिवबुद्धिवत् । सर्वगतत्वं च सामान्यस्य प्रमाणान्तरात् सिद्धम् । तथाहि — योयं गोमतिः सा प्रत्येकसमवेतार्थविषया, प्रतिपिण्डं कृत्स्नस्वरूपपदार्थाकारत्वात्, प्रत्येकव्यक्तिविषयबुद्धिवत् । एकत्वमपि सामान्यस्य प्रमाणोपपन्नमेव । तथाहि — यद्यपि सामान्यं सर्वात्मना प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तं तथाप्येकमेव तत् एकाकारबुद्धिग्राह्यत्वात् यथा नञ्युक्तेषु वाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्तनम् । न चैतत् शक्यं वक्तुम् ‘भिन्नेषु अभिन्नाकारः प्रत्ययो भ्रान्तः इति न तद्वलाद् वस्तुतत्त्वव्यवस्था’ इति । यतो नास्य दुष्टकारणप्रभवत्वमस्ति, नापि बाधकप्रत्ययसद्भावः ततो मिथ्यात्वनिबन्धनाभावात् कतं भ्रान्तता ? तदुक्तम्, (श्लो० वा० वन० श्लो० ४४-४७-४९)

उपलब्धि) का व्यापक है वृत्तिस्थापक निमित्त, उसकी अनुपलब्धि हेतु है जो व्याप्य-का यानी वृत्ति का अभाव सिद्ध करता है ।

यह एक दिशासंकेत है, इस के अनुसार अन्य भी सामान्यवादी न्यायवैशेषिक प्ररूपित सामान्यसाधक हेतुओं का प्रतिक्षेप समझ लेना ।

✽ सामान्य की सिद्धि के लिये कुमारिलप्रयास ✽

मीमांसादर्शन के विद्वान कुमारिल ने सामान्य की सिद्धि के लिये हेतुओं का प्रतिपादन किया है - अनेक प्रकार के गोपिण्डों में ‘गाय’ ऐसी बुद्धि एक अनुगत गोत्व मूलक होती है क्योंकि वह गो-आभासी यानी गोविषयक ही होती है और वह समानाकार होती है जैसे एक गोपिण्ड के विषय में (अनेक) गो बुद्धि । अथवा इस तरह प्रयोग है — यह जो गोबुद्धि है वह शबलवर्णपिण्ड से उत्पन्न नहीं है अथवा गोपिण्ड से अतिरिक्त अर्थान्तर के आलम्बन से होने वाली है, क्योंकि शबलवर्णवाले गोपिण्ड के अभाव में भी होती है, जैसे घट को देख कर ‘पार्थिव है’ ऐसी बुद्धि घट के बदले शराव के होने पर भी होती है ।

सामान्य में व्यापकत्व सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण है — यह जो ‘गाय’ बुद्धि है वह प्रत्येक व्यक्ति में समवेत पदार्थ को विषय करती है क्योंकि प्रत्येक पिण्ड में अखंडस्वरूप पदार्थाकार होती है, जैसे प्रत्येक व्यक्तिविषयक बुद्धि । सामान्य में एकत्व की सिद्धि के लिये यह साधक प्रमाण है — हालाँकि सामान्य अखण्डरूप से प्रत्येक व्यक्ति में समाविष्ट है फिर भी एक ही है क्योंकि एकाकारबुद्धि से गृहीत होता है, जैसे नञ्पदवाले अब्राह्मणादिपदों से युक्त वाक्यों में ब्राह्मणादि की व्यावृत्ति, हालाँकि ब्राह्मणों के अथवा वैश्यादि के अनेक होने पर भी एकाकारबुद्धि से ही उन की व्यावृत्ति गृहीत होती है और एक ही होती है । ऐसा कहना दुःशक्य है कि — ‘भिन्न पिण्डों में अभिन्नाकार प्रतीति भ्रान्त है अतः उस के बल पर वस्तुतत्त्व की व्यवस्था शक्य नहीं’ — क्योंकि ऐसा कहने पर भ्रान्ति का मूल दिखाना पड़ेगा, क्या दूषित कारणों से जन्य होने से वह भ्रान्त होती है या पश्चाद्भावि बाधकप्रतीति के जरिये भ्रान्त होती

✽. किन्तु उस में रहनेवाले गोत्व से उत्पन्न है यह गर्भितार्थ है ।

✦. यहाँ सिर्फ व्यापकत्व की सिद्धि ही अभिप्रेत है, एकत्व की सिद्धि के लिये अलग से नीचे अनुमान दिया जायेगा । उदाहरण में जैसे बुद्धि चाहे एक हो या अनेक लेकिन प्रत्येक व्यक्ति को व्यापकरूप से विषय करती है वैसे ही प्रत्येकव्यक्ति में समवेत पदार्थ को विषय करने से पक्षभूत गोबुद्धि भी व्यापक पदार्थ विषयक सिद्ध होगी ।

पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना । गवाभासैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत् ॥
 न शाबलेयाद्गोबुद्धिः ततोऽन्यालम्बनाऽपि वा । तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत् ॥
 प्रत्येकसमवेतार्थविषयैवाथ गोमतिः । प्रत्येकं कृत्स्नरूपत्वात् प्रत्येकव्यक्तिबुद्धिवत् ॥
 प्रत्येकसमवेताऽपि जातिरेकैव बुद्धितः । नञ्युक्तेष्विव वाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्तनम् ॥
 नैकरूपा मतिर्गोत्वे मिथ्या वक्तुं च शक्यते । नात्र कारणदोषोऽस्ति बाधकः प्रत्ययोऽपि वा ॥ इति ।
 अत्र प्रथमसाधने साध्यविकलमुदाहरणम् गोत्वस्यैकस्य तत्राऽसिद्धेस्तन्निबन्धनत्वस्यैकगोपिण्ड-
 विषयबुद्धेरप्यसिद्धत्वात् । अथ सामान्येनैकनिबन्धनत्वमात्रं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, विजातीयव्य-
 वच्छेदेन कल्पितैकाऽगोव्यावृत्तिनिबन्धनत्वस्येष्टत्वात् । ‘न शाबलेयाद्गोबुद्धिः’ इत्यत्रापि साक्षात् तदु-
 त्पत्तिनिषेधे साध्ये सिद्धसाध्यता तत्स्वलक्षणानुभवाहितसंस्कारसंकेतादिव्यवहितत्वान्तस्याः । अथ
 परम्परयाऽपि ‘ततो न भवति’ इति साध्यते तदाऽनुमानबाधः प्रतिज्ञायाः साध्यविकलता च दृष्टा-

है ? जब दोनों में से एक भी उस बुद्धि को मिथ्या सिद्ध करने वाला निमित्त मौजूद नहीं है तो उस को भ्रान्त कैसे कह सकते हैं ? कहा है श्लोकवार्तिक में -

‘भिन्न पिण्डो में ‘गाय’ बुद्धि एकगोत्वमूलक होती है, क्योंकि गोआभासिक होती है, अथवा एकरूप (एकाकार) होती है, जैसे एक गोपिण्ड में ‘गाय’ बुद्धि ॥’ - ‘गाय-बुद्धि शबलवर्णपिण्ड से नहीं होती, अथवा उस से अतिरिक्त पदार्थ के आलम्बन से होती है, क्योंकि उस के अभाव में भी होती है जैसे घट में पार्थिव-बुद्धि ॥’ (तथा) ‘गोबुद्धि प्रत्येक में समवेत अर्थ की उद्भासक है, क्योंकि वह प्रत्येक के बारे में अखण्डाकारग्राही है, जैसे प्रत्येक व्यक्तिग्राही बुद्धि ॥’ ‘प्रत्येक पिण्ड में रहते हुए भी जाति एक ही होती है क्योंकि एकाकारबुद्धि होती है, जैसे नञ्गर्भित वाक्यों में ब्राह्मणादि की व्यावृत्ति ॥’ - ‘गोत्वविषयक एकाकार प्रतीति भ्रमात्मक नहीं है, क्योंकि न तो उस में कोई कारणदोष है, न बाधक प्रतीति है ॥’

✽ कुमारिलप्रदर्शित अनुमानों में दोषपरम्परा ✽

कुमारिल के प्रतिवादी कहते हैं कि ‘गाय’ बुद्धि में गोत्वमूलकता सिद्ध करनेवाले प्रथम प्रयोग में साध्याप्रसिद्धि होने से दृष्टान्त साध्यहीन है क्योंकि एक गोत्व अभी तक असिद्ध होने से एक गोपिण्डविषयकबुद्धिरूप उदाहरण में एकगोत्वमूलकत्व मौजूद नहीं है । यदि विशेषरूप साध्य न कर के साधारणरूप से सिर्फ एकपदार्थमूलकत्व को ही साध्य किया जाय तो सिद्धसाधनप्रयास होगा, क्योंकि विजातीयों के व्यवच्छेदपूर्वक काल्पनिक एक अगोव्यावृत्तिमूलकत्व हमें भी इष्ट है । ‘शबलवर्ण से ‘गाय’ बुद्धि उत्पन्न नहीं होती’ ऐसे विधान में क्या तात्पर्य है ? यदि ‘साक्षात् शबलवर्ण से उत्पत्ति न होने’ का सिद्ध करना चाहते हैं तो यहाँ भी सिद्धसाधनायास है क्योंकि हम मानते हैं कि ‘गाय’ ऐसी निश्चयबुद्धि साक्षात् गोस्वलक्षण से उत्पन्न नहीं होती किन्तु व्यवधान से, यानी गोस्वलक्षण के अनुभव से निष्पन्न संस्कार और संकेतादि के व्यवधान से ही वैसा निश्चय उत्पन्न होता है । यदि आप ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं कि गोबुद्धि परम्परा से भी शबलवर्णादिपिण्डजन्य नहीं होती, तब तो प्रतिज्ञा में प्रतिअनुमान की बाधा और दृष्टान्त में साध्यशून्यता ये दोष होंगे । कारण, ‘गाय’ - निश्चय शबलवर्णादि पिण्ड से जन्य है क्योंकि उस के अन्वय-व्यतिरेक सहचार से अनुविद्ध है जैसे शबलवर्णप्रतीति’ इस अनुमान से आप के अनुमान की प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है । तथा, आपने उस अनुमान प्रयोग में घट में (यानी घटविषयक) पार्थिवबुद्धि का जो दृष्टान्त दिया है, उस में तो साध्य भी नहीं है क्योंकि उस

न्तस्य । अन्यालम्बनत्वेऽपि साध्ये संनिहितशाबलेयादिपिण्डाध्यवसायित्वेन तस्याः संवेदनात् दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता पूर्ववत् । अथ शाबलेयाऽसन्निधौ बाहुलेयादिसंनिधानप्रवृत्ता या बुद्धिः सा ततोऽन्यालम्बनेति पक्षस्तदा सिद्धसाध्यता । अथ साक्षात् वस्तुसदालम्बनेति साध्यते तदानैकान्तिकता हेतोः, नहि परमार्थतोऽस्या वस्तुसदालम्बनमस्तीति प्रसाधितत्वात् ।

यदपि प्रत्येकपरिसमाप्तार्थविषयत्वसाधनम् तत्रापि सामान्येन साध्ये सिद्धसाध्यता प्रतिपदार्थमत-द्रूपपरावृत्तवस्तुरूपाध्यवसायेनास्याः प्रवृत्तेः । अथ वस्तुभूत-प्रत्येकपरिसमाप्त-नित्यैकसामान्या-ख्यपदार्थविषयत्वं साध्यते तदा दृष्टान्तस्य साध्यविकलताऽनैकान्तिकता च हेतोः तथाविधेन साध्यते हेतोः क्वचिदप्यन्वयाऽसिद्धेः । एकस्य च क्रमवत्सु बहुषु सर्वात्मना परिसमाप्तत्वे सर्वव्यक्तिभेदानाम-न्योन्यमेकरूपताप्रसक्तिः एकव्यक्तिपरिनिष्ठितस्वभावसामान्यसंसृष्टत्वात् एकव्यक्तिरूपवत्, सामान्यस्य वाऽनेकरूपताप्रसक्तिः । युगपदनेकवस्तुपरिसमाप्तात्मरूपत्वादतिदूरदेशावस्थितानेकभाजनव्यवस्थितानेका-म्रादिफलवत् इत्यनुमानबाधः । अत एव 'न चात्र बाधकः प्रत्ययोऽस्ति' इति यदुक्तम् तदपास्तम्

बुद्धि में घटजन्यत्व है तभी तो 'घट में पार्थिवबुद्धि' ऐसा कहा जाता है तब उस में घटजन्यत्व का अभाव कैसे हो सकता है ?

तज्जन्यताभाव के बदले 'अथवा' कर के जो 'अन्यालम्बनता' को साध्य दिखाया गया है उस के बारे में यह सोचिये कि यदि आप संनिहितशबलवर्णगोपिण्डबुद्धि को अन्य यानी असंनिहितगोपिण्डादिविषयक सिद्ध करना चाहते हैं तो स्पष्ट ही अनुभव का विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि वहाँ तो ऐसा ही संवेदन होता है कि यह गोबुद्धि संनिहित शबलवर्णादिगोपिण्ड को ही अध्यवसित करती है । तथा, घट में होने वाली पार्थिव बुद्धि तो उसी घट को आलम्बन करती है न कि अन्य घट को, अतः वह दृष्टान्त भी पूर्ववत् साध्यविहीन है । यदि शबलवर्णादि संनिहित न होने पर शबलवर्णादि से अन्य यानी बहुल (कृष्ण)वर्णादि से जब वह बुद्धि प्रवृत्त हो उस वक्त अगर उस में आप शबलवर्णादि से अन्य आलम्बन को सिद्ध करना चाहेंगे तो उस में किसी को भी विवाद न होने से सिद्धसाधनायास होगा । यदि उस गोबुद्धि में आप साक्षात् वस्तुसत्तावलम्बिता सिद्ध करना चाहेंगे तो हेतु साध्यद्रोही ठहरेगा, क्योंकि पहले यह बताया गया है कि सविकल्प निश्चयबुद्धि पारमार्थिकरूप से वस्तुसत्तावलम्बि कभी नहीं होती, अर्थात् साध्य न होने से हेतु रहेगा तो साध्यद्रोही कहलायेगा ।

✽ प्रत्येकसमवेतार्थविषयत्व में दोषोद्भावन ✽

गोबुद्धि में प्रत्येकसमवेतार्थविषयकत्व की सिद्धि के लिये जो प्रयोग दिखाया है उस में यदि सामान्य से साध्यसिद्धि अभिप्रेत हो तो सिद्धसाधन का कष्टमात्र है । कारण, गोनिश्चय प्रत्येक पदार्थ में अतत्स्वरूपव्यावृत्तिमयवस्तु को ही अध्यवसित कर के प्रवृत्त होती है । यदि आप स्वतन्त्रविधया प्रत्येक व्यक्ति में समवेत वस्तुभूत एक नित्य 'सामान्य' पदार्थ को उस बुद्धि के विषयरूप में सिद्ध करना चाहते हैं तो दृष्टान्त में साध्यशून्यता दोष होगा और तथाविध साध्य के साथ कहीं भी हेतु में व्याप्ति सिद्ध न होने से, हेतुसाध्यद्रोही भी होगा । यदि एक सामान्य को क्रमिक अनेक पदार्थों में पूर्णतया समाविष्ट मानेंगे तो सभी प्रकार की व्यक्तियों में परस्पर एकरूपता (एकत्व) प्रसक्त होगी, क्योंकि एकव्यक्ति में परिसमाप्तस्वभाववाले एक ही सामान्य से सर्वव्यक्ति आश्लिष्ट है जैसे एकरूप से आश्लिष्ट एक व्यक्ति । अथवा प्रति व्यक्ति परिपूर्णरूप से समाविष्ट न होने के कारण जितनी व्यक्ति उतने सामान्य मानना होगा, जैस एक दूसरे से दूर दूर रहे हुए भाजनों में परिसमाप्त आम्र अनेक होते हैं । इस प्रकार सामान्य में प्रत्येकपरिसमाप्ति अनुमान में प्रति-अनुमानबाधा मौजूद है । इसी कारण से, 'यहाँ कोई बाधक प्रतीति

बाधकस्य प्रदर्शितत्वात् । यदपि एकत्वसाधनं सामान्यस्य, तत्रापि तस्य प्रत्येकसमवेतत्वा-
ऽसिद्धेराश्रयाऽसिद्धो हेतुः । स्वरूपाऽसिद्धश्च एकबुद्धिग्राह्यत्वस्य परमार्थतस्तत्राऽसिद्धेः शाबलेयादिषु
'समानाः' इति बुद्ध्युत्पत्तेः । ब्राह्मणादिनिवर्तनं च परमार्थतो नैकमस्ति तस्याऽवस्तुत्वात्, अतः
साध्यविकलमुदाहरणम् । कल्पनाशिल्पिघटिते चैकत्वे साध्ये सिद्धसाध्यता, अपोहस्य कल्पनानिमित्त-
स्यैकत्वेनेष्टेः ।

'न चात्र कारणदोषोऽस्ति' इत्येतदपि असिद्धम् अनाद्यविद्यावासनास्वरूपस्य कारणदोषस्य स-
द्भावात् । बाधकसद्भावाच्च 'न च याति' इत्यादिना प्रदर्शितः । तथाहि — ये यत्र नोत्पन्नाः नापि
प्रागवस्थायिनः नापि पश्चात् अन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्र न वर्तन्ते नापि उपलभ्यन्ते यथा
रासभशिरसि तद्विषाणादयः, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति शाबलेयादिके वस्तुनि — इति
व्यापकानुपलब्धिः । न चायमनैकान्तिको हेतुः तत्र वृत्त्युपलम्भयोः प्रकारान्तराऽसम्भवात् । तच्च
स्वाश्रयमात्रव्यापित्वाऽभ्युपगमे गोत्वादिजातेर्बाधकं प्रमाणं प्रदर्शितम् । सर्वसर्वगतत्वाभ्युपगमे तु तस्या
एकस्मिन् व्यक्तिभेदे ग्रहणे विजातीयव्यक्तिभेदे व्यक्त्यन्तराले चोपलम्भः स्यात् अनुपलम्भात् तदभाव

नहीं है' यह विधान भी जूठा सिद्ध होता है क्योंकि प्रतिअनुमानरूप बाधक का प्रदर्शन किया जा चुका है ।
सामान्य में एकत्व का साधक जो प्रयोग कहा गया था उस में हेतु ही आश्रयासिद्ध है क्योंकि प्रत्येक में परिसमाप्त
सामान्यरूप पक्ष ही असिद्ध है । तथा उस हेतु में (एकाकारबुद्धिग्राह्यत्व हेतु में) स्वरूपासिद्धि दोष भी है, क्योंकि
शबलवर्णादि को देख कर 'ये समान है' ऐसी बुद्धि तो होती है लेकिन 'ये एक हैं' ऐसी बुद्धि नहीं होती ।
अतः एकाकारबुद्धिग्राह्यत्व परमार्थरूप से वहाँ असिद्ध है । तथा, जो ब्राह्मणादि की व्यावृत्ति का दृष्टान्त दिया
है उस में साध्यशून्यता का दोष है, क्योंकि व्यावृत्ति स्वयं ही वस्तुभूत नहीं है तो पारमार्थिक एकत्व की तो
उस में बात ही कहाँ ? हाँ, जैसे हमें अपोह में काल्पनिक एकत्व इष्ट है वैसे आप के कल्पित सामान्य में
कल्पनामूलक एकत्व की सिद्धि अभिप्रेत हो तो सिद्धसाधन का कष्टमात्र है ।

✽ अभेदग्राहक अध्यवसाय भ्रान्त क्यों ? ✽

भिन्न पदार्थों में अभेदग्राही अध्यवसाय को भ्रान्त सिद्ध करनेवाला कोई कारणदोष नहीं है यह विधान
भी असिद्ध है । क्योंकि अनादिकालीन अविद्या से जनित वासना ही वहाँ दुष्ट कारण के रूप में मौजूद है ।
'न याति न च तत्राऽसीत्' इस "प्र० वा०" की कारिका के द्वारा उस अध्यवसाय में बाधकप्रदर्शन किया
जा चुका है । फिर से देखिये — जो भाव जहाँ न तो उत्पन्न होते हैं, न पूर्वावस्थित होते हैं और न पीछे
से किसी अन्य देश से वहाँ आगमन करते हैं वे न तो वहाँ वर्तमान हैं न वहाँ उपलब्ध होते हैं । उदा०
गधे के सिर पर सींग-चूड़ा आदि । प्रस्तुत में सामान्यशून्य देश में उत्पन्न होनेवाले शबलवर्णादि गोपिण्ड रूप
वस्तु में सामान्य की भी गधेसींग जैसी ही स्थिति है अतः वह असत् सिद्ध होता है । इस प्रयोग में सत्ता
अथवा उपलब्धि का व्यापक अर्थ है उत्पत्ति, पूर्वावस्थिति और अन्यदेश से प्राप्ति, तीन में से एक; उन व्यापक
की अनुपलब्धि यहाँ हेतुरूप में प्रस्तुत है । यह हेतु साध्यद्रोही नहीं है, क्योंकि किसी भाव की किसी एक
स्थान में वृत्ति अथवा उपलम्भ के पीछे उस की वहाँ उत्पत्ति, पूर्वावस्थिति अथवा पश्चादागमन इन में से कोई
एक प्रकार होता ही है, और किसी प्रकार का सम्भव नहीं है । अपने आश्रयमात्र में ही व्यापकता, गोत्वादि
जाति में मंजूर रखने के पक्ष में भी यही बाधक प्रमाण है । सामान्य को सर्वत्र सर्वगत यानी व्यापक मानने
के पक्ष में बाधक प्रमाण यह है — किसी एक व्यक्तिविशेष में सामान्य का ग्रहण होने पर विजातीय अन्य

इति दृश्यानुपलम्भो बाधकं प्रमाणम् । तथाहि — उपलब्धव्यक्तिसमवेतसामान्यस्वरूपादुपलब्धादव्यतिरिक्तं चेद् व्यक्त्यन्तरालवर्ति सामान्यरूपम् तदा तस्यापि ग्रहणं भवेत् गृहीतादभिन्नत्वात् गृहीतस्वरूपवत् । अथ न तस्योपलम्भः, तथा सति अनुपलब्धरूपाव्यतिरेकात् तद्वत् उपलब्धव्यक्तिसमवायिनोऽपि रूपस्योपलम्भो न स्यात् । अथोभयरूपताऽभ्युपगम्यते तदा रूपभेदात् तद्वस्तुभेदः परस्परविरुद्धधर्माध्यासात् । न ह्यन्योन्यविरुद्धरूपग्रहणाऽग्रहणधर्माध्यासितमपि वस्तु एकं युक्तम् अतिप्रसंगात्, विश्वस्यैवमेकद्रव्यताप्रसक्तेः सहोत्पाद-विनाशाद्युपपत्तिः स्यादन्यथा 'एकम्' इति नाममात्रमेव भवेत् न च तत्र विवादः ।

नित्यत्वैकत्वरूपाभ्युपगमे च सामान्यस्याऽनेकशो बाधकं प्रतिपादितमेवानुमानम् ये क्रमित्वाऽनुगामित्व-वस्तुत्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्मोपेतास्ते परपरिकल्पितनित्यैकसर्वगतसामान्यतो नात्मलाभमासादयन्ति यथा पाचकादिप्रत्ययाः, तथा चामी गवादिप्रत्यया इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, नित्यभावविरुद्धाऽनित्यताभावेन क्रमित्वादेर्व्याप्तत्वात् नित्यस्य च क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् नानैकान्तिकता हेतोः,

व्यक्ति में तथा दो व्यक्ति के मध्य भाग में भी उस का उपलम्भ प्रसक्त होगा। जब उपलम्भ नहीं होता है तो दृश्य के अनुपलम्भ से उस का अभाव सिद्ध होता है। कैसे यह देखिये — दृष्टिगोचर व्यक्ति में समवेत सामान्य जो कि आप को उपलब्ध हो रहा है उससे, दो व्यक्ति के मध्यभाग में रहनेवाला सामान्य अव्यतिरिक्त होगा तो उस का उपलम्भ भी प्रसक्त होगा क्योंकि व्यक्ति में गृहीत सामान्य से वह अभिन्न है, जैसे गृहीत सामान्य का स्वरूप। किन्तु यदि उस का उपलम्भ नहीं होता है तो अनुपलब्ध सामान्य से व्यक्तिसमवेत सामान्य अभिन्न होने से उस का भी अनुपलम्भ प्रसक्त होगा। यदि इस स्थिति में एक सामान्य में उपलब्ध-अनुपलब्ध उभयरूपता का स्वीकार करेंगे तो स्वरूपभेद से सामान्य में वस्तुभेद प्रसक्त होगा, क्योंकि परस्परविरुद्ध धर्मों का एकत्र अध्यास वस्तुभेदसाधक होता है। अन्योन्यविरोधि उपलब्ध-अनुपलब्ध धर्मयुगल से अध्यासित वस्तु को एक ही मानना ठीक नहीं है क्योंकि तब सारे विश्व में वस्तुभेद का लोप हो कर एकद्रव्यरूप विश्व प्रसक्त होगा। और एकद्रव्यरूपता प्रसक्त होने से सारे विश्व की एक साथ उत्पत्ति और विनाश भी प्रसक्त होगा, क्योंकि उस के विना विश्व का एकत्व सिर्फ बोलने के लिये नाम मात्र ही होगा, नाम तो चाहे कुछ भी बोला जाय — हमें उस में कोई विवाद नहीं है।

✽ जाति की नित्यता एवं एकत्व में बाधकप्रदर्शन ✽

सामान्य को एक एवं नित्य मानने के पक्ष में बाधक अनुमान का प्रदर्शन कई बार हो चुका है — जैसे क्रमिकत्व, अनुगामिता, वस्तुत्व, उत्पत्ति आदि धर्मों से युक्त जो धर्मों होते हैं वे प्रतिपक्षकल्पितनित्य-एक-व्यापक सामान्य के द्वारा आत्मलाभ नहीं प्राप्त करते, उदा० पाककर्ता आदि विषयक प्रतीतियाँ; ये गाय आदि विषयक प्रतीतियाँ भी क्रमित्वादिधर्माश्लिष्ट हैं अतः उन को आत्मलाभ की प्राप्ति में सामान्य की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ नित्यसामान्यसापेक्षता की विरुद्ध है नित्य सामान्यनिरपेक्षता, उस से व्याप्त है क्रमित्वादिधर्मयुक्तता, उस की उपलब्धि को यहाँ हेतु किया गया है। तात्पर्य, नित्यत्व के विरोधी अनित्यत्व से व्याप्त है क्रमित्वादिधर्म, उस की उपलब्धि हेतुभूत है। इस हेतु में साध्यद्रोह का आरोप अशक्य है, क्योंकि क्रमशः या एकसाथ अर्थक्रिया के विकल्पों का नित्यत्व के साथ स्पष्ट ही विरोध है अतः क्रमित्वादिधर्मोपेत हेतु को नित्य सामान्य के साथ जन्य-जनकभाव घट नहीं सकता। पाककर्तादिविषयक प्रतीतियों में नित्यजन्यत्व का पहले निरसन किया हुआ

दृष्टान्तस्य च साध्यान्वितत्वेन पूर्वं प्रसादितत्वान्नासिद्धो दृष्टान्तः। तदेवं बाधकप्रत्ययस्याऽभावोऽसिद्धः, अनेकप्रकारस्य बाधकस्य प्रदर्शितत्वात्।

भवतु वा गोत्वादि सामान्यम् कर्कादिविलक्षणत्वेन शाबलेयादीनां प्रतिपत्तेः। ब्राह्मणत्वादि सामान्यं तूपदेशमात्रव्यंग्यम् गवाश्चादिवद् ब्राह्मणेतरविशेषप्रतिपत्यभावात्। न चोपदेशसहायाध्यक्षगम्यं तत्, अध्यक्षविषये उपदेशापेक्षाऽयोगात्, तद्योगे चोपदेशस्यैव केवलस्य व्यापार इत्युपदेशमात्रव्यंग्यतैव। अथ 'वर्णविशेषाध्ययनाचार-यज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मण' इति ज्ञानम् तन्निमित्त-बुद्धिविलक्षणत्वात्, गवाश्चादिज्ञानवत्' इति लिङ्गात् प्रतिपत्तेः ब्राह्मणत्वಾದिसामान्यस्य नागममात्र-व्यंग्यत्वमिति। असदेतत्, नगरादिज्ञानवद् व्यतिरिक्तनिबन्धनाभावेऽपि तथाभूतज्ञानस्य कथंचिदुपपत्तेः। न हि नगरादिज्ञानेऽपि व्यतिरिक्तं द्रव्यान्तरमस्ति यदेकाकारज्ञाननिबन्धनं भवेत्। काष्ठादीनामेव प्रत्या-सत्या कयाचित् प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनानां नगरादिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्तेः, अन्यथा 'षण्णगरी'

है अतः उस दृष्टान्त में साध्य न होने का प्रश्न ही नहीं है, दृष्टान्त उभयपक्ष सिद्ध है। इस ढंग से अनेक प्रकार के बाधक अनुमान नित्य सामान्यपक्ष में प्रदर्शित हैं अतः बाधकप्रतीति का अभाव असिद्ध है।

✽ ब्राह्मणत्व स्वतन्त्र जाति नहीं है ✽

यदि आप का अति आग्रह है कि गोत्व सामान्य को मानना ही पड़ेगा क्योंकि शबलवर्णादि गोपिण्डों में अश्वादि से विलक्षणता का भान उस के विना नहीं हो सकता — तो चलो, एक बार कुछ सीमा तक गोत्वादि सामान्य का स्वीकार कर लिया, किन्तु ब्राह्मणत्वादि को भी जातिरूप में मान लेना यह अनुचित है, क्योंकि वह तो जातिवादीयों के स्वरचित आगमोपदेश के विना ज्ञात नहीं होता, गो-अश्व में जैसे स्पष्ट भेद प्रतीत होता है वैसे ब्राह्मण और अब्राह्मण मनुष्य में नहीं होता। यदि कहें कि ब्राह्मणत्व जाति सिर्फ आगमोपदेशगम्य नहीं है किन्तु आगमोपदेशश्रवण के बाद उस से सहकृत प्रत्यक्ष का भी गोचर है — तो यह विधान गलत है, क्योंकि प्रत्यक्षगोचर वस्तु के लिये कभी उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। यदि उपदेश आवश्यक है तो उस का मतलब यही है कि ब्राह्मणत्व जाति के भान के लिये उपदेश ही सव्यापार है, अर्थात्, वह एकमात्र उपदेश से ही अभिव्यंग्य है।

✽ ब्राह्मणत्व ज्ञान में अतिरिक्त निमित्त अमान्य ✽

यदि यह कहा जाय — 'शरीर का वर्णविशेष, वेदादि का अध्ययन, यज्ञादि का आचार, जनोऊ इत्यादि बाह्यनिमित्तों से अतिरिक्त निमित्त से 'यह ब्राह्मण है' ऐसा ज्ञान होता है, क्योंकि वर्णविशेषादि निमित्तों के ज्ञान से यह ज्ञान विलक्षण है, जैसे अश्वज्ञान से गो का ज्ञान विलक्षण होता है तो वह 'गाय' इस प्रकार गोत्वजातिविषयक होता है। इस प्रकार के अनुमान से ब्राह्मणत्व जाति का अनुमिति ज्ञान भी हो सकता है, अत एव वह सिर्फ आगममात्रबोध्य नहीं है। — तो यह प्रतिपादन गलत है, क्योंकि 'ब्राह्मण' इस प्रकार का ज्ञान अतिरिक्त निमित्त के विना भी किसी प्रकार उन्हीं निमित्तों के द्वारा हो सकता है। जैसे प्रासाद-आपणादि के निमित्तों से अतिरिक्त निमित्त के विना भी 'यह नगर है' ऐसा ज्ञान आप को भी मान्य है क्योंकि आप इस ज्ञान को नगरत्वजातिमूलक नहीं मानते। 'नगर-नगर' ऐसा जो अनुगताकार ज्ञान होता है उस के पीछे कोई द्रव्यान्तरस्वरूप अतिरिक्त निमित्त नहीं होता किन्तु काष्ठ-सिमेन्ट आदि ही निमित्त होते हैं। जैसे किसी एक प्रकार के सम्बन्ध से काष्ठ-इँट आदि द्रव्यों से ही 'यह प्रासाद है' ऐसा अनुगतव्यवहार

इत्यादिष्वपि वस्त्वन्तरकल्पनाप्रसक्तेः । न च तत्रापि तथाऽस्तु इति वक्तव्यम् वस्त्वन्तरस्य तन्निबन्ध-
नस्य तत्र निषिद्धत्वात् । अतोऽनैकान्तिको हेतुः । सिद्धसाध्यता च समुदायिभ्योऽन्यत्वाङ्गीकरणे
समुदायस्य तन्निबन्धनत्वाद् ब्राह्मणबुद्धेः तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात् पानकवदिति न वर्णादिभ्यो व्यतिरिक्तम् ।
तस्मात् शरीरोत्पत्तिकारणं श्रुतं तपो वा ब्राह्मणत्वं परिकल्पनीयं स्यात् ।

तत्र ब्राह्मणशुक्र-शोणितसंभूते शरीरविशेषे यदि ब्राह्मणत्वजातिः समवेता भवेत् ततः संस्कार-
भ्रंशे-ऽपि न ततो व्यावर्त्तत, तेन संस्काराभावाद् ब्राह्मणो नाऽब्राह्मणो भवेत् । अथ संस्काररहितोऽपि
ब्राह्मण एव केवलं ब्राह्मणक्रियामकुर्वाणस्य भवत्यब्राह्मणव्यपदेशस्तत्र पुत्रस्येव पुत्रक्रियामकु-
र्वतः । तथाहि — ‘अयमगौः अयमनश्वः अयममनुष्यः’ इत्यादिव्यवहारो लोके सुप्रसिद्ध एव । न
चैतावता तत्क्रियावैकल्येऽपि परमार्थतस्तस्य तथाभावः, प्रत्यक्षादिविरोधात् । एतस्यां च वस्तुव्यव-
स्थायां ब्राह्मणमातापित्रुत्पाद्यत्वस्य प्राधान्यात् गजादीनां शिक्षेव केवलमध्ययनादिका क्रिया सम्पद्यते ।
तथाऽभ्युपगमे च ब्रह्म-व्यास-मतङ्ग -विश्वामित्रप्रभृतीनां ब्राह्मणत्वं न स्यात् । न चाऽदृश्ये वस्तुनि निर्णयो

होता है वैसे ही उन काष्ठादि से ‘यह नगर है’ ऐसा अनुगतव्यवहार सिद्ध होता है । यदि इस तथ्य का अस्वीकार
करेंगे तो छ नगरीयों के समुदाय के लिये जो ‘षण्णगरी’ ऐसा अनुगत व्यवहार होता है उस के लिये भी
नगरीयों से अतिरिक्त एक निमित्त की कल्पना का कष्ट करना होगा । यदि इस कष्ट को सहर्ष झेलने के
लिये आप तय्यार हो जायेंगे तो भी कोई सफलता नहीं मिलेगी क्योंकि नगरीयों के समुदाय से अतिरिक्त
उस प्रतीतिजनक निमित्त सर्वमत में निषिद्ध है । तात्पर्य, ब्राह्मणत्वजाति के न होने पर भी विलक्षणबुद्धि रूप
हेतु सम्भव होने से साध्यद्रोह का दोष प्रसक्त है । कदाचित् अतिरिक्त निमित्त का आग्रह हो तो सिद्धसाधन
दोष सावकाश है । कारण, समुदाय के अंगों से अतिरिक्त समुदायात्मक अन्य वस्तु को उस विलक्षण बुद्धि
के निमित्तरूप में मान लेंगे । तात्पर्य, वर्णविशेष आदि अंगों के समुदायरूप अतिरिक्त निमित्त से ही ‘ब्राह्मण’
बुद्धि का होना मान सकते हैं, क्योंकि वर्णविशेषादि अंगों के समुदाय के ग्रहण के विना ‘ब्राह्मण’ बुद्धि नहीं
होती । उदा० विविध मद्यांगों के समुदाय के विना ‘पेया’ का निर्माण नहीं होता । इस चर्चा से इतना स्पष्ट
हो जाता है कि वर्णादि के समुदाय से अतिरिक्त कोई ब्राह्मणत्व जाति सत् नहीं है । फलतः जब ब्राह्मणत्व
जातिरूप नहीं है तब शरीरोत्पत्तिकारण (पितृ आदि) या वेदाध्ययन अथवा तपश्चर्यास्वरूप ही ब्राह्मणत्व की
कल्पना करनी पड़ेगी । ब्राह्मणत्व की जातिरूप में कल्पना अनावश्यक है ।

✽ ब्राह्मणजन्य शरीर में ब्राह्मणत्व असंगत ✽

उन में से ब्राह्मण पिता-माता के शुक्र-शोणित के योग से उत्पन्न शरीरविशेष में अगर ब्राह्मणत्व जाति
के समवाय को मानेंगे तो संस्कार से भ्रष्ट होने के बाद भी जातिरूप होने से ब्राह्मणत्व की निवृत्ति संगत
नहीं हो सकेगी । इससे यह फलित होगा कि संस्कार के अभाव में ब्राह्मणत्व का अभाव हो
ऐसा नहीं है । यदि ऐसा कहा जाय — ‘ब्राह्मणत्व में संस्कार के विरह में भी ब्राह्मणत्व होता ही है, सिर्फ
ब्रह्मक्रिया के न होने से उस के लिये ‘अब्राह्मण’ का व्यवहार होगा, जैसे कि पुत्रकर्तव्य का पालन न होने
पर पुत्र के लिये भी अपुत्र का व्यवहार होता है । दुनिया में स्पष्टरूप से सुविदित तथ्य है कि क्षीर न देने
पर गाय में ‘अगौ’ व्यवहार होता है, तथा तेजी से न दौड़ने पर अश्व में ‘अनश्व’ का तथा ‘मानवता’
के गुण न होने पर मानव में ‘अमानव’ का व्यवहार होता है । सिर्फ उन की उचित क्रिया न होने मात्र
से, पारमार्थिकरूप से ‘गाय’ वगैरह ‘अगौ’ आदि नहीं हो जाते, उन को ‘अगौ’ आदि मानने में तो प्रत्यक्ष

विधातुं शक्यः 'शूद्राद्युत्पाद्यत्वमस्य नास्ति' इति, अनादिगोत्रपद्धतौ च कामार्तत्वात् सर्वदा प्रमदानां कस्याश्चिद् व्यभिचारसम्भवात् कुतो योनिनिबन्धनब्राह्मण्यनिश्चयात् संस्कारस्याध्ययनादेश्चाऽविपर्ययस्तत्त्व-निश्चयः ? आगमस्य च तन्निश्चयनिबन्धनत्वेन कल्पितस्य रागादियुक्तपुरुषप्रणीतत्वेनाऽप्रामाण्यात् न निश्चयहेतुता। अपौरुषेयस्य च प्रतिव्यक्ति एवम्भूतार्थप्रतिपादनपरस्याऽनुपलम्भाच्च ततोऽपि तन्निश्चयः। न चाऽविगानतस्त्रैवर्णिकप्रवादोऽत्र वस्तुनि प्रमाणम्, तस्यापि व्यभिचारित्वोपलब्धेः। दृश्यन्ते च बहवस्त्रैवर्णिकैरविगानेन ब्राह्मणत्वेन व्यवहियमाणा विपर्ययभाजः इत्यलमतिनिर्बन्धेन वचनमात्रगम्येऽर्थे। इति व्यवस्थितमेतत् - असत् सामान्यम् तत्साधकप्रमाणाभावात् बाधकोपपत्तेश्च।

✽ विशेषपदार्थप्ररूपणम् ✽

नित्यद्रव्यवृत्तयः परमाण्वाकाशकालदिगात्ममनस्तु वृत्तेरत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवो विशेषाः। ते च परमाणूनां जगद्धिनाशारम्भकोटिभूतत्वात् मुक्तात्मनां मुक्तमनसां च संसारपर्यन्तरूपत्वाद् अन्तत्वम् तेषु भवाः = अन्त्या इत्युच्यन्ते तेषु स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात्, वृत्तिस्त्वेषां सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यत एव, अत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तयः अन्त्याः' इत्युभयपदोपादानम्। अपरे तु 'उत्पादविनाश-

आदि अनेक प्रमाणों का विरोध है। ऐसी व्यवस्था मान्य करने पर प्राधान्य तो ब्राह्मण माता-पिता से उत्पत्ति का ही रहेगा और अध्ययनादि क्रिया तो सिर्फ 'ब्राह्मण' ऐसे व्यवहार के लिये ही काम आयेगी, जैसे भारवहनादि की शिक्षा गजादि के व्यवहार में उपयोगी होती है" - किन्तु यह व्यवस्था उचित नहीं है क्योंकि ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न न होने पर भी ब्रह्मा, व्यास, मतङ्ग, विश्वामित्र वगैरह में ब्राह्मणत्व का लोप प्रसक्त हुआ यह बड़ा दोष है। उपरांत, 'ब्राह्मणमातापिताजन्यत्व' यह अदृश्य चीज है, अतः उस के आधार पर ब्राह्मणत्व का निर्णय करना कठिन हो जाता है, अतः प्रसिद्ध ब्राह्मण में 'शूद्रादि से अजन्यत्व' नहीं ही है ऐसा निर्णय कैसे हो सकता है ? गोत्रपद्धति को जब आप अनादि मानते हैं, तो हो सकता है कि स्त्रीवर्ग के सर्वकाल में कामातुर होने के कारण ब्राह्मण माने जाने वाले व्यक्ति की पूर्वज वंश परम्परा में कोई महिला व्यभिचारी होने का इनकार नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में जन्मयोनिमूलक ब्राह्मणत्व के निश्चय से संस्कार और अध्ययनादि के आधार पर तत्त्व के निश्चय का सम्भव ही कहाँ है ? यदि कहा जाय कि - जिन लोगों के बारे में ब्राह्मण-क्षत्रिय या वैश्य होने में किसी को कोई विवाद नहीं है उन के लिये ब्राह्मणादि होने का लोकप्रवाद ही प्रमाण है - तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि लोकप्रवाद में सर्वथा अविवाद कहीं भी नहीं होता, तथा उस में भी कई बार व्यभिचार उपलब्ध होता है, दिखाई पड़ता है कि बहुत से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के लिये उन के ब्राह्मणत्वादि में विवाद न होने पर भी वास्तव में वे शूद्रादि होते हैं। अतः सिर्फ आपके कहने मात्र से किसी को ब्राह्मण आदि मान लेने का आग्रह अनुचित है।

निष्कर्ष :- 'सामान्य' असत् है क्योंकि उस को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, उल्टे उस के लिये प्रबल बाधक भी मौजूद है।

✽ अन्त्य नित्यद्रव्यवृत्ति विशेषपदार्थ ✽

न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' संज्ञक पंचम पदार्थ माना गया है। उस की यह व्याख्या है - परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये नित्य द्रव्य कहे जाते हैं, उन में ही ये 'विशेष' पदार्थ रहते हैं। विशेष का मतलब है व्यावर्त्तक। अत्यन्त-व्यावृत्ताकारबुद्धि के कारक होने से वे 'विशेष' कहे जाते हैं। विशेषों

लक्षणान्तरहितेषु द्रव्येषु भवा अन्त्याः' इत्यस्य व्याख्यानं 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' इति पदं वर्णयन्ति। व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वं च विशेषाणां सद्भावप्रतिपादकं प्रमाणम्। यथा हि अस्मदादीनां गवादिषु आकृति-गुण-क्रिया-अवयव-संयोगनिमित्तोऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तः प्रत्ययो दृष्टः तद्यथा-गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनककुदः महाघण्टः इति यथाक्रमम् तथाऽस्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याऽऽकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्ताभावे प्रत्याधारं यद्बलाद् 'विलक्षणोऽयम् विलक्षणोऽयम्' इति प्रत्ययवृत्तिः देशकालविप्रकर्षोपलब्धे च 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञानं च यतो भवति ते योगिनां विशेषप्रत्ययोन्नीतसत्त्वा अन्त्या विशेषाः सिद्धाः। योगिनां त्वेते प्रत्यक्षत एव सिद्धाः।

को 'अन्त्य' कहा गया है, उस के स्पष्टीकरण में कहा है कि 'अन्त में रहने वाले' ये अन्त्य हैं। अन्त शब्द से परमाणुआदि द्रव्य अभिप्रेत हैं। सारे विश्व के आरम्भ की प्रथम सीमा और विनाश की अन्तिम सीमा भी परमाणु हैं अतः वे 'अन्त' हैं, तथा मुक्त आत्मा और मुक्त मन भी संसार के ध्वंस की सीमा है इसलिये 'अन्त' है। तात्पर्य यह है कि इन अन्तिम द्रव्यों में वे विशेषतः स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं इस लिये 'अन्त्य' कहे जाते हैं। ऐसा नहीं है कि विशेष सिर्फ 'अन्त' द्रव्यों में ही रहते हैं, आकाश-काल-दिशा यानी सकल नित्यद्रव्यों में वे रहते हैं। इसी लिये 'अन्त्य' और 'नित्यद्रव्यवृत्ति' ये दो पद, उस की व्याख्या में वैशेषिकदर्शन के ग्रन्थों में प्रयुक्त किये गये हैं।

कुछ लोग इस ढंग से भी वर्णन करते हैं कि "उत्पाद-विनाश ये दो अन्त हैं उन से रहित (अन्तिम नहीं किन्तु अन्तहीन) द्रव्यों में ही रहने वाले विशेषों को 'अन्त्य' कहा गया है और 'नित्यद्रव्यवृत्ति' यह पद अन्त्यशब्द की व्याख्या के रूप में प्रयुक्त है।"

विशेषों की सत्ता सिद्ध करनेवाला प्रमाण है — व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्व। जैसे, हम लोगों को गो आदि में अश्वादि से विलक्षण प्रतीति, आकृति-गुण-क्रिया-अवयवसंयोग आदि के भेद के आधार पर होती है यह सुविदित है। देख लिये — आकृति के आधार पर 'यह गाय है' — रूप के आधार पर 'यह शुक्ल है' — क्रिया के आधार पर 'यह उस से शीघ्रगामी है' — अवयव के आधार पर 'यह पुष्ट खूंधवाला है' तथा अन्य द्रव्य के संयोग से 'यह बड़ीघण्टीवाला है' ऐसी अश्वादि से विलक्षण प्रतीति होती है। ठीक इसी तरह, हमारे वर्ग में विशिष्ट माने जाने वाले दिव्यदृष्टि योगियों को भी नित्यद्रव्यों को प्रत्यक्ष देखने पर, समान आकृतिवाले, समानगुणवाले और समान क्रियावाले परमाणुओं में तथा समानगुणवाले मुक्त आत्माओं में एवं समान मनोद्रव्यों में भी 'यह उस से अलग है वह इससे अलग है' इस प्रकार भेदप्रतीति अवश्य होती होगी। प्रश्न यह है कि जब आकृति आदि सब कुछ दो नित्यद्रव्य में समान होंगे तब किस के आधार पर वह भेद प्रतीति जन्म पायेगी ? गुण-क्रिया का भेद या अन्य कोई भेद तो है नहीं, तब जिस के बल पर यह भेदप्रतीति उन को होती है वे 'विशेष' पदार्थ के रूप में अतिरिक्त सिद्ध होते हैं। जब कोई योगी किसी एक देश-काल में किसी एक परमाणु को देख कर, बाद में अन्य देशकाल में उस को देखने पर पीछान लेते हैं कि 'यह वही परमाणु है' यह प्रत्यभिज्ञान भी 'विशेष' के बल पर ही हो सकता है, क्योंकि अन्य समान परमाणु और उस परमाणु में उस के अलावा और कुछ भेद नहीं है। इस प्रकार, योगियों की विशेष-प्रतीति से नित्यद्रव्यों में अन्त्य विशेषों की सत्ता हमारे लिये सिद्ध होती है। योगीजन तो उसे प्रत्यक्ष ही देखते हैं अतः उन के लिये तो वे प्रत्यक्षसिद्ध हैं।

एते च लक्षणाऽसम्भवादेवासन्तः। तथाहि — यदेषां नित्यद्रव्यवृत्तित्वादिकं लक्षणमभिहितम् तदसम्भवदोषदुष्टत्वादलक्षणमेव। यतो न किञ्चिन्नित्यं द्रव्यमस्ति, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्। तदभावे च तद्वृत्तित्वं लक्षणमेषां दूरोत्सारितमेव। यच्च योगिप्रभवविशेषप्रत्ययबलादेषां सत्त्वं साध्यते तदसंगतमेव, हेतोरनैकान्तिकत्वात्। तथा हि — परमाण्वादीनां स्वस्वभावव्यवस्थितेः स्वरूपं परस्परऽसंकीर्णरूपं वा भवेत्, संकीर्णस्वभावं वेति कल्पनाद्भयम्। आद्यकल्पनायां स्वत एवाऽसंकीर्णपरमाण्वादिरूपोपलम्भाद् योगिनां तेषु वैलक्षण्यप्रत्ययोत्पत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थमपरविशेषपदार्थकल्पनम्। द्वितीयायामपि विशेषारख्यपदार्थान्तरसन्निधानेऽपि परस्परव्यतिमिश्रेषु परमाण्वादिषु तद्वलाद् व्यावृत्तप्रत्ययो योगिनां प्रवर्तमानः कथमभ्रान्तो भवेत्, स्वरूपतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु अण्वादिषु व्यावृत्ताकारतया प्रवर्तमानस्य तस्य 'अतस्मिंस्तद्ग्रहण'रूपतया भ्रान्तत्वाऽनतिक्रमात् ? एवमेतत्प्रत्ययोगिनस्तेऽयोगिन एव स्युः।

किञ्च, यदि विशेषारख्यपदार्थान्तरव्यतिरेकेण विलक्षणप्रत्ययोत्पत्तिर्न भवेत् कथं विशेषेषु तस्योत्पत्तिर्भवेत् तेष्वपरविशेषाभावात् ?! भावे वाऽनवस्थाप्रसक्तेः 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' इति चाऽभ्युपगमक्षतिः स्यात् विशेषेष्वपि विशेषाणां वृत्तेः। अथ स्वत एव तेषु परस्परवैलक्षण्यमित्यपरविशेषमन्तरेणापि वैल-

✽ विशेषपदार्थ पारमार्थिक नहीं ✽

प्रतिपक्षियों का कहना है कि विशेषों सत् नहीं है, उन के प्रदर्शित लक्षण सम्भवविहीन है। देखिये — नित्यद्रव्यवृत्तित्व आदि यह प्रदर्शित लक्षण असम्भव दोष से दुष्ट होने से कुलक्षण है। कारण, नित्य द्रव्य जैसी कोई चीज ही नहीं है, पहले नित्यद्रव्य का प्रतिषेध किया जा चुका है। नित्य द्रव्य सिद्ध न होने पर, उन में वृत्तित्व — यह विशेषों का लक्षण कैसे घट सकता है ?! योगियों के विशेषप्रत्यक्ष के बल पर विशेषों की सत्ता का प्रदर्शन असंगत ही है, क्योंकि वहाँ हेतु साध्यद्रोही है। कैसे यह देखिये — यहाँ दो विकल्प जान लीजिये, परमाणु आदि द्रव्य अपने अपने स्वभाव में अवस्थित होते हैं, यह स्वभाव परस्पर असंकीर्णतास्वरूप है या परस्पर संकीर्णतास्वरूप ? प्रथम विकल्प में योगिजनों को विना किसी निमित्त के ही असंकीर्ण परमाणु आदि का स्वरूप उपलब्ध हो जाने से परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में परस्पर विलक्षणता की प्रतीति उदित हो जायेगी, फिर अतिरिक्त विशेष पदार्थ की कल्पना का कष्ट क्यों ? द्वितीय विकल्प में जब वे परमाणु आदि नित्य द्रव्य स्वभाव से ही परस्पर संकीर्ण (अव्यावृत्त) हैं तब उन में, विशेषसंज्ञक अन्य पदार्थ के संनिधान होने पर भी उस के बल से जो योगियों को व्यावृत्ताकार बोध होगा उस को अभ्रान्त कैसे माना जा सकेगा जब कि नित्य पदार्थ तो संकीर्ण स्वरूपवाले हैं ? संकीर्ण यानी अव्यावृत्त, स्वरूप से अव्यावृत्त अणु आदि पदार्थों में व्यावृत्ताकार ग्रहण कर के प्रवृत्त होने वाला योगिप्रत्यक्ष अतथाकार वस्तु में तथाकारग्राही होने से भ्रमणा के आवर्त से उबर नहीं पायेगा। तथा, ऐसी भ्रमप्रतीति करने वाले योगियों को 'योगी' भी कौन मानेगा ?!

✽ विशेषों में व्यावृत्तबुद्धि का निमित्त कौन ? ✽

दूसरी बात — यदि विशेषसंज्ञक पदार्थ के विना विलक्षण प्रतीति नहीं हो सकती, तो जिन में अन्य विशेष ही नहीं है ऐसे विशेषों के विषय में विलक्षण प्रतीति कैसे होगी ? यदि उन में भी स्वतन्त्र विशेष माने जायेंगे तो उन नये विशेषों में भी विलक्षण प्रतीति के लिये अन्य... अन्य... अन्य.. विशेषों की कल्पना का अन्त नहीं आयेगा। एवं विशेषों में अपर विशेषों की वृत्ति मानने पर 'नित्य-द्रव्यवृत्ति' सिद्धान्त का भंग

क्षण्यबुद्धिविषयता, तर्हि परमाण्वादीनामपि तत एव तद्बुद्धिप्रवृत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थं विशेषारख्य-पदार्थपरिकल्पनम्। अथ विशेषेष्वपरविशेषयोगाद् व्यावृत्तबुद्धिपरिकल्पनायामनवस्थादिबाधकोपपत्तेरुपचारात्तेषु तद्बुद्धिः। न, तथाभूतविज्ञानाधाराणां योगिनामयोगित्वप्रसक्तेः, तद्बुद्धेः 'विशेषा इव' इति स्वलद्रूपतया प्रवृत्तावनिर्णयबुद्ध्यधिकरणत्वात्, तेषां 'विशेषा एव' इत्यस्वलद्रूपबुद्ध्यधिकरणत्वेऽपरविशेष-विकलानां विशेषाणां परमाण्वादीनामिवाऽविशेषरूपतया तद्बुद्धेर्विपर्यस्तरूपत्वेन तदाधाराणां कथं नाऽ-योगित्वम् ? यदि च बाधकोपपत्तेर्विशेषेषु व्यावृत्तबुद्धिर्नापरविशेषनिबन्धना तर्हि परमाण्वादिष्वपि भिन्न-विशेषनिबन्धना नासावभ्युपगन्तव्या, तेषां तत्र भिन्नाभिन्नव्यावृत्तरूपकरणानुपपत्तेर्बाधकस्य सद्भावात्। यदप्यत्राध्ययनाद्युक्तं प्रतिसमाधानम् "यथा श्रमांसाशुच्यादीनां स्वत एवाऽशुचित्वमन्येषां च भावानां तद्योगात् तत्, तथेहापि तादात्म्याद्विशेषेषु स्वत एव व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वम् परमाण्वादिषु तु तद्योगात्। किञ्च, अतदात्मकेष्वपि अन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवत्येव यथा प्रदीपात् पटादिषु न पुनः पटादिभ्यः

हो जायेगा। यदि यह कहा जाय — विशेषों में परस्पर वैलक्षण्य अन्यविशेष प्रयुक्त नहीं किन्तु स्वमात्रप्रयुक्त ही होता है अतः अपर विशेष के विना भी उन में विलक्षणबुद्धिविषयता घट सकेगी। — तो फिर परमाणु आदि में भी परस्पर वैलक्षण्य स्वमात्रप्रयुक्त मान कर विलक्षणबुद्धिविषयता का उपपादन हो सकता है, फलतः विशेषसंज्ञक पदार्थ की कल्पना निरर्थक है।

यदि ऐसा कहा जाय — 'परमाणु आदि में विलक्षणप्रतीति के उपपादनार्थ विशेषों की कल्पना उचित है क्योंकि उस में कोई बाधक नहीं है, किन्तु विशेषों में यदि अन्य विशेषों से व्यावृत्ताकार बुद्धि की कल्पना करने जायेंगे तो अनवस्थादि बाधक सिर उठा सकते हैं, अतः विशेषों में होनेवाली विलक्षणप्रतीति को औपचारिक मान ली जाय यही उचित है।' — तो यह अयुक्त है, क्योंकि तब औपचारिक (प्रत्यक्ष) बुद्धि के आश्रयभूत योगीयों में अयोगित्व प्रसक्त होगा। कारण, यदि परमाणु आदि विषय में 'ये विशेष जैसे हैं' ऐसी स्वलितरूप से योगिजनों की औपचारिक बुद्धि प्रवृत्त होने पर योगिजन अनिश्चयात्मकबुद्धि के आश्रय बन जायेंगे मतलब कि अयोगी बन जायेंगे। और 'इन में अन्य विशेष हैं' ऐसी अस्वलितरूप से औपचारिकबुद्धि के आश्रय होने पर, जो अपर विशेषशून्य हैं वे तो परमाणु आदि की तरह अविशेषरूप होने से उन में विशेषरूपता की बुद्धि, विपर्ययरूप होने के कारण, उन के आश्रयभूत योगिजन में अयोगित्व क्यों प्रसक्त नहीं होगा ? यदि विशेषों में व्यावृत्ताकार बुद्धि को अपरविशेषमूलक मानने में बाधक विद्यमान होने से उस को अपरविशेषमूलक नहीं मानते हैं तो परमाणुआदि में होनेवाली व्यावृत्ताकार बुद्धि को भी भिन्नविशेषमूलक मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि परमाणु यदि स्वतः भिन्न होंगे तो विशेष के द्वारा उन का व्यावृत्तीकरण अशक्य है (अनावश्यक है)। यदि स्वयं अभिन्न होंगे तो इस पक्ष में भी व्यावृत्तिकरण शक्य नहीं क्योंकि अभिन्न हैं उन का भेद कैसे होगा ? यह बाधक यहाँ भी विद्यमान है।

वैशेषिकों के अध्ययनादि विद्वानों ने इस चर्चा में जो यह प्रतिसमाधान में कहा है — 'कुत्ते के माँस आदि में स्वतः ही अशुचिपन होता है जब कि अन्य भावों में स्वतः नहीं किन्तु उन के योग से अशुचिपन होता है। ऐसे ही विशेषों में विशेषों का तादात्म्य होने से वे स्वयं ही व्यावृत्तप्रतीति के उपपादक होते हैं जब कि परमाणुआदि में विशेषों के समवाययोग से ही व्यावृत्तबुद्धि उत्पन्न होती है। तथा, जो तदात्मक न हो उन के

✽. स्वलद् = विषयग्रहणविपरीताकारम् (प्र.वा.१-२०९ टीका)।

प्रदीपे, एवं विशेषेभ्य एवाऽण्वादी विशिष्टप्रत्ययः नाऽण्वादिभ्यः” इत्यादिकम्। [] तदप्य-संगतम्, यतोऽशुचित्वं भावानां कल्पनासमारोपित् न पारमार्थिकमव्यवस्थितेस्तस्य।

तथाहि — यदेव कस्यचिद् श्रोत्रियादेर्द्रव्यमशुचित्वेन प्रतिभाति तदेव कापालिकादेः शुचित्वेन। न चैकस्य परस्परविरुद्धानेकरूपसमावेशो युक्तः एकत्वहानिप्रसक्तेः। भवतु वा पारमार्थिकं पदार्थानामशुचित्वम् तथापि न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्यम् यतः स्व(?श्च)मांसाद्यशुचिद्रव्यसंसर्गाद् मोदकादयः भावाः प्रच्युतप्राक्तनशुचिस्वभावा अपर एवाऽशुचिरूपा उत्पद्यन्ते इति युक्तमेषामन्यसंसर्गजमशुचित्वम् न तु परमाण्वादिष्वेतत् सम्भवति तेषां नित्यत्वादेव प्राक्तनाऽविविक्तस्वरूपपरित्यागेनापरविविक्तस्वरूपतयाऽनुपपत्तेः। अत एव प्रदीपपटदृष्टान्तोऽप्यसंगतः पटादीनां प्रदीपादिपदार्थान्तरोपाधिकस्य रूपान्तरस्योत्पत्तेः, प्रकृते च तदसम्भवात् इति। अनुमानबाधितश्च विशेषसद्भावाऽभ्युपगमः। तथाहि — विवादाधिकरणेषु भावेषु विलक्षणप्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति, व्यावृत्तप्रत्ययत्वात्, विशेषेषु व्यावृत्तप्रत्ययवत् इति। पूर्ववदस्य हेतोः प्रतिबन्धाधिकं वाच्यम्। तत्र विशेष-

विषय में कुछ प्रतीतियाँ अन्यनिमित्तक भी होती हैं, जैसे प्रदीप से पटादिविषयक प्रतीति होती है। किन्तु, पटादि से प्रदीप की प्रतीति नहीं होती। ऐसे ही, विशेषों के द्वारा ही अणु-आदि में भेद-प्रतीति होती है, न कि अणु-आदि से विशेषों में।” — किन्तु यह अध्ययनादिगत विधान असंगत है, क्योंकि पदार्थों में कोई पारमार्थिक शुचित्व या अशुचित्व नहीं होता किन्तु कल्पनाप्रयुक्त होता है, क्योंकि इस में कोई नियत व्यवस्था नहीं होती।

* शुचि-अशुचि भाव कल्पना की निपज कैसे ? *

देखिये — कोई एक चीज ब्राह्मणादि को अपवित्र लगती है वही अघोरी बावाजी आदि को पवित्र भासती है। एक ही वस्तु में शुचित्व-अशुचित्व ये परस्पर विरुद्ध दो धर्म समाविष्ट होना ठीक नहीं है क्योंकि विरुद्धधर्मसमावेश से वस्तुभेद प्रसक्त होने पर वस्तु के एकत्व का भंग प्रसक्त होगा।

कुछ समय के लिये मान लो कि पदार्थों में अशुचित्व पारमार्थिक है तो भी विशेषवादी को लाभ नहीं है। कारण, क्षणिकवाद में ही यह सम्भव है कि कुत्ते के माँस आदि अशुचिद्रव्यों का संसर्ग होने पर पूर्वक्षण के शुचि मोदकादि भाव स्वभावच्युत यानी नष्ट हो कर अन्य क्षण में अशुचि भाव उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार अन्यसंसर्गजनित अशुचिता क्षणभंगवाद में हो सकती है, किन्तु आप के मत में परमाणु आदि तो नित्य द्रव्य माने गये हैं, नित्य द्रव्यों में विशेष के योग से पूर्वकालीन अविशिष्ट स्वरूप का त्याग करके उत्तरक्षण में विशिष्ट स्वभाव का उपादान सम्भव ही नहीं है अतः विशेष के योग से व्यावृत्ताकारबुद्धि जनकता उन में असम्भव है। यही कारण है कि प्रदीप-वस्त्र का दृष्टान्त भी विशेषसमर्थन में अनुकूल नहीं है। कारण, क्षणभंगवाद में प्रदीपादि अन्य अर्थरूप उपाधि के योग से प्रकाशितस्वरूप नये वस्त्रक्षण की उत्पत्ति सम्भव है, किन्तु प्रस्तुत में नित्य द्रव्य की विशिष्टरूप से उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

तदुपरांत, विशेषपदार्थ के अस्तित्व का स्वीकार प्रतिअनुमान से बाधित है। देखिये- विवादास्पद (परमाणु आदि) भावों के विषय में होने वाली विलक्षण प्रतीति अतिरिक्त विशेषपदार्थमूलक नहीं है क्योंकि व्यावृत्ताकारवाली है। उदा० प्रतिवादी के मतानुसार विशेषों में योगिजनों को जो परस्पर विलक्षण प्रतीति होती है वह अतिरिक्त विशेषमूलक नहीं होती, व्यावृत्ताकार जरूर होती है। इस अनुमानप्रयोग में हेतु की व्याप्ति आदि की चर्चा पूर्ववत् समझ लेना।

पदार्थसद्भावः तत्साधकप्रमाणाभावाद् बाधकोपपत्तेश्चेति स्थितम् ।

✽ समवायपदार्थस्थापनोत्थापने ✽

समवायस्तु 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहबुद्धिविशेषाद् द्रव्यादिभ्यो अर्थान्तरत्वेनाभ्युपगम्यते 'अयुत-सिद्ध०' (प्रशस्त० कं०) [✽] इत्यादिलक्षणोपेतः । यथा हि सत्ता-द्रव्यत्वादीनामात्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाधारेषु तेभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावस्तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थेषु "इह तन्तुषु पटः, इह पटद्रव्ये गुण-कर्मणी, इह द्रव्य-गुण-कर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम् इह कर्मणि कर्मत्वम् इह द्रव्येषु अन्त्या विशेषाः" इत्यादिविशेषप्रत्ययदर्शनात् पञ्चभ्यः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरता तस्या-वसीयते । तथा च प्रयोगः — येषु यदाकारविलक्षणो यः प्रत्ययः तद्रव्यतिरिक्तार्थान्तरनिबन्धः सोऽ-भ्युपगन्तव्यः, यथा पुरुषे 'दण्डी' इति प्रत्ययः । तथा चायं पञ्चसु पदार्थेषु 'इह' प्रत्ययः इति स्वभावहेतुप्रतिरूपकः प्रयोगः । निबन्धनमन्तरेणास्य सद्भावे नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति विपर्यये

निष्कर्ष :- विशेषपदार्थ अस्तित्वशाली नहीं है क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है और बाधक मौजूद है ।

✽ समवाय पदार्थ की स्थापना - पूर्वपक्ष ✽

'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र' इस प्रकार 'यहाँ' ऐसे उल्लेख के साथ जो विशिष्ट बुद्धि होती है उस के आधार पर द्रव्यादि से अतिरिक्त वस्तु के रूप में समवाय का स्वीकार न्या० वै० दर्शनों में किया गया है । उसके ये लक्षण हैं — अयुतसिद्धता यानी द्रव्यादि का गुणादि के साथ अपृथग्भाव । आधार और आधेय के बीच ऐसा अपृथग्भाव बनाये रखने वाला कोई सम्बन्ध होता है । वही सम्बन्ध 'यहाँ यह है' ऐसी बुद्धि का हेतु है । जैसे सत्ता और द्रव्यत्वादि को अपने द्रव्यादि आधारों से अलग पदार्थ के रूप में मंजुर किये जाते हैं, क्योंकि वे अपने द्रव्यादि आधारों में स्वानुरूप 'सत्' 'द्रव्य' 'गुण' इत्यादि प्रतीति के उद्भावक हैं, तथा एक ही आधार में रहते हुए भी, स्वानुरूप भिन्न प्रतीति के जनक होने से सत्ता-द्रव्यत्व अलग अलग माने जाते हैं : वैसे समवाय भी द्रव्यादि पाँच पदार्थों से अलग पदार्थ, विशिष्टप्रतीतियों के आधार पर सिद्ध होता है । विशिष्ट प्रतीतियाँ इस तरह हैं — 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र है', यहाँ वस्त्र में गुण या क्रिया में सत्ता है, यहाँ द्रव्य में द्रव्यत्व है, यहाँ गुण में गुणत्व है, यहाँ क्रिया में कर्मत्व है, यहाँ द्रव्यों में अन्त्य विशेष हैं ।' देखिये प्रयोग — कुछ भावों में यदि उन से विलक्षणाकार प्रतीति होती है तो वह उन भावों से अतिरिक्त पदार्थ प्रेरित होती है — ऐसा मानना होगा, जैसे पुरुष को देख कर 'डण्डावाला' ऐसी बुद्धि पुरुष से भिन्न दंड से प्रेरित होती है । वैसे ही द्रव्यादि पाँच पदार्थों के बारे में — 'यहाँ' ऐसा जो विलक्षण बोध होता है वह भी पाँच से अतिरिक्त पदार्थ (= समवाय) से प्रेरित होना चाहिये । — यह प्रयोग करिब करिब बौद्धमत के स्वभावहेतु प्रयोग जैसा ही है, क्योंकि इस में विलक्षणप्रतीति का स्वभाव ही हेतु के रूप में निर्दिष्ट है । यदि कोई उलटी शंका करे कि अलग निमित्त के विना भी 'यहाँ' ऐसी विशिष्ट प्रतीति हो सकती है — तो उस में यह बाधक प्रमाण तर्कस्वरूप है कि अलग पदार्थ के विना वैसी विशिष्ट प्रतीति या तो सदा होती रहेगी, या कभी नहीं होगी, क्योंकि निमित्तशून्य भाव या तो जन्म नहीं लेता या तो शाश्वत होता है । इस प्रकार 'यहाँ' ऐसी बुद्धिस्वरूप लिंग से जनित अनुमानप्रमाण से समवाय का ज्ञान प्राप्त होता है ।

✽. अयुतसिद्धानामाधारार्थाधारभूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः (प्रशस्तपादभाष्य- कंदली- पृ० १४-३२४)

बाधकं प्रमाणम् । एवम् 'इह' बुद्धिलिङ्गावसेयः समवायः । अध्यक्षबुद्ध्यवसेयत्वमपि तस्य केचन मन्यन्ते । तथाहि - अक्षव्यापारे सति 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययोत्पत्तेर्विशेषणीभूतस्य तस्य 'इह' बुद्ध्यक्षवसेयता । समवायश्च न संयोगवद् भिन्नः किन्तु तल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्तावत् सर्वत्र एक एव । अकारणत्वाच्च तद्भेदेव नित्यः । अकारणत्वं च तत्कारणानुपलब्धेः सिद्धम् ।

अत्र प्रतिविधीयते - 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिका बुद्धिः स्वसमवायाहितवासनाप्रकल्पितैव न तु लोके तथोत्पद्यमानत्वेन सिद्धेति धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुः । तथाहि - यत्र नानात्वमुपलक्षितं भवेत् तत्राधाराधेयभावे सति 'इह' बुद्धिरुत्पद्यमाना लोके संवेद्यते, यथा 'इह कुण्डे दधि' इति । न च नानात्वं तन्तु-पटयोरुपलब्धिगोचरः इति कथं तत्र 'इह' बुद्ध्युत्पादः ? न च स्वमतिप्रकल्पितस्य कार्यस्य कारणपर्यनुयोगः परं प्रति विधेयः । न चेच्छायाः पदार्थरूपानुरोधः, तस्याः स्वातन्त्र्यवृत्तित्वात्, ततोऽपि वस्तुव्यवस्थापने तेषामव्यवस्थाप्रसक्तेः भवत्परिकल्पितस्यापि वस्तुनोऽन्यथाऽन्यस्य प्रकल्पयितुं शक्यत्वात् । न केवलम् 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिका बुद्धिलोके न संवेद्यते किन्तु विपर्ययेणैव तस्या उत्पादानुभवः । तथाहि-वृक्षे शारवा, पर्वते शिला इत्यादिका बुद्धिलोके उत्पद्यमानत्वेन संवेद्यते । न च 'वृक्षे शारवा' इत्यादिकाऽपि मतिः समवायनिबन्धना, किन्तु विवक्षित-

कुछ लोग समवाय को प्रत्यक्षबुद्धिगोचर भी मानते हैं। वह इस तरह - इन्द्रिय सक्रिय होने पर ही 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र' ऐसा बोध उत्पन्न होता है, यहाँ तन्तुगत वस्त्र के विशेषणभूत सम्बन्धकार पदार्थ यानी समवाय ही प्रत्यक्षबुद्धि का गोचर बना है। प्रतियोगी-घट-वस्त्रादि के भेद से हालाँकि संयोग सम्बन्ध भिन्न भिन्न होता है, एवं अनुयोगी भूतल-जलादि के भेद से भी। किन्तु समवाय को सत्ता जाति की तरह सर्वत्र एक ही माना जाता है। कारण, समवाय का अनुमापक 'यहाँ इस प्रकार की बुद्धि रूप' लिंग सर्वत्र एकसा होता है, एवं इस के अतिरिक्त उस का दूसरा कोई लिंग भी नहीं है। जाति का जैसे कोई उत्पादक कारण नहीं होता वैसे समवाय का भी, अत एव वह सत्ता की तरह नित्य माना गया है। जाति की तरह समवाय का भी कोई उत्पादक-कारण उपलब्ध नहीं है, अतः अनुपलब्धि से कारणभाव सिद्ध होता है।

✽ समवाय पदार्थ निषेध-उत्तरपक्ष ✽

समवाय का प्रतिषेध - 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र' इत्यादि बुद्धि सिर्फ साम्प्रदायिकवासना की उपजमात्र है। लोक में इस तरह उत्पन्न होने वाली बुद्धि प्रसिद्ध ही नहीं है। बुद्धिस्वरूप धर्मी असिद्ध होने से उक्त स्वभाव हेतु में स्पष्ट ही आश्रयासिद्धि दोष उभरता है। स्पष्ट बात है कि जहाँ पृथक्त्व लक्षित होता है वहाँ ही एक-दूसरे में आधार-आधेय भाव के रहते हुए 'यहाँ यह' ऐसी बुद्धि की उत्पत्ति लोकसंविदित होती है जैसे 'यहाँ कुण्डे में दही है' यह बुद्धि। तन्तु और वस्त्र में कभी भी भेद उपलब्धिगोचर नहीं हुआ तब कैसे 'यहाँ' ऐसी अकृत्रिम बुद्धि जन्म पायेगी ? अपनी मति से कभी किसी कार्य की कल्पना कर लेने के बाद उसके कारण की जाँच के लिये दूसरे को प्रश्न करना उचित नहीं। इच्छा पदार्थ-अविनाभावि नहीं होती, क्योंकि इच्छावृत्ति स्वतन्त्र होती है। प्रमाण के बदले स्वतन्त्र इच्छा से वस्तु की व्यवस्था करने पर और अव्यवस्था बहेगी, चूँकि पर-प्रकल्पित वस्तु की अन्य के द्वारा अन्यप्रकार से कल्पना भी शक्य है। 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र' यह बुद्धि लोक में अनुभवसिद्ध तो नहीं है, उस से उलटी ही बुद्धि लोक में अनुभवसिद्ध है। देख लिये - लोक में तो 'शारवा में वृक्ष' ऐसी नहीं किन्तु 'वृक्ष में शारवा' तथा 'शिलाओं में पहाड' ऐसी नहीं किन्तु 'पहाड में

शाखाव्यतिरिक्तस्कन्धादिविशिष्टसमुदायनिबन्धनैव ।

एवम् 'इह घटे रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः' इत्यादिबुद्धेरपि घटस्वभावत्वं रूपादीनां निबन्धनत्वेन प्रतिपद्यते लोकः । तथाहि — घटे रूपादिकं = 'घटस्वभावमेव एतद्रूपादिकं न पटस्वभावम्' (इत्यर्थः) । बहुषु रूपादिषु साधारणशक्तिविशेषप्रतिपादनाभिप्रायेण तदन्यरूपादिव्यवच्छेदेन घटादिश्रुतेः संकेतः, रूपादिश्रुतेस्तु प्रत्येकमसाधारणचक्षुर्ज्ञानादिकार्योत्पादनशक्तिप्रकाशनाय समयकरणम् । अत एव घटादिश्रुतिर्न रूपादीन् भेदानाक्षिपति तत्सामानाधिकरण्याभावात् । रूपादिशब्दाश्च घट-पटादिसर्वावस्थरूपादिवाचका इति रूपादिशब्देभ्यः केवलेभ्यो न तद्विशेषप्रतीतिस्तेन विशिष्टावस्थरूपादिप्रतिपादनाय 'घटे रूपादय' इत्यमेवमुभयपदप्रयोगः क्रियते, ततोऽपि घटात्मका रूपादयः पटात्मकरूपादिव्यवच्छेदेन प्रतीयन्ते । घटशब्दस्तु सर्वावस्थं चलनादिस्वभावान्वितं घटं ब्रूते इति केवलान्न विशेषप्रतीतिः, 'रूपम्' इत्यादिशब्दप्रयोगे तु तदन्यव्यवच्छेदेन विशेषप्रतिपत्तिरुपजायत इति तत्प्रयोगः । तस्मात्

शिला' ऐसी उलटी बुद्धि ही अनुभवसिद्ध है । 'वृक्ष में शाखा' इत्यादि मति समवायमूलक नहीं होती किन्तु निर्दिष्ट शाखा से व्यतिरिक्त अधो-ऊर्ध्वभागवर्ति स्कन्धादिविशिष्टसमुदाय के निकट सांनिध्य मूलक ही होती है ।

✽ घट में रूपादि की बुद्धि का विश्लेषण ✽

'यहाँ घट में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श हैं' यह प्रतीति भी समवायमूलक नहीं है । लोक में इस बुद्धि का निमित्त, रूपादि में घटस्वभावतारूप ही अनुभूत किया जाता है । समझ लो कि 'घट में रूपादि' इस उल्लेख का फलितार्थ यह है कि ये रूपादि घटस्वभाव ही हैं न कि पटस्वभावरूप । यदि यह पूछा जाय कि जब घट और रूपादि समस्वभाव यानी एक है तब दो में से एक का ही उल्लेख होना चाहिये, दोनों का क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घट का रूप, पट का रूप, नट का रूप ऐसे रूपादि अनेक हैं, रूपादि शब्द ये अनेक प्रकार के रूपादि के लिये साधारण है, अतः प्रस्तुत में सिर्फ घटस्वभावरूप में शक्तिविशेष के प्रतिपादन का तात्पर्य होने से, अन्यरूपादि का व्यवच्छेद सूचित करने के लिये घटादिशब्द का संकेत 'घट' शब्दप्रयोग से किया जाता है । रूपादि शब्द का प्रयोग भी इसलिये किया जाता है कि घटस्वभाव पटस्वभावादिरूप प्रत्येक रूपादि में असाधारण चाक्षुषज्ञानादि कार्योत्पादक सामर्थ्य निहित है यह प्रदर्शित किया जाय । इस प्रकार का विशिष्ट प्रयोजन होने से ही, सिर्फ घटादिशब्द प्रयुक्त होने पर रूपादि भेदों का निर्देश सम्भव नहीं होता, क्योंकि घटादिशब्दों का रूपादि के साथ 'मिल कर एक अर्थ सूचित करना' इस ढंग का सामानाधिकरण्य नहीं होता । रूपादिशब्द भी घट-पटादि अवस्थावाले रूपादि का वाचक होता है अतः केवल रूपादिशब्द से घटस्वभाव या पटस्वभावात्मक रूपविशेष की प्रतीति नहीं हो सकती, अत एव घट-पटादिविशेष अधिकरण स्वरूपावस्थावाले रूपादिविशेष की प्रतीति के लिये 'घट के रूपादि' इस तरह दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है । इसी उपाय से, पटस्वभाव रूपादि का व्यवच्छेद हो कर घटात्मक रूपादि प्रतीति होती है । घट शब्द तो सर्वावस्थासहित चलनादिस्वभाव से अन्वित घट का निर्देश करता है, उस से रूपावस्थाविशेष की प्रतीति नहीं होती । रूपादिशब्दप्रयोग होने पर चलनादिअन्यावस्था का व्यवच्छेद हो कर रूपावस्थाविशेष की प्रतीति होती है, इसलिये रूपादिशब्द का भी प्रयोग सार्थक है । उपरोक्त संकेत के आधार पर, 'यहाँ घट में रूपादि' इत्यादि उल्लेखवाला ज्ञान जो होता है वह रूपादि में घटस्वभावतादिमूलक होता है न कि समवायमूलक । कारण, घट-रूपादि-समवाय तीनों का भेद, यानी ये तीन कभी भी अलग अलग उपलब्ध नहीं होते, फिर कैसे वह ज्ञान समवायप्रयुक्त हो सकता है ?! तात्पर्य, समवाय की सिद्धि के लिये उपन्यस्त अनुमान में प्रयुक्त स्वभावहेतु समवाय कल्पना के विना भी रह

संकेतवशात् 'इह घटे रूपादयः' इत्यादिज्ञानं तथाभूतपदार्थनिबन्धनम् न समवायनिबन्धनम्। यतो न घटरूपादिसमवायानां भेदः परस्परतः क्वचिदप्युपलब्धिगोचरः, तत् कथमेतद् ज्ञानं समवायनिबन्धनं भवेत् ?! तेन परोपन्यस्तहेतोरनैकान्तिकत्वात् उक्तन्यायेन प्रतिज्ञायाश्चानुमानबाधितत्वान्न समवायसिद्धिः।

यदपि 'इहबुद्ध्यविशेषात्' इत्याद्यभिधानम् तदप्यसंगतम्, यतो यद्येकः समवायः स्यात् तदा 'तन्तुषु घटः' इत्यादिबुद्धेरप्युत्पत्तिः स्यात्। तथाहि - यत एव समवायात् 'कपालेषु घटः' इति प्रत्ययोत्पत्तिरभ्युपगता स एव समवायः तन्तुषु घटस्य इति किमिति तथाप्रत्ययोत्पत्तिर्न भवेत् ?! अथ न तन्तुषु घटः आश्रित इति तत्र तथाप्रत्ययो नोत्पद्यते। असदेतत् - यतः कपालेषु घट आश्रितः इति समवायबलाद् भवद्भिरभिधीयते, स च समवायः किं तन्तुषु नास्ति येन 'इह तन्तुषु घटोऽस्ति' इति प्रत्ययो न भवेत् समवायस्यैकत्वेन सर्वत्राऽविशेषात् ?! एवं च द्रव्य-गुण-कर्मणां द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिविशेषणैः सम्बन्धस्यैकत्वात् पदार्थपञ्चकस्य विभागो न भवेत्। अथ समवायस्यैकत्वेऽपि न पदार्थसंकरः, आधाराधेयनियमात्। तथाहि - 'द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वम् गुणेष्वेव गुणत्वम् कर्मस्वेव कर्मत्वम् इत्येवं द्रव्यत्वादीनां प्रतिनियताधारावच्छेदेन प्रतिपत्तेः सद्भावः। न, एवं समवायस्य प्रतिपदार्थ भिन्नत्वोपपत्तेः।

जाने से साध्यद्रोही ठहरता है; तथा पूर्वोक्त न्याय से उस अनुमान की प्रतिज्ञा भी प्रतिअनुमान से बाधित है अतः समवायसिद्धि की आशा निष्फल है।

✽ समवाय को एक मानने पर अनिष्टप्रसंग ✽

यह जो कहा था 'लिंग स्वरूप 'इह' बुद्धि द्रव्यादि में एक-सी होती है इसलिये समवाय एक ही है' - वह विधान असंगत है, क्योंकि समवाय यदि एक और व्यापक होगा तो 'तन्तुओं में घट है' ऐसी भी बुद्धि होने की विपदा होगी। देख लिये - 'कपालों में घट हैं' इस बुद्धि का कारक जो समवाय है वही समवाय घट का तन्तुओं में भी है तो फिर 'तन्तुओं में घट है' ऐसा भान क्यों नहीं होगा ? यदि ऐसा कहें कि - घट तन्तुओं का आश्रित ही नहीं है इसलिये तन्तुओं में घट के भान का अनिष्ट निरवकाश है - तो यह गलत है, क्योंकि कपालों में घट आश्रित है ऐसा आप किस के बल पर कहेंगे ? समवाय के बल पर ! तो वही समवाय तन्तुओं में नहीं है क्या, जिससे 'यहाँ तन्तुओं में घट है' ऐसे भान का इनकार करते हो ?! समवाय तो जैसे कपाल में है वैसे तन्तुओं में भी सर्वत्र वही है, कोई अलग नहीं है। समवाय को एक मानने पर द्रव्यादि पाँच पदार्थों का विभाग भी उच्छिन्न हो जायेगा, क्योंकि द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व आदि विशेषण यानी पदार्थविभाजक उपाधि समवाय एक होने के कारण द्रव्य-गुण-कर्म तीनों में रह जायेगी, इसलिये द्रव्य-गुणादि पदार्थों का संकर प्रसक्त होगा।

यदि यह कहा जाय कि - "समवाय एक होने पर भी द्रव्यादिपदार्थों में सांकर्य नहीं होगा क्योंकि आधार-आधेय भाव नियत है। कैसे यह देखिये- द्रव्यत्व सिर्फ द्रव्यों में ही होता है (यानी द्रव्य का आधाराधेयभाव केवल द्रव्यत्व के साथ ही है, गुणत्वादि के साथ नहीं)। एवं गुणत्व गुणों में होता है द्रव्य-कर्म में नहीं। इस प्रकार द्रव्यत्वादि नियताधारावच्छिन्न होने के कारण 'द्रव्य में ही द्रव्यत्व' इत्यादि नियतदंग से ही भान होगा।" - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नियत आधाराधेयभाव मानने पर प्रति आधार एक एक अलग अलग समवाय का स्वीकार अनिच्छया भी करना पड़ेगा अन्यथा नियत आधार-आधेय भाव ही संगत नहीं होगा।

अथ 'इह' इति समवायनिमित्ताया बुद्धेरभिन्नाकारतया सर्वत्रानुगमादेकः समवायः सर्वत्रावसीयेत्, तदेकत्वेऽपि द्रव्यत्वादिनिमित्तानां प्रत्ययानां प्रतिनियताधारावच्छेदेनानुयायितयोत्पत्तेर्द्रव्यत्वादीनां भेद इति न पदार्थपञ्चकस्य संकीर्णताप्रसक्तिः । यथा हि दधि-कुण्डयोः संयोगैकत्वेऽपि आधाराधेयप्रति-नियम उपपत्तिमान् तथा समवायैकत्वेऽपि द्रव्यत्वादीनां व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदा(दा)धाराधेयप्रतिनियमो-पपत्तेरसंकीर्णपदार्थव्यवस्था संगतैव प्रमाणनिबन्धनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः इति । असदेतत्, यतो नास्माकं रूपत्वादीनां रूपादिष्व्वाधेयनियमः सिद्धः, भवतां पुनः समवायमेकं सर्वत्राऽभ्युपगच्छतां प्रति-नियमो दुर्घटः प्रसज्येत । तथाहि — 'द्रव्य एव द्रव्यत्वम्' इत्येवं नियमः समवायनिबन्धनो भवद्भि-रभ्युपगम्यते, द्रव्यत्वादेः समवायस्य च गुणादिष्व्येकस्यैव सद्भावात् कथं न पदार्थसंकरप्रसङ्गः द्रव्य-त्वाद्याधेयत्वस्याभिन्ननिमित्तत्वात् ? अथ द्रव्ये द्रव्यत्वस्य यः समवायः न स एव गुणादिषु गुणत्वादेस्तर्हि संयोगवत् समवायस्य प्रत्याधारं भेदः स्यात् ।

अथ स्वरूपेणाऽभिन्नस्यापि समवायस्य द्रव्यत्वादिविशेषणभेदाद् भेद इति न पदार्थसंकरः । ननु

✽ एक समवाय पक्ष में पदार्थपंचक सांकर्यदोष अनिवार्य ✽

यदि यह कहा जाय — समवायमूलक 'यहाँ' इस प्रकार की अभिन्नाकारावगाहि बुद्धि सर्वत्र द्रव्यगुणादि में अनुगत होने से समवाय का एकत्व सिद्ध होता है । समवाय एक होने पर भी पदार्थपंचक में सांकर्य दोष को अवकाश नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्वादि के बल पर होने वाली प्रतीतियाँ नियताधारावच्छिन्न ही होती हैं, गुणादि में द्रव्यत्वमूलक प्रतीति का अनुगम नहीं होता इसलिये द्रव्यत्व-गुणत्वादि उपाधियों का भेद सिद्ध होता है । उदा० दही और कुंड के बीच एक ही संयोग सम्बन्ध होने पर भी कुंड ही आधार और दही ही आधेय — ऐसा नियत आधार-आधेयभाव होने में पूर्ण संगति है, इस तरह समवाय एक होने पर भी द्रव्य ही द्रव्यत्वजाति का व्यंजक और द्रव्यत्व उस से व्यंग्य ऐसा शक्तिभेद होने से नियत आधार-आधेय भाव भी घट सकता है अतः पदार्थों की व्यवस्था में असंकीर्णता सुरक्षित रहती है । आखिर तो प्रमेयव्यवस्था प्रमाणमूलक ही होती है, समवाय की एकता और असंकीर्ण पदार्थव्यवस्था दोनों प्रमाणसिद्ध हैं अतः कोई आपत्ति नहीं है ।—

यह विधान भी गलत है, क्योंकि हमारे मत में तो रूपादि में रूपत्वादि का आधेयनियम प्रमाणसिद्ध है ही नहीं, एवं आप के मत में वह प्रसिद्ध तो है किन्तु जब समवाय को आप एक मानते हैं तो उस आधेयनियम साधक प्रमाण में भी बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है फलतः वह आधारआधेयनियम भी दुर्घट बन जाता है । कैसे यह देखिये, 'द्रव्य में ही द्रव्यत्व वृत्ति हो' इस आधारआधेय नियम को आप समवायमूलक मानते हैं क्योंकि समवायसम्बन्ध के बिना तो वह घट ही नहीं सकेगा । अब दूसरी ओर देखते हैं कि द्रव्यत्वादि का जो समवाय द्रव्य में है वही एक होने से गुणादि में भी है तब द्रव्य में समवाय से गुणत्व भी रह जायेगा तो पदार्थ सांकर्य दोष क्यों नहीं होगा जब कि द्रव्यत्वादि में आधेयता का प्रयोजक निमित्तभूत समवाय तो एक ही है ?! यदि यह कहा जाय कि द्रव्य में द्रव्यत्व का जो समवाय है और गुणादि में जो गुणत्वादि का समवाय है वह सर्वथा एक नहीं है -- तब तो जैसे आधारभेद से संयोग भिन्न भिन्न होता है वैसे समवाय भी भिन्न भिन्न मानना होगा ।

✽ विशेषणभेद से औपाधिक समवायभेद दुर्घट ✽

समवायवादी :- समवाय अपने स्वरूप में अभिन्न यानी एक ही है किन्तु द्रव्यत्वसमवाय, गुणत्वसमवाय...

द्रव्यत्वादेर्विशेषणस्य समवायाऽभेदे कुतो भेदः ? यदि स्वत एव, आधेयतानियमोऽपि तेषां स्वत एव भविष्यतीति समवायप्रकल्पना व्यर्था । अथ प्रतिनियताधारसम्बन्धवशात् तेषां प्रतिनियतरूपता तर्हि 'समवायस्य विशेषणभेदाद् भिन्नता विशेषणानां च समवायात् सा' इत्यन्योन्यसंश्रयः । यदपि द्रव्यत्वादिनिमित्तानाम् इत्याद्यभिहितम् तदपि असम्बद्धम्, न हि अविकले निमित्ते सति कार्यस्यानन्वयित्वं युक्तम् तस्याऽतत्कार्यत्वप्रसक्तेः । एवं च बुद्धिव्यतिरेकाऽसम्भवात् तद्वशादाधाराधेयभावनियमव्यवस्था न युक्तिसंगता । न च 'द्रव्य एव द्रव्यत्वमाश्रितम्' इति व्यपदेशात् तन्नियमः, समवायवशादेवाश्रितत्वादिव्यवस्थोपवर्णनात्, तस्य च सर्वत्राऽविशिष्टत्वात् तथाव्यपदेशस्यापि भवदभ्युपगमेनाऽयोगात् । न च व्यंग्यव्यञ्जकशक्तिप्रतिनियमाद् आधाराधेयप्रतिनियमः, व्यङ्ग्यादिप्रतिनियमस्यापि समवायनिमित्तत्वात् । तथाहि - द्रव्यादीनां द्रव्यत्वादिसामान्यव्यञ्जकत्वं तत्समवायबलादेव परैरभ्युपगम्यते, यतः द्रव्य एव द्रव्यत्वं समवेतम् ततस्तेनैव तद् व्यज्यते न पुनर्ज्ञानोत्पादनयोग्यस्वभावोत्पादानान्नित्ये सत्तादौ तदयोगात् । स च समवायः सर्वत्राऽविशिष्ट इति न तद्वलाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिप्रति-

इस प्रकार भिन्न भिन्न विशेषणों के योग से समवाय में औपाधिक भेद है, द्रव्यत्वसमवाय से द्रव्यत्व ही द्रव्य में रहता है न कि गुणत्वादि । अतः पदार्थसांकर्य दोष को अवकाश नहीं है ।

प्रतिपक्षी :- जब समवाय स्वरूपतः एक है तब द्रव्यत्व गुणत्व विशेषणों के भेद का प्रयोजक कौन है ? यदि विशेषणों में स्वतः एव भेद हो सकता है तो स्वतः एव आधेयता नियम भी हो जायेगा, फिर आधेयता के लिये जरूर ही नहीं है समवाय की । यदि यह कहा जाय कि - विशेषणों में परस्पर प्रतिनियतरूपता यानी भिन्नता 'नियताधार के साथ सम्बन्ध' पर अवलम्बित होती है - तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष अवसरप्राप्त है क्योंकि विशेषणभेद से समवाय में (औपाधिक) भेद और समवाय के (औपाधिक) भेद से विशेषणों में भेद दिखाया जाता है । और जो वह कहा है कि द्रव्यत्वादि मूलक प्रतीतियाँ अननुयायी = अननुगत होने से द्रव्यत्वादि का भेद सिद्ध होता है... इत्यादि, वह असम्बद्ध प्रलाप है, क्योंकि निमित्तरूप समवाय जब एक होगा तो उस के कार्य में यानी द्रव्यादि में द्रव्यत्व-गुणत्वादि की प्रतीतियों में अननुगतत्व हो ही नहीं सकता, अन्यथा वे अननुगत प्रतीतियाँ समवाय का कार्य नहीं हो सकेगी । तात्पर्य, अनुगत एक निमित्त होने पर बुद्धिभेद का सम्भव न होने से, असंभवित बुद्धिभेद के आधार पर की जाने वाली आधार-आधेय भाव व्यवस्था युक्तिसंगत नहीं हो सकती । यह नहीं कह सकते कि - 'द्रव्यत्व द्रव्य में ही आश्रित होता है इस लोकव्यवहार से आधारधेयभाव व्यवस्था हो जायेगी' - ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है कि व्यवस्था व्यवहारमूलक नहीं होती, आपने तो समवाय के बल पर आश्रितत्वादि की व्यवस्था घोषित किया है । समवाय तो द्रव्य-गुणादि सर्वत्र एक-सा होता है इसलिये जब एक निमित्त से सर्वत्र साधारणरूप से आश्रितत्व सिद्ध होने वाला है तब 'द्रव्य में ही द्रव्यत्व आश्रित है' यह व्यवहार भी आप के मत में नहीं किया जा सकेगा ।

व्यंग्य-व्यञ्जक शक्ति के नियम से आधार-आधेय भाव के नियम की बात भी असार है, क्योंकि द्रव्यत्वादि की व्यञ्जकता का नियम भी समवाय पर ही अवलम्बित है । देखिये - द्रव्यादि को द्रव्यत्वादि सामान्य का व्यञ्जक द्रव्यत्वादि के समवाय के बल पर ही आपने माना हुआ है । कारण, आप के मतानुसार द्रव्य में ही द्रव्यत्व समवाय से रहता है इसलिये द्रव्य से द्रव्यत्व व्यक्त होता है । ऐसा नहीं है कि द्रव्य द्रव्यत्व में ज्ञानोत्पत्तियोग्यस्वभाव का आधान करने से वह उस से व्यक्त होता है । सत्ता-द्रव्यत्वादि सामान्य नित्य होने से उस में किसी चीज का आधान सम्भव ही नहीं है । जब समवाय के बल पर ही व्यंग्य-व्यञ्जक भाव तय

नियम इति न ततोऽपि आधाराधेयप्रतिनियमः ।

योऽपि दधि-कुण्डसंयोगो दृष्टान्तत्वेनोपात्तः सोऽपि अस्मान् प्रत्यसिद्धः, पूर्वमेव संयोगस्य प्रति-
षिद्धत्वात्, तत्सद्भावेऽपि चायं पर्यनुयोगस्तत्रापि तुल्यः । तथाहि — यदि 'इह कुण्डे दधि' इति बुद्धिः
संयोगनिमित्ता तस्य चैकत्वम् तदा निमित्तत्वाऽविशेषात् यथा 'कुण्डे दधि' इति प्रत्ययः तथा 'दधि
कुण्डम्' इत्यपि स्यात् दधि-कुण्डसंयोगस्याऽविशेषे तज्जन्यप्रत्ययस्याप्यविशेषप्रसक्तेः, अन्यथा तस्य
तन्निमित्तत्वाऽयोगात् अतिप्रसंगात् । किंच, यदि 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः तन्तु-पटव्यतिरिक्त
निमित्तमन्तरेण न स्यात् 'इह समवायिषु समवायः' इत्यपि प्रत्ययोऽपरसमवायनिमित्तमन्तरेण न स्यात् ।
अथापरसमवायप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेस्तमन्तरेणाप्यस्य प्रत्ययस्योत्पत्तिस्तर्हि अनेनैव हेतुरनैकान्तिकः
स्यात् इति न 'इह'प्रत्ययात् समवायसिद्धिः । यच्च 'कारणानुपलब्धेर्नित्यः समवायः' इत्यभिधानम्
तदप्यसंगतम् यतो यद्यसौ नित्यः स्यात् तदा घटादीनामपि नित्यत्वं प्रसज्येत स्वाधारेषु तेषां सर्व-
दाऽवस्थानात् । तथाहि — एषां समवायात् स्वाधारेष्ववस्थानमिष्यते स च नित्य इति किमिति सदैते

होना है तो वह साधारणतया सर्वत्र मौजूद होने से गुण में भी द्रव्यत्वसमवाय से द्रव्यत्व व्यक्त होने की विपदा
तदवस्थ रहेगी । निष्कर्ष, समवाय के बल पर भी व्यंग्य-व्यंजक शक्तिनियम सम्भव न होने से उस के द्वारा
आधार-आधेयभाव का नियम भी असम्भव है ।

❀ समवाय-एकत्व सिद्धि में संयोगदृष्टान्तव्यर्थ ❀

समवायवादीने जो एकत्व के लिये संयोग का दृष्टान्त दिया है वह बौद्धादि के सामने असिद्ध है क्योंकि
संयोग कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है यह पहले ही कहा गया है । यदि उसकी स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार कर
ले तो उस को भी समवाय की तरह ही प्रश्नविकल्पों का सामना करना होगा । देखिये — 'यहाँ कुण्डे में दही'
इस बुद्धि को यदि संयोग के निमित्त से मानेंगे और संयोग को एक ही मानेंगे तो जैसे 'कुण्डे में दही' प्रतीति
होती है वैसे 'दही में कुण्ड' ऐसी भी प्रतीति हो सकेगी क्योंकि दोनों के लिये निमित्तभूत संयोग एक ही
है, तथा दही और कुण्ड का संयोग यदि एक ही है तो उस से होने वाली दोनों प्रतीतियों में एकरूपता प्रसक्त
होगी । यदि ऐसा नहीं होगा तो संयोग में प्रतीतियों के प्रति निमित्त भाव भी घटेगा नहीं, क्योंकि एक संयोग
को विविधरूप प्रतीतियों का निमित्त मानने पर सारे कार्यवृन्द में एककारणकत्व की विपदा हो सकती है ।

यह भी विमर्शनीय है कि 'यहाँ तन्तुओं में बख' ऐसा बोध तन्तु या पट से अतिरिक्त निमित्त (समवाय)
के विना नहीं हो सकता तो 'यहाँ समवायियों में समवाय' ऐसा बोध भी उन दोनों से अतिरिक्त समवाय
के विना कैसे हो सकेगा ? यदि इस स्थान में भी नये समवाय की कल्पना करने जायेंगे तो उस के लिये
भी अपर समवाय अपर समवाय इस ढंग से अनवस्था दोष प्रसक्त होगा । यदि अनवस्था को टालने के लिये
वहाँ अतिरिक्त समवाय के विना ही उस ('समवायियों में समवाय') बोध की उत्पत्ति मानी जाय तो समवायसाधक
हेतु यहाँ साध्यद्रोही प्रसिद्ध होगा । तात्पर्य, 'यहाँ' ऐसी प्रतीति से समवाय की सिद्धि अशक्य है । यह जो
कहा था कि — समवाय का कोई कारण उपलब्ध नहीं है अतः वह नित्य ही होना चाहिये — वह असंगत
विधान है, क्योंकि यदि वह नित्य होता तो घटादि में भी नित्यत्व प्रसक्त होगा क्योंकि नित्य होने से उसको
अपने आधारों में नित्यवास करना पड़ेगा और नित्यवास करने के लिये आश्रय भी नित्य होना चाहिये । समझो
कि, घटादि अवयवी का समवाय के बल पर अपने आश्रयों में अवस्थान माना गया है, जब सम्बन्धि घटादि
नित्य होंगे तभी उसका सम्बन्ध नित्य हो सकता है, सम्बन्धि के विना सम्बन्ध कैसा ? तात्पर्य, जब सम्बन्ध

न संतिष्ठेरन् ?

अथ स्वारम्भकावयवविनाशाद् विभागाद् वा घटादीनां विनाशः सत्यपि समवायेऽवस्थितिहेतौ सहकारिकारणान्तराभावाद् विरोधिप्रत्ययोपनिपाताच्च । ततो न घटादीनां नित्यत्वप्रसङ्गः इति । असदेतत् — यतः कपालादीनां घटाद्यारम्भकावयवानामपि स्वारम्भकावयवेषु समवायसद्भावात् कुतो विभागो विनाशो वा येन कारणविभागादिसद्भावाद् घटादेर्विनाशोत्पत्तिर्भवेत्, विरोधिसमवायसद्भावे विभागादेरनुत्पत्तेः । यदि च स्वारम्भकावयवानां विनाशोऽभ्युपगम्येत तदा समवायस्यापि विनाशाभ्युपगमोऽवश्यंभावी सम्बन्धिनिवृत्तौ सम्बन्धिनिवृत्तेरवश्यंभावित्वात् कुण्डबदरसंयोगविनाशे तत्संयोगवत् सम्बन्धिनां वाऽविनाशप्रसङ्गोऽविनष्टसम्बन्धत्वात् अनुपरतसंयोगद्रव्यद्वयवत्, अन्यथोभयेषामपि तत्सम्बद्ध-स्वभावहानिप्रसक्तिः स्यात् ।

अथ यदि निवृत्ताऽशेषसम्बन्धित्वात् समवायविनाश इति प्रथमप्रयोगार्थस्तदा हेतोः पक्षैकदेशोऽसिद्धताप्रसक्तिः । न ह्यशेषाणां सम्बन्धिनां प्रलयेऽपि विनाशः परमाण्वादीनां तत्राप्यवस्थानात् ।

नित्य है तो सम्बन्धि भी नित्य अवस्थित मानने होंगे ।

✽ समवाय नित्य होने पर घटादिविनाश दुर्घट ✽

समवायवादी :- अपने आरम्भक अवयवों के विनाश से या उनके विभाग से घटादि का विनाश हो सकता है । अवस्थितिकारक समवाय तदवस्थ रहने पर भी अवस्थिति के लिये अन्य सहकारि कारणों के न होने पर एवं विरोधि हेतुओं के उपस्थित हो जाने से विनाश अवर्जनीय है, अतः घटादि में नित्यत्व की विपदा सम्भव नहीं है ।

प्रतिपक्षी :- यह विधान गलत है । कारण, घटादि की तरह उस के अवयवभूत कपालादि में भी नित्यत्व प्रसक्त हैं, क्योंकि वे भी अपने अवयवों कपालिकादि में, कपालिका भी अपने अवयव उपकपालिकादि में इस तरह यावत् द्व्यणुक अपने अवयव परमाणु में नित्य समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, सम्बन्धि नित्य होने पर ही सम्बन्ध नित्य रह सकता है अतः द्व्यणुकादि सम्पूर्ण अवयवीवर्ग भी नित्य बने रहेंगे । अब उन घटादि के अवयवों के विभाग का या विनाश का सम्भव ही कहाँ है जिस से कि कारणविभागादि के होने पर घटादि कार्य के विनाश का उद्भव सिर उठा सके ?! जब नाशविरोधि समवाय नित्य उपस्थित है तो विभागादि की उत्पत्ति वह कैसे होने देगा ?

यदि घटादि के आरम्भक अवयवों का विनाश असंगत होने पर भी मानने का आग्रह रखेंगे तो उनका सम्बन्धभूत समवाय भी नष्ट होने की विपदा अवश्य आयेगी । कारण, जहाँ सम्बन्धि विनाश होता है वहाँ सम्बन्धविनाश अवश्य होता है यह व्याप्ति है, उदाहरण है — बेर या कुण्डात्मक संयोगि के नाश से संयोग सम्बन्ध का नाश होता है । अथवा समवाय को अविनष्ट मानने पर उस के सम्बन्धि घटादि को भी अविनष्ट मानना होगा । कारण, यह नियम है कि जहाँ सम्बन्ध अविनष्ट रहता है वहाँ सम्बन्धि भी अविनष्ट रहते हैं, उदाहरण — अविनष्ट-संयोगवाले आत्मा और आकाश द्रव्य । यदि सम्बन्ध के रहते हुए भी सम्बन्धि का नाश मानेंगे तो उस में सम्बद्धस्वभावता को हानि पहुँचेगी अर्थात् सम्बन्ध के रहते हुए भी कभी वे असम्बद्ध ही रह जायेंगे ।

समवायवादी :- आपने जो पहले नियम बताया कि सम्बन्धि का विनाश हो वहाँ सम्बन्धविनाश अवश्य होता है, इस प्रयोग में यदि सम्बन्धिविनाश से 'सकलसम्बन्धिविनाश होने पर समवाय का विनाश' यह अर्थ अपेक्षित हो तब हेतु में पक्षैकदेश में असिद्धि (यानी भागासिद्धि) दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि प्रलय काल में

अथ 'विनष्टकतिपयसम्बन्धित्वात्' इति हेतुर्विवक्षितस्तदाऽनैकान्तिकः । यतः यदि नाम कश्चित् सम्बन्धी विनष्टस्तथापि अपरसम्बन्धिनिबन्धना सम्बन्धस्यावस्थितिर्युक्तैव । न च संयोगस्यापि कतिपय-संयोगिविनाशेऽपि अपरसंयोग्यवस्थानात् अनेनैव न्यायेनाऽवस्थानप्रसक्तिः, संयोगस्य प्रतिसंयोगि भिन्नत्वात् तद्विनाशे विनाशोपपत्तेः समवायस्य तु सर्वत्रैकत्वात् नैकसम्बन्धिविनाशे विनाशः । 'इह' प्रत्ययस्यान्यत्राप्यविशेषात् तन्निबन्धनस्य समवायस्याप्यभेद इति नान्यसम्बन्धिसद्भावे तद्विनाशप्रसक्तिः । — असदेतत्, यतः किं य एव घटादयो विनाशमनुभवन्ति स्वकारणादिसमवायिनः तद्वृत्त्यात्मक एव समवायोऽविनष्टे पटादिसम्बन्धन्तरेऽवतिष्ठते आहोस्विदन्य एवासौ इति कल्पनाद्वयम् ।

यथायः पक्षस्तदा प्रागवस्थावदप्रच्युतवृत्तित्वाद् घटादयोऽवस्थिता एव स्युः, तदनवस्थाने वाऽनव-स्थितवृत्तित्वात् समवायस्यापि विनाशः; तस्य वृत्त्यात्मकत्वात्, अन्यथा तस्य तद्रूपतानुपपत्तेः । स्वत-न्त्रस्य च तदनुपकारिणस्तद्वृत्तिः 'समवायः' इति नामकरणे संज्ञामात्रमेव भवेत् न वस्तुतथाभावः । तथा चाऽविनष्टसम्बन्धवस्थायामपि घटादयो न स्वाश्रयवृत्ताः समवायसद्भावबलात् सिध्येयुः विनष्ट-

भी सकलसम्बन्धियों का विनाश नहीं होता, परमाणु तो उस काल में भी अवस्थित रहते हैं । यदि प्रथम प्रयोग (नियम) में हेतु का यह अर्थ विवक्षित हो कि कुछ सम्बन्धियों का विनष्ट होना, तो ऐसा हेतु साध्यद्रोही होगा, क्योंकि किसी एक सम्बन्धि का विनाश होने पर भी अन्य अन्य सम्बन्धियों के अवस्थित होने से सम्बन्ध भी अवस्थित यानी अविनष्ट रह सकता है । यदि यह कहा जाय कि - ऐसे तो किसी एक संयोगि के नष्ट होने पर भी अन्य संयोगियों के अवस्थित रहने पर संयोग भी अविनष्ट रहने की विपदा होगी - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय सर्वत्र एक होता है जब कि संयोग संयोगिभेद से भिन्न भिन्न होता है । अतः एक सम्बन्धि का नाश होने पर संयोग का नाश होगा न कि समवाय का । 'यहाँ' ऐसा भान घट-वस्त्रादि सर्वत्र एक-सा होता है अतः अनुगतप्रतीति के बल पर उसका निमित्तभूत समवाय भी अभिन्न सिद्ध होता है अतः जब तक परमाणु आदि सम्बन्धि मौजूद है तब तक समवाय का विनाश असम्भव है ।

प्रतिपक्षी :- समवायवादी का यह प्रतिविधान गलत है । कारण, यहाँ दो विकल्पों का विमर्श करना होगा, अपने कारणादि में समवायी जिन घटादि का नाश माना जाता है, क्या उन्हीं का सम्बन्धभूत समवाय अविनष्ट अन्य पटादिसमवायियों के रहते हुए रहता है या उन पटादि का समवाय उस से अन्य होता है ?

❀ नष्ट-अनष्ट संबन्धियों का एक समवाय दुर्घट ❀

प्रथम विकल्प, यदि विनाशपूर्वावस्था में घटादि का समवाय जैसे अन्य पटादि सम्बन्धि में अवस्थित है वैसे आक्षिप्त विनाश के बाद भी वह अप्रच्युत सम्बन्धात्मक रूप से अवस्थित है तब तो घटादि भी अवस्थित ही रहने चाहिये । यदि उन को अनवस्थित मानेंगे तो उस काल में सम्बन्ध भी 'अनवस्थित का सम्बन्ध' बन जाने से समवाय स्वयं भी अनवस्थित हो जाने से उसका विनाश ही प्रसक्त होगा, क्योंकि समवाय तो सम्बन्धात्मक ही सिद्ध किया गया है । जब उसका सम्बन्धि विनष्ट होगा तो विनष्टसम्बन्धि के सम्बन्ध के रूप में उसका विनाश अवश्य भावी है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो वह समवाय घटादि का सम्बन्धरूप ही नहीं घट सकेगा । तथा, घटादि को कुछ भी उपगृहीत न करनेवाले किसी स्वतन्त्र पदार्थ को उस का सम्बन्ध कह कर 'समवाय' ऐसा नामकरण करेंगे तो वह सिर्फ निरर्थक संज्ञा मात्र रह जायेगा, क्योंकि वास्तव में तो वैसा तथ्य है नहीं । ऐसी स्थिति मान्य करने पर, घटादि जब अविनष्टावस्थाशाली होंगे तब भी वे समवाय के जोर पर अपने कपालादि आश्रय में वृत्ति नहीं हो सकेंगे, क्योंकि जैसे विनष्ट अवस्था में वह उन के लिये सम्बन्ध

समवायिकारणावस्थायामिव परमार्थतो वृत्त्यभावात् । एकरूपवृत्तिसद्भावेऽपि तेषां विनाशाभ्युपगमात् न तन्निमित्ता स्वकारणेषु तेषां स्थितिर्भवेत् तत्सद्भावेऽपि कथं तद्भावनिमित्तस्तद्भाव इति स्वयमेव चिन्त्यम् ।

अथ द्वितीयः पक्षस्तदा संयोगादिवत् समवायबहुत्वप्राप्तेः ‘समवायोऽभेदवान्’ इत्यभ्युपगमव्या-
हतिः । नित्यत्वे च समवायस्याऽभ्युपगम्यमाने स्वकारणसमवायस्य स्वसत्तासमवायस्य च जन्मशब्दा-
च्यस्य सर्वदा सद्भावात् कार्यजन्मनि क्वचिदपि कारणानां साफल्यं न स्यात्, तथा चाध्यक्षादिवि-
रोधः, तन्त्वादेः पटादिकार्यजनकत्वेनाध्यक्षादिना प्रतीतेः ‘अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः संयोगजश्च
संयोगः’ (वै० द० ७-२-९) ‘विभागोऽपि अन्यतरोभयकर्म-विभागजः’ () ‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं
ज्ञानं’ (न्या० द० १-१-४) इत्यादिजन्मप्रतिपादकसूत्रसमूहविरोधश्च ।

समवायलक्षणस्य च जन्मनो नित्यतया क्रमाऽसम्भवाद् भावानां क्रमोत्पत्तिरुपलभ्यमाना विरुद्धा
च स्यात् । समवायलक्षणजन्मनित्यतया च जगद् अनुपकार्योपकारकभूतम् इति शास्त्रप्रणयनमनर्थकं
भवेत् । बुद्धिजन्मनोऽपि समवायस्वभावतया क्रमाभावात् ‘युगपद् भानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्’ (न्या०
द० १-१-१६) इत्यादि सर्वमपि विरुद्धं स्यादिति नित्यसमवायप्रकल्पनमसमञ्जसमिति स्थितम् ।

का काम नहीं करता वैसे ही पारमार्थिकरूप से अविनष्टावस्था में भी वह सम्बन्धरूप नहीं है । जब वृत्ति यानी
सम्बन्ध एकरूप = अविच्छिन्नरूप से मौजूद होने पर भी घटादि को विनष्ट माने जाते हैं उस का फलितार्थ
यह है कि कारणों में घटादि की स्थिति समवायमूलक नहीं होती । अब आप को ही सोचना चाहिये कि
जगत् में समवाय सत् होने पर भी जब सम्बन्धरूप नहीं है तो समवायास्तित्वमूलक घटादि का सद्भाव उन
के अवयवों में मानना कहाँ तक उचित है ?!

घटसम्बन्धात्मक समवाय से पटादिसम्बन्धात्मक समवाय भिन्न है यह दूसरा पक्ष मान्य किया जाय तो संयोगादि
की तरह अनेक समवाय मान्य हो जाने से ‘समवाय अभिन्न है’ इस मन्तव्य को व्याघात पहुँचेगा ।

✽ समवायनित्यतापक्ष में जन्मपदार्थसमीक्षा ✽

समवायनित्यता पक्ष में जन्म क्या चीज है यह भी विचारणीय है, यदि अपने कारणों में कार्य का समवाय
अथवा कार्य में सत्ता का समवाय यही जन्म की व्याख्या हो तो कार्योत्पत्ति का जश कारणों को कभी नहीं
प्राप्त होगा, क्योंकि नित्य समवायस्वरूप उत्पत्ति सदा विद्यमान ही है । फलस्वरूप प्रत्यक्षादिप्रमाणों का विरोध
प्रसक्त होगा क्योंकि तन्तु आदि में वस्त्रादि की कारणता प्रत्यक्षप्रसिद्ध है । उपरांत, ‘किस का किस से जन्म
होता है’ यह बतानेवाले सूत्रसमुदाय के साथ विरोध प्रसक्त होगा, उन सूत्रों का यह अनुवाद है – ‘संयोग प्रतियोगी-
अनुयोगि में से किसी एक के कर्म से या उभय के कर्म से अथवा तो संयोग से उत्पन्न होता है ।’ (वैशेषिक
द० ७-२-९) ‘संयोग की तरह विभाग भी किसी एक के कर्म से, उभय के कर्म से अथवा विभाग से उत्पन्न
होता है ।’ () ‘प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है’ (न्याय द० १-१-४) ।

तथा, जन्म की व्याख्या समवायरूप करने पर, समवाय नित्य होने से सभी पदार्थों का जन्म समकालीन
ही हो गया, तब पदार्थों में जो क्रमशः उत्पत्ति दिखाई देती है उस के साथ विरोध प्रसक्त होगा । तथा,
समवायात्मक जन्म नित्य होने से, सारे जगत् में न तो कोई किसी का उपकारक होगा, न कोई किसी का
उपकार्य होगा । इस के फलस्वरूप, मन्दबुद्धि जन के उपकार के लिये जो महर्षियों ने शास्त्ररचना की है वह

तदेवमुलूकप्रतिपादितशास्त्रस्य मिथ्यात्वम्, तदभिहितपदार्थानामप्रमाणत्वात् प्रमाणबाधितत्वाच्च । आचार्यस्तु एतत् सर्वं हृदि कृत्वा तन्मिथ्यात्वाऽविनाभूतं प्रतिपादितसकलन्यायव्यापकं 'जं सविसय' इत्यादिना गाथापश्चाद्धेन हेतुमाह — यस्मात् स्वविषयप्रधानताव्यवस्थिताऽन्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रितं तत्, अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितत्वस्य मिथ्यात्वादिनाऽविनाभूतत्वात् ॥४९॥

अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितस्य मिथ्यात्वाऽविनाभूतत्वमेव दर्शयन्नाह —

जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।

संखा य असव्वाए, तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥

यानेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्युपगतपदार्थाभ्युपगमे शाक्यौलूक्या दोषान् वदन्ति साङ्ख्यानं क्रियागुणव्यपदेशोपलब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणान् — ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं सम्बन्धः कार्यः । ते च दोषा एवं सत्याः स्युः यद्यन्यनिरपेक्षनयाभ्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तत् शास्त्रं मिथ्या स्यात् ना-

भी निरर्थक ठहरेगी । तथा, बुद्धि का जन्म भी क्रमशः नहीं हो सकेगा क्योंकि समवायात्मक जन्म नित्य है फलतः 'मन का लिंग है - एक साथ ज्ञान की अनुत्पत्ति' इत्यादि सभी तथ्यों के साथ विरोध प्रसक्त होगा । निष्कर्ष - नित्य समवाय की कल्पना असंगत है यह सिद्ध होता है ।

सम्पूर्ण न्याय-वैशेषिक मान्य पदार्थों की तर्क-परीक्षा का नतीजा यही है कि उलूक ऋषि प्रदर्शित शास्त्र मिथ्या है, क्योंकि उन के द्वारा प्रदर्शित पदार्थ अप्रामाणिक है इतना ही नहीं, विरोधिप्रमाणों से बाधित भी हैं ।

श्री सिद्धसेन आचार्य, उपरोक्त चर्चा को हृदय में रखते हुए उलूकदर्शन में मिथ्यात्व का सूचक मिथ्यात्व का अविनाभावि एवं उपरोक्त चर्चा में दिखाये गये सभी न्यायों (युक्ति-दृष्टान्तों) में व्यापक ऐसा हेतु, ४९ वीं 'जं सविसय-' इत्यादि गाथा के पश्चार्थ से दिखा रहे हैं - उलूक ऋषिने दोनों द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लिया है, किन्तु उस के दर्शन में ये दोनों नय अपने अपने विषय भेद या अभेद को ही प्रधानता देने में मशगुल है, एक-दूसरे के वक्तव्य से सर्वथा निरपेक्ष है । अन्योन्य निरपेक्ष नयों पर अवलम्बित दर्शन में मिथ्यात्व होना अवश्यभावि है ॥४९॥

✽ बौद्ध, न्यायवैशेषिक और सांख्य मतों में परस्पर दूषकता ✽

प्रतिद्वन्द्वी नय से निरपेक्ष किसी एक ही नय पर आश्रित अभिप्राय मिथ्यात्व अविनाभूत होता है - यह तथ्य ५० वीं गाथा से दिखाया जा रहा है -

मूलगाथार्थ :- बौद्ध और वैशेषिकवादी, सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद में जो दोषारोपण करते हैं; एवं बौद्ध-वैशेषिकदर्शनों के असत्कार्यवाद में सांख्य की ओर से जो भी दूषण लगाये जाते हैं वे सब तथ्यभरे हैं ॥ ३-५० ॥

व्याख्यानार्थ :- द्रव्यास्तिक नयमान्यपदार्थ का अवलम्ब ले कर सांख्यवादि ने जो एकान्ताभिनिवेशपूर्वक सत्कार्यवाद का मंडन किया है उसके ऊपर शाक्य यानी बौद्ध और उलूक यानी वैशेषिकमत की ओर से, अनेक दोष दिखाये हैं - उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत् होने पर उस से अर्थक्रिया की उपलब्धि, उस के गुणों की एवं 'सत्' आदि व्यवहार की उपलब्धि आदि का अनिष्ट होगा - ऐसे दोष दिखाये गये हैं । ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि वे दोष सत्य हैं । गाथा के पूर्वार्थ का ऐसा अन्वय करना । दोष सत्य कैसे हैं यह देखिये - उन का शास्त्र यदि प्रतिद्वन्द्वीनय से निरपेक्ष एक नय के माने हुए पदार्थों का अगर प्रतिपादन करता है तो वह जरूर मिथ्या

न्यथा, प्रागपि कार्यावस्थात एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वात् तेषाम्, अन्यथा कथंचित् सत्त्वेऽनेकान्त-
वादापत्तेर्दोषाभाव एव स्यात् । साङ्ख्या अपि असत्कार्यवाददोषान् असदकरणादीन् यान् वदन्ति ते
सर्वे तेषां सत्या एव, एकान्ताऽसति कारणव्यापाराऽसम्भवादन्यथा शशशृङ्गादेरपि कारणव्यापारादुत्पत्तिः
स्यात् ।

अथ शशशृङ्गस्य न कारणावस्थायामसत्त्वादन्यत्पत्तिः किन्तु कारणाभावात्, घटादेस्तु मृत्पिण्डाव-
स्थायामसतोऽपि कारणसद्भावादुत्पत्तिः । ननु कुतः शशशृङ्गस्य कारणाभावः ? ‘अत्यन्ताभावरूप-
त्वात् तस्ये’ति चेत् तदेव कुतः ? ‘कारणाभावात्’ इति चेत् सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । घटादीनामपि
च मृत्पिण्डावस्थायामसत्त्वे कुतः कारणसद्भावः ? ‘प्रागसत्त्वादेव तत्र कारणसद्भावः, सति कारणव्यापारा-
ऽसम्भवात्’ इति चेत् ? असदेतत्, घटस्य मृत्पिण्डावस्थायां सत्त्वे प्रागनवस्थायोगादसत्त्वेऽपि शशशृङ्गस्येव
तदनुत्पत्तेः । अथाऽस्योत्पत्तिदर्शनात् प्रागभावः न शशशृङ्गस्य । न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि
— यावदस्य(न) प्रागभावित्वं न तावदुत्पत्तिसिद्धिः यावच्च नोत्पत्तिसिद्धिः न तावत् प्रागभावित्वसिद्धिरिति

होना चाहिये, एक नय का अभिनिवेश न हो तो वह मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यावस्था के पूर्वकाल
में भी एकान्ततः कार्यसत्त्व ही मिथ्यात्व का मूल प्रयोजक है । यदि एकान्ततः कार्यसत्त्व के बदले कथंचित्
कार्यसत्त्व माना जाय तो अनेकान्तवाद प्राप्त होने पर एक भी दोष नहीं रहेगा ।

तथा सांख्यवादी भी असत्कार्यवाद में जिन दोषों का — (सांख्यकारिका ९ से) असदकरण, उपादानग्रहण
आदि का निदर्शन करता है, वे दोष भी सत्य हैं, क्योंकि एकान्त असत् के लिये कारणों का व्यापार सम्भव
नहीं है, यदि वह सम्भव होता तो शशसींग की निष्पत्ति भी कारणव्यापार से सम्भव हो सकती थी ।

✽ शशसींग की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? ✽

यदि यहाँ कहा जाय कि — ‘शशसींग का अनुद्भव कारणावस्था में उस का सत्त्व न होने से नहीं, किन्तु
कारणों के न होने से होता है । घट भी मिट्टिपिण्ड की दशा में असत् है किन्तु उस के कारणों की मौजूदगी
से उस की उत्पत्ति होती है ।’ — इस के ऊपर प्रश्न है कि जब घट के कारण हैं तब शशसींग के क्यों नहीं
हैं ? यदि उस के कारण नहीं है क्योंकि वह अत्यन्ताभावरूप यानी अत्यन्तासत् है — ऐसा कहा जाय तो पुनः
प्रश्न होगा कि घट उत्पत्ति के पूर्व अत्यन्ताभावरूप नहीं है तो शशसींग क्यों वैसा है ? यदि इस के उत्तर में
कारणाभाव को दिखायेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि कारणाभाव का प्रयोजक अत्यन्त असद्रूपता और
अत्यन्तासद्रूपता का प्रयोजक कारणाभाव दिखाया जाता है । शशसींग का कारणसद्भाव नहीं होता तो मिट्टीकाल
में घट का भी कारणसद्भाव कैसे होता है ? “मिट्टी काल में उस का प्रागभाव होता है इसलिये घट के कारणों
का सद्भाव होता है, प्रागभाव के बदले घट-सत्ता होने पर तो कारणों का व्यापार ही असम्भव हो जायेगा ।”
— ऐसा कहना अयोग्य है, मिट्टीकाल में सिर्फ दो विकल्प हैं, घट यदि उस काल में होगा तो प्रागभावावस्था
नहीं कही जा सकती और यदि मिट्टीकाल में घट असत् है तो शशसींग की तरह उस की भी उत्पत्ति अथवा
प्रागभाव अशक्य रहेंगे । यदि कहा जाय — उत्तरकाल में घटोत्पत्ति का दर्शन होता है इस लिये उस का मिट्टीकाल
में पूर्वाभाव कहा जा सकता है, किन्तु शशसींग की उत्पत्ति का दर्शन कभी नहीं होता इसलिये उस का पूर्वाभाव
नहीं माना जा सकता । — ऐसा कहने पर भी ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय दोष होगा । देखिये — जहाँ तक घट का
प्रागभाव सिद्ध नहीं वहाँ तक उस की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी और उत्पत्ति की सिद्धि न हो जाय तब तक प्रागभाव
सिद्ध नहीं होता । यदि ऐसा कहा जाय -- मिट्टी आदि कारण कार्यवचित होते हैं यही प्रागभाव है जो कि उत्पत्ति

व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । अतः कारणस्य कार्यशून्यता प्रागभावः प्रागेव सिद्धः । असदेतत्, अकारण-
स्यापि कार्यशून्यतोपलम्भात्तत्सम्बन्धाद् घटस्य तत्कार्यताप्रसक्तेः ।

तथाहि — यस्य प्रागभावित्वं तस्य कार्यता, तच्च कार्यशून्यं पदार्थान्तरं कारकाभिमताद् अन्य-
दपि च तत्प्रागभावस्वभावं प्राप्तम् तत्सम्बन्धेन च घटादेः शशशृङ्गादिव्यवच्छेदेन कार्यताऽभ्युपगतेति
सूत्रपिण्डकार्यताऽपि घटस्यैवं भवेत् । न च तदन्वयव्यतिरेकाभावात् तत्कार्यता, अन्वय-व्यतिरेकाभावस्य
तत्राऽसत्त्वनिबन्धनत्वात् । न च प्रागभावो नाम प्रत्यक्षादिप्रमाणग्राह्यः, मृत्पिण्डस्वरूपमात्रस्यैव तत्र
प्रतिभासनात् । न च कारणस्वरूपमेव प्रागभावः, निर्विशेषणस्य स्वरूपमात्रस्य कार्येऽपि सद्भावात्
तस्यापि प्रागभावरूपताप्रसक्तेः । अथ कार्यान्तरापेक्षया तस्यापि प्रागभावरूपता कारणस्वभावाऽभ्युप-
गम्यत एव । न, कारणाभिमतापेक्षयाऽपि तद्रूपताप्रसक्तेः । ‘तथाप्रतीत्यभावात् तद्रूपतेति चेत् ?
न, प्रतीतिमात्रादनपेक्षितवस्तुस्वरूपाद् वस्तुव्यवस्थाऽयोगात् । ततो मृत्पिण्डादिरूपतया वस्तु गृह्यते-
ऽध्यक्षदिना न पुनस्तद्व्यतिरिक्तकारणादिरूपतया तस्यास्तत्राऽप्रतिभासनात्, प्रतिभासनेऽपि विशिष्ट-
कार्यापेक्षया कारणत्वस्य प्रतिपत्तौ कार्यप्रतिभासमन्तरेण तत्कारणत्वस्याऽप्रतीतेरसतस्तदानीं कार्यस्याऽ-
के पहले सिद्ध है । — तो यह ठीक नहीं, क्योंकि मिट्टी आदि की तरह घट के अकारण माने गये तन्तु आदि
भी मिट्टी काल में कार्यशून्य उपलब्ध होने से प्रागभावरूप प्रसक्त होंगे और वैसे प्रागभाव के साथ भी सम्बन्ध
होने से घट भी तन्तुजन्य होने की आपत्ति आयेगी ।

❀ असत् की उत्पत्ति अनभिमत है ❀

स्पष्टीकरण :- कार्यता उस में होती है जिस का प्रागभाव हो । वह जो कार्यशून्य पदार्थान्तर है जो
कि कारकरूप से अभिमत मिट्टी से अन्य तन्तु आदि है वह भी कार्यशून्य होने से प्रागभावस्वभाव प्राप्त होता
है क्योंकि वह कार्य से शून्य है, फलस्वरूप, प्रागभावात्मक सम्बन्ध से, शशसींगआदि के व्यवच्छेदपूर्वक घटादि
में कार्यता होगी और उसके कारण के रूप में पूर्व में कार्य से शून्य तन्तुपिण्ड में कारणता प्राप्त होने से
घट भी तन्तु का कार्य हो जाने की आपत्ति होगी । — ‘घट में तन्तु के अन्वय-व्यतिरेक न होने से वह
तन्तु का कार्य नहीं हो सकता’ — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक का अभाव तो घटका तन्तु
में असत्त्वद्योतक हो सकता है किन्तु कपालसमवेत घट में तन्तुकार्यता का विरोधी नहीं है । दूसरी बात, प्रागभाव
यह कोई स्वतन्त्र प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध तत्त्व नहीं है, प्रागभाव के नाम से तो सिर्फ मिट्टी के पिण्ड का स्वरूपमात्र
ही भासित होता है । तथा, प्रागभाव कारण का स्वरूपमात्र भी नहीं होता, क्योंकि निर्विशेष यानी जैसा तैसा
स्वरूपमात्र तो कार्य का भी मौजूद होने से कार्य को भी प्रागभाव स्वरूप कहना होगा । यदि कहें कि -
- “इस में कोई आपत्ति ही नहीं है क्योंकि कार्य भी भावि कार्य का कारण होने से उस का प्रागभाव कहा
जा सकता है” — तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सिर्फ भावि कार्य का नहीं किन्तु अपने कारण की अपेक्षा
से भी उस में प्रागभावरूपता प्रसक्त होगी । ‘वैसी प्रतीति न होने से अपने कारण की अपेक्षा कार्य को
प्रागभावस्वरूप नहीं कह सकते’ — ऐसा भी नहीं, क्योंकि वस्तुस्वरूप से निरपेक्ष प्रतीतिमात्र से कभी वस्तु-
स्थापना नहीं हो सकती अत एव तथाविधप्रतीति के अभाव से वस्तु का निह्वन भी शक्य नहीं है । फलितार्थ
यह है कि कार्योत्पत्ति के पूर्वकाल में वस्तु मिट्टी आदि रूप में ही प्रत्यक्षादि से लक्षित होती है; उस से
अतिरिक्त कारणादिरूप से अन्य कोई वस्तु वहाँ भासित नहीं होती । कदाचित् भासित होना मान लिया जाय
तो कारणत्व की प्रतीति किसी विशिष्ट कार्य से सापेक्ष ही हो सकती है, अतः कार्य भासित हुए बिना उस

प्रतिभासनात् प्रत्यक्षस्यासदर्थग्राहकत्वेन भ्रान्तताप्रसक्तेः तदा तत्कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तिः स्यादिति कथमसति कारणव्यापारः प्रतीयते ? तत्राऽसतः कार्यत्वं युक्तम् ।

नापि असत्कारणं कार्यम्, तदानीमसति कारणे तस्य तत्कृतत्वाऽयोगात् क्षणमात्रवास्थायिनः कारणस्य स्वभावमात्रव्यवस्थितेरन्यत्र व्यापाराऽयोगात् । अथ तदनन्तरं कार्यस्य भावात् प्राग्भावित्व-मात्रमेव कारणस्य व्यापारः - असदेतत्, समस्तभावक्षणानन्तरं विवक्षितकार्यस्य सद्भावात् सर्वेषां तत्पूर्वकालभावित्वस्य भावात् तत्कारणताप्रसक्तेः । अथ सर्वभावक्षणाभावेऽपि तद्भावाद् इति न तस्य तत्कार्यता । न, क्षणिकेषु भावेषु विवक्षितक्षणाभाव एव सर्वत्र विवादाध्यासितकार्यसद्भावाद् न तदपेक्षयाऽपि तस्य कार्यता भवेत् । न च क्षणिकस्य कार्यस्य तदभावेऽपि पुनर्भवसम्भवः तस्य तदैव भावाद् अन्यदा कदाचिदप्यभावात् । न च विशिष्टभावक्षणधर्मानुविधानात्तस्य तत्कार्यताव्यवस्था, सर्वथा

की कारणता का भान सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्य उस काल में असत् होने से लक्षित होना असम्भव है फिर भी अगर वहाँ कार्य सापेक्ष कारणता का प्रतिभास भ्रान्त मानेंगे तो असत्-अर्थ-स्पर्शी होने से वह प्रतिभास भ्रान्त ही मानना होगा, अगर उस को भ्रान्त नहीं मानना है तो कार्य का उस काल में सत्त्व मान लेना होगा। अब बताइये कि असत् की निष्पत्ति के लिये कारणों के व्यापार की बात में कितना तथ्य है ? निष्कर्ष, असत् की कार्यता युक्तिसंगत नहीं है ।

✽ कारण कार्यअसहभावी होने पर अनेक संकट ✽

बौद्धसम्प्रदाय का जो यह सिद्धान्त है कि कार्यक्षण में कारण सर्वथा अपने अस्तित्व को खो देता है और असत् से कार्यजन्म होता है - यह सिद्धान्त गलत है । यदि कार्य क्षण में कारण मौजूद नहीं रहेगा तो उत्पन्न वस्तु किस का कार्य है यह तय न होने से, 'वह अमुक कारण से उत्पन्न हुआ' ऐसा निर्णय नहीं होगा । दूसरी बात यह है कि कारण यदि क्षणिक है तो वह अपनी उत्पत्तिक्षण में आत्मस्वभावलाभ में ही व्यग्र हो जाने से कार्योत्पत्ति के लिये कोई योगदान कर नहीं पायेगा । यदि ऐसा कहा जाय - कार्य की पूर्वक्षण में मौजूद रहना यानी कार्यपूर्वभाव यही कारणव्यापार है, क्योंकि कारणक्षण के बाद ही कार्योत्पत्ति का दर्शन होता है । - तो यह गलत है क्योंकि किसी एक कार्य की पूर्वक्षण में तो सारे जगत के पदार्थ पूर्वभावी होते हैं, फलतः उन सभी में उस कार्य के प्रति कारणता होने के आपत्ति आयेगी ।

यदि कहा जाय- अपेक्षित कारण से अतिरिक्त सारे जगत् के पदार्थ न होने पर भी, अपेक्षित कारण की, पूर्व क्षण में सत्ता होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है, अत एव अपेक्षित कारण से अतिरिक्त पदार्थों की अपेक्षा से कार्यत्व की आपत्ति उत्पन्न भाव में शक्य नहीं है । - तो यह गलत है क्योंकि जब सर्व भाव क्षणिक है तब अपेक्षित कारण क्षण के भी न रहने पर ही विवादास्पद कार्योत्पत्ति का सम्भव है, अतः उस अपेक्षित कारणक्षण की कार्यता भी विवादास्पद कार्य में नहीं हो सकेगी । ऐसा भय रखना कि यदि अपेक्षित कारण की कार्यता का भंग हो जायेगा तो कार्य कारणनिरपेक्ष हो जाने से प्रतिक्षण उत्पन्न होता ही रहेगा, यानी दूसरे क्षण में उसके विनाश के बदले पुनरुन्मज्जन की विपदा होगी - यह भय निरर्थक है, क्योंकि जिस का स्वभाव ही क्षणिक है वह अपनी क्षण से अतिरिक्त किसी भी क्षण में रह नहीं सकता, अन्यथा वह 'क्षणिक' नहीं रहेगा ।

यदि कार्यता की ऐसी व्यवस्था की जाय कि जो जिस विशिष्ट भावक्षण के धर्मों का अनुगमन (अंगीकार) करता है वह उस का कार्य होगा ।- तो यह व्यवस्था भी क्षतिविहीन नहीं है, क्योंकि यदि कार्य व्यक्ति कारण

तद्धर्मानुविधाने तस्य कारणरूपतापत्तेस्तत्प्राक्कालभावितया तत्कार्यताव्यतिक्रमात्, कथंचित् तद्धर्मानु-
विधानेऽनेकान्तवादापत्तेः 'असत्कारणं कार्यम्' इत्यभ्युपगमव्याघातात् ।

अथ सन्तानापेक्षः कार्यकारणभाव इत्ययमदोषः । न, सन्तानस्य पूर्वापरक्षणव्यतिरेकेणाभावाद्
भावे वा तस्यैव कार्यकारणरूपस्याऽर्थक्रियासामर्थ्यात् सत्त्वं स्यात् न क्षणानामर्थक्रियासामर्थ्यविकलतया
भवेत् । अथ तत्सम्बन्धिनः सन्तानस्य कार्यकारणत्वे तेषामपि कार्यकारणभावः । न, भिन्नयोः कार्य-
कारणभावादपरस्य सम्बन्धस्याभावात् सन्तानस्य च सर्वजगत्क्षणानन्तरभावित्वेन सर्वसन्तानताप्रसक्तिः
स्यात् । किञ्च, तस्यापि नित्यत्वे क्षणकार्यत्वे च सत्कार्यवादप्रसक्तिः क्षणिकत्वे चाऽन्वयाऽप्रसिद्धेस्तस्य
तत्कार्यताऽप्रसिद्धिः, व्यतिरेकश्च कार्यतानिबन्धनं क्षणिकपक्षे न सम्भवतीति प्रतिपादितमेव । न चात्रापि
अपरसन्तानप्रकल्पनया कार्यकारणभावप्रकल्पनं युक्तम् अनवस्थाप्रसक्तेः । तथाहि — सन्तानस्यापि

के सकल धर्मों का अनुगमन करेगी तो १ उस में और कारण में भेद लुप्त हो जायेगा, २ और कार्य भी कारण
की तरह स्वपूर्वकालभावी धर्माक्रान्त हो जाने से वह उस का कार्य भी नहीं रह सकेगा । यदि सकल धर्मों
का नहीं किन्तु कथंचित् कुछ धर्मों का अनुगमन होने का मानेंगे तो सर्वत्र कथंचिद् भाव मानने वाले अनेकान्तवाद
(जैन मत) में आप का मजबूरन प्रवेश हो जायेगा । तथा 'कार्यक्षण में कारण सर्वथा असत् होता है' यह
मान्यता भी भंग हो जायेगी क्योंकि अब तो कथंचित् असत् मानना होगा न कि सर्वथा ।

✽ सन्तानकृत कारण-कार्यभाव दुर्घट ✽

—पूर्वभाव के जरिये यदि कारणता-कार्यता की व्यवस्था शक्य नहीं है तो एक सन्तानगत पूर्वापर क्षणों
में समानसन्तानमध्यवर्त्ती होने से कारण-कार्यभाव हो सकता है, अतः कोई पूर्वोक्त दोष नहीं होगा—' ऐसा
भी कहना गलत है, क्योंकि पूर्वापरक्षणों से अतिरिक्त जब कोई सन्तान जैसी चीज ही नहीं है तो उस के
बल पर कारण-कार्य व्यवस्था कैसे शक्य होगी ?! यदि पूर्वापरक्षणों से अतिरिक्त सन्तान पदार्थ का अंगीकार
कर लेंगे, तब तो अर्थक्रियासामर्थ्य भी उसी में रहेगा, न कि क्षणों में, फलतः सत्त्व भी सन्तान का मान्य
होगा न कि क्षणों का, क्योंकि उन में अर्थक्रिया का सामर्थ्य ही नहीं है । यदि कहा जाय — पूर्वापरक्षणों
का सन्तान के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य मानना होगा, अतः सन्तान में कारण-कार्यभाव मानने पर उसके सम्बन्धी
पूर्वापर क्षणों में भी कारण-कार्यभाव की व्यवस्था घट जायेगी — तो यह व्यर्थ प्रलाप है, क्योंकि सन्तान और
सन्तानी (पूर्वापरक्षणों) का भेद पक्ष स्वीकार किया है, और भेद पक्ष में उन दोनों में जन्य-जनकभाव के
अलावा और कोई सम्बन्ध मौजूद नहीं होता । दूसरी बात यह है कि सारे जगत् में सकल पदार्थ मिल कर
एक ही सन्तान शेष बच जायेगा, क्योंकि कोई भी एक सन्तानव्यक्ति सारे जगत् के सर्व पदार्थक्षण के उत्तर
में जन्म लिया हुआ होता है, इसलिये वह विश्वगत समस्तक्षणों का सन्तान कहा जायेगा न कि सिर्फ कपालक्षणों
का या तन्तुक्षणों का । अतः घटसन्तान या वस्त्रसन्तान इत्यादि पृथक् पृथक् सन्तान लुप्त हो जायेंगे ।

✽ सन्तानपक्ष में अन्वय-व्यतिरेक दुर्घट ✽

यदि सन्तान को नित्य मान कर अनेक क्षणों के कार्यरूप माना जायेगा तो नित्य यानी पूर्वकाल में विद्यमान
हो कर क्षणजन्य होने से सत्कार्यवाद आप के गले पड जायेगा । यदि सन्तान को क्षणभंगुर मानेंगे तो अन्य
क्षणों के साथ उसका 'अन्वय सहचार यानी एक की विद्यमानता में ही दूसरे का होना' यह बात न होने
से सन्तान में या किसी भी कार्य में क्षणजन्यत्व की संगति नहीं बैठेगी । क्षणिकवाद में यह एक बड़ा दूषण
है और दूसरा यह है कि कार्यकारण भाव संगत करने के लिये जो व्यतिरेक सहचार चाहिये वह भी असंभव

कार्यताऽभ्युपगमे क्षणिकत्वान्न कार्यरूपता अतः सन्तानान्तरमत्रापि कार्यतानिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम् तस्यापि च क्षणिकत्वे कार्यताऽप्रसिद्धेस्तन्निबन्धनमपरं सन्तानान्तरमभ्युपगमनीयमित्यनवस्था परिस्फुटैव ।

किञ्च, क्षणिकभावाभ्युपगमवादिनो यदि भिन्नकार्योदयाद्धेतोः सत्त्वमभिमतं तदा तत्कार्यस्यापि अपरकार्योदयात् सत्त्वसिद्धिरित्यनवस्थाप्रसक्तेः न क्वचित् सत्त्वव्यवस्था स्यादिति कुतस्तद्व्यवच्छेदेन 'सत् कार्यम्' इति व्यपदेशः । अथ ज्ञानलक्षणकार्यसद्भावाद्धेतोः सत्त्वव्यवस्थितिः । ननु ज्ञानस्यापि कथं ज्ञेयसत्ताव्यवस्थापकत्वम् ? 'ज्ञेयकार्यत्वाद्' इति चेत् ? ननु किं ^Aतेनैव ज्ञानेन ज्ञेयकार्यता स्वात्मनः प्रतीयते उत ^Bज्ञानान्तरेण ? ^Aन तावत् तेनैव, तस्य प्रागसत्त्वाभ्युपगमादप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा तत्कार्यतावगतिः पुनः प्राक् प्रवर्त्तने संगच्छते तत्रापि पुनः प्राक् प्रवृत्ताविति अनवस्थाप्रसक्तेः कुतस्तस्य तत्कार्यतावगतिः ? अथ समानकालत्वेऽपि ज्ञानस्य ज्ञेयकार्यता; नन्वेवमविशेषाद् ज्ञेयस्यापि ज्ञानकार्यतावगतिः स्यादिति तदपि तद्व्यवस्थापकं प्रसज्येत । न च समानकालयोः स्तम्भकुम्भयोः

होगा, क्योंकि यह पहले ही कह चुके हैं कि 'एक के न होने पर दूसरे का अवश्य न होना' यह बात क्षणिकवाद में अशक्य है, क्योंकि 'पूर्वक्षण के विद्यमान सभी पदार्थ न होने पर कार्य का न होना' यह व्यतिरेक अतिव्यापक बन जाता है ।

जैसे क्षणों में कारण-कार्यभाव की व्यवस्था के लिये सन्तान की कल्पना निरर्थक है वैसे ही सन्तानों के बीच कारण-कार्यभाव की व्यवस्था के लिये अपर सन्तानों की कल्पना भी निरर्थक है । कारण, उन अपरसन्तानों में भी कारण-कार्य भाव की व्यवस्था के लिये अपर अपर सन्तानों की कल्पना करते रहने में कोई अन्त ही नहीं आयेगा । इस की और स्पष्टता यह है कि अपर सन्तान की कल्पना के बाद भी, अगर उसे क्षणिक ही मान कर उस में कार्यता मान लेंगे तो उस में कार्यरूपता संगत नहीं होगी क्योंकि क्षणिक भाव में उस का सम्भव नहीं है । फलतः उसमें कार्यता-संगति के लिये अन्य सन्तान की कल्पना का अवलम्बन लेना होगा । उसे भी क्षणिक मान लेने पर पुनः कार्यता संगत नहीं हो सकेगी, उसको संगत करने के लिये पुनश्च सन्तानान्तर की कल्पना का अन्त कहाँ आयेगा ? अतः अनवस्था दोष अनिवार्य रहेगा ।

✽ अर्थक्रियाधीन सत्त्व के पक्ष में अनवस्थादि ✽

यह भी सोचने जैसा है - असत्कार्यवादी बौद्ध तो भावमात्र को क्षणिक मानते हैं, क्षणिक भाव का सत्त्व भी स्व से भिन्न अर्थक्रिया यानी अपरक्षणरूप कार्य की उत्पत्ति को अधीन मानते हैं । उस अपर क्षण का सत्त्व भी तृतीयक्षण-उत्पत्ति को अधीन हो जाय तो ऐसे सभी पूर्व पूर्व क्षण का सत्त्व उत्तरोत्तरक्षणाधीन हो जाने से, किसी भी एक क्षण का सत्त्व ठीक ढंग से सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनवस्था दूषण सिर उठायेगा । ऐसी स्थिति में, जब कि 'सत्' की ही व्यवस्था दुष्कर है, 'सत्' के व्यवच्छेद पूर्वक कार्य उत्पत्ति के पहले असत् होने का निर्देश कैसे हो सकेगा ? यदि यहाँ कहा जाय कि - ज्ञानात्मक कार्य के उदय रूप हेतु से क्षणिक भाव से सत्त्व की सिद्धि हो सकती है - तो इस पर प्रश्न है कि कार्यात्मक ज्ञान से ज्ञेय की सत्ता का स्थापन कैसे होगा ? उत्तर में यदि कहा जाय कि वह ज्ञेय का कार्यभूत लिंग होने से ज्ञेय की सत्ता का स्थापन करेगा तो यहाँ दो विकल्प प्रश्न हैं । A मैं ज्ञेय का कार्य हूँ, ऐसा बोध अपने आप स्वयं वह ज्ञान कर लेता है या B अन्य ज्ञान से होता है ? A ज्ञान स्वयं ज्ञेयकार्यत्व का बोध करने में सक्षम नहीं होता क्योंकि ज्ञेय जब पूर्वक्षण में था तब वह स्वयं ही न था, इसलिये पूर्वक्षण के ज्ञेय को कारणरूप में ग्रहण करने के लिये उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है । यदि सम्भव मानी जाय तो वहाँ ज्ञेयकार्यत्व का बोध

कारणतोपलब्धा, इति प्रकृतेऽपि सा न स्यात् । अथ केवलस्यापि कुम्भस्य दृष्टेरकार्यता, ज्ञानस्यापि केवलस्य दृष्टेरकार्यताप्रसक्तिः । 'तस्य ततोऽन्यत्वान्न व्यभिचार' इति चेत् ? ननु कुम्भोऽपि कुतोऽन्यः स न भवेत् ? 'प्रत्यभिज्ञानान्नान्य' इति चेत् ? एतद् ज्ञानेऽपि समानम्, नित्यता च कुम्भस्यैवं भवेदिति कुतोऽसत्कार्यवादः ?

न च प्रत्यभिज्ञानं भवतः प्रमाणम् पूर्वापररूपाधिकरणस्यैकतयाऽप्रतीतेः । न हि पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामपरपूर्वरूपताग्रहः, नाप्येकप्रत्ययेन पूर्वापररूपद्वयस्य क्रमेण ग्रहः, एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्राहकतयाऽप्रवृत्तेः । न च स्मरणस्य द्वयोर्वृत्तिः संभवति । न चास्य प्रमाणता । न च पूर्वापरप्रत्यययोः परस्परपरिहारेण वृत्तौ तत उत्पद्यमानं स्मरणमेकत्वस्य वेदकं युक्तम् अगृहीतग्राहितयाऽस्मरणरूपताप्रसक्तेः । न चात्माप्येकत्वमवैति प्रत्यक्षादिप्रमाणवशेनार्थाऽऽवेदकत्वात् तस्य चैकत्वेऽप्रवृत्तेः । न च प्रमाणनिरपेक्ष एवात्मैकत्वग्राहकः, स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थायामपि तस्य तद्ग्राहकत्वोपपत्तेः । न च तस्या-

उसके पूर्व में पुनः प्रवृत्तिशील मान लेने पर ही संगत हो सकती है । वह भी पुनः पुनः पूर्व में प्रवृत्तिशील मानने पर संगत हो सकेगा । इस तरह पुनः पुनः पूर्व-प्रवृत्ति मानने में अनवस्था दोष प्रसक्त होगा, तो स्व में ज्ञेयकार्यता का बोध होगा कैसे ? बिना किसी विशेष ही यदि समानकालीन मान कर ज्ञान को ज्ञेय से जन्य मानेंगे तो इस से उलटा, यानी 'ज्ञेय भी ज्ञान का कार्य है' ऐसा बोध होने का सम्भव होने से ज्ञेय भी ज्ञान की व्यवस्था का सम्पादक बन बैठेगा । दूसरी बात यह है कि समानकालीन स्तम्भ और कुम्भ इन दोनों में कभी भी कारण-कार्यभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ, अत एव प्रस्तुत में समकालीन ज्ञेय और ज्ञान में भी कारण-कार्यभाव होना सम्भव नहीं है । यदि कहा जाय कि - 'स्तम्भ के विना सिर्फ अकेला कुम्भ दृष्टिगोचर होता है इसलिये उनमें कारण-कार्यभाव नहीं मान सकते,' - तो यह भी कह सकते हैं कि ज्ञेय के विना भी केवल ज्ञानमात्र दृष्टिगोचर होता है (विना सर्प भी रस्सी में सर्पज्ञान होता है) इस लिये ज्ञान में भी ज्ञेय-कार्यता सिद्ध नहीं हो सकती । यदि कहा जाय कि-वह ज्ञान उस ज्ञान से विजातीय है जो ज्ञेय से ही उत्पन्न होता है अतः उस से कोई कारणता का व्यभिचार नहीं है - तो इस के सामने यह क्यों नहीं कह सकते कि वह कुम्भ भी उस कुम्भ से विजातीय है जो स्तम्भ से ही उत्पन्न होता है ! यदि प्रत्यभिज्ञान के बल पर वहाँ एक ही कुम्भ माना जाय तो प्रत्यभिज्ञान के बल पर वहाँ एक ही ज्ञान भी माना जा सकता है । तथा प्रत्यभिज्ञान को वास्तविक मान लेने पर तो कुम्भ में क्षणिकता समाप्त हो कर नित्यता की प्रसक्ति हो जायेगी और नित्यता प्रसक्त होने पर असत्कार्यवाद कहाँ जायेगा ?!

✽ बौद्धमत में प्रत्यभिज्ञा अप्रमाण है ✽

प्रत्यभिज्ञान से कुम्भ के एकत्व का प्रतिपादन बौद्ध मत में अशक्य है क्योंकि वहाँ प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं माना गया । वह इस लिये कि पूर्वरूप और पश्चात्कालीनरूप का अधिकरण एक ही है ऐसी प्रतीति हो नहीं सकती । न तो पूर्वरूपग्राही प्रतीति पश्चात्भावरूप को विषय करती है, न पश्चाद्भावरूपग्राहक प्रतीति पूर्वरूप को विषय करती है । ऐसी भी कोई एक प्रतीति नहीं है जो क्रमशः पूर्व-पश्चाद् रूपों का अवगाहन कर सके । जो स्वयं ही एकक्षणस्थायी होने से क्रमविकल है उस की क्रमिक (पूर्वापर) क्षणों को ग्रहण करने हेतु प्रवृत्ति शक्य नहीं ।

स्मरण की भी क्रमिकक्षणों के ग्रहण के लिये प्रवृत्ति अशक्य है । कदाचित् शक्य हो, किन्तु वह प्रमाणभूत नहीं है । पूर्वोत्तरक्षणों का स्वरूप सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न है, अतः उन दोनों से कोई ऐसा एक स्मरण कैसे उत्पन्न हो सकता है जो उन में एकत्व का ग्रहण करे ? यदि उस का ग्रहण करेगा तो वह स्मृतिरूपता

प्येकत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् प्रसिद्धम् तद्ग्राहकत्वेन तस्याऽप्रतीतिः । न च बौद्धस्यात्मान्यद् वा वस्तु नित्यमस्ति “क्षणिकाः सर्वसंस्काराः” () इति वचनात् ।

तन्न तेनैव आत्मनः प्रमेयकार्यतावगतिः ।

^Bनाप्यन्येन, तस्यापि स्वप्रमेयकार्यावगतौ प्रागवृत्तितयाऽसामर्थ्यात् । तन्न ज्ञानलक्षणमपि कार्यं हेतोः सत्तां व्यवस्थापयितुं समर्थं क्षणिकैकान्तवादे । अध्यक्षस्य यथोक्तन्यायेन पौर्वापर्येऽप्रवृत्तेः । अत एव नानुमानस्यापि पौर्वापर्ये प्रवृत्तिः, तस्य तत्पूर्वकत्वात् प्रत्यक्षाऽप्रतिपन्नेऽर्थे परलोकादावि-
वार्थविकल्पनमात्रत्वेन सर्वज्ञानस्याभ्युपगमात् । तन्नाऽसत्कार्यवादः प्रमाणसंगतः ।

✽ सांख्यसम्भते सत्कार्यवादे दोषाख्यानम् ✽

सत्कार्यवादस्तु प्रागेव निरस्तत्वादयुक्त एव । तथाहि — नित्यस्य कार्यकारित्वं तत्र स्यात्, तच्चाऽयुक्तम्, नित्यस्य व्यतिरेकाऽप्रसिद्धितः कार्यकरणे सामर्थ्याऽप्रसिद्धेः । न हि नित्यस्य सर्वदेश-

को खो बैठेगा, क्योंकि एकत्व पूर्व में अगृहीत है, उस का ग्रहण करने से वह अगृहीतग्राही बन जायेगा, स्मरण कभी अगृहीतग्राही नहीं होता ।

आत्मा स्वतन्त्ररूप से कुम्भ के एकत्व का ग्रहण कर नहीं सकता प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर ही वह अर्थ का प्रकाशन कर सकता है और प्रत्यक्षादि प्रमाण एकत्व के ग्रहण में प्रवृत्ति नहीं कर सकते, यह पहले बताया जा चुका है । यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अवलम्बन विना ही आत्मा को एकत्व का ग्रहण करने में सक्षम माना जाय तो जब कोई पुरुष निद्राधीन हो, नशे में हो या बेहोश हो, उस काल में भी आत्मा को एकत्वादि अर्थ के ग्रहण में पटु मानना पड़ेगा । क्षणिकवाद में, पूर्वापरक्षण में अनुगत एक आत्मा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है — क्योंकि कभी भी पूर्वापरक्षण अनुगत एकत्व की आत्मा में प्रतीति नहीं होती । (सादृश्यमूलक एकत्व प्रतीति भ्रान्त होती है ।) बौद्धमत का यह सिद्धान्त है कि ‘हर कोई संस्कार (भाव) क्षणिक होता है,’ इस लिये बौद्ध मत में आत्मा या अन्य कोई भी चीज नित्य नहीं होती । निष्कर्ष, वही ज्ञान स्वगत ज्ञेय-कार्यता का ग्राहक नहीं बन सकता ।

अन्य ज्ञान से प्रस्तुतज्ञानगत ज्ञेयकार्यता का ग्रहण भी अशक्य है, क्योंकि प्रस्तुतज्ञानगत क्षण में (यानी पूर्वक्षण में) वह अन्यज्ञान मौजूद ही नहीं है । निष्कर्ष, एकान्त क्षणिकवाद में ज्ञानात्मक कार्य से कारण की सत्ता की व्यवस्था सम्भव नहीं है । पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यक्ष स्वयं भी क्षणिक होने से, पूर्वापरभाव के ग्रहण में उस का योगदान असम्भव है । प्रत्यक्ष जब असमर्थ है तो अनुमान तो सुतरां असमर्थ होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के बलबूते पर ही अनुमानप्रवृत्ति समर्थ होती है । “जिस विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता उस विषय में और जितने भी ज्ञान उदित होते हैं वे सब परलोकादि की कल्पना की तरह अर्थ की कल्पना को ही जन्म देने वाले होते हैं न कि उन के स्वरूप निश्चय को ।” ऐसा बौद्धमान्य सिद्धान्त होने से, प्रत्यक्षभिन्न ज्ञान से किसी भी विषय की या ज्ञानकार्य के कारण की सत्ता की वास्तविक सिद्धि सम्भव नहीं है ।

निष्कर्ष, क्षणिकवाद में उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होने का सिद्धान्त प्रमाणसंगत नहीं है ।

✽ सांख्य के सत्कार्यवाद की समालोचना ✽

सत्कार्यवाद का निरसन तो पहले (द्वितीयखंड पृ.३५० में) किया गया है इस लिये वह अयुक्त ही है । फिर से देखिये — सत्कार्यवाद में नित्य पदार्थ को ही कार्यजन्मदाता मानना होगा । और वही अयुक्त है, क्योंकि

कालव्यापिनः क्वचित् कार्यव्यापारविरहिणः सामर्थ्यमवगन्तुं शक्यम् । अथ सर्वदेशाऽव्यापिनस्तस्य तत्र सामर्थ्यं भविष्यति । तदसत्, यतः सर्वदेशाऽव्यापिस्तस्य तथाप्रतीतेर्यद्यवसीयते सर्वकालाऽव्यापि-रपि तस्य तत एवाऽभ्युपगमनीया स्यात् । ‘अभ्युपगम्यत एव’ इति चेत् ? नन्वेवं कतिपयदेशकाल-व्यापिरप्यप्रतिपत्तेरेव अनुपपन्नेति निरंशैकक्षणरूपता भावानां समायाता । न च तदेकान्तपक्षेऽपि कार्य-जनकता, प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वात् । न चैकान्तनित्यव्यापकत्वपक्षे प्रमाणप्रवृत्तिरित्यसकृत् प्रतिपादितम् । न चाऽसति कार्ये निर्विषयत्वात् कारणव्यापाराऽसम्भवात् सत्येव तेषां व्यापारः, यतो न दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा हेतूनां कार्ये व्यापारः तेषां जडत्वेन तदसम्भवात् । न चादृश्यमानाऽजडेश्वरादिहेतुकमकृष्टोत्पत्तिकं भूरुहादि सम्भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् (पृ. ४२८/४३८) । न चाऽसतः कार्यस्य विज्ञानं न ग्राहकम् असत्यप्यक्षादिबुद्धेः प्रवृत्तेः, अन्यथा कथं कार्यार्थप्रतिपादिका चोदना भवेत् ? किञ्च, यदि सत्येव

‘नित्य कारण के न होने पर कार्य का न होना’ इस प्रकार का व्यतिरेक सहचार सम्भव न होने से, कार्योत्पत्ति के प्रति नित्य भाव में कारणता स्वरूप शक्ति भी सम्भवहीन हो जाती है । जो सर्वदेश – सर्वकाल में व्यापक हो उस को नित्य कहा जाय तो ऐसे नित्य भाव में कार्यान्वयनशक्ति युक्तिसंगत न होने से कार्योत्पादन के लिये वह समर्थ हो ऐसा नहीं मान सकते । जो सर्वदेश-काल व्यापक होता है उस को कार्योत्पत्ति में विलम्ब सख्य न होने से सतत कार्यजन्म की विपदा वहाँ दुर्निवार है । यदि कहा जाय कि – ‘नित्य पदार्थ सर्वदेशव्यापक न होने से योग्यदेशप्राप्ति के विलम्ब से सतत कार्यकारी होने की विपदा नहीं रहेगी और योग्य देश प्राप्त होने पर उस में कार्यजन्मानुकूल सामर्थ्य प्रगट हो जायेगा’ – तो यह गलत है । कारण, देश-अव्याप्ति की प्रतीति के बल पर यदि कारण को सर्वदेश-अव्यापक मान लेंगे तो काल-अव्याप्ति की अनुभवसिद्ध प्रतीति के बल पर सर्वकाल-अव्यापकता को भी मानना होगा । तात्पर्य, भाव को नित्य नहीं माना जायेगा ।

यदि कहा जाय कि – हम भाव को नित्य नहीं किन्तु अल्प-देश-कालव्यापक ही मानेंगे, अतः स्वदेश-काल में कार्यकरणसामर्थ्य प्रगट हो सकेगा । – तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तब तो फलितार्थ के रूप में अल्प-देश-काल में अव्याप्ति की प्रतीति के बल पर अल्पदेश-कालव्यापकता को भी छोड़ देना पड़ेगा, फलतः सभी भावों को निरंश क्षणमात्रस्वरूप मान लेना पड़ेगा । एकान्त क्षणिक निरंश वस्तुवाद में कार्यजनकता का प्रतिक्षेप तो पहले ही हो चुका है । यह भी पहले कई बार कहा जा चुका है कि भाव को एकान्त नित्य एवं व्यापक यानी विभुपरिमाणवाले मानने में किसी प्रमाण का संवाद उपलब्ध नहीं है ।

यदि कहा जाय – कार्य को उत्पत्ति के पूर्व असत् मानेंगे तो असत् की दिशा में कारण का क्रियान्वित होना सम्भव नहीं होता, सत् के प्रति ही वह क्रियान्वित हो सकता है इसलिये सत्कार्यवाद ही संगतिमान् है । – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य अभी असत् है ऐसा देख कर या सुन कर तो कारणों को क्रियान्वित नहीं होना है, कारण तो जड है उन्हें वैसा दर्शन या श्रवण होना सम्भव ही नहीं है । अतः उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् हो तब भी कारणों को क्रियान्वित होने में कोई क्षति नहीं है । यह भी पहले खंड में (पृ. ४२९) कहा जा चुका है कि विना कर्षणादि से, सिर्फ अदृश्य चेतन परमेश्वर आदि के व्यापार से कहीं भी वृक्ष-अंकुरादि का उद्भव शक्य नहीं है । यदि कहा जाय कि – असत् कार्य का विज्ञान से ग्रहण न होने से उस के उत्पादन में प्रयत्न शक्य न होगा । – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मृगजलादि असत् पदार्थ गोचर प्रत्यक्षादि बुद्धि का प्रवर्तन सर्वत्र देखा जाता है । यदि असद्गोचर बुद्धि को अमान्य करेंगे तो असत् भावि इष्टफल के उपाय का सूचक वेदगत प्रेरणावाक्य कैसे संगत हो सकेगा ?

कार्ये कारणव्यापारस्तदोत्पन्नेऽपि घटादिकार्ये कारणव्यापारादनवरतं तदुत्पत्तिप्रसक्तिः तत्सत्त्वाऽ-
विशेषात् । अथाभिव्यक्तत्वान्नोत्पन्ने पुनरुत्पत्तिः, उत्पत्तेरभिव्यक्तिस्वरूपत्वात्त्वात्तस्याश्च प्रथमकारण-
व्यापारादेव निवृत्तत्वात् । ननु अभिव्यक्तिरपि यदि विद्यमानैवोत्पद्यते उत्पन्नाऽपि पुनः पुनरुत्पद्येत,
अथाऽविद्यमाना तदाऽसदुत्पत्तिप्रसक्तिः । न चाऽभिव्यक्तावप्यसत्यां कार्ये इव कारणव्यापारोऽभ्युपगन्तुं
युक्तः, स्वसिद्धान्तप्रकोपप्रसंगात् ।

अथ 'सतः कारणात् कार्यम्' इति सत्कार्यवादः असतो हेतुत्वाऽयोगात् तथाभ्युपगमे वा
शशशुंगादेरपि पदार्थोत्पत्तिप्रसक्तिः । अत्यन्ताभाव-प्रागभावयोः असत्त्वेनाऽविशेषात् । न च प्राग्भावी
आसीद् इति हेतुर्नात्यन्ताभावीति वक्तव्यम् यतो यदा आसीत् तदा न हेतुः अन्यदा हेतुरिति प्रस-
क्तेः । ततश्चेदं प्रसक्तम् - असन् हेतुः संश्चाऽहेतुरिति । ततः सन्नेव हेतुः तस्य कार्ये व्यापारात्
नाऽसन् तत्र तदयोगात् - एतदप्यसत्, यतः सतोऽपि कारणस्य प्राक्तनरूपाऽपरित्यागाद् न कार्यं

✽ सत्कार्यवाद में पुनः पुनः कार्योत्पत्ति का संकट ✽

यह भी सोचना होगा कि सत्कार्यवाद में कार्य उत्पत्ति के पहले और बाद में समानरूप से सत् ही होता
है तो जैसे उत्पत्ति के पहले घटादि कार्य को जन्म देने के लिये कारणवर्ग प्रवृत्त होता है वैसे ही उत्पत्ति
के बाद भी घटादि सत् कार्य को जन्म देने के लिये पुनः पुनः कारणवर्ग प्रवृत्त ही रहेगा, फलतः निरंतर
पुनः पुनः कार्योत्पत्ति होती रहेगी । यदि कहा जाय कि - प्रथम उत्पन्न होने के बाद घटादि कार्य अभिव्यक्तस्वरूप
हो जाते हैं अतः पुनः उस की उत्पत्ति रुक जाती है; उत्पत्ति का मतलब ही यहाँ स्पष्ट अभिव्यक्तिरूप है,
प्रथम सक्रिय बने हुए कारणों से ही अभिव्यक्ति हो जाती है अतः पुनरुत्पत्ति निरवकाश है । - तो यहाँ दो
विकल्प रखे हैं - १, अभिव्यक्ति यदि पूर्व में सत् हो कर ही प्रथमकारणव्यापार से उत्पन्न होती है ऐसा
मानेंगे तो अभिव्यक्ति की भी पुनः पुनः निरन्तर उत्पत्तिपरम्परा चलती रहने की विपदा तदवस्थ रहेगी । २
यदि कारणव्यापार के पूर्व में अभिव्यक्ति असत् है ऐसा मानेंगे तो स्पष्ट ही असत् (अभिव्यक्ति) की उत्पत्ति
का अतिप्रसंग होगा । असत् कार्य की दिशा में जैसे आप को कारणव्यापार ठीक नहीं लगता, तो असत्
अभिव्यक्ति के लिये भी कारणव्यापार अनुचित समझना चाहिये अन्यथा सत्कार्यवादसिद्धान्त के प्रकोप का भाजन
आप को होना पड़ेगा ।

✽ कारण सत् ही हो - ऐसा एकान्त वर्ज्य ✽

सत्त्वकारणवादी - कार्योत्पादक कारण सत् ही होता है, असत् पदार्थ किसी भी कार्य का जनक नहीं
हो सकता । यदि असत् से कार्यनिष्पत्ति होना मान लेंगे तो शशसींग से भी कार्य उत्पन्न होने का अतिप्रसंग
होगा । प्रागभाव से कार्य की उत्पत्ति मानेंगे तो अत्यन्ताभाव से भी उत्पत्ति मानना होगा क्योंकि दोनों समानरूप
से असत् है । यदि कहा जाय कि - 'प्रागभाव पूर्वकालभावि था इसलिये वह हेतु बन सकता है, जब कि
अत्यन्ताभाव तो अतिशयेन अभावी (यानी अति तुच्छ) है इसलिये वह हेतु नहीं बन सकता' - तो यह ठीक
नहीं है । क्योंकि इस में ऐसा अनिष्ट प्रसंग आ पड़ेगा कि जब (पूर्वकाल में) प्रागभाव था तब वह हेतु नहीं
था और जिस क्षण में कार्य उत्पन्न हुआ तब वह न होने पर भी हेतु बन जायेगा । इस का अनिष्ट फलितार्थ
यह होगा कि प्रागभाव जब सत् है तब हेतु नहीं है और असत् है तब हेतु होता है । निष्कर्ष यह आया
कि 'असत् कारण' पक्ष में अनिष्ट होने से जो सत् है वही हेतु बन सकता है, क्योंकि सत् ही कार्योत्पत्ति
के लिये सक्रिय हो सकता है न कि असत्, क्योंकि वह कुछ भी योगदान नहीं कर सकता ।

प्रति हेतुता प्राक्तनावस्थावत् । अथ तदा व्यापारयोगाद् हेतुता — असदेतत्, व्यापारेण कार्यं प्रति तस्य हेतुत्वे 'सोऽपि व्यापारः कुतस्तस्य ?' इति पर्यनुयोगसम्भवाद् । 'व्यापारवत्पदार्थाच्चेत्' ननु तत्रापि व्यापारो यद्यपरव्यापारात् तदा व्यापारपरम्पराव्यवहितत्वात् कारणस्य न कदाचित् कार्योत्पादने प्रवृत्तिः स्यात्, अनन्तव्यापारपरम्परापर्यवसानं यावत् कस्यचिदनवस्थानादसतः कारणात् कार्योत्पत्तिश्च स्यात् ।

अथ कारणरूपमेव व्यापारः तत्काल एव च कार्यम् तेन नानवस्था, नाप्यसतः कारणात् कार्योत्पत्तिः । नन्वेवं कारणसमानकालं कार्यं स्यात् तथा च कुतः सव्येतरगोविषाणवत् कार्यकारणभावः ? अथ कार्यभावकाले कारणस्य न सद्भावस्तर्हि चिरतरनष्टादिव तत्कालध्वंसिनोऽपि कुतः कार्यसद्भावः ? कार्योत्पत्तिकाले तदनन्तरभाविनः सत्ता चेत् ? तर्हि कार्योत्पत्तिः कार्यात् न भिन्नेति

✽ एकान्तसत् पदार्थ में अवस्थाभेद असंगत ✽

अनेकान्तवादी :- सत्कारणवादी का यह बयान गलत है । हेतु यह है कि कारण यदि एकान्तसत् होगा तो उस में अवस्थाभेद संगत न होगा और जब तक पूर्वकालीन सुषुप्त अवस्था का त्याग कर के जनकावस्था में उस का परिवर्तन नहीं होगा तब तक पूर्वावस्था की तरह कार्योत्पत्ति शक्य नहीं होगी । यदि कहा जाय कि - 'कारण में परिवर्तन न होने पर भी सक्रियता (= व्यापार) के योग से एक ही कारण एकान्त सत् होने पर भी कार्योत्पत्ति का हेतु बन सकता है' - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि व्यापार के द्वारा कारण हेतु बनेगा तो यह प्रश्न है कि 'वह उसी का व्यापार है' ऐसा कैसे सिद्ध करेंगे ? अथवा उस में व्यापार का योग कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि अन्य व्यापारयुक्त पदार्थ से - तो उस पदार्थ के व्यापार के लिये अन्य व्यापार की कल्पना करनी पड़ेगी, फिर उस अन्य व्यापार के लिये और एक अपर व्यापार..... ऐसे व्यापारपरम्परा का ही व्यवधान हो जाने से कारण को कभी भी कार्योत्पत्ति के लिये प्रवृत्ति करने का अवसर ही नहीं आयेगा, क्योंकि व्यापारपरम्परा अनन्त हो जायेगी, उस में अनन्त काल बीतेगा और उतने काल तक तो कोई भी कारण टिकनेवाला नहीं है अतः जब व्यापारपरम्परा के सम्पन्न हो जाने के बाद कार्य उत्पन्न होगा तब तक तो कारण ही चिरविनष्ट हो जाने से, असत् कारण से कार्योत्पत्ति आ पड़ेगी ।

✽ कारण-कार्य में समानकालता होने पर संकट ✽

यदि कहा जाय - व्यापार तो कारणस्वरूप ही है और जिस काल में कारणात्मक व्यापार होता है उसी काल में कार्य होता है, अतः व्यापार के लिये व्यापार... इस तरह की कोई अनवस्था यहाँ नहीं होगी और असत् कारण से कार्योत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं है क्योंकि कारण के काल में ही कार्य उत्पन्न होता है। - तो यहाँ कार्यकारणभावभंग की विपदा होगी, क्योंकि व्यापार कारणाभिन्न होने से कार्य भी कारणसमानकालीन हो जायेगा और समानकालीन पदार्थों में बाये-दाहीने गोशृंग की तरह कारणकार्यभाव नहीं हो सकता । यदि कहें कि कार्योत्पत्तिकाल में कारण न होने से पूर्वापरभाव से कारण-कार्यभाव सुनिश्चित हो सकेगा - तो यहाँ प्रश्न है कि जैसे चिर काल से नष्ट कारण कार्य को जन्म नहीं दे सकता वैसे तत्काल ध्वस्त कारण भी कैसे कार्य को जन्म दे सकता है ? यदि कहा जाय कि तत्कालध्वस्त पदार्थ तो कार्योत्पत्ति की अनन्तरपूर्वक्षण में सत् होते हुए कार्योत्पत्तिकाल में भी सत् होने से कारण हो सकता है किन्तु चिरध्वस्त पदार्थ अनन्तर पूर्वक्षण में सत् नहीं होता अतः वह कार्योत्पत्तिकाल में न होने से कारण नहीं हो सकता । - तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कार्य और उस की उत्पत्ति अभिन्न (एक) होने से कारण और कार्य दोनों समानकालीन हो

कार्यकारणयोः समानकालतैव स्यात् तथा च कुतः कार्यकारणभावः ? न च 'सतः कारणात् कार्योत्पत्तिः' इत्यभ्युपगमवादिनः कार्योत्पत्तिकाले कारणस्याऽसत्त्वं बौद्धस्येव सिद्धम् । अविचलितरूपस्य च तस्य सद्भावे तदापि न कार्यवत्ता विकलकारणत्वात् प्राग्वत्, तदा तद्वत्त्वे वा पूर्वमपि तद्वत्त्वं स्यात् अविकलकारणत्वात् तदवस्थावत् । तन्नैकान्तसत्कार्यवादः असत्कार्यवादो वा युक्तः अनेकदो-षदुष्टत्वात् ।

अथ एकान्तेन सदसतोरजन्यत्वादजनकत्वाच्च कार्यकारणभावाभावात् सर्वशून्यतैव । तदुक्तम्- 'अशक्तं सर्वम् इति चेत्' ()... इत्यादि । न, कथंचित् सदसतोर्जन्यत्वात् जनकत्वाच्च । न चैकस्य सदसद्रूपत्वं विरुद्धम्, कथंचित् भिन्ननिमित्तापेक्षस्य सदसत्त्वस्य एकदैकत्राऽबाधिताध्यक्षतः प्रतिपत्तेः । न च अध्यक्षप्रतिपत्तेः वस्तुनि विरोधः अन्यथा एकचित्रपटज्ञाने चित्ररूपतायाः चित्रपटे च चित्रैकरूपस्य विरोधः स्यात् । तथा च 'शुक्लाद्यनेकप्रकारं पृथिव्या रूपम्' इति वैशेषिकस्य

जायेगे, फलतः समानकालीन में कारण-कार्यभाव की असंगति का पूर्वदोष तदवस्थ रहेगा ।

दूसरी बात यह है कि 'सत्' कारण से कार्योत्पत्ति के पक्ष में बौद्धमत की तरह कार्यजन्मकाल में कारण का विनाश मान्य नहीं है । यदि 'सत्' कारण को कार्यजन्मकाल में भी अचलितस्वभावयुक्त ही मानेंगे तो वहाँ व्यापारादि कुछ भी न होने से, पूर्ववत् निष्क्रिय असमर्थ कारणात्मक होने से, कार्यजन्म का सम्भव ही नहीं रहेगा । फिर भी यदि उस से कार्यसम्भव होगा तो तथाविध निष्क्रियस्वरूप किन्तु समर्थ कारण पूर्व काल में भी मौजूद होने से पूर्व काल में भी कार्य का सम्भव मानना पड़ेगा ।

निष्कर्ष, उत्पत्ति के पहले कार्य सर्वथा असत् होता है ऐसा एकान्त असत्-कार्यवाद अथवा सर्वथा सत् होता है ऐसा एकान्त सत्कार्यवाद, दोनों में से एक भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि एकान्तवाद में बहुत सारे दूषण प्रसक्त हैं ।

✽ कथंचित् सदसत्वाद की निर्दोषता ✽

शून्यवादी :- आपने ठीक कहा कि एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् पदार्थ न तो उत्पन्न हो सकता है, न उत्पन्न कर सकता है, अत एव न कोई कारण है न कोई कार्य, इसका फलितार्थ यही है सारा जगत् शून्य है, कुछ भी वास्तविक नहीं है । (दार्शनिकों के मत में 'सत्' पदार्थ या तो कारण होता है या कार्य । लेकिन कारण-कार्य उपरोक्त रीति से संगत न होने से, 'सर्वम् शून्यम्' यही फलित होता है - यह शून्यवादी का तात्पर्य है ।) कहा भी है - यदि सब कुछ (अर्थक्रिया के लिये) अशक्त ही है (तो असत् होने से शून्य है) इत्यादि ।

अनेकान्तवादी :- शून्यवाद ठीक नहीं है । एकान्त सत् या असत् के बदले यदि कथंचित् (यानी सर्वथा नहीं किन्तु कुछ एक अंश से) 'सत्-असत्' उभयरूप पदार्थ माना जाय तो वह जन्य भी हो सकता है जनक भी । 'यदि एक वस्तु को सत्-असत् उभयरूप मानेंगे तो विरोध प्रसक्त होगा' ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रयोजकभूत निमित्तों की अपेक्षा से कथंचित् सत्त्व और कथंचित् असत्त्व दोनों समानकाल में एक ही वस्तु में निर्बाधरूप से प्रत्यक्षगोचर हैं । प्रत्यक्षप्रमाणगोचर पदार्थ विरोध के लिये अपेक्ष्य है । यदि प्रत्यक्षप्रमाणगोचर वस्तु में बलात् विरोधापादन किया जायेगा तो एक चित्रपट गोचर प्रत्यक्षज्ञान में जो चित्ररूपता का अनुभव होता है और उस ज्ञान के विषयभूत एक चित्रपट में भी जो चित्राकार रूप का अनुभव होता है - उन में भी विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि यहाँ भी पीतांश-नीलांश इत्यादि अनेक परस्पर विरुद्धरूपों का समावेश एक

विरुद्धाभिधानं भवेत् ।

✽ प्रासङ्गिकी चित्ररूपमीमांसा ✽

अथ तदवयवानां शुक्लाद्यनेकरूपयोगिता अवयविनस्त्वेकमेव रूपम् । न, तदवयवानामप्यवयवित्वेनानेकप्रकारैकरूपयोगित्वविरोधात् । अथ प्रत्येकमवयवेषु शुक्लादिकमेकैकं रूपम् तर्हि तदवयवादिष्वपि एकैकमेव रूपं यावत् परमाणव इति विभिन्नघटपटादिपदार्थेष्विव चित्रपटेऽपि 'नील-पीत-शुक्लरूपा एते भावाः' इति प्रतिपत्तिः स्यात् न पुनः 'चित्ररूपः घटः' इति, अवयवाऽवयविनोरन्यत्वात् अवयवानामनेकरूपाऽसम्बन्धित्वेऽपि अवयविनस्तथाभावाभावात् । अथाऽवयविनोऽपि विभिन्नानेकरूपसम्बन्धित्वमभ्युपगम्यते तथापि चित्रैकरूपप्रतिभासानुपपत्तिः अनेकरूपसम्बन्धित्वस्यैव तत्र सद्भावात् । सूत्रव्याघातश्चैवं स्यात् 'अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसम्भवात्' () इति सूत्रेणाभिधानात् अव्यापके पटादिद्रव्ये एकेन्द्रियग्राह्याणां शुक्लादीनां विशेषगुणानामसम्भवोऽनेन सूत्रेण प्रतिपादितः स च व्याहन्येत ।

किञ्च, शुक्लादीनामेकत्र पटादावनेकस्वरूपाणां सद्भावाभ्युपगमे व्याप्यवृत्तित्वम् अव्याप्यवृत्तित्वम्

चित्रपट में या एक चित्रज्ञान में आप नहीं कर सकेंगे । इस का यह दुष्परिणाम आयेगा कि वैशेषिकोंने जो कहा है कि 'पृथ्वी का रूप (यानी रूपसामान्यात्मक एक वस्तु) शुक्ल-पीतादि अनेकप्रकार का होता है' यह कथन भी विरोधग्रस्त हो जायेगा ।

✽ चित्ररूप-एकानेकता परामर्श ✽

यदि चित्ररूप की कानेकरूपता टालने के लिये ऐसा कहा जाय कि - 'अवयवि का रूप तो एक ही है (चित्र) और अनेकरूप का योग तो अनेक अवयवों में है ।' - तो यह असंगत है, क्योंकि पट के अवयव भी स्वयं तो अवयवीरूप ही हैं इस लिये पुनः वहाँ अनेक प्रकार का एक रूप होने की विपदा तदवस्थ ही रहेगी । यदि कहा जाय कि 'अवयवीस्वरूप किसी भी एक अवयव में अनेक प्रकार का रूप नहीं है, वह तो सब अवयवों में मिलकर है, वास्तव में एक अवयव में तो शुक्लादि एक एक ही रूप होता है ।' - तो यह भी असंगत है क्योंकि इस तरह तो अवयव के अवयवों में, उन के भी अवयवों में यावत् परमाणुस्वरूप अंतिम अवयवों में प्रत्येक में एक एक रूप का ही अस्तित्व सिद्ध होगा, ऐसी स्थिति में यह विपदा होगी कि पृथक् पृथक् घट, वस्त्र, मिट्टी आदि पदार्थों को देख कर जैसे 'ये पदार्थ श्वेत-पीता-नीलादि- (विविध) रूपवाले हैं ऐसी प्रतीति होती है वैसे ही चित्रपट को देख कर भी 'ये सब श्वेत-पीले-नीले अवयव हैं' ऐसी प्रतीति होगी, किन्तु 'यह वस्त्र चित्र (एक) रूपवाला है' ऐसी प्रतीति कभी नहीं होगी । कारण, वैशेषिक मत में अवयव और अवयवी सर्वथा भिन्न होते हैं, इस स्थिति में अनेक अवयवों में मिल कर अनेक रूप भले हो किन्तु अवयवि में तो अनेकरूप नहीं है । यदि कहिये कि - हम अवयवी में भी अनेकरूप का अंगीकार कर लेंगे - अतः यह वस्त्र चित्र (यानी अनेकरूपवाला) है ऐसी प्रतीति जरूर होगी -- किन्तु तब 'एक चित्ररूपवाला वस्त्र' ऐसी प्रतीति कतई नहीं होगी, क्योंकि अब तो वस्त्र में एक रूप नहीं है अनेक रूप ही हैं । एक वस्त्र (अवयवी) में अनेक रूपों का अंगीकार करने पर 'अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसम्भवात्' इस सूत्र की हानि होगी, क्योंकि इस सूत्र में तो अव्यापक वस्त्रादि द्रव्यों में एक ही (चक्षु आदि) इन्द्रिय से ग्राह्य हो ऐसे शुक्ल-पीतादि अनेक विशेष गुणों के सामानाधिकरण्य का स्पष्ट निषेध प्रतिपादन किया गया

वा ? अव्याप्यवृत्तित्वे 'शेषाणामाश्रयव्यापित्वम्' (प्रशस्त० भाष्य पृ० २४९) इति विरुध्येत । आश्रय-
व्यापित्वेप्येकावयवसहितेप्यवयविन्युपलभ्यमानेऽपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात् सर्वरूपाणा-
माश्रयव्यापित्वात् । अथ शुक्लाद्यनेकाकारं चित्रमेकं तद्रूपं यथा शुक्लादिको रूपविशेषः । कथं तर्ह्यने-
काकारमेकं रूपमविरुद्धं भवेत् चित्रैकरूपाभ्युपगमस्य चित्रतरत्वात् । अथ चित्रैकरूपस्य तस्य प्रत्यक्षेण
प्रतीतेर्न विरोधस्तर्हि सदसद्रूपैकरूपतया कार्य-कारणरूपस्य वस्तुनः प्रतिपत्तौ विरोधः कथं भवेत् ?
न च चित्रपटादावपास्तशुक्लादिविशेषं रूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्याऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् 'चित्ररूपः
पटः' इति प्रतिभासाभावप्रसक्तेः । अथ परस्परविरुद्धानां शुक्लादिरूपाणां चित्रैकरूपानारम्भकत्वात्
शुक्लादीनां रूपाणां समानरूपारम्भकत्वोपलम्भाद् न तत्र चित्रैकरूपोत्पत्तिः । नन्वयमपरो वैशेषिकस्यैव
है । एक वस्त्र में अनेक रूप समावेश मानने पर सूत्र का व्याघात होना स्पष्ट है ।

✽ एक पट में अनेक शुक्लादिरूप कैसे ? ✽

यह भी सोचना होगा - एक वस्त्रादि में यदि श्वेत पीतादि अनेक रूपों का समावेश मानेंगे तो दो विकल्प प्रश्न खड़े होंगे - ^Aश्वेतादि एक एक रूप को व्याप्यवृत्ति मानेंगे या ^Bअव्याप्यवृत्ति मानेंगे ? ^Bयदि अव्याप्यवृत्ति मानेंगे तो प्रशस्तपादभाष्य के इस वाक्य के साथ विरोध होगा - 'शेषाणामाश्रयव्यापित्वम्' (पृ. २४९) - तात्पर्य यह है कि इस भाष्यवाक्य में कहा गया है कि संयोग, विभाग, शब्द और आत्मा के विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति होते हैं और उन से अन्य सभी गुण आश्रयव्यापी यानी व्याप्यवृत्ति होते हैं । इस का फलितार्थ हुआ कि श्वेतादि रूप व्याप्यवृत्ति होते हैं । यदि उन्हें अब अव्याप्यवृत्ति मानेंगे तो स्पष्ट ही उस भाष्यवाक्य के साथ विरोध प्रसक्त होता है ।

^Aएक वस्त्रादि में अनेक रूपों का समावेश यदि आश्रयव्यापक यानी व्याप्यवृत्ति माना जाय तो जहाँ पूरा अवयवी नहीं दिखता, सिर्फ एक ही अवयववाला भाग उस का दिखता है, दूसरे अवयववाला भाग नहीं दिखता - ऐसी स्थिति में भी (वास्तव में तो एक ही रूप का दर्शन होना चाहिये उस के बदले) अनेक रूपों का दर्शन होगा । क्योंकि वे सब आश्रयव्यापक हैं । यदि कहा जाय कि - 'एक वस्त्रादि में एक शुक्लादि रूप की तरह चित्र रूप भी एक ही होता है सिर्फ उस के आकार अनेक होने से वह विविध रूपों वाला दिखता है' - तो ऐसा मानने पर विरोध क्यों नहीं होगा जब कि आप एक चित्र रूप को भी अनेकआकारवाला मान लेते हो ? आप का यह एक चित्ररूप को अनेकाकार मानने का रवैया ही अति आश्चर्यकारक लगता है । (अवयवी तो चित्र है किन्तु आप की मान्यता तो अति चित्र है) । यदि कहा जाय - 'अनेकाकारों में भासमान होता हुआ भी वह चित्ररूप प्रत्यक्ष से ही एकरूपात्मक दिखता है अतः प्रत्यक्षगोचर अर्थ में विरोध को अवकाश ही नहीं रहता ।' - ओह ! तब तो अनेकान्तवाद में जो एक ही कारण या कार्य वस्तु को प्रत्यक्ष के आधार पर एक मानते हुए प्रमाणसिद्ध सत्-असत् आदि अनेकाकारगर्भित मानी जाय तो उस में भी विरोध को कहाँ अवकाश है ?!

यह कहना कि - 'वस्त्रादि द्रव्य का चाक्षुष दर्शन उस में रूपसामान्य की मौजूदगी के बिना हो नहीं सकता, अब उस में यह तो नहीं कह सकते कि वह रूप श्वेत है या पीतादि है, क्योंकि यदि वह श्वेतरूप हो तो सभी दिशा में से देखनेवाले को श्वेत ही दिखना चाहिये, यदि पीत है तो वैसा ही सभी दिशा में से दिखना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं दिखता तो उस का निष्कर्ष यही है - उस वस्त्र में श्वेतादि कोई भी विशेष रूप नहीं है किन्तु रूपसामान्य जरूर है । इस मान्यता में एक में अनेकाकार का विरोधवाला दोष

दोषोऽस्तु असमानजातीयगुणानारम्भवादिनः ।

किञ्च, यदि समानजातीयगुणारम्भकत्वमेव कारणगुणानामित्यभ्युपगमः 'शुक्लात् शुक्लम्' इत्यादि-प्रतीतेः, कथं तर्हि कारणगतशुक्लादिरूपविशेषेभ्यः कार्ये रूपमात्रस्यापास्ततद्विशेषस्योत्पत्तिर्भवेत् तेभ्यस्तस्याऽसमानत्वात् । अथ तद्रूपमात्रेभ्यस्तद्रूपमात्रस्योत्पत्तेर्न दोषः; असदेतत् — शुक्लादि-रूपविशेषव्यतिरेकेण रूपत्वादिसामान्यमपहाय रूपमात्रस्याभावात् सामान्यस्य च नित्यत्वेनाऽजन्य-त्वात् । न च रूपमात्रनिबन्धनः 'चित्ररूपः पटः' इति प्रतिभासो युक्तः, शुक्लादिप्रत्ययस्यापि तन्निबन्धनत्वेन शुक्लादिरूपविशेषस्याप्यभावप्रसक्तेः । न चावयवगतचित्ररूपात् पटे चित्रप्रतिभासः, अवयवेष्वपि तद्रूपाऽसम्भवात् । न चान्यरूपस्यान्यत्र विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वम् पृथिवीगतचित्ररूपाद्

नहीं रहेगा' — ठीक नहीं है, क्योंकि तब 'रूपी वस्त्र' ऐसी ही प्रतीति होगी किन्तु 'वस्त्र चित्ररूपवाला है' ऐसा प्रतिभास कभी नहीं हो सकेगा । जिन लोगों का यह कहना है कि -- 'वस्त्रादि में कोई एक चित्रसंज्ञक रूप का जन्म सम्भव ही नहीं है, क्योंकि श्वेत आदि विविध रूप परस्पर विरोधी होने से, वे सब (अवयवों में) मिल कर एक चित्ररूप उत्पन्न कर नहीं सकते । श्वेतादि एक एक रूप तो सिर्फ अपने समानजातीय एक एक रूप के ही उत्पादक होते हैं यह दृष्टिगोचर होता है । अतः एक चित्र रूप का जन्म असम्भव है' — ऐसा कहनेवालों ने तो वैशेषिक सम्प्रदाय के सिर पर एक ओर दोष मढ़ दिया, क्योंकि इस सम्प्रदाय में असमानजातीय गुणों के जन्म को असम्भव माना गया है । तात्पर्य, श्वेतादि रूपों से (मिल कर) असमानजातीय चित्र एक रूप का जन्म सम्भव न होने पर, वस्त्रादि में जो एक चित्र वर्ण का प्रतिभास होता है वह असंगत बन जायेगा ।

❁ अवयवी में रूपसामान्य की ही उत्पत्ति असंगत ❁

भिन्न भिन्न रूपवाले अवयवों से अवयवी में सिर्फ रूपसामान्य की ही उत्पत्ति माननेवाले पंडितों को यह भी सोचना चाहिये कि यदि श्वेत तन्तु से श्वेत ही वस्त्र के जन्म के आधार पर कारणगत गुणों से समानजातीय गुणों की ही उत्पत्ति होती है ऐसा अगर सिद्धान्त रच लिया जाय तो जब अनेक अवयवों में भिन्न भिन्न श्वेत-पीतादि रूप मौजूद होगा तब उन से उत्पन्न होने वाले अवयवी में भी श्वेत-पीतादि अनेक रूपों का जन्म मानना चाहिये, उस के बदले श्वेत-पीतादि विशेषों से अनाक्रान्त रूपसामान्य का जन्म कैसे हो सकता है ? जब कि श्वेतादिरूप तो रूपसामान्य से विजातीय है । यदि कहें कि — 'श्वेतादिरूपों में रूपसामान्य अन्तर्गत ही है इस लिये रूपसामान्य से गर्भित श्वेतादिरूपों से अवयवी में भी रूपसामान्य का जन्म सम्भव है, इस में कोई दोष नहीं है ।' — तो यह विधान गलत है क्योंकि रूपसामान्य यानी रूपत्व जाति जो कि शुक्लादिविशेषरूप से पृथक् ही है, रूपत्व जाति के अलावा और कोई रूपसामान्य हे नहीं, रूपत्व जाति नित्य होने से अजन्य है अतः उस के जन्म की बात युक्तिविकल है ।

❁ रूपसामान्य से चित्ररूपप्रतीति दुर्घट ❁

किसी प्रकार वस्त्र में रूपसामान्य का सद्भाव हो जाय, फिर भी उस से 'यह चित्र रूपवाला वस्त्र है' ऐसा प्रतिभास होना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि यदि रूपसामान्य से चित्ररूप का प्रतिभास सम्भव माना जाय तो रूपसामान्य से श्वेतादिरूप का भी प्रतिभास मान लिया जा सकता है । फलस्वरूप, श्वेतादि विशेषरूपों का अस्तित्व मानने की जरूरत न होने से वे लुप्त हो जायेंगे । यदि कहा जाय कि — 'अवयवों में रहे हुए चित्ररूप के जरिये अवयवी में चित्ररूप की प्रतीति हो सकती है' — तो यह भी गलत है क्योंकि अवयवों

वायौ चित्ररूपप्रतिपत्तिप्रसक्तेः, भेदश्चावयवाऽवयविनोर्भवदभिप्रायेण, यदि च रूपमात्रमेव तत्र स्यात् 'क्षितौ रूपमनेकप्रकारम्' इति विरुध्यते - अनेकप्रकारं हि शुक्लत्वादिभेदभिन्नमुच्यते रूपमात्रं च शुक्लादिविशेषरहितम् तस्य शुक्लादिविशेषेष्वनन्तर्भावात् कथं न विरोधः ?!

यदपि शुक्लाद्यनेकप्रकाररूपाभ्युपगमे क्षितौ सूत्रविरोधपरिहाराभिधानं किलाऽविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामेकाकाराणामसम्भवः न त्वनेकाकाराणाम्, क्षितौ शुक्लाद्यनेकाकाराणां तेषामुपलम्भात् एकाकाराणामेकत्र बहूनां सद्भावे एकेनैव शुक्लादिप्रतिपत्तेर्जनितत्वाद् अपरतद्वेदकल्पनावयवैथर्यप्रसङ्गान्न तदभ्युपगमः न चैवमनेकाकाराणाम्' इति - तदपि असङ्गतम्, व्याप्याऽव्याप्यवृत्तित्वविकल्पद्वयेऽपि दोषप्रतिपादनात् । अथाऽव्याप्यवृत्तित्वे न विरोधदोषः 'शेषाणामाश्रयव्यापित्वमेव' इत्यवधारणानभ्युपगमात् । नन्वेवं सूक्ष्मविवरप्रविष्टालोकोद्द्योतिताल्पतरपटविभागवृत्तिरूपदेशस्य प्रतिपत्तौ यदि तदाधारस्य पटावयविनः प्रतिपत्तिस्तदा तदाधेयाऽशेषशुक्लादिरूपप्रतिपत्तिरपि भवेत् आधेयप्रति-

में भी पूर्वोक्त रीति से चित्ररूप का होना सम्भव नहीं है । उपरांत एक द्रव्य में रहे हुए रूप से अन्य द्रव्य में रूप के वैशिष्ट्य की प्रतीति का होना युक्तियुक्त भी नहीं है क्योंकि वैसा मानेंगे तो पृथिवीद्रव्य में रहे हुए चित्ररूप के जरिये वायुद्रव्य में चित्ररूप का प्रतिभास होने की आपत्ति होगी । आप के वैशेषिक मत में तो अवयव और अवयवी में सर्वथा (एकान्त से) भेद माना गया है, अतः यदि भिन्न पदार्थ के रूप से अन्य पदार्थ में रूप की प्रतीति मानी जाय तो पृथ्वी के रूप से 'रूपवान् वायुः' ऐसी प्रतीति की विपदा अनिवारित रहेगी । उपरांत, यदि अवयवी में आप रूपसामान्य का ही सद्भाव मानेंगे तो 'पृथ्वी में रूप अनेक प्रकार का होता है' यह कथन विरोधग्रस्त रह जायेगा क्योंकि जो निरवयव परमाणु हैं उन में तो कोई एक ही रूप होता है और अवयवी पृथ्वी में तो सर्वत्र रूपसामान्य ही रहता है, अनेक प्रकार के रूप होने का मतलब है शुक्लत्व-पीतत्व आदि अनेक जाति विशिष्ट भिन्न भिन्न रूप, जब कि रूप सामान्य का मतलब है रूपत्व के अलावा जिस में कोई विशेष (व्याप्य) जाति न रहती हो ऐसा रूप । शुक्लादि विशेष रूपों में तो शुक्लत्वादि विशेषजाति का समावेश रहता है अतः एकाकी रूपत्व जातिवाले रूप का अन्तर्भाव शुक्लादिविशेषों में हो नहीं सकता तब ऐसी स्थिति में पृथ्वी में अनेकप्रकार के रूप का विधान क्यों विरोधग्रस्त नहीं होगा ?

❀ एक द्रव्य में अनेकाकार अनेक रूप प्रतिपादन सदोष ❀

पृथ्वी में अनेक प्रकार के रूप का अंगीकार करने पर जो विरोध प्रसक्त हुआ है उस के परिहार के लिये यह जो कहा गया है कि - "अविभु (= अव्यापक) द्रव्य में समानेन्द्रिय से ग्राह्य अनेक विशेषगुणों के होने का जो निषेध किया है वह सिर्फ एकाकार गुणों के लिये । जब कि अनेकाकार यानी श्वेत-पीतादि समानेन्द्रियग्राह्य गुणों का निषेध नहीं है । पृथ्वी द्रव्य में श्वेत-पीतादि अनेक आकार वाले अनेक गुणों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, जब कि शुक्लादि किसी एक ही आकारवाले अनेक रूपों का एक द्रव्य में सद्भाव मानेंगे तो 'यह श्वेत है' ऐसी बुद्धि तो उन में से किसी एक ही श्वेत रूप से सम्भव होने से, अन्य श्वेतादि समानाकार गुणों की कल्पना बेकार रह जायेगी । अत एव एकाकार समानेन्द्रियग्राह्य अनेक गुणों का निषेध नहीं है । पृथ्वी द्रव्य में श्वेत-पीतादि अनेक आकार वाले अनेक गुणों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, जब कि शुक्लादि किसी एक ही आकारवाले अनेक रूपों का एक द्रव्य में सद्भाव मानेंगे तो 'यह श्वेत है' ऐसी बुद्धि तो उन में से किसी एक ही श्वेत रूप से सम्भव होने से, अन्य श्वेतादि समानाकार गुणों की कल्पना बेकार रह जायेगी । अत एव एकाकार समानेन्द्रियग्राह्य अनेक गुणों का एक द्रव्य में अंगीकार नहीं किया है । अनेकाकार

पत्तिमन्तरेण तदाधारत्वस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः । न चाल्पतराल्यतमरूपाधारत्वव्यतिरिक्तं तस्य तदन्यरूपा-
धारत्वमनेकम्, अनेकस्वभावयोगिनः पटस्याऽनेकत्वप्रसक्तेः, स्वभावभेदलक्षणत्वाद् वस्तुभेदस्यान्यथा
तदयोगात्, तदनेकत्वेऽपि तस्यैकत्वे कथं नानेकाकारमेकं स्यात् ? अथ तत्प्रतिपत्तौ नावयविप्रतिपत्ति-
स्तर्हि निराधारस्य रूपस्य प्रतिपत्तौ गुणरूपता विशीर्येत द्रव्याश्रयादिलक्षणयोगित्वात् तस्य । न च
तद्रूपताऽप्रतिपत्तौ तल्लक्षणयोगिता तस्यावगन्तुं शक्या, प्रमेयव्यवस्थायाः प्रमाणाधीनत्वात् । अणुपरि-
माणयोगित्वे चाल्पतरपटादिरूपस्य परमाणोरिव द्रव्यरूपताप्रसक्तिः, तस्यैव तद्योगित्वात् ।

यानी भिन्नाकार अनेक गुणों को मानने में कोई वैसी विपदा नहीं है – इस लिये उन का अंगीकार किया है ।” – यह प्रतिपादन भी गलत है । कारण बताया ही है कि उन को आप व्याप्यवृत्ति मानेंगे या अव्याप्यवृत्ति – दोनों ही विकल्पों में दोष प्रतिपादन पहले किया जा चुका है । यदि अव्याप्यवृत्ति मानेंगे तो ‘शेष गुण आश्रयव्यापी होते हैं’ इस भाष्य-कथन से विरोध होता है । यदि व्याप्यवृत्ति माने तो द्रव्य के किसी एक भाग में भी बहु रूप उपलब्ध होने की विपदा है ।

✽ एकान्तवाद में भाष्यकथनविरोधपरिहार अशक्य ✽

यदि यह कहा जाय – अव्याप्यवृत्ति अनेक गुण मानने में कोई भाष्यकथनविरोध नहीं है क्योंकि ‘बाकी सब आश्रयव्यापी ही होते हैं’ ऐसा ‘ही’ गर्भित अवधारण यहाँ नहीं मानते हैं । अतः उन में से कोई अव्याप्यवृत्ति भी हो सकता है । – तो यहाँ भी यह विपदा होगी – एक सूक्ष्म छिद्र से आने वाला प्रकाश किसी वस्त्र के कुछ एकखंडभाग पर पडता है तब अनेक असमानाकार अव्याप्यवृत्ति रूपवाले उस वस्त्र के किसी एक उतने भाग में रहे हुए रूपांश का उपलम्भ हो रहा है, इस स्थिति में अगर उस के आधारभूत पूरे वस्त्र अवयवी का दर्शन मानेंगे तो उस अवयवी वस्त्र में रहे हुए आधेयभूत सकल श्वेतादिरूपों की उपलब्धि होने की विपदा खड़ी होगी । कारण, आधेय पदार्थों का ग्रहण हुए बिना ‘उन का यह आधार है’ ऐसा बोध सम्भव नहीं है । यदि कहें कि – ‘तत्तद्रूपाधारता रूपभेद से पृथक् पृथक् है अतः सकल श्वेतादि की उपलब्धि के विरह में भी तत्तद्रूपाधारता का ग्रहण हो सकता है’ – तो यह व्यर्थ है क्योंकि तत्तद्रूपाधारता या तो अत्यल्प रूपाधारतारूप है या अल्पात्यल्परूपाधारता रूप है किन्तु उस से अन्य पृथक् पृथक् नहीं है । यदि पृथक् पृथक् अनेक आधारता मानेंगे तो अनेक स्वभावों के योग से पट में भी बहुत्व प्रसक्त होगा क्योंकि स्वभावभेद ही वस्तुभेद का लक्षण है । यदि इस बात को नहीं मानेंगे तो एक ही वस्त्रादि में अनेक स्वभाव होने पर भी वस्तुभेद न होने से, अनेक स्वभाव होने पर भी एकत्व सुरक्षित रहेगा तो एक वस्तु अनेकाकार मान लेना पड़ेगा – यह एकान्तवाद में कैसे जमेगा ?

यदि ऐसा कहा जाय – ‘रूपादि आधेय का ग्रहण होने पर भी उस का आधार अगृहीत रहता है इस लिये आधारता के एकत्व या भेद से होने वाली किसी भी विपदा को अवकाश नहीं है’ – तो निराधार रूपग्रहण फलित होने से रूपादि के गुणत्व का भंग होगा, क्योंकि गुण का ग्रहण आश्रय के साथ ही शक्य होता है । गुण के लक्षण में ही द्रव्याश्रयत्व शामिल है, अतः द्रव्यस्वरूपाश्रयात्मक आधार के ग्रहण के विना अगर रूप गृहीत होगा तो उस को ‘गुण’ कौन कहेगा ? जब तक गुण का द्रव्याश्रयत्वात्मक स्वरूप अगृहीत रहेगा तब तक अपने लक्षण से अनुविद्ध रूप में उस का अवधारण शक्य नहीं है । हर जगह प्रमेयों की व्यवस्था प्रमाणों के आधार पर ही की जाती है, प्रमाण के विना यानी गुण के लक्षण का ग्रहण हुए विना गुणात्मक प्रमेय की व्यवस्था अशक्य है । दूसरी विपदा यह है कि जब अत्यल्पपरिमाणवाले पट का रूप भी यदि अणु यानी

अत एव 'एकावयवसहितस्य पटस्योपलम्भात् एकरूपोपलम्भेऽपि आश्रयाऽव्यापितया शेष-
रूपाणामनुपलम्भाच्चित्रप्रतिभासाभावः' इति यदुक्तम् तदपि निरस्तम्, एकरूपोपाध्युपकारकशक्त्यभिन्नस्य
पटद्रव्यस्य निश्चयात्मनाध्यक्षेण ग्रहणेऽशेषरूपोपाध्युपकारकशक्त्यभिन्नात्मनस्तस्यैकरूपतया ग्रहणालुप-
कार्यग्रहणमन्तरेण उपकारकत्वग्रहणस्याऽसम्भवात् शक्तीनां ततो भेदे सम्बन्धाऽसिद्धेरपरोपकारक-
शक्तिप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः कथं नाशेषोपकार्यरूपप्रतिभासाच्चित्रप्रतिभासप्रसक्तिः ? एतेन 'तन्तूनां
नीलाद्यनेकरूपसम्बन्धित्वात् पटेऽप्यनेकरूपारम्भकत्वे न किञ्चिद् बाधकं प्रमाणं कारणगुणपूर्व-क्रमेण
तथाविधस्य रूपस्योत्पादात्' इत्यपि प्रत्युक्तम् एकावयवप्रतिभासे चित्रप्रतिभासोत्पत्तिप्रसङ्गस्यैव
बाधकत्वात् । यदपि 'भवतु वा एकं पटे चित्रं रूपम् नीलादिरूपैरेकरूपारम्भात् यथा हि शुक्लादिर्विशेषो
रूपस्य तथा चित्रमपि रूपविशेष एव चित्रशब्दवाच्यः' इति तदपि असंगतमेव, अनेकाकारस्यैकत्वे

लघुपरिमाणवाला मान लिया जायेगा तो परमाणु की तरह वह भी सपरिमाण हो जाने से द्रव्यात्मक प्रसक्त
होगा, क्योंकि द्रव्य ही सपरिमाण होता है न कि रूपादि गुण ।

✽ एक रूप के उपलम्भ में चित्रप्रतीति क्यों नहीं ? ✽

यह जो किसी का कहना है कि - 'चित्र वस्त्र में अनेक अव्याप्यवृत्तिरूप होते हैं । जब एक विभाग
के साथ साथ अवयवी वस्त्र का प्रत्यक्ष होता है तब किसी एक रूप का दर्शन होता है, अन्य रूपों का दर्शन
नहीं होता, इस लिये वहाँ चित्रप्रतिभास नहीं होता ।' - यह भी पूर्वोक्त विवेचन से निरस्त हो जाता है ।
जैसे पहले आधेय-आधार का मुद्दा लेकर बात कही गयी है वैसे यहाँ उपकार्य-उपकारक भाव को मुद्दा बना
कर यह कहना होगा - रूप उपाधि है और अवयवी उपधेय है, उपधेय उपकारक है और उपाधि उपकार्य
है, उपधेय में किसी एक रूपात्मक उपाधि के ऊपर उपकार करने की जो शक्ति होती है वही उस उपधेय
(अवयवी) अन्तर्गत अन्य सभी रूपों के लिये भी अभिन्न ही होती है । वह शक्ति भी उपकारक अवयवी से
अभिन्न ही होती है । इस स्थिति में जब एक रूप के साथ साथ स्वोपकारक शक्ति से अभिन्न पटद्रव्य का
निश्चयात्मक प्रत्यक्ष से ग्रहण होगा तब अन्य सर्वरूपों की उपकारक शक्ति से अभिन्न पटद्रव्य का ग्रहण होने
से तदन्तर्गत सकल रूपों का भी ग्रहण अवश्य होना चाहिये, क्योंकि उपकारक की प्रतीति उपकार्य प्रतीति की
अविनाभाविनी होती है । अतः अवयवगत अनेक असमान अव्याप्यवृत्ति रूपों में से किसी एक का भी ग्रहण
होने पर सभी का ग्रहण होने से पुनः चित्रप्रतिभास होने की विपदा प्रसक्त है ।

✽ एक अवयव के उपलम्भ में चित्रप्रतीतिप्रसंग तदवस्थ ✽

उपरोक्त विवेचन के आधार पर ही, यह भी कथन निरस्त हो जाता है कि - 'नील-पीतादि अनेक रूपवाला
विभिन्न तन्तुसमुदाय अपने वस्त्रस्वरूप अवयवी में भी अनेक नील-पीतादि रूपों को जन्म दे सकता है । इस
तथ्य को बाधा पहुँचानेवाला कोई प्रमाण मौजूद नहीं है, क्योंकि कार्यद्रव्य में कारणगुण-अनुरूप कार्यगुणों का,
प्रस्तुत में अनेकविध रूप का जन्म हो सकता है ।' - निरस्त इस लिये है कि यहाँ पर भी पूर्ववत् एक
अवयव का दर्शन होने पर चित्र-प्रतिभास होने का अतिप्रसंग ही बाधक है । तदुपरांत जो किसी का यह कहना
है कि - 'वस्त्र अवयवी में अनेक रूप न मान कर एक ही चित्ररूप का स्वीकार उचित है । अवयवों के
नील-पीतादिरूपों से मिल कर एक ही रूप का जन्म होता है । श्वेत-पीतादि जैसे रूप के अवान्तर विशेष
है वैसे ही चित्र भी रूप का ही अवान्तर विशेष है और उस के लिये 'चित्र' शब्द का प्रयोग किया जाता
है ।' - यह कथन भी असंगत ही है क्योंकि चित्ररूप नील-पीतादि अनेकाकारवाला तो दीखता ही है, जब

चित्रैकशब्दवाच्यत्वे वाऽभ्युपगम्यमाने सदसदनेकाकारानुगतस्यैकस्य कारणादिशब्दवाच्यत्वेनाऽभ्युपगमाऽविरोधात् ।

यथा च बहूनां तन्त्वादिगतनीलादिरूपाणां पटगतैकचित्ररूपारम्भकत्वं दृष्टत्वादविरुद्धं तथाऽ-नेकाकारस्यैकरूपत्वं वस्तुनो दृष्टत्वादेवाऽविरुद्धमभ्युपगन्तव्यम् अत एवैकानेकरूपत्वात् चित्ररूपस्यै-कावयवसहितेऽवयविन्युपलभ्यमाने शेषावयवावरणे चित्रप्रतिभासाभाव उपपत्तिमान् । सर्वथा त्वेकरूपत्वे तत्रापि चित्रप्रतिभासः स्यात् अवयविव्याप्त्या तद्रूपस्य वृत्तेः । न चावयवनानारूपोपलम्भसहकारीन्द्रिय-मवयविनि चित्रप्रतिभासं जनयतीति तत्र सहकार्यभावात् चित्रप्रतिभासानुत्पत्तिरिति वाच्यम्, अवयवि-नोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् । न हि चाक्षुषप्रतिपत्त्याऽगृह्यमाणरूपस्यावयविनो वायोरिव ग्रहणं दृष्टम् । न च चित्ररूपव्यतिरेकेणाऽपरं तत्र रूपमात्रमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्त्या पटग्रहणं भवेत् । न चावयवरूपो-

अनेकाकार वाली एक वस्तु का और उस के लिये 'चित्र' शब्द प्रयोग का स्वीकार कर सकते हैं; तब सत्-असत् अनेकाकार से अनुगत ऐसी एक वस्तु का और उस के लिये 'कारण' आदि शब्दों के प्रयोग का स्वीकार करने में क्या विरोध है ?!

❀ चित्ररूप एकानेकाकार मानने पर संगति ❀

निर्बाध दृष्टिगोचर होने के आधार पर ही जब तन्तु आदि अवयवों में रहे हुए नील-पीतादि रूपों में (अनेकता होने पर भी) एक-चित्ररूपजनकता को मान्य किया जाता है वैसे ही निर्बाध दृष्टिगोचर होने के आधार पर अनेकाकारवाली वस्तु में एकात्मकता होने में कोई विरोध नहीं है यह मान लेना चाहिये । चित्ररूप को एक-अनेकस्वरूप मानने पर यह लाभ है कि एक ही अवयव के साथ जब (चित्ररूपवाला) अवयवी दृष्टिगोचर होता है तब शेष अवयव दृष्टिविमुख रहने के कारण चित्रप्रतिभास का न होना यह संगत होता है । वहाँ अनेकाकार होने पर भी एकरूपवैशिष्ट्य ही अनुभूत होता है इस लिये उसे एकात्मक भी मानना चाहिये । किन्तु यदि तद्गत चित्र रूप को सर्वथा एकात्मक (एवं पूर्ण अवयविव्याप्त) ही माना जाय तो अवयवी उपलब्ध होने पर चित्र रूप भी दृष्टिगोचर होना चाहिये क्योंकि वह चित्ररूप पूरे अवयवी में व्याप्त हो कर रहने वाला है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि - चित्र रूप विशिष्ट अवयवी को देख कर एक चित्रप्रतिभास अनुभव होने में चक्षु इन्द्रिय के साथ साथ उस का सहकारी भी होना चाहिये - वह सहकारी है विविध अवयवों का एवं उन के भीतर रहे हुए रूपों का दर्शन । प्रस्तुत में जहाँ एक ही अवयव के साथ अवयवी दिखाई देता है, वहाँ उक्त सहकारी न होने से ही चित्र प्रतिभास का जन्म नहीं होता । अतः चित्ररूप को एकानेक मानने की आवश्यकता नहीं रहती । - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा समाधान करने पर तो चित्ररूप का तो क्या, अवयवी के दर्शन का भी जन्म नहीं हो पायेगा, क्योंकि जिस अवयवी के रूप का चाक्षुष प्रतीति से ग्रहण नहीं होता उस अवयवी का दर्शन अशक्य है । जैसे रूप का चाक्षुष न होने पर वायु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता । आप के मत में, वहाँ चित्र एक रूप को छोड़ कर अन्य तो कोई रूप है ही नहीं कि जिस के ग्रहण से अवयवी वस्त्र का ग्रहण हो सके । "अवयव के रूप का उपलम्भ वहाँ अवयवी के रूप के ग्रहण में सहकारी है" ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने पर तो अवयव भी स्वयं अवयवी-आत्मक होने से उस के रूप के उपलम्भ में उस के अवयवों के रूपोपलम्भ की, उन अवयवों के रूप के उपलम्भ में उन के भी छोटे अवयवों के रूप के उपलम्भ की... आवश्यकता हो जाने से कभी भी किसी भी द्रव्य के उपलम्भ का सम्भव ही नहीं रहेगा, क्योंकि इस तरह पूर्व-पूर्व अवयवों में जब द्व्यणुक तक पहुँचेंगे तो द्व्यणुक के रूप

पलम्भोऽवयविरूपप्रतिपत्तावक्षसहकारी, तद्भावे वा तदवयवरूपोपलम्भोऽपि स्वावयवरूपोपलम्भाक्षसहकारी इति तमन्तरेण स न स्याद् — इति पूर्वपूर्वावयवरूपोपलम्भापेक्षया परमाणुरूपोपलम्भाभावात् तज्जन्य-द्व्यणुकाद्यवयविरूपोपलम्भाऽसम्भवात् न क्वचिदपि रूपोपलब्धिः स्यात् । तदभावे च नावयव्युपलब्धिरिति तदाश्रितपदार्थानामप्युपलम्भाभावात् सर्वप्रतिभासाभावः स्यात् । तत एकानेकस्वभावं चित्रपटवद् वस्तु अभ्युपगन्तव्यं वैशेषिकेण ।

बौद्धेनापि चित्रपटप्रतिभासस्यैकानेकरूपतामभ्युपगच्छता एकानेकरूपं वस्त्वभ्युपगतमेव । अथ प्रतिभासोऽपि एकानेकरूपो नाभ्युपगम्यते — तर्हि सर्वथा प्रतिभासाभावः स्यात् इति असकृदावेदितम् । तत एकान्ततोऽसति कार्ये न कारणव्यापारस्तेनाभ्युपगन्तव्यः असति तत्र तदभावात् । नापि सति, मृत्पिण्डे तस्य तमन्तरेणापि ततः प्रागेव निष्पन्नत्वात् । न च मृत्पिण्डे कारकव्यापारः पृथुबुध्नोदराद्या-कारस्तत्फलम् अन्यत्र व्यापारेऽन्यत्र फलाऽसम्भवात् स एव मृत्पिण्डः कारकव्यापारात् पृथुबुध्नोद-के दर्शन के लिये परमाणु स्वरूप अवयव के चाक्षुष दर्शनरूप सहकारी की आवश्यकता खड़ी होगी और वह असम्भव है । फलतः रूप की उपलब्धि लुप्त हो जाने से अवयवी का दर्शन भी लुप्त हो जायेगा और अवयवी स्वरूप आश्रय अनुपलब्ध रहने पर उस के आश्रित संस्थानादि का भी उपलम्भ न होने से सर्वथा दर्शनशून्यता प्रसक्त होगी । निष्कर्ष — चित्र पट का रूप जैसे एक-अनेक स्वभाव से अलंकृत मानना होगा वैसे ही वैशेषिक को वस्तुमात्र एकानेकस्वभावालंकृत मानना पड़ेगा ।

✽ बौद्धमत में चित्रप्रतिभास एकानेकस्वरूप ✽

वैशेषिकों की तरह बौद्धमतवाले भी वस्तु को (मजबूरी से भी) एक-अनेकस्वरूप मानते ही हैं, क्योंकि वे भी (चित्रवस्त्र नहीं किन्तु) चित्रवस्त्रप्रतीति को एक-अनेकात्मक स्वीकार करते हैं ।

यदि बौद्ध कहेगा कि — हम प्रतीति को एक-अनेक स्वरूप नहीं स्वीकार करते । — तो किसी भी तरह उन के मत में एक चित्रानुभवसंगति न बैठने से चित्रानुभवप्रतीति का सर्वथा विलोप हो जायेगा—यह कई बार पहले कह दिया है । चित्ररूप का अनुभव तो एक वस्तुरूप है फिर भी उस में नीलानुभवांश, पीतानुभवांश, श्वेतानुभवांश ऐसे अनेकता का स्पष्ट प्रतिभास होता है अतः बौद्धों को भी उस की एकानेकरूपता का स्वीकार अनिवार्य है ।

इस चर्चा का सार यही है कि — ‘एकान्त असत्’ कार्यों को जन्म देने के लिये कारणकलाप सक्रिय होता है ऐसा बौद्धों को नहीं मानना चाहिये क्योंकि जो एकान्त असत् है उस को उत्पन्न करने के लिये जैसे कि खरगोशसींग का उत्पाद करने के लिये कभी कोई कारणकलाप सक्रिय बनता नहीं है । तथा, कार्य को उत्पत्ति के पहले ‘एकान्त सत्’ मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि मिट्टीपिण्ड में कारणप्रयोग के पहले से ही घडा तो पूर्व उत्पन्न ही है । यदि ऐसा कहा जाय कि — ‘मिट्टी के पिण्ड के ऊपर जब कारणसमूह अपना व्यापार करने लगते हैं तब जो भीतर से शुषिर चौड़ा गोल आकार निष्पन्न होता है यही उस का फल है, अर्थात् कारणव्यापार निरर्थक नहीं है’ — तो यह ठीक नहीं — क्योंकि कारणव्यापार तो मिट्टीपिण्ड से सम्बद्ध है जब कि वैसा गोलाकार तो कार्यात्मक घट के साथ सम्बद्ध है, अन्य स्थान में कुछ प्रयत्न होने पर दूसरे स्थान में फल का उदय हो ऐसा हो नहीं सकता, अन्यथा तन्तुओं के ऊपर कारणव्यापार होने पर यहाँ घट में वैसे गोलाकार फल की निष्पत्ति की विपदा होगी । यदि कहा जाय — ‘मिट्टीपिण्ड और शुषिरवाला गोलाकार (फल) यह कोई भिन्न भिन्न नहीं है, वही मिट्टीपिण्ड कारणसमूह के व्यापार से शुषिरगोलाकार में परिणत हो जाता है और तब उसी को ‘घडा’ कहा जाता

राद्याकारतां प्रतिपद्यते इति कारकव्यापारफलयोरैक्यविषयत्वेऽनेकान्तवादसिद्धिः । तस्माद् द्रव्यास्ति-
कपर्यायास्तिकाभ्यां केवलाभ्यां सहिताभ्यामन्योन्यनिरपेक्षाभ्यां व्यवस्थापितं वस्त्वसत्यमिति तत्प्रतिपादकं
शास्त्रं सर्वं मिथ्येति व्यवस्थितम् ॥५०॥

अमुमेवार्थमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां दृढीकर्तुमाह -

ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति ।

जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि न पूरंति पाडिकं ॥५१॥

तौ = द्रव्य-पर्यायास्तिकनयौ भजनया = परस्परस्वभावाऽविनाभूततया उपनीतौ = सदसद्रूपै-
कान्तव्यवच्छेदेन तदात्मकैककार्यकारणादिवस्तुप्रतिपादकत्वेनोपयोजितौ यदा भवतस्तदा सम्यग्दर्शनमनुत्तरं
= नास्ति अस्मादन्यदुत्तरं प्रधानं यस्मिंस्तत् तथाभूतं भवतः परस्परविनिर्भागवर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैक-
वस्तुतत्त्वविषयरुच्यात्मकाऽबाधिताऽवबोधस्वभावत्वात् । यदा त्वन्योन्यनिरपेक्षद्रव्य-पर्यायप्रतिपाद-

है । तात्पर्य, जहाँ कारकव्यापार है वहाँ ही गोलाकार (घडा) फल भी निष्पन्न होता है, इस तरह कारकव्यापार
और फल समानविषयक ही हैं । - ओह ! तब तो अनायास ही अनेकान्तवाद सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अब
तो मानना पडेगा कि कारकव्यापार के पहले घडा मिट्टीपिण्ड के रूप में सत् था किन्तु घडा के गोलाकार के रूप
में असत् था, अब कारणव्यापार के बाद वह घडा के रूप में उत्पन्न हुआ । अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व कार्य
कथंचित् सत् और कथंचित् असत् होता है यह सिद्ध हो जाता है ।

निष्कर्ष - पृथक् पृथक् स्वतन्त्ररूप से द्रव्यास्तिक या पर्यायास्तिक नय से प्रतिपादित वस्तु सत्य नहीं
हो सकती । तथा दोनों नय को मिला कर किन्तु फिर भी परस्पर सर्वथा निरपेक्ष दोनों नयों से जो वस्तु
प्रतिपादित की जाय उसे भी सत्य नहीं मान सकते, क्योंकि परस्पर निरपेक्ष चाहे मिले या नहीं मिले कुछ
भी फर्क नहीं पडता । अतः ऐसी असत्य वस्तु का प्रतिपादक वैशेषिक या बौद्धों का शास्त्र भी सब मिथ्या
है यह निष्कर्ष फलित होता है ॥५०॥

‘परस्पर निरपेक्ष दो नय मिथ्या होते हैं’ इसी तथ्य का अन्वय-व्यतिरेक से पुष्टि करने के लिये ५१ वीं
गाथा में ग्रन्थकार कहते हैं -

गाथार्थ :- द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक ये दो नय भजना यानी सापेक्ष भाव से मिलाये जाय तो वह मिलन
बेजोड सम्यग्दर्शनात्मक हो जायेंगे । किन्तु वे परस्पर निरपेक्ष एक एक मिलकर भी संसारदुःख से छुटकारा
नहीं दे सकते ॥५१॥

✽ निरपेक्ष दो नयों में मिथ्यात्व, सापेक्ष में सम्यक्त्व ✽

व्याख्यार्थ :- मूल सूत्र में ‘ते’ का अर्थ है द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिक नय । ये दोनों नय जब भजना
से उपनीत होते हैं - अर्थात् परस्पर स्वभाव से अविनाभावि हो कर (यानी अन्योन्यावलम्बी हो कर) एकान्त
सत् या एकान्त असत् का तिरस्कार कर के सदसत् उभयात्मक एक कार्य या एक कारण आदि वस्तु का प्रतिपादन
करने के लिये उपयोजित - प्रवृत्त होते हैं, तब जिस के मुकाबले में दूसरा कोई है नहीं ऐसे अनुत्तर सम्यग्
दर्शनात्मक यानी सही वस्तुदर्शनात्मक बन जाते हैं । कारण, वह वस्तुदर्शन निर्बाध अवबोध स्वरूप होता है
और परस्पर अपृथक् रहने वाले द्रव्य-पर्यायात्मक एक वस्तुतत्त्व का पक्षपात रखनेवाली रुचिस्वरूप होता है ।
जब वे दोनों द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकनय परस्पर निरपेक्ष (स्वतन्त्र) द्रव्य या पर्याय का प्रतिपादन करने के लिये

कत्वेनोपनीतौ भवतो न तदा सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते यस्मात् संसारभाविजन्मादिदुःखविमोक्षमात्यन्तिकं विश्लेषं द्वावपि तौ प्रत्येकं न विधत्तः, मिथ्याज्ञानात् सम्यक्क्रियाऽनङ्गतयाऽऽत्यन्तिकभवोपद्रवान्निवृत्त्यसिद्धेः तद्विपर्ययकारणत्वात् — तच्चाऽसकृत् प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनः प्रतन्यते । ततः कारणात् कार्यं कथंचिदन्यत् कथंचिदनन्यद्, अत एव तदतद्रूपतया 'सच्च असच्च' इति ॥५१॥

अमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेण उपदर्शयन्नाह —

नत्थि पुढ्वीविसिद्धो 'घडो'त्ति जं तेण जुज्जइ अण्णो ।

जं पुण 'घडो'त्ति पुव्वं ण आसि पुढ्वी तओ अण्णो ॥५२॥

नास्ति सदद्रव्यमृत्पृथिवीत्वादिभ्यो विश्लिष्टो = भिन्नो घटः सदादिव्यतिरिक्तस्वभावतया तस्याऽनु-पलम्भात् । किञ्च, यदि सत्त्वादयो धर्मा घटादेकान्ततो भिन्नाः सोऽपि वा तेभ्यो भिन्नः स्यात् तदा न घटस्य सदादित्वं स्यात् स्वतोऽसदादेरन्यधर्मयोगेऽपि शशशृंगादेरिव तत्तत्त्वा(तथात्वा)ऽयोगात् । सदादेरपि घटाद्याकारादत्यन्तभेदे निराकारतयाऽत्यन्ताभावस्येवोपलम्भविषयत्वाऽयोगाद् ज्ञेयत्व-प्रमेयत्वादिधर्माणामपि सदादिधर्मेभ्यो भेदेऽसत्त्वम् सदादेस्तु तेभ्यो भेदेऽज्ञेयत्वादसत्त्वमेव 'उपलम्भः

उपनीत यानी सज्ज होते हैं तब सम्यक्त्व यानी व्यावहारिकप्रामाण्य को प्राप्त नहीं कर सकते । सबब यह है कि परस्पर निरपेक्ष नययुगल में से कोई भी एक नय, भव में होनेवाले जन्मादि दुःखो का सम्पूर्ण वियोग कराने में समर्थ नहीं होते । कारण, निरपेक्ष एक नय से अर्जित ज्ञान मिथ्या होता है, वह सम्यक् मुक्तिसाधक क्रिया का अंग न बन सकने से संसारात्मक प्रचंड उपद्रव से सर्वथा निवृत्ति कराने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि वह तो उलटा संसारनिवृत्ति के बदले संसारपरिभ्रमण का ही हेतु बनता है । कई बार यह मिथ्याज्ञान के असामर्थ्य की बात कही जा चुकी है अतः फिर से नहीं दुहराते । इस का फलितार्थ यह है कि कार्य अपने (उपादान) कारण से कथंचित कारणात्मक-कारणानात्मक स्वरूप होने से उत्पत्ति के पहले वह कथंचित् सत् भी होता है और असत् भी ॥५१॥

✽ घट-पृथ्वी के दृष्टान्त से भेदाभेदसमर्थन ✽

उपसंहार करते हुए ५२ वीं गाथा में कारण-कार्य के अभेद सिद्धान्त का दृष्टान्त से समर्थन कर रहे हैं -
गाथार्थ :- घडा पृथ्वी (मिट्टी) से विशिष्ट यानी भिन्न नहीं है इस लिये अनन्य कहना युक्त है । किन्तु 'घट' के आकार में वह उत्पत्ति के पूर्व नहीं था, इस लिये पृथ्वी से भिन्न है ।

व्याख्यार्थ :- मूल गाथा में 'पृथ्वी' शब्द है, उपलक्षण से यहाँ सत्, द्रव्य, मिट्टी ये सब याद करना है । घडा कोई 'सत्' से या द्रव्य से अथवा मिट्टी यानी पृथ्वी से विश्लेष रखने वाला यानी जुदाई रखनेवाला नहीं है । कारण, 'सत्' या द्रव्यादि से पृथक् स्वभाव में उस का उपलम्भ नहीं होता । तात्पर्य यह है कि जब जब घट का उपलम्भ होता है तब उस के साथ साथ सत् का, मिट्टीद्रव्य का अथवा पृथ्वी तत्त्व का उपलम्भ सहज हो जाता है ।

यह सोचा जा सकता है कि सत्त्व-द्रव्यत्व आदि गुणधर्म यदि घडा से सर्वथा भिन्न होंगे, अथवा घडा उन गुणधर्मों से यदि सर्वथा भिन्न होगा तो कितने भी उपाय से घडा सत् अथवा द्रव्यात्मक हो नहीं पाता, क्योंकि जो स्वयं असत् है उस को भिन्न धर्मों का योग कराने पर भी सत् या द्रव्यादिस्वरूप नहीं हो सकता जैसे खरगोशसींग । कितना भी उपाय करो, खरगोशसींग कभी भी सत् या द्रव्यात्मक स्वरूप धारण नहीं कर

सत्ता' () इति वचनात् । ततः सदादिरूपतया उपलभ्यमानत्वाद् घटस्य तेभ्योऽभिन्नरूपताऽभ्युपगन्तव्या प्रमेयव्यवस्थितेः प्रमाणनिबन्धनत्वात् ।

यत् पुनः पृथुबुध्नोदराद्याकारतया पूर्वं सदादिर्न आसीत् ततोऽसौ अन्यस्तेभ्यो घटरूपतया प्राक् सदादेरनुपलम्भात्, प्रागपि तद्रूपस्य सदादौ सत्त्वेऽनुपलम्भाऽयोगात्, दृश्यानुपलम्भस्य चाऽभावाऽव्यभिचारित्वात्, तदतद्रूपतायाश्च विरोधाभावात् प्रतीयमानायां तदयोगात्, अबाधितप्रत्ययस्य च मिथ्यात्वाऽसम्भवाद्, बाधाविरहस्य च प्रागेवोपपादितत्वात् ॥५२॥

सदाद्येकान्तवादवत् कालाद्येकान्तवादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह —

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।

मिच्छत्तं ते चेव समासओ होंति सम्मत्तं ॥५३॥

पायेगा । दूसरी ओर, सत्-द्रव्यादि को यदि घटआदि विशेष आकारों से अत्यन्त भिन्न माना जायेगा तो अत्यन्ताभाव की तरह सर्वथा आकारशून्य होने के कारण उपलम्भ के योग्य भी नहीं रह पायेंगे । तथा, ज्ञेयत्व-विषयत्व प्रमेयत्वादि धर्मों को यदि सत्त्वादि धर्मों से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो ज्ञेयत्वादि धर्म सत्त्वादिधर्मविकल हो जाने से यानी 'सत्' आदि रूप न होने से 'असत्' बन बैठेंगे । दूसरी ओर, सत्त्वादि धर्मों को यदि ज्ञेयत्वादि धर्मों से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो सत्त्वादि धर्म ज्ञेयादिरूप नहीं रहेंगे । और जो ज्ञेय नहीं होंगे वे अन्ततः 'असत्' ही बने रहेंगे, क्योंकि यह मान्य तथ्य है कि 'उपलम्भ ही वस्तु का सत्त्व है;' यानी जिस का उपलम्भ नहीं होता वह असत् होता है ।

इस चर्चा से यह निष्कर्ष ध्यान में आता है कि घटादि पदार्थ सत्त्व-द्रव्यादिस्वरूप से ही उपलब्ध होते हैं अतः इस उपलब्धि प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि सत्त्वादि धर्म से घडा अभिन्न है । आखिर, प्रमेय = पदार्थों की व्यवस्था प्रमाण को ही अधीन होती है । प्रमाण से यही उपलब्ध होता है कि घटादि और सत्त्वादि कथंचित् अभिन्न हैं ।

मूल गाथा के पूर्वार्ध में अभेद का समर्थन करने के बाद अब उत्तरार्ध से भेद का समर्थन करते कहते हैं कि मिट्टी आदि सत्पदार्थ घडा की उत्पत्ति के पूर्वकाल में मध्य में चौडा-शुषिर वृत्ताकारादि स्वरूप से विद्यमान नहीं था इसलिये वह शुषिरवृत्ताकारादि से कथंचित् भिन्न भी मानना चाहिये । कारण, मिट्टी आदि जो सत् पदार्थ है वह घटोत्पत्तिपूर्व काल में घटस्वरूप से (यानी शुषिर-वृत्ताकारादिस्वरूप से) कभी उपलब्ध नहीं होते हैं । यदि सत् या द्रव्यादि में, पूर्वकाल में घटस्वरूप विद्यमान होता तो ऐसा हो नहीं सकता कि उस की उपलब्धि न हो । जहाँ दृश्यस्वभाव होने पर भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती वहाँ अवश्य उस का अभाव होता है । जब वस्तु को तद्रूप और अतद्रूप उभयस्वभाव अंगीकार करते हैं तो किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश नहीं रहता । जब वस्तु में प्रमाणतः तद्रूपता-अतद्रूपता स्पष्ट प्रतीत हो रही है तब वहाँ विरोध का उद्भावन निरवकाश है । तद्रूप-अतद्रूपता की प्रतीति को मिथ्या नहीं बता सकते, क्योंकि वह निर्बाध होती है, निर्बाध प्रतीति में मिथ्यात्व निवास ही नहीं कर सकता । कैसे इस प्रतीति में बाधाभाव है यह पहले विस्तार से कहा जा चुका है ॥५२॥

सत्-द्रव्यादि धर्मों के बारे में एकान्तवाद का स्वीकार मिथ्या है वैसे ही काल-स्वभावादि के पृथक् एकान्त कारणवाद भी मिथ्या है इस तथ्य का निर्देश ५३ वीं गाथा में करते हैं —

गाथार्थ :- एक एक काल-स्वभाव-नियति-भाग्य और पुरुषार्थ को स्वतन्त्र कारण मानने में मिथ्यात्व है,

काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत-पुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम् । त एव समुदिताः परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः ॥

❀ कालैकान्तवादनिरसनम् ❀

तत्र काल एवैकान्तेन जगतः कारणमिति कालवादिनः प्राहुः । तथाहि — सर्वस्य शीतोष्ण-वर्ष-वनस्पति-पुरुषादेर्जगतः प्रभव-स्थिति-विनाशेषु महोपरागयुतियुद्धोदयास्तमयगतिगमनागमनादौ च कालः कारणम् तन्तरेण सर्वस्याऽस्याऽन्यकारणत्वाभिमतभावसद्भावेऽप्यभावात् तत्सद्भावे च भावात् ।

तदुक्तम् - (महाभा० आदिपर्व अ० १ श्लो० २७३-२७५)

कालः पचति भूतानि, काल संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ असदेतत् -- तत्कालसद्भावेऽपि वृष्ट्यादेः कदाचिददर्शनात् । न च तदभवनमपि तद्विशेषकृतमेव, नित्यैकरूपतया तस्य विशेषाभावात् । विशेषे वा तज्जननाऽजननस्वभावतया तस्य नित्यत्वव्यतिक्रमात्

जब कि उन सब को सम्मिलित कारण मानने में सम्यक्त्व है ॥५३॥

तात्पर्यार्थ यह है कि विश्व की समस्त घटनाओं के पीछे एक मात्र काल को ही स्वतन्त्र कारण रूप में बताना - इस में मिथ्यात्व है । तथैव, एक मात्र स्वभाव को, एकमात्र भवितव्यता को, एक मात्र भाग्य को, या एकमात्र पुरुषार्थ को ही क्रमशः स्वतन्त्र कारण मान लेने में भी मिथ्यात्व है । वे सब समुदित हो कर ही हर किसी कार्य के कारण होते हैं, परस्पर एक-दूसरे का त्याग किये विना मिल कर ही वे सम्यक् कारणभाव को धारण करते हैं । निष्कर्ष - इन पाँचों की समुदित सामग्री से ही किसी भी कार्य का उत्पाद हो सकता है ।

❀ काल ही समस्तकार्यों का कारण-एकान्तवाद ❀

यहाँ कालवादियों का मत ऐसा है कि सारे जगत् का एक मात्र कारण काल ही है अन्य कुछ नहीं । स्पष्ट है कि ठंडी-गर्मी-बारिश-पेड़पत्ती अथवा पुरुष-महिला आदि सम्पूर्ण जगत् का सर्जन-विसर्जन अथवा अवस्थान का एक मात्र कारण काल ही होता है । तथा, चन्द्र-सूर्यग्रहण, विविध ग्रहों की युति, राजादि में परस्पर युद्ध, सूर्यादि ग्रहों के नियमित उदय-अस्त, ग्रहों की गति और जड-चेतन के गमन-आगमन आदि विविध घटनाओं का भी एकमात्र कारण काल ही होता है । यदि स्वभाव आदि अन्य तत्त्वों को जगत् का कारण माना जाय और काल को छोड़ दिया जाय तो यह असम्भव है क्योंकि बीज में विशाल वटवृक्ष बनने का स्वभाव आदि अन्य कारणों के रहते हुए भी जब तक २०-२५ वर्ष प्रमाण काल का सहयोग न मिले तब तक कोई भी बीज से वृक्ष नहीं हो सकता । दूसरी ओर काल के प्रभाव से सब कुछ बन आता है । महाभारत में भी व्यास ने यही कहा है कि -

भूतों का परिपाक काल से होता है, प्रजा का संहार भी काल से होता है । जब अन्य सब निष्क्रिय या निष्फल यानी सुषुप्त रहते हैं तब भी एक मात्र काल ही सजाग रहता है । काल का अतिक्रमण करना दुष्कर है ॥

❀ सृष्टि का कारण एक मात्र काल नहीं ❀

कालवादी का यह बयान गलत है । वर्षाक्रतु बारीश का काल होने पर भी कभी कभी वर्षाक्रतु में देखते हैं कि बारीश का एक बुंद भी नहीं गिरता । इस से यह सिद्ध होता है कि काल के अलावा और भी कोई

स्वभावभेदाद् भेदसिद्धेः। न च ग्रहमण्डलादिकृतो वर्षादिविशेषः, तस्यापि अहेतुकतयाऽभावात्। न च काल एव तस्य हेतुः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः — सति कालभेदे वर्षादिभेदहेतोर्ग्रहमण्डलादेर्भेदः तद्भेदाच्च कालभेद इति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। अन्यतः कारणाद् वर्षादिभेदे न काल एव एकः कारणं भवेद् — इत्यभ्युपगमविरोधः। कालस्य च कुतश्चिद् भेदाभ्युपगमे अनित्यत्वमित्युक्तम्। तत्र च प्रभव-स्थिति-विनाशेषु यद्यपरः कालः कारणम्, तदा तत्रापि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्थानाद् न वर्षादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। न चैकस्य कारणत्वं युक्तम् क्रम-यौगपद्याभ्यां तद्विरोधात्। तत्र काल एव एकः कारणं जगतः।

✽ स्वभावैकान्तवादविन्यास-निरसने ✽

अपरे तु — ‘स्वभावत एव भावा जायन्ते’ इति वर्णयन्ति। अत्र यदि A ‘स्वभावकारणा भावाः’ इति तेषामभ्युपगमस्तदा स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोषः। न ह्यनुत्पन्नानां तेषां स्वभावः समस्ति।

कारण वृष्टि का है जिस के न होने से बारीश नहीं होती। यदि ऐसा कहें कि — ‘बारिश का न होना यह भी कुछ तथाविधपरिस्थितिविशिष्ट काल का ही कार्य है। भिन्न भिन्न कालविशेष ही वृष्टि और अवृष्टि का कारण है।’ — ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि काल नित्यएकस्वरूप होता है — उस में कोई विशेष भेद नहीं होता। यदि उस में विशेषभेद मान लेंगे तो उस में वृष्टिजननस्वभाव और वृष्टिनिरोधस्वभाव ऐसे दो विरुद्ध-स्वभाव प्रविष्ट होने से, काल में भी भेद प्रसक्त होगा और उस के नित्यत्व का भंग हो जायेगा।

यदि ऐसा कहें कि — काल के होते हुए भी कभी ग्रहमण्डल (ज्योतिषचक्र) की विशिष्ट स्थिति से वृष्टिपात नहीं होता। मतलब, कार्यहेतु काल ही है और ग्रहमण्डल कार्याभाव का प्रयोजक है। — किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ग्रहमण्डल नित्य होने से एकस्वभाव रहता है, अतः उस में पलटा लाने वाला कोई हेतु न होने से कोई विशेष स्थिति के पलटने से वृष्टि-अभाव का कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उस के अनुकूल-प्रतिकूल स्थितिविशेष में कोई हेतु ही नहीं है। यदि कहें कि ग्रहमण्डल के स्थितिभेद में काल ही हेतु है — तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष-प्रवेश होगा। काल नित्य एक स्वभाव होने से ग्रहमण्डलादि में किसी भेद का प्रयोजक तभी हो सकता है जब काल में ही कुछ भेद सिद्ध हो जाय; जब वर्षादिभेदप्रयोजक ग्रहमण्डलादि में भेद सिद्ध होगा तब कालभेद सिद्ध होगा — इस तरह इतरेतराश्रय दोष स्पष्ट है। यदि वर्षादिभेद में काल से अतिरिक्त किसी ग्रहमण्डलादि को हेतु मानेंगे तो ‘काल ही एक मात्र कारण होता है’ इस सिद्धान्त का विरोध प्रसक्त होगा। तथा, किसी ग्रहमण्डलादि से यदि कालभेद स्वीकार करेंगे तो काल में स्वभावभेद से भेद यानी अनित्यता प्रविष्ट होगी। काल अनित्य होने पर, उस में भी उत्पाद-विनाश और स्थिति को मानना होगा। यदि उस के उत्पाद-विनाश और स्थिति में अन्य काल को कारण बतायेंगे तो वहाँ भी पूर्ववत् वृष्टि आदि भेद के प्रश्नों का आवर्तन होने पर पुनः द्वितीय काल के उत्पादादि के लिये तृतीय-चतुर्थ... ऐसे काल की कल्पना का अन्त नहीं आयेगा। फलस्वरूप, बारीश आदि कार्यो का जन्म ही असम्भव हो जायेगा, क्योंकि जब तक काल के ही उत्पादादि की स्थिर व्यवस्था न हो सके, वर्षा आदि की उत्पत्ति का तो अवसर ही कब आयेगा।

तथा किसी एक ही पदार्थ को कारण मानना विकल्पसंगत नहीं है। यदि एक पदार्थ क्रमशः कार्य करेगा तो स्वभावभेद प्रसक्त होने से एकत्व का भंग होगा। यदि एक पदार्थ एक साथ एक क्षण में सभी कार्य कर डालेगा, तो दूसरे क्षण में निष्क्रिय यानी अर्थक्रियाकारित्व से शून्य हो जाने से ‘असत्’ हो जायेगा, इस प्रकार विरोध प्रसक्त होने के कारण एक मात्र काल को सारे जगत् का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

उत्पन्नानां तु स्वभावसंगतावपि प्राक् स्वभावाऽभावेऽपि उत्पत्तेर्निवृत्तत्वाद् न स्वभावस्तत्र कारणं भवेत् । B अथ 'कारणमन्तरेण भावा भवन्ति स्व-परकारणनिमित्तजन्मनिरपेक्षतया सर्वहेतुनिराशंसस्वभावाः भावाः । तथा चात्र स्वभाववादिभिर्युक्तिः प्रदर्श्यते - यदनुपलभ्यमानसत्ताकं तत् प्रेक्षावतामसद्व्यवहार-विषयः यथा शशशृंगम्, अनुपलभ्यमानसत्ताकं च भावानां कारणमिति स्वभावानुपलब्धिः । न चायम-सिद्धो हेतुः कण्टकादितैक्ष्ण्यादेर्निमित्तभूतस्य कस्यचिदध्यक्षादिनाऽसंवेदनात् । तदुक्तम् -

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥ ()

अथापि स्यात् - भवतु बाह्यानां भावानां कारणानुपलब्धेरहेतुकत्वम् आध्यात्मिकानां तु कुतो निर्हेतुकत्वसिद्धिः ? असदेतत् - यतो यदि नाम दुःखादीनामध्यक्षतो निर्हेतुकत्वमसिद्धं तथापि

✽ एकान्त स्वभावकारणवाद की समीक्षा ✽

स्वभाववादियों का कहना है कि प्रत्येक वस्तु अपने अन्तरंग स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। यहाँ विमर्श करना जरूरी है कि 'स्वभाव से' इस का मतलब क्या है ? A यदि इस का अर्थ यह हो कि स्व यानी अपना, भाव यानी अस्तित्व (सत्ता) - यही कारण हो भावमात्र का तो इस का फलितार्थ यह होगा कि प्रत्येक भाव 'स्वभाव से' यानी अपनी ही सत्ता से, यानी अपने से ही उत्पन्न होता है। ऐसा मानने पर 'स्व वस्तु में क्रियाविरोध' संज्ञक दोष होगा। कोई भी पदार्थ अपनी उत्पत्ति के पहले सत्ताशून्य होने के नाते उस में अपनी उत्पत्ति के लिये किसी भी क्रिया का होना विरुद्ध है। कोई भाव स्वयं स्व को उत्पन्न करने लग जाय यह प्रमाणविरुद्ध है। जब तक वह उत्पन्न नहीं है तब वहाँ 'स्वभाव' (स्व की सत्ता) विद्यमान ही नहीं है। हाँ, उत्पन्न होने के बाद उस में 'स्व-भाव' का होना जचता है, लेकिन स्वभावमात्रकारणवादी को यहाँ यह समस्या होगी कि भाव तो उत्पत्ति के पहले स्वभावात्मक कारण से शून्य होने पर भी उस की उत्पत्ति तो सिद्ध हो गयी, अब पीछे उस में आया हुआ स्वभाव पूर्वकालीन उत्पत्ति का कारण कैसे बनेगा ?!

✽ कोई कारण न होना ऐसा स्वभाव - पूर्वपक्ष ✽

B ऐसा कहा जा सकता है - भाव कभी भी स्वात्मक या परात्मक-कारण या निमित्त के जन्म (यानी सत्ता) का गुलाम नहीं होता। भाव का यही स्वभाव है कि किसी भी हेतु की आशंसा नहीं रखता। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये स्वभाववादी इस तरह युक्तिप्रदर्शन करते हैं - 'जिस की सत्ता उपलब्ध नहीं होती उस का व्यवहार, बुद्धिमान लोग असत् के रूप में करते हैं, जैसे कि खरगोश के सींग का। भावों के कारण की सत्ता भी उपलब्ध नहीं होती, इस लिये उस का व्यवहार भी 'असत्' के रूप में होना उचित है। यहाँ 'असत्' व्यवहार के विषय का स्वभाव है सत्ता, उस की अनुपलब्धि को हेतु किया गया है। हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि कण्टकादि की तीक्ष्णता आदि का कोई भी हेतु कहीं भी किसी को प्रत्यक्षादि से दृष्टिगोचर नहीं होता। कहा है - "किसने कण्टकों में तीक्ष्णता को जन्म दिया ? पशु और पंछीयों में जो अनेक विचित्रताएँ हैं, किसने किया ? यह सब स्वभाव से ही जन्मप्राप्त है ? यहाँ किसी की इच्छा का महत्त्व ही नहीं है, तो प्रयत्न की तो बात ही कहाँ ?"

✽ बाह्य-अभ्यन्तर पदार्थमात्र निर्हेतुक - पूर्वपक्ष ✽

यदि शंका करें कि - बाह्य पदार्थों का तो कोई कारण उपलब्ध न होने से वे निर्हेतुक होंगे, लेकिन

अनुमानतस्तत् तेषां सिद्धमेव। तथाहि — यत् कदाचित्कं तद् निर्हेतुकम् यथा कण्टकादेस्तैक्ष्ण्यम् कदाचित्कं च सुखादिकमिति स्वभावहेतुः। न च यस्य भावाऽभावयोर्नियमेन यस्य भावाभावौ तत्तस्य कारणम्, व्यभिचारात्। तथाहि — स्पर्शसद्भाव एव चक्षुर्विज्ञानम् तदभावे न तत् कदाचित्, न च स्पर्शः तत्कारणम्। तन्नैतत् कारणभावलक्षणम् व्यभिचारित्वात्। अतः सर्वहेतुनिराशंसं जन्म भावनामिति सिद्धम्।

✽ एकान्तस्वभावकारणवादनिरसनम् ✽

असदेतत् — कण्टकादितैक्ष्ण्यादेरपि निर्हेतुकत्वाऽसिद्धेः। तथाहि — अध्यक्षानुपलम्भाभ्या-
मन्वयव्यतिरेकतो बीजादिकं तत्कारणत्वेन निश्चितमेव। यस्य हि यस्मिन् सत्येव (यस्य ?) भावः
यस्य च विकाराद् यस्य विकारः तत् तस्य कारणमुच्यते। उत्सूनादिविशिष्टावस्थाप्राप्तं च बीजं कण्ट-
कादितैक्ष्ण्यादेरन्वयव्यतिरेकात् अध्यक्षानुपलम्भाभ्यां कारणतया निश्चितमिति 'अनुपलम्भमानसत्ताकं च
कारणम्' इत्यसिद्धो हेतुः। यदपि 'कार्यकारणभावलक्षणं व्यभिचारि' इत्युक्तम्, तदपि असिद्धम्
स्पर्शस्यापि रूपहेतुतया चक्षुर्विज्ञाने निमित्ततयेष्टत्वात् तमन्तरेण रूपस्यैव विशिष्टावस्थस्याऽसम्भवात्।

अभ्यन्तर पदार्थ निर्हेतुक है ऐसा कैसे सिद्ध हुआ ? — ऐसी शंका गलत है क्योंकि अभ्यन्तर दुखादि पदार्थों का बाह्य प्रत्यक्ष न होने के कारण उन के निर्हेतुक होने का निर्णय प्रत्यक्ष से यद्यपि न हो सके किन्तु अनुमान से वैसा सिद्ध हो सकता है। देख लो — जो भी अल्पकालीन होता है वह निर्हेतुक होता है जैसे कण्टकों की तीक्ष्णता, सुखादि भी अल्पकालीन ही होते हैं। यहाँ अल्पकालीनतारूप स्वभाव को हेतु किया गया है। यदि 'जिस के होने पर जो अवश्य होता है और न होने पर नहीं होता' वही उस का कारण माना जाय तो वह उचित नहीं है क्योंकि वैसा अन्वय-व्यतिरेक होने पर भी कहीं कारणता नहीं मानी जाती। उदा० स्पर्श के रहते ही वस्तु के रूप का चाक्षुष दर्शन होता है और स्पर्श के न रहने पर वह नहीं होता — इतना होते हुए भी स्पर्श को दर्शन का हेतु नहीं माना जाता। अतः अन्वय-व्यतिरेक कोई कारणता के लक्षण नहीं हैं क्योंकि वे कारणता के अविनाभावी नहीं हैं। आखिर यही सिद्ध होता है कि पदार्थों की उत्पत्ति किसी भी हेतु की आशंसा रखती नहीं है।

✽ कण्टकादि की तीक्ष्णता भी सहेतुक - उत्तरपक्ष ✽

स्वभाववादियों का यह बयान गलत है। कण्टक आदि की तीक्ष्णता आदि निर्हेतुक होती है यह कहाँ सिद्ध है ? प्रत्यक्षावलम्बित अन्वय और अनुपलम्भ पर अवलम्बित व्यतिरेक के बल पर यह सिद्ध होता है कि बीज ही कण्टक की तीक्ष्णता का कारण है। जिस के होने पर जो निश्चित रहता है और जिस के विकार से जिस में विकृति प्रसरती है वह उस का कारण कहा जाता है; 'इस के होने पर यह है' ऐसा अन्वय का प्रत्यक्ष और 'इस के न होने पर भी नहीं है' इस प्रकार व्यतिरेकमुख दृश्यानुपलम्भ कारणता का ग्राहक होता है। तन्तु यदि पुराने होने से दुर्बलता के विकार से ग्रस्त हैं तो उन से उत्पन्न होने वाले वस्त्र में भी दुर्बलतारूप विकृति मौजूद रहती है अतः तन्तु वस्त्र के कारणरूप में सिद्ध होते हैं। इसी तरह प्रस्तुत में, उत्सून यानी कुछ अंकुरित अवस्थाप्राप्त बीजविशेष के रहने पर ही कण्टक में तीक्ष्णता का प्रादुर्भाव होता है यह अन्वय प्रत्यक्षसिद्ध है और तथाविध बीजविशेष के न रहने पर कण्टक में तीक्ष्णता नहीं होती यह व्यतिरेक भी दृश्यानुपलम्भ से सिद्ध है — इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के बल पर कण्टकादि की

न च व्यतिरेकमात्रं कार्यकारणभावनिबन्धनत्वेनाऽभ्युपगम्यते तद्वादिभिः किन्तु तद्विशेष एव । तथाहि — समर्थेषु सत्सु येषु कार्यं भवदुपलब्धम् तेषां मध्येऽन्यतमस्यापि अभावे तद् अभवत् तत्कारणं तद् इति व्यवस्थाप्यते न तु 'यस्याभावे यन्न भवति' इति व्यतिरेकमात्रतः, अन्यथा मातृविवाहोचित-पारशीकदेशप्रभवस्य पिण्डखजूरस्य तद्विवाहाभावेऽभावादव्यभिचारः स्यात् । न चैवंभूतस्य व्यतिरेकस्य स्पर्शनं व्यभिचारः, न हि रूपादिसंनिधानमुपदर्श्य स्पर्शस्यैकस्याभावात् चक्षुर्विज्ञानं न भवतीति शक्यं दर्शयितुमिति कुतो व्यभिचारः कार्यकारणभावलक्षणस्य ?

न केवलं बीजादिः कारणत्वेन भावानां निश्चितः किन्तु देशकालादिरपि । तथाहि — यदि प्रतिनियतदेशकालहेतुता कण्टकादेस्तैक्ष्ण्यादेर्न स्यात् तदा येयमतद्देश-कालपरिहारेण प्रतिनियतदेश-कालता तेषामुपलम्भगोचरचारिणी सा न स्यात्, तन्निरपेक्षत्वात् तद्वदन्यदेशकाला अपि ते भवेयुः, न चैवम् अतः प्रतिनियतदेशादौ वर्तमानास्तदपेक्षास्त इति सिद्धम् । तथा च तत्कार्या अपेक्षालक्षणत्वात् तत्कार्य-

तीक्ष्णता के प्रति बीजविशेष में कारणता निर्विवाद सिद्ध होती है । अतः 'कारण की सत्ता का उपलम्भ नहीं होता' ऐसा हेतु असिद्ध होने से 'असद्'-व्यवहार-गोचरता की सिद्धि दूर है ।

चाक्षुष ज्ञान में स्पर्श की कारणता का स्वागत

यह जो कह आये कि — अन्वय-व्यतिरेक, कार्यकारणभाव के न रहने पर भी स्पर्श और चाक्षुषदर्शन में रह जाने से, व्यभिचारी लक्षण हैं — वह भी असिद्ध है । कारण, हमें तो चाक्षुष ज्ञान के प्रति स्पर्श की कारणता इस प्रकार से मान्य ही है कि वह स्पर्श तथाविध रूप का हेतु होता है जिस से चाक्षुष दर्शन जन्म लेता है । यदि वहाँ स्पर्श न रहेगा तो चाक्षुषदर्शनानुकूल अवस्थावाला रूप भी वहाँ नहीं होता । तथा आप को वह भी जान लेना चाहिये कि वादीयों को सिर्फ व्यतिरेकमूलक ही कार्य-कारणभाव होने का मान्य नहीं है । हाँ, अगर कोई विशिष्ट प्रकार का व्यतिरेक रहा तो कार्य-कारण भाव हो सकता है । देखिये — जिन समर्थ शक्तिशाली चीज-वस्तुओं के रहते हुए कार्य का जन्म देखा हुआ है, उन में से किसी एक के विरह में जब कार्य का जन्म नहीं होता तब वह कारण होने का सिद्ध हो जाता है— ऐसा तो मानते हैं । किन्तु 'जिस के विरह में जो नहीं होता' सिर्फ ऐसे थोथे व्यतिरेकमात्र से कारण नहीं मान लिया जाता । कोई कार्य नहीं होने पर जिस का विरह है उन सभी को यदि कारण मान लिया जाय, तब तो कभी पिण्ड-खजूर के प्रति ऐसे मातृविवाह को भी कारण मान लेना होगा जिसके विरह में कभी पिण्डखजूर का भी विरह हो जाता है । मातृविवाह पारशीयों के देश में होता है । कभी मातृविवाह का अवसर नहीं होता तब पिण्डखजूर भी देखने को नहीं मिलती, इतने मात्र से (व्यतिरेक के बल पर) क्या यह मान लेना उचित है कि पिण्डखजूर के प्रति मातृविवाह कारण है ?

हमने जो कारणतास्थापक व्यतिरेक का स्वरूप बताया है वह स्पर्श के बारे में व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि 'रूपादि का संनिधान होने पर एक मात्र स्पर्श के अभाव में चक्षुर्विज्ञान नहीं हो' ऐसा तो कभी बता नहीं सकते हैं इसलिये स्पर्श और चाक्षुष दर्शन में कार्य-कारणभाव का व्यभिचार कैसे होगा ?

❀ कण्टक और तीक्ष्णता के प्रति देश-कालहेतुतासिद्धि ❀

यह भी जान लेना जरूरी है कि पदार्थों के प्रति सिर्फ बीजादि ही कारण नहीं है, देश-कालादि भी कारण होते हैं । कण्टकादि और उस की तीक्ष्णता में यदि नियत देश-काल को हेतु न मानेंगे, तो नियत

त्वस्य, नियतदेशतया च तेषां वृत्तिरध्यक्षत एव सिद्धेति कथं न तत्कार्यतावगतिः ?

यदपि 'कादाचित्कत्वात्' इति साधनम् तदपि विरुद्धम्, साध्यविपर्ययसाधनादहेतोः कादाचित्कत्वा-
नुपपत्तेः। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः अहेतुकत्वस्य तत्राप्यभावात्। एवमनुपलभ्यमानसत्ताकं भावानां
कारणमिति हेतोरसिद्धता प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यक्षविरोधो व्यवस्थितः।

सिद्धत्वेऽपि चास्य हेतोरनैकान्तिकत्वम्। तथाहि — यद्यनुपलम्भमात्रं हेतुत्वेनोपादीयते तदा प्रमा-
णाभावात् कारणसत्ताभावाऽसिद्धेः कथं नानैकान्तिकता ? तथाहि — कारणं व्यापकं वा निवर्तमानं
कार्यं व्याप्यं वाऽऽदाय निवर्तते। न च प्रमाणमर्थसत्ताया व्यापकं वृक्षत्ववत् शिशपायाः अभिन्नस्यैव
व्यापकत्वात्। न च प्रमाण-प्रमेययोरभेदः भिन्नप्रतिभासविषयत्वात्। नापि प्रमाणं कारणमर्थस्य व्यभि-
चारात्, देशकालादिविप्रकृष्टानां भावानां प्रमाणाऽविषयीकरणेऽपि सत्ताऽविरोधात्। न च यदन्तरेणाऽपि

कण्टक देश और कण्टक की तीक्ष्णतावाले नियतकाल को छोड़ कर अन्य देश-काल में तीक्ष्णता नहीं होती
किन्तु नियत देश-काल में ही वह दृष्टिगोचर होती है यह नहीं घट सकेगा, क्योंकि आप तीक्ष्णता को
नियतदेशकाल से निरपेक्ष ही मानते हैं। अतः देश-काल निरपेक्ष होने पर, कण्टक की तीक्ष्णता जैसे कण्टक
के देश-काल में होती है वैसे कण्टक भिन्न देश-काल में भी होनी चाहिये। किन्तु वैसा तो दृष्टिगोचर नहीं
होता। अतः यह सिद्ध होता है कि नियत देश-काल में उत्पन्न होने वाले कण्टक और उस की तीक्ष्णता
आदि देश-कालसापेक्ष होते हैं। सापेक्ष होने से ही वे देशकालजन्य हैं यह भी फलित हो जाता है, क्योंकि
तत्सापेक्षभाव ही तत्कार्यत्व का लक्षण है। जब कण्टक-तीक्ष्णतादि की प्रवृत्ति नियतदेश में ही दृष्टिगोचर होती
है तो फिर कण्टकादि में नियत देश जन्यता कैसे नहीं होगी ?

पहले निर्हेतुकता की सिद्धि के लिये स्वभाववादी ने जो कादाचित्कत्व को साधनरूप में प्रस्तुत किया
था, वह विरुद्ध है क्योंकि नियतकालता हेतु तो उलटा सहेतुकत्व को सिद्ध करता है, जो हेतुजन्य नहीं होता
वह कभी भी नियतकालीन नहीं होता। और यहाँ जो कण्टकादि की तीक्ष्णता आदि को दृष्टान्त के रूप
में कहा गया है वह साध्यशून्य है, क्योंकि उस में भी निर्हेतुकत्व साध्य कैसे नहीं है वह अभी ही कह
दिया है। निष्कर्ष यह है कि पहले जो स्वभाववादी ने कारण को 'असत्'-व्यवहार-योग्य सिद्ध करने के लिये
कारण की सत्ता की अनुपलब्धि को हेतु किया था वह अब असिद्ध बन जाता है। बीजादि की सत्ता तो
प्रत्यक्षगोचर है ही, अतः प्रतिज्ञा में प्रत्यक्ष विरोध भी सुश्लिष्ट है।

✽ कारण-अनुपलम्भ हेतु अनैकान्तिक ✽

यदि किसी तरह कारण-सत्ता की अनुपलब्धिरूप हेतु को कैसे भी सिद्ध मान लिया जाय, तथापि वहाँ
साध्यद्रोह का दोष तो होगा ही। देख लीजिये- आप कारणसत्ता की अनुपलब्धि से कारणसत्ता के अभाव
को सिद्ध करना चाहते हैं तब विचार का निष्कर्ष यह फलित होगा कि कारणसत्तानुपलब्धि कारणसत्ताशून्यता
की व्यापक न होने से वह कारणसत्ताशून्यता (रूप साध्य) का द्रोह करनेवाली है। अनुपलब्धि हर हमेशा
प्रमाणपंचकअभाव स्वरूप ही होती है। वह कारणसत्ताशून्यता को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है इस लिये
अनैकान्तिक बन जाती है। कैसे ? देखिये — जहाँ कारण अथवा व्यापक कहीं नहीं रहता तब कार्य अथवा
व्याप्य भी वहाँ नहीं रहता — इस को कारण या व्यापक की निवृत्ति से कार्य अथवा व्याप्य की निवृत्ति
कहा जाता है। प्रमाण कोई पदार्थसत्ता का व्यापक नहीं है जिस से कि उस की निवृत्ति से कारणसत्ता की
निवृत्ति मानी जा सके। वृक्षत्व सीसम से अभिन्न होने से व्यापक होता है वैसे जो जिस से अभिन्न हो

यद् भवति तत्तस्य कारणमतिप्रसङ्गात्, कारणत्वाभ्युपगमे स्वाभ्युपगमव्याघातात्। न च प्रमाणात् प्रमेयप्रभवः अपि तु प्रमेयात् प्रमाणस्य, अन्यथा तेन तद्ग्रहणाऽयोगात्। न च प्रमाणमप्रतिबद्धमपि अर्थसत्तानिवर्तकमतिप्रसङ्गात् गोनिवृत्तावश्चनिवृत्तिप्रसक्तेः।

किञ्चानुपलब्धिहेतुत्वेनोपादीयमाना स्वोपलम्भनिवृत्तिरूपा वोपादीयेत, सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिस्वभावा वा ? तत्र न तावद् आद्यः पक्षः, खलबीलाद्यन्तर्गतस्य बीजादेः स्वोपलम्भनिवृत्तावपि सत्ताऽनिवृत्तेर्हेतोरनैकान्तिकत्वात्। अथ द्वितीयः पक्षः सोऽपि न युक्तः हेतोरसिद्धेः। न हि मयूरचन्द्रकादेः सर्वपुरुषैरदुष्टं कारणं नोपलभ्यत इत्यर्वाग्दृशा निश्चेतुं शक्यम्। किञ्च, 'निर्हेतुका भावाः' इत्यत्र हेतुरूपादीयते आहोस्विद् नेति ? यदि नोपादीयते तदा न स्वपक्षसिद्धिः प्रमाणमन्तरेण तस्या अयोगात्। अथ हेतुरूपादीयते तदा स्वाभ्युपगमविरोधः प्रमाणजन्यतया स्वपक्षसिद्धेरभ्युपगमात्। तदुक्तम् —

वही उस का व्यापक हो सकता है। प्रमाण और अर्थसत्तास्वरूप प्रमेय, दोनों का भेदमुखी प्रतिभास होने से उन में भेद सिद्ध है, अभेद नहीं। कारण की निवृत्ति से भी कार्य की निवृत्ति होती है, किन्तु प्रमाण कोई अर्थसत्ता का कारण नहीं है, (कारणसत्ता का तो आप खंडन कर रहे हैं,) कि जिस से प्रमाण की निवृत्ति से अर्थसत्ता (कार्य) की निवृत्ति दिखाई जा सके। बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जो दूर देश में रहे हैं और चिर अतीत या चिर भविष्य काल के पदार्थ काल विप्रकृष्ट हैं वे अपने प्रमाण के विषय नहीं होते, फिर भी वे सत्ता में होने में कोई विरोध नहीं है।

देश-काल विप्रकृष्ट पदार्थों की सत्ता प्रमाण के विना भी हो सकती है। एक पदार्थ जब दूसरे किसी पदार्थ के विरह में भी मौजूद रह जाय तो उस दूसरे पदार्थ को एक पदार्थ का कारण नहीं कह सकते हैं। अन्यथा, धेनु के विरह में अश्व के रह जाने पर भी धेनु को अश्व का कारण मानना होगा। सच तो यह है कि यदि आप प्रमाण को सत्ता का कारण मान लेंगे तब तो अपने निर्हेतुकता के सिद्धान्त पर ही कुठाराघात हो जायेगा। कहीं भी प्रमेय की सत्ता प्रमाणसत्ता को अधीन नहीं होती किन्तु प्रमाण की सत्ता प्रमेय को अधीन होती है। अगर इस से उलटा ही मानेंगे तो प्रमाण (कारण) प्रमेय का ग्राहक ही नहीं रहेगा। अर्थसत्ता के साथ प्रमाण की व्याप्ति (प्रतिबन्ध) है ही नहीं कि जिस से प्रमाण की निवृत्ति से अर्थसत्ता की निवृत्ति कही जा सके। व्याप्ति के विना भी अगर वैसा मानेंगे तब तो धेनु के न रहने पर अश्व की निवृत्ति मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा।

❖ अनुपलब्धि हेतु दोनों विकल्पों में असमर्थ ❖

यह भी स्वभाववादी को सोचना चाहिये कि जिस कारणसत्ता की अनुपलब्धि को आप हेतु कर रहे हैं वह सिर्फ आप को उपलब्धि नहीं हुई इसलिये या फिर किसी को भी उपलब्धि नहीं होती इसलिये ? किसी को कभी घास के ढेर में या बील में छिपी हुई बीजादि वस्तु की उपलब्धि न हो, तो इतने मात्र से वहाँ बीजादि की सत्ता शून्य नहीं हो जाती। अतः आप की अनुपलब्धि अनैकान्तिक होने से कारणसत्ता के अभाव का साधन नहीं कर सकती। द्वितीय पक्ष भी अनुचित है क्योंकि तब अनुपलब्धि हेतु ही स्वरूपतः असिद्ध बन जायेगा। उदा० मोरपीच्छ में जो चन्द्रक होता है उस का कारण हम लोगों को उपलब्ध न हो, उस का यह मतलब नहीं है कि वह किसी को भी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि हम अल्पज्ञ हैं इसलिये वैसा निश्चय करने के लिये अशक्त हैं। अतः सर्वजन अनुपलब्धि को हेतु किया जाय तो वह असिद्ध ही रहेगा।

यह भी प्रश्न है कि भाव को निर्हेतुक सिद्ध करने के लिये आप किसी हेतु का आसरा लेंगे या नहीं ? यदि नहीं, तो आप की इष्टसिद्धि यानी भाव के निर्हेतुकत्व की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि प्रमाण के विना

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव बाधते ।

अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयाऽस्य किं भवेत् ॥ () इति ।

न च ज्ञापकहेतूपन्यासेऽपि कारकहेतुप्रतिक्षेपवादिनो न स्वपक्षबाधेति वक्तव्यम् यतो लिंगं तत्प्रति-
पादकं वा वचो यदि पक्षसिद्धेरुत्पादकं न भवेत् कथं तस्य ज्ञापकहेतुता स्यात्, अन्यथा सर्वस्य सर्व
प्रति ज्ञापकता प्रसज्येत । न चैवं कारक-ज्ञापकहेत्वोरविशेषः साध्यानुत्पादकस्य ज्ञापकहेतुत्वात्, तदु-
त्पादकस्य तु कारकहेतुशब्दवाच्यत्वात् । अनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञायाः स्पष्टमेव । तथाहि — प्रतिनि-
यतभावसंनिधौ ये प्रतिनियतजन्मानः ते सहेतुकाः यथा भवत्प्रयुक्तसाधनसंनिधिभावि तत्साध्यार्थज्ञानम् ।
तथा च मयूर चन्द्रकादयो भावाः इति स्वभावहेतुः । तन्न स्वभावैकान्तवादाभ्युपगमो युक्तिसंगतः ।

साध्यसिद्धि अशक्य है । यदि आप निर्हेतुकत्व सिद्ध करने के लिये हेतु का शरण लेंगे तो अपने पक्ष पर ही कुठाराघात हो जायेगा क्योंकि तब आप को स्वीकार करना पड़ेगा कि आपके पक्ष की सिद्धि हेतुजन्य अर्थात् प्रमाणजन्य है । कहा गया है कि —

‘हेतुप्रयोग कर के हेतु का निषेध करने वाला स्वयं ही अपनी प्रतिज्ञा का लोप कर रहा है । यदि वह हेतुप्रयोग में आलस करेगा तो हेतुशून्य केवल प्रतिज्ञा से क्या सिद्ध होगा ?’ इति ।

✽ ज्ञापक हेतुपक्ष में भी निर्हेतुकत्वसिद्धि दुष्कर ✽

यदि ऐसा कहा जाय — हम निर्हेतुकत्व की सिद्धि के लिये जिस हेतु का उपन्यास करेंगे वह कारक यानी उत्पादक हेतु नहीं किन्तु ज्ञापक हेतु है । हम तो सिर्फ निर्हेतुकत्व सिद्धि में कारकहेतु का ही निषेध सिद्ध करना चाहते हैं, अतः ज्ञापक हेतु के उपन्यास करने में कोई हमारे पक्ष पर कुठाराघात का सम्भव नहीं है — तो यह विधान भी अज्ञानपूर्ण है । यदि ज्ञापक हेतु या उस का प्रतिपादक वचन पक्षसिद्धि का उत्पादक (यानी कारक हेतुरूप) न माना जाय तो वह ज्ञापक हेतु भी कैसे हो सकेगा ? ज्ञापक का मतलब है ज्ञानोत्पादक, जो पक्षसिद्धि यानी साध्य के ज्ञान का उत्पादक नहीं होगा वह ज्ञापक हो ही नहीं सकता । यदि साध्यज्ञान-उत्पादक न हो उस को भी ज्ञापक हेतु माना जाय, तब तो कोई भी पदार्थ किसी भी भाव का ज्ञापक होने का मान लेना पड़ेगा ।

ज्ञापक हेतु यदि उत्पादक बन जायेगा तो फिर कारक और ज्ञापक हेतुओं में क्या भेद रहेगा ? इस प्रश्न का जवाब यह है कि, जो साध्य का उत्पादक न हो सिर्फ प्रकाशक हो वह साध्य का ज्ञापक हेतु है जब कि साध्य के उत्पादक हेतु को ‘कारक’ हेतु कहा जाता है । उदा० धूम अग्नि का सिर्फ प्रकाशक है, उस को अग्नि का ज्ञापक हेतु कहेंगे और इन्धन अग्नि का उत्पादक है उस को कारक हेतु कहेंगे ।

तथा, निर्हेतुकत्व की सिद्धि के लिये जो अनुमानप्रयोग किया गया है उसकी प्रतिज्ञा, सहेतुकत्वसाधक प्रति-अनुमान से स्पष्टरूप से बाधित है । देख लीजिये — नियत किसी पदार्थ की विद्यमानता में ही जिस भाव का नियमतः जन्म होता है वह भाव सहेतुक ही होता है । उदा० आप के द्वारा प्रयोजित साधन की विद्यमानता में आप के द्वारा प्रतिज्ञात साध्यार्थ का ज्ञान उस साधन से जन्य होता है । मोरपीच्छ के चन्द्रकादि भाव भी उस साध्य अर्थ के ज्ञान के जैसा ही है इस लिये सहेतुक ही है । इस स्वभावहेतुक अनुमान से निर्हेतुकत्व का अनुमान बाधित हो जाता है । निष्कर्ष, भाव मात्र स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं ऐसा एकान्तस्वभाववाद का स्वीकार युक्तिशून्य है ।

❖ एकान्तनियतिकारणवादिमतनिरूपणम् ❖

सर्वस्य वस्तुनः तथा तथा नियतरूपेण भवनाद् नियतिरेव कारणमिति केचित् । तथाहि - तीक्ष्णशस्त्राद्युपहता अपि तथामरणनियतताऽभावे जीवन्त एव दृश्यन्ते नियते च मरणकाले शस्त्रादि-घातमन्तरेणापि मृत्युभाज उपलभ्यन्ते । न च नियतिमन्तरेण स्वभावः कालो वा कश्चिद् हेतुः, यतः कण्टकादयोऽपि नियतैव तीक्ष्णादितया नियताः समुपजायन्ते न कुण्ठादितया । कालोऽपि शीतादेर्भावस्य तथानियततयैव तदा तदा तत्र तत्र तथा तथा निर्वर्तकः । तथा चोक्तम् -

‘प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ () इत्यादि ।

❖ एकान्तनियतिवादनिरसनम् ❖

असदेतत् - शास्त्रोपदेशवैयर्थ्यप्रसक्तेः तदुपदेशमन्तरेणापि अर्थेषु नियतिकृतत्वबुद्धेर्नियतैव भावात्, दृष्टाऽदृष्टफलशास्त्रप्रतिपादितशुभाशुभक्रियाफलनियमाभावश्च । अथ तथैव नियतिः कारणमिति नायं

❖ एकमात्र नियति ही सृष्टिमात्र का कारण - एकान्तवादी ❖

कुछ पण्डितों का कहना है - हर कोई चीज अपने अपने नियत स्वरूप में ही होती रहती है यह प्रभाव नियतितत्त्व का है इस लिये सिर्फ नियति ही एक मात्र सारे विश्व का कारण है । देखिये - जब नियति मरणानुकूल नहीं होती तब मनुष्य विष खा ले या तीक्ष्ण शस्त्र से घायल हो जाय फिर भी जीन्दा ही रहता है । दूसरी ओर जब नियतितत्त्व मरणानुकूल रहती है तब शस्त्रादि की चोट के विना भी हृदय बंध पड जाता है और आदमी मर जाता है । इस से यही फलित होता है कि एकमात्र नियतितत्त्व ही कारण है; स्वभाव या काल कहीं भी कारण नहीं है । नियति का ही यही प्रभाव है कि कण्टकादि भी तीक्ष्णतादिनियत आकार से ही उत्पन्न होता है न कि स्थूल-कुण्डादि आकार से । गर्मी के बाद बारीश की मौसम, उस के बाद ठंडी की मौसम, उस के बाद पुनः गर्मी की मौसम इस तरह से काल भी नियति से नियन्त्रित हो कर ही समय समय पर स्थान स्थान में सर्दी आदि घटनाओं को अपने अपने नियतरूप से प्रगट करता है । कहा है -

‘नियति के प्रभाव का आसरा ले कर जो पदार्थ प्राप्त होने वाला है वह प्राप्त होकर ही रहता है चाहे वह शुभ हो या अशुभ । कोई भी जीव चाहे कितनी भी कोशिश करे, जो नहीं होगा सो नहीं होगा और जो अवश्यंभावी है उस का विघात नहीं होगा ।’

❖ एकान्तनियतिकारणवाद में निष्फलताएँ ❖

नियतिवादियों का यह विधान गलत है । यदि नियतिवाद का स्वीकार किया जाय तो शास्त्रोपदेश सब निरर्थक बन जायेगा क्योंकि शास्त्र का उपदेश सुन कर भी नियति में तो कोई परिवर्तन होने वाला है नहीं । यदि कहें कि - यह सब नियतिजन्य ही है ऐसा ज्ञान सम्पादन करने में शास्त्रोपदेश सफल होगा - तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वैसा ज्ञान सम्पादन भी नियति आधीन होने से नियति द्वारा ही हो जायेगा । उपरांत, व्यवस्थाभंग का दोष इस तरह होगा - भोजन से भूखविनाश और जलपान से तृषाशान्ति होती है यह सर्वजनों को दृष्टिगोचर होता है किन्तु उस को असत्य मानना होगा । एवं अधिक भोजनादि से अज्ञात बिमारी, उदा० अर्बुदादि रोग होता है यह भी असत्य ठरेगा । तथा, शास्त्रों में जो शुभ क्रियाओं का शुभ फल, अशुभ क्रियाओं का अशुभ फल बताया गया है उस नियम का भी भंग प्रसक्त होगा ।

दोषः । न, नियतेरेकस्वभावत्वाभ्युपगमे विसंवादाऽविसंवादादिभेदाभावप्रसक्तेः । अनियमेन नियतेः कारणत्वाद् अयमदोष' इति चेत्, न, अनियमे कारणाभावान्न नियतिरेव कारणम् तत्रापि पूर्ववत् पर्यनुयोगाऽनिवृत्तेः । न च नियतिरात्मानमुत्पादयितुं समर्था स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न च कालादिकं नियतेः कारणम् तस्य निषिद्धत्वात् । न चाऽहेतुका सा युक्ता नियतरूपताऽनुपपत्तेः । न च स्वतोऽनियता अन्यभावनियतत्वकारणम् शशशृङ्गादेस्तद्रूपताऽनुपलम्भात् । तन्न नियतिरपि प्रतिनियतभावोत्पत्तिहेतुः ।

✽ कर्म जगद्वैचित्र्यकारणम् — कर्मवादी ✽

जन्मान्तरोपात्तमिष्टानिष्टफलदं कर्म सर्वजगद्वैचित्र्यकारणमिति कर्मवादिनः । तथा चाहुः —

यदि ऐसा कहा जाय कि — 'भोजन से भूखविनाश आदि जो होता है, यह व्यवस्था भी नियतिकृत ही है, नियति ही ऐसी होती है कि भोजन के द्वारा भूखशमन, जलपान के द्वारा तृषाशान्ति, शुभ क्रिया के द्वारा ही शुभ फल, अशुभ क्रिया के द्वारा ही अशुभ फल - ये सब नियति का ही खेल है, अतः व्यवस्थाभंग दोष निरवकाश है।' — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उक्त रीति से ऐसा नियत ही हो कि भोजन के द्वारा भूखशमन आदि हो, तब कभी किसी को भोजन के द्वारा भूखशमन होता है और किसी को नहीं भी होता- इस प्रकार कहीं संवाद तो कभी विसंवाद देखने को मिलता है यह भेद लुप्त हो जायेगा, क्योंकि नियति को तो आप एकस्वभाव ही मान सकते हैं, अर्थात् या तो सर्वत्र संवाद, या तो विसंवाद ही होना चाहिये किन्तु वे दोनों एकस्वभाव नियति से कभी संगत नहीं हो सकेंगे। यदि कहें कि — 'नियतिवाद में नियति से सब नियत होता है किन्तु नियति स्वयं अनियत कारण होने से कभी संवाद तो कभी विसंवाद होने में कोई दोष नहीं है।' — तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि नियति अनियत कारणरूप होगी तो उस का मतलब होगा कभी कारण होगी, कभी नहीं भी होगी; अर्थात् 'वही एक कारण होती है' यह नियम नहीं बचेगा। नित्यानित्य विकल्प में भी दोष प्रसक्त होगा। नियति यदि नित्य है तो वह किसी के प्रति कारण नहीं होगी क्योंकि निर्व्यापार होने से नित्य पदार्थ किसी का कारण नहीं बनता। नियति अगर अनित्य होगी तो (उस का भी कारण खोजना पड़ेगा और) एकान्त अनित्य भाव में कार्यजनन सामर्थ्य न होने से नियति किसी का कारण नहीं हो सकेगी।

दूसरी बात, नियति अगर अनित्य होगी तो कार्य भी अवश्य होगी। कार्य उत्पत्तिशील होने से नियति की उत्पत्ति में कौन कारण है यह भी बताना पड़ेगा। 'नियति ही अनित्यनियति का कारण है' ऐसा उत्तर देंगे तो उस की कारणभूत नियति भी अनित्य होने से उस का कारण बताना पड़ेगा। इस तरह पुनः पुनः कारणरूप से बतायी जानेवाली नियति के कारण-प्रश्न का अन्त नहीं आयेगा। यदि कहें कि - 'वह खुद ही अपनी उत्पत्ति कर लेगी' — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि कोई अपनी उत्पत्ति में हेतु बने तो सुशिक्षित नटपुत्र अपने खंधे पर भी चढ़ने की क्रिया कर सकेगा। किन्तु यह शक्य नहीं क्योंकि स्व में तथाविध क्रिया होना विरुद्ध है। नियति को अनित्य मान कर काल को उस का कारण बताया जाय तो वह शक्य ही नहीं क्योंकि आप तो नियति से अतिरिक्त किसी को भी कारण मानने के लिये तय्यार नहीं। उस को निर्हेतुक मानना उचित नहीं है क्योंकि निर्हेतुक होने पर उस का नियतस्वरूप ही अनियत बन जायेगा। स्वयं अनियत बन जाने पर वह अन्य पदार्थों को नियत करने में सक्षम नहीं रहेगी। शशशृंग जो कि सदा के लिये अनियत है वह किसी भी पदार्थ को नियत करने में सक्षम नहीं है। निष्कर्ष- नियति ही मात्र नियताकार पदार्थों की उत्पत्ति का एक मात्र कारण नहीं है।

यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते ।

तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥ ()

तथा च -

कर्मणा युक्त एव सर्वो ह्युत्पद्यते नरः । स तथाऽऽकृष्यते तेन न यथा स्वयमिच्छति ॥ ()

तथाहि - समानमीहमानानां समानदेश-काल-कुलाऽऽकारादिमतामर्थप्राप्त्यप्राप्ती नाऽनिमित्ते युक्ते अनिमित्तस्य देशादिप्रतिनियमाऽयोगात् । न च परिदृश्यमानकारणप्रभवे, तस्य कार्यस्यापि तद्रूपता-पत्तेः भेदाऽभेदव्यतिरिक्तस्य तस्यासत्त्वात् । ततो यन्निमित्ते एते तद् दृष्टकारणव्यतिरिक्तमदृष्टं कारणं कर्मेति ।

असदेतत् - कुलालादेर्घटादिकारणत्वेनाध्यक्षतः प्रतीयमानस्य परिहारेणाऽपराऽदृष्टकारणताप्रकल्पनायां तत्परिहारेणापरापराऽदृष्टकारणकल्पनयाऽनवस्थाप्रसङ्गतः क्वचिदपि कारणप्रतिनियमानुपपत्तेः । न च

✽ कर्म ही एकमात्र कारण - कर्मवादी ✽

कर्ममात्र कारण वादियों का कहना है कि - जन्म-जन्मान्तर में संचित कर्म ही सारे जगत् के वैविध्य का एक मात्र कारण है और वही इष्ट या अनिष्ट फलों का सम्पादक है । कहा है -

“मानों कि निधानगत हो इस ढंग से पूर्वसंचित कर्मों का फल जैसे जैसे उपस्थित होता रहता है वैसे वैसे उस के अनुसरण के लिये सज्ज बुद्धि भी प्रवृत्त होती रहती है, उदा० हस्त में रहा हुआ दीप ।” तात्पर्य यह है कि हस्तगत दीप हस्त स्थिर रहने पर स्थिर रहता है और हस्त गति करता है तो प्रदीप भी गति करता है । इस तरह बुद्धि भी लगभग कर्मानुसारिणी होती है । निधान के रूप में भूमिगत धन क्वचित् क्वचित् अकस्मात् बाहर निकल आता है वैसे ही आत्मगत कर्म भी कब यकायक उदय में आ पड़ता है यह हम जान नहीं सकते । यह भी कहा गया है कि -

‘हर कोई मनुष्य अपने कर्मों को साथ लेकर ही जन्म लेता है । जिस ओर वह स्वयं जाना नहीं चाहता उस ओर उस के कर्म उस को खिँच कर भी ले जाता है ।’

इस से भी कर्म की कारणता फलित होती है । स्पष्ट देखिये - चैत्र और मैत्र ये दो मित्र एक ही देशकाल में और एक ही कुल में, जुड़वा बन्धु की तरह समानाकार मुखादिवाले उत्पन्न हुए हैं । दोनों ही समान चीज की अभिलाषा करते हैं । एक को वह चीज अतर्कित प्राप्त हो जाती है और दूसरे को अति आयास करने पर भी नहीं मिलती । ऐसा जो भेदभाव है वह विना कारण नहीं होना चाहिये । विना कारण होने वाले भावों में नियतदेश-नियतकाल का बन्धन नहीं रहेगा । ऐसा भी नहीं है कि यह भेदभाव किसी दृष्टिगत कारण से होता हो, क्योंकि दृष्टिगोचर होने वाले जितने भी कारण हैं वे तो यहाँ दोनों के लिये समानरूप से प्राप्त हैं । यदि कारण एक-सा ही हो तो परिणाम भिन्न भिन्न नहीं हो सकता, अन्यथा भिन्न भिन्न परिणाम विना कारण होता है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा । यदि परिणाम भेद को विना कारण स्वीकार करेंगे तो परिणाम (कार्य) को भी विना कारण स्वीकार करना होगा, क्योंकि परिणाम भी तो कहीं भेदात्मक और कहीं अभेदात्मक हो सकता है, तीसरा कोई प्रकार उस का नहीं है जिस से कि उस को विना कारण माना जा सके । इस से यह निष्कर्ष फलित होता है कि एक को अतर्कित अर्थप्राप्ति और दूसरे को अप्राप्ति ऐसा भेदभाव दृष्टकारणों से अतिरिक्त ही किसी अदृष्टकारण से फलित होता है जिस को ‘कर्म’ कहा जाता है । वही एक सर्व घटनाओं के पीछे कारण है ।

स्वतन्त्रं कर्म जगद्वैचित्र्यकारणमुपपद्यते तस्य कर्त्रधीनत्वात् । न चैकस्वभावात् ततो जगद्वैचित्र्यमुपपत्तिम् कारणवैचित्र्यमन्तरेण कार्यवैचित्र्याऽयोगात् वैचित्र्ये वा तदेककार्यताप्रच्युतेः, अनेकस्वभावत्वे च कर्मणः नाममात्रनिबन्धनैव विप्रतिपत्तिः, पुरुष-काल-स्वभावादेरपि जगद्वैचित्र्यकारणत्वेनाऽर्थतोऽभ्युपगमात् । न च तेन चेतनवताऽनधिष्ठितमचेतनत्वात् वास्यादिवत् कर्म प्रवर्तते । अथ तदधिष्ठायाकः पुरुषोऽभ्युपगम्यते न तर्हि कर्मैकान्तवादः, पुरुषस्यापि तदधिष्ठायाकत्वेन जगद्वैचित्र्यकारणत्वोपपत्तेः । न च केवलं किञ्चिद् वस्तु नित्यमनित्यं वा कार्यकृत् सम्भवतीत्यसकृत् प्रतिपादितम् । तन्न कर्मैकान्तवादोऽपि युक्तिसंगतः ।

✽ एकान्तपुरुषकारणवादिमतस्थापना ✽

अन्यस्त्वाह — ‘पुरुष एवैकः सकललोकस्थिति-सर्ग-प्रलयहेतुः प्रलयेऽपि अलुप्तज्ञानातिशयशक्तिः’ इति । तथा चोक्तम् —

ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्तः इवाऽम्भसाम् । प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥ इति ॥

✽ एकान्त कर्मकारणवाद युक्तिसंगत नहीं ✽

एकान्त कर्मवादियों का यह मत गलत है । प्रत्यक्ष से जो दिखाई पडता है कि मिट्टी के घड़े का उत्पादन कुम्हार करता है, फिर भी उसे कारण न मान कर, अदृश्य पदार्थ को ही (एक मात्र) कारण मानने की कल्पना करने जायेंगे तो उस अदृश्य पदार्थ (कर्म) के लिये भी अन्य अन्य अदृश्य कारणों की कल्पना करते करते अन्त ही नहीं पायेंगे, फलस्वरूप किसी भी भाव के नियत कारण की अवस्था नहीं हो पायेगी । दूसरी बात यह है कि कर्म अकेला स्वतन्त्ररूप से सारे जगत् की विचित्रताओं का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी कर्ता को पराधीन होता है । तदुपरांत, कर्म को यदि एकस्वरूप ही मानेंगे तो वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि जगत् की विचित्रता की संगति के लिये कर्म को भी विचित्रस्वभाव ही मानना होगा । कर्म विचित्रस्वभाव मानेंगे तो उस की विचित्रता के लिये अन्य किसी को कारण मानना पड़ेगा, फलतः ‘कर्म ही कारण है’ यह सिद्धान्त डूब जायेगा । यदि कर्म को विचित्रस्वभाव मान लेंगे तो उस विचित्रता की उपपत्ति पुरुषादिभेद से ही सम्पन्न हो सकती है, अर्थात् पुरुष, काल, स्वभाव, नियति को भी जगत् की विचित्रता के प्रति कारणता सिद्ध हो जायेगी । ऐसी स्थिति में कर्मविचित्रता को कारण कहना अथवा कर्मपुरुषादि के समवाय को कारण कहना — इस में कोई फर्क नहीं पडता, सिर्फ नाममात्र का फर्क रहता है ।

यह भी ध्यान में रहे कि जैसे चेतन से अनधिष्ठित कुठारादि जड पदार्थ स्वयं छेदन क्रिया में संलग्न नहीं हो सकते, ऐसे ही जड होने से कर्म भी जब तक चेतना से अधिष्ठित नहीं होगा तब तक किसी कार्य में योगदान नहीं कर सकेगा । यदि कर्म के अधिष्ठाता के रूप में पुरुष (जीव) को स्वीकार करेंगे तो एकान्त कर्म-कारणतावाद समाप्त हो जायेगा, क्योंकि कर्म के अधिष्ठाता के रूप में विश्वविचित्रता के प्रति अब आत्मा की कारणता भी युक्तिसंगत सिद्ध होगी । पहले कई बार कह दिया है कि दूसरे के सहयोग के बिना कोई भी अकेला कुछ भी कर नहीं सकता, चाहे वह नित्य हो या अनित्य । निष्कर्ष, एकान्तकर्मकारणतावाद भी युक्तिसंगत नहीं है ।

✽ एकान्त पुरुषमात्रकारणवादिमत का निरूपण ✽

पुरुषकारणवादियों का कहना है कि समग्र लोकवर्ती पदार्थों की उत्पत्ति-स्थिति-विनाश का एक मात्र हेतु पुरुष (जीव) ही है । समग्र पृथ्वी का प्रलय हो जाय तब भी जीवात्मा की सातिशय ज्ञानशक्ति लुप्त नहीं होती । कहा गया है —

तथा, 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' () इत्यादि। ऊर्णनाभोऽत्र मर्कटको व्याख्यातः। अत्र सकल लोकस्थितिसर्ग-प्रलयहेतुतेश्वरस्येव पुरुषवादिभिः पुरुषस्येष्टा। विशेषस्तु समवायाद्यपरकारण-सव्यपेक्ष ईश्वरो जगद् निर्वर्त्तयति, अयं तु केवल एव।

अस्य चेश्वरस्येव जगद्धेतुताऽसंगता। तथाहि -

पुरुषो जन्मिनां हेतुर्नोत्पत्तिविकलत्वतः। गगनांभोजवत् सर्वमन्यथा युगपद् भवेत्॥ ()

किञ्च, प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तिः प्रयोजनवत्तया व्याप्तेति किं प्रयोजनमुद्दिश्याऽयं जगत्करणे प्रवर्त्तते ? नेश्वरादिप्रेरणात् अस्वातन्त्र्यप्रसक्तेः। न परानुग्रहार्थम् अनुकम्पया दुःखितसत्त्विर्नर्वर्त्तनानुपपत्तेः। न तत्कर्मक्षयार्थं दुःखितसत्त्विनिर्माणे प्रवृत्तिः, तत्कर्मणोऽपि तत्कृतत्वेन तत्प्रक्षयार्थं तन्निर्माणप्रवृत्तावप्रेक्षापूर्व-कारिताऽऽपत्तेः। न च प्राक् सृष्टेरनुकम्पनीयसत्त्वसद्भाव इति निरालम्बनाया अनुकम्पया अयोगात् नाऽतोऽपि जगत्करणे प्रवृत्तिर्युक्ता। न चानुकम्पातः प्रवृत्तौ सुखिसत्त्वप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिर्युक्तेति देवादीनां

'जैसे मकड़ी-जन्तु तन्तुजाल की रचना करता है, चन्द्रकान्त मणि जल-सर्जन करता है, प्लक्ष का वृक्ष अंकुरों को जन्म देता है, वैसे ही समग्र सृष्टि को जीव ही जन्म देता है।'

मूल संस्कृत श्लोक में 'ऊर्णनाभ' शब्द है उस का अर्थ है मकड़ी-जन्तु। तथा, वेदों में कहा है कि 'यहाँ जो कुछ भी भूत और भावि है वह सब पुरुष ही है।'

एक समझने की बात है कि ईश्वरकर्तृत्ववादी 'समग्र लोक का सर्जन-विसर्जन-पालनहार ईश्वर है' ऐसा मानते हैं और यहाँ पुरुषकारणतावादी ईश्वर के स्थान में पुरुष को मानता है, किन्तु फर्क इतना है कि ईश्वरवादी मानते हैं कि समवाय-परमाणु आदि कारण के सहयोग से ईश्वर सृष्टिरचना करता है जब कि पुरुष तो विना किसी सहयोग ही सृष्टि रचता है।

✽ एकमात्रपुरुषकारणवाद की समालोचना ✽

जैसे ईश्वरकर्तृत्ववाद असंगत है वैसे 'एकमात्र जीव ही जगत् का हेतु है' यह वाद भी संगत नहीं है। देखिये किसीने कहा है -

'स्वयं उत्पत्तिशून्य (सत्ताशून्य) होने से जीव जीवसृष्टि का हेतु नहीं माना जा सकता। जैसे, आकाशकुसुम उत्पत्तिरहित होने से किसी का हेतु नहीं होता। यदि उत्पत्तिरहित होने पर भी वह जीवसृष्टि रच सकता है तो अन्य कोई विशेष कारण न होने से समग्र जीवसृष्टि को एक साथ ही पैदा कर बैठेगा।'

तात्पर्य, जीव ही एकमात्र सर्वत्र कारण नहीं होता।

✽ एकमात्र पुरुषकारणतावाद में प्रयोजन की अनुपपत्ति ✽

यह भी ज्ञातव्य है कि बुद्धिमत्तापूर्वक काम करने वालों की प्रवृत्ति सप्रयोजन ही होती है। अब एक मात्र जीव को ही सृष्टिविधाता माननेवालों से यह प्रश्न है कि विधाता जीव को सृष्टिरचना करने में क्या प्रयोजन है ? यदि ईश्वरादि की प्रेरणा से विना प्रयोजन भी वह प्रवृत्त होगा तो उसकी स्वतन्त्रता का भंग हो जायेगा। यदि कहें कि - 'वह इतना अनुकम्पाशील है कि सिर्फ अन्य जीवों के ऊपर कृपा करने के लिये ही प्रवृत्त होता है।' - तो विधाता की दुखित जीवों के निर्माण की प्रवृत्ति असंगत बन जायेगी क्योंकि दयाप्रेरित निर्माण दुखी करने वाला नहीं हो सकता। यदि कहा जाय - 'उन जीवों के दुःखप्रद कर्म दुःखभोग से क्षीण करने के लिये दुःखी जीवों के निर्माण की प्रवृत्ति वाजीब है' - तो यह ठीक नहीं क्योंकि उन कर्मों

प्रलयानुपपत्तिर्भवेत् । न च समर्थस्य दुःखकारणमधर्मादिकमपेक्ष्य कृपालोर्दुखितसत्त्वनिर्वर्तनं युक्तम् कृपापरतन्त्रतया दुःखप्रदे कर्मण्यवधा (?धी)रणोपपत्तेः । न हि कृपालवः परदुःखहेतुत्वमेवेच्छन्ति पर-दुःखवियोगेच्छयैव तेषां सर्वदा प्रवृत्तेः । न च क्रीड्यापि तत्र तस्य प्रवृत्तिर्युक्ता, क्रीडोत्पादेऽपि जगदुत्पादापेक्षया तस्याऽऽस्वातन्त्र्योपपत्तेः । जगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयात्मकस्य विचित्रक्रीडोपायस्य तदुत्पत्ताव-पेक्षणात् । यदि विचित्रक्रीडोपायोत्पादने तस्य प्रागेव शक्तिः तदा युगपदशेषजगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयान् विदध्यात् । अथादौ न तत्र शक्तिस्तदाऽशक्तावस्थाया अविशिष्टत्वात् क्रमेणापि न तान् विदध्यात् एकत्रैकस्य शक्ताऽशक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयाऽयोगात् । अयं च दोष ईश्वरवादिनामपि समान इति ।

“परानुग्रहार्थमीश्वरः प्रवर्त्तते यथा कश्चित् कृतार्थो मुनिरात्महिताऽहितप्राप्ति-परिहारार्थाऽसम्भवेऽपि

का निर्माण भी तो विधाता जीवने किया होगा, पहले वैसे दुःखप्रद कर्मों का निर्माण करना और बाद में उन को क्षीण करने के लिये दुःखी जीवों का निर्माण करना इस में बुद्धिमत्ता कैसे होगी ?

दूसरी बात यह है कि सृष्टिनिर्माण के पहले तो कोई दयापात्र जीव ही नहीं थे, (वे तो बाद में रचे गये) तब विषय के अभाव में अनुकम्पा भी हो नहीं सकती। उस स्थिति में सृष्टिनिर्माण की प्रवृत्ति (अनुकम्पा के न होने से) कैसे उचित कही जाय ? यदि किसी प्रकार अनुकम्पप्रेरित प्रवृत्ति का स्वीकार किया जाय तो देवसृष्टि के संहार की प्रवृत्ति अनुचित सिद्ध होगी क्योंकि देव तो सुखी जीव है, दयालु विधाता की सुखी जीवों के संहार के लिये प्रवृत्ति कैसे उचित होगी ? यह भी सोचने जैसा है कि जो दयालु है और शक्तिशाली भी है वह दुःखीजीवों के दुःखदायक पापकर्म का सहारा ले कर दुःखीजीवों के निर्माण की प्रवृत्ति करना कैसे चाहेगा ? वह तो दयालु और शक्तिशाली होने पर पहले उन दुःखदायक कर्मों को ही क्षीण करने की कोशीश करेगा। जो दयालु होते हैं वे किसी भी तरह अन्यो को दुःखी करने में निमित्त बनना पसंद नहीं करते, उन की प्रवृत्ति तो हर-हमेश दूसरे लोगों के दुःखों को दूर करने की इच्छा से ही प्रेरित होती है।

यदि विधाता सिर्फ खेल-खेल में ही सृष्टि-निर्माण करता है तो यह उचित नहीं है क्योंकि तब उस की स्वतन्त्रता का लोप-प्रसंग होगा, क्योंकि उस को (अपने मनोरंजन के लिये या किसी के भी लिये) खेल करने की इच्छा है किन्तु वह सृष्टि के विना खेल करने को अशक्त है इस लिये सृष्टि निर्माण के सहयोग की अपेक्षा रखता है, अर्थात् क्रीडा के निर्माण के लिये उस को क्रीडा के उपायभूत सृष्टि के उत्पत्ति, विनाश-स्थिति का मुँह देखना पडता है तो वह स्वतन्त्र कैसे ? यह भी सोचना पडेगा कि यदि उस विधाता जीव में क्रीडा के उपायभूत उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के उत्पादन में काम आने वाली शक्ति प्रारम्भ से ही होती है तब तो वह एक साथ ही सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का निर्माण कर बैठेगा क्योंकि उत्पत्ति करने के काल में ही स्थिति और प्रलयनिर्माण की शक्ति अक्षुण्ण है। यदि प्रारम्भ में वैसी शक्ति नहीं होती, यानी उस काल में विधाता जीव की दशा अशक्त है तो बाद में भी अशक्त अवस्था तदवस्थ रहने के कारण; पहले उत्पत्ति, फिर स्थिति और उस के बाद प्रलय- इस प्रकार क्रमशः निर्माणक्रिया नहीं हो पायेगी। प्रारम्भकाल में अशक्तावस्था और बाद में स्थिति आदि के लिये सशक्तावस्था - ऐसी विरुद्ध दो अवस्था का योग एक ही जीव में घट नहीं सकता। ध्यान में रहे कि ये सब दोष ईश्वरवादियों के पक्ष में भी समानरूप से संलग्न होते हैं।

✽ प्रशस्तमति के मत का स्थापन - उत्थापन ✽

प्रशस्तमति विद्वान् यहाँ कहता है -

ईश्वर सृष्टि के सर्जनादि में जो प्रवृत्ति करता है उस का एकमात्र प्रयोजन है परानुग्रह। उदा० कोई अतिशय

परहितार्थमुपदेशादिकं करोति तथेश्वरोऽप्यात्मीयामैश्वर्यविभूतिं विख्याप्य प्राणिनोऽनुग्रहीष्यन् प्रवर्त्तत इति । अथवा शक्तिस्वाभाव्यात्, यथा कालस्य वसन्तादीनां पर्यायेणाभिव्यक्तौ स्थावर-जङ्गमविकारोत्पत्तिः स्वभावतः तथैवेश्वरस्याप्याविर्भावानुग्रहसंहारशक्तिनां पर्यायेणाभिव्यक्तौ प्राणिनामुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयहेतुत्वम्” – इति यदुक्तं प्रशस्तमतिना तदपि प्रतिक्षिप्तं दृष्टव्यम् । तथाहि – यद्यसावनुग्रहप्रवृत्तस्तदा सर्वमेकान्तसुखिनं प्राणिगणं विदध्यादित्युक्तम् । शक्तिस्वाभाव्यात् करणे उत्पत्ति-स्थिति-संहारान् जगतो युगपत् कुर्यात् इत्यादिकमपि उक्तमेव दूषणम् । तथा चाह –

सर्गस्थित्युपसंहारन् युगपद् व्यक्तशक्तितः ।

युगपच्च जगत् कुर्यात् नो चेत् सोऽव्यक्तशक्तिकः ॥

न व्यक्तशक्तिरीशोऽयं क्रमेणाप्युपपद्यते ।

व्यक्तशक्तिरतोऽन्यश्चेत् भावो ह्येकः कथं भवेत् ॥ ()

एवं कालस्यापि पर्यायेण वसन्ताद्यभिव्यक्तिप्रवृत्तावयमेव दोषः । भावास्तु शीतोष्णादिपरिणतिभाजः प्रतिक्षणविशरारवः कथंचित् काल इत्यभिधानाभिधेयाः प्राग् व्यवस्थापिताः । अथ न क्रीडाद्यर्था भगवतः प्रवृत्तिः किन्तु पृथिव्यादिमहाभूतानां यथा स्वकार्येषु स्वभावत एव प्रवृत्तिः तथेश्वरस्यापीति

वैरागी मुनि जब किसी को उपदेश करता है तो उसे न तो कुछ अपना आत्महित होने वाला है न तो अपने किसी अहित की निवृत्ति; तथापि एकमात्र परोपकार के लिये वह उपदेश करता है। ठीक इसी तरह, ईश्वर भी अपने ऐश्वर्य की आबादी को प्रकाशित करते हुए परानुग्रह हेतु प्रवृत्त होता है। अथवा, अपनी सहज शक्ति से स्वभावतः ईश्वर की सर्जनादि प्रवृत्ति होती है। जैसे क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म आदि विभागों के रूप में काल अभिव्यक्त होने पर स्थावर जंगम भावों में विविध परिवर्तन का उद्भव स्वाभाविक होता है वैसे ही ईश्वर की सर्जन-पालन-विसर्जन शक्तियों की क्रमशः अभिव्यक्ति होने पर स्वभावतः प्राणिवर्ग के उद्भव-स्थिति और प्रलय निष्पन्न होते हैं।

प्रशस्तमति का यह निरूपण निरस्त हो जाता है क्योंकि यदि वास्तव में ईश्वर की चेष्टा परानुकम्पा के लिये ही होती तो वह सभी प्राणियों को एकान्त से सुखी ही बनाता, किसी दुःखी जीव का निर्माण ही नहीं करता। तथा, यदि वह अपनी स्वाभाविक शक्ति से सर्जनादि करता है तो पहले ही यह दूषण कहा है कि स्वभाव अक्षुण्ण होने से वह एक साथ ही सर्जन-विसर्जन कर देगा, क्रमशः क्यों करेगा ? जैसे कि कहा है –

‘यदि ईश्वर में निहित शक्ति प्रगट है तो वह एक साथ ही सर्जन-पालन-संहार कर देगा, सारे जगत् का निर्माण भी एक साथ करेगा। यदि ऐसा नहीं करता तो उस की शक्ति अप्रगट होने का मानना होगा।’

‘ईश्वर की शक्ति क्रमशः प्रगट होती है यह विधान भी असंगत है क्योंकि जिस की शक्ति क्रमशः व्यक्त होती है वह यदि (अव्यक्तशक्ति से) अपर है तब उन से उत्पन्न होने वाला भाव कैसे एक हो सकता है?’

वसन्तादि ऋतुओं के क्रम से काल की अभिव्यक्ति की जो बात प्रशस्तमति ने कही है वहाँ भी यही दोष है। यदि स्वाभाविक शक्ति प्रगट है तब एकसाथ ही वसन्तादि ऋतु का संमिलन हो जायेगा। वास्तव में जैनमतानुसार काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, पहले ही यह व्यवस्था प्रदर्शित की गयी है कि प्रतिक्षण विनाशी शीत-उष्णादि गुण-पर्यायों में परिणत होने वाले पदार्थों को ही कथंचित् ‘काल’ संज्ञा दी गयी है।

— अयुक्तमेतत्, एवं हि तद्व्यापारमात्रभाविनामशेषभावानां युगपद् भावो भवेत् अविकलकारणत्वात्, सहकार्यपेक्षापि न नित्यस्य संगता इत्युक्तम्। पुरुषवादिनां तु केवलस्यैव पुरुषस्य जगत्कारणत्वेनाभ्युपगमात्तदपेक्षा दूरापास्तैव। पृथिव्यादिमहाभूतानां तु स्वहेतुबलायातापरस्वभावसद्भावाच्च तदुत्पाद्यकार्यस्य युगपदुत्पत्त्यादिदोषः संभवी।

न च यथोर्णनाभः स्वभावतः प्रवृत्तोऽपि न स्वकार्याणि युगपद् निर्वर्त्तयति तथा पुरुषोऽपीति वाच्यम्, यत ऊर्णनाभस्यापि प्राणिभक्षणलाम्पट्यात् स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्वभावतः, अन्यथा तत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात्। न ह्यसौ नित्यैकस्वभावः अपि तु स्वहेतुबलभाव्यपरापरकादाचित्कशक्तिमानिति तद्भाविनः कार्यस्य क्रमप्रवृत्तिरूपत्रैव। न च यथा कथंचिदबुद्धिपूर्वकमेव पुरुषो जगन्निवर्त्तने प्रवर्तते, प्राकृतपुरुषादप्येवमस्य हीनतया प्रेक्षापूर्वकारिणामनवधेयवचनताप्रसक्तेः। एवं प्रजापतिप्रभृतीनामपि जगत्कारणत्वेनाभीष्टानां निरासो दृष्टव्यः न्यायस्य समानत्वात्। तन्न कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः

✽ स्वभावतः ईश्वरप्रवृत्ति असंगत ✽

यदि ऐसा कहा जाय कि 'ईश्वर की प्रवृत्ति क्रीडादिप्रयोजनप्रेरित नहीं होती किन्तु स्वभावप्रेरित होती है जैसे कि पृथ्वीआदि पंच महाभूतों की अपने अपने कार्यों में स्वभावतः सहज कारणता होती है।' - यह विधान युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि यदि ईश्वर एक-मात्र स्वभाव से ही सकल वस्तुसमूह की रचना करता है तो वह स्वभाव सर्वदा अक्षुण्ण होने से उन सकल वस्तुसमूह की उत्पत्ति भी एक साथ हो जायेगी क्योंकि उस की एकमात्र सामग्री-स्वभाव सदा मौजूद है। 'सहकारी के विलम्ब से कार्य विलम्ब' की बात में कोई तथ्य नहीं है क्योंकि नित्य पदार्थ को स्वकार्यसम्पादन के लिये किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं रह जाती। पुरुष-कारणवादि तो केवल पुरुष को ही सर्व कार्यों का हेतु मानता है, इस लिये उस के मत में तो सहकारी अपेक्षा की बात दूर निश्चित है। तथा पृथिवी आदि महाभूतों की केवल स्वभावतः प्रवृत्ति की बात में भी तथ्य नहीं है, उन में भी अपने अपने भिन्न भिन्न हेतुओं से अन्य अन्य स्वभाव होता है, इस लिये उन से उत्पन्न होनेवाले कार्यों की एक साथ उत्पत्ति आदि दोषों को अवकाश नहीं है।

✽ स्वभाव से या अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति असंगत ✽

पुरुषवादी :- मकड़ी की जाल बनाने में उस जन्तु की स्वभाव से ही प्रवृत्ति होती है फिर भी क्रमशः होती है, तो ऐसे ही पुरुष की भी क्रमशः स्वभाव से चेष्टा हो सकेगी।

सिद्धान्तवादी :- नहीं, मकड़ी की प्रवृत्ति केवल स्वभाव से नहीं किन्तु मक्खी आदि जन्तुओं के भक्षण की लालसा से ही उस की जालनिर्माण प्रवृत्ति होती है। यदि मकड़ी की चेष्टा केवल स्वभाव से होती तब तो वहाँ भी एक साथ अपने कार्यों की निष्पत्ति का दूषण तदवस्थ ही रहता। उपरांत, मकड़ी कोई शाश्वत जन्तु नहीं है। वह तो अपने भिन्न भिन्न हेतु से जन्म लेता है और उस की शक्ति भी अल्पकालीन एवं भिन्न भिन्न प्रकार की होती है क्योंकि वह भी अपने अपने तथाविध हेतुओं से ही उत्पन्न होती है। अत एव शक्तियों के क्रमिक होने से मकड़ी की प्रवृत्ति भी क्रमिक होना सुसंगत है।

पुरुषवादी :- यह पुरुष जैसे तैसे ही विना बुद्धि के ही सृष्टिरचना में प्रवृत्त होता है।

सिद्धान्तवादी :- नहीं, ऐसा मानने पर तो सृष्टिनिर्माता पुरुष ग्रामीणपुरुष से भी हीनकक्ष हो जाने से बुद्धिपूर्वक काम करने वालों के लिये उस का वचन उपादेय नहीं रहेगा। जैसे सृष्टिनिर्माण के विषय में पुरुषवाद

सम्भवन्तीति तद्वादो मिथ्यावाद इति स्थितम् । त एवान्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेनैकानेक-
स्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमार्थसन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति
तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः ॥५३॥

यथैते कालाद्येकान्ता मिथ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वादोपग्रहात् तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तथात्मापि
एकान्तनित्याऽनित्यत्वादिधर्माध्यासितो मिथ्यात्वमनेकान्तरूपतया त्वभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यत
इत्याह -

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं ।

णत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥५४॥

‘नास्ति आत्मा एकान्ततः’ इति बृहस्पतिमतानुसारी । ‘अस्ति आत्मा किन्तु प्रतिक्षणविशरारुतया
चित्तसंततेः न नित्य’ इति बौद्धाः । ‘अस्ति आत्मा नित्यो भोक्ता, न तु करोति’ इति साङ्ख्याः ।
त एव प्राहुः - ‘कर्त्ताऽसौ न भोक्ता प्रकृतिवत् कर्त्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेः’ । यद्वा येन कृतं कर्म

एवं ईश्वरवाद का निरसन हो जाता है वैसे ‘प्रजापति द्वारा इस सृष्टि का निर्माण हुआ’ इत्यादि प्रलापों का
भी निरसन समझ लेना चाहिये, क्योंकि न्याय सर्वत्र अपक्षपाती होने से, जो दूषण पुरुषवाद में हैं वे प्रजापतिवाद
में भी समानरूप से संलग्न होंगे ।

कालादि की एकान्त कारणता प्रमाण से संगत नहीं होती यह अब सिद्ध हो जाता है इस लिये एकान्त
कारणतावाद मिथ्या है यह निष्कर्ष फलित होता है ।

५३ वीं गाथा के उत्तरार्ध को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार कहते हैं कि ये सब एकान्त कारणतावादी
अगर अपना अपना एकान्त कदाग्रह छोड़ कर अन्य नियति आदि सापेक्ष कालादि की कारणता का स्वीकार
कर ले अर्थात् अनेकान्तवाद का स्वीकार करे और एकान्त नित्य-एकान्तानित्यवाद का परिहार कर के प्रत्येक
वस्तु एकानेकस्वभाव हो कर ही अपने कार्य के सम्पादन में सशक्त होती है ऐसा माना जाय तो वे प्रमाणसंगत
होने से पारमार्थिक सत्य माने जा सकते हैं और उस के निरूपण करनेवाले शास्त्र को भी सम्यक् शास्त्र
कह सकते हैं । सम्यक् शास्त्रोक्त वाद ही सम्यग्वाद होता है यह निष्कर्ष है ॥५३॥

ऊपर जो कह आये, एकान्तरूप से कालादि की कारणता का वाद मिथ्यात्वपतित हो जाता है और
स्याद्वाद से अलंकृत वे ही कालादिकारणता वाद सम्यक्त्वारूढ हो जाता है - ऐसे ही आत्मा को भी यदि
एकान्तरूप से नित्य अथवा अनित्यादि स्वरूपवाला मान लिया जाय तो मिथ्यात्व प्रसक्त होगा, किन्तु
अनेकान्तमाला उस को पहना दिया जाय तो सम्यक्त्व से अलंकृत हो जाता है - यह तथ्य ५४ वे सूत्र
से कहा जा रहा है -

गाथार्थ :- (आत्मा) नहीं है, नित्य नहीं है, कर्त्ता नहीं, भोगता नहीं, निर्वाण नहीं है और आत्मा
के मोक्ष का कोई उपाय भी नहीं है - ये छः स्थान हैं मिथ्यात्व के ॥५४॥

✽ मिथ्यात्वप्रसक्ति के छः स्थान ✽

व्याख्यार्थ :- (१) बृहस्पति जो कि नास्तिकों का गुरु माना जाता है उस के मत में आत्मा जैसी कोई
चीज ही नहीं है, अर्थात् आत्मा एकान्ततः नास्ति है । (२) बौद्ध विद्वान तो कहते हैं कि आत्मा जरूर है
लेकिन वह क्षण क्षण में क्षीण होने वाले चित्तों के सन्तानरूप ही है । अर्थात् वह नित्य नहीं है । (३) सांख्य
कहते हैं आत्मा नित्य और भोक्ता है किन्तु कर्त्ता नहीं है । (४) फिर ये ही लोग कहते हैं कि आत्मा कर्त्ता

नासौ तद् भुंक्ते क्षणिकत्वात् चित्तसंततेः इति बौद्धाः; क्षणिकत्वात् चित्तसंततेः कृतं न वेदयते इति बौद्ध एवाह। कर्त्ता भोक्ता चात्मा किन्तु न मुच्यतेऽसौ चेतनत्वादभव्यवत्, रागादीनामात्मस्वरूपाऽ-व्यतिरेकात् तदक्षये तेषामप्यक्षयात् इति याज्ञिकः। निर्हेतुक एवाऽसौ मुच्यते तत्स्वभावताव्यतिरेकेणऽ-परस्य तत्रोपायस्याऽभावात् इति मण्डली प्राह। एतानि षड् मिथ्यात्वस्य स्थानानि षण्णामप्येषां पक्षाणां मिथ्यात्वाधारतया व्यवस्थितेः।

तथाहि — एतानि नास्तित्वादिविशेषणानि साध्यधर्मिविशेषणतयोपादीयमानानि किं प्रतिपक्ष-व्युदासेनोपादीयन्ते आहोस्वित् कथंचित् तत्संग्रहेणेति कल्पनाद्वयम्। प्रथमपक्षेऽध्यक्षविरोधः; स्वसंवेद-नाध्यक्षतश्चैतन्यस्यात्मरूपस्य प्रतीतेः, कथंचित् तस्य परिणामनित्यताप्रतीतेश्च, शरीरादिव्यापारतः

है किन्तु भोक्ता नहीं है, जैसे प्रकृति भोग करती है वैसे आत्मा में भोक्तृत्व संगत नहीं होता।

अथवा-बौद्धवादी कहते हैं — चित्तसंतति क्षणिक है इसलिये जिस ने कर्म किया वह उस का फल भोग करने के काल में जीवित नहीं रहता इस लिये आत्मा कर्त्ता है किन्तु भोक्ता नहीं है। चित्तसन्तान क्षणजीवी होने से कृत का वेदन नहीं करता — ऐसा बौद्ध का ही कथन है। (५) याज्ञिक — मीमांसको का यह मत है कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता जरूर है किन्तु कभी भी उस का मोक्ष नहीं होता, क्योंकि वह चेतन है, जैसे जैन मत में अभव्य जीवों का मोक्ष कभी नहीं होता। मीमांसक प्रदर्शित कारण यह है कि राग-द्वेषादि आत्मा से अभिन्न होते हैं अतः आत्मा को अक्षय मानने पर तदभिन्न रागादि भी अविनाशी प्रसक्त होगा। (६) 'मंडली' नाम से विख्यात पंडित का कहना है कि मोक्ष जरूर होगा लेकिन विना हेतु से, यानी मोक्ष का कोई उपाय नहीं है। आत्मा का मुक्ति स्वभाव ही उस को कभी मुक्त करेगा, और कोई मुक्ति का उपाय है ही नहीं। ये छः मत मिथ्यात्व के निवासस्थान हैं क्योंकि इन छ पक्षों को अपना आधार बना कर मिथ्यात्व स्थिर रहता है।

✽ छः स्थानों में मिथ्यात्व का उपपादन ✽

ये सब कैसे मिथ्यात्व के स्थान है वह देखिये — प्रतिवादियों ने यहाँ आत्मा को साध्यधर्मि यानी पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर के उस में जो नास्तित्वादि विशेषणों का प्रतिपादन किया है उस के ऊपर ये दो प्रश्न हैं कि नास्तित्वादि के प्रतिपक्ष अस्तित्वादि के निषेध के साथ नास्तित्वादि विशेषणों का प्रतिपादन अभीष्ट है या कथंचित् अस्तित्वादि को भी मान्य रख कर नास्तित्वादि का साधन करना है ?

प्रथम विकल्प में एक एक विशेषण में प्रत्यक्षतः विरोध दोष प्रसक्त होगा। (१) चैतन्यस्वरूप आत्मा सभी को 'अहं' के रूप में या चैतन्यस्फुरण के रूप में अपने प्रत्यक्ष संवेदन से प्रतीत होता है अतः नास्तित्व के साथ प्रत्यक्ष विरोध है। (२) तथा, बाल-वृद्धादि परिणामों में भी अविच्छिन्न आत्मा का अनुभव होने से आत्मा में कथंचित् परिणाम-नित्यता भी संविदित होती है अतः 'नित्य नहीं हैं' यह विधान प्रत्यक्ष विरुद्ध है। (३) तथा, शरीर तो जड है फिर भी आत्मा के चैतन्य से ही वह सचेष्ट बनता है और विविध कार्य करता है यह भी प्रत्यक्षानुभव है इस लिये 'कर्त्ता नहीं है' यह विधान भी प्रत्यक्षविरुद्ध है। (४) तथा, जीव अपने प्रयत्न से पकाये गये भोजन-दाल-चावल आदि का भोग करता है यह भी अनुभवसिद्ध है इसलिये 'भोक्ता नहीं है' यह विधान भी प्रत्यक्षविरुद्ध है। (५) तथा, जब योगसिद्ध पुरुष उपशमभाव के सुधारस से सभर सुख से छलाछल अवस्था में निमग्न हो जाता है तब पुद्गल के स्वरूप से और रागादि से अत्यन्त विमुक्त अपनी आत्मा को महेशुस करता है इस लिये 'मोक्ष नहीं है' यह विधान भी प्रत्यक्षविरुद्ध है। (६) तथा, जब सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् आचरण का उत्कर्ष मंद या मंदतर अवस्था में विद्यमान

कर्तृत्वोपलब्धेश्च, स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्तसूपादिभोक्तृत्वसंवेदनाच्च, पुद्गललक्षणविलक्षणतया रागादि-
विक्लतया च शमसुखरसावस्थायां कथंचित् तस्योपलब्धेश्च, स्वोत्कर्षतरतमादिभावतो रागाद्यपचय-
तरतमभावविधायिसम्यग्ज्ञानदर्शनादेरुपलम्भाच्च ।

अनुमानतोऽपि विरोधः, तथाभूतज्ञानकार्यान्यथानुपपत्तितः चैतन्यलक्षणस्यात्मनः सिद्धिः घटादिवद्
रूपादिगुणतः ज्ञानस्वरूपगुणोपलम्भात् कथंचित्तदभिन्नस्यात्मलक्षणस्य गुणिनः सिद्धिरिति कथं नानुमान-
विरोधः ? ! इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याऽप्रसिद्धेः अप्रसिद्धविशे-
षण-विशेष्योभयदोषैर्दुष्टश्च पक्षः । 'आत्मा' इति वचनेन तत्सत्ताभिधानम् 'नास्ति' इत्यनेन च तत्प्रति-
षेधाभिधानमिति पदयोः प्रतिज्ञावाक्ये व्याघातः लोकविरोधश्च तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो
लोकेन व्यवहियमाणत्वात् स्ववचनविरोधश्च तत्प्रतिपादकवचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तेः । हेतुरपि
इतरनिरपेक्षैकधर्मरूपोऽसिद्धः तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलब्धेः सर्वत्र तद्विपरीत एव भावाद् विरुद्धश्च ।
दृष्टान्तश्च साध्यसाधनधर्मविकलः तथाभूतसाध्यसाधनधर्माधिकरणतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धेः । तत्र
प्रथम पक्षः ।

होता है तब मंद या मंदतर मात्रा में रागादि का विलय अनुभूत होता है; एवं जब सम्यग् दर्शनादि का
उत्कर्ष उग्र-उग्रतर दशा में विद्यमान होता है तब उग्र-उग्रतर यावत् पराकाष्ठा तक रागादि दोषों का विलय
भी अनुभूत होता है अतः 'मोक्ष का उपाय नहीं है' यह विधान भी प्रत्यक्षविरुद्ध लक्षित होता है, क्योंकि
उक्त अन्वयव्यतिरेक से सम्यग्दर्शनादि में ही मोक्ष की कारणता सिद्ध होती है।

✽ मिथ्या छः स्थानकों में अनुमानविरोधप्रदर्शन ✽

आत्मा का नास्तित्वादि अनुमानविरुद्ध है। जैसे रूपादि गुण घटादि आधार के बिना सम्भव न होने
से घट के रूपादिगुणों से उन के आश्रयभूत घटादि की सिद्धि होती है वैसे ही ज्ञानादि गुण स्वरूप कार्य
भी उस के आधारभूत आत्मा के बिना सम्भव न होने से चैतन्यस्वरूप आत्मा की सिद्धि अनुमानप्रमाण से
होती है। ज्ञान और आत्मा में कथंचित् अभेद ही होता है, अतः ज्ञानात्मक गुण का उपलम्भ होने पर
आत्मस्वरूप गुणी की सिद्धि निर्विवाद होती है — इस तादात्म्यमूलक अनुमान के साथ नास्तित्वादिप्रतिपादन
का विरोध क्यों नहीं होगा ? तदुपरांत, आत्मा पक्ष 'अप्रसिद्ध विशेषण और 'अप्रसिद्ध विशेष्य' दोष से दुष्ट
है। कैसे यह देखिये- आत्मा का विशेष्य रूप में और नास्तित्वादि का विशेषण के रूप में निर्देश किया
गया है किन्तु विशेषण इतरधर्मनिरपेक्ष धर्मस्वरूप होता है, अस्तित्वसापेक्ष होने से नास्तित्व वैसा धर्म नहीं
होने से विशेषण असिद्ध है। तथा विशेषण के आधार को विशेष्य कहा जाता है, किन्तु यहाँ विशेषण असिद्ध
होने से उस का आधार भी असिद्ध है अतः विशेष्य-असिद्धि दोष भी प्रसक्त है। जब 'आत्मा' शब्दप्रयोग
किया जाता है तब उस से तो आत्मा की सत्ता का निर्देश किया जाता है, फिर 'नास्ति' शब्द से उस
की सत्ता का निषेधवचन करने पर प्रतिज्ञावाक्य में उन दोनों पदों का परस्पर व्याघात हो जाता है। तथा
लोक में तो सत्तादिविशेषणविशिष्ट धर्मों का ही व्यवहार किया जाता है, जो सत्तादिविशेषण शून्य हो उस का
लोक में व्यवहार नहीं होता। अतः 'आत्मा नास्ति' ऐसा कहने पर लोकव्यवहार का विरोध प्रसक्त होगा।
तथा, नास्तित्वादि प्रतिपादक वचनप्रयोग अस्तित्वादि इतरधर्म की अपेक्षा से ही किया जा सकता है, फलतः
आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से अपने 'नास्ति' वचन का विरोध भी प्रसक्त होगा। आत्मा में नास्तित्वादि
को सिद्ध करने के लिये इतर निरपेक्ष एक धर्मस्वरूप हेतु होना चाहिये किन्तु यहाँ वैसा कोई हेतु उपलब्ध

नापि द्वितीयः स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात् साधनवैफल्यापत्तेश्च, तथाभूतस्थानेकान्तरूपतयाऽ-
स्माभिरप्यभ्युपगमात्। तस्मात् व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया षडप्येतानि मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥५४॥

न केवलं 'नास्ति' इत्यादिषण्मिथ्यात्वस्थानानि, तद्विपर्ययेणापि एकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह -

अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं।

अत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥५५॥

'अस्ति आत्मा' इति पक्षः पूरणादेर्वादिनः। 'स चाऽविनाशधर्मी' इत्येषा प्रतिज्ञा कपिलमतानु-
सारिणः। 'कर्तृ-भोक्तृस्वभावोऽसौ' इति मतं जैमिनेः। 'तथाभूत एवासौ जडस्वरूपः' इत्यक्षपाद-
कण्मुग्मतानुसारिणः। 'अस्ति निर्वाणम्' अस्ति च मोक्षोपायः' इत्यामनन्ति नास्तिक-याज्ञिकव्यति-

नहीं है इस लिये हेतु असिद्ध है। ऊलटा, यहाँ जो हेतु होगा वह विरुद्ध ही होगा क्योंकि वह हेतु आत्मा में तो कभी नहीं रहेगा, अपि तु रहेगा तो विपक्ष में ही रहेगा। अगर आत्मा में नास्तित्वादि के साधन के लिये किसी दृष्टान्त का उपन्यास किया जाय तो वह भी साध्यधर्म और साधन उभय से शून्य ही होगा, क्योंकि तथाविध नास्तित्वादि साध्य और उस के लिये प्रयुक्त सम्भवित साधन, दोनों का अधिकरण हो ऐसा एक धर्मी कहीं भी प्रसिद्ध नहीं होगा। अतः प्रतिपक्षनिरसनवाला प्रथमपक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

दूसरा विकल्प (२४२-२४) यदि नास्तित्वादि विशेषणों का प्रतिपादन, प्रतिपक्ष के स्वीकार के साथ ही करना अभीष्ट हो तब दो बात हैं, आप एकान्तवादी होने पर आप के नास्तित्वादि मान्य पक्ष के साथ अस्तित्वादि स्वीकार को विरोध प्रसक्त होगा। दूसरी बात, हमारे सामने फिर नास्तित्वादि का साधन निष्फल यानी निरर्थक आयास मात्र बच जायेगा, क्योंकि हम अनेकान्तवादी हैं और हमें अस्तित्व-नास्तित्व उभय का अनेकान्त के रूप में पहले से ही स्वीकार है।

निष्कर्ष :- 'आत्मा नहीं है' इत्यादि छः स्थान एकान्तगर्भित होने पर मिथ्यात्व के ही आश्रयस्थान बने रहेंगे ॥५४॥

❀ अस्ति आत्मा-आदि मिथ्यात्व के छः स्थान ❀

'नास्ति' आदि छः ही मिथ्यात्व के स्थान हैं ऐसा मत समझना ! उस से विपरीत 'अस्ति' आदि छः भी मिथ्यात्वस्थान ही हो जायेंगे यदि एकान्तवाद का आसरा लिया जाय। यही तथ्य ५५ वे सूत्र से उजागर किया जा रहा है -

गाथार्थ :- "है - अविनाशधर्मी है - कर्ता है - भोगता है - निर्वाण है - मोक्ष का उपाय है" ये छः मिथ्यात्व के स्थान हैं ॥५५॥

व्याख्यार्थ :- पूरण तापसादि एकान्तवादियों का मत है कि 'आत्मा सत् है'। कपिलमतानुयायी सांख्यवादियों की यह प्रतिज्ञा है कि आत्मा अविनाशशील है। मीमांसासूत्र के कर्त्ता जैमिनि का मत है कि आत्मा कर्त्ता भी है भोक्ता भी है, अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्व आत्मा का स्वभाव है। अक्षपाद और कणाद के अनुयायी वैशेषिक-नैयायिक पंडितों का मत ऐसा है कि कर्त्ता-भोक्ता होने पर भी आत्मा जडस्वभाव है (क्योंकि ज्ञान उस का स्वभाव नहीं किन्तु आगन्तुक-विनाशी-भिन्न गुण है।) नास्तिक और मीमांसको को छोड़ बाकी सब पाखण्डियों का (यानी जैनेतर आस्तिक दार्शनिकों का) यह मत है कि मोक्ष है और उस का उपाय

रिक्ताः पाषण्डिनः । एते चाभ्युपगमा एकान्ताभ्युपगमत्वाद् मिथ्यास्थानानि । एष्वपि पूर्ववद् विकल्पद्वयेऽपि तद्दोषानतिक्रान्तेः एकान्तेन तदस्तित्वादेरध्यक्षाऽनुमानाभ्यामप्रतीतेः तथाभ्युपगमे च स्वास्तित्वेनेवान्य-भावास्तित्वेनापि तस्य भावात् सर्वभावसंकीर्णताप्रसक्तेः स्वस्वरूपाऽव्यवस्थितेः स्वपुष्पवदसत्त्वमेव स्यात् इत्यादिदूषणमसकृत् प्रतिपादितम् । हेतु-दृष्टान्तदोषाश्च पूर्ववदत्रापि वाच्याः ।

चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिदन्यथा पठन्ति - 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं' ति । अत्र तु पाठे इतरधर्मा-ऽजहद्वृत्ता प्रवर्तमाना एते षट् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्त इति व्याख्येयम् । न च 'स्यादस्ति आत्मा' 'स्यान्नित्यः' इत्यतादिप्रतिज्ञावाक्यम् अध्यक्षादिना प्रमाणेन बाध्यते, स्व-परभावाभावोभयात्मक-भावावभासकाध्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेणान्यथाभूतस्याध्यक्षादेरप्रतीतेः ; तेनानुमानाभ्युपगमस्ववचन-

भी है। ये सब मत एकान्तवासनागर्भित होने से मिथ्यात्व के स्थान है। 'अस्ति' आदि एकान्त स्थानों में भी 'नास्ति' आदि स्थानों की तरह बहुत दूषण हैं और पहले कई बार उस का निरूपण हो चुका है। फिर भी संक्षेप में देख लीजिये - अस्तित्वादि विशेषणों का प्रतिपादन प्रतिपक्ष के निषेधपूर्वक करेंगे या स्वीकारपूर्वक ? फिर नास्तित्व की तरह यहाँ भी प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष और अनुमान का विरोध प्रसक्त होगा। कारण, किसी भी चीज का अस्तित्व एकान्तरूप से यानी सर्वरूप से किसी को भी प्रतीत नहीं होता। उदा. जो श्वेतरूप से सत् प्रतीत होता है वह श्वेतभिन्नरूपों से सत् नहीं भासता। यदि कोई भी वस्तु सर्वप्रकार से सत् होगी तो अग्नि जलरूप से और जल अग्निरूप से - अथवा प्रकाश तमसरूप से और तमस् प्रकाशरूप से 'सत्' मानना पडेगा, इस स्थिति में पदार्थ का कोई एक प्रकाशादिमय स्वरूप सुनिश्चित नहीं रहेगा, सभी भाव संकीर्णस्वरूपवाले हो जायेंगे। संकीर्ण स्वरूप हो जाने पर उस का निश्चित एक स्वरूप न रहने से गगनकुसुम की तरह वह 'असत्' ही निश्चित होगा। - इस प्रकार के दूषणों का पहले कई बार निरूपण हो चुका है। उपरांत, नास्तित्वादि के बारे में जैसे हेतु और दृष्टान्त को सदोष करार दिया था वैसे यहाँ अस्तित्वादि के बारे में भी समझ लेना चाहिये।

❀ स्याद् अस्ति - आदि सम्यक्त्व के छः स्थान ❀

५५ वीं गाथा का चौथा पाद 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं' ऐसा जो है उस के बदले कुछ विद्वान् 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं' ऐसा पाठ प्रस्तुत करते हैं। तब इस पाठ के अनुसार पूरे सूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी - 'अपने प्रतिपक्षी धर्म का त्याग किये विना कहे जाने वाले 'अस्ति' आदि छः पक्ष सम्यक्त्व के आधारस्थान बन जाते हैं।' जब प्रतिपक्ष का सर्वथा त्याग नहीं किया जाय तब प्रतिज्ञा वाक्य 'स्याद् अस्ति' (यानी कथंचित् - किसी अपेक्षा से है) 'स्याद् नित्यः' इस ढंग से 'स्यात्' पद से अलंकृत किया जाता है। 'स्यात्' पद गर्भित प्रतिज्ञावाक्य किसी भी प्रत्यक्षादिप्रमाण से बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाण से यही अवभास होता है कि प्रत्येक भाव उभयात्मक है - अर्थात् स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है; इस से विपरीतस्वरूपवाले पदार्थ की किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीति होती नहीं है। जब प्रत्यक्षादि प्रमाण से उभयात्मक भाव अवगत होता है तब पूर्वोक्त 'अस्ति आत्मा' आदि प्रतिज्ञावाक्य में न तो अनुमानविरोध है, न स्वमतविरोध है, न स्ववचनव्याघात है, और न लोकव्यवहार के विरोध को अवकाश मिल सकता है। कारण एक ही है कि 'सत्-असत् उभयात्मक वस्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचर हो रही है अतः उस में किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश नहीं बचता।

यहाँ प्रतिज्ञा वाक्य में आत्मा को विशेष्य कर के अस्तित्वादि को विशेषणों के रूप में प्रस्तुत किया

लोकव्यवहारविरोधोऽपि न प्रतिज्ञायाः, अध्यक्ष्यादिप्रमाणावसेये सदसत्तात्मके वस्तुनि कस्यचिद् विरोध-स्याऽसम्भवात्। न चाऽप्रसिद्धविशेषणः पक्षः लौकिक-परीक्षकैस्तथाभूतविशेषणस्याऽविप्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतेः, अन्यथा विशेषणव्यवहारस्योच्छेदप्रसंगात् अन्यथाभूतस्य तस्य क्वचिदप्यसम्भवात् तथाभूतविशेषणात्मकस्य धर्मिणः सर्वत्र प्रतीतेर्नाप्रसिद्धविशेष्यतादोषः। नाप्यप्रसिद्धोभयता दूषणम् तथाभूतद्वयव्यतिरेकेणान्यस्याऽसत्त्वतः प्रमाणाऽविषयत्वात्।

हेतुरपि नाऽप्रसिद्धः तत्र तस्य सत्त्वप्रतीतेः, विपक्षे सत्त्वाऽसम्भवात् नापि विरुद्धः, अनैकान्तिकताऽपि अतः एवाऽयुक्ता। दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकलत्वादयो नात्र सम्भविनः, असिद्धत्वादिदोषवत्येव साधने तेषां भावात्। न चानुमानतोऽनेकान्तात्मकं वस्तु तद्वादिभिः प्रतीयते अध्यक्षसिद्धत्वात्। यस्तु प्रतिपत्नेऽपि ततस्तस्मिन् विप्रतिपद्यते तं प्रति तत्प्रसिद्धत्वेनैव न्यायेनानुमानोपन्यासेन विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव विधीयते इति नाऽप्रसिद्धविशेषणत्वादेर्दोषस्याऽवकाशः। प्रतिक्षणपरिणाम-परभागादीनां तूत्तरविकाराऽर्वागभागदर्शनान्यथानुपपत्त्याऽनुमाने नाध्यक्षादिबाधा अस्मदाद्यध्यक्षस्य सर्वात्मना वस्तु-

गया है। यदि कोई यहाँ विशेषणों को अप्रसिद्ध करार दे तो यह उचित नहीं है क्योंकि न केवल लोगों को, अपि तु परीक्षकों को भी आत्मा के अस्तित्व, नित्यत्वादि विशेषणों का निर्विवादरूप से सर्वत्र भान होता है। यदि इन विशेषणों का इन्कार किया जाय तो फिर सर्वत्र विशेषणव्यवहार का उच्छेद हो जायेगा। आत्मा को सत् आदि रूप से विशेषित कर के उस का ज्ञान कराता है इसीलिये अस्तित्वादि आत्मा के विशेषण बनने के काबिल है, किन्तु यदि इस का इन्कार किया जाय तो नीलादिरूप भी विशेषण बनने के काबिल नहीं रहेगा, फलतः विशेषणव्यवहार का विलोप होना स्वाभाविक है। अस्तित्वादि से सर्वथा उलटा ही ऐसे विशेष्यभूत आत्मा पदार्थ का कहीं भी सम्भव नहीं है और 'अस्तित्व' आदि विशेषणात्मक धर्म आत्मा की सर्वत्र प्रतीति होती है इस लिये उक्त प्रतिज्ञा में धर्म की या विशेष्य की असिद्धि का दोष भी निरवकाश है। यहाँ विशेष्य-विशेषण — उभय की अप्रसिद्धता का दोष सम्भव ही नहीं है, क्योंकि विशेष्यभूत आत्मा एवं अस्तित्वादि उस के विशेषणों के अलावा और कोई यहाँ प्रतिज्ञावाक्य में विशेष्य या विशेषण के रूप में प्रमाणगोचर न होने से असत् है।

❀ आत्म-अस्तित्वादि साधने में हेतुदोष-दृष्टान्तदोष निरवकाश ❀

आत्मा के अस्तित्वादि धर्मों की सिद्धि के लिये कोई हेतु ही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञानादि हेतु के रूप में आत्मा में विद्यमान हैं यह अनुभवसिद्ध है। ज्ञानादि हेतु विपक्षभूत जड पाषाणादि में नहीं रहता अतः हेतु में विरुद्ध दोष का उद्भावन अशक्य है। विपक्ष में वृत्ति न हो से ही यह ज्ञानादि हेतु साध्यद्रोही भी नहीं हो सकते। यहाँ साध्यवैकल्यादि दृष्टान्तगत दोषों को भी अवकाश नहीं है क्योंकि जहाँ हेतु में असिद्धि आदि दोष रहता हो वहाँ ही दृष्टान्त में साध्यवैकल्यादि दोष हो सकता है।

यह भी समझने जैसा है कि हम तो वस्तु को अनेकान्तात्मक मानते हैं अतः हमारे मत में साध्य-हेतु-दृष्टान्त सब अनेकान्तात्मक होते हैं जब कि प्रतिवादी तो वैसा नहीं मानते है अतः उस की ओर से विशेषणासिद्धि आदि किसी भी दोष का आरोपण व्यर्थ-प्रयास है। जो लोग अनेकान्तमय वस्तु का प्रत्यक्ष करते हुए भी उस का स्वीकार नहीं करते हैं, विवाद करते हैं, उन के सामने उस के मतानुरूप ही न्याय का प्रयोग कर के जब हमारी ओर से अनुमान का उपन्यास किया जाता है तब उस का प्रयोजन सिर्फ विवाद का यानी प्रतिवादी

ग्रहणाऽसामर्थ्यात् स्फटिकादौ चार्वागभाग-परभागयोरध्यक्षत एवैकदा प्रतिपत्तेः । न च स्थैर्यग्राह्यध्यक्षं प्रतिक्षणपरिमाणानुमाने विरुध्यतेऽस्य तदनुग्राहकत्वात् कथंचित् प्रतिक्षणपरिणामस्य तत्प्रतीत-स्यैवानुमानतोऽपि निश्चयात् ॥५५॥

अनेकान्तव्यवच्छेदेनैकान्तावधारितधर्माधिकरणत्वेन धर्मिणं साधयन्नेकान्तवादी न साधर्म्यतः साधयितुं प्रभुः नापि वैधर्म्यतः इति प्रतिपादयन्नाह -

साहम्मउ व्व अत्थं साहेज्ज परो विहम्मओ वा वि ।

अण्णोण्णं पडिकुट्ठा दोण्णवि एए असव्वाया ॥५६॥

‘समानः = तुल्यः साध्यसामान्यान्वितः साधनधर्मो यस्य’ असौ सधर्मा साधर्म्यदृष्टान्तापेक्षया साध्यधर्मी, तस्य भावः साधर्म्यम् ततो वा अर्थं साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिणं साधयेत् परः अन्वयि-हेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मिणि विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकादिः साधयेत् तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात् अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात् । अथ वैधर्म्याद् - ‘विगतस्तथाभूतः साधनधर्मो यस्माद्’ असौ

के मत का निरसनमात्र होता है न कि स्वतन्त्र साधन । अतः वैसे अनुमान प्रयोगों में हम प्रतिवादी सम्मत हेतु-दृष्टान्त प्रयोग करते हैं तब अप्रसिद्ध-विशेषणता आदि दोषों के आरोप को अवकाश नहीं रहता ।

तथा, उत्तरकालीन विकार को हेतु कर के क्षण क्षण वस्तु परिवर्तन का और अग्रिम भाग के दर्शन से पाश्चात्य भाग का अनुमान किया जाय तब वहाँ प्रत्यक्षबाधादि दोष को अवकाश नहीं होता, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष इतना सशक्त नहीं होता कि वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों का ग्रहण कर सके । हाँ, स्फटिक काच आदि ऐसे पदार्थ भी होते हैं जिस के अग्रिम और पाश्चात्य दोनों भागों को एक साथ भी प्रत्यक्ष से देख सकते हैं । अनेकान्त मत में वस्तु के स्थायित्व को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष के साथ प्रतिक्षणपरिवर्तनशीलता के अनुमान का कोई विरोध सम्भव नहीं है, क्योंकि स्थायित्वग्राही प्रत्यक्ष ही वस्तु के प्रतिक्षणपरिवर्तन का भी अंशतः ग्रहण करता है अतः वह स्थायित्वग्राहक प्रत्यक्ष तो प्रतिक्षण परिणाम के अनुमान का समर्थक है । प्रतिक्षणगृहीत प्रतिक्षणपरिणाम का ही पुनः निश्चय अनुमान से वहाँ किया जाता है ॥५५॥

✽ साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा एकान्तवाद में सिद्धि दुष्कर ✽

एकान्तवादी चाहे कि अनेकान्तवाद को त्याग दिया जाय और एकान्तरूप से निर्धारित धर्म के अधिकरण के रूप में धर्मों को सिद्ध किया जाय तो वह चाहे इस तथ्य को साधर्म्य से सिद्ध करे या वैधर्म्य से, लेकिन सफल नहीं हो सकेगा - इसी तथ्य का निरूपण ५६ वे सूत्र में किया जा रहा है -

गाथार्थ :- प्रतिवादी साधर्म्य से अर्थसिद्धि करे या वैधर्म्य से, वे दोनों ही असद्वाद है क्योंकि परस्पर विरुद्ध हैं ॥५६॥

व्याख्यार्थ :- ‘साधर्म्य’ शब्द ‘सधर्मा’ शब्द से - भाव में ‘य’ प्रत्यय लगने से बना है । सधर्मा शब्द की व्युत्पत्ति है - समान है साधनधर्म जिस का । समान यानी तुल्य और साधनधर्म से यहाँ साध्य-सामान्य से अन्वित साधनधर्म अभिप्रेत है । ऐसे सधर्मा का भाव ही साधर्म्य है । तात्पर्य यह है कि दृष्टान्त में और पक्ष में, साध्य का आधारभूत धर्मों जब साध्य के साथ व्याप्ति से अन्वित साधनधर्म से समन्वित होता है तब दोनों ही समानधर्मा हो जाते हैं और ऐसे स्थल में दृष्टान्त को साधर्म्य दृष्टान्त कहा जाता है । वैशेषिकादि पंडित जब साधर्म्य दृष्टान्त के आधार पर साध्यधर्म के अधिकरणरूप में पक्ष को सिद्ध करना चाहेंगे, अर्थात्

विधर्मा तस्य भावो वैधर्म्यम् ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत्। उभाभ्यां वा 'वा' शब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् - तथापि तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः, श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वादेरन्यत्र गौरपुरुषेऽभावाद्, उभाभ्यामपि तत्साधनेऽत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिः स्यात्।

अथात्र कालात्ययापदिष्टत्वादिदोषसद्भावाद् न साध्यसाधकताप्रसक्तिः। न, असिद्ध-विरुद्धाऽ-नैकान्तिकहेत्वाभासमन्तरेणापरहेत्वाभासाऽसम्भवात्। न च त्रैरूप्यलक्षणयोगिनोऽसिद्धत्वादिहेत्वाभासता कृतकत्वादेरिवाऽनित्यत्वसाधने सम्भवति, अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैरूप्यं प्रकृतहेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता ?!

यदि वे अन्वयव्याप्तिर्गर्भित हेतु का उपन्यास कर के पक्ष में अपने इष्ट साध्य को सिद्ध करना चाहते हैं तो सफल नहीं होते। कारण, साधर्म्य मात्र से साध्यसिद्धि मान लेने पर तत्पुत्रत्व आदि हेतु भी साध्यसाधक बन बैठेंगे क्योंकि वैसा अन्वय यानी साधर्म्य तो यहाँ भी विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि नूतन जात (गौरवर्ण) पुरुष में श्यामत्व सिद्ध करने के लिये तत्पुत्रत्व को हेतु किया जाय तो वह उस के सहोदर सभी श्याम बन्धुओं में विद्यमान होने से साधर्म्य दृष्टान्त के आधार पर नूतन जात पुरुष में श्यामत्व का साधक हो बैठेगा, क्योंकि अन्वय तो यहाँ भी मौजूद है।

यदि प्रतिपक्षी एकान्तवादी वैधर्म्य से अपना उल्लू सीधा करना चाहे तो वहाँ भी वही दोष होगा। साध्यसामान्य के साथ अन्वय धारण करने वाला साधनधर्म जिस में नहीं रहता उस की 'विधर्मा' संज्ञा है। विधर्मा का भाव वैधर्म्य, यानी विधर्मा में न रहनेवाला हेतु-व्यतिरेकी हेतु भी इसे कहा जाता है। ऐसे व्यतिरेकी हेतु से साध्यसिद्धि अभीष्ट हो तब भी तत्पुत्रत्व हेतु से नूतन जात (गौरवर्ण) बच्चे में श्यामत्व सिद्ध हो बैठेगा, क्योंकि जो महिला उस नूतन जात बच्चे की माता नहीं है उस महिला के गौरवर्णवाले पुत्रों में श्यामत्व का अभाव और तत्पुत्रत्व (यानी नूतनजात बच्चे की माता से निरूपित पुत्रत्व) का अभाव दोनों ही रह जाते हैं।

मूल सूत्र में 'वा' शब्द तीसरे 'उभय' विकल्प का समुच्चायक है। अर्थात् केवल साधर्म्य या वैधर्म्य नहीं किन्तु साधर्म्य-वैधर्म्य उभय से यानी अन्वय-व्यतिरेकी हेतु से यदि साध्यसिद्धि अभीष्ट हो तब भी तत्पुत्रत्व से साध्यसिद्धि होने की विपदा तदवस्थ रहती है क्योंकि जिस पुरुष में तत्पुत्रत्व हेतु नहीं है वैसे अन्य गौरवर्णवाले पुरुष में श्यामत्व भी नहीं है। अतः अन्वय-व्यतिरेकी हेतु से यदि एकान्तवादी को साध्यसिद्धि अभीष्ट हो तब तत्पुत्रत्व से भी साध्यसिद्धि प्रसक्त होगी।

✽ प्रासंगिक हेत्वाभास चर्चा ✽

वादी :- तत्पुत्रत्व हेतु स्थल में गौर पुरुष में श्याम वर्ण प्रत्यक्ष बाधित अर्थात् कालात्ययापदिष्टता आदि दोष से दुष्ट है अतः श्यामवर्णरूप साध्य की सिद्धि का अतिप्रसंग नहीं होगा।

प्रतिवादी :- 'बाध' यानी कालात्ययापदिष्टता यह कोई स्वतन्त्र हेत्वाभास (दोष) नहीं है। संभवित हेत्वाभास तीन ही हैं - ^१असिद्ध, ^२विरुद्ध और ^३अनैकान्तिक। इन के अलावा और कोई हेत्वाभास नहीं होता। जो हेतु पक्षवृत्तित्वा, सपक्षवृत्तित्वा और विपक्ष से निवृत्ति इन तीन लक्षणों से जुड़ा रहता है उस में कभी भी असिद्धि, विरुद्धता या साध्यद्रोह जैसे हेत्वाभास दोष उठर नहीं सकता। जैसे अनित्यत्व साध्य की सिद्धि के लिये कृतकत्व हेतु का उपन्यास किया जाय तो वह तीन लक्षणों से अलंकृत रहने के कारण हेत्वाभास नहीं होता, सद्हेतु ही होता है। वादी के मतानुसार जो तत्पुत्रत्व हेतु है उस में भी लक्षणत्रयी मौजूद है, तो फिर उस को हेत्वाभास कैसे कह सकेंगे ?

अथ भवत्वयं दोषः येषां त्रैरूप्येऽविनाभावपरिसमाप्तिः, नास्माकं पञ्चलक्षणहेतुवादिनाम्, प्रकरण-समादेरपि हेत्वाभासत्वोपपत्तेः त्रैलक्षण्यसद्भावेऽप्यपरस्यासत्प्रतिपक्षत्वादेर्हेतुलक्षणस्याऽसम्भवेन तदाभासत्वसम्भवात्। 'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः' (न्यायद० १-२-७) इति प्रकरणसमस्य लक्षणाभिधानात् - प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते अनिश्चितौ पक्ष-प्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशयात् प्रभृति आनिश्चयादालोचनस्वभावा यतो भवति स एव तन्निश्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरण-समः। पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात् उभयत्रापि अन्वयादिसद्भावात्।

तथाहि तस्योदाहरणम् - 'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं घटादि अनित्यं दृष्टम् यत् पुनर्नित्यं न तदनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं यथाऽऽत्मादि' - एवं चिन्तासम्बन्धिपुरुषेण तत्त्वानुपलब्धेरेकदेशभूताया अन्यतरानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वेनोपन्यासे सति द्वितीयश्चिन्तासम्बन्धी पुरुष आह - यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं साध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरप्यन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथाहि - नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः अनुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमात्मादि, यत् पुनर्न

वादी :- जिन के मत में हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव उक्त तीन लक्षणों से ही निश्चित हो जाता है उन के मत में तत्पुत्रत्व हेतु से श्यामत्व की सिद्धि का दोष होने दो। हम तो पाँच लक्षण से अलंकृत हेतु को ही सद्हेतु मानते हैं अतः हमारे मत में उस दोष को अवकाश ही नहीं है। हमारे मत में प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्षित) हेतु को भी हेत्वाभास ही माना जाता है। असत्प्रतिपक्षितत्व और अबाधितत्व ये और दो लक्षण हेतु के माने जाते हैं। उक्त तीन लक्षणों के होते हुए भी और दो लक्षण असत्प्रतिपक्षितत्वादि, उस तत्पुत्रत्व हेतु में सम्भव न होने से वह हेतु हेत्वाभास हो सकता है।

न्यायदर्शन में प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्षित) हेतु का लक्षण कहा है - जिस से प्रकरणचिन्ता करनी पड़े वह हेतु प्रकरणसम होता है। यहाँ 'प्रकरण' शब्द का तात्पर्य है - जहाँ पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही अनिश्चित होने के कारण सिद्धि के लिये प्रतीक्षित किये जाते हैं वैसे पक्ष और प्रतिपक्ष उभय को प्रकरण कह जाता है। दोनों ही आमने सामने आ जाने से, उन की सच्चाई के बारे में संशय या जिज्ञासा खड़ी हो जाती है और जब तक निर्णय न हो तब तक वे दोनों संशय से लेकर विचाराधीन ही रह जाते हैं - यह चिन्ता है। जो पक्ष-प्रतिपक्ष में से कोई भी एक, जो कि विचाराधीन है, उसी को ही यदि निश्चय के लिये प्रयुक्त किया जाय तो वैसे पक्ष या प्रतिपक्ष, अर्थात् उस में प्रयुक्त किये गये हेतु 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है, क्योंकि दोनों ही पक्ष में वह चिन्ता समानरूप से अनिवार्य बन जाती है, क्योंकि दोनों ही पक्ष में पक्षवृत्तित्वरूप अन्वयादि तीन लक्षण मौजूद रहते हैं।

✽ प्रकरणसम यानी सत्प्रतिपक्ष का उदाहरण ✽

प्रकरणसम का यह उदाहरण देखिये - एक वादी कहता है - शब्द अनित्य है क्योंकि उस में कोई नित्य पदार्थ के धर्मों की (अविनाशित्वादि की) उपलब्धि नहीं होती। उदा. जिस में नित्य के धर्म की उपलब्धि नहीं होती वह अनित्य देखा गया है जैसे घटा आदि। और जो नित्य होता है उस में नित्य के धर्म की अनुपलब्धि नहीं होती जैसे कि आत्मा में। ज्ञातव्य है कि यहाँ शब्द में जैसे नित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होती वैसे अनित्य धर्म की भी उपलब्धि दुष्कर है। अर्थात् तत्व क्या है - नित्यधर्मवत्ता या अनित्यधर्मवत्ता ? दोनों की अनुपलब्धि यहाँ तत्त्वानुपलब्धि कही गयी है। जब चिन्ताकारक एक वादी उक्त तत्त्वानुपलब्धि के एक अंशभूत नित्यधर्मानुपलब्धिस्वरूप अन्यतरानुपलब्धि का साधनरूप में उपन्यास कर के शब्द में अनित्यत्व

नित्यं तत् नानुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकम् यथा घटादि। एवमन्यतरानुपलब्धेरुभयपक्षसाधारणत्वात् प्रकरणानतिवृत्तेर्हेत्वाभासत्वम्। न च निश्चितयोः पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहेऽधिकारात् कथं चिन्तायुक्त एवं साधनोपन्यासं विदध्यात् इति वक्तव्यम्, यतोऽन्यदा संदेहेऽपि चिन्तासम्बन्धी पुरुषः अन्यतरानुपलब्धेः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकान् अवगच्छन् तद्वलात् स्वसाध्यं यदा निश्चिनोति तदा द्वितीयस्तामेव स्वसाध्यसाधनाय हेतुत्वेनाऽभिधत्ते। यद्यतस्त्वत्पक्षसिद्धिः अत एव मत्पक्षसिद्धिः किं न भवेत् त्रैरूप्यस्य पक्षद्वयेऽपि अत्र तुल्यत्वात्।

अथ नित्यत्वानित्यत्वैकान्तविपर्ययेणापि अस्याः प्रवृत्तेरनैकान्तिकता, उभयवृत्तिर्हैनैकान्तिकः न प्रकरणसमः। न, यत्र पक्ष-सपक्ष-विपक्षाणां तुल्यो धर्मो हेतुत्वेनोपादीयते तत्र संशयहेतुता साधारणत्वेन तस्य विरुद्धविशेषानुस्मारकत्वात्, न तु प्रकृत एवंविधः यतो नित्यधर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावः न नित्ये। एवमनित्यधर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावः नाऽनित्ये। एवं चैकत्र साध्ये विपक्षव्यावृत्तेः प्रकरण-

सिद्ध करना चाहता है; तब दूसरा चिन्ताकारक पुरुष कह सकता है — यदि इस ढंग से आप अनित्यत्व को सिद्ध करते हैं तो नित्यत्व भी इसी ढंग से सिद्ध हो सकता है क्योंकि अनित्य धर्मानुपलब्धिरूप अन्यतरानुपलब्धि हेतु नित्यत्व सिद्ध करने के लिये मौजूद है। देख लो — शब्द नित्य है क्योंकि उस में कोई अनित्य पदार्थ का धर्म उपलब्ध नहीं होता। जिस में अनित्य पदार्थ का धर्म उपलब्ध नहीं होता वह नित्य देखा गया है जैसे आत्मा आदि द्रव्य। उस से उलटा (यानी व्यतिरेकी दृष्टान्त-) जो नित्य नहीं होता उस में अनित्य के धर्म की अनुपलब्धि नहीं होती जैसे कि घडा आदि में।

इस प्रकार यहाँ शब्द नित्य है या अनित्य — इस चर्चा में दोनों वादी ओर से अन्यतरानुपलब्धि (नित्य धर्म की या अनित्यधर्म की अनुपलब्धि) समानरूप से दोनों ही पक्ष में प्रयुक्त होने पर, प्रकरण चर्चा समाप्त होने के बदले जारी रहती है, अत एव इसे हेत्वाभास कहा जाता है। यदि यह प्रश्न हो जाय- ‘एक पक्ष का या दूसरे पक्ष का (प्रतिपक्ष का) स्वीकार निश्चित अन्यतरानुपलब्धि के ऊपर ही अवलम्बित है, निश्चय रहे तभी वादी को उक्त प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है, किन्तु यहाँ तो अन्यतरानुपलब्धि निश्चित ही नहीं है, फिर कैसे वह इस प्रकार के साधन को प्रस्तुत कर सकते हैं?’ — तो इस का उत्तर यह है कि कभी कभी संदेह के रहते हुए भी चिन्ताकारक वादी पुरुष को जब किसी एक अनुपलब्धि में पक्षवृत्तित्व, अन्वय (सपक्षवृत्तित्व) और व्यतिरेक यानी विपक्षव्यावृत्ति का निश्चितरूप से भान हो जाता है तब उस के बल पर वह अपने इष्ट साध्य का भी निश्चय करने को सज्ज हो जाता है — उस के सामने तब दूसरा वादी उसी ढंग से अन्यतरानुपलब्धि को अपने इष्ट साध्य की सिद्धि के लिये हेतु के रूप में प्रस्तुत कर देता है। उस में उस का अभिप्राय यह है कि अगर तथाविध अन्यतरानुपलब्धि से वादी का पक्ष सिद्ध हो सकता है तो अन्यतरानुपलब्धि से ही मेरा (प्रतिवादी का) पक्ष भी सिद्ध हो सकता है क्योंकि दोनों ही मत में, हेतु में पक्षवृत्तित्वादि तीन लक्षण तुल्य है।

✽ अन्यतरानुपलब्धि हेतु अनैकान्तिक ? - शंकानिवारण ✽

कोई विद्वान कहता है कि यह हेतु अनैकान्तिक ही है, क्योंकि अन्यतरानुपलब्धि की प्रवृत्ति नित्यत्व एकान्त के विपरीत अनित्यत्व की, ओर अनित्यत्व एकान्त से विपरीत नित्यत्व की सिद्धि के लिये भी हो रही है। जो हेतु इस तरह दोनों पक्ष में रहता हो वह अनैकान्तिक होता है न कि प्रकरणसम।

इस के सामने वादी का कहना है कि यह अनैकान्तिक नहीं है। जो हेतु पक्ष-सपक्ष और विपक्ष तीनों

समता नानैकान्तिकता पक्षद्वयवृत्तितया तस्याभावात्। ननु यद्ययं पक्षद्वये वर्तते तदा साधारणानैकान्तिकः, अथ न प्रवर्तते कथमयं पक्षद्वयसाधकः स्यात् अतद्वृत्तेरतत्साधकत्वात्। न, पक्षद्वये प्रकृतस्य वृत्त्यभ्युपगमात्। तथाहि - साधनकालेऽनित्यपक्षे एव नित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते न नित्ये, यदापि नित्यत्वं साध्यं तदापि नित्यपक्ष एवानित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते नाऽनित्ये। ततश्च सपक्षे एव प्रकरणसमस्य वृत्तिः, सपक्षविपक्षोश्चानैकान्तिकस्य, साध्यापेक्षया च पक्ष-सपक्ष-विपक्षव्यवहारः नान्यथा, तेन साध्यद्वयवृत्तिः उभयसाध्यसपक्षवृत्तिश्च प्रकरणसमः न तु कदाचित् साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिः। अनैकान्तिकस्तु विपक्षवृत्तिरपीत्यस्माद् अस्य भेदः। न तु रूपत्रययोगेऽपि अस्य हेतुत्वम् सप्रतिपक्षत्वात्।

यस्य तु प्रतिबन्धपरिसमाप्ती रूपत्रययोगे, तेन प्रकरणसमस्य नाऽहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम्। न चास्य कालात्ययापदिष्टत्वम् अबाधितविषयत्वात् ययोर्हि प्रकरणचिन्ता तयोरयं हेतुः, न च तौ संदिग्ध-

में समानरूप से विद्यमान होता है तब वह संशय का हेतु बन जाता है, क्योंकि वह तीनों में साधारण होने से विरुद्ध यानी विपक्ष की विशेषता का यानी साध्यविपर्यय का स्मारक बन जाने से अनुमिति को रोक देता है। यही अनैकान्तिक है। प्रकरणसम हेतु वैसा नहीं है। कारण यह है कि - नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु का भाव (अस्तित्व) अनित्य में ही होता है न कि विपक्षभूत नित्य में। तथा, अनित्यधर्मानुपलब्धि हेतु का भाव (अस्तित्व) नित्य में ही होता है न कि विपक्षभूत अनित्य में। इस प्रकार किसी भी एक पक्ष का हेतु विपक्षवृत्ति न होने से अनैकान्तिक दोष को अवकाश नहीं है, किन्तु प्रकरणसम एक स्वतन्त्र दोष को ही अवकाश है। सपक्ष विपक्ष दोनों पक्ष में रहनेवाला हेतु ही अनैकान्तिक होता है किन्तु प्रस्तुत में ऐसा नहीं है।

प्रश्न :- अगर अन्यतरानुपलब्धि हेतु उभय पक्ष में यानी नित्यवादी के मत में और अनित्यवादी के मत में रहता है तब तो वह साधारणानैकान्तिक दोष से दुष्ट ठहरेगा। यदि वह दोनों पक्ष में (यानी दोनों में से किसी भी एक पक्ष में) नहीं है तो वह दोनों पक्ष का (यानी किसी भी एक पक्ष का) साधक कैसे हो सकता है ? पक्ष में नहीं रहनेवाला धर्म उस पक्ष का साधक नहीं हो सकता।

उत्तर :- उक्त दोष नहीं है क्योंकि अन्यतरानुपलब्धि दो अंश से घटित है और एक-एक अंश ले कर यह अन्यतरानुपलब्धि दोनों ही पक्ष में विद्यमान है, फिर भी कोई साधारणानैकान्तिक दोष नहीं है। कैसे यह देखिये - जब एक वादी अनित्यत्वसिद्धि कर रहा है तब नित्यधर्मानुपलब्धिस्वरूप अन्यतरानुपलब्धि हेतु सिर्फ अनित्यपक्ष में ही रहता है न कि नित्यपक्ष में। एवं, दूसरा वादी नित्यत्व सिद्ध करता है तब अनित्यधर्मानुपलब्धि हेतु सिर्फ नित्य पक्ष में ही रहता है न कि अनित्य पक्ष में। इस से यह स्पष्ट होता है कि प्रकरणसम हेतु सपक्ष में ही रहता है, जब कि जो अनैकान्तिक हेतु होता है वह सपक्ष-विपक्ष दोनों में रहता है। यह ज्ञातव्य है कि पक्ष, सपक्ष या विपक्ष के व्यवहार का मुख्य निमित्त 'साध्य का होना और नहीं होना' है, न कि 'हेतु या अन्य किसी का होना-नहीं होना'। इस से यह भेद स्पष्ट होता है कि अन्यतरानुपलब्धि प्रकरणसम हेतु दोनों वादी के भिन्न भिन्न साध्यवाले पक्ष में जरूर रहता है फिर भी पृथक् पृथक् दोनों साध्य के सपक्ष में ही रहता है न कि विपक्ष में। यानी किसी एक साध्य का उल्लेख लिया जाय तब हेतु विपक्षवृत्ति नहीं होता। जब कि अनैकान्तिक हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहनेवाला है - अतः अनैकान्तिक से प्रकरणसम का भेद स्पष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष :- हेतु के तीन लक्षण पक्षवृत्तित्वादि सब अन्यतरानुपलब्धि हेतु में रहते हुए भी वह सद् हेतु इसी लिये नहीं हो सकता, क्योंकि यह हेतु सत्प्रतिपक्षित है।

त्वाद् बाधामस्योपदर्शयितुं क्षमौ। न च हेतुद्वयसंनिपातादेकत्र धर्मिणि संशयोत्पत्तेस्तज्जनकत्वेनास्यानैकान्तिकता, यतो न संशयहेतुत्वेनानैकान्तिकत्वम् इन्द्रियसंनिकर्षादिरपि तथात्वप्रसक्तेः। न च तत्त्वानुपलब्धिर्विशेषस्मृत्यादिशून्या संशयकारणम् न च तत्सहिताया अस्या हेतुत्वम् केवलाया एव तत्त्वेनोपन्यासात्। न च संदिग्धे विषये भ्रान्तपुरुषेण निश्चयार्थमुपादीयमानाया अस्याः संदेहहेतुता युक्ता। भवतु वा कथंचिद् अतस्संशयोत्पत्तिस्तथापि अनैकान्तादस्य विशेषः। स हि सपक्ष-विपक्षयोः समानः अयं तु तद्विपरीतः साध्यद्वयवृत्तित्वात् तु प्रकरणसमः। न चाऽसम्भवः, अस्यैवविधसाधनप्रयोगस्य भ्रान्तेः सद्भावात्।

अथाऽस्याऽसिद्धेऽन्तर्भावः नित्यत्वादिनो नित्यधर्मानुपलब्धेः इतरस्य चेत्यधर्मानुपलब्धेरसिद्धत्वात्। असदेतत् — यतश्चिन्तासम्बन्धिपुरुषेण प्रकरणसमस्य हेतुत्वेनोपन्यासः तस्य च तत्सम्बन्धिनैव कथमितरेणा-

✽ प्रकरणसम की स्वतन्त्र दोषता का समर्थन ✽

जिन के मत में, उक्त तीन लक्षणों के होने पर अविनाभाव की इतिश्री मान ली जाती है उन के मत में प्रकरणसम हेतु में असद्हेतुत्व यानी हेत्वाभास दिखाना शक्य नहीं है।

प्रकरणसम हेतु को कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहना भी शक्य नहीं है क्योंकि उस का विषय यानी साध्य किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं है। जिन दो पक्षों के बारे में प्रकरणचिन्ता की जाती है उन दो के लिये यहाँ अन्यतरानुपलब्धि हेतु प्रस्तुत होता है, और वे दो पक्ष तो संदिग्ध रहते हैं, अतः संदिग्ध विषयवाले दो पक्ष हेतु को बाध का बलि नहीं बना सकता। यदि यह कहा जाय कि — अनैकान्तिक हेतु का कार्य है पक्ष में साध्य का संदेह खड़ा कर देना, यहाँ एक ही शब्दात्मक धर्मी में अन्यतरानुपलब्धि के दो अंशभूत दो हेतु जब उपस्थित होते हैं तब साध्य के बारे में संदेह पैदा कर देते हैं अतः यह हेतु अनैकान्तिक ही होगा। - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि संशयजनकत्व अनैकान्तिक का लक्षण नहीं है, अन्यथा इन्द्रियसंनिकर्षादि भी अनैकान्तिक कहे जायेंगे क्योंकि वह भी संशयजनक होता है। यह ज्ञातव्य है कि अन्यतर पक्षगत विशेष का स्मरण न हो उस दशा में अन्यतरानुपलब्धि संदेहहेतु नहीं बनती है। दूसरी ओर अगर विशेष का स्मरण रहे तब तो अन्यतरानुपलब्धि हेतु भी नहीं बन सकती, विशेषस्मरण न रहे तभी केवल अन्यतरानुपलब्धि का हेतु के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में, जब कि नित्यत्व या अनित्यत्व का संदेह मौजूद है, तब कोई भ्रान्त महानुभाव निश्चय के लिये ही अन्यतरानुपलब्धि का प्रयोग करता है, अतः उस का संदेहजनक मानना अयुक्त है। (संदेह तो पहले से ही है।)

अथवा कैसे भी यह मान लिया जाय कि वह संदेह की जनक है, तथापि अनैकान्तिक और प्रकरणसम में भेद रहेगा ही। अनैकान्तिक हेतु सपक्ष-विपक्ष उभयसाधारण होता है जब कि प्रकरणसम उस से विपरीत यानी सपक्षमात्रवृत्ति होता है। वह दोनों साध्यपक्षों में अन्यतर के रूप में रहता है, अतः वह अनैकान्तिक नहीं किन्तु प्रकरणसम ही कहा जायेगा। यदि कहें कि — इस तरह का हेतु हो ही नहीं सकता — तो यह गलत है क्योंकि भ्रान्ति से तथाविध हेतुप्रयोग का पूरा सम्भव है।

✽ अन्यतरानुपलब्धि हेतु का असिद्ध में अन्तर्भाव दुष्कर ✽

यदि यह कहा जाय — प्रकरणसम हेतु का अन्तर्भाव असिद्ध हेत्वाभास में होना चाहिये, क्योंकि नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु नित्यवादी के पक्ष में असिद्ध है और अनित्यधर्मानुपलब्धि हेतु अनित्यवादी के पक्ष में असिद्ध है। — यह

ऽसिद्धतोद्भावनं विधातुं शक्यम् ? यस्य हि अनुपलब्धिनिमित्तसंशयोत्पत्तौ शब्दे नित्यत्वाऽनित्यत्वजिज्ञासा स कथमन्यतरानुपलब्धिहेतुत्वप्रयोगेऽसिद्धतां ब्रूयात् ? अत एव सूत्रकारेण 'यस्मात् प्रकरणचिन्ता' (न्यायद० १-२-७) इति असिद्धतादोषपरिहारार्थमुपात्तम् । एवम् 'अनित्यः शब्दः पक्ष-सपक्षयोरन्यतरत्वात् घटवत्' इति चिन्तासम्बन्धिना पुरुषेणोक्तेऽपरस्तत्सम्बन्धी' नित्यः शब्दः पक्ष-सपक्षयोरन्यतरत्वात् आकाशवत्' यदाह तदा प्रकरणसम एव ।

अत्र प्रेरयन्ति - पक्ष-सपक्षयोरन्यतरः पक्षो सपक्षो वा ? यदि पक्षः तदा न हेतोः सपक्षवृत्तिता, न हि शब्दस्य धर्म्यन्तरे वृत्तिः सम्भवतीति असाधारणतैवास्य हेतोः स्यात् । अथ सपक्षः अन्यतर-शब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता सपक्षयोर्घटाऽऽकाशयोः शब्दाख्ये धर्मिणि अप्रवृत्तेरसिद्धेऽन्तर्भूतस्यास्य

विधान गलत है क्योंकि यहाँ दोनों पक्षों के चिन्ताकारक पुरुषों की ओर से प्रकरणसम हेतु का हेतुरूप से जब उपन्यास किया जाता है तब एक पुरुष के सामने दूसरा पुरुष असिद्धि का उद्भावन कैसे कर सकता है ? जिन को नित्य या अनित्य धर्म की अनुपलब्धि के कारण शब्द के बारे में संशय पैदा हो जाय कि 'यह नित्य है या अनित्य' ऐसे लोगों को इस संशय से यह जिज्ञासा होती है कि शब्द नित्य है या अनित्य ? जब तक दोनों में से एक का भी निर्णय नहीं है तब तक अन्यतरानुपलब्धि का हेतुरूप से प्रयोग करने पर, उस को असिद्ध कैसे कहा जा सकेगा ? न्यायदर्शन के सूत्रकार ने इसी लिये, असिद्धि दोष को यहाँ निरवकाश दिखाने के लिये 'यस्मात् प्रकरणचिन्ता' ऐसा कहा है, अर्थात् जिस संशय के कारण पक्ष और प्रतिपक्ष स्वरूप प्रकरण की समीक्षा प्रवृत्त होती है वह प्रकरणसम हेत्वाभास है ऐसा कहा है । तदुपरांत, एक और उदाहरण प्रकरणसम का देख सकते हैं - एक वादी कहता है 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह पक्ष या सपक्ष में से एक है जैसे कि घट ।' अब इस प्रयोग में, घट में अनित्यत्व सिद्ध होने से वह सपक्ष है और शब्द में अनित्यत्व का संदेह होने से वह पक्ष है, किन्तु 'पक्ष-सपक्ष अन्यतरत्व' यह दोनों का समानधर्म है । अगर समानधर्ममात्र को हेतु बना कर अनित्यत्व की शब्द में सिद्धि की जाय तो वैसे दूसरा वादी नित्यत्व की भी सिद्धि कर सकता है - जैसे देखिये - 'शब्द नित्य है क्योंकि वह पक्ष-सपक्ष में से एक है जैसे आकाश ।' यहाँ आकाश में नित्यत्व सिद्ध है इसलिये वह सपक्ष है और शब्द में नित्यत्व संदिग्ध है बाधित नहीं है इस लिये वह पक्ष है । इस प्रकार पक्ष-सपक्ष अन्यतरत्व हेतु सर्वत्र प्रकरणसम हेत्वाभास हो सकता है ।

✽ असाधारण/असिद्धता की आशंका ✽

यहाँ प्रकरणसम के निषेध में कुछ लोग कहते हैं - जो 'पक्ष-सपक्ष दो में से एक' उस में 'दो में से एक' इस से पक्ष अभिप्रेत है या सपक्ष ? यदि पक्ष (शब्द) अभिप्रेत हो तब यह हेतु असाधारण अनैकान्तिक ही होगा न कि उस से भिन्न प्रकरणसम, क्योंकि शब्दात्मक 'दो में से एक' हेतु यहाँ किसी अन्य सपक्ष-विपक्ष धर्मों में विद्यमान नहीं है । जो सपक्ष-विपक्ष व्यावृत्त हो वही हेतु असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है । ('पक्ष-सपक्ष अन्यतरत्व' हेतु तादात्म्य से 'पक्ष-सपक्ष अन्यतरात्मक' यहाँ ग्रहण किया जाय तब उपरोक्त दोष बराबर लागू हो जाता है । तादात्म्य से शब्द हेतु शब्द में ही रहता है अन्यत्र नहीं ।) यदि अन्यतरत्व हेतु से सपक्ष को लिया जाय तो वादि के प्रयोग में घटात्मक सपक्ष और प्रतिवादि के प्रयोग में आकाशात्मक सपक्ष हेतु बनेगा, किन्तु ऐसा हेतु कहीं भी शब्दात्मक पक्ष में तादात्म्यादि से नहीं रहता, इसलिये यह हेतु 'असिद्ध' हेत्वाभास बनेगा न कि प्रकरणसम । प्रयोगों में 'पक्ष-सपक्षान्यतर' शब्द से पक्ष या सपक्ष के अलावा और किसी का ग्रहण तो यहाँ सम्भव नहीं है जो कि पक्ष का तादात्म्यादि से धर्म (यानी हेतु) बन सके,

न प्रकरणसमता । न च पक्षसपक्षयोर्व्यतिरिक्तः कश्चिदन्यतरशब्दवाच्यः यस्य पक्षधर्मताऽन्वयश्च भवेत् । तन्नायं हेतुः ।

अत्र प्रतिविदधति — भवेदेष दोषः यदि पक्ष-सपक्षयोर्विशेषशब्दवाच्ययोर्हेतुत्वं विवक्षितं भवेत्, तच्च न, अन्यतरशब्दाभिधेयस्यैव हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । स च पक्ष-सपक्षयोः साधारणः, तस्यैव साधारणशब्दाभिधेयत्वात् । यदि चानुगतो द्वयोर्धर्मः कश्चित् शब्दवाच्यो न भवेत्तदा 'विशेष' शब्दवत् 'अन्यतर'शब्दोऽपि न तत्र प्रवर्त्तते । नापि तच्छब्दात् उभयत्र प्रतीतिर्भवेद् दृश्यते च, तस्मात् पक्षतां सपक्षतां चाऽसाधारणरूपत्वेन कल्पितां परित्यज्याऽन्यतरशब्दो द्वयोरपि वाचकत्वेन योग्यः ततो या विशेषप्रतीतिः सा पुरुषविवक्षानिबन्धना । यदा हि साधनप्रयोक्ता पक्षधर्मत्वमस्य विवक्षति तदा 'अन्यतर' शब्दवाच्यः पक्षः, सपक्षेऽनुगमविवक्षायां तु सपक्षः तच्छब्दवाच्यः, एतदभिप्रायवांश्च अन्यतर'-शब्दवाच्यं हेतुत्वेन प्रतिपादयति, न 'विशेष' शब्दवाच्यम् ।

न च विवक्षानिबन्धनशब्दप्रवृत्तौ पक्षादिशब्दवत् अन्यतरशब्दोऽपि विशेषाभिधायी स्यात्; यतो

और साध्य के साथ उसका व्याप्ति सम्बन्ध निश्चित किया जा सके। निष्कर्ष, अन्यतरत्व प्रस्तुत में सद् हेतु नहीं है, अथवा प्रकरणसम भी नहीं है किन्तु अनैकान्तिक या असिद्ध हेत्वाभास है।

✽ असाधारण-असिद्धता की आशंका का निर्मूलन ✽

प्रकरणसम के निषेध के प्रतिकार में नैयायिक यह कहते हैं कि — उक्त दोष तब सावकाश होता यदि हमने विशेष शब्दवाच्य पक्ष या सपक्ष को हेतु बनाया होता। 'पक्ष' और 'सपक्ष' ये दोनों विशेषशब्द हैं (यानी व्यक्ति विशेष वाचक शब्द है।) किन्तु इन शब्दयुगल में से एक भी विशेषशब्द के वाच्यार्थ को हेतु नहीं किया गया है। 'पक्ष-सपक्षान्यतर' यह शब्द तदुभय सामान्य का वाचक है और उस का वाच्यार्थ हे तदुभयसामान्य। उसी को यहाँ जब हेतु किया गया है तब पक्ष और सपक्षात्मक विशेष अर्थ के विकल्प कर के जो दोष कहा गया है उस को अवकाश ही कहाँ है ? तथा, तदुभयसामान्यात्मक जो वाच्यार्थ (हेतु) है यह तो पक्ष और सपक्ष उभय में समानरूप से रहनेवाला है, तभी तो उसका साधारण (यानी सामान्य) शब्द से प्रतिपादन किया जाता है। हाँ, यदि ऐसा होता : पक्ष-सपक्ष उभय में अनुगत कोई एक शब्दवाच्य धर्म ही यहाँ न होता तब तो, जैसे 'पक्ष' या 'सपक्ष' जैसे विशेषशब्दों की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती वैसे ही 'अन्यतर' शब्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती। उपरांत, उस 'अन्यतर' शब्द से जो पक्ष-सपक्ष उभय की प्रतीति होती है वह भी नहीं होती यदि अन्यतर शब्द का कोई उभयसामान्य धर्म वाच्य न होता। उभय की प्रतीति होती है यह दिखता है, अतः यह सिद्ध होता है कि असाधारणरूप से कल्पित पक्षता या सपक्षता को छोड़ कर 'अन्यतर' शब्द पक्ष-सपक्ष उभय का प्रतिपादन करने में सक्षम है। जब वह उभय का वाचक है तब जो विशेष की यानी पक्ष या सपक्ष की प्रतीति भी होती है उसका कारण है पुरुष की विवक्षा। जब हेतुप्रयोग करने वाले की विवक्षा उसको पक्ष धर्म के रूप में प्रयुक्त करने की होती है तब 'अन्यतर' शब्द का वाच्यार्थ पक्ष होता है, और जब सपक्ष में हेतु के अनुगम की विवक्षा रहती है। तब अन्यतरशब्द का वाच्यार्थ सपक्ष होता है। जिस के मन में यह स्पष्ट अभिप्राय रहता है वह 'अन्यतर' ऐसे सामान्यशब्द के वाच्यार्थ का (यानी उभयसामान्य धर्म का) ही हेतुरूप में प्रयोग करते हैं न कि 'पक्ष' या 'सपक्ष' ऐसे विशेषशब्दों के वाच्यार्थ का।

✽ अन्यतरशब्द किसी एक विशेष का वाचक नहीं ✽

यदि ऐसा कहा जाय कि — 'शब्द प्रवृत्ति जब विवक्षाधीन है तब 'पक्ष' आदि शब्द की तरह 'अन्यतर'

लोकव्यवहाराच्छब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिः, तत्र च 'पक्ष'शब्दस्य न सपक्षे प्रवृत्तिः नापि 'सपक्ष' शब्दस्य पक्षे। यथा चानयोः संकेतादपि नान्यत्र वृत्तिः एवं 'अन्यतर' शब्दस्य सामान्ये संकेतितस्य न विशेष एव वृत्तिः। उभयाभिधायकत्वे तु विवक्षावशेनान्यतरत्र नियमः। न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ दूषणं तदवस्थमेव; एवं दोषोद्भावने कस्यचित् सम्यग्धेतुत्वानुपपत्तेः, कृतकत्वादेरपि पक्षधर्मत्वविवक्षायां विशेषरूपत्वादानुगमाभावात् सपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मत्वाऽयोगात्। अथ कृतकत्वमात्रस्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषस्तर्हि तत् प्रकृतेऽपि तुल्यम् 'अन्यतर' शब्दस्याप्यनङ्गीकृतविशेषस्य द्वयाभिधाने सामर्थ्योपपत्तेः।

एतेन यदुक्तं न्यायविदा — 'अनर्थः खल्वपि कल्पनासमारोपितो न लिङ्गम् तथा पक्ष एवायं पक्ष-सपक्षयोरन्यतरः' () इत्यादि; तदपि निरस्तम् त्रैरूप्यसद्भावेऽपि प्रकरणसमत्वेनाऽस्याऽगमकत्वात्।

शब्द भी किसी विशेष का यानी पक्ष अथवा सपक्ष का वाचक बन सकता है। तब प्रकरणसम के बदले असाधारण-अनैकान्तिक या असिद्ध हेत्वाभास का पुनरावर्तन होगा और प्रकरणसम का विलोप होना अनिवार्य है' — तो यह ठीक नहीं है। शब्दप्रवृत्ति विवक्षाधीन होने पर भी लोकव्यवहार का उल्लंघन नहीं करती। 'शब्द का किस अर्थ के साथ प्रस्तुत में सम्बन्ध अभिप्रेत है' यह व्युत्पत्ति लोकव्यवहार पर निर्भर रहती है। लोकव्यवहार में, विवक्षा होने पर भी 'पक्ष' शब्द की सपक्ष के लिये और 'सपक्ष' शब्द की पक्ष के लिये प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे पक्ष-सपक्ष इन दो शब्दों की प्रवृत्ति संकेत यानी विवक्षा होने पर भी क्रमशः सपक्ष और पक्ष के लिये नहीं हो सकती, ठीक इसी तरह उभय सामान्य अर्थ में संकेतित 'अन्यतर' शब्द की प्रवृत्ति भी पक्षादि विशेष के लिये नहीं हो सकती। हाँ, विवक्षा का इतना योगदान यहाँ जरूर है कि 'अन्यतर' शब्द उभयसामान्यवान् अर्थ के जरिये उभय का वाचक होने पर भी विवक्षा के प्रभाव से किसी एक सामान्यवान् का ही वाचक हो यह नियन्त्रण हो जाता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि — 'किसी एक सामान्यवान् के वाचक बन जाने से आखिर तो 'अन्यतर' शब्द की वृत्ति किसी एक विशेष अर्थ में ही फलित हुई, इस लिये प्रकरणसम का विलोप का प्रसंग भी तदवस्थ ही रह जायेगा' — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस ढंग से पूर्वोक्त दूषण के तदवस्थ रह जाने का आक्षेप करने पर तो कोई भी हेतु सद् हेतु के रूप में प्रसिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि कृतकत्वादि (अनित्यता साधक) हेतु में जब पक्षधर्मता का अन्वेषण करेंगे तब शब्दात्मकपक्षगत कृतकत्व हेतु का भी पक्षवृत्ति कृतकत्वविशेष में ही पर्यवसान फलित होगा, फलतः कृतकत्वविशेष का अन्यत्र अनुगम न होने से वह भी असाधारण-अनैकान्तिक ही बन जायेगा, यदि सपक्षविशेषित यानी सपक्षवृत्ति कृतकत्वविशेष को हेतु बनायेंगे तो वह पक्षधर्म न होने से हेतु असिद्ध हेत्वाभास ठहरेगा। यदि कहा जाय कि — 'पक्षवृत्ति या सपक्षवृत्ति की विवक्षा को छोड़ कर सिर्फ कृतकत्व सामान्य को ही हेतु करने से वह हेत्वाभास नहीं बनेगा' — तो प्रस्तुत में भी समान वार्त्ता हो सकती है, विशेष का उल्लेख किये बिना ही 'अन्यतर' शब्द, सामान्यधर्मविधया दोनों पक्ष-पक्ष का प्रतिपादन करने में समर्थ बन सकेगा। फलतः असाधारण या असिद्ध को अवकाश न रहने पर प्रकरणसम हेत्वाभास ही यहाँ सावकाश रह पायेगा।

न्यायवेत्ता (संभवतः धर्मकीर्त्ति) ने यहाँ प्रकरणसम को असाधारण हेत्वाभास सिद्ध करने के लिये जो कहा है कि — '(शब्द का) अर्थ न हो, उस को भी अगर कल्पना से आरोपित किया जाय फिर भी वह हेतु नहीं हो सकता। इसी तरह 'पक्ष-सपक्षान्यतर' शब्द का अर्थ यहाँ पक्ष ही फलित होता है।' इत्यादि

प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टोऽपि हेत्वाभासोऽपरोऽभ्युपगतः, यथा 'पक्वान्येतान्याम्रफलानि, एकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवत्'। अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि प्रत्यक्ष-बाधितकर्मनन्तरप्रयोगात् कालात्ययापदिष्टता अगमकत्वे निबन्धनम्। हेतोः कालोऽदुष्टकर्मनन्तरं प्रयोगः, प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य तु दुष्टकर्मनन्तरं प्रयोगात् हेतुकालव्यतिक्रमेण प्रयोगः, तस्माच्च कालात्यया-पदिष्टशब्दाभिधेयता हेत्वाभासता च। तदुक्तं न्यायभाष्यकृता — 'यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षाऽऽगमविरुद्धं न्यायाभासः स इति' (वात्स्या० भा० पृ० ४ पं० ५)। तदेवं पञ्चलक्षणयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तेः तत्पुत्रत्वादौ तु त्रैलक्षणेऽपि कालात्ययापदिष्टत्वान्न गमकत्वम् इति नैयायिकाः।

असदेतत्, असिद्धादिव्यतिरेकेणापरस्य प्रकरणसमादेः हेत्वाभासस्याऽयोगात्। यच्च प्रकरणसमस्य 'अनित्यः शब्दः अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वात्' इत्युदाहरणं प्रदर्शितम् तदसंगतमेव। यतोऽनुपलभ्य-जो कहा है — वह भी उपरोक्त सामान्य-विशेष चर्चा के प्रकाश में निरस्त हो जाता है। फलितार्थ यही है कि अन्यतरत्व हेतु में, हेतु के प्रतिवादिस्वीकृत तीनों लक्षण होने पर भी प्रकरणसम होने से ही यह हेतु साध्य का गमक यानी साधक नहीं हो सकता।

❁ कालात्ययापदिष्ट स्वतन्त्र हेत्वाभास ❁

जैसे प्रकरणसम हेतु हेत्वाभास है वैसे ही एक और भी हेत्वाभास है जिस को नैयायिक मत में कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है। कर्म यानी साध्य का निर्देश जब प्रत्यक्ष अथवा आगम से विरुद्ध हो, तब उस दशा में जिस हेतु का प्रयोग किया जाता है उस को कालात्ययापदिष्ट (बाधित) कहा जाता है। उदा० — 'ये आम्रफल पके हुए हैं क्योंकि पूर्वभक्षित फल की समान शाखा में उत्पन्न है, जैसे कि पूर्वभक्षित आम्रफल।' यहाँ 'एकशाखोत्पत्ति' हेतु पक्षधर्म है, सपक्षधर्म है और विपक्षव्यावृत्त भी है। तीनों लक्षण से युक्त होने पर भी उन आम्रफलों में पक्वता (नरमाई इत्यादि) के विरुद्ध कठोरता प्रत्यक्ष सिद्ध है, अत एव पक्वतास्वरूप साध्य (यानी कर्म) प्रत्यक्षबाधित है, प्रत्यक्ष बाध होने पर भी यहाँ पक्वता की सिद्धि के लिये एकशाखोत्पत्ति हेतु का प्रयोग किया जा रहा है यही कालात्ययापदिष्टता है जो हेतु में साध्य की असाधकता का निमित्त है। शब्दार्थ देखिये — काल यानी हेतु का अबाधित कर्म होने पर प्रयोग करना। जब कर्म प्रत्यक्षादिविरुद्ध है तब बाधित कर्म लक्षित होने के बाद जो हेतु का प्रयोग किया जाता है वह हेतु-काल का उल्लंघन कर के होता है, अत एव उस को 'कालात्ययापदिष्ट' शब्द से और हेत्वाभासरूप में व्यवहृत किया जाता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है — प्रत्यक्ष अथवा आगम से विरुद्ध जो अनुमान प्रयोग किया जाय वह न्यायाभासात्मक होता है।

नैयायिक की उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का निवेशन पञ्च लक्षण (पक्षधर्मता-सपक्षवृत्तित्व-विपक्षव्यावृत्ति-असत्प्रतिपक्षितत्व-अबाधितत्व) वाले हेतु में ही निर्विवाद सिद्ध होता है। श्यामत्व साधक तत्पुत्रत्व आदि हेतु में प्राथमिक तीन लक्षणों के होने पर भी वह कालात्ययापदिष्ट होने से, अर्थात् अबाधित न होने से साध्य का साधक नहीं हो सकता।

❁ हेत्वाभास पाँच नहीं, तीन-उत्तरपक्ष ❁

नैयायिकों की ओर से पंच हेत्वाभास का समर्थन किया गया — उस के सामने व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरिजी अब कहते हैं कि पाँच हेत्वाभास का विधान गलत है। यहाँ संदर्भ का स्मरण कर लिया जाय - ५६ वीं मूल गाथा में यह कहा गया है कि एकान्तवादी साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से साध्य सिद्धि करे फिर भी तत्पुत्रत्वादि

माननित्यधर्मकत्वं यदि शब्दे न तत्त्वतः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितयास्यासिद्धे कथं नासिद्धः ? अथ तत् तत्र सिद्धम् तदा किं साध्यधर्माऽन्विते धर्मिणि तत् सिद्धम् उत तद्विकले इति वक्तव्यम् । यदि तदन्विते तदा साध्यवत्येव धर्मिणि तस्य सद्भावसिद्धेः कथमगमकता ? न हि 'साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिण्यभवनं' विहायापरं हेतोरविनाभावित्वम् तच्चेत् समस्ति कथं न गमकता, अविनाभावनिबन्धनत्वा-त्तस्याः ? अथ तद्विकले तत् तत्र सिद्धं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः कथं न विरुद्धं, विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात् ? भवति च साध्यधर्मविकल एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ संदिग्ध-साध्यधर्मवति तत् तत्र वर्तते तदा संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद् अनैकान्तिकः ।

अथ साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे यस्य साध्याभाव एव दर्शनं स विरुद्धः, यस्य च तदभावेऽपि असावनैकान्तिकः । न हि धर्मिण एव विपक्षता तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य हेतोरहेतुत्वप्रसक्तेः । यतः साध्यधर्मी साध्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सर्वदा संदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्राग् अन्यथा साध्याभावे निश्चिते साध्याभावनिश्चायकत्वेन प्रमाणेन बाधितत्वात् हेतोरप्रवृत्तिरेव स्यात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो निश्चये हेतोर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः । तस्मात्

हेतु में सद्हेतुत्व का प्रसंग रहता है। पूर्वपक्षने यहाँ कालात्ययापदिष्टत्वादि दोष का प्रदर्शन किया था तब व्याख्याकार ने कहा कि हेत्वाभास तीन ही है। उनके सामने नैयायिकों ने विस्तार से प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास का समर्थन किया। अब व्याख्याकार कहते हैं - असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध ये तीन ही हेत्वाभास हैं। प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट - ये दो दोष हेतु में संगत नहीं होने से वे हेत्वाभास नहीं हो सकते।

प्रकरणसम के निरूपण में जो उदाहरणस्थान बताया गया है - 'शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें नित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होती' - यह उदाहरण पृथक् प्रकरणसम हेत्वाभास दिखाने में असमर्थ है। कारण, यदि शब्द में नित्यधर्म की अनुपलब्धि परमार्थ से सिद्ध नहीं है तो हेतु पक्षवृत्ति न होने से असिद्ध बन जाता है, तब यहाँ असिद्ध हेत्वाभास ही क्यों न माना जाय ? यदि शब्द में नित्यधर्म की अनुपलब्धि पारमार्थिकरूप से सिद्ध हो तब दो विकल्प सोच लेना चाहिये - कि वह सिद्ध हेतु साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मों में सिद्ध है या साध्यधर्म से शून्य धर्मों में ? तात्पर्य यह है कि साध्यधर्म अनित्यत्व से विशिष्ट धर्मों घटादि में यदि हेतु सिद्ध है तब तो सपक्षवृत्ति भी है इसलिये वह शब्द में अपने साध्य का साधन करने में सक्षम क्यों न होगा ? तत्त्वतः जिस में अविनाभाव प्रसिद्ध होता है वही हेतु साध्यसाधक होता है। 'साध्यधर्म के न रहने पर किसी भी धर्मों में स्वयं नहीं रहता' - यही हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव है। अनित्यत्व साध्य न रहने पर नित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु भी किसी धर्मों में नहीं रहता, अतः हेतु साध्य का अविनाभावी सिद्ध होता है, तो फिर नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु साध्यसाधक क्यों नहीं होगा ? यदि ऐसा हो कि नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु साध्यधर्मविशिष्ट धर्मों में नहीं किन्तु साध्यधर्मशून्य धर्मों में ही सिद्ध है, तब तो वैसे धर्मों में रहनेवाला हेतु विरुद्ध ही कहा जाना उचित है। साध्यधर्मशून्य धर्मों को ही विपक्ष कहा जाता है और ऐसे विपक्ष में ही रहनेवाला हेतु विरुद्ध कहा जाता है। जो हेतु साध्यधर्मशून्य धर्मों में रहे वही तो विपक्षवृत्ति कहा जाता है।

यदि यह संदेह हो कि 'हेतु जिस धर्मों (पक्ष) में रहता है वह साध्यधर्म से विशिष्ट है या शून्य है ?' तो यहाँ हेतु के धर्मों को यानी पक्ष को संदिग्धसाध्यधर्मवाला कहा जायेगा, हेतु यदि ऐसे संदिग्धसाध्यधर्मवाले धर्मों में वर्तमान है तो उस की विपक्षव्यावृत्ति भी संदिग्ध हो जायेगी, क्योंकि यदि हेतु का धर्मों साध्यधर्मशून्य होगा तो वही विपक्ष बन जायेगा, किन्तु पक्ष यहाँ विपक्षभूत ही है या नहीं इस बारे में संदेह है इसलिये

संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी हेतोराश्रयत्वेनैष्टव्य इति। यदि अनैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतुः, धूमादिरपि तर्हि तथाविध एव स्यात् तस्यापि एवं संदिग्धव्यतिरेकित्वात्। यदि हि विपक्षवृत्तित्वेन निश्चितो यथाऽगमकस्तथा संदिग्धव्यतिरेक्यपि, अनुमानप्रामाण्यं परित्यक्तमेव भवेत्। ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्याभाववत्येव तु वर्तमानः पक्षधर्मत्वे सति विरुद्धः इत्यभ्युपगन्तव्यम्। यश्च विपक्षाद्भाववृत्तः सपक्षे चाऽनुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स स्वसाध्यं गमयति। प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद् व्यावृत्तस्तथापि न स्वसाध्यसाधकः प्रतिबन्धस्य स्वसाध्येनाऽनिश्चयात्। तदनिश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमत्वेन, एकशाखाप्रभवत्वादेस्तु कालात्ययापदिष्टत्वेनेति।

असदेतत्, यतो यदि धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते तदा हेतु संदिग्ध विपक्षव्यावृत्ति वाला हो जाने से वह अनैकान्तिक कहा जायेगा। (यहाँ संदिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास होगा।)

✽ नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु में अनैकान्तिका का विरोध-नैयायिक ✽

यहाँ संदिग्धसाध्यधर्मवाले पक्ष को ले कर बताये गये अनैकान्तिक दोष के निवारण के लिये अनैकान्तिक और विरुद्ध में अन्तर स्पष्ट करता हुआ नैयायिक कहता है — साध्यधर्मी से अतिरिक्त जो धर्मी है वहाँ साध्य का अभाव ही रहता हो, फिर भी यदि हेतु वहाँ वर्तमान हो तो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहा जायेगा, किन्तु यदि वैसे धर्मी में कभी साध्य के रहने पर हेतु रहता हो, कभी साध्य के न रहने पर भी हेतु रहता हो - तो ऐसे हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है। नैयायिक यहाँ स्पष्टता करना चाहते हैं कि जो साध्यधर्मी है, मानी जिस धर्मी में साध्य सिद्ध किया जा रहा है उस धर्मी को विपक्ष नहीं माना जा सकता। यदि उस में साध्य का दर्शन नहीं होता इतने मात्र से उसको विपक्ष मान लिया जाय तो सर्वत्र हेतु विपक्षवृत्ति बन जाने से असद् हेतु बन बैठेगा। जब तक साध्यधर्मी में साध्य सिद्धि के लिये हेतु प्रयोग नहीं किया गया और अब किया जा रहा है, तब हेतुप्रयोग के पहले तो प्रत्येक साध्यधर्मी में यह संदेह होता ही है कि वह साध्यधर्म का सच्चा आश्रय है या नहीं है, यह संदेह तो उल्टा अनुमान में सहायक होता है, विरोधी नहीं, इसलिये उसको संदेह और उसके आधार पर अनैकान्तिक दोष दिखाना गलत है। यदि साध्यसिद्धि के पहले संदेह होने के बदले धर्मी में साध्याभाव निश्चित रहेगा, तब साध्याभाव के निश्चयक प्रमाण से साध्यसिद्धि बाधित हो जाने पर हेतु के प्रतिपादन को अवकाश ही नहीं रहता। ऐसे ही, यदि साध्यसिद्धि के पहले ही साध्य वहाँ प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण से निश्चित है, तब तो धर्मी का साध्यधर्मविशिष्टतया निश्चय हो गया, अब हेतुप्रयोग करना निरर्थक है, क्योंकि हेतुप्रयोग से जिस साध्य का निश्चय करना है वह तो पहले ही प्रत्यक्षादि से निश्चित हो चुका है। इस चर्चा का परिणाम यह है कि हेतु का आश्रय वही इष्ट है जिस धर्मी में साध्यधर्म का संदेह हो, न कि उसका निश्चय, न तो उसके अभाव का निश्चय। यदि ऐसे संदिग्धसाध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी में रहनेवाले हेतु को अनैकान्तिक घोषित किया जायेगा, तो धूमादि हेतु भी संदिग्ध अग्निवाले पर्वतादि में रह जाने से, अनैकान्तिक दोषग्रस्त हो बैठेगा, क्योंकि धूम हेतु का भी अग्निविरहविशिष्ट धर्मी से व्यतिरेक यानी व्यावृत्ति संदेहग्रस्त है। तात्पर्य यह है कि पक्ष में ही विपक्षवृत्तित्वेन संदिग्ध हेतु अनैकान्तिक नहीं होता, यदि विपक्षवृत्तित्वेन निश्चित हेतु की तरह वह भी अनैकान्तिक मान लिया जाय तो साध्यधर्मी भी विपक्षरूप में सर्वदा संदिग्ध रहने से और सद्हेतु भी उस में वर्तमान रहने से सब कोई हेतु अनैकान्तिकदोषग्रस्त हो जायेगा। नतीजा यह होगा कि अनुमान के प्रामाण्य का ही उच्छेद हो

धर्मिण्युपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्योपस्थापको न स्यात् साध्यधर्मिणि साध्यमन्तरेणाऽपि हेतो सद्भावाभ्युपगमात्, तद्व्यतिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रहणात्। न चान्यत्र स्वसाध्याऽविनाभावित्वेन निश्चितोऽन्यत्र साध्यं गमयेत् अतिप्रसङ्गात्।

अथ यदि साध्यधर्मान्वितत्वेन साध्यधर्मिण्यपि हेतुरन्वयप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव साध्यधर्मस्य साध्यधर्मिणि निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम्। असदेतत्, यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसंहारेण 'साधनधर्मः साध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवति' - इति सामान्येन प्रतिबन्धनिश्चये, पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुस्तत्रैव स्वसाध्यं निश्चाययतीति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वानुमानस्य वैयर्थ्यम्। न हि विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गतसाध्य-

जायेगा।

निष्कर्ष, अनुमेय यानी पक्ष से भिन्न साध्यधर्मविशिष्ट में और साध्यधर्मशून्य में, उभय में रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक कहा जायेगा और साध्यधर्मशून्य धर्मों में ही रहता हो ऐसे हेतु को विरुद्ध कहा जायेगा। वही हेतु सद्हेतु यानी साध्यसाधक होता है जो निश्चितरूप से विपक्ष से व्यावृत्त हो, निश्चितरूप से सपक्ष में वर्तमान हो और निश्चितरूप से पक्षवृत्ति भी हो। नित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु विपक्षभूत नित्य पदार्थ से व्यावृत्त जरूर है, किन्तु फिर भी अपने साध्य का साधक नहीं है क्योंकि उस हेतु को अपने अनित्यत्व साध्य के साथ व्याप्ति प्रसिद्ध नहीं है। ऐसा नहीं है कि वह हेतु विपक्षवृत्ति है इसलिये व्याप्ति प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु प्रकरणसम होने से ही उस हेतु में अपने साध्य की व्याप्ति निश्चित नहीं हो सकती। तथा, एकशाखोत्पत्ति हेतु तो पूर्व में कहे मुताबिक कालात्ययापदिष्ट है इसीलिये वहाँ व्याप्ति अप्रसिद्ध है। तात्पर्य, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट को भी हेत्वाभास मानना चाहिये।

✽ विपक्षीभूतपक्ष में साध्यनिश्चय का अनिष्ट - उत्तरपक्ष ✽

व्याख्याकार कहते हैं कि यह विधान गलत है। आपने जो कहा है विपक्ष में साध्य के न रहने पर न रहनेवाला और सपक्ष में रहनेवाला हेतु साध्य साधक होता है - उसका मतलब यह हुआ कि हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति का ग्रहण पक्षात्मक धर्मों सहित अन्य धर्मियों में हो ऐसा आप को अभिप्रेत नहीं है किन्तु पक्षात्मक धर्मों को छोड़ कर अन्य धर्मियों में ही हेतु में स्वसाध्य की व्याप्ति का ग्रहण इष्ट है। तब ऐसा मानने पर पक्ष में हेतु का भान होने पर भी उस से अपने साध्य का प्रकाशन नहीं हो सकेगा, क्योंकि व्याप्ति तो अन्य धर्मियों में ही अभिप्रेत है, पक्षात्मक धर्मों में नहीं, अर्थात् साध्यधर्मों में तो साध्य के न होने पर भी अगर हेतु रहता है तो वह आप को मान्य है, क्योंकि आप के मतानुसार तो हेतु में साध्य की व्याप्ति का ग्रहण सिर्फ अन्यधर्मों में ही इष्ट है। ऐसा नहीं हो सकता कि अन्यधर्मों में (यानी पाकशाला आदि में) हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति का ग्रहण किया गया हो तो इतर धर्मों (पर्वतादि) में भी साध्य का निश्चय करा सके। यदि ऐसा मानेंगे तो जलहृदादि में साध्य के निश्चय का अतिप्रसंग हो जायेगा।

✽ हेतु में पक्षधर्मताग्रहण की सार्थकता ✽

नैयायिक :- हेतु की व्याप्ति के निरूपणकाल में, साध्यधर्मों यानी पक्ष को भी हेतु-अधिकरण के रूप में ग्रहण करके यदि वहाँ भी साध्यधर्म-अविनाभावरूप से हेतु का निश्चय किया जा चुका है, तो वहाँ तथाविध हेतु के बल पर साध्यधर्म का भी उसी वक्त निश्चय हो चुका रहेगा। अब वर्तमान में जब कि साध्यनिश्चय पहले ही हो गया है तब हेतु में पक्षवृत्तित्व के ग्रहण का क्या मतलब ?

मन्तरेणोपपत्तिमान् अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्तत्वाऽयोगात् । न चैवं हेतूपलम्भेऽपि साध्यविषयसद-
सत्त्वाऽनिश्चयः येन संदिग्धव्यतिरेकिता हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्वसाध्याविनाभूतहेतूपलम्भस्यैव
साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूपत्वात् । न हि तत्र तथाभूतहेतुनिश्चयादपरस्तस्य स्वसाधनप्रतिपादनव्या-
पारः । अत एव निश्चितप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तल्लक्षणयोगिनो
हेत्वन्तरस्य सद्भावः तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविनाभूतत्वात् नित्यानित्यत्वयोश्चैकत्रैकदैकान्तवादिमतेन विरो-
धादसम्भवात् तद्व्यवस्थापकहेत्वोरप्यसंभवस्य न्यायप्राप्तत्वात् । सम्भवे वा तयोः स्वसाध्याविनाभूतत्वात्
नित्यानित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मिणः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्याऽगमकता ? अथान्यतरस्यात्र
स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत एव तस्याऽगमकतेति किमसत्प्रतिपक्षतारूपप्रतिपादनप्रयासेन ?!

किंच, नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा पर्युदासरूपा वा शब्दाऽनित्यत्वे हेतुः ? न तावदाद्यः
पक्षः अनुपलब्धिमात्रस्य तुच्छस्य साध्याऽसाधकत्वात् । अथ द्वितीयः तदाऽनित्यधर्मोपलब्धिरेव हेतुरिति
यद्यसौ शब्दे सिद्धा कथं नाऽनित्यतासिद्धिः ? अथ चिन्तासम्बन्धिना पुरुषेणासौ प्रयुज्यते इति न

जैनवादी :- ऐसा कहना गलत है। कारण, व्याप्तिग्रहकाल में व्याप्तिग्राहक प्रमाण से सर्व हेतु-अधिकरण
के उल्लेख के साथ व्याप्तिनिश्चय किया जाता है वह सामान्यरूप से इस ढंग से किया जाता है कि साध्यधर्म
जहाँ नहीं होता वहाँ कहीं भी साधन धर्म नहीं होता। उस समय प्रस्तुत पक्ष में हेतु है या नहीं यह अन्वेषण
नहीं किया गया था। अब वह किया जा रहा है तब जिस पक्ष में हेतु की उपलब्धि होती है उसी पक्षव्यक्ति
में (न कि सकल हेतु-अधिकरण में) ही अपने साध्य का निश्चय स्थापित करता है। यहाँ व्यक्तिविशेषरूप
पक्ष में साध्य का निश्चय करने में तथाविधपक्षवृत्तित्व का अन्वेषण सार्थक बनता है, अतः पहले जो अनुमानव्यर्थता
की आशंका की गयी थी वह निर्मूल हो जाती है। वहाँ ऐसा अनुमान किया जाता है कि, यहाँ व्यक्तिविशेष
में दिखाई देने वाला हेतु, विना साध्य के यहाँ हो नहीं सकता, यदि होता तो वह अपने साध्य से अविनाभावी
नहीं हो सकता। पहले जो कहा था कि हेतु में सर्वत्र संदिग्धव्यतिरेकता के कारण असाधकता प्रसक्त होगी
वह भी कुछ नहीं है, क्योंकि साध्याविनाभूत हेतु का व्यक्तिविशेषात्मक पक्ष में उपलम्भ होने पर 'साध्य वहाँ
है या नहीं' ऐसा अनिर्णय टिक नहीं सकता, क्योंकि पक्ष में स्वसाध्यविनाभूतस्वरूप से निश्चित हेतु का उपलम्भ
ही पक्ष में साध्य की उपलब्धि-रूप है। पक्ष में अपने साध्य से अविनाभूतस्वरूप से हेतु का निश्चय होना
यही हेतु में अपने साध्य का साधकत्व है, साधकता उस से कोई अन्य नहीं है।

ऐसी स्थिति में, जब सुनिश्चित व्याप्तिवाले एक हेतु का यदि पक्ष में सद्भाव सुज्ञात हुआ, तब वहाँ उसी
पक्ष में विपरीत साध्य का साधन करने वाला अविनाभूत अन्य हेतु का सद्भाव सम्भव ही नहीं है, यदि वे
दोनों ही हेतु सुनिश्चितरूप से अपने साध्य से अविनाभूत है तो एकान्तवादी के मत में किसी एक वस्तु में
नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों साध्यधर्मों का समावेश विरुद्ध होने के कारण असम्भव है, अत एव उन
दोनों के पृथक् पृथक् अविनाभूत दो हेतु का किसी एक पक्ष में कभी भी सम्भव न होना यह न्यायसंगत
है। यदि वैसा सम्भव हो तब तो दोनों हेतु अपने साध्य के अविनाभूत होने के बल पर एक धर्मी में नित्यधर्म-
अनित्य धर्म उभय समावेश क्यों सिद्ध नहीं होगा ? कैसे वहाँ प्रकरणसम हेत्वाभास कह कर हेतु को असाधक
कहा जाय ? हाँ, यदि उन दोनों हेतु में कोई एक अपने साध्य के अविनाभाव से शून्य हो, तब तो व्याप्ति
के विरह से ही उसमें असाधकता सिद्ध रहेगी, फिर उस में 'असत्प्रतिपक्षितत्व' एक अधिक रूप के अन्वेषण
के प्रयास की क्या आवश्यकता है ?!

तत्र निश्चिता तर्हि कथं न संदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिनं प्रति ? प्रतिवादिनस्तत्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एव नित्यधर्मोपलब्धेस्तत्र तस्य सिद्धेः ? यदपि — उभयानुपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता तदैकदेशो-पलब्धेरन्यतरेण हेतुत्वेनोपादाने कथं चिन्तासम्बन्धेव द्वितीयः तस्याऽसिद्धतां वक्तुं पारयति ? — इत्याद्यभिधानम् तदपि असंगतम्। यतो यदि द्वितीयः संशयापन्नत्वात् तत्रासिद्धतां नोद्भावयितुं समर्थः, प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयितत्वादेव तस्य हेतुतामभिधातुं शक्तो भवेत् ? अथ संशयितोऽपि तत्र हेतुतामभिदध्यात् तर्ह्यसिद्धतामप्यभिदध्यात् भ्रान्तेरुभयत्राऽविशेषात्।

यदपि 'साधनकाले नित्यधर्मानुपलब्धिरनित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्षे' इत्याद्यभिधानम् तदप्यसंगतम् विपक्षादेकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मत्वे च स्वसाध्यसाधकत्वमेव, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकव्यवच्छेदे-नापरत्र वृत्तिनिश्चये गत्यन्तराभावात्। न हि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो वस्तुधर्मः स तत्र

* अनुपलब्धि हेतु में प्रसज्य-पर्युदास के दो विकल्प *

प्रकरणसम के उदाहरण में, नित्यधर्मानुपलब्धि को हेतु दिखानेवाले नैयायिक के सामने यह भी प्रश्न है कि यहाँ अनुपलब्धि शब्द से प्रसज्य प्रतिषेध सम्मत है या पर्युदास ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि प्रसज्यप्रतिषेध पक्ष में अनुपलब्धि का अर्थ होगा उपलब्धि का अभाव, जो कि तुच्छ होता है, गधे के सींग की तरह तुच्छ अनुपलब्धि कभी भी अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकती। यदि दूसरा पर्युदासवाला पक्ष स्वीकृत हो तो हेतु का फलितार्थ यह होगा कि अनित्यधर्मोपलब्धि हेतु है। यदि यह हेतु शब्द में सिद्ध है तब तो अनायास अनित्यता की सिद्धि हो जायेगी, प्रकरणसमता को अवकाश ही कहाँ है ? यदि कहा जाय कि — 'नित्यत्व-अनित्यत्व की चिन्ता करने वाला पुरुष पर्युदास निषेध के अर्थ में जब नित्यधर्मानुपलब्धि को, यानी अनित्यधर्मोपलब्धि को हेतु बना कर अनित्यत्व की सिद्धि के लिये प्रयोग कर रहा है इस से ही यह फलित होता है कि उस के लिये प्रयोगकाल में, शब्द में अनित्यधर्मोपलब्धि निश्चित नहीं है अर्थात् संदिग्ध है।' — तो इसका मतलब यही होगा कि खुद वादी के मत में भी हेतु संदिग्धासिद्ध है। तथा प्रतिवादी के लिये तो वह स्वरूपासिद्ध ही है, क्योंकि वह शब्द में नित्यत्व-सिद्धि के लिये अनित्यधर्मानुपलब्धि को ही हेतु कर रहा है, अतः उसके मत में तो शब्द में नित्यधर्मोपलब्धि (पर्युदास अर्थ में) हेतु के रूप में सिद्ध है। तात्पर्य, हेतु में असिद्धि दोष ही हुआ न कि प्रकरणसमता का।

यदि यह कहा जाय — "शब्द में जब नित्यधर्म या अनित्य धर्म दोनों में से एक की भी उपलब्धि नहीं है, उस स्थिति में वादी-प्रतिवादी दोनों जब चिन्ता (चर्चा) कर रहे हैं तब यदि उन में से कोई एक पुरुष किसी एक अंश की उपलब्धि को (मान लो कि नित्यधर्मोपलब्धि को) हेतु बना कर रखे तो दूसरे चिन्ताकारी पुरुष को क्या अधिकार है कि वह उभयानुपलब्धि अवस्था में उक्त हेतु को असिद्ध घोषित करे ? तात्पर्य, कि यहाँ असिद्धि का उद्भावन नहीं हो सकता किन्तु विपरीत हेतु लगा कर प्रकरणसमता का ही प्रदर्शन हो सकता है।" — यह कथन भी असंगत है। क्योंकि यदि उभयानुपलब्धिमूलक संशय के कारण प्रतिवादी वादी के अनित्यधर्मोपलब्धि हेतु में असिद्धि दोष का उद्भावन करने में निष्फल रहता है तो पहला वादी तथाविध संशय के कारण उस हेतु को हेतु के रूप में प्रस्तुत करने का साहस करने में कैसे सफल होता है ? यदि संशय होने पर भी वह उस हेतु का प्रयोग करता है तो दूसरा वादी संशय होने पर भी वहाँ असिद्धि दोष का निरूपण सरलता से कर सकता है, क्योंकि भ्रान्ति तो वादी-प्रतिवादी दोनों को हो सकती है, अतः प्रतिवादी को 'कदाचित् मेरी भ्रान्ति होगी तो' ऐसा डर रखने की जरूर क्या है ?!

साधयतीति वक्तुं युक्तम्। अथ द्वितीयोऽपि वस्तुधर्मस्तत्र तथैव निश्चितः। न, परस्परविरुद्धधर्मयो-
स्तदविनाभूतयोर्वैकत्र धर्मिण्ययोगात्, योगे वा नित्यानित्यत्वयोः शब्दाख्ये धर्मिण्येकदा सद्भावात् अने-
कान्तरूपवस्तुसद्भावोऽभ्युपगतः स्यात्, तमन्तरेण तद्धेतवोः स्वसाध्याविनाभूतयोः तत्रायोगात्। अथ
द्वयोस्तुल्यबलयोरेकत्र प्रवृत्तौ परस्परविषयप्रतिबन्धान्न स्वसाध्यसाधकत्वम्। असदेतत्, स्वसाध्याविना-
भूतयोर्धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्सद्भावे परस्परविषयप्रतिबन्धः ? तत्प्रतिबन्धो

✽ एक धर्मी में विरुद्ध दो धर्म के समावेश से स्याद्वाद-सिद्धि ✽

यह जो पहले कहा है (२५१-३) कि 'शब्द में अनित्यत्वसाधन के प्रयोग काल में नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु विपक्ष में नहीं रहता किन्तु अनित्यपक्ष में ही वर्तमान है अतः सिर्फ सपक्ष में ही रहने से यह हेतु अनेकान्तिक नहीं है किन्तु प्रकरणसम है।' - यह विधान असंगत है क्योंकि यदि साधनकाल में हेतु विपक्ष से सर्वथा व्यावृत्त और पक्षवृत्ति होगा तो वह अनित्यत्वरूप अपने साध्य की सिद्धि किये विना नहीं रह सकता। कारण, परस्पर उलटे स्वरूप वाले दो धर्मी में से एक धर्मी में किसी एक धर्म के अस्तित्व का व्यवच्छेद होने पर दूसरे में उस धर्म की वृत्ति का निश्चय हो कर ही रहेगा क्योंकि और कोई विकल्प ही वहाँ नहीं है। जब हेतु का विपक्ष से व्यवच्छेद हो गया तो सपक्षवृत्ति का निश्चय हो कर ही रहेगा क्योंकि सपक्ष और विपक्ष परस्पर उलटे स्वरूपवाले हैं। अतः 'हेतु अनित्यपक्ष में वृत्ति है' इस प्रकार जब वस्तुधर्म (हेतु) का निश्चय हो जाय तब 'अपने साध्य को वह नहीं साध सकता' ऐसा कहना उचित नहीं है।

यदि कहा जाय कि - 'जैसे नित्यधर्मानुपलब्धिरूप वस्तुधर्म का 'विपक्ष में न होना, सपक्ष में होना' ऐसा निश्चय है वैसे ही नित्यपक्ष में अनित्यधर्मानुपलब्धिरूप प्रतिहेतु वस्तुधर्म का भी वैसा ही निश्चय है, इस लिये किसी भी एक से स्व साध्य निश्चय नहीं हो सकेगा।' - तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि आप के मतानुसार परस्पर विरोधी धर्मों का या उन के अविनाभावी व्याप्य धर्मों का एक धर्मी में संगम अशक्य है। हाँ स्याद्वादीयों की तरह आप उन का समावेश मान लेते हैं तब तो शब्दात्मक एक धर्मी में एक काल में नित्यत्व-अनित्यत्व उभय का सद्भाव उक्त दो अनुमानों से सिद्ध हो जाने से आप को भी अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप का स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि ऐसा स्वीकार किये विना अपने साध्य के अविनाभावी दो हेतुओं का शब्दात्मक धर्मी में समावेश घटित नहीं होगा।

यदि कहा जाय - 'एक धर्मी में प्रयुक्त किये गये दोनों हेतु समान बल वाले होने से एक-दूसरे के साध्य की सिद्धि में प्रतिबन्ध लगा देंगे, अतः अपने अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर पायेंगे।' - तो यह बात गलत है, पहले ही कह आये हैं कि हेतु के उपलम्भ से साध्य की उपलब्धि पृथक् होती है ऐसा नहीं है, अपने साध्य के अविनाभूत हेतु का उपलम्भ ही गर्भितरूप से साध्य का उपलम्भ है। एक धर्मी में स्वसाध्यव्याप्त दो धर्मों का उपलम्भ जब होगा तब उस के साथ साथ ही उन के अपने अपने साध्य का उपलम्भ अविलम्ब हो जायेगा, फिर एक-दूसरे को प्रतिबन्ध लगाने का अवकाश ही कहाँ रहता है ?! प्रतिबन्ध होगा तो ऐसा होगा कि एक स्वसाध्याविनाभूत हेतु का उपलम्भ एक धर्मी में हुआ तो दूसरे तथाविध प्रतिहेतु का उपलम्भ वहाँ नहीं होगा। किन्तु आपने तो दोनों हेतु में त्रैरूप्य का स्वीकार किया है, अतः दोनों हेतु की अप्रवृत्ति स्वरूप प्रतिबन्ध को यहाँ अवकाश ही नहीं है, क्योंकि दोनों हेतु की एक धर्मी में प्रवृत्ति (उपलब्धि) और अप्रवृत्ति ये दोनों क्रमशः भाव-अभाव स्वरूप होने से परस्पर एक दूसरे को छोड़ कर रहने के स्वभाव वाले ही हैं, अतः एक धर्मी में एक के होने पर दूसरे की, यानी दोनों हेतु की एक धर्मी में प्रवृत्ति होने पर अप्रवृत्ति वहाँ नहीं हो सकती जिस से प्रतिबन्ध लब्धप्रसर हो सके।

हि तयोस्तथाभूतयोस्तत्राऽप्रवृत्तिः, सा च त्रैरूप्याभ्युपगमे विरोधाद्युक्ता भावाभावयोः परस्परपरिहार-स्थितलक्षणतयैकत्राऽयोगात्। अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरेकत्राऽयोगादनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्य-धर्मानुपलब्धेर्वा बाधा। न, अनुमानस्यानुमानान्तरेण बाधाऽयोगात्।

तथाहि - तुल्यबलयोर्वा तयोर्बाध्यबाधकभावं अतुल्यबलयोर्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, द्वयोस्तुल्यत्वे एकस्य बाधकत्वमपरस्य बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः। न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादिरेकस्य विशेषः, तस्या-नभ्युपगमादभ्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वान्न किञ्चिदनुमानबाधया। तन्न पूर्वः पक्षः। नापि द्वितीयः, यतोऽतुल्यबलत्वं तयोः पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? न तावत् आद्यः पक्षः, तस्यानभ्युपगमादभ्युपगमे वाऽनुमानबाधवैयर्थ्यप्रसक्तेः। नापि द्वितीयः तस्याद्यापि विचारास्पदत्वात्। न हि द्वयोस्त्रैरूप्यात्तुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वम् इति व्यवस्थापयितुं शक्यम्। तन्नानु-मानबाधाकृतमपि अतुल्यबलत्वमितरेतराश्रयदोषापत्तेः परिस्फुटत्वात्।

एतेन पक्ष-सपक्षान्यतरत्वादेरपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कृतो द्रष्टव्यः, न्यायस्य समानत्वात्।

यदि यह कहा जाय कि - 'दो परस्परव्यवच्छेदात्मक धर्मों का एक धर्मी में अवकाश नहीं होता। अनित्यधर्मानुपलब्धि और नित्यधर्मानुपलब्धि परस्पर विपरीत हैं अतः एक धर्मी में एक के होने पर दूसरे का प्रतिबन्ध क्यों नहीं होगा ?' - यह प्रश्न संगत नहीं है, क्योंकि वे दोनों परस्परव्यवच्छेदस्वरूप होने पर भी जब उन दोनों का एक धर्मी में प्रयोग किया जाय तब दोनों स्वतन्त्र अनुमान होने से, एक अनुमान दूसरे अनुमान का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।

✽ एक अनुमान दूसरे अनुमान का बाधक क्यों नहीं ? ✽

एक अनुमान यदि दूसरे अनुमान का बाधक होगा तो दो विकल्पप्रश्न खड़े होंगे - समान बलवाले दो अनुमानों में बाध्यबाधक भाव होगा या असमानबलवाले में ?

पहले पक्ष में बाध्य-बाधक भाव सम्भव ही नहीं है, क्योंकि दोनों ही समानबल वाले हैं, उन में एक में दूसरे से कोई अधिक विशेषता है नहीं। यह तो आप नहीं कह सकते कि एक में पक्षवृत्तिका का विरह आदि विशेषता है, दूसरे में नहीं है। कारण, आप तो प्रयोगकाल में दोनों हेतुओं को पक्षवृत्ति मान कर चलते हैं। यदि आप किसी एक को पक्षवृत्तित्वादि से शून्य मान लेंगे तो उसी से वहाँ असिद्धादि दोष प्रगट हो जायेगा, फिर दूसरे अनुमान से बाधा की उपस्थिति को अवकाश ही कैसे रहेगा ? निष्कर्ष, पहला विकल्प अयुक्त है।

द्वितीय विकल्प भी अप्रस्तुत है, क्योंकि यही तो अब तक विचाराधीन है कि दो में से कौन सा हेतु हीनबलवाला और कौन सा अधिकबलवाला है ? अब तक तो असमानबलता सिद्ध नहीं है। इस स्थिति में, जब कि तीनरूपों का समावेश दोनों हेतुओं में समान है तब एक बाध्य और दूसरा बाधक ऐसी व्यवस्था कैसे हो सकती है ? यहाँ अनुमानबाध के बल पर भी असमानबलत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असमानबल के आधार पर अनुमानबाध और अनुमानबाध के जरिये असमानबलत्व सिद्ध करने पर अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

✽ पक्ष-सपक्षान्यतरत्व भी प्रकरणसम नहीं है ✽

उक्त अनुपलब्धि हेतु में प्रकरणसमत्व दोष का जैसे निराकरण किया गया, वैसे पक्ष-सपक्षान्यतरत्व (पक्ष या विपक्ष में से कोई एक होना) आदि हेतुओं में भी प्रकरणसमत्व का निरसन जान लेना चाहिये, क्योंकि जिस युक्ति से पहले प्रकरणसमत्व का निरसन किया है वह युक्ति वहाँ भी समानरूप से संलग्न है। कैसे

यदपि 'अत्राऽसाधारणत्वाऽसिद्धत्वदोषद्वयनिरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्ष-सपक्षयोः साधारणं हेतुत्वेन विवक्षितम् अन्यतरशब्दात् तथाविधार्थप्रतिपत्तेः तस्य तत्र योग्यत्वात्' इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम् यतः यत्राऽनियमेन फलसम्बन्धो विवक्षितो भवति तत्रैव लोके 'अन्यतर' शब्दप्रयोगो दृष्टः यथा 'देवदत्त-यज्ञदत्तयोरन्यतरं भोजय' इत्यत्राऽनियमेन देवदत्तो यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया सम्बध्यते इति 'अन्यतर'-शब्दप्रयोगः, न चैवं शब्दः पक्ष-सपक्षयोरन्यतरः तस्य पक्षत्वेन 'अन्यतर' शब्दवाच्यत्वाऽयोगात्। यदपि 'यदा पक्षधर्मत्वं प्रयोक्ता विवक्षितं तदा 'अन्यतर'शब्दवाच्यः पक्षः' इत्याद्यभिधानम् तदप्यसंगतम् एवंविवक्षायामस्य कल्पनासमारोपितत्वेऽनर्थरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः। न हि कल्पनाविरचितस्यार्थत्वं त्रैरूप्यं वोपपत्तिम् अतिप्रसङ्गात्। तत्त्वे वाऽन्यस्य गमकतानिबन्धनस्याभावात् सम्यग्हेतुत्वं स्यादित्युक्तं प्राक्।

कालात्ययापदिष्टस्य तु लक्षणमसंगतमेव। न हि प्रमाणप्रसिद्धत्रैरूप्यसद्भावे हेतोर्विषयबाधा सम्भविनी, तयोर्विरोधात्। साध्यसद्भावे एव हेतोर्धमिणि सद्भावस्रैरूप्यम् तदभाव एव च तत्र तत्सद्भावो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः।

यह देखिये — आपने जो पहले कहा है कि — 'असाधारण अनैकान्तिक दोष और असिद्धत्व दोष ये दोनों को निरवकाश दिखाने के लिये पक्ष और सपक्ष उभय साधारण 'अन्यतर' शब्दवाच्य पदार्थ को हेतु के रूप में प्रदर्शित किया गया है। 'अन्यतर' शब्द से 'दो में से कोई एक' ऐसे अर्थ का बोध होता है और वैसा अर्थ यहां पक्ष-सपक्षान्यतरत्व का, होने योग्य है, असंगत नहीं है।' — यह विधान अनुचित है। कारण, अन्यतर शब्द का यही अर्थ यहाँ संगत नहीं है। जहाँ फल अर्थात् विधेय का अन्वय अनियतरूप से दो में से किसी भी एक के साथ विवक्षित हो (न कि दो में से अमुक ही एक के साथ), वहाँ ही लोकव्यवहार में 'अन्यतर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे उदा. 'देवदत्त-यज्ञदत्त दो में से एक को भोजन कराओ' ऐसे वाक्यप्रयोग से अनियतरूप से भोजन कराने की क्रिया का अन्वय चाहे देवदत्त के साथ किया जाय या यज्ञदत्त के साथ, इष्ट है, अत एव यहाँ 'अन्यतर' शब्द के अर्थ में 'दो में से एक' ऐसा शब्दप्रयोग किया जा सकता है। आपने जो शब्द को पक्ष कर के पक्ष-सपक्षान्यतर को हेतु किया है वहाँ तो अन्यतर शब्द से अनियतभाव से 'पक्ष या सपक्षरूप होने से' ऐसा अर्थ आप को अभिप्रेत ही नहीं है। आप को तो नियतभाव से 'अन्यतर' शब्द से 'पक्ष' ही अर्थ अभिप्रेत है, और उस के लिये 'अन्यतर' शब्द का प्रयोग योग्य नहीं है। अतः अन्यतरशब्द के प्रयोग द्वारा प्रकरणसमत्व को लब्धप्रसर दिखाना असाधारण-अनैकान्तिक एवं असिद्धत्व को निरवकाश दिखाना गैरमुनासिब है।

यह जो आपने कहा था कि — 'हेतु में पक्षवृत्तित्व दिखाना विवक्षित हो तब 'अन्यतर' शब्द का पक्ष अर्थ ग्रहण करना।' — वह भी असंगत है क्योंकि वास्तव में नियतरूप से पक्षात्मक ही अर्थ का ग्रहण शक्य न होने पर आप को यहाँ कल्पना से ही तथाविध अर्थ का समारोपण करना पड़ेगा और कल्पना-आरोपित अर्थ तो अनर्थ है, अर्थात् अवास्तव है, उस में हेतुत्व ही नहीं घट सकता। कल्पना-आरोपित अर्थ न तो वास्तविक अर्थ होता है, न उस में हेतु के तीन रूप भी संगत हो सकते हैं, क्योंकि फिर सर्वथा अव्यवस्था का अतिप्रसंग सिर उठायेगा। यदि कल्पना-आरोपित अर्थ में तीन रूपों को संगत माना जाय, तब तो और कोई त्रैरूप्य से अतिरिक्त गमकत्वप्रयोजक होता नहीं, त्रिरूपता ही गमकत्व का प्रयोजक होता है, फलतः वह हेतु सम्यग् हेतु ही बन बैठेगा। यह पहले भी कहा जा चुका है।

किञ्च, अध्यक्षागमयोः कुतो हेतुविषयबाधकत्वमिति वक्तव्यम् । 'स्वार्थाऽसम्भवे तयोरभावादि'ति चेत् ? हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत् समानमित्यसावपि तयोर्विषये बाधकः स्यात्; दृश्यते हि चन्द्रार्कादि-स्वैर्यग्राह्यध्यक्षं देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवतद्गत्यनुमानेन बाध्यमानम् । अथ तत्स्वैर्यग्राह्यध्यक्षस्य तदाऽऽभासत्वाद् बाध्यत्वं तर्ह्येकशाखाप्रभवत्वानुमानस्यापि तदाऽऽभासत्वाद् बाध्यत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम् । न च 'एवमस्तु' इति वक्तव्यम् यतस्तस्य तदाभासत्वं किमध्यक्षबाध्यत्वात् उत त्रैरूप्यवैकल्यात् ? न तावदाद्यः पक्षः, इतरेतराश्रयदोषसद्भावात् - तदाभासत्वेऽध्यक्षबाध्यत्वम् ततश्च तदाभासत्वमित्येकाऽसिद्धावन्यतरा-प्रसिद्धेः । नापि द्वितीयः, त्रैरूप्यसद्भावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात्, अनभ्युपगमे वा तत एव तस्याऽगमकतोपपत्तेरध्यक्षबाधाभ्युपगमवैयर्थ्यात् ।

न चाऽबाधितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम् त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गतोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः सम्भवति, स्वसम्बन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालभाविनोऽसम्यगनुमानेऽपि सद्भावात्

✽ कालात्ययापदिष्ट के लक्षण में असंगतियाँ ✽

कालात्ययापदिष्ट का जो लक्षण कथन किया गया है वह गलत है । जब तीनरूपों का सद्भाव प्रमाणसिद्ध हो तब हेतु के साध्य विषय में प्रतिबन्ध (= बाध) होना सम्भव नहीं है । साध्यप्रतिबन्ध और हेतु के तीन रूप - उन में पक्का विरोध है । कैसे, यह हेतु के तीन रूपों के स्वरूप को खोलने से पता चलेगा - 'साध्य के होने पर ही हेतु का होना' यही त्रैरूप्य है, 'हेतु का होना' इस से १ पक्षवृत्तित्व और 'साध्य के होने पर ही' इस अंश से २ सपक्ष वृत्तित्व और ३ विपक्षव्यावृत्ति दोनों का सद्भाव प्रसिद्ध हो जाता है । दूसरी ओर साध्य के न होने पर ही हेतु का रह जाना - यह बाध है, एक में भावात्मक साध्य है दूसरे में साध्य का अभाव है और एक स्थल में इन दोनों में स्पष्ट विरोध है ।

यह भी सोचना चाहिये कि हेतु के साध्यात्मक विषय में प्रत्यक्ष और आगम का बाध किस ढंग से हो सकता है ? यदि यह उत्तर हो कि जब वहाँ स्वविषयात्मक पदार्थ नहीं होता तब तद्विषयक प्रत्यक्ष या आगम लब्धप्रसर नहीं होता, इसी से उन दोनों का बाध कहा जाता है । यही उत्तर हेतु के बारे में समान है, हेतु में भी त्रैरूप्य तब विद्यमान होता है जब अपना विषय विद्यमान हो, अतः त्रैरूप्य के होने पर प्रत्यक्ष या आगम हेतु के साध्यात्मक विषय का बाध नहीं करेगा, उलटा हेतु ही उन दोनों का (प्रत्यक्ष-आगम का) बाध करेगा । यह दिखता तो है कि चन्द्र और सूर्य स्थिर हो ऐसा प्रत्यक्ष होने पर भी देशान्तरप्राप्ति हेतुक गति के अनुमान से उस प्रत्यक्ष का बाध होता है, यानी चन्द्र और सूर्य गतिशील सिद्ध होते हैं । यदि यहाँ कहा जाय कि उन की स्थिरता का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास होता है इस लिये उस का अनुमान से बाध होता है - तो प्रस्तुत बाध के उदाहरण में भी कहा जा सकता है कि आम्रफल में जो पक्वता का अनुमान है वह अनुमानाभास है इस लिये एकशाखोत्पाद हेतु से होने वाले पक्वता के अनुमान में प्रत्यक्ष का बाध हो सकेगा ।

'हाँ, ऐसा ही मान लिजिये' ऐसा भी आप यहाँ नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ दो विकल्पप्रश्न प्रसक्त हैं, वह अनुमान प्रत्यक्षबाध्य होने से अनुमानाभास सिद्ध होगा या तीन रूपों के न होने से ? प्रथम पक्ष तो अन्योन्याश्रय दोष होने से स्वीकारयोग्य नहीं है - क्योंकि उस के अनुमानाभासत्व की सिद्धि होने पर ही उस में प्रत्यक्षबाध्यता मानी जा सकेगी और प्रत्यक्षबाध्यत्व सिद्ध होने पर ही अनुमानाभासत्व प्रसिद्ध होगा । इस स्थिति में जब तक एक असिद्ध है तब तक दूसरे की सिद्धि नहीं हो सकेगी । दूसरे पक्ष में त्रैरूप्य का विरह

उत्तरकालभाविनोऽसिद्धत्वात् सर्वसम्बन्धिनस्तादात्विकस्योत्तरकालभाविनश्चासिद्धत्वात् । न ह्यर्वाग्दृशा 'सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याभावः' इति निश्चेतुं शक्यम् तन्निश्चयनिबन्धनस्याभावात् । नानुपलम्भ-स्तन्निबन्धनः सर्वसम्बन्धिनस्तस्याऽसिद्धत्वात्, आत्मसम्बन्धिनोऽनैकान्तिकत्वात्, न संवादस्तन्निबन्धनः प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्याऽसिद्धेः, अनुमानोत्तरकालं तत्सिद्धयभ्युपगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि — अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादिनिश्चयः ततश्चाबाधितत्वावगमेऽनुमानप्रवृत्तिरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् ।

न चाऽविनाभावनिश्चयादप्यबाधितविषयत्वनिश्चयः, पञ्चलक्षणयोग्यविनाभावपरिसमाप्तिवादिनाम-बाधितविषयत्वानिश्चयेऽविनाभभावनिश्चयस्यैवाऽसम्भवात् । यदि च प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्त-स्यैव कालात्ययापदिष्टत्वम् तर्हि 'मूर्खीयं देवदत्तः त्वत्पुत्रत्वात् उभयाभिमत-त्वत्पुत्रवत्' इत्यस्यापि गमकता स्यात् । न हि सकलशास्त्रव्याख्यातृत्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदध्यक्ष-

तो आप वहाँ नहीं मान सकते क्योंकि हेतु को बाधित दिखाने के लिये आपने तीन रूपों का तो उस में स्वीकार कर लिया है । हाँ, यदि आप यहाँ तीन रूपों के सद्भाव का अस्वीकार कर देते हैं तो त्रैरूप्य के अभाव से ही एकशाखोत्पत्ति हेतु में साधकता का निरसन हो जाने से प्रत्यक्ष बाध दोष का अंगीकार निरर्थक ठहरता है ।

✽ अबाधितत्व हेतु का लक्षण दुर्घट है ✽

जैसे पक्षवृत्तित्वादि तीन, हेतु के लक्षण हैं वैसे अबाधितविषयता हेतु का लक्षण सम्भव नहीं है । कारण, उस का निश्चय अशक्य है और जैसे पक्षवृत्तित्वादि तीन के निश्चय के विना वे तीन साधकता के अंग नहीं बन सकते वैसे अबाधितविषयता भी अनिश्चित होने पर साधकता का अंग नहीं बन सकती । अबाधितविषयता का सत्य निश्चय सम्भव नहीं है — कैसे, यह देखिये — अपना यानी अनुमान करने वाले का अबाधितत्वनिश्चय वहाँ काम आयेगा या सर्वजनों का वैसा निश्चय वहाँ काम आयेगा ? जिस समय में ज्ञाता अनुमान कर रहा है उस समय जो स्वयं उस को अबाधितत्व का निश्चय है वह साधकता का अंग माना जाय तो वैसा निश्चय असत् अनुमान के काल में भी हो सकता है, अतः अतिव्याप्ति प्रसक्त होगी । यदि अनुमान के उत्तरकाल में अबाधितत्व का निश्चय उस ज्ञाता को होगा तो वह भी काम में नहीं आयेगा क्योंकि अनुमानकाल में जब उस की माँग है तब तो वह असिद्ध है । सर्वजनों का अबाधितत्व निश्चय न तो अनुमान काल में हो सकता है, न अनुमान के उत्तरकाल में, अतः वह तो सर्वथा बेकार है । अल्पज्ञ पुरुष को कभी भी ऐसा निश्चय होना सम्भव नहीं है कि 'सभी लोगों को समस्त काल में सर्वथा बेकार है । बाधक की अनुपस्थिति रहती है ।' ऐसा निश्चय होने के लिये कोई उपाय होना चाहिये किन्तु वह नहीं है । बाधक का अनुपलम्भ मात्र यहाँ उपायभूत नहीं है क्योंकि सभी लोगों को बाधक का अनुपलम्भ ही हो ऐसा सिद्ध नहीं है । सिर्फ अनुमानकर्ता का ही बाधक का अनुपलम्भ तो असत् अनुमानस्थल में भी होने से वह अनैकान्तिक है, अर्थात् निरुपयोगी है । यदि कहा जाय कि — संवादरूप उपाय से बाधकाभाव का निश्चय कर के अनुमान हो सकेगा- तो यह भी शक्य नहीं है क्योंकि अनुमान के पहले तो वैसा संवाद असिद्ध है । अनुमान के पहले वैसा कोई बाधकाभावविषयक संवादी ज्ञान या प्रवृत्ति प्राप्त नहीं है कि जिस से यहाँ बाधकाभाव का निर्णय हो सके । कदाचित् अनुमान के उत्तर काल में संवादीप्रवृत्तिस्वरूप संवाद सिद्ध माना जाय तो वह भी अनुमान के लिये निरर्थक होगा क्योंकि वहाँ अन्योन्याश्रय दोष लग जायेगा — अनुमान होने के बाद प्रवृत्ति के द्वारा संवादिनिश्चय होगा और संवादिनिश्चय के आधार पर अबाधितत्व निश्चय होने से अनुमान प्रवृत्त होगा । स्पष्ट ही यहाँ संवादिनिश्चय और अनुमान में अन्योन्याश्रय हो जाता है ।

बाधितविषयत्वमागमबाधितविषयत्वं वा अगमकतानिबन्धनमस्यास्ति । न चानुमानस्य तुल्यबलत्वान्ना-
नुमानं प्रति बाधकता सम्भविनीति वक्तव्यम् निश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्याऽनिश्चितप्रतिबन्ध-
लिङ्गसमुत्थेन अतुल्यबलत्वात् । अत एव न साधर्म्यमात्राद् हेतुर्गमकोऽपि तु आक्षिप्तव्यतिरेकात् साधर्म्य-
विशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात् किन्त्वङ्गीकृतान्वयात् तद्विशेषात् । न च परस्परानुविद्धोभयमात्रा-
दपि अपि तु परस्परस्वरूपाऽजहद्वृत्तिसाधर्म्य-वैधर्म्यरूपत्वात् । न च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चयक-
प्रमाणनिबन्धनं त्रैरूप्यं निश्चितमिति तदभावादेवास्य हेत्वाभासत्वम् न पुनरसत्प्रतिपक्षत्वाऽबाधित-
विषयत्वापररूपविरहात् । यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकवास्तवरूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयस्तदा तत्
तथाभूतमेव वस्तु प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः ?!

✽ अबाधितत्व का निश्चय दुष्कर ✽

अबाधितविषयता का निश्चय, अविनाभाव के निश्चय से भी नहीं हो सकता । कारण यह है कि जो हेतु
में पंचरूपता मानते हैं उन के मत में अविनाभाव का निश्चय भी पांचरूपों के निश्चय पर निर्भर है और
उन पाँच रूपों में ही एक उन के मत में अबाधितत्व है । अतः अबाधितविषयत्व के निश्चय के विना अविनाभाव
का निश्चय शक्य नहीं है । कालात्ययापदिष्ट का अर्थनिरूपण करते हुए यह जो कहा जाता है कि — साध्यात्मक
कर्म प्रत्यक्ष या आगम से बाधित होने पर जो बाद में हेतु प्रयुक्त किया जाता है उसी को कालात्ययापदिष्ट
कहते हैं । ऐसा कहने पर तो 'यह देवदत्त मूर्ख है क्योंकि वह आप का पुत्र है, जैसे कि उभयसम्मत आप
का दूसरा मूर्ख पुत्र ।' — इस प्रयोग में हेतु में साधकता प्रसक्त होगी । क्यों ? इस लिये कि यहाँ हेतु
तभी असाधक कहा जा सकता है जब कि इस में प्रत्यक्षबाधितविषयता या आगमबाधितविषयता सिद्ध हो सके,
किन्तु यहाँ वह साक्षात् सम्भव नहीं है । यहाँ तो सकलशास्त्र के व्याख्यानस्वरूप लिंग से उत्पन्न अमूर्खत्व
यानी प्राज्ञत्व का अनुमान ही बाधक हो सकता है । इसलिये यहाँ प्रत्यक्षबाधितविषयता अथवा आगमबाधितविषयता
रूप असाधकता का मूल तो है ही नहीं तब आप की कालात्ययापदिष्टत्व की व्याख्या के अनुसार यहाँ देवदत्त
में 'आप का पुत्र होना' यह हेतु क्यों मूर्खत्व-साधक नहीं होगा । आप की कालात्ययापदिष्टत्व की व्याख्या
में आपने अनुमानबाधितविषयता का तो प्रवेश ही नहीं किया है ।

यदि यह कहा जाय कि — अनुमान अनुमान समान बल होते हैं अतः वे एक-दूसरे के बाधक नहीं हो
सकते — तो यह भाषणयोग्य नहीं है, क्योंकि दोनों अनुमान समान बल हो ऐसा नहीं है, जो सुनिश्चित व्याप्तिवाले
लिंग से अनुमान होता है वह अधिक बलवान होता है जब कि अनिश्चित व्याप्तिवाला अनुमान हीनबल होता
है । यही सबब है कि सिर्फ सपक्षवृत्ति हेतुसाध्ययुगल के साधर्म्य मात्र से हेतु साध्य-साधक नहीं बन जाता,
किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति विशिष्ट, सपक्ष के साधर्म्य से हेतु साधक होता है । अर्थात्, 'यदि साध्य न हो तो हेतु
भी न हो' इस प्रकार व्यतिरेकाक्षेप' के योग्य सपक्ष के साधर्म्य से ही हेतु में साधकता हो सकती है । तथा,
व्यतिरेकमात्र यानी विपक्ष के वैधर्म्यमात्र से हेतु साध्यसाधक नहीं बन जाता किन्तु जहाँ विपक्ष में 'हेतु होता
तो साध्य अवश्य होता' इस प्रकार के अन्वय के आक्षेप के योग्य विशिष्ट वैधर्म्य हो उस स्थल में ही हेतु साध्य
का साधक हो सकता है । तथा, परस्परनिरपेक्ष अर्थात् केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य मात्र से भी हेतु साधक
नहीं बन सकता किन्तु परस्पर अजहद्वृत्ति यानी परस्पर सापेक्ष साधर्म्य-वैधर्म्य से ही हेतु साधक हो सकता है ।

पक्ष-सपक्षान्यतरत्वरूप अथवा एकशाखोत्पत्तिरूप जो प्रकृत हेतु है उस में व्याप्तिनिश्चयप्रतिपादक प्रमाण
का प्रयोजक 'तीन लक्षण युक्तता' ही निश्चित नहीं है अत एव उस के विरह में यह हेतु हेत्वाभास मानना

यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकावास्तवरूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयस्तदा तत् तथाभूतमेव वस्तु प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः ? न च साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्चैकान्तभेदे पक्षधर्मत्वादि-धर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमान्, संबन्धाऽसिद्धेः। न च समावायादेः सम्बन्धस्य निषेधे एकार्थसमवायादिः साध्य-साधनयोः धर्मिणश्च सम्बन्धः सम्भवी, एकान्तपक्षे तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणोऽप्यसावयुक्त एव इति 'पक्षधर्मत्वम्' इत्यादि हेतुलक्षणमसंगतमेव स्यात्। यदि च पक्षधर्मत्वादिकं हेतोस्त्रैरूप्यमभ्युपगम्यते कथं न परवादाश्रयणम् एकस्य हेतोरनेकधर्मात्मकस्याभ्युपगमात्। न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वम् तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यम् अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्याऽयोगात्तत्त्वे वा केवलाऽन्वयी केवलव्यतिरेक वा सर्वो हेतुः स्यात् न त्रिरूपवान्। व्यतिरेकस्य चाभावरूपत्वात् हेतोस्तद्रूपत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात्, न चाभावस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन धर्मिणा वा सम्बन्ध उपपत्तिमान्। न च विपक्षे सर्वत्राऽसत्त्वमेव हेतोः स्वकीयं रूपं व्यतिरेकः न तुच्छाभावमात्र-मिति वक्तव्यम् यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तत्वम् न ततो भिन्नमस्ति तदा तस्य तदेव

उचित है। उस के बदले असत्प्रतिपक्षित्व और अबाधितविषयत्व इन दो रूपों के विरह से उन को हेत्वाभास मानना प्रमाणशून्य है।

✽ एकान्तवाद में पक्षधर्मता आदि की दुर्घटना ✽

यहाँ एकान्तवादियों को यह भी सोचना चाहिये कि जब वें पक्षवृत्तित्वादि अनेक वास्तविक रूपों से समन्वित एक लिंग को — यानी एकानेकस्वरूप लिंग को मानने के लिये सज्ज हैं तब वैसे लिंग से जो साध्य वस्तु सिद्ध होगी वह भी अनेकान्तात्मक यानी एकानेकस्वरूप क्यों सिद्ध नहीं होगी ? अर्थात् एकान्तवादियों को यहाँ एकान्त से विपरीत अनेकान्त की सिद्धि कैसे नहीं होगी ? अरे ! एकान्तवाद में परस्पर साध्य और साधन के बीच अथवा धर्मी से साध्य या साधन का एकान्ततः यदि भेद ही माना जायेगा तो हेतु में पक्षधर्मतादि रूपों का अन्वय भी घट नहीं सकेगा। कारण, वहाँ कोई सम्बन्ध-घटना नहीं हो सकेगी। समवाय सम्बन्ध का तो पहले निषेध हो चुका है। जब समवाय नहीं घट सकेगा तो उस के उपजीवी एकार्थसमवायादि सम्बन्ध तथा साध्य-साधन का सम्बन्ध एवं उन का धर्मी के साथ सम्बन्ध भी नहीं घट सकेगा। एकान्तवादी के पक्ष में तादात्म्य संबन्ध भी एकान्ततादात्म्यरूप होने से (धर्म-धर्मी इत्यादि भाव लुप्त हो जाने के भय से) घट नहीं सकेगा। तथा एकान्तवाद में तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं घट सकता क्योंकि एकान्तभेद पक्ष में कारण-कार्य भाव की संगति भी दुर्लभ है। फलतः यहाँ पक्षधर्मता आदि तीन या पाँच हेतु-लक्षण भी संगत नहीं हो सकता।

✽ एकान्तवाद में भाव-अभाव का ऐक्य दुर्घट ✽

यदि 'पक्षधर्मता' आदि को हेतु के त्रैरूप्य स्वरूप आप मानते हैं तो यहाँ एक हेतु का अनेकात्मक रूप में स्वीकार हुआ, इस लिये परवादी (अनेकान्तवादी) के मत का आश्रय कैसे नहीं हुआ ? यदि कहा जाय — 'पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व और विपक्षाऽसत्त्व ये कोई विभिन्नरूप नहीं है पक्षधर्म का जो सपक्ष में सत्त्व है वही विपक्ष से सर्वथा व्यावृत्तिस्वरूप है' — तो यह आप के मतानुसार ठीक नहीं है, क्योंकि सपक्ष में सत्त्व यह अन्वयस्वरूप होने से भावपदार्थात्मक है जब कि विपक्ष से व्यावृत्ति व्यतिरेक स्वरूप होने से अभावात्मक (तुच्छ) है, एकान्तवाद में भाव और अभाव में कभी लेशमात्र भी तादात्म्य होता नहीं है। यदि फिर भी आप वैसा मानेंगे तो सभी हेतु केवलान्वयी अथवा केवलव्यतिरेकी हो जायेंगे किन्तु तीन रूपशाली नहीं होंगे,

सावधारणं नोपपत्तिमत् वस्तुभूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तस्य तत्राऽसम्भवात् । अथ ततः तद् अन्यद् धर्मान्तरम् तर्हि एकरूपस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तथाभूतस्य साध्याऽविनाभूतत्वेन निश्चित-स्थानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादनात् कथं न परोपन्यस्तहेतूनां सर्वेषां विरुद्धता एकान्तविरुद्धेनानेकान्तेन व्याप्तत्वात् ?!

किञ्च, हेतुः A सामान्यरूपो वोपादीयेत परैः B विशेषरूपो वा ? A यदि सामान्यरूपस्तदा तद् व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नं वा ? न तावद् भिन्नम् 'इदं सामान्यम् अयं विशेषः अयं तद्धान्' इति वस्तुत्रयोपलम्भानुपलक्षणात् । तथा च सामान्यस्य भेदेनाभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । न च समावायवशात् परस्परं तेषां भेदेनानुपलक्षणम् यतः समवायस्य 'इह' बुद्धिहेतुत्वमुपगीयते, न च भेदग्रहणमन्तरेण

क्योंकि पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व यह अन्वयात्मक है, विपक्षव्यावृत्ति व्यतिरेकात्मक है, उन दोनों में तादात्म्य होने से या तो केवल अन्वय रहेगा, या केवल व्यतिरेक रहेगा किन्तु दो नहीं रहेंगे क्योंकि अभेद होने पर द्वित्व नहीं होता । उपरांत, व्यतिरेक तो अभावात्मक ही होता है इस लिये केवल व्यतिरेकी हेतु भी अभावात्मक ठहरेगा; नतीजा यह आयेगा कि अभावात्मक होने से तुच्छस्वरूप बना हेतु अपने साध्य या धर्मी के साथ कोई सम्बन्ध धारण नहीं कर सकेगा ।

यदि कहा जाय - 'व्यतिरेक कोई तुच्छ अभावात्मक नहीं है, हेतु का जो सभी विपक्ष में 'असत्त्व ही होता है' यही व्यतिरेक है जो कि हेतु का अपना स्वरूप ही है।' - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'सपक्ष में ही सत्त्व' यही 'विपक्ष से निवृत्ति' रूप है (तादात्म्य होने से) उस से जब वह भिन्न नहीं है, तब 'सपक्ष में सत्त्व ही' यहाँ जो अवधारण (भारपूर्वक कथन) के साथ सत्त्व दर्शाया जाता है वही असंगत हो जायेगा क्योंकि वह सिर्फ 'असत्त्व ही' नहीं किन्तु (विपक्ष में) 'असत्त्वरूप भी' है । तात्पर्य, अवधारण के साथ सत्त्व का प्रतिनियत प्रतिपादन तभी हो सकता है जब कि व्यवच्छेद्यभूत अन्य वस्तुभूत (तुच्छ नहीं) अभाव का अंगीकार किया जाय, क्योंकि 'सत्त्व ही' - यहाँ अवधारण से तुच्छ अभाव का व्यवच्छेद शक्य नहीं है, जो तुच्छ है वह कहीं व्यवच्छेद्य नहीं होता । यदि आप ऐसा कहते हैं कि - सपक्ष में सत्त्व का पृथक् धर्म है और विपक्ष से व्यावृत्ति यह स्वतन्त्र धर्मान्तर है दोनों एक नहीं है । तब तो हेतु एक है और फिर भी पृथक् पृथक् अनेक रूप होने से अनेक धर्मात्मक है, ऐसा हेतु ही अपने साध्य से व्याप्त होता है यह निश्चय जब फलित हुआ तो यही अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादन हुआ । ऐसी स्थिति में एकान्तवादी के द्वारा उपन्यस्त समस्त हेतु विरुद्ध क्यों नहीं होगा जब कि वे हेतु एकान्तभिन्न साध्य से व्याप्त होने के बदले अनेकान्तात्मक साध्य से व्याप्त सिद्ध होते हैं ?!!

✽ सामान्यात्मक हेतु का प्रयोग निर्हेतुक ✽

एकान्तवादियों के सामने यह प्रश्न है कि प्रयोग किया जानेवाला हेतु A सामान्यस्वरूप है या B विशेषस्वरूप ? A यदि हेतु सामान्यरूप है तो वह व्यक्तियों से भिन्न होता है या अभिन्न ? भेदपक्ष संगत नहीं हो सकता, क्योंकि भेद हो तब 'यह सामान्य, यह विशेष और यह सामान्यवान्' ऐसी भेदशः तीन खण्डवाली प्रतीति होनी चाहिये किन्तु वैसी प्रतीति नहीं होती । यदि कहा जाय कि - 'समवायसम्बन्ध के प्रभाव से वैसी भेदोल्लेखकारी सखण्ड प्रतीति नहीं होती' - तो यह ठीक नहीं है । समवाय तो 'यहाँ' ऐसी बुद्धि के हेतुरूप में आपने स्वीकार किया है, भेदग्रहण के विना 'यहाँ यह विद्यमान है' (= 'तन्तु में वस्त्र

‘इह इदमवस्थितम्’ इति बुद्ध्युत्पत्तिसम्भवः। किंच, ‘नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः’ इति काणादानां सिद्धान्तः। न च सामान्यनिश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेणोपपद्यते। यतः दूरात् पदार्थ-स्वरूपमुपलभमानो नागृहीतसंस्थानभेदः अश्वत्वादिसामान्यमुपलब्धुं शक्नोति। न च संस्थानभेदावगमस्तदाधारोपलम्भमन्तरेण सम्भवतीति कथं नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः। तथाहि — पदार्थग्रहणे सति संस्थानभेदावगमः तत्र च सामान्य-विशेषावबोधः, तस्मिंश्च सति पदार्थस्वरूपावगतिः इति व्यक्त-मितरेतराश्रयत्वम् चक्रकप्रसंगो वा।

किञ्च, अश्वत्वादेः सामान्यभेदस्य स्वाश्रयसर्वगतत्वे कर्कादिव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमानाया व्यक्तेः अश्वत्वादिसामान्येन योगो न भवेत्, व्यक्तिशून्ये देशे सामान्यस्याऽनवस्थानात् व्यक्त्यन्तरा-दनवगमाच्च, ततः सर्वसर्वगतं तदभ्युपगन्तव्यम् एवं च कर्कादिभिरिव शाबलेयादिभिरपि तदभिव्यज्येत। न च कर्काद्यानामेव तदभिव्यक्तौ सामर्थ्यम् न शाबलेयादीनामिति वाच्यम् यतः यथा प्रत्यासत्त्या

विद्यमान है’) ऐसी बुद्धि उत्पन्न होने का सम्भव नहीं है।

तदुपरांत, कणादमत (वैशेषिकमत) के अनुगामियों का यह सिद्धान्त है कि ‘विशेषण गृहीत न होने पर विशेष्य की बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती।’ किन्तु यहाँ आगे चल कर कैसे इतरेतराश्रय दोष होता है यह देखिये — अश्वव्यक्ति में ‘अश्वत्व’ सामान्य का निश्चय कैसे होगा ? जब तक अश्वदि के संस्थानविशेष का बोध नहीं होगा तब तक अश्वत्वसामान्य का बोध संभव नहीं है। कारण, दूर से पदार्थ के स्वरूप को देखने वाला संस्थानविशेष का उपलम्भ किये विना अश्वत्वसामान्य का उपलम्भ करने में सफल नहीं हो सकता। तथा संस्थान तो गुण है इस लिये आश्रय (व्यक्ति) के उपलम्भ के विना संस्थान विशेष का उपलम्भ सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में इतरेतराश्रय क्यों नहीं होगा ? देखिये — व्यक्तिपदार्थ का ग्रहण होने पर ही संस्थानविशेष का बोध होगा, उस के बाद यानी व्यंजक संस्थानविशेष का बोध होने पर सामान्यविशेष (जातिविशेष) यानी अश्वत्वादिसामान्य का बोध होगा, और अब आप के अनुसार विशेषणरूप सामान्य का बोध होने पर ही व्यक्तिरूप पदार्थ का बोध होगा। इस प्रकार यहाँ सामान्यबोध और व्यक्तिबोध (विशेषणबोध और विशेष्यबोध) एक-दूसरे के लिये अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। अथवा यहाँ चक्रक दोष लगेगा क्योंकि बीच में संस्थान विशेष का बोध भी अपेक्षित है।

✽ सामान्य की वृत्ति दोनों विकल्प में असंगत ✽

सामान्य की व्यापकता के प्रति भी दो विकल्प प्रश्न हैं — सामान्य सिर्फ अपने सर्व आश्रयों में ही वृत्ति होता है या समस्त आश्रय-अनाश्रय पदार्थों में रहता है ? यदि पहला पक्ष माना जाय, अर्थात् अश्वत्वादि सामान्य को अपने आश्रयों तक ही सीमित माना जाय तब जिस देश में पहले कोई अश्वदिव्यक्ति नहीं है और अभिनव उत्पन्न हो रही है उस अश्वव्यक्ति से अश्वत्वादि सामान्य पदार्थ का योग (= सम्बन्ध) नहीं हो पायेगा, क्योंकि वह देश पहले व्यक्तिशून्य होने से सामान्य भी वहाँ अनुपस्थित है। अन्य व्यक्तियों से दौड़ कर सामान्य उस नूतनजात व्यक्ति में प्रवेश कर दे यह भी सम्भव नहीं क्योंकि वह निष्क्रिय है। यदि दूसरा पक्ष माना जाय, अर्थात् सामान्य को सर्वत्र व्याप्त माना जाय तो अश्वदि की तरह शाबलेय गौ आदि में भी अश्वत्व सामान्य की व्याप्ति होने से, अश्वदि से अश्वत्व की अभिव्यक्ति की तरह गौ-शाबलेयादि से भी अश्वत्व का व्यक्तिभावन हो जाने की विपदा खड़ी होगी।

यदि यह कहा जाय कि — ‘अश्वत्व की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य अश्व में ही सीमित रहता है अतः

ता एव तद् आत्मनि अवस्थापयन्ति तयैव ता एव 'अश्वः अश्वः' इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययमुपजनयिष्यन्तीति किमपरतद्भिन्नसामान्यप्रकल्पनया ? न च स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात् प्राक् स्वज्ञानजननेऽसमर्थ सामान्यं तदा परैरनाधेयातिशयम् तमपेक्ष्य स्वावभासि ज्ञानं जनयति, प्राक्तनाऽसमर्थस्वभावाऽपरित्यागे स्वभावान्तरानुत्पादे च तदयोगात् तथाभ्युपगमे च क्षणिकताप्रसक्तेः । न च स्वभावान्तरस्योपजायमानस्य ततो भेदः, सम्बन्धाऽसिद्धितः तत्सद्भावेऽपि प्राग्वत् तस्य स्वावभासिज्ञानजननयोगाद् न प्रतिभासः स्यात् । तथा च सामान्यस्य व्यक्तिभ्यो भेदेनाऽप्रतिभासमानस्यासिद्धत्वात् कथं हेतुत्वम् ?

किञ्च, प्रतिव्यक्ति सामान्यस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाभ्युपगमादेकस्यां व्यक्तौ विनिवेशितस्वरूपस्य तदैव व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तदनु रूपप्रत्ययस्य तत्राऽसम्भवादसाधारणता च हेतोः स्यात् । यदि चाऽसाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतः तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्त इति व्यर्था सामान्यप्रकल्पना, स्वतोऽसाधारणस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वानुपपत्तेः स्वतस्तद्रूपत्वेऽपि नि-

शाबलेयादि से अश्वत्व की अभिव्यक्ति हो जाने का सवाल ही नहीं है' - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा सामर्थ्य अश्व में ही सीमित करने के लिये आप को सम्बन्धविशेष (प्रत्यासत्ति) को मानना ही पड़ेगा, इस स्थिति में यह कहना उचित होगा कि जिस सम्बन्ध विशेष से, सर्वगत होने पर भी सामान्य की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य सिर्फ अश्वदि व्यक्ति में ही सीमित रहता है - उस सम्बन्ध विशेष के बल से ही (अश्वत्वादि सामान्य के न होने पर भी) 'यह अश्व है - अश्व है' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति भी उत्पन्न हो जायेगी, तब व्यक्ति से भिन्न स्वतन्त्र अश्वत्वादि सामान्य की कल्पना करने का कष्ट क्यों करे ?

✽ नित्यसामान्य ज्ञानोत्पाद में अकिञ्चित्कर ✽

यह भी सोचना चाहिये कि सामान्य नित्य होने से, उस में अन्य किसी से कुछ भी संस्काराधान का सम्भव नहीं है, ऐसा सामान्य अपने आश्रय के साथ इन्द्रिय का संयोग होने के पहले तो अपना अवभास करने में समर्थ नहीं होता । फिर इन्द्रियसंनिकर्ष के बाद भी वह कैसे समर्थ हो सकता है जब कि नित्य होने से उस की असमर्थता में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है ?! पूर्वकालीन असमर्थस्वभाव का त्याग न किया जाय और उत्तरकालीन समर्थस्वभाव का अंगीकार न किया जाय तब तक वह अपने ज्ञान के उत्पाद में समर्थ नहीं बन सकता । यदि उसे पूर्वस्वभावत्याग और उत्तरस्वभावअंगीकार करने वाला मान लिया जाय तो उस की नित्यता का भंग होगा और सामान्य क्षणिक मानने की विपदा होगी । तथा, सामान्य में नवीन स्वभाव का उत्पाद मान लिया जाय तब भी वह स्वभाव सामान्य से भिन्न मानेंगे तो उन दोनों में सम्बन्ध स्थापना की खोज में अनवस्था प्रसक्त होगी । अतः सामान्य और नवीन स्वभाव में अभेद ही मानना होगा । अभेद माना जायेगा तो दो में से एक होगा, यानी कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा, फलतः पूर्वावस्था की तरह वर्तमान में भी वह अपने ज्ञान की उत्पत्ति के लिये असमर्थ होने से उस का प्रतिभास अशक्य ही रहेगा । मूल बात यह चली है कि हेतु सामान्यरूप होगा कि विशेषरूप ? यदि सामान्यरूप होगा तो यहाँ अब सवाल है कि व्यक्तियों से स्वतन्त्र भिन्नरूप से प्रतिभासित न होनेवाला सामान्य असिद्ध है, वह हेतु कैसे बन सकेगा ?

✽ सामान्यात्मक हेतु में असाधारणतादोषप्रसक्ति ✽

व्यक्ति भिन्न सामान्य पक्ष में एक असंगति यह भी है कि सामान्य अपने समस्त अखंडरूप से एक एक व्यक्ति में समाविष्ट मान लेने पर यह दुर्घटना होगी कि एक व्यक्ति में अखंडरूप से समाविष्ट सामान्य

ष्फला सामान्यकल्पना इति व्यक्त्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तल्लक्षणो हेतुः इति कथं ततः साध्यसिद्धिः ?

अथ व्यक्त्यव्यतिरिक्तं सामान्यं हेतुः तदपि असंगतमेव व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्य व्यक्तिस्वरूपवद् व्यक्त्यन्तरानुगमात् सामान्यरूपतानुपपत्तेः, व्यक्त्यन्तरसाधारणस्यैव वस्तुनः 'सामान्यम्' इत्यभिधानात्, तत्साधारणत्वे वा न तस्य व्यक्तिस्वरूपाऽव्यतिरिच्यमानमूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाऽव्यतिरिच्यमानस्वरूपस्य विरोधात्। तन्न व्यक्त्यव्यतिरिक्तमपि सामान्यं हेतुः व्यक्तिस्वरूपवत् असाधारणत्वेन गमकत्वाऽयोगात्।

^Bअत एव न व्यक्तिरूपमपि हेतुः।

न ^Cचोभयं परस्पराननुविद्धं हेतुः उभयदोषप्रसंगात्। न ^Dअनुभयम् अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां मेकाभावे द्वितीयविधानात् अनुभयस्याऽसत्त्वेन हेतुत्वाऽयोगात्। बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यम्

का अन्य व्यक्ति में प्रवेश अशक्य हो जायेगा। तथा, एक व्यक्ति में ही समाविष्ट हो जानेवाला सामान्य सामान्यरूप ही नहीं रहेगा, अर्थात् सर्वव्यक्ति साधारण न हो कर वह एक व्यक्ति में रहनेवाला असाधारण हो जायेगा, फलतः उस से अनुगत प्रतीति भी नहीं हो सकेगी। इस स्थिति में सामान्यस्वरूप कहा गया हेतु सामान्यात्मक नहीं किन्तु पक्षमात्रवृत्ति हो जाने से असाधारण अनैकान्तिक दोषग्रस्त हो जायेगा।

दूसरी बात यह है कि व्यक्ति का स्वरूप क्या है ? यदि स्वरूपतः व्यक्ति असाधारणरूप ही है तब लाखो प्रयत्न से स्वभिन्न साधारण (सामान्य) का योग कराने पर भी व्यक्ति साधारणस्वरूप का अंगीकार नहीं कर पायेगी क्योंकि वस्तु के मूल स्वरूप का परिवर्तन नहीं हो सकता। फलतः सामान्य की कल्पना निरर्थक रह जायेगी, क्योंकि असाधारण पदार्थ अन्य के सहयोग से भी साधारणात्मक बन नहीं सकती। यदि व्यक्ति स्वयं साधारणात्मक है तो भी सामान्य की कल्पना निरर्थक रहेगी, (क्योंकि अब उस की जरूर ही नहीं रही)। निष्कर्ष, व्यक्तियों से पृथक् सामान्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, अतः सामान्य रूप हेतु-पक्ष में हेतु ही असिद्ध हो जायेगा, फिर उस से साध्यसिद्धि की आशा ही क्या रखना ?!

यदि दूसरे पक्ष में व्यक्ति से अभिन्न सामान्य को हेतु बनाया जायेगा तो वह भी संगत नहीं होगा, क्योंकि व्यक्ति का स्वरूप जैसे अन्यव्यक्ति-अनुगत नहीं होता वैसे ही व्यक्ति से अभिन्न सामान्य भी व्यक्तिस्वरूप की तरह अन्यव्यक्ति-अनुगत नहीं हो सकता, तब उस में सामान्यरूपता ही दुर्घट रहेगी। जो अन्यव्यक्तिसाधारण हो वही सामान्य कहा जा सकता है। यदि व्यक्तिअभिन्न सामान्य को अन्यव्यक्ति-अनुगत मानेंगे तो तथाविध सामान्य की मूर्ति यानी आत्मस्वरूप, व्यक्ति से अव्यतिरिक्तता का अनुभव नहीं कर सकेगा, क्योंकि सामान्यरूपता और व्यक्ति से अव्यतिरिक्तरूपता, इन दोनों में विरोध है। निष्कर्ष, व्यक्ति से अभिन्न सामान्य कहीं भी हेतु नहीं बन सकता, क्योंकि जैसे व्यक्ति का स्वरूप असाधारण होता है वैसे व्यक्ति-अभिन्न सामान्य भी असाधारण होने से अनैकान्तिक हो जाने से साध्य-साधक नहीं बन सकता।

^Bयही कारण है कि विशेषात्मक व्यक्ति भी हेतु की भूमिका नहीं निभा सकता क्योंकि वह भी असाधारण है।

✽ सामान्य-विशेष उभय या अनुभय में हेतुत्व दुर्घट ✽

^Cएक-दूसरे से मिले हुए सामान्य-विशेष उभय भी साध्यसाधक हेतु बन नहीं सकते, क्योंकि जो दोष प्रत्येक पक्ष में हैं वे सब उभय पक्ष में मिल कर सिर उठायेंगे। ^Dउभय से विपरीत यानी अनुभय को हेतु

अवस्तरूपत्वात् साध्येनाऽप्रतिबद्धत्वात् असिद्धत्वाच्च न हेतुः। तस्मात् पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूप-
मात्मानं बिभ्रद् एकमेव पदार्थस्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेनोपादीयमानं तथाभूत-
साध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम्। न च यदेव रूपं रूपान्तराद् व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासाद-
यति, यच्चानुवर्तते तथ् कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात् करोति इति वक्तव्यम् भेदाभेदरूपतया अध्य-
क्षतः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधाऽसिद्धेरित्यसकृद् आवेदितत्वात्।

किञ्च, एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः किं सामान्यं साध्यं आहोस्विद् विशेषः ? उत उभयं परस्पर-
विविक्तम् उतस्विद् अनुभयमिति विकल्पाः। तत्र न तावत् सामान्यम् केवलस्य तस्याऽसम्भवात्
अर्थक्रियाकारित्वविकलत्वाच्च। नापि विशेषः तस्याऽननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात्। नापि उभयम्
उभयदोषाऽनतिवृत्तेः। नाप्यनुभयम् तस्याऽसतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वाऽयोगात्।

एतदेवाह गाथापश्चार्धेन 'अन्योन्यप्रतिकृष्टौ' प्रतिक्रिप्तौ 'द्वावपि एतौ' सामान्य-विशेषैकान्तौ
असद्भादाविति। इतरविनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशुंगादेरिव साधयितुमशक्यत्वात्॥५६॥

बनार्येगे ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि वास्तव में यहाँ अनुभय जैसी कोई चीज ही असत् है। अनुभय यानी
न सामान्य न विशेष। किन्तु इन दोनों से अतिरिक्त तीसरा पक्ष न होने से सामान्य के निषेध से विशेष
का विधान होगा और विशेष के निषेध से सामान्य का विधान होगा, किन्तु इस से अन्य कोई अनुभय होता
नहीं। इस लिये अनुभय को हेतुरूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। बुद्धि से कल्पित सामान्य वस्तुरूप नहीं होता
है, अतः वह साध्य से अविनाभावसम्बन्धशाली भी नहीं होता। वैसा सामान्य असिद्ध होता है अतः उस
को हेतु नहीं किया जा सकता।

हेतु वही पदार्थ हो सकता है जिस की आत्मा अन्यपदार्थ की अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति उभय से गर्भित
स्वरूपवाली हो, ऐसा पदार्थ ही ज्ञाता को भेदप्रतीति और अभेदप्रतीति का मूल निमित्त हो सकता है। ऐसे
पदार्थ को हेतु के रूप में प्रयुक्त करने से स्वव्यापक साध्य की सिद्धि के लिये समर्थ हो सकता है।

प्रश्न :- पदार्थ का स्वरूप यदि अन्यपदार्थ से व्यावृत्तिवाला होगा तो वही स्वरूप अन्यपदार्थ से अनुवृत्तिवाला
भी कैसे हो सकता है ? तथा जो अनुवृत्तिवाला है वह व्यावृत्तिवाला कैसे हो सकता है ?

उत्तर :- जब वस्तु का स्वरूप कथंचिद् भेद-अभेद उभयस्वरूप प्रत्यक्षप्रतीतिगोचर होता है तब उस में विरोध
की शंका को अवकाश ही नहीं रहता। यह तथ्य पहले बार बार कहा जा चुका है, कि दूर से जो वृक्षसामान्य
के रूप में दिखाई देता है वही निकट में जाने पर निम्ब या आम्रवृक्ष के विशेषरूप में दिखाई देता है।

❀ साध्य में चतुष्कोटि अनुपपत्ति ❀

जैसे हेतु के लिये सामान्य-विशेष आदि विकल्प कहे गये हैं वैसे साध्य के लिये भी चार विकल्प प्रस्तुत
हैं। एकान्तवादी के द्वारा उपन्यस्त हेतु का साध्य क्या होगा ? सामान्य या विशेष ? परस्पर निरपेक्ष तदुभय
या अनुभय ? यहाँ प्रथम विकल्प असत् है क्योंकि केवल विशेषविनिर्मुक्त सामान्य असम्भव है, असत् है,
अत एव किसी भी अर्थक्रिया के प्रति निरर्थक है। विशेषरूप भी साध्य नहीं हो सकता क्योंकि वह अन्यत्र
दृष्टान्तादि में अनुगत न होने से उस के साथ व्याप्ति गृहीत नहीं होने पर उस का साधन अशक्य है। दोनों
पक्षों के दूषण मिल कर उभय पक्ष में शामिल हो जाने से परस्पर निरपेक्ष उभय पक्ष भी अनुचित है। अनुभय
पक्ष तो असत् ही है, असत् में हेतु की व्यापकता न होने से वह साध्य ही नहीं हो सकता।

सामान्य-विशेषयोः स्वरूपं परस्परविविक्तमनूद्य निराकुर्वन्नाह –

द्वद्विद्यवत्तत्त्वं सामण्यं पज्जवस्य य विसेसो ।

ए ए समोवणीआ विभज्जवायं विसेसेंति ॥५७॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं = वाच्यम् विशेषनिरपेक्षं सामान्यमात्रम्, पर्यायास्तिकस्य पुनः अनुस्यूता-कारविविक्तो विशेष एव वाच्यः । एतौ च सामान्यविशेषौ अन्योन्यनिरपेक्षौ एकैकरूपतया परस्पर-प्राधान्येन वा एकत्र उपनीतौ = प्रदर्शितौ विभज्यवादम् = अनेकान्तवादं सत्यवादस्वरूपमतिशयाते असत्यरूपतया ततः तौ अतिशयं लभेते इति यावत् । विशेषे साध्ये अनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनतया साधनवैफल्यतः, प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयोदोषापत्तितः, अनुभयरूपे साध्ये उभयो-भावतः साध्यत्वाऽयोगात् । तस्माद् विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिणि अन्योन्यानुविद्धसाधर्म्य-वैधर्म्यस्वभावद्वयात्मकैकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः सम्भवी ।

यही सब बात मन में रख कर ग्रन्थकारने ५६ वीं गाथा के उत्तरार्ध में कहा है कि हेतु के सामान्यविशेष विकल्पों में एकान्तसामान्यवाद और एकान्तविशेष वाद दोनों एक दूसरे से टकरा कर दुर्बल हो जाते हैं अतः दोनों ही एकान्तवाद असत् वाद हैं । दूसरे से सापेक्ष न रहता हुआ केवल सामान्य या केवल विशेष खरगोश के सींग की तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता ॥५६॥

एकान्तवाद की आपत्ति एवं परिहार

परस्पर निरपेक्ष (अमिलित) सामान्य और विशेष के स्वरूप का, यानी उन के स्वतन्त्र विषय का निरूपण कर के ५७ वीं गाथा में उस का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं –

गाथार्थ :- द्रव्यार्थिकनय का वाच्यार्थ 'सामान्य' है, पर्यायार्थिकनय का वाच्यार्थ विशेष है । इन का एक एक रूप से प्रदर्शन होने पर अनेकान्तवाद का अतिक्रमण हो जाता है । (अथवा 'परस्परसापेक्षरूप से प्रदर्शित ये दोनों, एकान्तवाद का निराकरण कर देते हैं' – ऐसा दूसरा अर्थ भी उत्तरार्ध व्याख्या में बताया गया है ।) ॥५७॥

व्याख्यार्थ :- द्रव्यास्तिकनय का वाच्यार्थ है विशेषनिरपेक्ष सामान्य, और पर्यायास्तिक का वाच्यार्थ है अनुस्यूताकार (= अनुगताकार = समानाकार) से अलिप्त ऐसा विशेष । ये दो नय अपने अपने विषय को यानी सामान्य और विशेष को एक-दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष एक मात्र अपने ही विषय को प्रदर्शित करते हैं; अथवा ये दो नय अपने सामान्य-विशेष विषयों को परस्पर प्रधानरूप से, अर्थात् अवधारण के साथ अपना ही विषय सत्य है इस ढंग से प्रदर्शित करते हैं- दूसरे का अपलाप करते हैं, अत एव वे सत्यवादस्वरूप अनेकान्तवाद, जिसे ग्रन्थकार ने 'विभज्यवाद' कहा है, उस का अतिक्रमण कर जाते हैं क्योंकि स्वयं असत्यस्वरूप हैं । विभज्यवाद यानी हर एक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोण से विभजन यानी विवेचन करके किया जाने वाला वाद अर्थात् अनेकान्तवाद । एकान्तवाद में उन दोनों नयों का विषय असत्य इसलिये हैं कि विशेष को साध्य बनाया जाय तो उस का अनुगम शक्य नहीं है, सामान्य को साध्य किया जाय तो सिद्धसाधनता होने से हेतुप्रयोग निष्फलता प्राप्त करता है, यदि दोनों को प्राधान्य (अवधारण के साथ इतर निरपेक्ष स्वमात्र को महत्त्व) देकर साध्य किया जाय तो दोनों पक्ष में कहे हुए दोष प्रसक्त होंगे, यदि अनुभव को साध्य करे तो वहाँ उभय का अभाव साध्य ही नहीं हो सकेगा, अतः एकान्तवाद में एक भी पक्ष में साध्य-संगति ही नहीं की जा सकती ।

अत एव गाथापश्चाद्धेन “एतौ = सामान्य-विशेषौ समुपनीतौ परस्परसव्यपेक्षतया ‘स्यात्’ - पदप्रयोगतो धर्मिणि अवस्थापयतौ विभज्यवादम् = एकान्तवादं विशेषयतः = निराकुरुतः। एवमेव तयोरात्मलाभात् अन्यथाऽनुमानविषयस्योक्तन्यायतोऽसत्त्वात्’ इत्यपि दर्शयति ॥५७॥

यत्रानुमानविषयतयाऽभ्युपगम्यमाने साध्ये दूषणवादिनोऽवकाश एव न भवति तदेव साध्यं हेतुविषयतयाऽभ्युपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह -

हेउविसओवणीयं जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ।

जइ तं तथा पुरिल्लो दाइंतो केण जिच्चंतो ॥५८॥

हेतुविषयतया उपनीतम् = उपदर्शितं साध्यधर्मिलक्षणं वस्तु पूर्वपक्षवादिना ‘अनित्यः शब्दः’ इत्येवं यथा वचनीयं परो दूषणवादी निवर्त्तयति, सिद्धसाध्यतांऽननुगमदोषाद्युपन्यासेनैकान्तवचनीयस्य तदितर-धर्मानुषक्तस्याऽनेकदोषदुष्टतया निवर्त्तयितुं शक्यत्वात्; यदि तत् तथा द्वितीयधर्माक्रान्तं ‘स्यात्’ शब्द-योजनेन पुरिल्लः = पूर्वपक्षवादी अदर्शयिष्यत ततोऽसौ नैव केनचिदजेष्यत। जितश्चासौ तथाभूतस्य

अनेकान्तवाद में ऐसा कोई दोष सम्भव नहीं है। जो ये विवादास्पद सामान्य-विशेष हैं उन को परस्पर गौण-मुख्यभाव से मिलितरूप में साध्य बनाया जाय और वैसे साध्य धर्म के आश्रयभूत पक्ष में परस्पर सापेक्षभाव से अनुविद्ध साधर्म्यस्वरूप अथवा वैधर्म्यस्वरूप उभयात्मक एक हेतु का उपन्यास किया जाय तो एकान्तवाद के चार विकल्प में जो दोष दिखाया गया है उन में से एक भी दोष प्रसक्त नहीं हो सकेगा।

इसी तथ्य को व्याख्याकार ने गाथा के उत्तरार्ध में दूसरे प्रकार से व्याख्या कर के इस ढंग से उजागर किया है - ‘स्यात्’ पद के प्रयोग के साथ परस्पर सापेक्षरूप से यदि उन सामान्य-विशेष का हेतुरूप में, पक्ष में उपन्यास किया जाय तो वे एकान्तवाद स्वरूप विभज्यवाद का निराकरण कर देते हैं। पहले विभज्यवाद का ‘अनेकान्तवाद’ अर्थ किया गया था, यहाँ ‘एकान्तवाद’ अर्थ बताया है, विभज्य यानी परस्पर निरपेक्षरूप से विभाजन करके वस्तु निरूपण करने वाला वाद। परस्पर सापेक्षरूप से दोनों नय का विषय अपने स्वरूप में सम्यक् स्थान प्राप्त कर सकता है - अन्यथा परस्पर वैमुख्य रखने पर तो पहले कहे गये युक्तिसंदर्भ के अनुसार अनुमान का विषय ही प्रसिद्ध न होने से असत् ठहरता है ॥५७॥

✽ अनेकान्तवादगर्भित निरूपण अजेय ✽

अब ५८ वीं कारिका से यह दिखाते हैं कि ऐसे ही साध्य को हेतु के द्वारा सिद्ध करने के लिये उपन्यास किया जाय जिस साध्य को अनुमान के विषयरूप में अंगीकार करने पर दूषण प्रदर्शन करने के लिये वादी को कोई छिद्र ही न मिल सके -

गाथार्थ :- हेतु के क्षेत्र के बारे में उपन्यस्त वचन को अन्यवादी जैसे (यद्यपि) निवृत्त करता है, किन्तु यदि वही वक्ता पूर्वोक्त प्रकार से उस का उपन्यास करता तो कौन उस को जित सकता था ? ॥५८॥

व्याख्यार्थ :- पूर्वपक्षवादि ने हेतु के विषयक्षेत्र में अर्थात् साध्यधर्मिस्वरूप वस्तु के बारे में जो वाक्यसंदर्भ युक्तिसंदर्भ प्रस्तुत किया है वह इतना दुर्बल है कि अन्य वादी उस का आसानी से निवर्त्तन अर्थात् निरसन कर सकता है। जैसे कि अभी बता आये है कि एकान्तवाद में, कैसा भी हेतुप्रयोग करे, सिद्धसाध्यता या अननुगम दोष होता है। एकान्तवादगर्भितवाक्यसंदर्भ में अन्यधर्मों का अनुषङ्ग नहीं किया जाता, अत एव उस में बहुत सारे दोष सिर उठाते हैं और उन को दिखाने द्वारा एकान्तवादी के प्रतिपादन का निरसन सरलता

साध्यधर्मिणोऽप्रदर्शनात् प्रदर्शितस्य चैकान्तरूपस्याऽसत्त्वात् तत्प्रदर्शकोऽसत्यवादितया निग्रहार्ह इति ॥५८॥ एतदेव दर्शयन्नाह -

एयन्ताऽसम्भूयं सम्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।

लोडय-परिच्छियाणं वयणिज्जपहे पडइ वादी ॥५९॥*

आस्तां तावत् एकान्तेन असद्भूतम् = असत्यम्, सद्भूतमपि अनिश्चितं वदन् वादी लौकिका-
नाम् परीक्षकाणां च वचनीयमार्गं पतति । ततः अनेकान्तात्मकाद्धेतोः तथाभूतमेव साध्यधर्मिणं
साध्यन् वादी सद्वादी स्यादिति तथैव साध्याऽविनाभूतो हेतुधर्मिणि तेन प्रदर्शनीयः तत्प्रदर्शनेन च
- 'हेतोः सपक्ष-विपक्षयोः सदसत्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयम्' - इति यदुच्यते परैः तदपास्तं भवति
तावन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः । न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं
प्रदर्शनीयम्, ज्ञातत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः । अथ सामर्थ्यात् तत् प्रतीयते इति न वचनेन प्रदर्श्यते
से हो सकता है । किन्तु अगर उस के वाक्यसंदर्भ को वह अन्य धर्म का अनुपंग कर 'स्यात्' पद के उज्वल
अलंकार से सजाता, और हमने पहले बताया है उस तरीके से वह उस का प्रतिपादन करता तो किसी
की मजाल नहीं कि कोई उसे परास्त कर सके । अनेकान्तगर्भितरूप से साध्यधर्मी का प्रतिपादन न करने
से ही उस का पराजय होता है, क्योंकि उस का एकान्तगर्भित निरूपण असत् ठहरता है, इसलिये असत्
पदार्थ बतानेवाला पूर्वपक्षवादी असत्यवादिता के कारण बिचारा निगृहीत हो जाता है ॥५८॥

* लौकिक और परीक्षकों में निन्दा का हेतु *

एकान्तवादी निन्दापात्र बनता है यह ५९ वीं गाथा में कहते हैं -

गाथार्थ :- एकान्त असद्भूत का और सद्भूत का भी अनिश्चित रूप से प्रतिपादन करनेवाला वादी लौकिक
और परीक्षकों के उपालम्भ का पात्र बनता है ॥५९॥

व्याख्यार्थ :- व्याख्याकार कहते हैं कि एकान्त से असत्य ऐसे पदार्थों (शशसींग आदि) का सद्भाव
बतानेवाला वादी उपालम्भपात्र बने इस में तो संदेह ही नहीं है । उस की बात तो रहने दो, जो वादी सद्भूत
पदार्थ का भी अनिश्चितरूप से निरूपण करता है वह भी लौकिक पुरुष एवं परीक्षक पुरुषों की निन्दा का
पात्र बन जाता है । सत्यवादी वही है जो अनेकान्तस्वरूप हेतु का प्रयोग कर के अनेकान्तात्मक ही साध्यधर्मी
की सिद्धि करता है । इसी लिये वक्ता को अनेकान्तवादगर्भितरूप से ही साध्य का अविनाभूत यानी साध्य
का व्याप्यभूत हेतु का पक्ष में प्रदर्शन करना चाहिये ।

यहाँ जो कुछ लोग यह कहते हैं कि - 'हेतु के प्रदर्शन के साथ सपक्षसत्त्व और विपक्ष-असत्त्व का भी
अवश्य प्रदर्शन करना चाहिये' वह निरस्त हो जाता है क्योंकि साध्याऽविनाभूत हेतुमात्र के प्रदर्शन से ही साध्य
का अवबोध हो जाता है । यदि ऐसा कहा जाय कि हेतुमात्र के प्रयोग से साध्य का बोध यद्यपि हो सकता
है फिर भी सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व ये दो रूप वहाँ सद्भूत में अवश्य विद्यमान रहते हैं इस लिये उस का
प्रदर्शन अवश्य करना चाहिये - तो यहाँ यह अतिप्रसंग होगा कि हेतु में ज्ञातव्य भी अवश्य रहता है अतः

✽. उपा० यशोविजयजी के पत्रों में इस गाथा का अर्थ :- "एकान्तइ असद्भूत अर्थ दूर रहो, सद्भूत अर्थ पणि
जो अनिश्चित क० संदेहाक्रान्त कहइं, तो वादी लौकिक अने परीक्षक जे लोक, तेहनो - वचनीय पथ क०
निंदा मार्ग, तेहमां पडे. ते माहे संदेह न करवो।"

तर्हि अन्वय-व्यतिरेकावपि तत एव नावश्यं प्रदर्शनीयौ। अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रदर्शनपरत्वात् तस्य। उपनय-निगमनवचनयोस्तु दूरापास्तता तदन्तरेणापि साध्याऽविनाभूत-हेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्रतिपत्त्युत्पत्तेः, अन्यथा तदयोगात्।

त्रिलक्षणहेतुप्रदर्शनवादिनस्तु निरंशवस्त्वभ्युपगमविरोधः निरंशे त्रैलक्षण्यविरोधात्। परिकल्पित-स्वरूपत्रैरूप्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः, परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तद्दोषानतिक्रमात् अपरमार्थसत्त्वे तल्लक्ष-णत्वाऽयोगात् असतः सल्लक्षणत्वविरोधात्। न च कल्पनाव्यवस्थापितलक्षणभेदाल्लक्ष्यभेद उपपत्तिमान् - इति लिङ्गस्य निरंशस्वभावस्य किञ्चिद् रूपं वाच्यम्। न च साधर्म्यादिव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यते इति तस्य निःस्वभावताप्रसक्तिः। न चैकलक्षणहेतुवादिनोऽपि अनेकान्तात्मक-वस्त्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् प्रयोगनियम एव 'एकलक्षणो हेतुः' इत्यभिधानाद् न(च) स्वभावनियमे, तथाभूतस्य शशशृंगादेरिव निःस्वभावत्वात् गमकाङ्गनिरूपणया 'एकलक्षणो हेतुः' - इति व्यवस्थापितत्वात्।

उस का भी प्रदर्शन आवश्यक बन जायेगा। ज्ञात हेतु से ही साध्य का बोधन होता है न कि अज्ञात हेतु से। यदि कहा जाय कि - वहाँ प्रयोगसामर्थ्य से ही ज्ञातव्य का बोध हो जाता है अतः उस का प्रदर्शन आवश्यक नहीं है - तो सपक्षसत्त्वरूप अन्वय और विपक्ष में असत्त्वरूप व्यतिरेक भी, साध्याविनाभूतहेतुप्रयोग के सामर्थ्य से ही अभिव्यक्त हो जाते हैं, इस लिये उन का प्रदर्शन भी आवश्यक नहीं रहता। यही कारण है कि अन्वय-व्यतिरेक की तरह दृष्टान्त भी अन्वय-व्यतिरेकस्वरूप साधर्म्य-वैधर्म्य के प्रदर्शन से ही चरितार्थ होता है, जब अन्वय-व्यतिरेकप्रदर्शन ही अनावश्यक है तो फिर दृष्टान्तप्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती। उपनय और निगमनवाक्य के उच्चारण की सार्थकता भी दूरापास्त ही है, क्योंकि उन के विना भी, साध्याऽविनाभूत हेतु के प्रदर्शनमात्र से साध्यबोध उत्पन्न हो जाता है। उपनय-निगमन-वाक्यप्रयोग करने पर भी यदि तथाविध हेतु का प्रयोग न किया जाय तो कभी भी साध्य का बोध उत्पन्न नहीं होगा। - इस प्रकार नैयायिककल्पित पञ्चावयवप्रयोग में प्रतिज्ञा और हेतु-अवयवों के अलावा शेष तीन अवयवों का प्रयोग निरर्थक ठहरता है।

हेतु का त्रैलक्षण्य भी एकान्तवाद में दुर्घट

बौद्धमत में हेतु के तीन समुदित लक्षण माने गये हैं - पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष में असत्त्व। किन्तु दूसरी ओर बौद्धमत में वस्तु को निरंश ही माना गया है। इन दो बातों में विरोध प्रसक्त होता है। कारण यह है कि निरंशवस्तु में तीनलक्षणों का योग सिद्ध है। इन तीन लक्षणों को काल्पनिक माने जाय तो यद्यपि काल्पनिक लक्षणों के साथ निरंशता का विरोध नहीं होगा, किन्तु फिर भी काल्पनिकता संगत नहीं है क्योंकि कल्पित लक्षणों को यदि पारमार्थिक सत् मानेंगे तो विरोधदोष तदवस्थ ही रहेगा और यदि अपारमार्थिक मानेंगे तो गर्दभसींग की तरह उन में लक्षणत्व ही नहीं संगत होगा। कारण, असत् यानी अपारमार्थिक चीज कभी सत् यानी पारमार्थिक वस्तु का लक्षण नहीं हो सकती। लक्ष्य अगर एक ही निरंश वस्तु है तो कल्पना से आरोपित लक्षणों के द्वारा उस लक्ष्य में अन्य अलक्ष्य का भेद स्थापित नहीं हो सकता। इसलिये निरंश लिंग का कोई ऐसा स्पष्ट स्वरूप दिखाना चाहिये जिस का निरंशता के साथ विरोध न हो। यहाँ साधर्म्य और वैधर्म्य के विना और किसी लिंगस्वरूप का प्रदर्शन शक्य ही नहीं है। अर्थात् लिंग का स्वरूप दिखाने जायेंगे तो साधर्म्य-वैधर्म्य का निरूपण करना ही पड़ेगा, किन्तु तब लिंग की निरंशता का भंग प्रसक्त होता है, अतः साधर्म्य-वैधर्म्य को लिंग के स्वरूपात्मक नहीं दिखा सकते। साधर्म्य-वैधर्म्य

न चैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसंगतम् अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याभावात् । प्रतिक्षणध्वंसिन्यपि उभयग्रहणानुवृत्तैकचैतन्याभावात् — कारणस्वरूपग्राहिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपग्राहिणा च कारणस्य ग्रहणासम्भवादेकेन च द्वयोरग्रहणे कार्य-कारणभावादेः प्रतिबन्धस्य ग्रहणायोगात् कारणादिस्वरूपाऽव्यतिरेकेऽपि कारणत्वादेर्न तत्स्वरूपग्राहिणा कार्यकारणभावादेर्ग्रहः, एकसम्बन्धिस्वरूपग्रहणेऽपि तद्ग्रहणप्रसक्तेः । न च तद्ग्रहेऽपि निश्चयानुत्पत्तेर्न दोषः, सविकल्पकत्वेन प्रथमाक्षसन्निपातजस्याध्यक्षस्य व्यवस्थापनात् ।

से अन्य कोई स्वरूप है नहीं। फलतः लिंग निःस्वभाव मानने की विपदा सिर उठायेगी।

✽ अनेकान्तमत में एकलक्षण हेतुकथन का तात्पर्य ✽

यदि यह कहा जाय — अनेकान्तवादी तो लिंग का एक ही लक्षण मानते हैं — अन्यथानुपपत्ति, किन्तु दूसरी ओर लिंग को अनेकान्तात्मक यानी अनेकलक्षणवाला भी मानते हैं — तब एकलक्षणतारूप अपने सिद्धान्त के साथ विरोध क्यों नहीं होगा ? — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हमने-प्रयोग कितने लक्षणोंवाले हेतु का किया जाय — इस नियम की चर्चा में ही हेतु को एकलक्षणवाला कहा है न कि स्वभाव के नियम की चर्चा में। स्वभाव का निरूपण करते समय तो यही नियम कहा गया है कि हेतुरूप वस्तु भी अनेक स्वभाव ही है। यदि स्वभावनियम चर्चा में कोई ऐसा कहे कि हेतु का एक ही लक्षण (स्वरूप) है तो वह संगत न होने से हेतु शशशीर्ष की तरह निःस्वभाव हो जाने की विपदा जरूर प्रसक्त होगी। अत एव हमारे अनेकान्त दर्शन में, हेतु में कितने अंग साध्य के गमक, यानी साध्यसिद्धि में उपयोगी हैं — इस के प्रतिपादन में ही हेतु को एक लक्षण वाला कहा गया है।

✽ एकान्तवाद में व्याप्तिग्रहण दुष्कर ✽

एकान्तवाद में प्रतिबन्ध (= नियम = व्याप्ति) का ग्रहण भी युक्ति से संगत नहीं हो सकता। जो एकान्तनित्यवादी हैं उन के मत में आत्मा का स्वरूप सर्वथा अचल करता है, अतः उस में पहले हेतु का ज्ञान, बाद में साध्य का ज्ञान, इस प्रकार का क्रम संगत नहीं हो सकता। नित्यवादी के मत में प्रत्येक वस्तु का ज्ञान एक साथ ही हो सकेगा, क्रमशः नहीं हो सकता। एकान्त अनित्यवाद में वस्तुमात्र को प्रतिक्षण विनाशी माना जाता है, अतः हेतु या साध्य को, अथवा कार्य और कारण को-दोनों को एक साथ ग्रहण करनेवाला एक चैतन्यक्षण न होने से इस मत में भी व्याप्य-व्यापकभाव अथवा कार्यकारणभाव स्वरूप प्रतिबन्ध का ग्रहण घटेगा नहीं। जिस ज्ञान से कारणरूप पदार्थ का ग्रहण होगा उस ज्ञानक्षण से कार्यरूपपदार्थ का ग्रहण शक्य नहीं, एवं जिस ज्ञान से कार्य का ग्रहण होगा उस ज्ञानक्षण से कारणस्वरूप का ग्रहण शक्य नहीं है — इस स्थिति में जब तक एक ज्ञान-क्षण से कार्य-कारण उभय पदार्थ का ग्रहण नहीं होगा तब तक उन दोनों में रहे हुए कार्य-कारणभाव आदिस्वरूप प्रतिबन्ध का भी ग्रहण शक्य नहीं है। यद्यपि कारणता को कारण से और कार्यता को कार्य से अभिन्न मान ली जाय फिर भी एक कारण या कार्य के ज्ञान में कारणता या कार्यता का भान हो जाय यह सम्भव नहीं है। यदि वैसा सम्भव होगा तो अग्नि आदि कि कारणता का ग्रहण सभी को हो जायेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि ऐसा कहें कि कारण या कार्य के ग्रहण में कारणता आदि का प्रथम होने वाला निर्विकल्प ज्ञान होता ही है, किन्तु बाद में सविकल्प यानी निश्चय के उत्पन्न न होने से अग्नि आदि के ज्ञान में धूमादि कारणता का भान लक्षित नहीं होता, अतः उक्त अतिप्रसंग निरवकाश है। — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पहले हम यह सिद्ध कर आये हैं कि प्रथम प्रथम वस्तु अक्षगोचर होने पर सविकल्प

न च कार्यानुभावानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम्, अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः तस्योभयनिष्ठत्वात् उभयस्य च पूर्वापरकालभाविनः एकेनाग्रहणात् । न च कार्यानुभावानन्तरभाविनः स्मरणस्य कार्यानुभवो जनकः, तदनन्तरं स्मरणस्या-भावात् । न च क्षणिकैकान्तवादे कार्यकारणभाव उपपत्तिमान् इत्युक्तम् । न च सन्तानादिकल्पना-प्यत्रोपयोगिनी । न च स्मरणकालेऽतीतद्विषयस्मरणमात्रं प्रतीयतेऽपि तु तदनुभविताऽपि, 'अहमेवमिद-मनुभूतवान्' इत्यनुभवित्राधारानुभूतविषयस्मृत्यध्यवसायादेकाधारे अनुभव-स्मरणे अभ्युपगन्तव्ये, तदभावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः । न चानुभवस्मरणयोरनुगतचैतन्याभावे तद्द्वर्मतया प्रतिपत्तिर्युक्ता । न हि यत्प्रतिपत्तिकाले यन्नास्ति तत्तद्द्वर्मतया प्रतिपत्तुं युक्तम्, बोधाभावे ग्राह्य-ग्राहकसंविच्चित्रितयप्रतिपत्तिवत् । प्रत्यक्ष ही पैदा होता है, न कि निर्विकल्पक, अतः ऊपर कहा हुआ समाधान दुर्घट है ।

✽ क्षणिकवाद में कार्य-कारणभाव का ग्रहण दुष्कर ✽

क्षणिकवादी :- कार्यानुभाव होने के बाद जो कारण और कार्य का अवगाही स्मरण होगा उससे कार्य-कारणभाव स्वरूप प्रतिबन्ध का अनुसंधान हो जायेगा ।

अनेकान्तवाद :- ऐसा मत कहिये, क्योंकि यह सर्वमान्य नियम है कि पूर्वानुभूत का ही स्मरण होता है । पहले कारणक्षण में कारण वस्तु का स्वतन्त्र अनुभव हुआ है न कि कारणत्वरूप से, बाद में कार्यक्षण में कार्य का स्वतन्त्र अनुभव हुआ है, न कि कार्यत्वरूप से । अर्थात् पृथक् पृथक् कारण वस्तु या कार्य वस्तु का अनुभव होने पर भी कार्यकारणभावात्मक प्रतिबन्ध का अनुभव तो कभी नहीं हुआ । प्रतिबन्ध उभयवृत्ति है, उभय का एक साथ अनुभव किसी भी एक क्षण में किसी एक ज्ञान से नहीं हुआ है क्योंकि कारण और कार्य पूर्वापरकालभावि होते हैं न कि समानकालभावि । अतः स्मरण में प्रतिबन्ध का भान शक्य ही नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि क्षणिकवाद में स्मरण से प्रतिबन्ध का तो क्या, कार्य का भी ग्रहण नहीं होता, क्योंकि क्षणिक वाद में ज्ञान और विषय का जन्य-जनकभाव ही कार्य-कारणभाव होता है, कार्यानुभव के बाद स्मरण तो संस्कार के द्वारा चिरकाल के बाद होता है, उस स्मरण का जनक कार्य नहीं है क्योंकि कार्य के ठीक उत्तरक्षण में स्मरण नहीं होता । उपरांत, यह भी कह चुके हैं कि क्षणिकवाद में, कार्योत्पत्तिक्षण में कारण की उपस्थिति न होने से 'यह इस का कारण, यह इस का कार्य' ऐसा कारण-कार्य भाव भी संगत नहीं हो सकता । यदि ऐसा समाधान कर ले कि एक सन्तान में पूर्वक्षण कारण और उत्तर क्षण कार्य होता है - तो ऐसा समाधान निष्फल है क्योंकि संतान कोई पारमार्थिक वस्तु ही नहीं है, कल्पित संतान से बैठाया गया कारण-कार्यभाव भी कल्पित ही होगा न कि पारमार्थिक ।

✽ क्षणिकवाद में अनुभवबाध ✽

वास्तव में क्षणिकवाद भी असंगत है, क्योंकि स्मरणकाल में सिर्फ अतीत विषय ही भासित नहीं होता, किन्तु उस के साथ अनुभवकर्ता भी प्रतीत होता है जैसे कि - 'मैंने ही ऐसा अनुभव किया था ।' यहाँ 'मैं' इस उल्लेख से स्मृति में अनुभवकर्ता का भान स्पष्ट है । इस अनुभव के बल पर यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि स्मरण और अनुभव का आधार एक ही है, क्योंकि अनुभवकर्तास्वरूप एक आधार में ही अनुभूत विषय की स्मृति का अध्यवसाय होता है, यदि अनुभव-स्मृति का एक आधार न माना जाय तो समानाधिकरण स्मृति का अध्यवसाय हो नहीं सकता, लेकिन होता जरूर है ।

दूसरी बात यह है कि अनुभव और स्मृति में अगर एक अनुगत चैतन्य नहीं मानेंगे तो उसके (चेतन

अस्ति च तद्धर्मतयाऽनुभवस्मरणयोः तदा प्रतिपत्तिरिति कथं क्षणिकैकान्तवादः तत्र वा प्रतिबन्ध-निश्चय इति ?! न चैकान्तवादिनः सामान्यादिकं साध्यं सम्भवतीति प्रतिपादितम्। तस्मादनेकान्तात्मकं वस्तु अभ्युपगन्तव्यम् अध्यक्षादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः ॥५९॥

स एव च सन्मार्ग इत्युपसंहरन्नाह -

द्वयं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे।

भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा ॥६०॥

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पर्याय-देश-संयोगान् भेदं चेत्यष्टौ भावान् आश्रित्य वस्तुनो भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयायाः प्रज्ञापनायाः स्याद्वादरूपायाः पर्या = पन्थाः मार्ग इति यावत्।

तत्र द्रव्यं पृथिव्यादि, क्षेत्रं स्वारम्भकावयवस्वरूपम् तदाश्रयं वा आकाशम्, कालं युगपद-युगपच्चरिक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गलक्षणम् वर्तनात्मकं वा नव-पुराणादिलक्षणम् भावं मूलाङ्कुरादिलक्षणम् पर्यायं रूपादिस्वभावम् देशं मूलाङ्कुरपत्रकाण्डादिक्रमभाविविभागम्, संयोगं भूम्यादिप्रत्येकसमुदायं द्रव्यपर्याय-

के) धर्म के रूप में जो उस की प्रतीति होती है वह भी नहीं होगी। जिस वस्तु के अनुभवकाल में जो विद्यमान नहीं है, उस वस्तु को 'उस के धर्म' के रूप में मानना उचित नहीं है। उदा. - जब ज्ञान ही नहीं होगा तो ज्ञाता, ज्ञेय और संवेदन के त्रिक का अनुभव भी नहीं होता। स्पष्ट दिखता है कि अनुभव और स्मरण की एक आधारभूत धर्मी के धर्मरूप में प्रतीति होती है, तब विभिन्न क्षणों में अनुगत एक आत्मा सिद्ध होता है, फिर कैसे एकान्त क्षणिकवाद प्रामाणिक हो सकता है ? अथवा एकान्त क्षणिकवाद में जब कारण-कार्य का किसी एक ज्ञानक्षण में भास ही नहीं होता, तो प्रतिबन्ध का निश्चय कैसे हो सकता है ? पहले यह बता चुके हैं कि एकान्तवाद में सामान्य या विशेष कोई भी साध्य या हेतु नहीं हो सकता है। निष्कर्ष, वस्तु को अनेकान्तात्मक स्वीकारना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण वस्तु को अनेकान्तात्मक ही दिखाने में तत्पर हैं ॥५९॥

✽ द्रव्यादि आठ से सापेक्ष निरूपण का सन्मार्ग ✽

प्रस्तुत चर्चा के उपसंहार में ६० वीं गाथा में कहते हैं कि स्याद्वाद ही सन्मार्ग है -

गाथार्थ :- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेद के आधार से भावों का प्रज्ञापनामार्ग सम्यक् है ॥६०॥

व्याख्यार्थ :- वस्तु-वस्तु में आठ भाव के आधार पर भेद किया जाय तब सर्व वस्तु सम्बन्धी स्याद्वादगर्भित प्रज्ञापना मार्ग सम यानी सम्यक् होता है (पर्या का अर्थ पन्थ यानी मार्ग)। वे आठ भाव हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेद। एक एक का परिचय → 'द्रव्य' यानी पृथ्वी-जलादि। 'क्षेत्र' यानी द्रव्य के जनक अवयव अथवा उन का आश्रय आकाश। 'एक साथ बोले', 'एक साथ नहीं बोले', 'यह कार्य विलम्ब से हुआ' अथवा 'त्वरित हुआ' ऐसी प्रतीति का आलम्बन 'काल' द्रव्य है। काल को द्रव्यात्मक नहीं किन्तु जैनदर्शनप्रसिद्ध वर्तनापर्याय स्वरूप ग्रहण करे तो 'यह पुराना है यह नया है' ऐसी प्रतीति का आलम्बन काल है। 'भाव' से यहाँ मूल-अंकुरादिभाव विवक्षित है। 'पर्याय' शब्द से रूप-रस आदि विवक्षित हैं। 'देश' शब्द से मूल, उस के बाद अंकुर, उस के बाद क्रमशः पत्र, काण्ड आदि का

लक्षणम्, भेदं प्रतिक्षणविवर्त्तात्मकं वा जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापना = निरूपणा या सा सत्पथ इति ।

न हि तदतदात्मकैकद्रव्यत्वादिभेदाभावे खरविषाणादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः । यतो न द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पर्यायादेश-संयोग-भेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावगन्तुं शक्यम् । न च प्रमाणाऽगोचरस्य सद्व्यवहारगोचरता सम्भविनीति तदतदात्मकं तद् अभ्युपगन्तव्यम् । न ह्येकान्ततोऽतदात्मकं द्रव्यादिभेदभिन्नं व्यतिरिक्तरूपं च प्रमाणतस्तद् निरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादि-व्यतिरिक्तस्य शशशृंगवत् कुतश्चित् प्रमाणादप्रतीतेः । न हि ततो द्रव्यादीनां भेदेऽपि समवायसम्बन्ध-वशात् तत्सम्बद्धताप्रसङ्गः, सम्बन्धिभेदेन तद्भेदाभेदकल्पनाद्वयानतिवृत्तेः । प्रथमविकल्पे समवायानेकत्व-प्रसक्तिः सम्बन्धिभेदतो भेदात्, संयोगवदनित्यत्वप्रसक्तिश्च । द्वितीयकल्पनायामपि सम्बन्धिसंकर-प्रसक्तिः ।

क्रमिक विभाग विवक्षित है। 'संयोग' शब्द से भूमि-जलादि का समुदाय विवक्षित है जो कि द्रव्य-पर्याय उभयस्वरूप है। 'भेद' शब्द से जीव-अजीवादि पदार्थों का प्रतिसमय होने वाला विवर्त्त अपेक्षित है। इन आठों को लेकर समानपद्धति से किसी भी पदार्थ की तद्रूप-अतद्रूप भाव से प्रज्ञापना यानी निरूपण किया जाय - वही सन्मार्ग यानी सत् प्ररूपणा है।

✽ गर्दभसींग और जीवादिद्रव्यों में विशेषता का मूल ✽

अगर ऐसा न माना जाय कि एक ही जीवादिद्रव्य भिन्न भिन्न अपेक्षा से एक भी है अनेक भी है, कथंचित् तद्रूप है कथंचिद् अतद्रूप है - सिर्फ कूटस्थ एक स्वरूप माना जाय तब तो शशसींग और जीवादिद्रव्य में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। प्रत्यक्षादि किसी एक प्रमाण से कोई भी एक वस्तु जब भासित होती है तब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पर्याय-देश-संयोग और भेद से अवगुण्ठित ही भासित हो सकती है, अन्यथा द्रव्यादि से विनिर्मुक्तस्वरूप से कोई भी वस्तु भासित नहीं होती। जो प्रमाण का अगोचर है वह कभी भी 'सद्' व्यवहारविषय नहीं बन सकता। अतः प्रमाण से एकानेक, तद्रूप-अतद्रूप भासित होने वाली वस्तु को तादृश ही मानना चाहिये।

द्रव्यादि भेद से भिन्न एवं द्रव्यादि से एकान्त से अव्यतिरिक्त हो और एकान्त से अतदात्मक हो ऐसी वस्तु प्रमाणनिरूपित नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्यादि से सर्वथा व्यतिरिक्त वस्तु शशसींग की तरह किसी भी प्रमाण से प्रतीत नहीं है। यदि कहा जाय - गुण-क्रियादि वस्तु ऐसी है जो द्रव्यादि से सर्वथा व्यतिरिक्त ही है, तथापि 'समवाय' नामक सम्बन्धविशेष के बल से वे गुणक्रियादि द्रव्य के साथ चिपक कर रहते हैं। - तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दो विकल्पों की संगति होना दुष्कर है। विकल्प ये हैं कि सम्बन्धि यानी पृथ्वी-जलादि द्रव्यों के भेद से वह समवाय भी भिन्न भिन्न होगा या एक ही होगा ? यदि भिन्न होगा तो प्रथम विकल्प में एकसमवायवादी को अनेक समवायों के स्वीकार की विपदा होगी। उपरांत, जैसे सम्बन्धिभेद से भिन्न भिन्न संयोग अनित्य होता है वैसे नित्यसमवायवादी को यहाँ संबन्धिभेद भिन्न समवाय को भी अनित्य स्वीकारने की मुसीबत होगी। दूसरे विकल्प में यदि व्यापक एक समवाय मानेंगे तो कौन किस का सम्बन्धि है - नहीं है, इस विषय में कोई नियतभाव न रहने से सम्बन्धिसांकर्य का संकट खड़ा होगा, अर्थात् पशुत्व सिर्फ पशु का ही नहीं मनुष्य का भी 'समवेत' धर्म होगा और मनुष्यत्व सिर्फ मनुष्य का ही नहीं, पशु का भी सम्बन्धी धर्म बन जायेगा।

न चैवं छत्र-दण्ड-कुण्डलादिसम्बन्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जाति-गुणत्वादेर्भेदेनो-पलब्धेः (ब्धिः)। न हि य एव दण्ड-देवदत्तयोः सम्बन्धः स एव छत्रादिभिरपि, तत्सम्बन्धाऽविशेषे तद्विशेषणविशेष्यवैफल्यप्रसक्तेः। न हि विशेषणं विशेष्यं धर्मान्तराद् व्यवच्छिद्य आत्मन्यव्यवस्थापयद् विशेषणरूपतां प्रतिपद्यते। एवं समवायसम्बन्धस्याऽविशेषे द्रव्यत्वादीनामपि विशेषणानामविशेषाच्च जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदकता स्यादिति समवायिसंकरप्रसक्तिः कथं नाऽसज्येत ? न च समवायः तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् सम्भवति। तदभावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तद् अनेकान्तात्मकैक-रूपमभ्युपगन्तव्यम्। न चैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम् प्रमाणप्रतिपत्ते वस्तुनि विरोधाऽयोगात्।

तथाहि — एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वात्, चित्रपटरूपवत् ग्राह्यग्राहकाकारसं-वित्तिरूपैकविज्ञानवद् वा। न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्यैकानेकत्वमसिद्धम् प्राक् (पृ० २१४)

✽ गुणादि की पृथक् उपलब्धि के प्रसंग का निरसन ✽

समवायवादी :- जब आप नित्यमिलन कारक समवाय को नहीं मानेंगे तो समवायी द्रव्य से पृथक् गुण, जाति आदि की उपलब्धि प्रसक्त होगी, जैसे देवदत्त में उस के संयोगसम्बन्ध से विशेषणभूत दण्ड, छत्र और कुण्डलादि की पृथक् उपलब्धि सभी को होती है।

अनेकान्तवादी :- ऐसी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि संयोग और समवाय की बात अलग है, देवदत्त और दण्ड का संयोग और देवदत्त-छत्रादि का संयोग, ये एक नहीं होते हैं। यदि इन में भी एक ही सम्बन्ध होता तो छत्रादि विशेषण और देवदत्तादि विशेष्य-यह व्यवस्था ही निरर्थक बन जायेगी। कैसे यह देखिये — यदि संयोगरूप सम्बन्ध सर्वत्र एक ही होता तो दण्ड का सम्बन्ध सिर्फ देवदत्त के साथ नहीं, यज्ञदत्तादि सभी व्यक्ति के साथ प्रसक्त होने से, दण्ड देवदत्त का विशेषण बन कर दण्डि के रूप में यज्ञदत्तादि की व्यावृत्ति कर नहीं सकता, मतलब कि दण्ड 'विशेषण' ही नहीं होता, फिर देवदत्त उस का विशेष्य भी कैसे होता ? 'विशेषण' कहा जाने वाला भाव यदि विशेष्य को अन्य धर्मी से विच्छिन्न बना कर, यानी उस से उस की भिन्नता दिखा कर यदि 'देवदत्तादि' को ही विशेष्यस्वरूप में व्यवस्थित न कर सके तो उस को विशेषण कौन कहेगा ? प्रस्तुत में समवायसम्बन्ध भी यदि एक और व्यापक होगा तो विशेषणरूप से अभिमत द्रव्यत्वादि, सर्वसाधारण यानी गुणादिवृत्ति हो जाने से, द्रव्यत्वादि के बल पर जो जीव-अजीवादि द्रव्यों की व्यावर्तकता उस में है वही अब नहीं रहेगी। फलतः द्रव्य की तरह गुणादि भी द्रव्यत्व के समवायी हो जाने से समवायिसांकर्य दोष क्यों नहीं होगा ? दूसरी बात यह है कि समवाय का ग्राहक कोई ठोस प्रमाण न होने से समवाय का सद्भाव ही नहीं है। प्रमाण का विरह होने पर वस्तु में वस्तुत्व का योग भी दुर्घट बन जायेगा। निष्कर्ष, कोई भी एक रूप यानी भाव, अनेकान्तात्मक होता है यही मानना उचित है। किसी भी वस्तु में एकानेकरूपता होने में विरोध की शंका करना उचित नहीं, क्योंकि वस्तु की एकानेकरूपता प्रमाणसिद्ध होने से, उस में विरोध का प्रसर ही नहीं है।

✽ वस्तुमात्र में एकानेकस्वरूप की सिद्धि ✽

एकानेकात्मक वस्तु में कोई विरोध कैसे नहीं है यह देखिये — आत्मादि वस्तु एक-अनेक स्वरूप होती है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे कि वस्त्र का चित्ररूप अथवा ग्राह्य-ग्राहकोभयाकार एवं संवेदनस्वरूप एक विज्ञान।

✽. ०कैकः रूप० इति पूर्वमुद्रिते। पाटणसत्कताडपत्रादर्शे तु 'कैकरूप' इति पाठः शुद्धः।

प्रसाधितत्वात्। नापि ग्राह्यग्राहकसंवित्ति लक्षणरूपत्रयात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यसिद्धम् तथाभूत-
विज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिक्षेपे सर्वप्रमाण-प्रमेयप्रतिक्षेपप्रसक्तेः। स्वार्थाकारयोर्विज्ञानमभिन्न-
स्वरूपम्, विज्ञानस्य च वेद्य-वेदकाकारौ भिन्नात्मानौ कथञ्चिदनुभवगोचरापन्नौ। एतच्च प्रतिक्षणं स्वभाव-
भेदमनुभवदपि न सर्वथा भेदवत् संवेद्यते इति संविदात्मनः स्वयमेकस्य क्रमवर्त्यनेकात्मकत्वं न विरोध-
मनुभवतीति कथमध्यक्षादिविरुद्धं निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् ?! न हि कदाचित् क्वचित्
क्षणिकत्वमन्तर्बहिर्वाऽध्यक्षतोऽनुभूयते 'तथैव' इति निर्णयानुत्पत्तेः, भेदात्मन एव अन्तर्विज्ञानस्य
बहिर्घटादेशाभिन्नस्य निश्चयात्। तथाभूतस्याप्यनुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमभ्रान्तलक्षण-
भाग् भवेत्। न हि ज्ञानं वेद्य-वेदकाकारशून्यं स्थूलाकारविविक्तम् परमाणुरूपं वा घटादिकमेकं निरी-
क्षामहे यतः बाह्याध्यात्मिकं भेदाभेदरूपतयाऽनुभूयमानं भ्रान्तविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्येत। अतः
'यथादर्शनमेवेयं मान-मेयव्यवस्थितिः न पुनर्यथातत्त्वम्' (✽) इत्येतद् अनिश्चितार्थाभिधानम्। न

— इस प्रयोग के सामने यदि वैशेषिकों की ओर से कहा जाय कि हम वस्त्र के चित्ररूपको एकानेकस्वरूप नहीं मानते अतः दृष्टान्तासिद्धि दोष होगा — तो वह गलत है, क्योंकि इसी काण्ड में पहले (पृ० २१४) चित्ररूप की चर्चा में चित्ररूप की एकानेकरूपता का साधन कर आये हैं। बौद्ध यदि ऐसा कहें कि ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार ऐसे तीन लक्षणों से मिलित एक विज्ञान हमारे मत में असिद्ध है — तो वह भी गलत है, क्योंकि तथाविध तीन आकारों से मिलित एक विज्ञान का संवेदन जन-साधारण में अनुभवप्रतिष्ठित है, फिर भी उस का विरोध करेंगे तो सर्वत्र सर्व प्रमाणों और प्रमेयों का विलोप प्रसक्त होगा।

सभी प्रमाताओं का यह अनुभव है कि स्वाकार यानी ग्राहकाकार और ग्राह्याकार इन दोनों से विज्ञान अभेदभाव धारण करता है, दूसरी ओर विज्ञान के वेद्य-वेदक दो आकार परस्पर कुछ भिन्न स्वरूप भी होते हैं (नहीं तो 'वेद्य' 'वेदक' ऐसे दो शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता न होती।)। क्षण क्षण में जो विज्ञान का संवेदन होता है उस में प्रतिक्षण आकारों में स्वभावतः यानी ग्राह्यस्वभाव और ग्राहकस्वभाव के रूप में परस्पर विलक्षणता का अनुभव होता हुआ भी सर्वथा भेद अनुभव नहीं होता किन्तु विज्ञान से उन की अभिन्नता का भी अनुभव होता है और एक ही विज्ञानमयता के रूप में दोनों आकारों में अभेद भी अनुभूत होता है। इससे यह फलित होता है कि पूर्वापरभावि क्षणों में संवेदन का स्वरूप स्वतः एकात्मक होते हुए भी क्रमिक अनेकाकारों के उत्पत्ति-विनाश से अनेकात्मक भी होता है। इस में जब विरोध का प्रसर ही नहीं है तब प्रत्येक क्षणों का क्षणमात्र में एकान्त से निरन्वय विनाश मानना कहाँ तक उचित है जब कि उस में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध भी जागरूक है ?!

✽ क्षणिक- निराकारज्ञानवाद अनुभवबाह्य ✽

कभी भी किसी भी बाह्य या आन्तर कोई भी चीज का 'क्षणभंगुर है' ऐसा अनुभव प्रत्यक्षादि से कहीं भी होता नहीं है। यदि वस्तु क्षणभंगुर होती तो बाह्य घटादि वस्तु को एक बार देखने के बाद फिर से 'वही — वैसी ही है' ऐसा निश्चय कभी भी नहीं हो सकता। निश्चय तो ऐसा ही होता है कि आन्तरिक विज्ञान बाह्य घटादि से (कथंचिद्) भिन्न है और बाह्य घटादि तो पहले जो था उस से अभिन्न है। यदि

✽. 'यथानुदर्शनं चेयं मेयमानफलस्थितिः। क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्य-ग्राहकसंविदाम्।।' इति प्रमाणवार्तिके (२-३५७)।
'तस्माद् ग्राह्य-ग्राहकसंविदां परमार्थतोऽविद्यमानापि मेयमानफलस्थितिर्यथादर्शनं क्रियते। ग्राह्याकारो मेयः, ग्राहकाकारो मानम्, संवित्तिः फलमिति व्यवस्थाप्यते' इति मनोरथनन्दीव्याख्या।

हि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनैकान्तरूपं वस्तुतत्त्वमयं प्रतिपन्नवान् यत एवं वदन् शोभेत । यदा चाध्यक्ष-विरुद्धः निरंशक्षणिकैकान्तः ततो नानुमानमपि अत्र प्रवर्तितुमुत्सहतेऽध्यक्षबाधितविषयत्वात्तस्य । तेन 'निरन्वयविनश्वरं वस्तु प्रतिक्षणवेक्षमाणोऽपि नावधारयति' () इत्येतदप्यसदभिधानम्, प्रतिक्षण-विशरारुतायाः कुतश्चिदप्यनीक्षणात् ।

अत एव क्षणिकत्वैकान्ते सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः सर्व एव विरुद्धः, अनेकान्त एव तस्य सम्भ-वात् । तथाहि — अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम्, न चासौ तदेकान्ते क्रम-यौगपद्याभ्यां सम्भवति, यतः 'यस्मिन् सत्येव यद् भवति तत् तस्य कारणम् इतरच्च कार्यम्' इति कार्य-कारणलक्षणम्, क्षणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्भवेत् तदा कार्य-कारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणम् किं वा कार्यं

ऐसे अनुभव को 'भ्रान्ति' ठराया जाय तो फिर वह कौन सा प्रत्यक्ष बचेगा जिस को अभ्रान्तस्वरूप माना जाय ?! निरीक्षकों को ऐसा अनुभव नहीं होता कि संवेदन ग्राह्याकार-ग्राहकाकार से सर्वथा अलिप्त है, घटादि स्थूलाकार से सर्वथा विमुक्त केवल परमाणु (अथवा परमाणुपुञ्ज) स्वरूप ही है। यदि वैसा अनुभव होता तब तो भिन्नाभिन्नरूप से अनुभवगोचर होने वाली बाह्य अथवा अभ्यन्तर वस्तु को भ्रान्त ज्ञान का विषय कहा जा सकता था ! किन्तु वैसा अनुभव नहीं होता, फिर भी वस्तु को क्षणिक, ज्ञान को निराकार मानने वाले बौद्धों का यह कथन-प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था दर्शन के अनुरूप होनी चाहिये नहीं कि (स्वकल्पित) तत्त्वों के अनुसार — यह सिद्धान्तकथन अनिश्चित यानी संशयग्रस्त बन जायेगा। कहीं भी, किसी भी प्रमाण से बौद्ध को एकान्तगर्भित वस्तु तत्त्व का दर्शन नहीं हुआ, फिर भी वह दर्शनानुसार वस्तुव्यवस्था की बात करे तो वह उस के लिये शोभास्पद नहीं है। स्वयं दर्शनानुसार अनेकान्तात्मक वस्तु स्वीकार करता तो वह सिद्धान्तकथन शोभायुक्त हो सकता।

यह भी सोचना होगा कि एक ओर निरंश-क्षणिक एकान्तवस्तुवाद प्रत्यक्ष विरुद्ध होते हुए भी 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इत्यादि क्षणिकत्व साधक अनुमानों का प्रयोग करने का साहस किया जाय तो वहाँ क्षणिकविषय प्रत्यक्षबाधित होने से वह अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा। बौद्धोंने जो यह कहा है कि 'प्रतिक्षण निरन्वयविनाशी वस्तु का ही निरीक्षण होता तो किन्तु (कुछ कारणवशात्) अवधारण यानी वैसा निश्चय (= सविकल्पज्ञान) नहीं हो पाता' यह कथन भी अब उपरोक्त चर्चा के प्रकाश में गलत सिद्ध हो रहा है, क्योंकि किसी भी प्रमाण से, प्रतिक्षण क्षणविनाशी वस्तु का दर्शन होता नहीं है।

✽ क्षणिकत्वसाधक सत्त्वादि हेतु विरुद्ध कैसे ? ✽

अनेकान्त के साथ ही सत्त्व का मेल खाता है, एकान्त के साथ उस का मेल नहीं खाता, इसी लिये बौद्धों की ओर से एकान्तक्षणिकत्व की सिद्धि के लिये सत्त्व आदि को हेतु करने पर, वे सभी हेतु विरुद्ध हो बैठेंगे। कैसे यह देखिये — सत्त्व का लक्षण है अर्थक्रिया। एकान्त क्षणिकवाद में क्रमशः अथवा एकसाथ अर्थक्रियाकारित्व का सम्भव नहीं है। क्यों ऐसा ? इस लिये कि कारण और कार्य का लक्षण संगत होना चाहिये, 'जिस के रहते हुए ही जो उत्पन्न हो वह कारण है और उत्पन्न होनेवाला कार्य है।' अब यह देखना है कि क्षणिक पदार्थ रहते हुए (अर्थात् उस क्षण में ही, जिस क्षण में वह स्वयं विद्यमान है —) यदि कार्य की उत्पत्ति मानेंगे तो कारण-कार्य दोनों सहोत्पन्न और समानक्षणवृत्ति हो जाने से कौन किस का कारण और किस का कौन कार्य इस के ऊपर प्रश्नचिह्न लग जायेंगे। तथा क्षणिक कारणकार्य समानक्षणवृत्ति हो जाने पर परम्परया सारे जगत् के पदार्थ एकक्षणवृत्ति हो जायेगा। (चौथी क्षणवाला भाव कारणक्षणसमानक्षणवृत्ति हो जाने से तृतीय

व्यवस्थाप्येत ? त्रैलोक्यस्य चैकक्षणवर्तिता प्रसज्येत । ‘यदनन्तरं यद् भवति तत् तस्य कार्यं इतरत् कारणम्’ इति व्यवस्थायां कारणाभिमतं वस्तुनि असत्येव भवतस्तदनन्तरभावित्वस्य दुर्घटत्वात्, चिरतरविनष्टादपि च तस्य भावो भवेत् तदभावाऽविशेषात् । न चानन्तरस्यापि कार्योत्पत्तिकालमप्राप्य विनाशमनुभवतश्चिरातीतस्येव कारणता यतोऽर्थक्रिया क्षणक्षये न विरुध्येत । प्राक्कालभावित्वेन कारणत्वे सर्वं प्रति सर्वस्य कारणता प्रसज्येत सर्ववस्तुक्षणानां विवक्षितकार्यं प्रति प्राग्भावित्वाविशेषात् । तथा च स्वपरसंतानव्यवस्थाऽपि अनुपपन्नैव स्यात् ।

न च सादृश्यात् तद्व्यवस्था, सर्वथा सादृश्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसक्तेरेकक्षणमात्रं सन्तानः प्रसज्येत । कथंचित् सादृश्येऽनेकान्तवादप्रसक्तिः । न च सादृश्यं भवदभिप्रायेणाऽस्ति सर्वत्र वैलक्षण्याऽविशेषात्, अन्यथा स्वकृतान्तप्रकोपात् । न च क्षणिकैकान्तवादिनोऽन्वय-व्यतिरेकप्रतिपत्तिः सम्भवतीति साध्य-साधनयोस्त्रिकालविषययोः साकल्येन व्याप्तेरसिद्धेः ‘यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् संश्व शब्दः’ इत्याद्यनुमानप्रवृत्तिः कथं भवेत् ? अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वानभ्युपगमे साध्य-साधनयोस्त्रिकाल-

क्षण में आ जायेगा, वह भी वैसा ही होने से दूसरी क्षण में, दूसरी क्षण भी वैसी ही होने से प्रथम क्षणवृत्ति हो जायेगी ।) कारण-कार्य का लक्षण ऐसा बनाया जाय कि ‘जिस भाव के बाद जो उत्पन्न हो वह कार्य, और पूर्वक्षणवाला भाव कारण ।’ — ऐसी व्यवस्था की जाय तो, जिस क्षण में कारण असत् है उस क्षण में कार्य होगा, तब वह कार्य उसी असत् कारण के बाद हुआ है यह विश्वास कैसे होगा ? यानी यह बात दुर्घट हो जायेगी क्योंकि दीर्घकाल के पहले जो नष्ट हो गया है उस से भी वह कार्य उत्पन्न होने का माना जा सकता है, क्योंकि कार्य क्षण में तो वह भी समान ढंग से असत् है । यदि वह दीर्घकाल पूर्व नष्ट हो चुका भाव कार्योत्पत्ति के पहले ही विनष्ट हो जाने से कारण नहीं बनता तो अचिरनष्ट क्षण भी कार्योत्पत्ति के पूर्व ही नष्ट हो जाने से कारण नहीं बन सकेगा । अतः क्षणक्षयवाद में अर्थक्रिया का विरोध स्पष्ट है । ‘पूर्वकाल में विद्यमान हो वह (उत्तरकालभावि कार्य का — ऐसा कुछ नहीं) कारण’ इतने को ही कारण का लक्षण माना जाय तो विवक्षित प्रतिनियत किसी एक क्षण में उत्पन्न कार्य के प्रति पूर्वकाल में हो गये अनन्त भावों को कारण मान लेना पड़ेगा, इतना ही नहीं — प्रत्येक क्षण किसी न किसी क्षण की पूर्व भावि और किसी की उतर काल भावि होने से सब कार्यों के प्रति सभी भावों की कारणता प्रसक्त होगी । नतीजा यह होगा कि अश्वक्षण गोक्षण का कारण और उस से उलटा भी हो जाने से ‘यह स्वसन्तान और यह पर सन्तान’ ऐसी भेदव्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी, क्योंकि प्रत्येक सन्तान में प्रत्येक सन्तान के क्षण अन्तःप्रविष्ट हो जायेंगे ।

✽ सादृश्य के आधार पर सन्तानव्यवस्था दुष्कर ✽

यदि यह कहा जाय कि — ‘अश्वक्षणों में अश्व क्षणों का सादृश्य होता है, गो-क्षणों में गोक्षणों का, इस प्रकार ‘सादृश्य की महिमा से स्वसन्तान और सादृश्य का अभाव होने पर परसन्तान’ — ऐसी व्यवस्था हो सकती है ।’ — तो यह अनुचित विधान है क्योंकि यहाँ दो विकल्प हैं — सर्वथा और कथंचित् । यदि एक अश्वक्षण का दूसरे अश्वक्षण में सर्वथा सादृश्य होने का मानेंगे तो कार्य कारणस्वरूपापन्न ही हो जायेगा, क्योंकि सर्वथा सादृश्य तो स्व का स्व में ही होता है, फलतः सारा सन्तान एकक्षणमय ही हो बैठेगा । यदि कथंचित् सादृश्य मानेंगे तो अनेकान्तवाद का जयजयकार !

वस्तुतः बौद्धमत में सादृश्य जैसी कोई चीज ही नहीं है, क्योंकि उस के मत में भेदभाव का ही साम्राज्य है, प्रत्येक स्वलक्षण अन्य से सर्वथा भिन्न ही होता है । यदि उन में कथंचित् थोड़ा भी सादृश्य मानेंगे तो अन्वय प्रसक्त होने से अनेकक्षणस्थापित्व प्राप्त होगा और क्षणिकवादसिद्धान्त कुपित हो बैठेगा ।

विषयव्याप्तिग्रहणस्य दूरोत्सारितत्वात् 'नाऽननुकृतान्वय-व्यतिरेकं कारणम् नाऽकारणं विषयः' () इति वचनमनुमानोच्छेदकं च प्रसक्तम् ।

ग्राह्य-ग्राहकाकारज्ञानैकत्ववद् ग्राह्याकारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चित्रैकरूपता एकान्तवादं प्रतिक्षिपत्येव । भ्रान्त्यात्मनश्च दर्शनस्य अन्तर्बहिश्च अभ्रान्तात्मकत्वं कथंचिद् अभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा कथं स्वसंवेदनाध्यक्षता तस्य भवेत् ? तदभावे च कथं तत्त्वभावसिद्धिर्युक्ता ? कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयाऽऽत्मानमसंविदद् ज्ञानरूपताया वा अवगच्छद् बहिस्तथा नावगच्छेत् यतो भ्रान्तैकान्तरूपता

✽ अन्वय-व्यतिरेक एवं प्रमाणविषयता की अनुपपत्ति ✽

तदुपरांत — क्षणिक एकान्तवाद में साध्य-हेतु के बीच अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध की प्रसिद्धि दुष्कर है । कारण, कोई भी एक ज्ञान हेतु और साध्य को एक साथ ग्रहण करनेवाला होता नहीं है यह पहले कह आये हैं । फलतः त्रिकालविषयभूत यानी तीन काल के साध्य और हेतु समस्त का अवगाहन करने वाली व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि अतीत-अनागत विषय असत् होने से व्याप्ति में उन का अवगाहन शक्य नहीं है । जब व्याप्ति का भी बौद्धमत में कोई ठिकाना नहीं है तब 'जो सत् होता है वह क्षणिक होता है — शब्द भी सत् है' इत्यादि अनुमानों की प्रवृत्ति भी कैसे शक्य होगी ?

दूसरी बात यह है कि बौद्धमत में प्रमाण का कारण हो उसी को प्रमाण का विषय माना जाता है, जो प्रमाणोत्पादक नहीं वह उस का विषय भी नहीं होता । व्याप्ति का ग्रहण करना हो तब तो अतीत-वर्तमान-अनागत सभी साधनों और साध्यों को प्रमाणभूत ज्ञान में प्रविष्ट करना पड़ेगा, किन्तु बौद्धमत में यह सम्भव नहीं है क्योंकि अतीत अनागत पदार्थ असत् होने से ज्ञानोत्पादक नहीं है, अत एव व्याप्तिज्ञान के विषय भी नहीं बन सकते । फलतः त्रिकालविषयक व्याप्तिज्ञान का ही सम्भव नहीं रहता । तब बौद्ध ने जो विना सोचे कह दिया है कि — 'अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण न करनेवाला कारण नहीं हो सकता और जो (ज्ञान का) कारण नहीं होता वह (ज्ञान का) विषय नहीं बन सकता' — यह विधान तो अनुमानमात्र का उच्छेदक ही सिद्ध हुआ क्योंकि अनुमान के लिये आवश्यक व्याप्तिज्ञान त्रिकालविषयक बन ही नहीं पाता । (क्योंकि अतीत-अनागत भाव असत् है, ज्ञान के कारण न होने से व्याप्तिज्ञान के विषय ही नहीं है ।)

तथा, पहले कहा है कि एक ही ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक अनेक आकारवाला होने से एकानेकरूप होता है इस लिये एकान्तवाद का निरसन होता है । वैसे ही, जब एक साथ दाल-चावल आदि अनेक चीजों को देखते हैं तब उस के ज्ञान में जो ग्राह्याकार है वह भी दाल-चावल के अनेक आकारों से सम्मिलित होने से चित्राकार सिद्ध होता है, इस से भी एकान्तवाद को धोखा है ।

✽ शुक्ति में रजत-दर्शन कथंचिद् अभ्रान्त ✽

तथा, बौद्धमत में जो शुक्ति में रजत का दर्शन भ्रान्त माना गया है उस को भी बाह्य-अभ्यन्तर उभय प्रकार से कथंचिद् अभ्रान्त भी मानना होगा । कारण यह है कि बौद्ध स्वप्रकाशवादी है, अतः भ्रान्त दर्शन भी उस के मत में स्वसंवेदनप्रत्यक्षात्मक ही होता है । स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का विषय जो स्वसंवेदन (भ्रान्त दर्शन) है वह तो जूठा नहीं है अत एव वही भ्रान्त दर्शन स्वसंवेदन की अपेक्षा अभ्रान्त मानना होगा । यदि वह भ्रान्त दर्शन स्वसंवेदि नहीं होगा तो वह बौद्धमत में दर्शनस्वरूप कैसे होगा ? उस को तो जड स्वरूप मानना पड़ेगा । तथा वही भ्रान्तज्ञान धर्मी अंश में अभ्रान्त होता है, अतः बाह्यविषय की अपेक्षा से भी कथंचिद् अभ्रान्त मानना होगा ।

तिमिराद्युपप्लुतदृशां भवेत् ? कथं च भ्रान्तविकल्पज्ञानयोः स्वसंवेदनमभ्रान्तमविकल्पं वाऽभ्युपगच्छन् अनेकान्तं नाभ्युपगच्छेत् ? ग्राह्य-ग्राहकसंवित्याकारविवेकं संविदः स्वसंवेदनेनाऽसंवेदयन् संविद्रूपतां चानुभवन् कथं क्रमभाविनो विकल्पेतरात्मनोरनुगतसंवेदनात्मानमनुभवप्रसिद्धं प्रतिक्षिपेत् ?

ततः क्रम-सहभाविनः परस्परविलक्षणान् स्वभावान् यथावस्थितरूपतया व्याप्नुवत् सकललोकप्र-
तीतं स्वसंवेदनम् अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापकमेकान्तवादप्रतिक्षेपि प्रतिष्ठितमिति 'निरंशक्षणिकस्वलक्षण-
मन्तर्बहिश्चाऽनिश्चितमपि संवित्तिर्विषयीकरोति' इति कल्पना अयुक्तिसंगतैव, अप्रमाणप्रसिद्धकल्पनायाः
सर्वत्र निरंकुशत्वात् सकलसर्वज्ञताकल्पनप्रसक्तेः। न ह्येकस्य संवित्तिरपरस्याऽसंवित्तिः सर्वत्र सम्ब-
न्धाभावाविशेषात्। न हि वास्तवसम्बन्धाभावे परिकल्पितस्य तस्य नियामकत्वं युक्तमितिप्रसङ्गात्।

तथा तिमिरादि रोगग्रस्त मनुष्य जो कि जानता है कि 'मुझे नेत्र में यह रोग है' उस के ज्ञान को भी एकान्त भ्रान्तस्वरूप कैसे मान सकते हैं ? उस का भ्रान्तज्ञान अपनी जात को भ्रान्तिरूप से न जानता हुआ भी यदि ज्ञानरूप से जान सकता है तो बाह्यविषय के बारे में भी ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि वह बाह्यविषय को सिर्फ विषयरूप से ही जानता है न कि सत् या असत् रूप से ? तब ऐसी स्थिति में वह सर्वथाभ्रान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे पुरोवर्त्ती के रूप में कुछ न कुछ सत्य वस्तु का ज्ञान है।

तथा बौद्धवादी जब भ्रान्तज्ञान के ज्ञान का और विकल्पज्ञान (जो कि बौद्धमत में प्रमाण नहीं है) का ऐसा संवेदन मानता है जो अभ्रान्त, स्वसंविदित एवं निर्विकल्पप्रत्यक्षप्रमारूप होता है, तब भ्रान्ताभ्रान्त उभयस्वरूप सिद्ध होने पर वह अनेकान्तवाद के स्वीकार को कैसे टाल सकता है ?

तथा बौद्धवादी जब ऐसा मानता है कि ज्ञान में जो ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार है उन का भेदशः पृथक् पृथक् संवेदन नहीं होता किन्तु तीनों आकार में अनुगत ज्ञानरूपता का संवेदन होता है- तब तो क्रमभावि निर्विकल्पज्ञान और विकल्पज्ञान के लिये भी ऐसा क्यों नहीं मानता कि उन दोनों का पृथक् पृथक् भेदशः ज्ञान नहीं होता किन्तु उन दोनों में अनुगत एक संवेदनरूपता का अनुभव होता है- यह तथ्य सभी लोगों को भी अनुभवसिद्ध है। जब वह ऐसा मान लेगा तो फिर अनेक क्षणों में अनुगत एक भाव के स्वीकार को कैसे टाल सकता है ?!

✽ निरंश-क्षणिकस्वलक्षणग्राही निर्विकल्प का प्रतिषेध ✽

बौद्धों के सिद्धान्त की समीक्षा का निष्कर्ष यह सिद्ध करता है कि क्रमभावी या सहभावि परस्पर विलक्षण स्वभाववाले भावों का यथावस्थित स्वरूप से अवगाहन करनेवाला, सकललोक में प्रसिद्ध स्वसंवेदन ज्ञान एकान्तवाद का निराकरण कर के अनेकान्तगर्भित तत्त्वव्यवस्था की प्रतिष्ठा करता है। अत एव बौद्धों की जो यह कल्पना है कि - 'स्वलक्षण' वस्तु निरंश एवं क्षणिक है और बाह्य-अन्तर किसी भी रूप से, निश्चय (सविकल्प) से उस का ज्ञान न होने पर भी निर्विकल्प संवेदन (दर्शन) से वह गृहीत होता है- यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प से अनेकांश - अक्षणिक ही स्वलक्षण गृहीत होता है ऐसी धारणा भी की जा सकती है। प्रमाण से असिद्ध वस्तु की ही कल्पना करना हो तो उस के ऊपर किसी का भी अंकुश नहीं रहेगा। फिर तो सब जीवात्मा सर्वज्ञ होने की कल्पना भी की जा सकती है। एक वस्तु का किसी एक को संवेदन हो, दूसरे को न हो - ऐसी व्यवस्था तो प्रमाण के अवलम्बन से हो सकती है, किन्तु जब निरंकुश ही कल्पना करना है तब तो एक व्यक्ति को जिस का संवेदन है उस का दूसरे को नहीं है - ऐसा कहने का मतलब

न च वास्तवः सम्बन्धः परस्य सिद्धः इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धनिय-
माभावेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव ।

अथ क्षणिकान्निर्वृत्तमानमपि अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिकेऽवस्थास्यतीति न ततोऽनेकान्ता-
त्मकवस्तुसिद्धिः । न, अक्षणिकेऽपि क्रमयौगपद्याभ्यां तस्य विरोधात् । तथाहि — न तावदक्षणिकस्य
क्रमवत् कार्यकरणम् प्राक् तत्करणसमर्थस्याभिमतक्षणवत् तदकरणविरोधात् । प्राक् तदसामर्थ्ये पश्चा-
दपि न तत्सामर्थ्यम् अपरिणामिनोऽनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वात् स्वभावोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमेऽपि नित्यै-
कान्तवादविरोधात् । ततो व्यतिरिक्तस्यातिशयस्य करणेऽनतिशयस्य तस्य प्रागिव पश्चादपि तत्क-
रणाऽसम्भवात् । सहकारिकारणापेक्षापि तस्यायुक्तैव यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः ससहा-
यस्य कार्यकरणं भवेत्, न हि सहकारिकृतमतिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षोपपत्तिमती । तन्न क्रमेणापरि-

ही नहीं रहता । अगर यह कहें कि 'सम्बन्ध के विरह से दूसरे को उस का संवेदन न हो ऐसा हो सकता है',
तो यह सम्बन्ध विरह तो निरंश क्षणिक स्वलक्षण के साथ भी है, फिर भी उस का संवेदन एक व्यक्ति को
ही हो सके, दूसरे को नहीं- ऐसी व्यवस्था शक्य नहीं है । यदि निरंश क्षणिक स्वलक्षण के साथ वास्तविक सम्बन्ध
न होने पर भी काल्पनिक संबंध जिस व्यक्ति के साथ रहता है उसको उस का संवेदन होगा, दूसरे को नहीं
— ऐसी व्यवस्था की जाय तो वह भी अयुक्त है क्योंकि काल्पनिक सम्बन्ध की कल्पना तो हर एक व्यक्ति
के साथ की जा सकती है, अतः सभी व्यक्ति को समस्त वस्तु के ज्ञान से सर्वज्ञता की आपत्ति तदवस्थ रहेगी ।
जब बौद्ध के मत में एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं है तब तादात्म्य
और तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अस्तित्व भी लुप्त हो जाने से व्याप्ति का नियम भी लुप्त हो जायेगा, फलतः अनुमान
की प्रवृत्ति का तो सम्भव ही दूर प्रस्थित हो जाता है ।

✽ अक्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया अशक्य ✽

अब अक्षणिकवादी मंच पर आ कर कहता है कि — 'क्षणिक वस्तु से दूर भागनेवाली अर्थक्रिया, जो
कि सत्त्व का लक्षण है, अक्षणिक में निर्बाध रह सकती है, अतः अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि अशक्य है ।'
यह विधान भी गलत है । कारण, अक्षणिक अर्थ के साथ भी एकसाथ या क्रमिक अर्थक्रिया का विरोध है ।
कैसे यह देखिये — अक्षणिक भाव क्रमशः कार्यकारी नहीं हो सकता, क्योंकि जो कार्य दूसरे या तीसरे क्षण
में करनेवाला है उस कार्य को करने में जब वह प्रथम क्षण में शक्तिशाली है तो प्रथमक्षण में क्यों नहीं करेगा ?
करने में क्या विरोध है ? यदि प्रथमक्षण में वह असमर्थ है तो दूसरी-तीसरी क्षण में भी तदवस्थ होने से समर्थ
नहीं होगा और कार्य नहीं करेगा । पहले जब सामर्थ्य नहीं है तो बाद में भी सामर्थ्य नहीं आ सकता । जो
अपरिणामी नित्य होगा वह न किसी नये अतिशय को आत्मसात् कर सकता है, न पूर्वातिशय को छोड़ भी
सकता है, इस लिये उस में यदि पहले जो स्वभाव है उस का नाश और नये सामर्थ्यस्वभाव की उत्पत्ति का
स्वीकार करेंगे तो एकान्त नित्यवाद के साथ विरोध होगा । जो नया अतिशय उत्पन्न होगा वह भी यदि उस
नित्य वस्तु से सर्वथा भिन्न होगा तो उससे उस वस्तु को कोई फायदा होने वाला नहीं, वह तो पहले कि तरह
ही निरतिशय रहने से, पहले जो कार्य नहीं हो सका वह अब भी होने की सम्भावना नहीं रहती ।

यदि कहा जाय — नित्य पदार्थ भी सहकारिकारण के सांनिध्य में ही समर्थ होता है — तो यह भी
ठीक नहीं है क्योंकि पहले असहाय दशा में जो अकरणस्वभाव है वह सहकारी का सांनिध्य होने पर स्वभाव
का पलटा होकर करणस्वभाव हो जाय और कार्य करने लग जाय यह सम्भव नहीं है क्योंकि नित्यपदार्थ

णामी भावः कार्यं निर्वर्तयति। नापि यौगपद्येन, कालान्तरे तस्याऽकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तेः क्षण-मात्रावस्थायित्वप्रसक्तेः। न च क्रम-यौगपद्यव्यतिरिक्तं प्रकारान्तरं सम्भवतीति अर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्तां नित्यादप्यादाय निवर्तते इति 'यत् सत् तत् सर्वमनेकान्तात्मकं' सिद्धम-न्यथा प्रत्यक्षादिविरोधप्रसक्तेः।

न हि भेदमन्तरेण कदाचित् कस्यचिदभेदोपलब्धिः। हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तात्मकस्यान्तश्चैत-न्यस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतो वर्ण-संस्थानसदाद्यनेकाकारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानात्मकस्य घटादेर्बहिरेकस्येन्द्रियजाध्यक्षतः संवेदनात् सुखादि-रूपादिभेदविकलतया चैतन्य-घटादेः कदाचिदपि उपलम्भाऽगोचरत्वात्, महासामान्यगोचरस्याऽवान्तरसामान्यस्य वा सर्वगताऽसर्वगतधर्मात्मकस्य व्यक्ति-व्यतिरिक्तस्वभावतया कदाचित् क्वचिदनुपलब्धेः - द्रव्य-गुण-कर्मणां कथं तद्विविशिष्टतया प्रतिपत्ति-र्भवेत् ? समवायस्य चानवस्थादोषतः सम्बन्धान्तराभावात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषाणामन्योन्यं

के स्वभाव में परिवर्तन नहीं हो सकता। सहकारी की अपेक्षा का विधान भी तभी संगत हो सकता है जब कि नित्य माने हुए पदार्थ में सहकारिप्रयोजित कोई अतिशय स्वीकार किया जाय। उस का स्वीकार करने पर कथंचिद् अनित्यत्व हो जाने से अनेकान्तवाद का समर्थन होगा। सारांश, एकान्त नित्य अपरिणामी अक्षणिक पदार्थ से क्रमशः अर्थक्रिया का सम्पादन नहीं हो सकता।

अपरिणामी नित्य पदार्थ एक साथ भी अर्थक्रिया का सम्पादन नहीं कर सकता। एक साथ सारी अर्थक्रिया कर लेने के बाद कालान्तर में यानी दूसरे ही क्षण में वह निष्क्रिय - अकिञ्चित्कारी हो जाने से असत् हो जाने की विपदा और सिर्फ एक क्षण कार्यकारी होने से क्षणिकता की समस्या खड़ी होगी।

अर्थक्रिया का सम्पादन 'क्रम-एकसाथ' के दो विकल्पों से अतिरिक्त किसी तीसरे विकल्प से होना सम्भव नहीं है। अपरिणामी भाव से व्यापकीभूत अर्थक्रिया दूर भागने से, उस की व्याप्यभूत सत्ता भी कोशों दूर भाग जायेगी। इस प्रकार एकान्त वाद में नहीं किन्तु अनेकान्तवाद में ही अर्थक्रियालक्षण सत्त्व की संगति ठीक बैठने से, सिद्ध हो जाता है कि जो सत् होता है वह अनेकान्तस्वरूप ही होता है, इस से विपरीत कल्पना करने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध प्रसक्त होता है।

✽ सर्वदा भेदविशिष्ट अभेद की उपलब्धि ✽

एक तथ्य स्पष्ट है कि भेद के विना, भेद से अस्पृष्ट अभेद की उपलब्धि कभी भी किसी को भी होती नहीं है। कभी भी जब चैतन्य की उपलब्धि होती है तब सुखादि भेदों के साथ ही होती है, स्वतन्त्र नहीं होती, क्योंकि अपने संवेदनात्मकाध्यक्ष से ही यह अनुभव होता है कि अन्तश्चेतना कभी हर्ष में तो कभी विषाद में; इस प्रकार अनेक विवर्त्तों में अभेदभाव से जुड़ी रहती है। तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से बाह्य घटादि की भी स्वतन्त्र उपलब्धि नहीं होती किन्तु श्यामादि वर्ण एवं कम्बुग्रीवादि संस्थान से मिले हुए 'सत्' 'द्रव्य' इत्यादि आकारों से विशिष्ट ही बाह्य घटादि का उपलम्भ होता है और वह भी सिर्फ परमाणु आत्मक ही नहीं- स्थूलात्मक और आमादि पूर्वस्वभावत्याग एवं पक्वादि उत्तरस्वभावग्रहण से अनुविद्ध ही घटादि उपलब्धिगोचर होता है। सुख-दुःखादि से अलिप्त चैतन्य का और रूप-संस्थान आदि धर्मों से अविशिष्ट घटादि का स्वतन्त्र उपलम्भ कभी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि सर्वगतस्वभाववाले सत्तारूप महासामान्य हो या असर्वगतस्वभाववाले द्रव्यत्वादि अवान्तर सामान्य हो, कभी भी और कहीं भी उन की उपलब्धि व्यक्ति से व्यतिरिक्त स्वभावात्मकरूप में होती नहीं है। व्यतिरिक्तस्वभाव होने पर तो द्रव्य-गुण-कर्मों की सत्तादि से विशिष्ट रूप में प्रतीति ही कैसे हो सकती है ?

तादात्म्यानिष्ठौ तेष्ववृत्तेः सर्वपदार्थस्वरूपाऽप्रसिद्धिः स्यात् । स्वत एव समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादयोऽपि स्वधारेषु वृत्तिं स्वत एवात्मसात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावै-
यर्थ्यप्रसक्तिः । अवयविनोऽपि स्वारम्भकावयवेषु तादात्म्यानभ्युपगमे सामान्यस्येव तद्वस्तु वृत्तिविक-
ल्पानवस्थादिदोषप्रसङ्गाद् न वृत्तिर्भवेत् ; वृत्तौ वा साकल्येन प्रत्याधारं ग्रहणाऽसम्भवात् व्यक्तिवद्
भेदप्रसक्तिः ; खण्डशः प्रतिपत्तेरगृहीतस्वभावाद् गृहीतस्वभावस्य भेदात् तथा च सामान्यादिरूपता-
हानिप्रसक्तिः ।

किञ्च, सर्वस्वाधारव्यापिनः सामान्यस्य द्रव्यस्य वा तद्वतां सामस्त्येन ग्रहणाऽसम्भवात् कथं तद-
ग्रहे तद्ग्रहणं भवेत् ? आधाराऽप्रतिपत्तौ तदाधेयस्य तत्त्वेनाऽप्रतिपत्तेः सामान्याद्यंशेषु गृहीतेष्वपि
सामान्यादेर्वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः । तदंशग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापिनः
कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः 'सद् द्रव्यम्' इत्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वत्सु न कदाचिद् भवेत्, तदंशानां सामान्या-
देरत्यन्तभेदात् । अत एव द्रव्यादिषु पदार्थव्यवस्थापि अनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरचारिणां

✽ विशिष्ट प्रतीति समवायमूलक नहीं ✽

यदि कहा जाय कि — 'द्रव्य-गुण-कर्म और सत्तादि सामान्य सर्वथा व्यतिरिक्त होने पर भी समवाय सम्बन्ध
से विशिष्ट प्रतीति हो सकती है' — तो यह ठीक नहीं है क्यों कि द्रव्य में फिर समवायवैशिष्ट्य की प्रतीति
के लिये अन्य समवाय की कल्पना का अन्त ही नहीं आयेगा — यह अनवस्था दोष है । अन्य कोई संयोगादि
सम्बन्ध भी घटता नहीं है । ऐसी स्थिति में द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य और विशेष इन सभी में परस्पर यदि तादात्म्य
नहीं मानेंगे तो द्रव्यादि में गुणादि की वृत्ति असम्भव होने से, न द्रव्य की, न गुण की, किसी भी पदार्थस्वरूप
की स्पष्ट प्रसिद्धि नहीं हो पायेगी । यदि कहा जाय कि — समवायवैशिष्ट्य के लिये नये समवाय की कल्पना
अनावश्यक है क्योंकि समवाय की द्रव्यादि में स्वतः वृत्ति मान लेंगे — तो इस तरह द्रव्यादि में गुणादि की
वृत्ति भी समवाय के बिना स्वतः ही मान ली जाय । अवयवी द्रव्य आदि पदार्थ स्वतः ही अपने आधारों में
आश्रय को आत्मसात् कर लेंगे ; समवाय की व्यर्थ कल्पना का कष्ट क्यों ? यदि अवयवी द्रव्य की अपने अवयवों
में तादात्म्यवृत्ति न मानी जाय तो जैसे सामान्य की द्रव्यादि में वृत्ति के ऊपर एकदेश-कृत्स्न आदि विकल्पों
के असमाधान और अनवस्था का दोषारोपण होता है वैसे अवयवी की वृत्ति के ऊपर भी वे सारे दोष प्रसक्त
होंगे । परिणाम यह होगा कि अवयवों में अवयवी द्रव्य की वृत्ति ही अघटित हो जायेगी । तादात्म्य के बिना
भी कैसे भी वृत्ति की घटना कर लेंगे तो एक एक आधारभूत अवयवों में समस्तरूप से अवयवी की अखण्ड
प्रतीति होना सम्भव न होने से एक एक अवयवव्यक्ति की तरह उस का भेद प्रसक्त होगा और उस की खण्ड-
खण्ड प्रतीति होगी । जिस खण्ड का ग्रहण होगा वह गृहीतस्वभाव कहा जायेगा और जिस खण्ड का ग्रहण
नहीं होगा उस को अगृहीतस्वभाव कहा जायेगा, इस प्रकार स्वभावभेद से अवयवी में भेद प्रसक्त होगा और
उस के सर्वावयवसाधारणस्वरूप का भंग प्रसक्त होगा ।

✽ सामान्य के ग्रहण में संकट ✽

यह भी सोचना पड़ेगा कि सामान्य अथवा अवयवी द्रव्य जब अपने समस्त आधारों में व्यापक माने जाते
हैं तब यह तो सम्भव नहीं है कि उन समस्त आधारों का एक-साथ ग्रहण हो सके । ऐसी स्थिति में सभी अवयवों
या व्यक्तियों के ग्रहण के बिना अवयवी अथवा सामान्य का ग्रहण कैसे हो सकेगा ? जब तक आधारों का

सामान्याद्यंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तेः। अथ निरंशं सामान्यमभ्युपगम्यते इति नायं दोषस्तर्हि सकल-
स्वाश्रयप्रतिपत्त्यभावतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति 'सद् द्रव्यं पृथिवी' इत्यादिप्रतिपत्तेर्नितरा-
मभावः स्यात्। तदंशानां सामान्याद् भेदाभेदकल्पनायां द्रव्यादय एव भेदाभेदात्मकाः किं नाभ्युपग-
म्यन्ते ? इति सामान्यादिप्रकल्पना दूरोत्सारितैव इति कुतस्तद्भेदैकान्तकल्पना ? ततः सामान्यविशेषा-
त्मकं सर्वं वस्तु सत्त्वात्।

न हि विशेषरहितं सामान्यमात्रम् सामान्यरहितं वा विशेषमात्रं सम्भवति, तादृशः क्वचिदपि
वृत्तिविरोधात्। वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं स्वलक्षणात् सामान्यलक्षणाद् वा तादृशाद् वृत्तिनिवृत्त्या निवर्तत
एव। यतः क्वचिद् वृत्तिमतोऽपि स्वलक्षणस्य न देशान्तरवर्तिनाऽन्येन संयोगः तत्संसर्गाद्यव-
च्छिन्नस्वभावान्तरविरहाद् विशेषविकलसामान्यवत्। एकस्य प्रतिसंबन्धि सम्बन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमे
विशेषाणां-तत्स्वलक्षणं सामान्यलक्षणमेव स्यात्। न च विशेषैरन्यदेशस्थितैरसंयुक्तस्यैकत्र तस्य वृत्ति-

ग्रहण न हो तब तक उन के आधेय के रूप में सामान्य आदि आधेय का ग्रहण नहीं हो सकता। जितने आधारों
का या व्यक्तियों का ग्रहण हो उतने सामान्यादि के अंशों का ग्रहण हो सकता है किन्तु तब सामान्यादि को
अंशवत् मानना पड़ेगा। अंशवत् मानने पर पुनः उन अंशों में सामान्यादि की वृत्ति का विकल्प प्रश्न पहले की
तरह ही सिरदर्दरूप बन जायेगा। तथा कुछ अंशों का ग्रहण होने पर भी व्यापक सामान्य का तो ग्रहण दुर्लभ
ही रह जायेगा। फलतः सामान्यधारक द्रव्यादि में 'द्रव्य सत् है' इत्यादि सभी द्रव्यों को विषय करने वाली
प्रतीति की तो आशा ही नहीं की जा सकती, क्यों कि सामान्य के अंश और सामान्य में अत्यन्त भेद मानना
होगा। उन का भेद मानने पर, द्रव्य में अखण्ड सामान्य अवगाही 'द्रव्य सत् है' यह प्रतीति होना सम्भव नहीं
है। परिणाम यह होगा कि द्रव्य-गुणादि छह पदार्थों की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी। कारण, सत्ता सामान्य
की प्रतीति सम्भव नहीं है, उन के अंशों का प्रतिभास सम्भव है किन्तु वे तो भेदवादी के पक्ष में सामान्य
से अत्यन्त भिन्न होने से उन्हें द्रव्यादि षट्क से अतिरिक्त पदार्थ मानना पड़ेगा।

यदि ऐसा कहा जाय - सामान्य निरंश ही माना है अतः कोई पूर्वोक्त दोष नहीं है - तब तो लेशमात्र
भी, अंशमात्र भी सामान्य की प्रतीति हो नहीं सकती, क्योंकि उस के सभी आधारों का ग्रहण सम्भव नहीं
है। फलतः 'द्रव्य सत् है' 'पृथ्वी सत् है' 'पृथ्वी द्रव्य है' इत्यादि प्रतीतियाँ होने की तो आशा ही छोड़
देना होगा। यदि अंशों का स्वीकार कर के उन का और सामान्य का भेदाभेद मान लिया जाय तो फिर
द्रव्यादि को ही एक-दूसरे से भिन्नाभिन्न मान लेने में क्या हानि है ? तब सामान्यादि की लम्बी कल्पना
को दूर ही भागना होगा, फिर उस के एकान्त भेद की कल्पना का तो पूछना ही क्या ? निष्कर्ष, समस्त
वस्तु सत् होने के हेतु से, सामान्य-विशेषोभयात्मक होती है यह सिद्ध होता है।

✽ सामान्य और विशेष का सर्वथा अन्योन्य-विश्लेष अयुक्त ✽

इस दुनिया में कहीं भी विशेष के आश्लेष से शून्य सामान्य और सामान्य के आश्लेष से शून्य विशेष मिलेगा
नहीं। परस्पर आश्लेषशून्य सामान्य - विशेष मानने पर विशेषों में सामान्य की वृत्ति संगत होने में विरोध प्रसक्त
होता है। सत्त्व वृत्ति का अविनाभावी होता है। बौद्धमत में माने गये स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दोनों पदार्थों
परस्पराश्लेषशून्य होने से, वृत्ति का मेल बैठता नहीं। वृत्ति के भाग जाने से उन का सत्त्व भी दूर भाग जाता

✽. पूर्वमुद्रिते 'गाव्यवच्छिन्न०' इति पाठः। तालापत्रादर्श 'गाव्यवच्छिन्न' इति।

रव्य (?त्तिर्व्य) वधानाऽविशेषात्। एवं च स्वभावविशेषाणां सामान्यरूपाः सर्व एव भावाः विशेषरूपाश्च। तत्र देश-कालावस्थाविशेषनियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यमेकरूपम् अव्यवधानात्; तस्य च ते विशेषा एव अनेकं रूपम्। यतः तदेव सत्त्वं परिणामविशेषापेक्षया गोत्व-ब्राह्मणत्वादिलक्षणा जातिः परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्तय इति परस्परव्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैकानेकपरिणति-रूपता संशयज्ञानस्येवाऽविरुद्धा।

व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः शशशृंगवदसत्त्वात् 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्ययः सामान्य-विशेषात्मकवस्त्वभावेऽबाधितरूपो न स्यात्। न च चक्षुरादिबुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं सामान्यं परव्यावर्णितस्वरूपमवभासते प्रतिभासभेदप्रसङ्गात्। यदि च तत् सर्वगतम्,

है। कारण यह है कि स्वलक्षण पदार्थ किसी देश में विद्यमान होने पर भी अन्यदेश में रहे हुए अन्य स्वलक्षण के साथ उस का कोई संयोगादि सम्बन्ध नहीं माना गया है, क्योंकि अन्यसंसर्गावच्छिन्न एक अन्य स्वभाव उस में माना नहीं गया, जैसे कि विशेषशून्य सामान्य में विशेषसंसर्गाकारक अन्य स्वभाव नहीं माना गया। यदि विशेषों में सम्बन्धिभेद से नये नये सम्बन्धानुकुलस्वभावविशेष किसी एक स्वलक्षण में माना जाय तो वह स्वलक्षण खुद ही उन सम्बन्धियों का सामान्य (सम्बन्धि) बन जाने से सामान्यलक्षण बन बैठेगा।

दूसरी ओर, एक स्वलक्षण की किसी एक देश में वृत्ति (अवस्थिति) भी - यदि उस को अन्य देशगत विशेषों से सर्वथा असंयुक्त (यानी असम्बद्ध) ही माना जाय तो- घटेगी नहीं, क्यों कि जैसे अन्य निकटतमवर्ती स्वलक्षणों से उस का व्यवधान ही है वैसे उस देश में भी उस का व्यवधान ही है। व्यवधान समानरूप से होने पर भी अन्य स्वलक्षणों से असंयुक्त मानना और स्वकीय देश से संयुक्त मानना यह नहीं बन सकता। जब संयुक्त मानेंगे तो सम्बन्धिभेद से भिन्न भिन्न सम्बन्धानुकुलस्वभावविशेष भी मानना पड़ेगा। फलतः अनेक स्वभावों का एक साधारण संबन्धि होने से विशेषात्मक सभी भावों को उन स्वभावविशेषों की अपेक्षा सामान्यात्मक भी मानना होगा।

अब ऐसी व्यवस्था होगी कि अपने अपने देश, काल और विशिष्ट दशा से नियत सभी भावों का एक 'सत्त्व' सामान्यरूप कहा जायेगा, और वे भाव उसी सामान्य के ही अव्यवधानवर्ती होने से उस के विशेषरूप कहे जायेंगे। इस प्रकार एक ही सामान्य के अनेक रूप भी हो सकते हैं। जैसे देखिये, वही एक सत्त्व सामान्य गो आदि आकार विशेषपरिणाम की अपेक्षा से गोत्व या ब्राह्मणत्व जातिरूप माना जायेगा, ये ही उस के विशेष हुए। और वे गो आदि परिणामविशेष गोत्वादिजाति से अभेद भाव रखते हुए 'व्यक्ति' कहे जायेंगे। जैसे संशयज्ञान में परस्पर विरुद्ध अनेक आकारों का स्पर्श होने से उस में एक-अनेकरूपता होने में कोई विरोधगन्ध नहीं है, वैसे ही यहाँ एक ही भाव में सापेक्षरूप से परस्परविलक्षण अनेक परिणामों के योग से एक-अनेकरूपता होने में कोई विरोध नहीं है।

✽ 'घट सत् है' प्रतीति से सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की सिद्धि ✽

एकान्तवादियों ने जो व्यक्तियों से सर्वथा व्यतिरिक्त सामान्य माना है वैसे सामान्य उपलब्धि के योग्य होने पर भी जब उपलब्ध नहीं होता तब असत् सिद्ध होता है जैसे कि खरगोश का सींग। वैसे सामान्य के असत् होने पर भी जो 'घट सत् है' ऐसा अबाधित अनुभव होता है वह तभी हो सकता है यदि वस्तु को सामान्य-विशेषोभयात्मकस्वभाववाला माना जाय। अन्य वादियों ने सामान्य को नीलादि वर्ण, त्रिकोणादि संस्थान और गो-आदि अक्षर-ऐसे तीनों आकार से शून्य माना है - किन्तु ऐसा सामान्य कभी चाक्षुष आदि

पिण्डान्तरालेषुपलभ्येत स्वभावाऽविशेषात् । आश्रयाभावादनभिव्यक्त्यभ्युपगमेऽभिव्यक्तादनभिव्यक्त-
स्वरूपस्य भेदात् सामान्यरूपता न स्यात् । न चाश्रयभावाभावावभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती सत्प्रत्ययकर्तृत्वाक-
र्तृत्वे नित्यैकस्वभावस्य युज्येते; तद्रूपयोगिनोऽप्येकत्वे कथं नानेकान्तसिद्धिः ? स्वाश्रयसर्वगतत्वेऽपि
सत्ताया आश्रयेणैकेनैकदा प्रकाशितायाः सर्वदा सर्वत्र प्रकाशितत्वात् सकलवस्तुप्रपञ्चस्य सकृदुपलब्धि-
प्रसङ्गः न वा कस्यचिदुपलब्धिः स्यादविशेषात् । प्रकारान्तरेण प्रतीत्यभ्युपगमेऽनेकान्तवाद एव ।

स्वतः सतां विशेषाणां सत्तासम्बन्धानर्थक्यम्, असतां तत्सम्बन्धानुपपत्तिः अतिप्रसक्तेः । अक्रिय-
सामान्यसम्बन्धाद् व्यक्तीनामक्रियत्वम् सामान्यस्य वा क्रियावत्त्वादव्यापकत्वं स्यात् । व्यक्त्यव्यतिरेके

बुद्धियों में भासता नहीं है। गोत्वादि सामान्य-श्वेत-रक्तादिवर्णाकार, चतुष्पद संस्थानाकार और 'गो' इत्यादि
शब्दाकार से अनुबद्ध ही भासता है। फिर भी उसे वर्णादिआकारशून्य ही मानेंगे तो प्रतिभासभेद की प्रसक्ति
होगी। अर्थात्, सभी को गो-संस्थानादि देख कर जैसी गोत्व जाति की प्रतीति होती है उस के बदले किसी
अन्य अव्यक्त प्रकार की ही गोत्व की प्रतीति होगी।

एकान्तवाद में सामान्य को सर्वगत यानी व्यापक माना गया है वह भी गलत है क्योंकि तब दो-चार
गो-पिण्डों के मध्य भाग में भी गोत्व की उपलब्धि प्रसक्त होगी। अर्थात् दो घेनु के बीच में खड़े अश्व
में भी गोत्व की प्रतिती होगी, क्योंकि स्वभाव यानी उस की सत्ता गो-देश की तरह अश्वदेश में भी व्यापक
है। यदि ऐसा कहें कि — गोत्वादि जाति गो-आदि आश्रयपिण्डों से ही अभिव्यक्त होती है, अतः अश्वदि
में उस की उपलब्धि का अनिष्ट प्रसंग नहीं होगा, — तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि गो-आदि में अभिव्यक्त
स्वरूप और अश्वदि में अनभिव्यक्तस्वरूप-इस प्रकार दो विरुद्ध स्वरूप से उस में भेद प्रसक्त होने से उस
की सामान्यरूपता का ही भंग हो जायेगा। जो एकान्त नित्य पदार्थ हैं, कहीं उन का आश्रय होना — कहीं
न होना, कहीं उन की अभिव्यक्ति का होना-कहीं न होना, कहीं 'सत्' ऐसी प्रतीति को जन्म देना-कभी
न देना, ऐसा विरुद्ध धर्मों का समावेश उन में सम्भव ही नहीं है क्योंकि वह नियत एकान्तस्वरूप होता है।
यदि एकान्त नित्य एक पदार्थ में आश्रित-अनाश्रित आदि अनेक विरुद्ध धर्मों का अन्तर्भाव मानेंगे तो अनेकान्तवाद
की सिद्धि को अब कौन रोक सकता है ?

सामान्य को सर्वव्यापक न मान कर सिर्फ अपने आश्रय मात्र में ही व्यापक मानेंगे तो यह अनिष्ट प्रसक्त
होगा कि किसी एक आश्रय में सामान्य प्रकाशित हो जाने पर सर्वाश्रयों में सदा के लिये वह प्रकट हो
कर रहेगा, क्योंकि एक आश्रय में प्रकाशित और अन्य आश्रय में अप्रकाशित ऐसे विरुद्ध धर्मों का एक में
अन्तर्भाव एकान्तवादी को मान्य नहीं है। फलतः, एक आश्रय में सत्ता की प्रतीति होने पर समस्त सत्
वस्तुसमूह के सत्त्व की उपलब्धि होगी, या तो किसी एक आश्रय में भी उस की उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि
प्रकाशित या अप्रकाशित, सामान्य तो सर्वत्र सर्वदा एकस्वरूप ही होता है। ऐसा कोई विशेष उस में है नहीं
जिस से कि एक आश्रय में प्रकाशित और अन्य में अप्रकाशित माना जा सके। यदि उस में कुछ विशेष
का स्वीकार कर के 'घट सत् है' ऐसी प्रतीति को संगत करने जायेंगे तो सामान्य में विशेषाश्लेष प्रसक्त
होने से अनेकान्तवाद गले में आ पड़ेगा।

✽ सामान्य के पक्ष में निरर्थकतादि दोषसन्तान ✽

'सत्' के बारे में ये विकल्प प्रश्न भी समस्यारूप हैं — द्रव्य-गुणादि विशेष पदार्थ स्वयं सत् है या असत्
हैं ? यदि स्वयं सत् हैं तब तो सत्तासामान्य का योग निरर्थक है। यदि वे स्वयं असत् हैं तो उन असत्तों से

व्यक्तिस्वलक्षणवत् तत् सामान्यमेव न भवेत् व्यक्तीनां वा सामान्याव्यतिरेकाद् व्यक्तिस्वरूपहानेः सामान्यस्य तद्रूपता न भवेत्। न च व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षेऽप्यनवस्थोभयपक्षदोष-वैयधिकरण्य-संशय-विरोधादिदोषप्रसङ्गात् सर्वथा तदभावः; अनवस्थादिदोषस्य प्राक् प्रतिषिद्धत्वात्, प्रतीयमानेऽपि तथाभूते वस्तुनि विरोधादिदोषासञ्जने प्रकारान्तरेण प्रतिभासाऽसम्भवात् सर्वशून्यताप्रसङ्गः। न च सैवास्तु इति वक्तव्यम् स्वसंवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसङ्गतः निष्प्रमाणिकायाः तस्या अप्यभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्, तथापि तस्या अभ्युपगमे वरमनेकान्तात्मकं वस्तु अभ्युपगन्तव्यम् तस्याऽबाधितप्रतीतिगोचरत्वात्।

तेन, ^१रूपादि-^२क्षणिकज्ञानमात्र-^३शून्यवादाभ्युपगमः ^४तथा पृथिव्याद्येकान्तनित्यत्वाभ्युपगमः ^५तथात्माद्यद्वैताङ्गीकरणम् ^६तथा परलोकाभावनिरूपणम् ^७द्रव्य-गुणादेरत्यन्तभेदप्रतिज्ञानं च तथा

सत्ता का योग सम्भव ही नहीं है। यदि असत् द्रव्यादि के साथ सत्ता का योग होगा तो शशशृंगादि के साथ भी उस के योग की अनिष्ट आपत्ति होगी। तथा सामान्य को निष्क्रिय माना गया है, अतः व्यक्तियों के साथ उस का योग होने पर दो वैकल्पिक अनिष्ट प्रसक्त होगा। एक तो, निष्क्रिय सामान्य के योग वाली व्यक्ति भी निष्क्रिय बन जायेगी, क्योंकि व्यक्ति सक्रिय होगी और सामान्य निष्क्रिय रहेगा तो उन का वियोग हो जायेगा। यदि व्यक्ति के योग से सामान्य भी सक्रिय बन जायेगा तो क्रियायुक्त होने से उस की व्यापकता का भंग होगा।

व्यतिरिक्त पक्ष को छोड़ कर अब अव्यतिरिक्त पक्ष का विचार करे — सामान्य को व्यक्ति से अव्यतिरिक्त नहीं मानेंगे तो व्यक्तिविशेष स्वलक्षण की भाँति वह भी विशेष रूप बन जायेगा और उस की सामान्यरूपता का भंग होगा। अथवा सामान्य से व्यतिरिक्त न होने से व्यक्ति के विशेषस्वरूप की हानि होगी। अतः सामान्य को व्यक्तिरूप यानी व्यक्ति से अव्यतिरिक्त मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, दोषसंगत है।

✽ व्यतिरेक-अव्यतिरेक पक्ष में दोषों का निराकरण ✽

यदि कहा जाय — व्यक्ति-जाति में व्यतिरेक-अव्यतिरेक यह तीसरा पक्ष मानेंगे तो अनवस्था, उभयपक्ष के दोष, व्यधिकरणता, संशय, विरोध आदि अनेक विपदा खड़ी होगी, नतीजा यह होगा कि सामान्यतत्त्व का ही लोप प्रसक्त होगा। — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनवस्थादि कोई भी दोष कथंचिद् व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त पक्ष में नहीं होता, कथंचिद् की यह महिमा है — यह पहले बताया जा चुका है। वास्तविकता तो यह है कि प्रमाण से वस्तु अनेकान्तस्वरूप ही जब प्रतीत होती है तब यदि उस में काल्पनिक विरोधादि दोषों का उद्भावन किया जायेगा तो, अन्य एकान्तस्वरूप से उस का प्रतिभास सम्भव न होने से 'सर्व शून्य' शून्यवाद ही दुष्टता फैलायेगा। 'अरे ! उसी को मान लेंगे' ऐसा कहना नादानीयत है, क्योंकि सब स्वानुभवमात्र के उच्छेद का महा दूषण प्रसक्त होगा। उपरांत, सर्वशून्यतावाद में प्रमाण भी शून्य हो जाने पर प्रमाणशून्य सर्वशून्यता का स्वीकार कौन करेगा ? प्रमाण के विरह में यदि सर्वशून्यता का स्वीकार करेंगे तो उस से बहुत अच्छा होगा कि प्रमाणसिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तु का स्वीकार कर लेना, क्योंकि निर्बाध प्रतीति उसी को विषय करती है।

✽ विविध मतों का एकान्त अनिष्ट, अनेकान्त इष्ट ✽

एकान्तवादियों की मान्यताएँ विचित्र है — ^१कोई मानता है, रूपादि सारे पदार्थ क्षणिक ही है। ^२कोई मानता है, जगत् क्षणिक विज्ञानमात्र ही है। ^३कोई मानता है कुछ भी नहीं है, सब शून्य है। ^४कोई मानता है, पृथिवी आदि एकान्त नित्य ही है। ^५कोई कहता है अद्वैतवाद ही वास्तविक है जिस में एकमात्र आत्मा की या ज्ञान की या शब्द की ही हस्ती है। ^६कोई कहता है परलोक कोई चीज नहीं है। ^७कोई कहता

‘हिंसातो धर्माभ्युपगमः, दीक्षातो मुक्तिप्रतिपादनम् इत्याद्येकान्तवादिप्रसिद्धं सर्वमसत् प्रतिपत्तव्यम्, तत्प्रतिपादितहेतुनां प्रदर्शितनीत्याऽनेकान्तव्याप्तत्वेन विरोधात्, इतरधर्मसव्यपेक्षस्यैकान्तवाद्यभ्युपगतस्य सर्वस्य पारमार्थिकत्वात् अभिष्वङ्गादिप्रतिषेधार्थं विज्ञानमात्राद्यभिधानस्य सार्थकत्वात्। तथाहि - ‘अहमस्यैव अहमेवास्य’ इत्येकान्तनित्यत्वस्वस्वामिसम्बन्धाभिनिवेशप्रभवरागादिप्रतिषेधपरं क्षणिकरूपादिप्रतिपादनं युक्तमेव। सालम्बनज्ञानैकान्तप्रतिषेधपरं विज्ञानमात्राभिधानम्। सर्वविषयाभिष्वङ्गनिषेधप्रवणं शून्यता-प्रकाशनम्। ‘क्षणिक एवायं पृथिव्यादिः’ इत्येकान्ताभिनिवेशमूलद्वेषादिनिषेधपरं तन्नित्यत्वप्रणयनम्। जात्यादिमदोन्मूलता(?ना) नुगुणमात्माद्यद्वैतप्रकाशनम्। ‘जन्मान्तरजनितकर्मफलभोक्तृत्वमेव धर्मानुष्ठानम्’ इत्येकान्तनिरासप्रयोजनं परलोकाभावावबोधनम्। द्रव्याद्यव्यतिरेकैकान्तप्रतिषेधाभिप्रायं तद्भेदाख्या-

है द्रव्य से गुणादि और गुणादि से द्रव्य सर्वथा भिन्न है। ‘कोई प्रतिज्ञा करता है ‘हिंसा से धर्म होता है’। ‘कोई कहता है संन्यास यानी दीक्षाग्रहण से मोक्ष होता है। यह सब एकान्तवादगर्भित विधान जूठे हैं। इन विधानों को सिद्ध करने के लिये बहुत सारे हेतु कहे जायेंगे लेकिन पूर्व में कहे मुताबिक वे सब हेतु एकान्त से नहीं किन्तु अनेकान्त से व्याप्ति रखते हैं अतः एकान्त की सिद्धि के बदले उस से विपरीत अनेकान्त को सिद्ध करने से वे हेतु प्रतिपक्ष में विरोधदोष से दूषित हो जाते हैं। यदि उन एकान्तवादियों के माने हुए विधानों में अन्य धर्मों की अपेक्षा जोड़ कर एकान्तवाद के विष की छटनी की जाय तो वे सारे विधान पारमार्थिक हो सकते हैं। कारण, रागादि दूषणों के निवारण के लिये ‘जगत् विज्ञानमात्र है’ इत्यादि विधान सार्थक यानी उपयोगी बन जाते हैं।

कैसे यह देखिये - (१) पदार्थों में एकान्त नित्यत्व की वासना से ‘यह मेरा, मैं उस का मालिक’ ऐसी दुर्भावना के कारण किसी पदार्थ या व्यक्ति के ऊपर ऐसा राग- यानी आसक्ति हो जाती है कि ‘मैं इसी का हूँ और मैं ही इस का (मालिक) हूँ।’ इत्यादि...जब वस्तु के स्थायित्व की बुद्धि तूटेगी तभी यह आसक्ति टलेगी, अतः आसक्ति के निवारण के लिये ‘ये सब रूप-रसादि विषय क्षण-भंगुर हैं’ ऐसा विधान नितान्त उचित है।

(२) ‘ज्ञान मात्र सविषय ही होता है’ ऐसे एकान्त अभिनिवेश से विषयों के प्रति झुकाव हो जाता है, अतः अभिनिवेश को तोड़ने के लिये ‘जगत् विज्ञानमात्र है’ ऐसा विधान उचित है।

(३) ज्ञान का अभिमान भी दूषण है, अतः विषय और ज्ञान, सभी के अभिनिवेश का निवारण करने के लिये ‘सब शून्य है’ ऐसा विधान शोभास्पद है।

(४) ये पृथ्वी आदि क्षणिक ही हैं, कल मेरे पास नहीं रहेगा, इस लिये आज ही उस के उपभोग को जी भर के मान लूँ..इत्यादि अभिनिवेश को दूर करने के लिये, अथवा नित्यपक्ष के प्रति द्वेषभावना आदि को दूर करने के लिये युक्तियुक्त नित्यत्व का प्रतिपादन सार्थक है।

(५) लोगों को अपनी जाति, अपने कुल इत्यादि का निरर्थक अभिमान रहता है और दूसरी जाति-कुल के प्रति घृणा-भाव हो जाता है। जब यह समझा जाय कि जगत् में आत्मा अद्वैत है, हम और वे सब एक आत्मा है, एक पानी की अनेक तरंग है, क्यों आपस में अभिमान-घृणा करना ? ऐसे सद्भाव की स्थापना के लिये आत्माद्वैतवाद सार्थक है।

(६) क्या ‘परलोक नहीं है’ ऐसा नास्तिक जैसा विधान भी पारमार्थिक मानेंगे ? जी हाँ, ‘मैं तो परलोक में किये हुए कर्म के फलों का ही उपभोग करता हूँ और यही धर्मानुष्ठान है’ ऐसे कदाग्रह को तोड़ने

नम्। अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्राणव्यपरोपणस्याऽहिंसात्वप्रतिपादनार्थं 'हिंसातो धर्मः' इति वचनम्, राग-द्वेष-मोह-तृष्णादिनिबन्धनस्य प्राणव्यपरोपणस्य दुःखसंवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वेन हिंसात्वोपपत्तेः।

अत एव वैदिकहिंसाया अपि तन्निमित्तत्वेऽपायहेतुत्वमन्यहिंसावत् प्रसक्तम्, न च तस्या अतन्निमित्तत्वम्, 'चित्रया यजेत पशुकामः' (शाबरभाष्य १-४-३) इति तृष्णानिमित्तश्रवणात्। न चैवंविधस्य वाक्यस्य प्रमाणताऽपि उपपत्तिमती, तत्प्राप्तिनिमित्ततद्विसोपदेशकत्वात् तृष्णादिवृद्धिनिमित्ततदन्य-तद्विघातोपदेशवाक्यवत्। न चापौरुषेयत्वादस्य प्रामाण्यम् तस्य निषिद्धत्वात्। न च पुरुषप्रणीतस्य हिंसाविधायकस्य तस्य प्रामाण्यम् 'ब्राह्मणो हन्तव्यः' इति वाक्यवत्। न च वेदविहितत्वात्तद्विहाया अहिंसात्वम् प्रकृतहिंसाया अपि तत्त्वोपपत्तेः। न च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति तद्वाक्यबाधितत्वात् प्रकृतहिंसायास्तद्विहितत्वम् 'न वै हिंस्रो भवेत्' इति वेदवाक्यबाधितचित्रादियजनवाक्यविहितहिंसावत्

के लिये परलोक का निषेध भी सार्थक है, उस से यह दर्शाने का अभिप्राय है कि इस जन्म में किये गये उग्र पापों का फल भी इसी जन्म में ही भुगतना पड़ेगा, परलोक की प्रतिक्षा मत करो। और फलभोग धर्मानुष्ठान नहीं है — फलत्याग धर्मानुष्ठान है।

(७) 'द्रव्य और गुणादि में अभेद ही होता है' ऐसी एकान्तवासना दूर करने के लिये उन के भेद का निरूपण सार्थक है।

(८) क्या 'हिंसा से धर्म होता है' यह विधान भी सत्य है ? जी हाँ, अनेकान्तवाद में सही अपेक्षा को समझने पर इस विधान में जो तथ्यांश है वह ध्यान में आयेगा। सही अपेक्षा यह है कि नितान्त अप्रमत्तभाव में निमग्न मुनियों से जो कहीं काययोग से अनिवार्य हिंसा वायुकाय आदि की होती है तो वह अहिंसारूप ही है, यह दिखाने के लिये 'हिंसा से भी धर्म होता है' ऐसा विधान मुनासिब है।

परमार्थ से तो हिंसा वही है जहाँ राग से, द्वेष से, मोह से, धनतृष्णादि से प्राणों का घात किया जाता है। यही सच्ची हिंसा, पापरूप हिंसा है क्योंकि उस से दुःखभोगफलक कर्म का बन्ध होता है। दीक्षा से मुक्ति की बात आगे होगी।

✽ वैदिक-हिंसा में सदोषत्व-मीमांसा ✽

कुछ लोग वैदिक यज्ञ-याग की हिंसा को निर्दोष मानते हैं, क्या वह भी सच है ? नहीं, वह हिंसा रागादिमूलक होने से लौकिक हिंसा की तरह ही नुकसानकारक होती है। वैदिक हिंसा, अप्रमत्तमुनि से होनेवाली वायुकायहिंसा की तरह रागादिअभावप्रेरित नहीं होती। 'पशु की कामनावाला चित्रायज्ञ करे' ऐसे वैदिक विधानों से स्पष्ट सुनाई देता है कि वैदिक हिंसा भी तृष्णामूलक है। पशुहिंसा का विधान करनेवाले वेदवाक्यों में प्रामाण्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि वे भौतिक समृद्धि के लिये की जानेवाली पशुहिंसा के उपदेशक हैं। जैसे कि अन्य नास्तिक लोगों के तृष्णादि की वृद्धि में निमित्तभूत पशुहिंसा का विधान करने वाले वाक्य।

यदि कहा जाय — वेदवाक्य अपौरुषेय होने से प्रमाणभूत हैं — तो यह गलत है क्योंकि कोई भी वाक्य अपौरुषेय नहीं हो सकता यह पहले कह आये हैं। अतः वेदवाक्य भी पुरुषरचित ही है और वे हिंसा का विधान करनेवाले हैं इस लिये 'ब्राह्मण का घात करना' ऐसे वाक्य की तरह अप्रमाण हैं। यदि कहा जाय कि 'वेदविहित पशुहिंसा अहिंसा है' — तो यह गलत है क्योंकि वेदविहित ब्राह्मणहिंसा को भी अहिंसा कहना पड़ेगा। यदि ब्राह्मणहिंसा, 'ब्राह्मण का घात न करना' ऐसे वेदवाक्य से बाधित होने से वेदविहित नहीं हो

✽. 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' - मनुस्मृति ८/३८०।

प्रकृतहिंसायास्तद्विहितत्वोपपत्तेः। अथ 'ब्राह्मणो हन्तव्यः' इति वाक्यं न क्वचिद् वेदे श्रूयते। न, उत्सन्नानेकशाखानां तत्राभ्युपगमात् तथा च 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' इत्यादिश्रुतिः।

अथ यज्ञादन्यत्र हिंसाप्रतिषेधः तत्र च तद्विधानम् यथा च 'अन्यत्र हिंसाऽपायहेतुः' इत्यागमात् सिद्धम् तथा तत एव तत्र स्वर्गहेतुः इत्यपि सिद्धम्। न च यदेकदैकत्रापायहेतुः तत् सर्वदा सर्वत्र तथेत्यभ्युपगन्तव्यम् आतुर-स्वस्थभुजिक्रियावदवस्थादिभेदेन भावानां परस्परविरुद्धफलकर्तृत्वोपलम्भात्। असम्यगेतत्, तृष्णादिनिमित्तता च प्रकृतहिंसेति प्रतिपादितत्वात्। न च यन्निमित्तत्वेन यत् प्रसिद्धम् तत् फलान्तरार्थित्वेन विधीयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्त्तयति। यथा आयुर्वेदप्रसिद्धं दाहादिकं रुगपगमार्थितया विधीयमानं स्वनिमित्तं दुःखम्। क्लिष्टकर्मसम्बन्धहेतुतया च मखविधानादन्यत्र हिंसादिकं शास्त्रे प्रसिद्धिमिति सप्ततन्तावपि तद् विधीयमानं काम्यमानफलसद्भावेऽपि तत्कर्मनिमित्तं

सकती ऐसा कहा जाय तो वह भी गलत है, क्योंकि 'हिंसक न होना' ऐसे वेदवाक्य से बाधित होने पर भी जैसे चित्रादियज्ञवाक्य से विहित पशुहिंसा को वेदविहित आप मानते हैं वैसे ही ब्राह्मणहिंसा को भी वेदविहित मानने में कोई बाध नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय - 'ब्राह्मण को मारना' ऐसा वाक्य वेद में कहीं भी श्रुतिगोचर नहीं होता - तो यह भी ठीक नहीं है, श्रुतिगोचर न होने पर भी वह उन वेदों में हो सकता है जो आज विच्छिन्न हो चुका है। आप भी 'सामवेद के हजारों मार्ग हैं' इत्यादि महाभारत (१-१-१) के वाक्य से वेद की अनेक शाखाएँ विच्छिन्न हो चुकी हैं इस तथ्य का स्वीकार कर चुके हैं।

✽ याज्ञिक हिंसा का बचाव निष्फल ✽

यदि कहा जाय - यज्ञबाह्य हिंसा का निषेध है, यज्ञ में हिंसा का निषेध नहीं किन्तु विधान किया गया है। 'अन्यत्र, यानी यज्ञ के सिवाय हिंसा नुकशानकारक है' इस वेदवाक्य से जैसे 'यज्ञ में हिंसा विहित है' यह सिद्ध होता है उसी तरह वेदवाक्य से 'यज्ञ में हिंसा स्वर्ग की हेतु है' यह भी सिद्ध है। इस में क्या विरोध है ? जो आचरण किसी एक देश-काल में नुकशान करता है वह सभी देश-काल में नुकशान ही करे ऐसा मानना गलत है, क्योंकि बिमार पुरुष की भोजन क्रिया उस को नुकशान करती है किन्तु वही भोजनक्रिया स्वस्थ पुरुष को पुष्टिकारक होती है। इसी तरह अवस्थादिभेद से एक ही भाव (= पदार्थ) परस्पर विरुद्ध लाभ-हानि आदि फल को जन्म देता है यह देखा जाता है। - यह निरूपण गलत है। कारण, सभी शास्त्रों में यह बात निर्विवाद कही गयी है कि तृष्णादिमूलक हिंसा नुकशानकारक है। वैदिक यज्ञादि में भी हिंसा समृद्धि आदि के लिये की जाती है अतः तृष्णादिमूलक ही है यह पहले कहा जा चुका है।

यहाँ इस तथ्य के प्रति ध्यान देना जरूरी है कि जो अनुष्ठान जिस के उत्पादहेतुरूप में प्रसिद्ध है वह यदि अन्य किसी फलकामना से किया जाय तो भी उस का जो प्रसिद्ध औत्सर्गिक दोषरूप फल है (जिस का वह उत्पादक हेतु है) उस को न उत्पन्न करे ऐसा नहीं है। उदाहरण- दाह जलन की पीडा का उत्पादक हेतु है, इस लिये आयुर्वेदशास्त्र में सामान्यतः उस का निषेध है, किन्तु किसी विशेष बिमारी को दूर करने के लिये दाह का आयुर्वेदशास्त्र में विधान भी किया गया है। किन्तु इस का मतलब यह नहीं है कि वह आयुर्वेदशास्त्र से विहित होने के कारण जलन की पीडा को नहीं करेगा। ठीक इसी तरह यज्ञविधायक वाक्यों से भिन्न वेदवाक्यों के द्वारा हिंसा का निषेध इसी लिये किया गया है कि हिंसा क्लिष्ट कर्मबन्ध की हेतु है। अतः यदि सप्ततन्तु आदि वेदविहित अनुष्ठानों में हिंसा करने से कदाचित् कामित फलसिद्धि हो या न भी हो, किन्तु क्लिष्टकर्म का बन्ध हुए विना नहीं रहेगा।

तद् भवत्येव । न च हिंसातः स्वर्गादिसुखप्राप्तावसुखनिर्वर्तकक्लिष्टकर्महेतुता असंगता, नरेश्वराराधन-निमित्तब्राह्मणादिलाभजनितसुखसंप्राप्तौ तद्वधस्यापि तथात्वोपपत्तेः । अथ ग्रामादिलाभो ब्राह्मणा-दिवधनिर्वर्त्तितादुष्टनिमित्तो न भवति तर्हि स्वर्गादिप्राप्तिरप्यध्वरविहिताहिंसानिर्वर्त्तिता न भवतीति समानम् ।

अथाश्वमेधादावलभ्यमानानां छागादीनां स्वर्गप्राप्तेः न तद्धिंसा हिंसेति — तर्हि संसारमोचक-विरचिताऽपि तत एव हिंसा न हिंसा स्यात्, देवतोद्देशतो म्लेच्छादिविरचिता च ब्राह्मणगवादिहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तदागमस्याप्रमाणत्वान्न तदुपदेशजनिता हिंसा अहिंसेति । ननु वेदस्य कुतः प्रामाण्यसिद्धिः ? न गुणवत्युरुषप्रणीतत्वात्, परैस्तस्य तथाऽनभ्युपगमात् । नाऽपौरुषेयत्वात् तस्याऽसम्भवात् । तन्न प्रदर्शिताभिप्रायाद् विना हिंसातो धर्माऽवाप्तिर्युक्ता ।

यदि कहा जाय — वेदविहित हिंसा में वेदवाक्य से जब स्वर्गादिसुखप्राप्तिफल सिद्ध है तब उस में दुःख-जनकक्लिष्टकर्मबन्ध की हेतुता मानना उचित नहीं है । — तो यह ठीक नहीं है । कोई पुरुष किसी नरेन्द्र को प्रसन्न करने के लिये उस नरेन्द्र के दुश्मन बने हुए ब्राह्मण का वध करता है तब खुश हो कर राजा उस को गाँव आदि सम्पत्ति बक्षिस देता है । यहाँ ब्राह्मणहत्या से सम्पत्ति आदि सुख का लाभ हुआ उस का मतलब यह नहीं है कि ब्राह्मणहत्या में दुःखजनककर्मबन्धहेतुता रद्द हो जाय । यदि कहा जाय — ब्राह्मण हत्या से गाँव आदि सम्पत्ति का लाभ, हत्याजनित अदृष्टमूलक नहीं होता, इस लिये वहाँ क्लिष्टकर्मबन्ध हो सकता है जब कि यज्ञादि की हिंसा से स्वर्गादिसुख की प्राप्ति हिंसाजनित अदृष्टमूलक होती है इस लिये यहाँ क्लिष्टकर्मबन्ध नहीं होगा । — तो यह ठीक नहीं है । यहाँ भी कह सकते हैं कि यज्ञगत हिंसा से स्वर्गादि की प्राप्ति भी वेदविहित हिंसाजनित अदृष्टमूलक नहीं है (किन्तु किसी देवतादि की प्रसन्नता आदि से ही हो सकती है ।) अतः वेदविहित हिंसा से क्लिष्टकर्मों का बन्ध होना दुनिवार है ।

❀ वेदमत एवं संसारमोचकमत में क्या विशेष ? ❀

यदि कहा जाय — अश्वमेधादि यज्ञों में वध किये जाने वाले छाग आदि को स्वर्गप्राप्ति का लाभ होता है । अतः यज्ञ की हिंसा वस्तुतः हिंसा नहीं है । — तो संसारमोचकमतवादी, जो मानता है कि जीवों को मार देने से उन की संसार के सारे दुःखों से मुक्ति हो जाती है, उस की ओर से की जानेवाली हिंसा भी दुःखमोक्ष के लाभ के कारण वस्तुतः हिंसा नहीं होगी । तथा, क्षेत्रदेवता आदि को प्रसन्न करने के लिये अनार्यादि लोग ब्राह्मण या गौआदि को मारते हैं तो वहाँ भी वस्तुतः हिंसा नहीं कही जा सकेगी । कारण, उन के मत से वध किये जानेवाले गो-ब्राह्मण आदि को उस देवता का सांनिध्य और कृपा का लाभ होता है । यदि कहा जाय — ‘संसारमोचक और अनार्य आदि के शास्त्र प्रमाणभूत नहीं है अतः उन शास्त्रों से विहित हिंसा को अहिंसा नहीं कह सकते ।’ — तो अरे महानुभव ! आप के वेद का भी प्रामाण्य कहाँ सिद्ध है ? वह भी अप्रमाण क्यों न माना जाय ? ‘गुणवान पुरुषों ने वेद की रचना किया है इस लिये उस को अप्रमाण नहीं मानेंगे’ — ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि हम उसे गुणवान पुरुषों की रचना नहीं मानते । अपौरुषेय होने से वेद को प्रमाण बताना ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी शास्त्र अपौरुषेय हो नहीं सकता ।

निष्कर्ष, हमने पहले जो अभिप्राय कहा है कि अप्रमत्तभाव में अवस्थित मुनि से होने वाली हिंसा अहिंसा है — इस अभिप्राय (अपेक्षा) के स्वीकार के विना हिंसा से धर्मप्राप्ति का विधान उचित नहीं हो सकता ।

परमप्रकर्षविस्थज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मकमुक्तिमार्गस्य 'दीक्षा' शब्देनाभिधाने दीक्षातो मुक्तिरूपपन्नैव, अविकलकारणस्य कार्यनिर्वर्तकत्वात् अन्यथा कारणत्वाऽयोगात्। तत्र तद्भक्त्युपादानार्थं चैवमभिधानाददोषः। न हि तद्भक्त्यभावे उपादेयफलप्राप्तिनिमित्तसम्यग्ज्ञानादिपुष्टिनिमित्तदीक्षाप्रवृत्तिप्रवणो भवेत्। तन्नान्यपरत्वं प्रदर्शितवचसामभ्युपगन्तव्यम्। तथाऽभ्युपगमे वाऽनाप्तत्वं तद्वादिनां प्रसज्येत तत्र पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः ॥६०॥

ये त्वविवेचितागमप्रतिपत्तिमात्रमाश्रयन्ते तेऽनवगतपरमार्था एवेति प्रतिपादयन्नाह -

पाडेक्कनयपहगयं सुत्तं सुत्तहरसद्दसंतुट्ठा।

अविकोवियसामत्था जहागमविभत्तपडिवत्ती ॥६१॥

प्रत्येकनयमार्गगतं सूत्रम् - "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः ! यदिदं त्रैधातुकम्।" () इति, 'ग्राह्यग्राहकोभयशून्यं तत्त्वम्' () इति, 'नित्यमेकमण्डव्यापि निष्क्रियम्' () इत्यादि, 'सदकारणवद् नित्यम्' (वैशे० द० ४-१-१) इति, 'आत्मा रे श्रोतव्यो ज्ञातव्यो

✽ दीक्षा-अंगीकार से मोक्षप्राप्ति के विधान का तात्पर्य ✽

'दीक्षा से मोक्ष होता है' यह विधान भी संगत है यदि अनेकान्तवाद का आश्रयण कर के 'दीक्षा' शब्द का यह अर्थ माना जाय कि प्रकृष्ट अवस्था को प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह मुक्ति का मार्ग है और यही दीक्षा है। सिर्फ वेषपरिवर्तनस्वरूप दीक्षा से मुक्ति की प्राप्ति संगत नहीं है। जिस कार्य की जो कारणसामग्री होती है वह सम्पूर्ण उपस्थित रहने पर ही कार्य का जन्म होता है, अन्यथा उस को कारण भी कौन कहेगा ? तात्पर्य, अकेले चारित्र से मुक्ति नहीं होती किन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक सम्पूर्ण सामग्री से ही मोक्ष होता है। वैसे मोक्षमार्गस्वरूप दीक्षा में भक्ति-बहुमान-आदर को उत्पन्न करने के लिये 'दीक्षा से मोक्ष होता है' ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है। यदि दीक्षा के प्रति भक्ति-बहुमान उत्पन्न नहीं होगा तो कोई भी जीव मोक्षस्वरूप जो उपादेय फल है उस की प्राप्ति में प्रबल निमित्तभूत ज्ञानादि की पुष्टि करनेवाली दीक्षा का ग्रहण करेगा ही नहीं। तब मोक्ष कैसे होगा ?

एकान्तवादी 'हिंसा से धर्म' ऐस विधानों में हिंसा आदि शब्दों के अर्थ की ऊपर बताये हुए अर्थ से विपरीत कल्पना कर के हिंसादि शब्दों को अन्यार्थपरक यानी वैदिकहिंसादिपरक बताते हैं वह आदरणीय नहीं है, क्योंकि उस में बाध है, अतः वैसे अर्थ को मान्य करेंगे तो उन के उपदेशक ऋषि आदि में अनाप्तता यानी अविश्वसनीयता प्रगट होगी। अनाप्तता के कारण एकान्तवाद में बताये हुए सभी दोषों का पुनरागमन होगा। इसलिये अनेकान्तवाद ही श्रेयस्कर है ॥६०॥

✽ सूत्रधरशब्द से संतुष्ट जनों को उपालम्भ ✽

कुछ विद्वान बुद्धि से विचार किये विना ही आगमसूत्र का उपरि सतह से सोच कर अर्थ कर लेते हैं। वास्तव में उन को परमार्थ का बोध नहीं होता - इस तथ्य को ६१ वीं कारिका से उजागर कर रहे हैं -

गाथार्थ :- एक एक नयमार्ग बोधक सूत्र का अभ्यास कर के (कुछ लोग) 'सूत्रधर' शब्द मात्र से खुश खुश हो जाते हैं। किन्तु वे अविकसितसामर्थ्यवाले हैं क्योंकि विना विवेक यथाश्रुत अर्थ को मान लेते हैं ॥६१॥

व्याख्यार्थ :- कुछ पंडित ऐसे हैं कि जिन के लिये लोग 'सूत्रधर' यानी 'बहुश्रुत' शब्द का प्रयोग कर ले तो वे तुष्ट-पुष्ट हो जाते हैं - स्वयं गर्व कर लेते हैं कि हम भी 'पंडित' हैं, 'बहुश्रुत' हैं, 'श्रुतधारी' है। ऐसे

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० उ० २-४-५) इत्यादि, 'सत्ता-द्रव्यत्वसम्बन्धात् सद् द्रव्यं वस्तु' () इति, 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः' (), 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसाद० १-१-२) इति, 'धर्माधर्मक्षयकरी दीक्षा' () इत्यादिकमधीत्य 'सूत्रधरा वयम्' इति शब्दमात्रसंतुष्टाः गर्ववन्तः अविकोविदसामर्थ्याः अविकोविदम् अज्ञं सामर्थ्यं येषां ते तथाऽविदितसूत्रव्यापारविषया इति यावत्। किमित्येवं ते ? इत्याह — यथाश्रुतमेव अविभक्ता अविवेकेन प्रतिपत्तिरेषामिति कृत्वा सूत्राभि-प्रायव्यतिरिक्तविषयविप्रतिपत्तित्वात् इतरजनवद् अज्ञा इत्यभिप्रायः। अथवा स्वयूध्या एव एकनयदर्शनेन कतिचित् सूत्राणि अधीत्य केचित् 'सूत्रधरा वयम्' इति गर्विता यथावस्थितान्यनयसव्यपेक्षसूत्रार्थाऽ-परिज्ञानाद् अविदितात्मविद्वत्स्वरूपा इति गाथाभिप्रायः ॥६१॥

अथैषामेकनयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुद्भावयितुमाह —

सम्महंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिहोसं।

अत्तुक्कोसविणट्ठा सलाहमाणा विणासेति ॥६२॥

बहुश्रुत बन जाने के लिये वे लोग विभिन्न शास्त्रों के कुछ ऐसे सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेते हैं जो एक एक नयावलम्बी होते हैं। जैसे — बौद्धों का एक सूत्र है — 'सभी संस्कार क्षणिक हैं। हे जिनपुत्रों ! यह जो तीन धातु से बना जगत् है वह समूचा विज्ञानमात्र ही है !' यहाँ पर्यायार्थिक नय को लेकर क्षणिकत्व का और संग्रहनयगर्भित ज्ञाननय के आलम्बन से विज्ञानमात्र का निरूपण किया गया है। संग्रहनय के सातिरेक आलम्बन से किसी ने कहा है कि 'तत्त्व तो यही है कि न ग्राह्य है न ग्राहक है, सब शून्य है।' द्रव्यार्थिक संग्रहनय के आलम्बन से किसीने कहा है — 'सारे अण्ड यानी ब्रह्माण्ड में व्यापक और नित्य एक ही तत्त्व है।' द्रव्यार्थिक नय को ही पकड़ कर वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि 'कारणजन्य न होते हुए भी जो सत् होता है वह नित्य है।' आत्मा को ही सुनो, जानो, मनन करो, निदिध्यासन करो। भेदनय का आलम्बन ले कर कहा गया है कि सत्ता जाति के योग से वस्तु सत् होती है और द्रव्यत्व जाति के योग से वस्तु द्रव्यरूप होती है। नकारात्मक दृष्टि से किसीने कहा है कि परलोकप्रस्थायी आत्मा जैसा कोई तत्त्व न होने से परलोक भी नहीं है। वेदसर्वस्ववादी किसीने कहा है कि 'वेद के विधिवाक्य से जिस कर्त्तव्य की प्रेरणा की जाती है वही धर्म है।' मोक्षवादीयों का कहना है कि 'धर्म और अधर्म दोनों का सम्पूर्ण क्षय करनेवाली जो है यही दीक्षा है।'

जिन पंडितों के ज्ञान का क्षयोपशम इतना विकसित और व्यापक नहीं बना है, जो सूत्रप्रयोग के विविध विस्तृत विषय को जान नहीं पाये हैं वे ऊपर बताये गये सूत्रों का विविध नयों से समीक्षण किये बिना ही अपने मनमाने अर्थ कर लेते हैं और स्वयं पंडित या शास्त्री होने का गर्व धारण करते हैं। सूत्रकार महर्षि ऐसे पंडितों को ज्ञानसामर्थ्य से शून्य दिखाते हैं। उस का कारण यह है कि वे लोग सूत्र का विविध नय — दृष्टिकोणों से विवेचन - विचार - परामर्श किये बिना ही सूत्र के आपातदृष्टिगोचर यथाश्रुत अर्थ को पकड़ कर खिँचातानी करने लग जाते हैं। उन को अज्ञ कहने का यही कारण है कि वे लोग सूत्राभिप्राय के वास्तविक विषयभूत अर्थ को छोड़ कर, अन्य सामान्यबुद्धिवालों की तरह अन्य अर्थ को ही स्वीकार लेते हैं।

व्याख्याकार 'अथवा' कर के अन्य एक अभिप्राय का निर्देश करते हैं कि अपने ही समानधर्मी (दिगम्बरादि) पंडितवर्ग किसी एक नयदृष्टि को अपना कर कुछ सूत्र पढ़ लेते हैं और फिर गर्व करते हैं कि 'हम भी सूत्रधर हैं'। किन्तु उन लोगों को यथार्थ अन्यान्यसापेक्ष सूत्रार्थ का भान नहीं होता इस लिये वे अपनी विद्वत्ता का यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर सकते। यह गाथा का अभिप्राय है ॥६१॥

सम्यग्दर्शनमेतत् परस्परविषयाऽपरित्यागप्रवृत्तानेकनयात्मकम् तच्च 'स्यान्नित्यः' इत्यादि सकलधर्म-परिसमाप्तवचनीयतया निर्दोषम्, एकनयवादिनस्त्वविषये सूत्रव्यवस्थापनेन आत्मोत्कर्षेण विनष्टाः स्याद्वादाभिगमं प्रति अनाद्रियमाणा 'वयं सूत्रधराः' इत्यात्मानं श्लाघमानाः सम्यग्दर्शनं विनाशयन्ति - तदात्मनि न व्यवस्थापयन्तीति यावत् ॥६२॥

अथ न ते आगमप्रत्यनीकाः तद्भक्तत्वात्, तद्देशपरिज्ञानवन्तश्चेति कथं तद् विनाशयन्तीति ? अत्राह—

ण हु सासणभक्तीमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होई ।

ण विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णामं ॥६३॥

न च शासनभक्तिमात्रेणैव सिद्धान्तज्ञाता भवति । न च तदज्ञानवान् भावसम्यक्त्ववान् भवति अज्ञात-स्यार्थस्य विशिष्टरुचिविषयत्वानुपपत्तेः । तद्भक्तिमात्रेण श्रद्धानुसारितया द्रव्यसम्यक्त्वं मार्गानुसार्यवबोध-मात्रानुषक्तरुचिस्वभावं तु सदपि न भावसम्यक्त्वसाध्यफलनिर्वर्तकम् भावसम्यक्त्वनिमित्तत्वेनैव तस्य द्रव्यसम्यक्त्वरूपत्वोपपत्तेः । न च जीवादितत्त्वैकदेशज्ञाताऽपि नियमतोऽनेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपप्रज्ञा-

*** निर्दोष सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप ***

एक ही नय को पकड़ कर खिँचातानी करने वाले को क्या नुकसान होता है यह ६२ वीं गाथा में बताया जा रहा है -

गाथार्थ :- सकल धर्मों में समाप्त- पर्याप्त होने वाले निरूपण से सम्यग्दर्शन निर्दोष रहता है । अपने उत्कर्ष से विनष्ट पंडितगण आत्मश्लाधा से सम्यग्दर्शन का नाश करते हैं ।

व्याख्यार्थ :- दर्शन यानी शुद्ध प्रतिपादन । यह तभी शुद्ध अर्थात् सम्यग् कहा जाता है जब अन्य-अन्य नय के विषयों की उपेक्षा किये विना अनेक नयों से गर्भित हो । 'स्याद् नित्यः' इस ढंग से वस्तुमात्र को अन्य अनित्यत्वादि धर्मों को सापेक्ष रह कर कथंचित् नित्यता का प्रतिपादन होना चाहिये । ऐसा 'स्यात्' गर्भित वचनीयत्व यानी निरूपण, वस्तु के अन्य समस्त धर्मों को भी गौणरूप से विषय करता है । इस ढंग से ही सम्यग्दर्शन दोष से अलिप्त रह सकता है । जो एक एक नय की खिँचातानी करनेवाले वादी हैं वे सूत्र को अविषय में यानी अयथार्थ विषय में जोड़ कर अपना उत्कर्ष करने से बाज नहीं आते । आखिर तो वे अपने उत्कर्ष से स्वयं नष्ट होते हैं । स्याद्वाद शैली का अनादर करनेवाले ऐसे पंडितगण 'हम सूत्रधर-बहुश्रुत हैं' ऐसी आत्मश्लाधा में डूब कर सम्यग्दर्शनगुण का विनाश करते हैं, सम्यग्दर्शन को आत्मसात् नहीं करते ॥६२॥

*** शासनभक्ति में सिद्धान्तज्ञान का महत्व ***

प्रश्न :- वे पंडित भी आगमभक्त होने से शासन के दुश्मन नहीं होते, कुछ आगम के अंशों के ज्ञाता भी होते हैं, फिर वे सम्यग्दर्शन का विनाश कैसे कर बैठेंगे ?

उत्तर :- सूत्रकार कहते हैं -

गाथार्थ :- शासन की भक्ति होने मात्र से कोई सिद्धान्तों का ज्ञाता नहीं हो जाता । तथा, कुछ जानकारी हो जाने मात्र से वह अवश्य सुनिश्चित प्ररूपणा करने वाला नहीं हो जाता ॥६३॥

व्याख्यार्थ :- जैन शासन पर भक्तिभाव हो जाना सरल है, किन्तु भक्ति मात्र से कोई सिद्धान्तज्ञाता

पनायां निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतः सकलधर्मात्मकवस्तुज्ञानविकलतथा सम्यक् तत्प्ररूपणाऽ-सम्भवात्। तथाहि — सर्वज्ञो यथावस्थितैकदेशज्ञः। जीवादिसकलतत्त्वज्ञता त्वागमविदः सामान्यरूप-तयाऽभिधीयते 'मति-श्रुतयोर्निबन्धो (सर्व) द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' (तत्त्वार्था० १-१७) इति वचनात्।

तत्त्वं तु जीवाऽजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः। तत्र चेतनालक्षणोऽर्थो जीवः तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः। धर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलभेदेन त्वसौ पञ्चधा व्यवस्थापितः। एतत्पदार्थद्वयान्तर्वर्तिनश्च सर्वेऽपि भावाः। न हि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः साधारणाऽसाधारणरूपा मूर्त्ताऽमूर्त्तचेतनाऽचेतनद्रव्यगुणाः उत्क्षेपणाऽपक्षेपणादीनि च कर्माणि, सामान्य-विशेष-समवायाश्च जीवाऽजीवव्यतिरेकेणाऽऽत्मस्थितिं लभन्ते, तद्भेदेनैकान्ततस्तेषामनुपलम्भात् तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेरन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः। ततो जीवाऽजीवाभ्यां पृथक् जात्यन्तरत्वेन द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-

नहीं हो जाता। सिद्धान्तों का सुनिश्चित गहरा ज्ञान न होने पर भावतः सम्यक्त्व भी नहीं होता। कारण यह है कि जिस को सैद्धान्तिक अर्थ का ज्ञान नहीं है, उस को उस विषय में तदनु रूप विशिष्ट प्रकार की रुचि होना भी सम्भव नहीं है, भाव सम्यक्त्व विशिष्टरुचिस्वरूप है। हाँ, शासन की भक्ति हो तब श्रद्धाभावमूलक द्रव्यसम्यक्त्व हो सकता है जो कि मार्गानुसरणानुकुलबोधमात्र से अनुषक्त रुचिस्वरूप होता है। वैसा द्रव्यसम्यक्त्व होने मात्र से साध्य फल की प्राप्ति होना शक्य नहीं है, साध्यफल की प्राप्ति सिर्फ भावसम्यक्त्व से ही होती है। श्रद्धागर्भित मार्गानुसारिबोधगर्भित रुचि में द्रव्य सम्यक्त्व का व्यवहार भी इसी लिये किया जाता है कि वह साक्षात् या परम्परया भावसम्यक्त्व का निमित्त बनता है।

गाथा के उत्तरार्ध में यह बात स्पष्ट की गयी है कि जीवादितत्त्वों के लेशमात्र को जाननेवाला अभ्यासी अनेकान्तात्मक वस्तु के निरूपण में सुनिश्चितरूप से निपुण ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस को सिर्फ आंशिक ज्ञान है उसे सकलधर्मों से आश्लिष्ट संपूर्ण वस्तु का ज्ञान न होने से सम्यग् अनेकान्तात्मक वस्तु की प्ररूपणा की आशा उस से नहीं की जा सकती। वास्तव में तो सर्वज्ञ ही यथार्थरूप से वस्तु के एक देश का ज्ञाता हो सकता है। आगमाभ्यासी श्रुतज्ञानी को जीवादि सकलतत्त्वों का ज्ञाता बताया जाता है वह सामान्यरूप से न कि विशेषरूप से अर्थात् सकलपर्यायों के ज्ञान से नहीं, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में श्वेताम्बर जैन आचार्य उमास्वातिजीने यह स्पष्ट कहा है कि मति और श्रुत का विषयक्षेत्र (सर्व) द्रव्य है किन्तु सर्वपर्याय नहीं।

✽ सात तत्त्व, दो पदार्थ की व्यवस्था ✽

भावसम्यक्त्व यथार्थ जीवादि तत्त्वों के ज्ञान पर अवलम्बित है इस लिये व्याख्याकार जीवादि सात तत्त्वों पर प्रकाश डालते हैं — जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ तत्त्व है।

चैतन्यमय पदार्थ जीव है, उस से विपरीत यानी चेतनाशून्य पदार्थ अजीव (जड) है। अजीव पदार्थ के पाँच भेद है — धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। विश्व के समस्त भावों का अन्तर्भाव 'जीव और अजीव' दो पदार्थों में हो जाता है। वैशेषिक दर्शन में जो छ पदार्थ बताये गये हैं उन का भी अन्तर्भाव इन दो जीव-अजीव पदार्थों में ही हो जाता है। पृथ्वी आदि द्रव्यों के रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि तथा आत्मद्रव्य के ज्ञान-इच्छादि गुण; कोई सामान्यगुण कोई विशेष गुण, कोई चेतन द्रव्य के गुण, कोई मूर्त्त अचेतन द्रव्य के गुण और कोई अमूर्त्त अचेतन द्रव्य के गुण, तथा उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुंचन-प्रसारण-गमन ये पाँच क्रियाएं (कर्म), तथा सामान्य, विशेष और समवाय ये सभी पदार्थ, जीव-अजीवयुगल के क्षेत्र से बाहर एक कदम भी नहीं रख सकते, क्योंकि जीव अथवा अजीव के एकान्त पृथग्भाव

विशेष-समवाया न वाच्याः। एवं प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानि च न पृथगभिधानीयानि। तथा,

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानिः॥ (सां०का० २२)

चतुर्विंशतिः पदार्थाः पुरुषश्चेति न वक्तव्यम्। तथा, दुःख-समुद(दा?) य-मार्ग-निरोधाश्चत्वारि आर्यसत्यानीति न वक्तव्यम्। तथा 'पृथिवी आपः तेजः वायुः इति तत्त्वानि' इति न वक्तव्यम्। तत्प्रभेदरूपतयाऽभिधानेऽपि न दोषो जात्यन्तरकल्पनाया एवाघटमानत्वात्, राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात् तदव्याप्तस्य शशशुद्धतुल्यत्वात्। शब्दब्रह्माद्येकान्तस्य च प्राक् प्रतिषिद्धत्वात्, अबाधित-रूपोभयप्रतिभासस्य तथाभूतवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितत्वात्, विद्याऽविद्याद्वयभेदात् द्वैतकल्पनायामपि त्रित्वप्रसक्तेः, बाह्यालम्बनभूतभावापेक्षया विद्यात्वोपपत्तेः। अन्यथा निर्विषयत्वेन उभयोरविशेषात् तत्प्रतिभागस्याऽघटमानत्वात्। न हि द्वयोर्निरालम्बनत्वे विपर्यस्ताऽविपर्यस्तज्ञानयोरिव विद्यात्वाऽविद्या-त्वभेदः। ततो नाऽद्वयं वस्तु, नापि तद्व्यतिरिक्तमस्ति।

रखते हुए कभी वे उपलब्धिगोचर नहीं होते। यह अनुभवसिद्ध है कि द्रव्य-गुणादि पदार्थ या तो जीव-अभिन्न हैं या अजीव-अभिन्न हैं। यदि वे जीवाजीव इन दोनों से भिन्न होंगे तो उन को शशसींग की भाँति असत् कक्षा में जाना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव या अजीव से सर्वथा पृथक् विजातीय रूप से द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष और समवाय का निर्वाचन नहीं करना चाहिये।

नैयायिकों ने १६ पदार्थों की सूची बनायी है - प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद-जल्प-वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। किन्तु जीव-अजीव से पृथक् इन का निर्वाचन-परिगणन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन सभी का अन्तर्भाव जीव या अजीव में अभेदभाव से हो जाता है।

✽ सांख्य-बौद्ध-वेदान्त दर्शन के पदार्थों का निराकरण ✽

तथा, सांख्यमत में २५ पदार्थ गिनाये हैं। पुरुष और प्रकृति ये दो मुख्य पदार्थ हैं। प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व का जन्म होता है, बुद्धि से अहंकार और अहंकार से अन्य षोडशवर्ग का जन्म होता है :- पाँच सूक्ष्मभूत (तन्मात्रा) - पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश, पाँच ज्ञानेन्द्रिय-स्पर्शन-रसना-घ्राण-नेत्र-श्रोत्र, पाँच कर्मेन्द्रिय- पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और वाक्, सोलहवाँ मन है। षोडशवर्ग-अन्तर्गत पाँच सूक्ष्मभूतों से पाँच स्थूल भूतों का पञ्चीकरणप्रक्रिया से जन्म होता है। एक पुरुष और प्रकृति आदि २४, सब मिला कर २५ पदार्थ होते हैं। ये सब पुरुष और प्रकृति अथवा जीव और अजीव पदार्थों में समाविष्ट हो जाते हैं, अतः उनका स्वतन्त्र पदार्थरूप से परिगणन ठीक नहीं है। तथा,

बौद्धमत में, पदार्थ के रूप में चार आर्यसत्त्यों का निरूपण किया गया है दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध। इन का भी अन्तर्भाव जीवाजीवयुगल में हो सकता है इस लिये अलग कहने की जरूर नहीं है। नास्तिक लोग पृथ्वी-जल-तेज और वायु ये चार पदार्थ कहते हैं, किन्तु (जीव या) अजीव में उस का समावेश हो जाने से पृथक् दिखाने की जरूर नहीं है। हाँ, यदि द्रव्य-गुण आदि को, या महत्-अहंकार आदि को जीव या अजीव के उपभेदों के रूप में कहा जाय तो कोई हरकत नहीं है। हम तो इतना कहते हैं कि

अथास्रवादीनामप्यनुपपत्तिः राशिद्वयेन सकलस्य व्याप्तत्वात्। न, ततस्तेषां कथंचिद्भेदप्रतिपादनार्थत्वात्। अनयोरेव तथापरिणतयोः सकारणसंसार-मुक्तिप्रतिपादनपरत्वात् तथाभिधानस्यानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वप्रदर्शनार्थत्वात् विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वाद् वा तदभिधानस्याऽदुष्टता। तथाहि — आस्रवति कर्म यतः स आस्रवः काय-वाग्-मनोव्यापारः। स च जीवाऽजीवाभ्यां कथंचिद्भिन्नः तथैव प्रतीतिविषयत्वात्। अथ बन्धाभावे कथं तस्योपपत्तिः ? प्राक् तत्सद्भावे वा न तस्य

उन को जीव या अजीव से विजातीय मान कर पृथक् बताना यही असंगत है, क्योंकि शास्त्रकारों ने जो जीवराशि अजीवराशि ऐसे राशियुगल दिखाया है वह सारे विश्व में व्यापक है, कोई भी पदार्थ उन के घेरे से बाहर नहीं है। यदि कोई जीव या अजीव राशि के बाहर का पदार्थ होगा तो वह जरूर शशसींग की तरह असत् होगा।

तथा, शब्दवादियों ने जो एक मात्र शब्दाद्वैत का, वेदान्ती वादियों ने एक मात्र ब्रह्मादि-अद्वैत का निरूपण किया है उस का तो पूर्वग्रन्थ में विस्तार से प्रतिकार किया जा चुका है। अद्वैतवाद के सामने जीवाजीवद्वैत का प्रस्थान करनेवाले निर्बाध द्वैतानुभव का समर्थन किया जा चुका है। विद्या-अद्वैत की स्थापना करनेवालों को कैसे भी आखिर दूसरे अविद्या पदार्थ को माना ही पडता है और विद्या-अविद्या के युगल को सालम्बन ही मानना होगा, फलतः आलम्बन अर्थात् विषय के रूप में तीसरा पदार्थ भी बलात् गले पडेगा। यदि विद्या का कोई बाह्य विषयभूत भाव ही नहीं होगा तो उस को किस की विद्या बतायेंगे ? यदि न कोई विद्या का विषय है, न कोई अविद्या का विषय है तब तो दोनों को प्रमाणभूत या अप्रमाणभूत समानरूप से मानना पडेगा, फिर उन दोनों में भेद क्या रहेगा ? विषय के संवादित्व-असंवादित्व के आधार पर ही विद्या-अविद्या का भेद किया जा सकता है। एक ज्ञान विपर्यस्त और दूसरा अविपर्यस्त यानी एक मिथ्या और दूसरा सम्यक् है ऐसा भेद, आलम्बनभूत विषय पर निर्भर रहता है। यदि दोनों ही ज्ञान निरालम्बन है तो विद्या किस को कहेंगे, अविद्या किस को कहेंगे ? निष्कर्ष यह है — वस्तु अद्वैतात्मक नहीं है और जीवाजीवयुगल से बहिर्भूत भी नहीं है।

✽ पृथक् आस्रवादि तत्त्वों के प्रतिपादन का हेतु ✽

प्रतिवादी :- जब आप के मत में सारा जगत् राशियुगल से व्याप्त है तब आस्रवादि पदार्थों का पृथग् विधान भी असंगत है।

अनेकान्तवादी :- हमारे मत में तो कथंचिद् भेदाभेदभाव होने से कोई असंगति नहीं है। आस्रवादि पदार्थ राशियुगल से अभिन्न जरूर हैं, किन्तु कथंचिद् भिन्न है यह दिखाने के लिये उन का पृथग् विधान किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव और अजीव ही आस्रव-बन्ध में परिणत होने पर संसार के कारण हो जाते हैं और संवर-निर्जरा में परिणत होने पर मोक्ष के कारण होते हैं — अथवा जीव-अजीव-आस्रव इत्यादि क्रम से पदार्थों का ज्ञान मोक्ष का हेतु है ऐसा प्रदर्शित करने के लिये, या तो आस्रवादि पदार्थों के विषय में असम्मति दिखाने वालों का निराकरण करने के लिये, राशियुगल से कथंचिद् भिन्न आस्रवादि का निरूपण करने में कोई हानि नहीं है।

स्पष्टीकरण सुनिये — मन, वचन और काया की क्रियाओं को आस्रव कहा जाता है क्योंकि उन्हीं से कर्मों का आत्मा में आस्रवण यानी झरण = आगमन = प्रवेश होता है। कर्म और आत्मा स्वतन्त्र राशि हैं किन्तु उन की असंयुक्त प्रतीति और आत्मा में कर्म के झरण की प्रतीति, दोनों कथंचित् भिन्न भिन्न

बन्धहेतुता। न हि यद् यद्वेतुकं तत् तदभावेऽपि भवति अतिप्रसङ्गात्। असदेतत्, पूर्वोत्तरापेक्षयाऽन्योन्यं कार्य-कारणभावनियमात्। न चेतरेतराश्रयदोषः प्रवाहाऽपेक्षयाऽनादित्वात्। पुण्याऽपुण्यबन्धहेतुतया चासौ द्विविधः उत्कर्षापकर्षभेदेनाऽनेकप्रकारोऽपि दण्ड-गुप्त्यादित्रित्वादिसंख्याभेदमासादयन् फलानु-बन्धननुबन्धिभेदतः अनेकशब्दविशेषवाच्यतामनुभवति, एकान्तवादिनां च नायं संभवतीति 'कम्मं जोगनिमित्तं० (प्र० क० गाथा १९)' इति गाथार्थं प्रदर्शयद्भि प्राक् प्रतिपादितत्वात्।

प्रकार से होती है इसी लिये आस्रव को राशियुगल से कथंचिद् भिन्न माना गया है।

प्रतिवादी :- यहाँ बन्ध और आस्रव में पूर्वापर भाव पर प्रश्न है। यदि अबद्ध आत्मा में कर्म का आस्रव मानेंगे तो यह प्रश्न होगा कि बन्ध के विना आस्रव होगा कैसे ? (और मुक्तात्मा को भी आस्रव की आपत्ति होगी) यदि आस्रव के पहले बन्ध के सद्भाव को मानेंगे तो आस्रव को बन्धहेतु नहीं मान सकते। जो किसी का हेतु माना जाय उस के अभाव में वह कार्य पहले से सिद्ध नहीं हो सकता। यदि आस्रव के विना ही उस के पहले बन्ध सिद्ध हो जायेगा तो मेघ के विना भी वृष्टि हो जाने का अतिप्रसंग हो सकता है।

अनेकान्तवादी :- यह प्रश्न निरर्थक है। यहाँ आश्रव और बन्ध में परस्पर पूर्वोत्तर भाव से कार्यकारण भाव होने का नियम है। इस में अन्योन्याश्रय दोष कल्पना करने की त्वरा नहीं करना, दोनों ही प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है और अपने उत्तर काल में आस्रव बन्ध को या बन्ध आस्रव को जन्म देता है।

बन्ध के दो प्रकार हैं पुण्यबन्ध और पापबन्ध, उन के कारणस्वरूप आस्रव के भी दो प्रकार हैं शुभ और अशुभ। आस्रव में भी तरतमभाव होता है इस लिये उस के सिर्फ दो ही नहीं, प्रत्येक के अनेक भेद होते हैं, फिर भी दण्ड-गुप्ति, कषाय-अव्रत आदि के भेद से तीन-चार-पाँच ऐसे भी उस के भेद परिगणित हैं। जैसे - आस्रव मन-वचन-काया की शुभाशुभ क्रियारूप कहा गया है - तो अशुभ क्रिया को यहाँ मनदण्ड-वचनदण्ड और कायदण्ड कहा गया है इस प्रकार आस्रव के तीन भेद होते हैं। अथवा प्रवृत्तिरूप शुभ मन-वचन-काय क्रिया को यहाँ मनोगुप्ति-वचनगुप्ति-कायगुप्ति के रूप में आस्रव के भेद गिने जाय तो भी तीन भेद हो सकते हैं। जब मन-वचन-काय क्रिया मुख्यतः कषायप्रेरित हो तब क्रोध, लोभ, मान और माया के भेद से आस्रव चार भेदवाला होता है। जब हिंसा-झूठ आदि पाँच अव्रतों से मन-वचन-काया की प्रवृत्ति लबालब हो तब पाँच अव्रतों के भेद से पाँच प्रकार आस्रव के हो सकते हैं। कभी कर्मों का आस्रव होने पर भी अत्यन्तशिथिल बन्ध होने से तीसरे क्षण में भी निष्फल होकर वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं तो उस को फलानुबन्धी आस्रव कहेंगे और दृढीभूत बन्धवाले कर्मों के फल भोगना पड़े, ऐसे आस्रव को फलानुबन्धी कहा जाय तो ये दो भेद भी हो सकता है। इस ढंग से तो एक ही आस्रव कषाय, अव्रत, योग (मन-वचन-काया के) इत्यादि अनेक शब्दों के वाच्यक्षेत्र में बैठ जाता है। एकान्तवादी के मत में तो ऐसी सुंदर प्रक्रिया का गन्ध भी मिलना मुश्किल है क्योंकि वे सब एकान्तवादी एकान्त भेद या एकान्त अभेद मान लेते हैं। तृतीयखण्ड में प्रथम काण्ड की 'कम्मं जोगनिमित्तं'... ✱ इस १९वीं गाथा के अर्थप्रदर्शन के अवसर में व्याख्या में आस्रव का प्रतिपादन काफी हो चुका है।

✱ कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ बन्ध-ट्टिई कसायवसा। अपरिणउच्छिण्णेषु य बंधट्टिइकारणं णत्थि॥ इस गाथा के उत्तरार्ध में कहा गया है कि अपरिणामी एकान्तनित्यात्मवादी के मत में एवं उच्छिन्न यानी एकान्तक्षणभंगवादी के मत में क्रोधादि कषाय अथवा द्वेषादि का संभव न होने से कर्म का बन्ध एवं फल प्रदान-काल तक कर्म की अवस्थिति - दोनों असम्भव है।

तन्निमित्तः सकषायस्यात्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेषविशेषो बन्धः। स च सामान्येनैकविधोऽपि प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशभेदेन चतुर्धा। पुनरेकैको ज्ञानावरणीयादि-मूलप्रकृतिभेदादष्टविधः। पुनरपि मत्यावरणाद्युत्तरप्रकृतिभेदादनेकविधः। अयं च कश्चित् तीर्थकरत्वादिफलनिर्वर्तकत्वात् प्रशस्तः, अपरश्च नारकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्तः, प्रशस्ताऽप्रशस्तात्मपरिणामोद्भूतस्य कर्मणः सुख-दुःखसंवेदनीय-फलनिर्वर्तकत्वात्।

✽ जैनमतप्रसिद्धध्यानचतुष्टयनिरूपणम् ✽

अप्रशस्तश्चात्मपरिणामो द्विविधः आर्त्त-रौद्रभेदात्। आमुहूर्त्तस्थायी आक्रन्दन-विलापन-परिदेवन-शोचन-परविभवविस्मय-विषयसंगादिकश्च स्वसंवेद्य आत्मनः अनुमेयश्च परेषाम् क्लिष्टः परिणामविशेषः आर्त्तध्यानशब्दवाच्यो बाह्यः। आभ्यन्तरश्चाऽमनोज्ञसंप्रयोगानुत्पत्त्यध्यवसानम् उत्पन्नस्य च विनाशाध्य-वसायः मनोज्ञसंप्रयोगस्योत्पत्तिकल्पनाध्यवसायः उत्पन्नस्याऽविनाशसंकल्पाध्यवसानमित्येतत् चतुर्विधमार्त्तध्यानम्। अमनोज्ञसंप्रयोगश्च बाह्याध्यात्मजत्वेन द्विधा। शीताऽऽतप-व्यालादिजनितो बाह्यः, वात-पित्त-श्लेष्मादिप्रादुर्भूतोऽभ्यन्तरः शारीरः, भय-विषादारति-शोक-जुगुप्सा-दौर्मनस्यादिप्रभवो

✽ बन्ध-पदार्थ का निरूपण और प्रकार ✽

आस्रवों की वजह से कषायपरिणत आत्मा का कर्मवर्गणा के पुद्गलों के साथ जो एक विशिष्ट प्रकार का आश्लेष (संयोजन) होता है उसे बन्ध कहा जाता है। सामान्यतया बन्ध का एक ही प्रकार है, विशेषतया चार प्रकार हैं प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग (रस) बन्ध और प्रदेशबन्ध। एक एक के ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ भेद हैं। तथा ज्ञानावरण के मतिज्ञानावरण आदि पाँच भेद, दर्शनावरण का चक्षुर्दर्शनावरण आदि ९ भेद... इस प्रकार बहुत से भेद-प्रभेद कर्मग्रन्थ शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। तीर्थकरत्वलक्ष्मी आदि फल निपजाने वाले कुछ कर्मबन्ध के भेद प्रशस्त कहे जाते हैं, नर्कवेदना आदि फल निपजाने वाले कुछ कर्मबन्ध के भेद अप्रशस्त कहे जाते हैं। शुभाशुभ कर्मबन्ध का मूल है आत्मा का शुभाशुभपरिणाम, और उस से बाँधे गये कर्मों से सुखसंवेद्य एवं दुःखभोग्य फलों की प्राप्ति होती है।

✽ आर्त्तध्यान का स्वरूप एवं चार भेद ✽

आत्मा के अप्रशस्त परिणाम के आर्त्त और रौद्र दो भेद हैं। आर्त्त परिणाम के लिये जैन शासन में आर्त्तध्यान शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। उस के दो भेद हैं बाह्य और अभ्यन्तर। आक्रन्द, विलाप, परिवेदन, शोक, अन्य वैभव को देख कर विस्मय (मूढता) होना, विषयों में आसक्ति ये क्लिष्ट परिणाम बाह्य आर्त्तध्यानात्मक हैं। आर्त्तध्यानी जीवों को यह परिणाम स्वसंवेदनसिद्ध है। उस के चहेरे की तंग रेखाओं से दूसरे लोगों को भी उस का अनुमान हो जाता है। यह परिणाम एक मुहूर्त्त से अधिक समय नहीं रहता, मुहूर्त्त के बाद तो उस में कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है।

आभ्यन्तर आर्त्तध्यान परिणाम के चार भेद हैं। १. अनिष्ट वस्तु का संयोग न हो ऐसा अध्यवसाय। २. उत्पन्न अनिष्ट वस्तु के संयोग के विनाश का अध्यवसाय। ३. रमणीय इष्ट वस्तु के संयोग के लाभ की कल्पना का अध्यवसाय। ४. प्राप्त इष्ट संयोग के अविनाश संकल्प का अध्यवसाय।

इस में पहले भेद में, अनिष्ट संयोग के दो भेद हैं बाह्य और आध्यात्मिक। ठंडी-गर्मी और सर्पादि जनावर से जो भयादि परिणाम होता है वह बाह्य है। आध्यात्मिक के दो भेद हैं - वात-पित्त और कफ धातुओं के

मानसः। अयममनोज्ञसंप्रयोगः 'कथं नाम मे न सम्पद्यत' इति संकल्पप्रबन्ध आर्त्तध्यानम् कृष्ण-नील-कापोतलेश्याबलाधायकं प्रमादाधिष्ठानम् आप्रमत्तगुणस्थानात् तिर्यग्मनुष्यगतिनिर्वर्त्तकम् उत्कर्षाप-कर्षभेदात् क्षायोपशमिकभावरूपं परोक्षज्ञानरूपत्वात्।

एवं रुद्रे भवं रौद्रम् हिंसाऽनृत-स्तेय-संरक्षणऽऽनन्दभेदेन चतुर्विधम्। तत्र हिंसायामानन्दो रुचिर्यस्मिन् तद् हिंसानन्दम् एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। एतदपि बाह्याध्यात्मभेदाद् द्विविधम्। परुष-निष्ठुर-वचनाक्रोश-निर्मर्त्सन-ताडन-परदारातिक्रमाऽभिनिवेशादिरूपं बाह्यम्। स्व-पराभ्यां स्वसंवेदना-नुमानगम्यं बाह्यम्। आध्यात्मिकं हिंसायां संरम्भ-समारम्भादिलक्षणायां नैर्घृण्येन प्रवर्त्तमानस्य संकल्पा-ध्यवसानम्-संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तस्याऽध्यवसानम् - तीव्रकषायानुषक्तत्वं प्रथमं हिंसानन्दं नाम। परेषामनेकप्रकारैर्मिथ्यावचनैर्वञ्चनं प्रति संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं नाम। परद्रव्यापहरणं प्रत्यनेकोपायैर्यत् तत् स्तेयानन्दम्। परिग्रहे 'मम एव इदं स्वम् अहमेवास्य स्वामी' इत्यभिनिवेशः, तदपहर्तृविधातेन

वैषम्य से जो परिणाम उत्पन्न होता है वह शारीरिक पहला है। दूसरा मानसिक है जो भय, विषाद, अरति, शोक, जुगुप्सा और मन की बुराई से होता है। यहाँ जो अनिष्ट संयोग है वह आर्त्तध्यानात्मक 'यह चीज कैसे दूर टले - या मेरे पास फटके ही नहीं' ऐसी संकल्पना-परम्परारूप होता है - यही आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान का परिणाम कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या- तीनों ही अशुभ लेश्या के बल को पुष्ट करने वाला है। प्रमाद-आलस्य का नित्यस्थान है। छोटे गुणस्थान तक वह हो सकता है। ऐसे आर्त्तध्यान से तिर्यञ्च या मनुष्यगति कर्म का बन्ध होता है। इस में तर-तमभाव से अनेक भेद होते हैं। यह आर्त्तध्यान परोक्षज्ञान-संततिस्वरूप होने से क्षायोपशमिकभावात्मक है। (मोहनीयकर्म का औदयिक भाव है - इतना याद रखना।)

✽ रौद्रध्यान : स्वरूप एवं भेद ✽

रुद्र स्वभाव में होने वाले ध्यान को रौद्र कहा जाता है। उस के चार भेद हैं - हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द। आनन्द यानी रुचि। जिसके रहते हुए हिंसा में आनन्द यानी रुचि होती है यही हिंसानन्द रौद्रध्यान परिणाम है। बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे इस के दो भेद हैं। बाह्य - कठोर एवं निष्ठुर भाषण करना, किसी के ऊपर आक्रोश करना, किसी को धुत्कारना, मारपीट करना, परस्त्री पर जुल्म करना, अति कदाग्रह यानी मिथ्या अभिनिवेश रखना - यह सब बाह्य रौद्रध्यान, हिंसानन्द का भेद है। रौद्रध्यानी का यह बाह्य परिणाम उस के लिये स्वसंवेदनसिद्ध है, दूसरों के लिये अनुमानगम्य है। अभ्यन्तर :- संरम्भ और समारम्भ स्वरूप हिंसा में निर्दयता से प्रवृत्ति करते समय जो चिन्तासंतानात्मक संकल्प का अध्यवसाय रहता है यह अभ्यन्तर भेद है। हिंसानन्द रौद्रध्यान में अति उग्र कषायों का अनुषंग रहता है।

मृषानन्द :- अनेक प्रकारों से जूठ बोल कर दूसरे लोगों को कैसे ठगना-इसी के संकल्प का अध्यवसाय यह मृषानन्द रौद्रध्यान है।

स्तेयानन्द :- परकीय धन-सम्पत्ति आदि की चोरी का ही संकल्प-संतान अध्यवसाय यह स्तेयानन्द रौद्रध्यान है।

संरक्षणानन्द :- यह सम्पत्ति सिर्फ मेरे अकेले की ही है, मैं ही एकमात्र उस का मालिक हूँ- इस प्रकार का अभिनिवेश यह संरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। इस में अपहरण करने वाले को मार कर भी अपनी

✽. 'संकल्पाध्यवसानम्' इत्यत्राध्याहारो गम्यः।

संरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्दम्। चतुर्विधमप्येतत् कृष्णादिलेश्याबलाधायकम् प्राक् प्रमत्त-गुणस्थानात्, प्रमादाधिष्ठानं कषायप्राधान्यादौदयिकभावरूपं नरकगतिफलनिर्वर्त्तकम्। पापध्यानद्वयमपि हेयम्।

उपादेयं तु प्रशस्तं धर्म-शुक्लध्यानद्वयम्। तत्र पर्वतगुहा-जीर्णोद्यान-शून्यागारादौ मनुष्याद्या-पातविकलेऽवकाशो मनोविक्षेपनिमित्तशून्ये सत्त्वोपघातरहिते उचिते शिलातलादौ यथासमाधानं विहितपर्यङ्कासन ऊर्ध्वस्थानस्थो वा मन्दमन्दप्राणाऽपानप्रचारः - अतिप्राणनिरोधे चेतसो व्याकुलत्वे-नैकाग्रताऽनुपपत्तेः - निरुद्धलोचनादिकरणप्रचारो हृदि ललाटे मस्तकेऽन्यत्र वा यथापरिचयं मनोवृत्तिं प्रणिधाय मुमुक्षुध्ययित् प्रशस्तं ध्यानम्।

तत्र बाह्याध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्मः तस्मादनपेतं धर्म्यम्। तच्च द्विविधम् बाह्यमाध्यात्मिकं च। सूत्रार्थपर्यालोचनम् दृढव्रतता शीलगुणानुरागः निभृतकायवाग्व्यापारादिरूपं बाह्यम्, आत्मनः स्वसंवेदनग्राह्यमन्येषामनुमेयम्। आध्यात्मिकं तत्त्वार्थसंग्रहादौ चातुर्विधेन प्रदर्शितं संक्षेपतः। अन्यत्र

सम्पत्ति की सुरक्षा करने का तीव्र अशुभ अध्यवसाय होता है।

यह चार भेदवाला रौद्रध्यान, कृष्ण-नील-कपोत तीन अशुभ लेश्याओं का बलवर्धक है; प्रमत्त गुणस्थान के पहले ही होता है (यानी पाँच गुणस्थानक तक होता है। गुणस्थानक्रमारोह ग्रन्थ में तो प्रमत्तगुणस्थान में आर्त्त-रौद्र की मुख्यता व्याख्यामें कही गयी है।) यह रौद्रध्यान प्रमाद का ही अधिष्ठान है। इस में प्रधानता कषायों की होती है इस लिये यह औदयिक भावस्वरूप होता है। नरकगति इस का फल है।

आर्त्त और रौद्र दोनों अशुभ ध्यान पापमय होने से, उन से दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

✽ प्रशस्त ध्यान का प्रयोगविधि ✽

प्रशस्त ध्यान आत्महितकर होने से उपादेय है, उस के दो भेद हैं - धर्मध्यान और शुक्लध्यान। मुमुक्षु यानी मोक्षाभिलाषी जीव प्रशस्त ध्यान में प्रयत्न करता है। वह ध्यान के लिये ऐसा स्थान चुन लेता है जहाँ मनुष्य-पशु आदि का संचार न हो, मन को विक्षिप्त करने वाला कोई निमित्त उपाधिभूत न हो, जीवों का उपमर्दन का जहाँ सम्भव न हो। प्रायः ऐसा स्थान पर्वत की गुहा, जीर्ण-त्यक्त उद्यान अथवा शून्यगृह आदि हो सकते हैं। ऐसे स्थानों में कोई बैठने लायक शिलाखण्ड हो तो प्रमार्जन कर के उस के ऊपर पर्यङ्कासन या अपने मन का समाधान रहे वैसे किसी एक आसन में ध्याता बैठ जाता है, अथवा काउस्सग मुद्रा में खड़ा भी रह सकता है। श्वास-उच्छ्वास की गति मन्द रखता है। यदि वह समूचा श्वासनिरोध कर दे तो मन व्याकुल हो जाय, फिर एकाग्रता नहीं रहेगी। ध्याता अपने चक्षु आदि क्रियाओं का पूर्ण निरोध कर लेता है। तथा मनोवृत्ति को ललाटदेश में या मस्तक में, या अपने अभ्यास के अनुसार कहीं भी स्थापित कर लेता है और इस ढंग से वह प्रशस्त ध्यान में मग्न होता है।

✽ धर्मध्यान : स्वरूप, बाह्य-अभ्यन्तर भेद ✽

धर्मध्यान :- बाह्य और आध्यात्मिक भावों का जो अपना अपना स्वभाव-परिणाम, यह धर्म है। ऐसे धर्म से अनुषक्त हो उसे धर्म्य कहा जाता है (और धर्म भी।) धर्मध्यान के दो भेद हैं, बाह्य और आध्यात्मिक। सर्वज्ञभाषित सूत्रों का उन के अर्थ के साथ परामर्श करना, व्रतों में दृढता को धारण करना, शील जैसे उत्तम गुणों के प्रति हृदय से झुकाव होना, मन-वचन-शरीर की क्रियाओं को नियन्त्रित रखना - ये सब

दशविधम् — तद्यथा अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभवसंस्थानाज्ञाहेतुविचयानि चेति । लोकसंसार-विचययोः संस्थान-भव-विचययोरन्तर्भावान्नोद्दिष्टदशभेदेभ्यः पृथगभिधानम् ।

(१) तत्राऽपाये विचयो = विचारो यस्मिन् तदपायविचयम् । एवमन्यत्रापि योज्यम् । दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु नाम स्यात् इत्येवंभूतः संकल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम् । (२) तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः, 'स कथं नु मे स्यात्' इति संकल्पप्रबन्धः उपायविचयम् । (३) असंख्येयप्रदेशात्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणाऽनादिस्वकृत-कर्मफलोपभोगित्वादिजीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम् । (४) धर्माधर्माकाश-काल-पुद्गलानामनन्त-पर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम् । (५) मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पद्मलात्मकस्य मधुर-कटुफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम् ।

धर्मध्यान के ही बाह्य भेद हैं। ध्याता के लिये ऐसा धर्मध्यान का परिणाम स्वसंवेदनसिद्ध ही रहता है। दूसरों के लिये अनुमानगोचर होता है।

श्री श्वेताम्बरशिरोमणि वाचकवर्य उमास्वाति आचार्यने तत्त्वार्थधिगमसूत्र में संक्षेप से आध्यात्मिक धर्मध्यान के चार भेद गिनार्ये हैं। अन्य शास्त्रों में १० भेद भी कहे हैं जिन में चार का अन्तर्भाव है। १० भेद ये हैं —^१अपायविचय, ^२उपायविचय, ^३जीवविचय, ^४अजीवविचय, ^५विपाकविचय, ^६विरागविचय, ^७भवविचय, ^८संस्थानविचय, ^९आज्ञाविचय और ^{१०}हेतुविचय। इन में, संस्थानविचय में लोकविचय का अन्तर्भाव है और भवविचय में संसारविचय का। इसलिये उन दों का स्वतन्त्र उल्लेख न करने से १० की संख्या ठीक बनी रहती है।

✽ धर्मध्याता के दश भेद ✽

(१) अपायविचय :- अपाय के बारे में विचय यानी विचार, यही अपायविचय है। उपायविचयादि भेदों में भी इसी तरह शब्दार्थ समझ रखना है। 'कैसे मेरे अप्रशस्त मन-वचन-काया के स्पन्दनों का अपाय यानी निरोध हो' ऐसी संकल्प-परम्परा अपायविचय पहला भेद है। इस में दोषों के परिहार की चिन्ता की जा रही है, यह कुशलप्रवृत्तिस्वरूप है अतः अव धर्मध्यानस्वरूप है।

(२) उपायविचय :- कुशल मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों को अंगीकार करना, उस के उपायों को सोचना यह उपायविचय है। 'मेरे मन-वचन-काया की सब प्रवृत्ति कुशल कैसे बने' यह चिन्तन-प्रबन्ध इस में किया जाता है।

(३) जीवविचय :- जीव के वास्तविक स्वरूप का विचार करना यह जीवविचय है। जैसे कि यह सोचना - जीव के एक-दूसरे से मिले हुए असंख्यप्रवेश हैं। साकार और निराकार दो उपयोग, जीव का लक्षण है। जीव अनादि है। अपने किये हुए कर्मों के फल-विपाक का खुद ही उपभोक्ता है... इत्यादि चिन्तासन्तान जीवविचय धर्मध्यान है।

(४) अजीवविचय :- अजीव पदार्थों के स्वरूप का मनन-चिन्तन करना यह अजीवविचय धर्मध्यान है। जैसे-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये अजीव के पाँच भेद हैं। ये अजीव द्रव्य अनन्तपर्यायों में विवर्तमान रहते हैं... इत्यादि।

(५) विपाकविचय :- कर्मों के विपाक का चिन्तन विपाकविचय है। जैसे - मूल आठ भेदवाले और १५८ उपभेदवाले कर्मों में से कुछ भेदों के फल मधुर होते हैं, कुछ के फल कटु होते हैं। ये कर्म पुद्गलस्वरूप ही होते हैं न कि आत्म-गुणस्वरूप। सभी संसारी जीवों को कटु-मधुर कर्मफलों का भोग करना पड़ता है।

(६) 'कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्र-शोणितसमुद्भूतमशुचिभृतघटोपममनित्यमपरित्राणं गलद-शुचिनवच्छिद्रतयाऽशुचि आ (?अना)धेयशौचम्, न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति। किम्पाकफलोप-भोगोपमाः प्रमुखरसिका विपाककटवः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः संतोषामृतास्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निन्दिताः विषयाः तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषङ्गि दुःखजनकं च नातो देहिनां तृप्तिः। न चैतदा-त्यन्तिकमिति नात्रास्था विवेकिनाऽऽधातुं युक्तेति विरतिरेवातः श्रेयस्कारिणी' इत्यादिरागहेतुविरोधानु-चिन्तनं वैराग्यविचयम्।

(७) 'प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो' भवः। स चारघट्टघटीयन्त्रवद् मूत्रपुरीषा-ऽन्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुटकोटरादिषु अजस्रमावर्तनम्। न चात्र किञ्चिज्जन्तोः स्वकृतकर्मफलमनुभवतः

✽ शरीर एवं विषयों के प्रति वैमुख्य का चिन्तन ✽

(६) विरागविचय :- यह शरीर गंदा है, पुरुष के शुक्र और स्त्री के खून जैसे अशुचिमय तत्त्वों के मिलन से इस का प्रादुर्भाव होता है। छिद्रालु और विष्ठा से भरे हुए घड़े के तुल्य यह शरीर अपने नव नव छिद्रों से सदा गन्दगी उगलता रहता है इस लिये यह अशुचिमय है। कितनी भी कोशिश कर के जल और साबुन से उस को धोया जाय लेकिन वह कभी स्वच्छ-पवित्र नहीं होता। इसलिये इस काया में कुछ भी रमणीयता नहीं है। आखिर एक दिन वह मिट्टी में मिल जाने वाला है। प्राणवियोग के बाद वह सडेगा — विरस बनेगा और विध्वस्त हो जायेगा — कोई भी इस स्थिति से उस को बचा नहीं सकता। शरीरतुष्टि-पुष्टि के लिये जिन विषयों का उपभोग किया जाता है वे भी किम्पाकफल तुल्य विषैले हैं जिन को खाने से फल-विपाक प्राण-घातक, रोग-वर्धक एवं दुर्गत्सिर्जक होता है। बिजली की भाँति ये चञ्चल-विनश्वर होते हैं। स्वाधीन भी नहीं होते, उन को हाँसिल करने के लिये कई लोगों की या अन्य जड तत्त्वों की गुलामी करनी पडती है। ये विषय संतोषात्मक सुधाकुण्ड के अमृतपान में अवरोध डालनेवाले हैं। शिष्ट लोग हर हंमेश इन विषयों की निंदा करते आये हैं। विषयजन्य सुख भी ऐसा है जिस के पिछे दुःखों की रफ्तार चली आती है, वह सुख भी दुःख का सर्जन कर देता है; कितना भी हो, जीव को कभी भी इस से तृप्ति नहीं होती। विषयसुख देखते देखते ही नष्ट हो जाता है और अपने स्वरूप में सदा अपरिपूर्ण ही होता है। विवेकी लोगों को ऐसे भदे विषयसुख में आसक्ति रखना ही नहीं चाहिये, उस से हजारों योजन दूर रहने में ही श्रेय है, इसीलिये श्री तीर्थकरोंने विरतिधर्म को ही यानी सर्वविषयत्याग को ही श्रेयस्कर बताया है। इस ढंग से रागोत्पादक विषयों के बारे में विपरीत चिन्तन करना यही वैराग्यविषय धर्मध्यान है।

(७) भवविचय :- भव यानी संसार, अर्थात् अपने किये हुए कर्मों के फलभोग के लिये परलोक में जन्म धारण करना — पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् — जननी का जठर मूत्र-विष्ठा और आँतडीयों के तन्त्र से भरा हुआ एवं दुर्गन्धिपूर्ण रहता है। ऐसे जठरपुटकक्ष में बार बार जन्म लेना पडे — यही भव है। जैसे खेतों में जलसिञ्चन के लिये विशाल कूपों में घटी-यन्त्र की रचना की जाती है — जिस को अरघट्ट कहा जाता है — बैल की सहायता से वह घुमाया जाता है। अरघट्ट में जुडी हुई घडियाँ नीचे जाती है — उस में जल भर जाता है, फिर वे ऊपर आती है तब सारा जल खाली हो जाता है, पुनः वे नीचे जाती हैं, पुनः पानी भरता है, ऊपर आती है, खाली हो जाती हैं — ठीक ऐसे ही यह जीव भी संसार में एक गति से दूसरी गति में भटकता रहता है, कभी नीचे नरक में जाता है, कभी ऊपर स्वर्ग में जाता है, चकर मारता रहता है, उस के भ्रमण का अभी तक अन्त नहीं आया। विविध गतियों में परिभ्रमण के दौरान

चेतनमचेतनं वा सहायभूतं शरणां प्रतिपद्यते.. इत्यादि भवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम् ।

(८) भवन-नग-सरित्-समुद्र-भूहादयः पृथिवीव्यवस्थिताः । साऽपि घनोदधि-घनवात-तनुवात-प्रतिष्ठा । तेऽपि आकाशप्रतिष्ठाः । तदपि स्वात्मप्रतिष्ठम् । तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्ति अधो-लोकम् इत्यादि च संस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम् ।

(९) अतीन्द्रियत्वाद् हेतूदाहरणादिसद्भावेऽपि बुद्ध्यतिशय-शक्तिविकलैः परलोक-बन्ध-मोक्ष-धर्माधर्मादिभावेषु अत्यन्तदुःखबोधेषु आप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम् ।

(१०) आगमविषयविप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकागमस्य कषच्छेदतापशुद्धितः समाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम् ।

एतच्च सर्वं धर्मध्यानम् श्रेयोहेतुत्वात् । एतच्च संवररूपमशुभास्रवप्रत्यनीकत्वात् 'आस्रवनिरोधः

बेचारा जीव अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगता रहता है। क्या चेतन, क्या जड, कोई भी वस्तु कटुफल भोग के समय में उस को सहायता नहीं देती। तब जीव भी अपने को इस भव में अशरण महसूस करता है।... इस प्रकार भवभ्रमण के भयंकर अनिष्टों का चिन्तन-मनन करना यह भवविचय धर्मध्यान है।

✽ संस्थान - आज्ञा- हेतुविचय धर्मध्यान ✽

(८) संस्थानविचय :- विश्व के संस्थान-आकार और उस की संरचना-संचालन आदि का चिन्तन करना यह संस्थानविचय धर्मध्यान है। जैसे, राजाओं के भवन, मेरुगिरि आदि पर्वत, गंगा आदि नदियाँ, लवणादि समुद्र एवं वृक्षादि छोटे-बड़े पिण्ड पृथ्वी पर अवस्थित हैं, पृथ्वी के अधोदेश में घनोदधि-घनवात और तनुवात ऐसे एक जलमय और दो वायुमय प्रस्तर हैं जिन के ऊपर पृथ्वी अवस्थित हैं। घनोदधि आदि प्रस्तर भी खुले आकाश में ही प्रतिष्ठित हैं और आकाश स्वयं निराधार - निरावलम्ब स्वमात्रप्रतिष्ठित है। अधोलोक का आकार अधोमुख तैलपात्र (अथवा छत्र) जैसा बताया गया है... इत्यादि चिन्तन इस में किया जाता है।

(९) आज्ञाविचय :- परलोक, कर्मबन्ध, मोक्ष, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायादि द्रव्य अथवा पुण्य-पापादि तत्त्व अतीन्द्रिय हैं। सूक्ष्मबुद्धिवाले हेतुप्रयोग और उदाहरणादि के सद्भाव से उस की यथार्थ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु ये पदार्थ अतीन्द्रिय है, इस लिये सातिशयबुद्धिशक्ति से विकल मनुष्यों के लिये अत्यन्त दुर्बोध हैं। फिर भी उन के उपदेष्टा वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान होने से, अत्यन्त विश्वसनीय है इसलिये उन पदार्थों का निरूपण करनेवाले उन के शास्त्रवचन भी अत्यन्त विश्वासपात्र हैं - इस प्रकार पुनः पुनः चिन्तन-मनन करना, इसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा गया है।

(१०) हेतुविचय :- जो लोग 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' मान कर नहीं चलते किन्तु तत्त्वों को तर्क की कसौटी से कस कर विश्वास करनेवाले होते हैं, उन को जब यह समस्या हो जाती है कि परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले विविध सम्प्रदायों के आगमशास्त्रों में किस को प्रमाण मानना ? तब प्रमाणभूत शास्त्र का निर्णय करने के लिये कष-छेद और ताप ये तीन कसौटियाँ दिखा कर स्याद्वादप्रतिपादक आगम का प्रामाण्य-विश्वासपात्रता-शरण्यता को दिखाया जाता है - यह हेतुविचय धर्मध्यान है। जैसे सुवर्ण की परख कष-छेद और ताप से की जाती है वैसे यहाँ शास्त्रों के लिये भी तीन कसौटी है। १ उचित विधि-निषेध का प्रतिपादन, २ उन के पोषक आचारपालन का प्रतिपादन, ३ उस शास्त्र के दर्शाये हुए आत्मादि तत्त्वों के साथ उन विधि-निषेधों और आचारों की संगति, इन तीन कसौटी से शास्त्र की परख की जाती है।

ये १० ध्यानभेद आत्महितकारक होने से धर्मध्यान एवं संवरात्मक ही हैं, क्योंकि संवर यह अशुभ आस्रव

संवरः' (त० सू० ९-१) इति वचनात्, गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षादीनां चास्रवप्रतिबन्धकारित्वात्। अयमपि जीवाऽजीवाभ्यां कथंचिदभिन्नः, भेदाभेदैकान्ते दोषोपपत्तेः। न चायमेकान्तवादिनां घटते, मिथ्याज्ञानाद् मिथ्याज्ञानस्य निरोधानुपपत्तेः।

संवरश्च द्विविधः देश-सर्वभेदात्। पीत-पद्मलेश्याबलाधानमप्रमत्तसंयतस्यान्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणं स्वर्ग-सुखनिबन्धनमेतद् धर्मध्यानं प्रतिपत्तव्यम्।

कषायदोषमलापगमात् शुचित्वम् तदनुषङ्गात् शुक्लं ध्यानम्। तच्च द्विविधम् शुक्ल-परमशुक्ल-भेदात्। तत्र पृथक्त्ववितर्कवीचारम् एकत्ववितर्कावीचारं चेति शुक्लं द्विधा। परमशुक्लमपि सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति व्युपरतक्रियानिर्वर्त्ति चेति द्विधा।

बाह्याध्यात्मिकभेदाच्चैतदपि द्विविधम्। गात्र-दृष्टिपरिस्पन्दाभावः जृम्भोद्गारक्षवथुविरहः

का प्रतिपक्षरूप है। तत्त्वार्थसूत्र (९-१) में भी संवर को आस्रवनिरोधस्वरूप ही दर्शाया गया है।

यहाँ यह बात चल रही है कि सकषाय आत्मा का अप्रशस्त आत्मपरिणाम आस्रवात्मक है, आर्त्त-रौद्रध्यान इसीलिये आस्रवस्वरूप है। धर्मध्यान प्रशस्त परिणामरूप होने से आस्रव का विरोधी है इसलिये संवररूप है — ऐसा कह कर व्याख्याकार ने संवरतत्त्व का लेशतः निरूपण कर दिया। मनोगुप्ति-वचनगुप्ति और कायगुप्ति तथा इर्या-भाषा आदि पाँच समितियाँ तथा अनित्यादि बारह एवं मैत्री आदि चार, पुरी सोलह धर्मानुप्रेक्षा ये सब आस्रव के विरोधी होने से संवरात्मक हैं।

संवरपरिणाम भी जीव-अजीव युगल से कथंचिद् अभिन्न ही है, एकान्त भिन्न अथवा एकान्त अभिन्न मानने में पूर्वोक्त बहुत दोष आ पडते हैं। एकान्तवादियों के दर्शन में इस प्रकार के संवरतत्त्व का कोई सुगन्ध ही नहीं है, क्योंकि संवर तो मिथ्याज्ञान का विरोधी है किन्तु एकान्तवादियों का ज्ञान मिथ्याज्ञानरूप ही होता है तो मिथ्याज्ञान से मिथ्याज्ञान का निरोध कैसे शक्य होगा ?

संवर के दो भेद हैं, देशसंवर और सर्वसंवर। अर्थात् इन्हें देशविरति (गृहस्थधर्म) और सर्वविरति (साधुधर्म) कह सकते हैं। अथवा शैलेशी में चरम संवर सर्वसंवर रूप होता है और उस के पहले सब देश संवर यानी आंशिक संवर होता है।

यह जो धर्मध्यानात्मक संवर है वह पीतलेश्या और पद्मलेश्या के शुभ अध्यवसाय का पुष्टिकारक है। अप्रमत्तसंयत को धर्म (या शुक्ल) ध्यान ही होता है जो कि लगातार अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त अवस्थित रह सकता है, बाद में कुछ पलटा आ जाता है, पुनश्च अन्तर्मुहूर्त्त (Within 48 minutes) अवस्थित रहता है ऐसा हो सकता है। धर्मध्यान का फल स्वर्गीय सुख है।

✽ शुक्लध्यान : स्वरूप एवं बाह्य-आध्यात्मिक भेद ✽

अब व्याख्याकार निर्जरातत्त्व दिखाने के लिये शुक्ल ध्यान का स्वरूप एवं भेद का विवेचन करते हैं। जो ध्यान शुचित्व (= स्वच्छता) से अलंकृत है वह शुक्ल ध्यान कहा जाता है। यहाँ शुचित्व यानी कषायों की मलिनता के दाग की धुलाई। शुक्ल ध्यान के दो भेद हैं, A शुक्ल और B परमशुक्ल। A शुक्ल के दो भेद हैं १ पृथक्त्ववितर्कवीचार और २ एकत्ववितर्क अवीचार। B परमशुक्ल के भी दो भेद हैं, १ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और २ व्युपरतक्रियानिर्वर्त्ती।

शुक्लध्यान के इस ढंग से भी दो भेद हैं बाह्य और आध्यात्मिक। बाह्य :- शरीर और दृष्टि अत्यन्त

अनभिव्यक्तप्राणाऽपानप्रचारत्वमित्यादिगुणयोगि बाह्यम् परेषामनुमेयमात्मनश्च स्वसंवेद्यम् । आध्यात्मिकं तु - पृथग्भावः = पृथक्त्वं - नानात्वम्, वितर्कः = श्रुतज्ञानं द्वादशाङ्गम्, वीचारः = अर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः । व्यञ्जनं = अभिधानम्, तद्विषयोऽर्थः, मनो-वाक्-कायलक्षणो योगः, संक्रान्तिः = परस्परतः परिवर्तनम् । पृथक्त्वेन वितर्कस्यार्थ-व्यञ्जन-योगेषु संक्रान्तिर्वीचारः यस्मिन् अस्ति तत् पृथक्त्ववितर्कवीचारम् ।

तथाहि - असावुत्तमसंहननो भावयति(ः) विजृम्भितपुरुषकारवीर्यसामर्थ्यः संहताशेषचित्तव्याक्षेपः कर्मप्रकृतिः स्थित्यनुभागादिभिर्हासयन् महासंवरसामर्थ्यतो मोहनीयमचिन्त्यसामर्थ्यमशेषमुपशमयन् क्षपयन् वा द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं चैकमवलम्ब्य द्रव्य-पर्यायार्थाद् व्यञ्जनम्, व्यञ्जनाद्वाऽर्थम्, योगाद् योगान्तरम्, व्यञ्जनाद् व्यञ्जनान्तरं च संक्रामन् पृथक्त्ववितर्कवीचारं शुक्लतरलेश्यमुपशमक-क्षपक-गुण-स्थानभूमिकमन्तर्मुहूर्त्ताद्धं क्षायोपशमिकभूमिकं प्रायः पूर्वधरनिषेव्यमाश्रितार्थव्यञ्जनयोगसंक्रमणं श्रेणि-

स्थिर बन जाय, थोडा सा भी स्थूल कम्पन उस में न हो । न जम्हाई आवे, न बगासा, न छीक हो । श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी मन्द मन्द चलती रहे.. इत्यादि लक्षण बाह्य शुक्ल ध्यान के हैं । स्वयं को यह अनुभवसिद्ध रहता है, दूसरे को अनुमानगोचर होता है ।

शुक्लध्यान के आद्य भेदयुगल ही आध्यात्मिक शुक्ल ध्यान हैं । उस में पहला है - पृथक्त्ववितर्कविचार । इस का विवेचन करते हैं ।

पृथक्त्व यानी पृथग्भाव अथवा वैविध्य । वितर्क यानी द्वादशांग आगमों का ज्ञान, यानी श्रुतज्ञान । वीचार का मतलब है अर्थ, व्यञ्जन और योगों का संक्रमण । व्यञ्जन यानी नाम या शब्द, अर्थ यानी उस शब्द का वाच्यार्थ और योग यानी मन-वचन-काया । संक्रान्ति यानी एक शब्द के ऊपर से ध्यान का दूसरे शब्द पर संक्रमण यानी परिवर्तन, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर और एक योग से दूसरे योग में परिवर्तन । विविधरूपों में वितर्क यानी श्रुतज्ञानमय परिणाम का अर्थ-व्यञ्जन-योगों में संक्रमण यानी विचार जिस ध्यान में होता है वही पृथक्त्ववितर्कवीचार संज्ञक शुक्लध्यान का प्रथमभेद है ।

✽ आद्य शुक्लध्यानभेद का विशेष परिचय ✽

स्पष्टीकरण :- भाव-साधु शुक्लध्यान का अवलम्बन करता है । ऐसे भावसाधु जो उत्तम यानी प्रथम वज्र-ऋषभ-नाराच संघयणबलवाला होता है, जिस में कठोर पुरुषार्थ करने के लिये अदम्य उत्साह का सामर्थ्य होता है, जो समग्र चित्तविक्षेपों का संहार कर लेता है, कर्मप्रकृतियों की स्थिति और अशुभ रस को क्षीण करता है, महासंवर के दृढबल से जो अचिन्त्यशक्तिशालि समग्र मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय प्रारम्भ कर देता है, किसी एक द्रव्य या भाव परमाणु को अपने ध्यान का विषय करता हुआ द्रव्य-पर्यायोभयस्वरूप अर्थ से व्यञ्जन की ओर, व्यञ्जन से अर्थ की ओर- अथवा एक योग से अन्ययोग में - एक व्यञ्जन से अन्य व्यञ्जन की ओर संक्रमण करता रहता है - ऐसा भावसाधु पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान का आरोहण करता है । शुक्लध्यान के इस भेद में लेश्या अत्यन्त शुक्ल यानी निर्मल होती है, उपशमश्रेणि या क्षपक श्रेणि के जो अष्टम आदि गुणस्थान हैं उन की भूमिका पर यह शुक्लध्यान एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण जाग्रत रहता है, इस में औदयिक नहीं किन्तु मोहनीय के क्षायोपशमिकभाव की मुख्य भूमिका रहती है । प्रायशः १४ पूर्वधर महर्षियों को यह ध्यान होता है, किसी एक परमाणु आदि अर्थ को आलम्बन कर के यह ध्यान व्यञ्जन और योग में संक्रान्त होता रहता है । यदि यह ध्यान उपशमश्रेणि में हो तब स्वर्गफलक होता है

भेदात् स्वर्गापवर्गफलप्रदमाद्यं शुक्लध्यानमवलम्बते ।

एतच्च निर्जरात्मकमात्मस्थितकर्मक्षयकारणत्वात् तस्याः 'तपसा निर्जरा च' (त० सू० ९-३) इति वचनाद् ध्यानस्य चान्तरोत्कृष्टतपोरूपत्वाद् । जीवाजीवाभ्यां कथंचिदसावभिन्ना द्व्यङ्गुलवियोगवत् वियुक्तात्मनो वियोगस्य कथंचिद् अभेदात् । एकान्तवादे तु पूर्ववत् पश्चादपि अवियोगोऽतद्धर्मत्वात् वियोगे वा पूर्वमपि तत्स्वभावत्वादयुक्तस्य वियोगाभाव एव । न हि बन्धाभावे तद्विनाशः सम्भवी तस्य वस्तुधर्मत्वात् । न हि अङ्गुल्योः संयोगाभावे तद्वियोग इति व्यवहारः । तस्माद् निर्जराया अप्येकान्तवादेऽनुपपत्तिः ।

एकत्वेन वितर्को यस्मिन् तदेकत्ववितर्कम् विगतार्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रमत्वाद् अवीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानम् । तथाहि — एकपरमाणुवेकमेव पर्यायामालम्ब्यत्वेनादायान्यतरैकयोगबलाधानमाश्रितव्यतिरिक्ताशेषार्थव्यञ्जनयोगसंक्रमविषयचिन्ताविक्षेपरहितं बहुतरकर्मनिर्जरारूपं निःशेषमोहनीयक्षयानन्तरं युग-पद्भाविधातिकर्मत्रयध्वंसनसमर्थमक्षयच्छद्मस्थवीतरागगुणस्थानभूमिकं क्षपको द्वितीयं शुक्लध्यानमासा-

और क्षपकश्रेणि में हो तब मोक्षफलक होता है ।

यह आद्य शुक्लध्यान निर्जरामय ही होता है, क्योंकि इस से आत्मगत प्रभूत कर्मराशि का क्षय हो जाता है । श्री तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि तप से संवर एवं निर्जरा होते हैं - यह शुक्लध्यान उत्कृष्ट अभ्यन्तरतपस्वरूप है इस लिये यह ध्यान निर्जरात्मक कहा गया है ।

यह निर्जरा तत्त्व भी जीव-अजीवराशियुगल से कथंचित् अभिन्न है क्योंकि निर्जरा कर्मवियोगरूप है और वियुक्तात्मा एवं कर्म से कर्मवियोग कथंचिद् अभिन्न होता है, जैसे कि दो अंगुलियों का वियोग उन से कथंचिद् अभिन्न होता है । एकान्तवाद में तो संसारी जीव एकान्त से अवियुक्त ही होता है, अतः मुक्त काल में भी कर्म का अवियोग पूर्ववत् तदवस्थ बना रहेगा । यदि मुक्त काल में वियोग स्वीकार करेंगे तो पूर्वकाल में भी वियुक्तावस्थावाला स्वभाव ही प्रसक्त होने से आत्मा को नित्य-मुक्त मानना पड़ेगा । यदि ऐसा मान लेंगे तो वियोगकथा भी समाप्त हो जायेगी क्योंकि वियोग तो बन्धात्मक संयोग का विनाशरूप है, बन्ध ही नहीं होगा तो वियोग होगा कैसे ? विनाश तो वस्तुधर्मस्वरूप यानी सप्रतियोगी है, प्रतियोगी बन्ध है उस के विना विनाश हो नहीं सकता । दो अंगुली संयुक्त है ऐसा देखने के बाद कभी 'अब ये दोनों वियुक्त है' ऐसा व्यवहार किया जाता है, पूर्व में संयुक्तावस्था ही न हो तब 'वियुक्त' कैसे कही जायेगी ? निष्कर्ष यह है कि एकान्तवाद में निर्जरातत्त्व की संगति नहीं बैठेगी ।

❀ द्वितीयशुक्लध्यान स्वरूप-कार्य-फल ❀

एकत्ववितर्कविचार :- जिस ध्यान में वैविध्य को छोड़ कर एकरूप से वितर्क (श्रुतज्ञान) किया जाता है उसे एकत्ववितर्क कहा जाता है । इस ध्यान में अर्थ-व्यञ्जन और योगों का संक्रमण नहीं होता, अवस्थित होते हैं, इस लिये यह द्वितीय शुक्ल ध्यान निर्वाचार है । स्पष्टीकरण- इस ध्यान में एक परमाणु के एक ही पर्याय को विषय बना कर ध्यान की धारा बहती रहती है । किसी भी एक योगबल का यहाँ आधान रहता है । जिस योगबल का आश्रयण किया गया है उस से अन्य योगयुगल, अर्थ या व्यञ्जनों में यहाँ संक्रमण नहीं होता, न उस के बारे में कोई चिन्ताविशेष रहता है । इस ध्यान में प्रचुरतम कर्मनिर्जरा होती है । समग्र मोहनीय कर्म क्षीण होने के बाद इस ध्यान में ऐसा प्रबल सामर्थ्य रहता है कि वह एक साथ

दयति प्रायः पूर्वविदेव । तदनन्तरं ध्यानान्तरे वर्तमानः क्षायिकज्ञानदर्शन-चारित्र-वीर्यातिशयसम्पत्स-मन्वितो भगवान् केवली जायत इति । स चात्यन्ताऽपुनर्भवसम्पदङ्गनासमालिङ्गिततनुः कृतकृत्योऽचिन्त्य-ज्ञानाद्यैश्वर्यमाहात्म्यातिशयपरमभक्तिनग्नमरेश्वरादिवन्द्यचरणोऽन्तर्मुहूर्त् देशोनां वा पूर्वकोटिं भवोप-ग्राहिकर्मवशाद् विहरन् यदाऽन्तर्मुहूर्त्परिशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिनामगोत्रवेदनीयश्च भवति तदा मनोवाग्बा-दरकाययोगं निरुध्य सूक्ष्मकाययोगोपगः सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यानं तृतीयमध्यास्ते ।

यदा पुनरन्तर्मुहूर्त्स्थितिकायुष्क-कर्माधिकतरस्थितिशेषकर्मत्रयो भवत्यसौ तदाऽऽयुष्ककर्मस्थिति-समानस्थितिशेषकर्मसम्पादनार्थं समुद्धातमाश्रित्य दण्ड-कपाट-मन्थ-लोकापूरणानि स्वात्मप्रदेशविस्तरण-तश्चतुर्भिः समयैर्विधाय तावद्भिरेव तैः पुनस्तानुपसंहृत्य स्वप्रदेशविस्तरणसमीकृतभवोपग्राहिकर्मा स्व-शरीर-परिमाणो भूत्वा ततः तृतीयं शुक्लध्यानभेदं परिसमाप्य पुनश्चतुर्थं शुक्लध्यानमारभते तत् पुन-

ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय - इन तीन घाती कर्मों का विच्छेद कर देता है। वह ध्यान १२ वें गुणस्थानक में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है, निष्कषाय छद्मस्थ वीतराग अर्थात् क्षीणमोह यह १२ वाँ गुणस्थानक है। उपशमक यानी उपशमश्रेणिआरूढ महात्मा इस का ध्याता नहीं होता किन्तु मोहनीयक्षय करनेवाला क्षपक महात्मा ही इस का ध्याता होता है, जो प्रायः १४ पूर्वी का ज्ञाता होता है। दूसरे शुक्लध्यान का ध्याता जब उस ध्यान को पूर्ण कर के आगे ध्यानान्तरदशा में आरोहण करता है तब वह भगवान् केवलज्ञानी हो जाता है जिस के पास क्षायिकज्ञान, क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र तथा क्षायिक वीर्य (पराक्रमशक्ति) का वैभव झगमगाता है।

तृतीय शुक्लध्यान :- जिस में पुनः जन्मधारण की कडाकूट नहीं रहती ऐसी अजरामरस्थिति यानी अत्यन्त अपुनर्भवस्थिति यह एक विशाल सम्पत्ति है, इस सम्पत्तिरूप अंगना से सदा आश्लिष्ट केवली भगवान् अब कर्त्तव्यशेष न रहने से कृतकृत्य हो जाते हैं। केवलज्ञान एक अचिन्त्य महिमाशाली ऐश्वर्य है, ऐसे सातिशय ऐश्वर्यधारक केवली भगवंत के चरणों में विनम्र बन कर इन्द्र आदि देवता परमभक्ति से वन्दन करते हैं। केवलज्ञानप्राप्ति के बाद केवलज्ञानी का भवोपग्राही कर्म यानी आयुष्य आदि कर्म किसी को तो सिर्फ अन्तर्मुहूर्त् ही न्यूनतमकाल शेष रहता है जब कि किसी को यदि एक पूर्व क्रोड वर्षों आयुष्य हो और नवमें वर्ष में केवलज्ञान हो गया हो तो नववर्षन्यून एक क्रोड पूर्व वर्ष शेष रहता है - उतने वर्षों तक अधिकतम काल तक ये महात्मा धरतीतल को पावन करते हुए विचरते हैं। जब उन का आयुष्य कर्म सिर्फ अन्तर्मुहूर्त् ही अवशेष रहता है तब जिन की नामकर्म-गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म की कालस्थिति आयुष्यतुल्य ही होती हैं वे महात्मा मन-वचन-स्थूल-काया के योगों का अत्यन्त निरोध कर देते हैं, सिर्फ सूक्ष्म काया की क्रियाएँ अनुषक्त यानी अप्रतिपाती रहती हैं। तब इस स्थिति में वह तीसरे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान में आरूढ कहे जाते हैं।

✽ केवलिसमुद्धातप्रक्रिया एवं चतुर्थ शुक्लध्यान ✽

केवली भगवंत की आयुष्य स्थिति से अन्य कर्मों की स्थिति यदि अधिक होती है तो उन कर्मों की आयुष्य-समस्थिति करने के लिये उन का हास करते हैं, उस को समुद्धात कहा जाता है। समुद्धातप्रक्रिया में केवलज्ञानी महात्मा अपने आत्मप्रदेशों को समग्र लोकाकाश में फैला देते हैं। लोकाकाश और आत्मा के, अविभाज्य अवयवात्मक प्रदेशों की संख्या समान है, इसलिये समुद्धात में एक एक लोकाकाशप्रदेश पर एक एक आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं। उस की प्रक्रिया यह है - प्रथम समय में शरीर समान चौड़ाई

✽. ८४ लाख x ८४ लाख = ७०५६० अब्ज = १ पूर्व। ऐसे क्रोड पूर्व वर्ष।

विगतप्राणापानप्रचाराशेषकायवाग्-मनोयोगसर्व-देशपरिस्पन्दत्वाद् विगतक्रियानिवर्त्ति इत्युच्यते । तत्र च सर्वबन्धास्रवनिरोधोऽशेषकर्मपरिक्षयसामर्थ्योपपत्तेः । तदेव च निःशेषभवदुःखविटपिदावानलकल्पं साक्षाद् मोक्षकारणम् । तद्धानवांश्रायोगिकेवली निःशेषितमलकलङ्कोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामस्वाभाव्यात् निवातप्रदेशप्रदीपशिखावदूर्ध्वं गच्छत्येकसमयेनालोकान्तात् विनिर्मुक्ताशेषबन्धनस्य प्राप्तनिजस्वरूपस्यात्मनो लोकान्तेऽवस्थानं मोक्षः 'बन्धवियोगो मोक्षः' () इति वचनात् ।

अत्र च जीवाजीवयोरगमादिवाध्यक्षानुमानतोऽपि सिद्धिः प्रदर्शिता, आस्रवस्यापि तथैव । कर्मयोग्य-पुद्गलात्मप्रदेशानां परस्परानुप्रवेशस्वभावस्य तु बन्धस्यानुपलब्धावप्यध्यक्षतः, अनुमानात् प्रतिपत्तिः । तथाहि — अशेषज्ञेयस्वभावस्यात्मनः स्वविषयेऽप्रवृत्तिर्विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता, पीतहृत्पूरपुरुषस्वविषय-ज्ञानाऽप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं तद् ज्ञानावरणादि वस्तुसत् पुद्गलरूपं कर्म ।

वाला तथा ऊर्ध्वाध आयत १४ राज लोक प्रमाण दंड आत्मप्रदेशों का बनता है। दूसरे समय में उस दंड को तिरछे विकसित कर के कपाट बनता है। तीसरे समय में उस कपाट को दोनों ओर लोकान्त तक फैला कर मन्थनदण्ड बनता है। चौथे समय में अवशिष्ट निष्कूटों को भर कर आत्मा संपूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है। तब आयुष्य स्थिति से अधिकस्थितिवाले सभी कर्म-पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है, समस्थितिवाले कर्म शेष रहते हैं। पुनः मन्थनदण्ड-कपाट-दण्ड के क्रम से उपसंहार कर के आत्मा को शरीरावस्थित कर देते हैं। यहाँ शुक्लध्यान का तीसरा भेद समाप्त हो जाता है। बाद में चौथा शुक्लध्यान आरम्भ होता है। उस का नाम 'विगतक्रियानिवर्त्ति' है। इस ध्यानभेद में श्वासोच्छ्वास का प्रचार सर्वथा रुक जाता है। तथा मन वचन काया की स्थूल-सूक्ष्म समग्र क्रिया भी रुक जाती है इसलिये यह विगतक्रिय० कहा जाता है। यहाँ योगनिरोध के साथ समग्र आस्रव और बन्ध का भी सम्पूर्ण निरोध हो जाता है और उस के प्रभाव से सकल कर्मों को क्षीण कर देने वाला आत्मसामर्थ्य प्रगट होता है। यह श्रेष्ठ ध्यानभेद है क्योंकि समग्र भवदुःखों के वृक्षों के जंगल को भस्मीभूत कर देने वाला दावानल है और यही साक्षात् विना विलम्ब मुक्ति का कारण है। इस ध्यानावस्था में योगक्रिया रुक जाने से अयोगी केवली कहा जाता है। चरम समय में सकल कर्मकलङ्क को दग्ध कर के शुद्ध आत्मस्वभाव में आरूढ आत्मा एक समयमात्र में लोकान्त तक ऊर्ध्व गति करता है। जैसे निर्वातप्रदेश में निहित दीपक की ज्वाला स्वभावतः ऊर्ध्वगति करती है वैसे ही शुद्धस्वभाववाले आत्मा का भी सहज ऊर्ध्वगति परिणाम प्रगट होने से उस की गति ऊर्ध्वदिशा में ही होती है। सकल कर्मबन्धनों से मुक्त आत्मा निजस्वरूप प्राप्त कर के लोकाग्र भाग में जा कर स्थिर हो जाता है यही मोक्ष — अंतिम तत्त्व है। शास्त्रकारों का यह वचन है 'बन्ध का वियोग मोक्ष है।'

✽ आस्रव एवं बन्ध तत्त्वों का साधक प्रमाण ✽

व्याख्याकार कहते हैं कि इस व्याख्या ग्रन्थ में पहले जीव और अजीव की सिद्धि आगमप्रमाण की तरह प्रत्यक्ष और अनुमान से की जा चुकी है। उसी तरह आस्रव की सिद्धि भी आगम की तरह प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाण से समझ लेना चाहिये। आत्मप्रदेश और कर्मपरिणतियोग्य पुद्गलद्रव्य का परस्परानुषङ्गात्मक बन्ध यद्यपि प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं है फिर भी अनुमान से उपलब्धि गोचर हो सकता है। कैसे यह देखिये-समस्त ज्ञेय वस्तु के ज्ञान से ओतप्रोत आत्मा की अपने ग्राह्य विषयों में जो अप्रवृत्ति है वह विशिष्ट अन्यद्रव्य-सम्बन्धमूलक होती है; जैसे धतूरकपानकारक पुरुष की स्वग्राह्यविषयों में प्रवृत्ति का विरह, मदिरा द्रव्य के सम्बन्ध से प्रयुक्त होता है। यहाँ जो ज्ञान का प्रतिबन्धक द्रव्य सिद्ध होता है उस का नाम कर्म है जो

आत्मनश्च सकलज्ञेयज्ञानस्वभावता स्वविषयाऽप्रवृत्तिश्च छद्मस्थावस्थायां प्राक् प्रदर्शितैव । औदारिकाद्य-
शेषशरीरनिबन्धनस्यानेकाऽवान्तरभेदभिन्नाऽष्टविधकर्मात्मकस्य कार्मणशरीरस्य सर्वज्ञप्रणीतागमात् सिद्धेः
कथं न ततो बन्धसिद्धिः ? न च कार्मणशरीरस्य मूर्त्तिमत्त्वात् सत्त्वे उपलब्धिः स्याद्, अनुपलम्भाच्च
तदसदिति वाच्यम्; यतो न सर्वं मूर्त्तिमदुपलभ्यते सौक्ष्म्यात् पिशाचादिशरीरस्येवौदारिकादिशरीर-
निमित्ततयोपकल्पितस्यानुपलम्भेऽपि अपह्नोतुमशक्यत्वात् । कथमनुपलभ्यमानस्यास्तित्वं तस्येति चेत् ?
न, आप्तवादात् तस्य सिद्धेः । न च तदभावे औदारिकाद्यपूर्वशरीरयोग आत्मनः स्यात् । न हि
रज्ज्वाकाशयोरिव मूर्त्तामूर्त्तयोर्बन्धविशेषयोगः, कार्मणशरीराऽविनाभूतश्चामुक्तेः सदात्मा इति तस्य कथं-
चिन्मूर्त्तत्वम् ततश्चौदारिकशरीरसम्बन्धो रज्जु-घटयोरिवोपपत्तिमान् ।

अथ सूक्ष्मशरीरसिद्धावप्यास्रवनिरपेक्षाः परमाणवो वाय्वादिसूक्ष्मद्रव्यनिमित्तपरमाणुद्रव्यवद् भवि-
ष्यन्तीति न बन्धहेत्वास्रवसिद्धिः । नैतद्, क्रोडीकृतचैतन्यप्रयोजनस्याऽचेनस्यास्रवनिरपेक्षपरमाणु-

कि वस्तुसत् पुद्गलस्वरूप है और ज्ञानावरणादि उस के भेद हैं । 'आत्मा सकलज्ञेयविषयकज्ञानस्वरूप' ही है
और फिर भी छद्मस्थावस्था में अपने सकल ग्राह्य विषयों में उस की प्रवृत्ति नहीं होती- ये दो तथ्य पहले
स्पष्ट किये जा चुके हैं, इस लिये हेतु की असिद्धि की आशंका निरवकाश है ।

आगम से तो बन्धसिद्धि स्पष्ट ही है, क्योंकि सर्वज्ञप्रकाशित आगमों में कार्मणशरीर का स्पष्ट उल्लेख आता
है । यह कार्मणशरीर ही औदारिक, वैक्रिय आदि समस्त शरीर धारण का मूल हेतु है और वह दूसरा कुछ
नहीं, अनेक अवान्तर भेदवाले आठ प्रकार के कर्मों का समूह ही है । जब कार्मण शरीर है तो आत्मा के
साथ कर्म का बन्ध हुये बिना यह कैसे घटेगा ? शरीर और आत्मा तो परस्परबद्ध ही होते हैं । ऐसा कहना
कि 'मूर्त्तिमन्त होने के हेतु से कार्मणशरीर यदि सत् है तो उस की उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु नहीं होती
अतः वह असत् है' - यह ठीक नहीं है क्योंकि मूर्त्तिमन्त के साथ उपलब्धि की व्याप्ति नहीं है जिस से
कि मूर्त्तिमन्त सर्व वस्तु उपलब्ध हो सके । सूक्ष्म होने के कारण मूर्त्तिमन्त पदार्थ सत् होने पर भी उपलब्ध
नहीं होता जैसे कि पिशाचादि का शरीर । उसी तरह औदारिकादिशरीर के मूल हेतु के रूप में अनुमानित
कार्मण शरीर का उपलम्भ न होने मात्र से अपलाप नहीं हो सकता ।

यदि कहा जाय कि - 'जिस का उपलम्भ ही नहीं है उस का अस्तित्व कैसे माना जाय - तो इस
प्रश्न का समाधान है कि आप्तप्रवाद यानी विश्वसनीय अर्हत् सर्वज्ञ प्रकाशित वचन प्रमाणभूत होने से, उन
के आधार पर कार्मणशरीर की सिद्धि निर्बाध है । यदि उसे नहीं मानेंगे तो यहाँ स्थूल औदारिकादि नूतन
शरीर के साथ आत्मा का संयोग ही सिद्ध नहीं हो सकेगा । मूर्त्त और अमूर्त्त का रज्जू और आकाश की
तरह बन्धविशेषात्मक संयोग होना असम्भव है, अतः मुक्ति न हो तब तक सदैव आत्मा को अनादिकाल
से कार्मणशरीर सम्बन्ध मानना ही होगा, तभी उस के योग से आत्मा में कथंचिद् मूर्त्तत्व प्रसिद्ध होगा और
बाद में रज्जू और घट में जैसे बन्धविशेषात्मक संयोग दृष्ट है वैसे आत्मा और स्थूल औदारिकादि शरीर का
योग संगत हो सकेगा ।

✽ आस्रव की सिद्धि में आक्षेप-समाधान ✽

प्रतिपक्षी :- कर्मपरमाणुओं के बन्ध के हेतुरूप में आस्रवसिद्धि की आशा नहीं की जा सकती । सूक्ष्मशरीर
की कैसे भी सिद्धि हो सकती है । जैसे वायु आदि सूक्ष्म द्रव्य का (स्कन्ध का) निर्माण उन के परमाणुद्रव्यों

हेतुत्वानुपपत्तेः । न ह्यभ्यन्तरीकृतचैतन्यप्रयोजनस्याकाशद्रव्यादेर्वाग्-बुद्धि-शरीरारम्भादिनिरपेक्षपरमाणुजन्यता परस्यापि सिद्धा । अतः तृष्णानुबद्धस्य चैतन्यस्य मनो-वाक्-कायव्यापारवतः कर्मवर्गणापुद्गलसचिवस्य कार्मणशरीरानुविद्धस्य तथाविधतच्छरीरनिर्वर्तकत्वम् — अन्यथा तथाविधकारणप्रभवतच्छरीराभावे आत्मनो बन्धाभावतः संसारिसत्त्वविकलं जगत् स्यादेव । तीर्थान्तरीयैरप्यातिवाहिकादिशब्दवाच्यतयाऽभ्युपगम्यमानं कार्मणशरीरं सकलदृष्टपदार्थाऽविसंवाद्यर्हदुक्तागमप्रतिपाद्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यमन्यथा सकलदृष्टादृष्टव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । न चाचेतनस्य तस्य कथं भवान्तरप्रापकत्वम् ? चेतनाधिष्ठितस्याचेतनस्यापि देवदत्तव्यापारप्रयुक्तदेशान्तरप्रापणशक्तिमन्नौद्रव्यवदचेतनस्यापि तत्प्रापकत्वाऽविरोधात् । न च सदा चैतन्यानुषक्तस्य तस्याचेतनव्यपदेशयोगितेति प्राक् प्रतिपादितत्वात् । तदेवमनुमानागमाभ्यां बन्धस्य प्रसिद्धिः ।

संवरस्य तु अध्यक्षाणुमानागमप्रसिद्धता न्यायानुगतैव, चैतन्यपरिणतेः स्वात्मनि स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् अन्यत्र तु तत्प्रभवकार्यानुमेयत्वात् आगमस्य च तत्प्रतिपादकस्य प्रदर्शितत्वात् । निर्जरा तु ज्ञानावरणीयादेः कर्मणः केवलज्ञानसद्भावावन्यथानुपपत्त्यानुमानतः 'तपसा निर्जरा च' (त० सू०

से होता है वैसे सूक्ष्मकार्मणशरीर का निर्माण भी आस्रवनिरपेक्ष परमाणुद्रव्यों से क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तरपक्ष :- यह कल्पना ठीक नहीं है । कारण, जो द्रव्य चैतन्य के लिये कुछ उपयोगी होता है वह या तो परमाणु-अजन्य होता है या तो आस्रवसापेक्षपरमाणुजन्य होता है किन्तु आस्रवनिरपेक्षपरमाणुजन्य कभी नहीं होता । उदा. आकाशादि द्रव्य, जैन मत में चैतन्य को अवगाहप्रदान के लिये और नैयायिक के मत में श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में, उपयोगी होता है - यह आस्रवनिरपेक्ष अर्थात् मन-वचन-शरीरक्रियानिरपेक्ष परमाणुजन्य नहीं होता । नैयायिकादि मत में भी उक्त नियम मान्य है । अतः तृष्णा-बन्धन से बद्ध चैतन्य का प्रयोजन सिद्ध करने वाला स्थूल औदारिकादिशरीर का निर्माण ऐसे कर्मपुद्गलसमूह से ही होगा जो कार्मणशरीरानुविद्ध हो और आस्रवात्मक मन-वचन-शरीर क्रिया से अनुषक्त हो । यदि आस्रवसापेक्षकारणजन्य शरीर का स्वीकार नहीं करेंगे तो आत्मा का बन्ध भी सिद्ध नहीं होगा और सारा जगत् संसारी (बद्ध) जीवों से शून्य हो जायेगा ।

अन्य दार्शनिकवर्ग भी 'अतिवाहिक' आदि शब्दों का जो प्रयोग करते हैं उस का वाच्यार्थ कार्मणशरीर ही मानना चाहिये, क्योंकि उस का प्रतिपादन ऐसे आगम में किया गया है जो अरिहन्त-सर्वज्ञ कथित है और दृष्ट सकल पदार्थों से अविस्वादी है । ऐसे महिमाशाली आगम प्रतिपादित वस्तु को न स्वीकारने पर दृष्ट-अदृष्ट वस्तुसम्बन्धि सकल व्यवहारों का विच्छेद प्रसक्त होगा ।

प्रश्न :- कर्म या कार्मण शरीर तो अचेतन है वह जीव को भवान्तर में गतिकारक कैसे हो सकता है ?

उत्तर :- अचेतनद्रव्य भी चेतन से अधिष्ठित होने पर चेतनद्रव्य की तरह गतिकारक बन सकता है जैसे देवदत्तनाम के नाविक से अधिष्ठित अचेतन नौकाद्रव्य एक तट से दूसरे तट की ओर सफर करवाता है वैसे चेतनाधिष्ठित अचेतनद्रव्य भी देशान्तरप्रापक होने में कोई विरोध नहीं है । तथा, कार्मणशरीर तो चैतन्य के साथ सदा के लिये अनुषक्त ही रहता है जब तक मुक्ति न हो । अतः उसे अचेतन कहना भी मुनासिब नहीं है । स्थूल शरीर भी जब तक जीवित रहता है तब तक उसे मुर्दा या अचेतन नहीं कह जाता । पहले इस तथ्य का निरूपण हो चुका है । इस चर्चा का सार यह है कि आगम और अनुगम प्रमाण से बन्धपदार्थ प्रसिद्धिप्राप्त है ।

९-३) इत्याप्तागमतश्चाऽस्मदादिभिः प्रतीयते सर्वकर्मनिर्जरावद्भिस्तु स्वसंवेदनाध्यक्षतः परमपदप्राप्ति-हेतोः सम्यग्ज्ञानादेः स्वसंविदितत्वात् सर्वकर्मापगमाविर्भूतचैतन्यसुखस्वभावात्मस्वरूपस्य मोक्षस्याप्यनन्तरोक्तन्यायतः प्रतिपत्तिः ।

तथाहि - 'यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यम् तत्प्रकर्षनिष्ठा-गमने भवति तस्यात्यन्तिकः क्षयः । यथोष्णस्पर्शतारतम्यात् शीतस्पर्शस्य । भवति च ज्ञानवैराग्यादेरुत्कर्षतारतम्यादज्ञानरागादेरपचयतारतम्यम्' इत्यनुमानतः भगवदागमतश्चास्मदादेरपवर्गसिद्धिः भगवतां तु केवलाध्यक्षतः । इति जीवाजीव-पदार्थद्वयाऽव्यतिरिक्तस्रवादिप्रतिपत्तिर्मुमुक्षुभिर्विधेया ।

तथाहि - मोक्षार्थिभिरवश्यं मोक्षः प्रमाणतः प्रतिपत्तव्योऽन्यथा तदुपायप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न

✽ संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्वों की प्रमाणतः सिद्धि ✽

संवर पदार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष-अनुमान-आगम तीनों प्रमाण से न्यायपूर्ण ढंग से हो सकती है। आश्रवनिरोधस्वरूप संवर समिति-गुप्ति-धर्मानुप्रेक्षाधर्मध्यानात्मक जीवपरिणामस्वरूप है और यह जीव परिणाम हमारी आत्मा में संयमध्यानादिरूप से प्रत्यक्ष स्वानुभवसिद्ध है। अन्य आत्मा में, संवरजन्य उपशमभावादि कार्य लिंग से संवर का अनुमान किया जा सकता है। 'संवर आश्रवनिरोधरूप है' इस अर्थ के प्रतिपादक तत्त्वार्थसूत्ररूप आगम से भी संवर पदार्थ सिद्ध है।

निर्जरा पदार्थ की सिद्धि हमारे प्रत्यक्ष से नहीं तो अनुमान से हो सकती है। ज्ञानावरणीयादि कर्मों की निर्जरा (क्षय) के विना केवलज्ञान की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती, अतः केवलज्ञानात्मक कार्यलिंग से निर्जरा का अनुमान हो सकता है। 'तप से निर्जरा भी होती है' ऐसे अर्थवाले तत्त्वार्थसूत्ररूप आप्तचित आगम से भी निर्जरा सिद्ध होती है। सर्व कर्मों की निर्जरा कर देने वाले महात्माओं को अपने स्वप्रकाश प्रत्यक्ष से ही निर्जरा पदार्थ सिद्ध है। तथा उन महात्माओं को परमपद मोक्ष की प्राप्ति के हेतु सम्यग्ज्ञानादि स्वप्रकाशानुभवसिद्ध होने से मोक्ष उन के लिये प्रत्यक्षसिद्ध है। पूर्वोक्त न्याय से मोक्ष अनुमानसिद्ध भी है, क्योंकि सकल कर्मों के क्षय से आविर्भूत शुद्ध चैतन्यमय सुखस्वभाव आत्मा ही मोक्ष का स्वरूप है। उस के लिये अनुमान-प्रयोग को सुनिये -

“जिस वस्तु का तरतमभाव से उत्कर्ष होने पर, तरतमभाव से जिस पदार्थ का अपकर्ष होता है, उस वस्तु का उत्कर्ष जब चरम सीमा को प्राप्त होता है तब वह पदार्थ सर्वथा क्षीण हो जाता है। उदा० जल को उबालते समय उष्णस्पर्श के तरतमभाव से शीत स्पर्श में तारतम्य होता है तो सीमाप्रकर्ष को प्राप्त उष्ण स्पर्श से शीत स्पर्श का सर्वथा नाश हो जाता है। यहाँ भी, ज्ञान और वैराग्य आदि के उत्कर्ष के तारतम्य से अज्ञान और रागादि के अपकर्ष का तरतमभाव होता है, अतः ज्ञान और वैराग्य के चरमोत्कर्ष से अज्ञान और रागादि का सम्पूर्ण क्षय (यानी सम्पूर्ण चैतन्यसुखस्वभावरूप मोक्ष) हो सकता है।” इस प्रकार हमारे लिये अनुमान से, एवं भगवद्विरचित आगम से भी मोक्ष की सिद्धि होती है। भगवान् को तो खुद अपने केवलज्ञानप्रत्यक्ष से मोक्ष सिद्ध है।

उपरोक्त नीति अनुसार मुमुक्षु महात्मा जीवाजीवयुगल से कथंचिद् अभिन्न आस्रवादि पदार्थों का स्वीकार करें।

मोक्ष का अर्थी हो उसे मुमुक्षु कहा जाता है। ऐसे मुमुक्षुओं का मुख्य कर्त्तव्य है कि प्रमाण के आधार पर मोक्ष तत्त्व का अंगीकार करना। मोक्ष तत्त्व के स्वीकार के विना उस के उपायों का अनुसरण दुर्घट है।

ह्यनवगतसस्यादिसद्भावस्तदर्थी तत्प्राप्त्युपाये कृष्यादौ प्रवर्तितुमुत्सहते । तदुपायप्रवृत्तिरप्युपायस्वरूपसं-
वरनिर्जराक्षणपदार्थद्वयप्रतिपत्तिमन्तरेणानुपपन्ना, अज्ञातस्य प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तेः ।

तथाहि — अशेषकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः संवर-निर्जराफलः तदभावेऽनुपपद्यमानस्तत्प्रवृत्तिं तज्ज्ञान-
पूर्विकामाक्षिपति । न हि अभिनवकर्मोत्पत्तौ प्राक्तनाशेषकर्मसंयोगाभावो भावे वाऽऽत्यन्तिकः
तद्वियोगः सम्भवतीति संवर-निर्जराज्ञानं मुमुक्षुभिरवश्यं विधातव्यम् । कर्मबन्धोऽपि संवर-निर्जरा-
निवर्त्तनीयः संसारसरित्स्रोतः प्रवर्त्तको ज्ञातव्यः अज्ञातस्योपायनिवर्त्तनीयत्वायोगात् । अयमपि आस्रव-
फलत्वेन ज्ञातव्योऽन्यथा तदनुत्पत्तेः । यथा हि घटादेः स्नेहाभावे रजःसम्बन्धो न घटते तथा कषाय-
स्नेहाभावे नात्मनः कर्मरजःसम्बन्ध उपपत्तिमान् । आस्रवोऽपि बन्धहेतुर्जीवाजीवकारणतया ज्ञातव्यः,
अन्यथाकारणस्य तस्याऽसम्भवात् । न हि अज्ञातकारणं तत्कार्यतया शाल्यङ्कुरादिवज् ज्ञातुं शक्यम् ।
न च जीवाजीवबहिर्भूतमास्रवस्य कारणं भवति तद्व्यतिरेकेण पदार्थान्तरस्याऽसत्त्वात् । जीवाजीवयोश्च
परिणामित्वे सति आस्रवादिहेतुत्वम्, एकान्तनित्यस्यानित्यस्य वार्थक्रियाऽनिवर्त्तकत्वेनासत्त्वात् ।

अनेक सज्जनों की मोक्षार्थक प्रवृत्ति दिखाई देती है — जो मोक्ष तत्त्व के अस्तित्व के विना घट नहीं सकती ।
धान्य का अर्थी धान्य के स्वरूप को समझे विना धान्य की प्राप्ति के लिये उस के उपायभूत कृषिकर्म की
कष्टमय प्रवृत्ति करने के लिये उत्साहित नहीं होता । मोक्ष के उपायों में प्रवृत्ति भी संवर-निर्जरा स्वरूप दो
पदार्थ को समझे विना नहीं हो सकती क्योंकि ये दो पदार्थ ही मुक्ति के उपाय हैं । अज्ञात उपाय, किसी
भी बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाली व्यक्ति की प्रवृत्ति का विषय कभी भी नहीं हो सकता ।

✽ मोक्ष के लिये आवश्यक संवरादि तत्त्वों का ज्ञान ✽

स्पष्ट सुनिये ! सकल कर्मों का वियोग यह मोक्ष है जो संवर और निर्जरा के मिलन का फल है । संवर-
निर्जरा के विरह में मोक्ष होना असम्भव है अतः उस के लिये ज्ञानपूर्वक संवर निर्जरा में प्रवृत्ति आवश्यक हो
जाती है । पूर्वबद्ध समस्त कर्मों के संयोग का अभाव (मोक्ष) तभी हो सकता है जब कि नूतन कर्म का बन्ध
रुक जाय । उस के विना यद्यपि पूर्वबद्ध सकल कर्मों का वियोग होगा, फिर भी नूतन कर्मों का बन्ध जारी
रहने से आत्यन्तिक कर्मवियोग सम्भव नहीं होगा, अतः निर्जरा के साथ संवर तत्त्व भी उपादेय है । अत एव
मुमुक्षुओं को संवर और निर्जरा दोनों तत्त्वों का ज्ञानसम्पादन करना आवश्यक है । संसारदुःखसरिताप्रवाह को
बहते रखनेवाला कर्मबन्ध भी संवर और निर्जरातत्त्व से रुक सकता है, अत एव बन्ध तत्त्व का परिचय (ज्ञान)
भी आवश्यक है, क्योंकि उस को जाने विना उस के निवर्त्तक उपाय से उस की निवृत्ति भी सम्भव नहीं है ।
कर्मबन्ध आस्रव का फल है इसलिये आस्रव का ज्ञान भी कर्मबन्ध को रोकने के लिये अनिवार्य है, उस के
विना कर्मबन्ध को रोकना असम्भव है । यह ध्यान में रहना चाहिये कि जैसे चिकनाई के विना रजोमल से
घटादि अवगुण्ठित नहीं होता वैसे ही कषायात्मक चिकनाई के विना आत्मा भी कर्मरजोमल से अवगुण्ठित नहीं
हो सकता । कषाय ही मुख्य आस्रव है और आस्रव कर्मबन्ध का हेतु है अतः उस को विशेषरूप से जानना
चाहिये कि जीव और अजीव दोनों की मिलीभगत से आस्रवकार्य निष्पन्न होता है । यदि जीव-अजीव को आस्रव
का कारण नहीं मानेंगे तो उस का अस्तित्व ही लुप्त हो बैठेगा । जैसे शालीबीज का ज्ञान न होने पर उस
के कार्य के रूप में शाल्यङ्कुर का ज्ञान हो नहीं सकता, वैसे ही जीव और अजीव तत्त्वों का ज्ञान न होने
पर उन के कार्य के रूप में आस्रव का ज्ञान भी नहीं हो सकता । जीव-अजीव को छोड़ कर और तो कोई
आस्रव का कारण होना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीव-अजीव युगल से बहिर्भूत किसी वस्तु का अस्तित्व ही

तस्मात् परिणामिजीवाजीवपदार्थद्वयाऽव्यतिरिक्तौ कथंचित् सकारणौ हेयोपादेयरूपौ बन्धमोक्षौ प्रति-
पत्तव्याविति सप्त पदार्थाः प्रमाणतोऽभ्युपगन्तव्याः ।

यथा च संवर-निर्जरयोर्मोक्षहेतुता आस्रवस्य च बन्धनिमित्तत्वं तथाऽऽगमात् प्रतिपत्तव्यम् तस्य
च जीवाजीवादिलक्षणे दृष्टविषये वस्तुतत्त्वे सर्वदाऽविसंवादाददृष्टविषयेऽपि एकवाक्यतया प्रवर्तमानस्य
प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्त्रधीनत्वात् तस्याऽप्रामाण्यम् वक्त्रधीनत्वप्रमाणत्वयोर्विरोधाभावात् ।
वक्त्रधीनस्यापि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्योपलब्धेः । न चाक्षजत्वाद् वस्तुप्रतिबद्धत्वेन तत्र प्रामाण्यम् न शा-
ब्दस्य विपर्ययादिति वक्तव्यम्, शाब्दस्य अत एव प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः, अन्यथाऽनुमानादविशेषप्रस-
ङ्गात् । तथाहि - गुणवद्वक्तृप्रयुक्तशब्दप्रभवत्वादेव शाब्दमनुमानज्ञानाद् विशिष्यते अन्यथा बाह्यार्थप्रति-
बन्धस्यात्रापि सद्भावाद् नानुमानादस्य विशेषः स्यात् । यदा च परोक्षेऽपि विषयेऽस्य प्रामाण्यमुक्तव्या-

नहीं होता । अतः जीव और अजीव के स्वरूप को जानना अति जरूरी है । जीव और अजीव दोनों परिणामनशील
ही मानना उचित है, अन्यथा वे आस्रव के हेतुरूप में परिणत ही नहीं होंगे । एकान्त नित्य पदार्थ या एकान्त
अनित्य पदार्थ अर्थक्रिया के संपादन में समर्थ नहीं हो सकते, अतः वे सत् भी नहीं हो सकते ।

निष्कर्ष :- परिणामी जीव और अजीव के युगल से कथंचित् अव्यतिरिक्त बन्ध और मोक्ष को, उन
के क्रमशः आस्रव एवं संवर-निर्जरा स्वरूप हेतुओं के साथ जानना और स्वीकारना चाहिये । उन में भी बन्ध
और उस का हेतु आस्रव हेतु है, मोक्ष एवं उस के हेतु संवर-निर्जरा उपादेय हैं यह भी समझना चाहिये ।
इस प्रकार प्रमाण के आधार पर सात पदार्थों का स्वीकार अवश्य करना चाहिये ।

✽ बन्ध और मोक्ष के हेतु आगम-गम्य ✽

प्रश्न :- संवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं, बन्ध का हेतु आश्रव है - यह कैसे जाना जाय ?

उत्तर :- केवलज्ञानी प्रकाशित आगमों की सहायता से अच्छी तरह उक्त तथ्यों को जान सकते हैं ।
सर्वज्ञ का आगम दृष्टिगोचर जीव-अजीव तत्त्वों के साथ सदा अविसंवादी रहा है, दृष्टपदार्थप्रकाशक और
अदृष्टार्थप्रकाशक पूरा आगम एक है, एकवाक्यता से अनुषक्त है, इस लिये अदृष्ट पदार्थों के विषय में भी
उस के प्रामाण्य का स्वीकार बेझीझक करना चाहिये ।

यदि यह कहा जाय कि - वक्ता को सापेक्ष होने से वह आगम अप्रमाण है - तो यह ठीक नहीं
है, क्योंकि वक्तृत्व सापेक्षता और प्रामाण्य में परस्परविरोध नहीं है । देखते हैं कि कभी आकाश में दुज के
चाँद आदि पदार्थों का प्रत्यक्षबोध किसी वक्ता के कहने से होता है फिर भी वह प्रत्यक्षबोध प्रमाण ही होता
है, अप्रमाण नहीं । यदि कहा जाय - प्रत्यक्षबोध वक्तृसापेक्ष होने पर भी इन्द्रियजन्य होने से वस्तुस्पर्शी होता
है इस लिये प्रमाणभूत होगा, किन्तु शाब्दबोध वैसा नहीं बल्कि उस से उल्टा होने से प्रमाण नहीं माना
जा सकता - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य न होने के कारण प्रत्यक्ष से उल्टा होने पर
भी वह वस्तुस्पर्शी होने से प्रमाण ही होता है और वक्तृसापेक्ष होने के जरिये ही वह अनुमान से अतिरिक्त
स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में सुसंगत हो सकता है । यदि वक्तृसापेक्ष नहीं होता तो शाब्दबोध वस्तुप्रतिबद्ध होने
के कारण अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाता, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होता । अनुमान से उस की भिन्नता का
हेतु यह है कि प्रमाणभूत शाब्दबोध, यथार्थज्ञान एवं अवश्चकबुद्धि आदि गुणों से विभूषित वक्ता के उच्चारित
शब्दों से उत्पन्न होता है, अनुमान ऐसा नहीं होता । सिर्फ बाह्यार्थ के सम्बन्धमात्र से अगर शाब्दबोध को
प्रमाण माना जाता, तब तो वह बाह्यार्थसम्बन्ध अनुमान में भी मौजूद होने से अनुमान से शाब्द प्रमाण का

यात् तदा गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वेनाऽस्य प्रामाण्यमतश्च गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वमितीतरेतराश्रयदोषोऽपि नात्रा-
वकाशं लभते यथोक्तसंवादादस्य प्रामाण्यनिश्चये । ‘कुतोऽयमस्यात्र संवादः’ इत्यपेक्षायाम् ‘आप्तप्रणीत-
त्वात्’ इत्यवगमो न पुनः प्रथममेव तत्प्रणीतत्वनिश्चयादस्यार्थप्रतिपादकत्वम् प्रतिबन्धनिश्चयादनुमान-
स्येव । नापि दृष्टविषयाऽविसंवादिवाक्यैकवाक्यतां विरहय्यादृष्टार्थवाक्यैकदेशस्यान्यतः कुतश्चित्
प्राक्संवादित्वनिबन्धनस्य प्रामाण्यस्य निश्चयः अभ्यासावस्थायां तु आप्तप्रणीतत्वनिश्चयात् प्रवृत्तिरदृष्टार्थ-
वाक्यान्न वार्यत इति कुत इतरेतराश्रयावकाशः ?

✽ विकल्पचतुष्टयेनैकान्तवादे वाक्यार्थासम्भवप्रदर्शनम् ✽

एकान्तवादिवाक्यात् तु दृष्टार्थेऽपि विसंवादिनः सर्वथाऽप्रवृत्तिरेव । निश्चितविसंवादाङ्गुल्यग्र-
हस्तियूथशतप्रतिपादकवाक्यादिवद् न होकान्तवादिवचनानां वाच्यं सम्भवीत्युक्तम् । यतः ^Aसामान्यं वा
तद्वाच्यं भवेत् ^Bविशेषो वा ? ^Cउभयम् ^Dअनुभयं वेति विकल्पाः ।

^Aन तावत् ^Bसामान्यम् तस्येतरव्यावृत्तप्रतिनियतैकवस्तुरूपत्वाऽयोगात् शब्दवाच्यत्वे घटाद्यानयनाय

भेद ही विच्छेद पा जायेगा ।

परोक्ष विषय में दृष्टविषयसंवादि-एकवाक्यतारूप युक्ति से शाब्दबोध में प्रामाण्य का स्वीकार किया गया है इस लिये निम्नोक्त अन्योन्याश्रय दोष को अवकाश नहीं है । गुणवद्वक्ताभाषितत्व होने पर प्रामाण्य की सिद्धि और प्रामाण्य सिद्ध होने पर गुणवद्वक्ताभाषितत्व की सिद्धि यह अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त रीति से संवाद और संवादि-एकवाक्यता के आधार पर ही आप्तवचनस्वरूप आगम में प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है । ‘अदृष्ट विषय में आगम का संवाद कैसे उपलब्ध होगा’ ऐसा यदि प्रश्न किया जाय तो उस के उत्तर में कह सकते हैं कि आप्तरचना होने से संवाद का अवबोध होता है । ऐसा नहीं है कि पहले से ही आप्तरचना के निश्चय से आगम का प्रामाण्य कहा जाय, जैसे व्याप्तिस्वरूप प्रतिबन्ध के निश्चय से अनुमान का प्रामाण्य नहीं कहा जाता । अनुमान का प्रामाण्य अर्थसंवाद के बल पर ही कहा जाता है । जब पूछा जाय कि यह अनुमान क्यों अर्थसंवादी है तब उत्तर में कहा जा सकता है कि सुनिश्चित व्याप्ति होने से ही वह संवादी है, यहाँ कोई अन्योन्याश्रय दोष नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि - दृष्टविषयसंवादिवाक्य-एकवाक्यता को उपेक्षित कर के अदृष्टार्थविषयक वाक्य स्वरूप एक खंड में किसी अन्य तत्त्व के आधार पर पूर्वभागसंवादिता-मूलक प्रामाण्य का निश्चय किया जाता हो; ऐसा किया जाता तब तो उस अन्य तत्त्व का प्रामाण्य और अदृष्टार्थविषयकवाक्य के प्रामाण्य में अन्योन्याश्रय दोष हो सकता था । हाँ, कभी कभी संवाद के बोध विना भी अत्यन्त सु-अभ्यस्त दशा में आप्त रचना के निश्चय से ही अदृष्टार्थवाक्य में प्रामाण्य का भान और उस से प्रवृत्ति हो जाना सम्भव है, फिर भी यहाँ अन्योन्याश्रय दोष को अवकाश नहीं है ।

✽ वाक्य के वाच्यार्थ पर विकल्प-चतुष्टय ✽

एकान्तवादियों के वाक्यों से सफल प्रवृत्ति का सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वे दृष्ट अर्थ के बारे में भी संवादी नहीं होते । ‘ऊंगली की नोक पर सो हाथी नाचते हैं’ इस वाक्य की तरह एकान्तवादियों के वाक्य में भी विसंवाद सुनिश्चित है । वास्तव में पहले ही कहा है कि एकान्तवादियों के वाक्य का कोई वास्तविक वाच्यार्थ ही नहीं होता । यदि वे वाच्यार्थ को मानते हैं तो किस को ? - ^Aसामान्य को ?, ^Bविशेष को ?, ^Cउभय को ? या ^Dअनुभय को ? - ये चार विकल्प हैं ।

✽. पृष्ठ ३४६ पर्यन्तमयं विकल्पोऽनुवर्त्यमानो विभावनीयः ।

प्रेरितः सर्वत्र प्रवर्तते न वा क्वचित्, भेदनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः। सामान्यस्याऽनर्थक्रियाकारितया च प्रवृत्तिनिबन्धनत्वाऽयोगात्।

अथापि स्यात् यदाऽयं प्रतिपत्ता वाक्यमश्रुतपूर्वं शृणोति तदा पदानां संकेतकालानुभूतानामर्थं सामान्यलक्षणमेव प्रतिपद्यते, या तु वाक्यार्थप्रतिपत्तिः साऽपेक्षा-संनिधानाभ्यां विशेषण-विशेष्यभावात् पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धना, न पुनस्ततो वाक्यात्, तथाविधस्य तस्य स्वार्थेन सह सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः। वाक्यमेव च प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारक्षमम् न पदम्, तस्याऽनर्थक्रियाकारिसामान्यप्रतिपादकत्वेनाऽप्रवृत्त्यङ्गत्वात्। अत एव न विवक्षाप्रतिभासिनमर्थं प्रतिपादयन्तः शब्दा अनुमानतामासादयन्ति, अगृहीतप्रतिबन्धादपि वाक्यविशेषाद्यथोक्तन्यायतो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः। अनेनैवाभिप्रायेण सौगता वाक्यगतां चिन्तामनादृत्य पदमेवानुमानेऽन्तर्भावितवन्तः। उक्तं च मीमांसकैः -

“वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः सम्बन्धानुगमाद् ऋते।

बुद्धिरुत्पद्यते तस्माद् भिन्ना साऽप्यक्षबुद्धिवत्॥

वाक्येष्वदृष्टेष्वपि सार्थकेषु पदार्थचिन्मात्रतया प्रतीतिम्।

दृष्टवानुमानव्यतिरेकभीताः क्लिष्टाः पदाभेदविचारणायाम्॥”

(श्लो० वा० शब्द प० श्लो० १०९, १११) इति।

अहले विकल्प में, सामान्य को वाच्यार्थ नहीं मान सकते, क्योंकि उस का स्वभाव है अनुवृत्ति, अर्थात् वह कोई अन्यव्यावृत्त नियत एक व्यक्ति स्वरूप नहीं होने से यदि उस को शब्दवाच्य माना जायेगा तो जब किसी को घटादि लाने के लिये आदेश होगा तब वह समस्त घट व्यक्ति घटसामान्य क्रोडीकृत होने से उन सभी को लाने की प्रवृत्ति करेगा अथवा किसी भी एक को न लायेगा। ऐसा क्यों ? इस लिये कि प्रवृत्ति भेदावलम्बी यानी व्यक्तिविशेष के लिये ही होती है न कि सामान्य के लिये। सामान्य किसी भी अर्थक्रियासम्पादन में उपयोगी न होने से प्रवृत्तिकारक नहीं हो सकता।

✽ सामान्यवादी की ओर से प्रथम विकल्प का समर्थन ✽

पूर्वपक्ष :- जब वेत्ता पुरुष अश्रुतपूर्व वाक्य को सुनता है तब संकेतकाल में जिस पद का जो सामान्य अर्थ अनुभूत किया था उसी सामान्य अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार पदार्थ का बोध होने के बाद, परस्पर अन्वय की अपेक्षा और संनिधि के जरिये विशेषण-विशेष्यभाव से गर्भित जो वाक्यार्थबोध होता है वह पूर्वजात-पदार्थबोधमूलक ही होता है, न कि वाक्यश्रवणमूलक; कारण यह है कि पूर्व में तथाविध विशेषण-विशेष्यभावापन्न वाक्यार्थ के साथ उस वाक्य के संसर्ग का भान कभी हुआ नहीं है। प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहार के लिये तो वाक्य ही समर्थ होता है, पद नहीं, क्योंकि पद का वाच्यार्थभूत सामान्य अर्थक्रियासम्पादक न होने से प्रवृत्ति-उपयोगी नहीं होता। जब कि वाक्य श्रवण के बाद तो पदार्थबोध और उस के बाद वाक्यार्थ का भान पूर्वोक्त रीति से होता है। इसी लिये अनुमान और शाब्द में भेद सुरक्षित रहता है। यद्यपि ‘विवक्षा-अन्तर्गत अर्थ का प्रतिपादन एक वाक्यगत शब्दों से होता है,’ ऐसा बौद्ध कहता है, अर्थात् शब्द से विवक्षा का अनुमान होता है और अनुमिति के विषयरूप में विवक्षाअन्तर्गत अर्थ का बोध होता है, इस लिये शब्द से होने वाला अर्थबोध अनुमितिरूप है - शब्द अनुमानात्मक है... इत्यादि बौद्ध भले ही कहे, किन्तु फिर भी यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि अश्रुतपूर्व वाक्य का किसी भी विवक्षा-अन्तर्गत अर्थों के साथ पूर्वगृहीत प्रतिबन्ध मौजूद नहीं होने

असदेतत् — एवंकल्पनायां पदार्थानामपि वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वाऽसम्भवात् । तथाहि — ‘घटः पटः कुम्भः’ इत्यादिपदेभ्यो यथाऽन्योन्याननुषक्तस्वतन्त्रसामान्यात्मकार्थप्रतिपत्तिस्तथा सम्बद्धपदसमूह-श्रवणादपि किं न तथाभूतसामान्यप्रतिपत्तिर्भवेत् ? न हि ततः सामान्यमात्राधिगमे तत्परित्यागतो विशिष्टार्थप्रतिपत्तौ निमित्तमस्ति । न वाऽपेक्षा-सन्निधानादिकं पदार्थानां तत्प्रतिपत्तौ निमित्तम्, पदार्थ-स्य पदार्थान्तरं प्रत्युत्पत्तौ प्रतिपत्तौ वाऽपेक्षादेरयोगात् तस्य सामान्यात्मकत्वेनोत्पत्तेरसम्भवात् स्वपदेभ्य एव प्रतिपत्तेः तत्रापि पदार्थान्तरापेक्षाद्यनुपपत्तेः । ‘अर्थशक्ति एव ततो विशेषप्रतिपत्तिः’ इति चेत् ? तर्हि पदार्थानामेकार्थसम्भवा प्रतिपत्तिर्यस्य तस्यापि ततस्तत्प्रतिपत्तिर्भवेत् । न च सामान्यत्यागे किञ्चिद् निबन्धनं बाधकाभावात्, सत्यर्थित्वे उभयप्रतिपत्ति-प्रवृत्ति स्याताम् । न च वाक्यार्थप्रत्यय एव बाधकः, तेन तस्य विरोधाभावात् सामान्य-विशेषयोः साहचर्यात् सामान्यप्रत्ययस्य च विशेषप्रतिपत्तिं प्रति

पर भी पूर्व में कहे युक्तिसंदर्भ के अनुसार पदार्थज्ञान से वाक्यार्थबोध होता है । इसी अभिप्राय से तो बौद्धवादियों ने वाक्यार्थ के विचार में शामिल होने के बजाय, अपने अनुमान-प्रदर्शन में पद-पदार्थ का ही उल्लेख किया है । मीमांसक कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है — “सम्बन्ध (यानी प्रतिबन्ध) ग्रहण किये बिना भी पदार्थ के अवलम्बन से वाक्यार्थ विषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है, इसीलिये वह अनुमान से भिन्न है, जैसे इन्द्रियजन्य बुद्धि । — अत्यन्त अदृष्ट अर्थ सभर वाक्यों (और उस के सम्बन्ध के अदृष्ट होने पर भी) के विषय में भी पदार्थज्ञानमात्र से अर्थप्रतीति होती है यह देख कर ही बौद्धों ने अनुमान से शाब्दबोध की भिन्नता के डर से पद और अर्थ के अभेद सम्बन्ध की ही चर्चा का क्लेश किया है । (वाक्य की चर्चा जानबुझ कर छोड़ दिया है।)”

✽ सामान्यवादी के मत में विशिष्ट अर्थबोध की दुर्घटता ✽

उत्तरपक्ष :- पूर्वपक्षी का यह विस्तृत कथन गलत है । आप ऐसी कल्पना करेंगे कि वाक्य वाक्यार्थज्ञान में हेतु नहीं है तो पदार्थ (? पद) भी वाक्यार्थबोध का हेतु नहीं बन सकेगा । कैसे यह देखिये - घट, पट, कुम्भ इत्यादि पदों से आप के मतानुसार परस्पर असम्बद्ध स्वतन्त्र घटत्वादि सामान्यरूप अर्थ का ही भान होता है, तो ऐसे ही परस्परसम्बद्ध पद समुदाय के श्रवण से भी स्वतन्त्र सामान्यात्मक अर्थ का बोध कौन रोक पायेगा ? जब वाक्यगत पदश्रवण से सिर्फ सामान्य का ही अवबोध होता है, तब उस का त्याग कर के विशिष्ट अर्थ का बोध मानने में अधिक निमित्त क्या है ? यदि कहें कि पदार्थों की अपेक्षा, संनिधि आदि ही विशिष्ट अर्थ बोध का निमित्त है — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आप के मत से पदार्थ सामान्यात्मक है, एक सामान्य पदार्थ को अपनी उत्पत्ति या बोधन में अन्य सामान्य की अपेक्षा आदि रखने की जरूर ही नहीं है । सामान्य तो नित्य माना है अतः उस की उत्पत्ति का सवाल ही नहीं है, और उस का बोध तो अपने वाचक पद से ही हो जाने वाला है अतः बोध के लिये भी अन्य पदार्थापेक्षा नहीं है ।

यदि कहा जाय — अर्थगत विशेष शक्ति से ही वाक्यगत पदों के विशेष अर्थ का बोध होता है — तो जिस को पदार्थों के ऐकार्थ्य (यानी मिल कर ऐकार्थबोधकत्व) मूलक अभेद बोध होता है उस व्यक्ति को ऐकार्थ्य के बिना भी अर्थगत शक्ति से वाक्यार्थ का बोध हो जायेगा । हकीकत तो यह है कि वाक्यार्थ में बाध होने पर अन्य अर्थ का भान मान्य होता है, किन्तु आप के मतानुसार पदों से सामान्य अर्थ के भान में कोई बाध तो है नहीं जिस से कि उस त्याग करना पड़े । दोनों पदों से दो सामान्य का बोध, अपेक्षित होने पर हो सकता है और अपेक्षानुसार प्रवृत्ति भी हो सकती है । यदि कहें कि विशेषरूप से वाक्यार्थ

निमित्तत्वाभ्युपगमात् निमित्तस्य च निमित्तिनाऽबाध्यत्वात्, अन्यथा तस्य तन्निमित्तत्वाऽयोगात् ।

अथ प्रागप्येवमयं व्युत्पादितः - यत्र पदार्थानामेकद्रव्यसम्भवस्तत्र पदार्थसामान्यत्यागाद् विशेषः प्रतिपत्तव्यः यथा नीलोत्पलादौ । नन्वेवं सर्ववाक्यान्यस्य व्युत्पादितान्येव भवन्ति । तथाहि - यः कश्चित् सम्भवदेकद्रव्यार्थनिवेशः पदसमूहः स संकेतसमयागतसामान्यात्मकावयवार्थपरित्यागतस्तेषामेव विशेषण-विशेष्यभावेन विशिष्टार्थगोचरः प्रतिपत्तव्यः, यथा 'नीलोत्पलं पश्य' इत्यादिपदसंघातः, तथा चायम-पूर्ववाक्यात्मकः पदसमुदायः इति संकेतमनुसृत्य यदा ततस्तथाभूतमर्थं प्रत्येति तदा कथं न विशिष्टार्थवाचकं वाक्यम् ? अनेनैव च क्रमेण शब्दविदां समयव्यवहार उपलभ्यते । यथा 'धात्वादिः क्रियावचनः कर्त्रादिवचनश्च लडादिः' इति समयपूर्वकं प्रकृति-प्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत

का बोध होता है वही सामान्य बोध में बाधक है तो यह भी अयुक्तिक है, क्योंकि विशेषरूप से वाक्यार्थबोध के साथ सामान्यबोध को विरोध नहीं है, अपि तु सामान्य और विशेष दोनों एक-दूसरे के सहचर ही होते हैं अतः विशेष वाक्यार्थ बोध के प्रति सामान्य के बोध को निमित्तरूप में स्वीकारना ही होगा, तभी साहचर्य सुरक्षित रहेगा । निमित्ती अर्थात् कार्य कभी निमित्त का यानी निमित्त कारण का बाधक नहीं होता, बाधक होता तो उस का वह निमित्त ही नहीं बनता । यह तो सर्वविदित ही है कि किसी एक वस्तु का सामान्यबोध उस के विशेषबोध में कारण होता है ।

✽ वाक्य में विशिष्टार्थवाचकता की सिद्धि ✽

यदि कहा जाय - "पहले ही पदार्थसामान्य के त्याग का व्युत्पादन किया जा चुका है । सुनिये, जहाँ पदार्थ में एकद्रव्यसम्भव यानी एकाधिकरण्य की सम्भावना होती है वहाँ पदार्थसामान्य का त्याग कर के विशेष का ही स्वीकार किया जाय । उदा० नीलोत्पल आदि । यहाँ नीलसामान्यपदार्थ एवं उत्पलसामान्य पदार्थ में एकाधिकरणता सम्भव होने से सामान्य पदार्थ का त्याग कर के विशेषणविशेष्यभावापन्न नीलोत्पन्न स्वरूप विशेष पदार्थ का स्वीकार किया जाता है" - तो यहाँ कहा जा सकता है कि ऐसे सभी वाक्यों का भी व्युत्पादन सम्भव है । कैसे, यह देखिये - जो कोई एकद्रव्यार्थनिवेश के सम्भव वाला पदसमुदाय प्रयुक्त हो, उस पदसमुदाय का (विशिष्ट अर्थ स्वीकार के योग्य है), जिस के अवयवों का सामान्यात्मक अर्थ संकेतकाल में निश्चित किया है, उस अर्थ का त्याग कर के, उन अवयवार्थों का ही विशेषण-विशेष्यभाव समझ कर, विशिष्ट अर्थ स्वीकार करना चाहिये । उदा. 'नीलोत्पल को देखिये', इस पदसमुदाय का दर्शनीयत्व विशिष्ट नीलोत्पल ही अर्थ स्वीकार किया गया है । (उपनय) यह अपूर्ववाक्यात्मक पदसमूह भी सम्भवारूढ एकद्रव्यार्थनिवेशवाला ही है अतः उसे भी विशिष्टार्थगोचर स्वीकार किया जाय । इस प्रकार, आप के बताये गये व्युत्पत्तिसंकेत का ही अनुसरण कर के श्रोता जब तथाविध विशिष्ट अर्थ का बोध अनुभव करता है तो वाक्य को भी विशिष्टार्थविषयक क्यों न माना जाय ? (यानी सामान्य ही वाच्यार्थ है - ऐसा एकान्तवाद डूब जायेगा ।)

✽ शब्दशास्त्र का व्यवहार ✽

शब्दशास्त्र के पंडितों का शास्त्रीयव्यवहार भी इस ढंग से ही उपलब्ध होता है । व्यवहार-कर्ता को इस तरह संकेत दिया जाता है कि धातु-आदि पद क्रियावाचक होते हैं और लट्-लिट् आदि प्रत्ययपद कर्तृ आदिवाचक होते हैं । ऐसा संकेत देने के बाद उसे ऐसी व्युत्पत्ति बतायी जाती है कि प्रत्यय स्वतन्त्ररूप से किसी अर्थ का आख्यान नहीं करता किन्तु प्रकृति (धातु आदि) और प्रत्यय दोनों मिल कर ही प्रत्ययार्थ का आख्यान करते हैं । इस ढंग से व्युत्पन्न बना हुआ व्यवहारी समझता है कि विशेषविनिर्मुक्त सामान्यमात्र अर्थक्रियासम्पादक

इति व्युत्पादितोऽनर्थक्रियाकारित्वेन सामान्यमात्रस्य विशेषनिरपेक्षस्य प्रतिपादयितुमनिष्टेः तत्परित्यागेन व्यवहारकाले विशेषमवगच्छति व्यवहारी । न च प्रकृति-प्रत्ययाथविवात्र पदार्थ प्रतिपादयतः न पदमिति मन्तव्यम् —

‘अशाब्दे वापि वाक्यार्थे न पदार्थेष्वशाब्दता । वाक्यार्थस्येव नैतेषां निमित्तान्तरसम्भवः ॥’ (श्लो० वा० वाक्या० श्लो०-२३०) इत्यस्य विरोधप्रसक्तेः । न च वाक्यस्य वाक्यार्थे संकेतकरणेऽनुमानात् शाब्दस्याऽविशेषप्रतिपत्तिः, विशेषस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात् केवलस्य च पदस्य प्रयोगानर्हत्वात् वाक्यस्य तु प्रयोगार्हस्य सामान्यानभिधायकत्वात् कथं सामान्यं शब्दार्थः स्यात् ?

यैस्तु पूर्वपदानुरञ्जितं पदमेव वाक्यम्, पदार्थ एव पदार्थान्तरविशेषितो वाक्यार्थोऽभ्युपगतः । तथाहि — ‘दण्डी’ ‘छत्री’ इत्यादिव्यपदेशं यथा पुरुष एव समासादयति नान्यस्तद्व्यतिरिक्तः; तथा ‘अपाक्षीत्’ ‘पचति’ ‘पक्षयति’ इत्याद्यतीतकालाद्यवच्छिन्नः क्रियाविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते — ‘अपाक्षीत्’ इत्यादिशब्दानां देवदत्तशब्देन सामानाधिकरण्यात् न तु तद्व्यतिरिक्तोऽर्थः । अथ यद्यत्र कालाद्य-
न होने से उस का प्रतिपादन वक्ता का इष्ट नहीं हो सकता, अतः उस वाक्य से व्यवहारकाल में सामान्य अर्थ का त्याग कर के विशेष का ही ग्रहण करता है ।

यदि कहा जाय कि — यहाँ प्रकृति-अर्थ और प्रत्ययार्थ ही मिल कर पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं न कि पद स्वतन्त्ररूप से — तो ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि वाक्यार्थ में भी शाब्दत्व का उपपादन करते हुए श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि — ‘वाक्यार्थ में (कुछ काल तक) अशाब्दत्व मान लेने पर भी पदार्थ में शाब्दबोधत्व का अभाव नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ जैसे अन्य निमित्त (पदार्थ ज्ञान) के बल से सम्भव होता है, पदार्थ के लिये ऐसा नहीं है।’ — इस कथन से पदार्थ में तो शाब्दत्व का स्पष्ट ही अंगीकार किया गया है फिर पद को स्वतन्त्ररूप से पदार्थ का बोधक न माने तो इस श्लोकवार्तिक के विधान के साथ विरोध प्रसक्त होगा ।

यदि यह कहा जाय कि — ‘वाक्यार्थ में वाक्य का संकेत मान लिया जाय तो शाब्दबोध और अनुमान में कुछ फर्क नहीं रहेगा’ — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पहले फर्क बताया है कि प्रतिबन्ध का पूर्व में ग्रहण न होने पर भी अपूर्ववाक्य के श्रवण से वाक्यार्थ का भान होता है, अनुमान में पहले प्रतिबन्धग्रहण आवश्यक होता है ।

अब यहाँ प्रश्न इतना ही है कि कहीं भी स्वतन्त्र पदमात्र का प्रयोग नहीं होता है, प्रयोग होता है वाक्य का, किन्तु वह सामान्य का नहीं विशेष का प्रतिपादन करता है, तब सामान्य को शब्द का वाच्यार्थ कैसे माना जा सकता है ?

✽ पदार्थान्तरविशेषितपदार्थस्वरूपवाक्यार्थप्रदर्शक पूर्वपक्ष ✽

जो कुछ पंडितों का यह मत है —

पूर्व-पूर्व पदों से अनुरञ्जित — सहोच्चरित पद ही वाक्य हैं । अन्य अन्य पदार्थ से विशेषित पदार्थ ही वाक्यार्थ है । कैसे यह देखिये — पुरुष ही ‘दण्डवाला’ ‘छत्रवाला’ ऐसे सम्बोधनों को प्राप्त करता है न कि पुरुष से भिन्न कोई अन्य वस्तु । तथैव, ‘उसने पकाया था’ — ‘वह पका रहा है’ — ‘वह पकायेगा’ इन प्रयोगों से भूत-वर्तमान-भाविकाल से अनुषक्त और पाकक्रियाविशेष से सम्बद्ध एक देवदत्त ही प्रतीत होता है, क्योंकि ‘अपाक्षीत्’ (= वह पकानेवाला था) इत्यादि शब्दों का एक देवदत्त के साथ ही सामानाधिकरण्य

वच्छिन्नपुरुष एव प्रतीयते तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' ग्रामं गच्छ' 'स्वाध्यायः कर्त्तव्यः' इति लिट्-लोट्-कृत्य-प्रयोगेषु कस्यार्थस्य प्रतीतिः ? अत्रापि कर्मणि नियुक्तः क्रियाविशिष्टोऽध्येषणादिविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते, केवलं वर्त्तमानादिः कालो न विशेषणत्वेनात्रावतिष्ठते। अथ यति नात्रार्थातिरेकावगतिर्भावसम्पादने कथं पुरुषः प्रवर्त्तते ? यथा हि देवदत्तः 'पचति' इत्यादिवाक्यान् प्रवर्त्तते तथा 'जुहुयात्' इत्यस्मादपि नैव प्रवर्त्तते, प्रवृत्तिनिमित्तस्यानवबोधात्। असदेतत् - 'जुहुयात्' इत्यादिवाक्यजनितविज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात्, प्रवृत्तेस्तद्भावभावित्वेनोपलम्भात्, तद्वाक्यसमुत्थं ज्ञानं पुरुषं स्वर्गादिसाधने नियोजयदुपलभ्यते न 'पचति' आदिवाक्यसमुत्थम्। तथाहि - विध्यादिवाक्य-जनितज्ञानानन्तरमिच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नः, तदनन्तरं च पुरुषस्य स्वर्गादिफलार्थः परिस्पन्दः, ततोऽपि फलपर्यन्तात् स्वर्गफलावाप्तिः इत्यभिधानात्।

तेऽप्ययुक्तकारिणः, एकान्तपक्षे विशेषण-विशेष्ययोरत्यन्तभेदेऽभेदे वा विशेषणानुरागस्य पद-पदार्थेष्वसम्भवात् वाक्यार्थकल्पनादेरनुपपत्तेः। अत एव 'अपाक्षीद् देवदत्तः' इत्यादौ न कालक्रिया-विशिष्टपुरुषप्रतिपत्तिः, क्रियादेः पुरुषाद् भेदे सम्बन्धाऽसिद्धितो व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। अभेदेऽपि

(= ऐकार्थ्यं) प्रतीत होता है, न कि अन्य, (देवदत्त से भिन्न) कोई पदार्थ।

प्रश्न :- 'अपाक्षीत्' इत्यादि शब्दों से यदि भूतकालादि से अनुषक्त देवदत्तादि पुरुष ही दृष्टिगोचर होता है तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् = अग्निहोत्र होम किया जाय' - 'ग्रामं गच्छ = गाम की ओर जाओ' - 'स्वाध्यायः कर्त्तव्यः = स्वाध्याय करने योग्य है' - इन प्रयोगों में लिट् प्रत्ययान्त 'जुहुयात्' शब्द, लोट् प्रत्ययान्त 'गच्छ' प्रयोग और कृत्यप्रत्ययान्त 'कर्त्तव्यः' प्रयोगों में किस अर्थ की प्रतीति मानेंगे ? प्रश्नकार का तात्पर्य यह है कि यहाँ लिट् आदि प्रत्ययान्त का सामानाधिकरण्य कहाँ है ?

उत्तर :- यहाँ भी होम क्रिया में नियुक्त, गमनक्रिया में संलग्न, अध्येषणादि से विशिष्ट देवदत्त की ही प्रतीति होती है। फर्क इतना है कि यहाँ विशेषण के रूप में वर्त्तमानादि काल का बोध नहीं होता।

प्रश्न :- देवदत्त से अतिरिक्त किसी अर्थ का यदि यहाँ भान नहीं होता तो पुरुष की भावसम्पादन के लिये प्रवृत्ति कैसे होगी ? प्रश्न का तात्पर्य यह है कि 'जुहुयात्' शब्द से यदि 'होम के द्वारा अपूर्व के भावन की प्रेरणा' जैसा कोई अर्थ ही प्रतीत नहीं होता, सिर्फ 'विशिष्ट देवदत्त' ही प्रतीत होता है तो अपूर्वभावन (=पुण्यनिष्पादन) के लिये होने वाली प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? 'देवदत्तः पचति' इस वाक्य से जैसे प्रेरणाबोध से प्रवृत्ति नहीं होती वैसे 'जुहुयात्' शब्द से भी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रवृत्तिनिमित्त अपूर्वभावन की प्रेरणा का यहाँ बोध ही नहीं है।

उत्तर :- प्रश्न गलत है। लिट् प्रत्ययान्त 'जुहुयात्' आदि वाक्यजन्य बोध ही प्रवर्त्तक बोध है इस में क्या पूछना ? दिखता है कि 'जुहुयात्' इत्यादि शब्दावली का श्रवण होने पर अर्थी श्रोता की प्रवृत्ति होती है। 'जुहुयात्' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान ही पुरुष को स्वर्गादि की साधना में प्रेरणा करता है न कि 'पचति' आदिवाक्यजन्य ज्ञान - यह स्पष्ट देखा गया है। कैसे यह देखिये - कहा गया है कि 'विधि' आदि प्रत्ययगर्भितवाक्यजन्य बोध के बाद फल की इच्छावाले को प्रवृत्ति की इच्छा होती है, उस के बाद वह प्रयत्न करता है, प्रयत्न के फलस्वरूप प्रयत्नशील पुरुष में स्वर्गादिफल अनुकूल चेष्टा प्रारम्भ होती है। उस फलपर्यन्तभावि चेष्टा से अन्ततः स्वर्गादिफल की निष्पत्ति होती है।

एकस्य तात्त्विकविशेषण-विशेष्यरूपताऽसंगतेः, अन्यथाऽतिप्रसंगात्, कल्पनारचितस्य तद्रूपत्वस्य सर्वत्रा-
ऽविशेषात्, विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेश्चान्यनिमित्तत्वात्, विरोधादिदोषस्य च तत्र प्रागेव प्रतिविहितत्वात्।
एतेन लिङादियुक्तवाक्यजनितविज्ञानस्य प्रवर्तकत्वमेकान्तवादिप्रकल्पितं प्रतिक्षिप्तं तद्भावभावित्वस्या-
ऽन्यथासिद्धत्वप्रतिपादनात्।

यदप्यत्र — ()

संसर्गमोहितधियो विविक्तं धातुगोचरात्। भावात्मानं न पश्यन्ति ये तेभ्यः स विविच्यते॥

इत्यादिना ग्रन्थसंदर्भेण प्रतिपादयन्ति — भाव एव साध्यतया लिङादिभिरभिधीयते न कर्ता
'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातमाचष्टे' () इति वचनाद्; भाव एव च कालत्रयशून्यः साध्यतया
प्रतीयमानो विधिरित्यभिधीयते। स चात्मलाभाय प्रेरयन् पुरुषं लिङर्थः इति। तदप्यनुपपन्नम्, भा-
वस्य ^अफलसापेक्षत्व-^बनिरपेक्षत्वविकल्पद्वयेऽपि साध्यत्वानुपपत्तेः। न तावत् ^अफलनिरपेक्षो भावः

✽ एकान्तवाद में विशेषणोपराग की दुर्घटता ✽

कुछ पंडितों का वह कथन अयुक्त है —

एकान्तवाद में विशेषण-विशेष्य में अत्यन्त भेद होगा या अभेद ? किसी भी पक्ष में पद या पदार्थों
में विशेषण का अनुरञ्जन (एकान्तवाद में) शक्य नहीं है। न तो 'देवदत्त' पद 'दण्डी' आदि विशेषण पदों
से रञ्जित हो सकता है न तो देवदत्त पदार्थ दण्डी आदि पदार्थ से रञ्जित हो सकेगा। फलतः एकान्तवाद
में वाक्यार्थ की रचना आदि भी सुसंगत नहीं हो सकती। एकान्तवाद में विशेषण-विशेष्य भाव में एकान्त
भेद पक्ष या अभेद पक्ष के संगत न होने से ही, 'देवदत्तः अपाक्षीद् = देवदत्त ने पकाया' इत्यादि प्रयोगों
में काल और क्रिया से विशिष्ट देवदत्तादि की प्रतीति भी सुघटित नहीं हो सकती। कारण यह है कि यदि
देवदत्त से क्रियादि का एकान्त भेद रहेगा तो दोनों के बीच सम्बन्ध का मेल नहीं बैठेगा, फलतः विशेषण
बन कर व्यवच्छेदकता का काम क्रियादि से नहीं होगा।

अभेदपक्ष में तो एक ही पदार्थ शेष रहने से कोई तात्त्विक विशेषण-विशेष्यभाव संगत नहीं होगा। यदि
एक वस्तु में विशेषण-विशेष्यभाव मानेंगे तो प्रत्येक चीज स्वविशेषण और स्वविशेष्य बन जायेगी, क्योंकि कल्पना
से तो विना किसी भेदभाव से सर्वत्र विशेषणता-विशेष्यता की रचना की जा सकती है। एकान्त अभेद इस
लिये भी नहीं घट सकता कि सर्वत्र विशिष्ट प्रतीति (कथंचिद्) भेदमूलक ही होती है। कथंचिद् भेदाभेद पक्ष
में विरोध की आशंकाओं का प्रतिकार तो कई बार पहले हो चुका है।

एकान्तवाद में वैशिष्ट्य की घटना दुर्घट है इसी लिये 'जुहुयात्' इत्यादि लिट् आदि प्रत्ययान्त वाक्यप्रयोगों
से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से स्वर्गार्थी की प्रवृत्ति के सम्पादन की कल्पना भी निरस्त हो जाती है। प्रवृत्ति
तो वैसे वाक्यप्रयोगों के ज्ञान के विना भी, एक-दूसरे को देखने से भी होने की प्रबल शक्यता है अतः
'तथाविधज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति का होना' यह अन्वय अन्यथासिद्ध है।

✽ लिट् आदि प्रत्ययों से भाव की साध्यता के कथन की समीक्षा ✽

संसर्गमोहित० ...इत्यादि कारिका संदर्भ को लेकर कुछ पंडितों ने जो कुछ कहा है वह भी सुसंगत नहीं
है। उक्त कारिका में यह कहा गया है कि 'संसर्ग से जिन की बुद्धि मोहग्रस्त हो गयी है, फलतः धातुगोचर
अर्थ से भावात्मा को पृथक् नहीं देख सकते, उन लोगों के सामने भावात्मा का विवेचन किया जाता है' —
इस कारिकार्थ को ले कर कुछ पंडित कहते हैं — लिट् आदि प्रत्ययान्त पदों से भाव का ही अभिधान साध्य

आत्मविषयसाध्यतायां पुरुषं प्रेरयितुं समर्थः, प्रेक्षापूर्वकारिणः फलविकले कर्मणि कुतश्चिदप्रवृत्तेः। अपि च, असौ भावः स्वात्मसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयन् ^१निष्पन्नः ^२अनिष्पन्नो वा प्रेरयेत् ? ^३न तावद् निष्पन्नः तत्सद्भावस्य सिद्धत्वात्। नाप्यनिष्पन्नः अविद्यमानस्याऽतिप्रसंगतः प्रेरकत्वाऽयोगात्। न च सामान्याकारेण विद्यमानो विशेषाकारसम्पादनाय भावः पुरुषं प्रेरयतीति वक्तव्यम् सामान्याकारेण विद्यमानतया तस्य साध्यत्वानुपपत्तेः, विद्यमानस्य च वर्तमानत्वेन लिङ्गत्वानुपपत्तेः त्रिकालशून्यस्य लिङ्गत्वानुपपत्तेः विशेषाकारतायाश्च सम्पाद्यत्वेऽपि प्रेरकत्वानुपपत्तेरित्युक्तम्।

^४अथ फलापेक्षो भावः स्वात्मसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयतीत्यभ्युपगमस्तर्हि फलस्यैव प्रेरकत्वम् न भावस्य स्यात्, तथाभ्युपगमेऽपि दोष एव — तत्रापि ^५विद्यमानाऽविद्यमानविकल्पद्वयानतिवृत्तेः। ^६तथाहि — यद्यपि सर्वाः क्रियाः प्रयोजनवत्त्वेन व्याप्ता इति तदेव भावसम्पादने पुरुषं प्रेरयति, तथापि तदेकान्ततो विद्यमानं कथं पुरुषं प्रेरयेत् ? न हि यद् यस्यास्ति स तदर्थमेव लोके प्रवर्तमानो दृष्टः, प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रेरकसद्भावेऽपि कस्यचित् प्रवृत्त्यनुपलब्धेः। न च प्रयोजनस्यात्मसम्बन्धिता-

के रूप में किया जाता है, न की कर्ता का अभिधान। यह शास्त्रवचन भी है कि 'आख्यात (क्रियापद) पूर्वापरीभूत भाव का ही आख्यान करता है।' (होमादि क्रिया यहाँ 'भाव' शब्द से विवक्षित प्रतीत होती है, क्रिया के प्रारम्भिक-अन्तिम अनेक चरण होते हैं — अतः उस में पूर्व-अपर भाव होना सहज है।) 'विधि' अर्थ में प्रत्यय लगाते हैं तो वहाँ 'विधि' शब्द का अर्थ यही है कालत्रयनिरपेक्ष साध्य रूप से प्रतीत होनेवाला भाव। वही साध्यात्मक भाव अपनी निष्पत्ति के लिये पुरुष को प्रेरणा करता हुआ लिट् प्रत्ययार्थ कहा जाता है।

यह पंडितकथन भी दुर्घट है, क्योंकि भाव का जब ^७फलनिरपेक्ष और ^८फलसापेक्ष दो विकल्पों से विवेचन करेंगे तब उस की साध्यता ही संगत नहीं होती। फलनिरपेक्ष भाव साध्य होगा या फलसापेक्ष भाव ? यदि ^९पहला विकल्प स्वीकार करें तो वह संगत नहीं होता क्योंकि फलनिरपेक्षभाव स्वविषयकसाध्यता यानी स्वनिष्पत्ति के लिये पुरुष को प्रेरणा देने में सक्षम नहीं होता। बुद्धि पूर्वक कार्य करने वाले सज्जन कभी भी फलशून्य क्रिया में किसी भी प्रकार प्रवृत्ति नहीं करते। यह भी सोचना चाहिये कि ^{१०}निष्पन्न भाव स्वनिष्पत्ति के लिये पुरुष को प्रेरणा देगा या ^{११}अनिष्पन्न भाव ? ^{१२}निष्पन्न भाव तो सिद्ध ही है वह क्या अपनी निष्पत्ति के लिये प्रेरणा करेगा ? जो भाव ^{१३}अनिष्पन्न है वह असत् है अविद्यमान है, वह क्या प्रेरणा करेगा ? यदि असत् भी प्रेरणा करेगा तो अश्वर्सींग भी कहीं कार्यकारी हो बैठेगा।

यदि ऐसा कहा जाय — भाव सामान्याकार से निष्पन्न है, विशेषाकार से अनिष्पन्न है, अतः सामान्याकार से विद्यमान भाव विशेषाकार की निष्पत्ति के लिये पुरुष को प्रेरणा देगा। — तो यह विधान ठीक नहीं है क्योंकि सामान्याकार से जब वह विद्यमान ही है तब उस में साध्यता नहीं घटेगी। तथा जो विद्यमान यानी वर्तमान है वह लिट् प्रत्ययार्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि आप तो लिट् प्रत्ययार्थ को कालत्रयशून्य होने का मानते हैं। फलतः विशेषाकार सम्पाद्य होने पर भी लिट्प्रत्ययार्थ न होने से प्रेरक नहीं बन सकता।

✽ फलसापेक्षभाव से पुरुष-प्रेरणा की अशक्यता ✽

^{१४}दूसरे विकल्प में यदि फलसापेक्ष भाव अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये पुरुष को प्रेरणा करता है ऐसा मानेंगे तो यहाँ वास्तविक प्रेरणादाता भाव नहीं किन्तु फल ही कहना चाहिये। फल को प्रेरक मान लेंगे तब तो कोई दोष नहीं ? — दोष है, फल ^{१५}विद्यमान हो कर प्रेरक होगा या ^{१६}अविद्यमान यानी असत् फल प्रेरक होगा ? ये दो विकल्प खडे हैं। स्पष्टरूप से कहें तो यहाँ एकान्तवाद ही सदोष है। यद्यपि यह बात ठीक है कि प्रत्येक क्रिया सप्रयोजन होती है, अतः प्रयोजन (फल) ही पुरुष को भावसम्पादन की

मुत्पादयितुमसौ प्रवर्त्तते, आत्मसम्बन्धिताया अपि विद्यमानत्वेन प्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तेः। किञ्च, दुःखविरहसुखस्वभावलक्षणं प्रयोजनमुपजायमानमात्मसम्बन्धितयैवोपजायते इति न तदर्थोऽपि प्रयासः सफलः। न च प्रयोजनमविद्यमानं पुरुषं प्रेरयति अविद्यमानस्य कारकत्वाऽयोगात्। 'कार्यतया तत् तत्र प्रेरयति' इति चेत् ? ननु सापि यदि ^७भावरूपा न तर्हि विद्यमानत्वात् पुरुषप्रवर्त्तिका भवेत्! न च विद्यमानस्य कार्यरूपता सम्भवति तस्य कार्यताविरोधात् ^१अथाभावरूपा तथापि न प्रेरकत्वम् अभावस्यापि स्वरूपेण विद्यमानत्वात्। न च स्वर्गाभावः पुरुषार्थत्वेनाभ्युपगतः।

न च परस्परविविक्तोभयरूपतयाऽपि कार्यतायाः प्रेरकत्वम् उभयदोषानुषङ्गात्, अन्योन्यानुषक्तो-भयरूपताऽभ्युपगमे परपक्षाभ्युपगमप्रसक्तिः, फलानुभवपर्यायाऽव्यतिरिक्तस्य कारणपर्यायात्मकस्यात्मनः फलात्मतया परिणामात् कारण-फलपर्याययोः कथंचिदभेदादेकस्यैवात्मद्रव्यस्य तत्तद्रूपतया विवृत्तेः, फलस्य भावाभावरूपतया प्रवर्त्तकत्वात् अन्यथा सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः।

प्रेरणा देता है, किन्तु फिर भी यह प्रश्न सिरदर्द जैसा है कि एकान्त से ^Eविद्यमान फल पुरुष को कैसे प्रेरणा करेगा ? जो चीज विद्यमान यानी सिद्ध है — प्राप्त है — उस की प्राप्ति के लिये कोई प्रवृत्ति करता हुआ दिखता नहीं है। कभी प्रयोजन के बदले अन्य कोई प्रेरक हो, फिर भी पुरुष प्रयोजन के उद्देश्य के अलावा प्रवृत्ति नहीं करता। यदि ऐसा कहा जाय कि — (जैसे जम्बूफलादि पूर्वनिष्पन्न होने पर भी उन को अपना करने के लिये, अपने घर में खाने के लिये ला कर रखने के लिये पुरुष की प्रवृत्ति होती है वैसे) प्रयोजन (फल) का अपने (पुरुष के) साथ सम्बन्ध के सम्पादन के लिये प्रवृत्ति हो सकती है — तो यह भी ठीक नहीं है। पुरुष तो आत्मा है जो व्यापक है, किसी भी देश में उत्पन्न (विद्यमान) प्रयोजन के साथ उस का सम्बन्ध अक्षुण्ण है फिर उस के लिये प्रवृत्ति आवश्यक नहीं है।

यह भी ध्यान में लेना चाहिये कि मुख्य प्रयोजन दुःखनाश और सुखप्राप्ति है और वे जब भी उत्पन्न होते हैं तब आत्मसम्बद्ध ही उत्पन्न होते हैं, जब वह विद्यमान है तो सम्बन्ध भी विद्यमान है, फिर उस के लिये प्रवृत्ति की जाय तो भी वह सफल नहीं होगी।

^Fअविद्यमान प्रयोजनवाला विकल्प तो असंगत ही है, क्योंकि अविद्यमान = असत् कभी भी कारक (सम्पादक) नहीं होता अथः अविद्यमान प्रयोजन पुरुष का प्रेरणादाता नहीं हो सकता। यदि कहा जाय — अविद्यमान प्रयोजन भावि कार्य के रूप में अर्थात् कार्यत्व (साध्यत्व) रूप से पुरुष का प्रेरक हो सकता है — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वह कार्यता यदि ^Gभावात्मक यानी विद्यमान है तब तो सिद्ध होने से पुरुष की प्रेरक नहीं हो सकती। जो अब विद्यमान ही है उस में कार्यरूपता का होना सम्भव नहीं है क्योंकि विद्यमानता और कार्यता विरुद्ध है। यदि वह कार्यता ^Hअभावात्मक असत् है तो भी वह प्रेरक नहीं हो सकती क्योंकि वह कार्यता अभावात्मक रूप से विद्यमान - प्राप्त ही है। अप्राप्त हो तो भी वह प्रेरक नहीं हो सकती क्योंकि स्वर्ग की अभावात्मक कार्यता का अर्थ है स्वर्गाभाव, स्वर्गाभाव कभी पुरुषार्थ यानी पुरुष से अभिलषणीय पदार्थ नहीं है।

✽ परस्पर सापेक्ष भावाभावात्मक कार्यतापक्ष समीचीन ✽

यदि कार्यता को परस्पर निरपेक्ष भावाभाव उभय स्वरूप मान कर उसे प्रेरक बताया जाय तो इस पक्ष में भावपक्षकथित और अभावपक्षकथित दोषों का प्रवेश होगा। यदि परस्पर सापेक्ष अर्थात् अनुषक्त भावाभाव उभय स्वरूप कार्यता मानी जाय तो एकान्तवाद का त्याग और अनेकान्तवाद के स्वीकार की विपदा होगी। अनेकान्तवाद में कारणावस्थानुषक्त आत्मा फलानुभव अवस्था से सर्वथा भिन्न नहीं होता, कारणावस्थ आत्मा

अन्ये तु विधेः प्रवर्तकत्वमभ्युपपन्नाः त्रिकालशून्यो विधिरेव प्रवर्तकैकस्वभावः लिङोपदिश्यमानः कर्मणि पुरुषं नियोजयति। स च प्रेषणाध्येषणादिव्यतिरिक्तस्तदनुगतश्च गोव्यक्तिषु गोत्ववत्। अध्येषणा = सत्कारपूर्वको नियोगः, प्रेषणा तु न्यत्कारपूर्वको नियोग एव, पुरुषगताशयविशेषः प्रेषणाऽध्येषणाशब्दवाच्यः। न चास्य प्रेरकत्वम् व्यभिचारात्। तथाहि- अध्येषणाऽभावेऽपि प्रेषणातः पुरुष-प्रवृत्तिरुपलभ्यते तदभावेऽपि चाध्येषणातः पुरुषप्रवृत्तिरुपलभ्यते इति न प्रेषणादेः पुरुषप्रवर्तकत्वम्। किन्तु, यथोक्तो विधिर्भावनिष्ठभावकव्यापारस्वभावभावनानुगते स्वर्गादिफलसम्पादके धात्वर्थे पुरुषं नियोजयति। तदुक्तम् - (श्लो० वा० औत्पत्तिक सू० श्लो० १४)

विधावनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते। श्रुतः स्वर्गादिवाक्येन* धात्वर्थः साध्यतां ब्रजेत्॥

ही फलावस्था में परिणत हो जाता है; इस प्रकार कारण अवस्था और कार्य अवस्था में कथंचिद् अभेद होता है। अनेकान्तवाद में एक ही आत्मा-द्रव्य तत् तत् रूप से अन्य अन्य अवस्थाओं में - विवर्त्तो में अवतरण करता रहता है। अतः फल भावाभाव उभयरूप होने से अर्थात् कथंचित् सिद्ध और कथंचित् असिद्ध होने से प्रवृत्तिकारक हो सकता है। यदि ऐसा न माना जाय तो विद्यमान-अविद्यमान विकल्पों से सारे जागतिक व्यवहारों की दुर्घटना अर्थात् उच्छेदप्रसंग हो सकता है।

✽ विधि के प्रवर्तकत्व सम्बन्ध में द्विविध मत ✽

अन्य कुछ पंडितों का यह कहना है कि विधि ही प्रवर्तक है। लिट् प्रत्यय से जिस का विधान किया जाता है उसे विधि कहते हैं, वह कालत्रय अविशेषित यानी कालत्रयशून्य है और उस का एकमात्र यही स्वभाव है प्रवर्तकता। वही पुरुष को क्रिया में प्रवृत्त करता है। वह विधि प्रेषणा या अध्येषणा रूप नहीं है किन्तु उन में अनुगत स्वतन्त्र तत्त्व होता है, जैसे गोत्व समस्त गो से अतिरिक्त किन्तु उन में अनुगत स्वतन्त्र तत्त्व होता है। यहाँ अध्येषणा का मतलब है सत्कार यानी सन्मान के साथ किसी को किसी कार्य में जोडनेवाला व्यापार, जब कि प्रेषणा यानी अनादर के साथ किसी कार्य में जोडनेवाला व्यापार। प्रेषणा और अध्येषणा शब्दों का वाच्य वास्तव में एक प्रकार का पुरुषगत सत्कारादिभावरूप आशय ही है। प्रेषणा और अध्येषणा स्वयं पुरुष का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रेषणा के न होने पर अध्येषणा से भी पुरुष की प्रवृत्ति होती है, एवं अध्येषणा के विरह में प्रेषणा से भी पुरुष-प्रवृत्ति होती है, अतः व्यभिचार दोष होगा। इस लिये उन को पुरुषप्रवर्तक नहीं मान सकते। किन्तु पूर्वोक्तानुसार उन में अनुगत विधिसंज्ञक तत्त्व ही स्वर्गादिफल सम्पादक यज् आदि धात्वर्थ यागादि, - जो कि भाव्य (स्वर्ग अथवा अपूर्व) निष्ठ यानी भाव्य संबन्धी जो भावक (यानी निष्पादनानुकुल) व्यापार स्वरूप भावना, उस से अनुगत होता है - में पुरुष को प्रवर्तन कराता है। श्लोकवार्तिक में कहा है - “यदि विधि का आश्रयण न करे तो पुरुषार्थ (स्वर्गादि) ‘साध्य’ रूप में प्राप्त नहीं होगा क्योंकि (विप्रकृष्ट होने से) स्वर्गादि के बाध से धात्वर्थ (यागादि) ही साध्य बन जायेगा।” - तात्पर्य यह है कि विधि के न होने पर समानपदश्रुति से धात्वर्थ (यागादि) का ही भावनांश मे अन्वय होगा क्योंकि विप्रकृष्ट होने से स्वर्गादि में भावनांश अन्वय बाधित हो जायेगा, फलतः यागादि की इष्टसाधनता चली जायेगी। विधि के रहने पर तो समानप्रत्यय से गृहीत धात्वर्थ से भी अधिक संनिकृष्ट पुरुषप्रवर्तनात्मक विधि से अवरुद्ध भावना के बल से धात्वर्थ को लाँघ कर विप्रकृष्ट स्वर्गादि ही भाव्यरूप से गृहीत होगा, और उस के साधनरूप में यागादि भी सिद्ध होगा। इस तरह विधि

✽. श्लोकवार्तिके ‘श्रुतस्वर्गादिबाधेन’ इति पाठः उचितश्च।

अपरे तु मन्यन्ते धात्वर्थमात्रे फलपर्यालोचनानिरपेक्षो विधिः पुरुषं प्रेरयति स तथाभूतो लिडादि-प्रत्ययाभिधेयः इति ।

सर्वे तेऽयुक्तवादिनः । यतो विधिर्नालब्धसत्ताकः पुरुषं प्रेरयति, अविद्यमानस्य गगनकुसुमादेरिव प्रेरकत्वाऽसम्भवात् सम्भवे वा विद्यमानताप्रसक्तेः । न चाऽविद्यमानविध्यर्थं प्रेरणा प्रतिपादयितुं प्रभवति, प्रतिपादने वाऽविद्यमानविषयत्वेन केशोण्डुकादिज्ञानवद् न प्रमाणं भवेत् । न चाऽविद्यमानेन सह लिट्प्रत्ययस्य सम्बन्धः तदभावात्तस्याऽवाचकत्वं स्यात् । अथ लब्धसत्ताको विधिः प्रेरकस्तदा त्रिकालशून्यता तस्य व्यावर्त्तते, वर्त्तमानकालताप्राप्तेः लिट्प्रत्ययगम्यता च न स्यात् । साम्प्रतकाले च तस्मिन् प्रत्यक्षादेरप्यवतारात् चोदनैव धर्मे प्रमाणम् प्रमाणमेव चोदना इति न वक्तव्यं स्यात् प्रत्यक्षादेस्तत्र प्रवृत्तावधारणद्वयस्याप्यनुपपत्तेः । न च सामान्याभिधायि पदं विशेषाभिधायि युक्तम् औत्पत्तिकश्च शब्दस्य सम्बन्धः सामान्यलक्षणेनार्थेण न विशेषेण । न चासम्बद्धपदं विशेषे विज्ञानं विधातुं समर्थम् । न चानवगतो विधिः प्रवर्त्तको युक्तः ।

की प्रवर्त्तकता अक्षुण्ण है ।

दूसरे पंडितों का मत यह है कि सिर्फ धात्वर्थ के बारे में फलपर्यालोचननिरपेक्ष विधि ही पुरुष का प्रेरक है और ऐसा विधि लिट् आदि प्रत्ययों का वाच्यार्थ है ।

इन दोनों पंडितों के मत के बारे में व्याख्यानकार कहते हैं -

✽ विधि के सत्त्व-असत्त्व पक्ष में प्रेरकता की दुर्घटता ✽

ये सब अयुक्तवादी हैं कारण यह है कि प्रेरणा करनेवाला विधि ही जब स्वरूपसत्ता से वंचित है वह पुरुष को प्रेरणा नहीं कर सकता । जो विद्यमान नहीं यानी असत् है वह गगनपुष्प की तरह प्रेरक नहीं हो सकता, यदि प्रेरक बनेगा तो असत् नहीं सत् होगा, अर्थात् विद्यमान होगा । तथा, जिस का विधिरूप अर्थ असत् है वह पद प्रेरणा का प्रतिपादन करने में भी सक्षम नहीं हो सकता । कदाचित् वैसा पद भी प्रेरणाकारक माना जाय तो असत् केशोण्डुक आदि विषयक मिथ्याज्ञान की तरह वह पद भी अविद्यमान-विषयस्पर्शी होने से अप्रमाण ही माना जायेगा । लिट् प्रत्यय का वाच्यतासम्बन्ध भी विद्यमान के साथ हो सकता है न कि अविद्यमान के साथ, विधि तो अविद्यमान होने से वह उस का वाच्यार्थ हो नहीं सकता, फलतः वाच्यार्थ न होने से लिट्प्रत्यय में वाचकता का लोप हो जायेगा ।

यदि सत्ताविशिष्ट विधि को प्रेरक माने तो विधि में जो कालत्रयशून्यता प्रदर्शित किया है उस का लोप हो जायेगा और विद्यमान अर्थात् वर्त्तमानकालीन हो जाने से विधि लिट्प्रत्यय का वाच्य ही नहीं हो सकेगा । तथा वर्त्तमानकालीन विधि के विषय में तो प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति भी शक्य होने से आप यह नहीं कह सकेंगे कि 'चोदना ही एक मात्र धर्म के बारे में प्रमाणभूत है' और 'चोदना प्रमाणभूत ही है' । जब धर्म के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति शक्य होगी तो इन दोनों में से एक भी विधान भारपूर्वक नहीं कहा जा सकेगा । दूसरी बात यह है कि मीमांसक मत में पद का वाच्यार्थ सामान्य ही होता है न कि विशेष । अतः शब्द का औत्पत्तिक सम्बन्ध भी विशेष के साथ नहीं सामान्यात्मक पदार्थ के साथ ही होगा । जब विधिस्वरूप विशेष पदार्थ के साथ कोई पद सम्बद्ध ही नहीं है तो वह पद विधिविशेष का प्रतिपादन कैसे कर सकता है ? तथा, पद से अप्रतिपादित विधि प्रवर्त्तक हो यह युक्त नहीं है ।

किञ्च, विधेरपि निष्पाद्यत्वात् तन्निष्पत्तये पुरुषः केन प्रेर्येतेति वक्तव्यम्। यदि विध्यन्तरेण तदा तत्रापि तदन्तरेणेत्यनवस्था। अथेच्छातः तत्राऽसौ प्रवर्तते तर्हि सर्वत्र तथैव प्रवर्तताम् किमप्रमाणिकविधिकल्पनया ? अथ नित्यो विध्यर्थः पुरुषं प्रेरयतीत्यभ्युपगमस्तर्हि तस्य लिट्प्रत्ययवाच्यता व्यावर्त्तेत लिङ्खिकालशून्यार्थविषयत्वात् विध्यर्थस्य तु नित्यतया वर्त्तमानकालत्वात् वर्त्तमानकालत्वे च तत्राध्यक्षादेरपि अवतारात् प्रतीतार्थानुवादकत्वेन न तत्र प्रेरणा प्रमाणं स्यात्। किञ्च, नित्यत्वे लिङ्गर्थस्य धर्मरूपता व्यावर्त्तेत कार्यरूपस्यार्थस्य धर्मरूपताभ्युपगमात् चोदनैकगम्यस्य तु विध्यर्थस्य लिङ्गा सम्बन्धानवगमात् न ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात्। अथानवधारितनित्यसम्बन्धमपि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् तत्पदं तमर्थमेव बोधयति तर्हि गवादिपदानामपि शब्दशक्त्यैवानवगतसम्बन्धानां स्वार्थप्रत्यायकत्वं भवेत्। अथ तेषां तथाभूतानां न तत्त्वम् तर्हि विधिपदस्यापि तन्न स्यात्। अत एव न पदाद् वाक्यं पदार्थाद्वा एकान्ततो भिन्नोऽभिन्नो वाऽभ्युपगन्तव्योऽन्यथोक्तदोषानतिवृत्तेः।

किञ्च, अयं विधिर्वाक्यश्रवणानन्तरं किं प्रतिभाति उत पुरुषव्यापारान्यथानुपपत्त्या प्रतीयते ? न तावदाद्यः पक्षः, वाक्यश्रवणानन्तरं पुरुषस्यैवाध्येषणादिविशिष्टतया प्रतीतेः, पुरुषश्चात्मानमेव वाक्यात्

✽ विधि-निष्पत्ति के सम्बन्ध में अनवस्थादि दोष ✽

यह भी सोचना होगा कि विधि भी निष्पन्न नहीं है, निष्पाद्य है, अतः उस की निष्पत्ति के लिये पुरुष को प्रेरणा चाहिये, कौन उसे करेगा ? यदि कहें कि उस के लिये एक अन्य विधि प्रेरक होगा, तो उस विधि के लिये भी अन्य विधि.... इस तरह अनवस्था दोष होगा, प्रेरणा तो रह जायेगी, यदि कहा जाय कि विधिनिष्पादन पुरुष इच्छा से ही होगा, — तो यागादि में भी इच्छा से ही पुरुष प्रवृत्ति होगी, फिर विधि की कल्पना निरर्थक है। यदि कहा जाय कि — विध्यर्थ तो नित्य है, वही पुरुष का प्रेरणादाता है — तो नित्य विध्यर्थ में अब लिट् प्रत्यय की वाच्यता नहीं रहेगी, क्योंकि नित्य होने से विधि में वर्त्तमानकालता प्रसक्त होगी और वर्त्तमानकालीन होने से उस में प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों का प्रवेश भी शक्य हो जायेगा। फलतः अन्य प्रमाण से अधिगत अर्थ का अनुवादक हो जाने से, उस अर्थ में प्रेरणा प्रमाणभूत नहीं रहेगी।

तदुपरांत लिट् प्रत्ययार्थ को नित्य मानने पर वह अब धर्मरूप नहीं होगा, क्योंकि जो कार्य (साध्य) रूप अर्थ है उसी में धर्मरूपता हो सकती है, नित्य विध्यर्थ तो निष्पाद्य ही नहीं है। जब विध्यर्थ धर्मरूप ही नहीं है और नित्य है तब लिट् प्रत्यय के साथ 'एकमात्र चोदनागम्य विध्यर्थ' का सम्बन्ध प्रसिद्ध न होने से लिट् प्रत्यय से उस का भान भी नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि — नित्य विध्यर्थ के साथ सम्बन्ध का बोधक भले न हो, अपनी स्वाभाविक शब्दशक्ति से ही लिट्प्रत्ययरूप पद विध्यर्थ का ही बोधक होगा — तो इसके सामने यह भी कहा जा सकता है कि सम्बन्ध का यानी वृत्ति का भान न होने पर भी अपनी सहज शक्ति से 'गो' आदि पद भी अपने अपने अर्थों का बोधक बन जायेंगे, फिर शक्ति-लक्षणा किसी भी वृत्ति के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी। यदि कहा जाय कि — वृत्तिज्ञान के विना गो आदि पद स्वार्थबोधक नहीं हो सकते, — तो यह भी कहना चाहिये कि सम्बन्धज्ञान के विना विधिपद भी विध्यर्थ का बोधक नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि ऐसा मानना ही नहीं चाहिये कि पद और वाक्य अथवा पदार्थ और वाक्यार्थ में एकान्त से भेद या अभेद ही है। एकान्त भेद या एकान्त अभेद मानने पर उपर्युक्त सभी प्रकार के दोषों की दुर्घटना दुर्निवार होगी।

कर्मणि नियुज्यमानमवगच्छति, तदवगमाच्चेच्छयैव प्रवर्ततेऽतः प्रवृत्तिरप्यन्यथासिद्धेति नासौ लिङ्गमवगमयति। किञ्च, प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या निमित्तमात्रस्यैवावगतिः न विध्यर्थस्य प्रत्यक्षादेरपि, हेयमुपादेयं चार्थमवगत्य निवर्तन्ते प्रवर्तन्ते वा जन्तवः। न च तत्र विधेर्निवर्तकत्वम् प्रवर्तकत्वं वेष्यते, एवमिहाप्यभिप्रेतफलार्थी अध्येषणादेरिच्छातो वा प्रवर्तते। न चाध्येषणादेर्व्यभिचारात् प्रवर्तकत्वमयुक्तम् यथासम्भवं प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, यदाऽध्येषणा तदा तस्या एव प्रवर्तकत्वम् यदा तु प्रेषणा तदा तस्या एव। न हि रक्ततन्त्वभावेऽपि शुक्लेभ्यस्तेभ्यः पटोत्पत्तौ रक्ततन्त्वतो न स्वोत्पाद्यपटोत्पत्तौ परिणामिकारणतां प्रतिपद्यन्ते। न च तद्व्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चित् तत्र परिणामिकारणत्वामासादयति।

किञ्च, धात्वर्थोऽपि यदि धातुना परिनिष्पन्नोऽभिधीयते तदा न विधेः पुरुषप्रेरकत्वमभ्युपगन्तव्यम् धात्वर्थस्य निष्पन्नत्वात्। सामान्यपदार्थवादिनां तु धात्वभिधेयस्य कथं पुरुषव्यापारसाध्यत्वम् सामान्यस्य नित्यतया साध्यत्वाऽनुपपत्तेः ? न च विशेष उत्पाद्यो धातुवाच्यः, तेन सह नित्यतया

✽ विधि की प्रतीति पर दो विकल्प ✽

दो विकल्प और भी हैं, (१) वाक्यश्रवण के बाद विधि का अवबोध होता है या (२) पुरुषप्रवृत्ति की अन्यथा अनुपपत्ति से उस का भान होता है ? प्रथम पक्ष संगत नहीं है, क्योंकि वाक्य श्रवण के बाद अध्येषणादि से विशिष्टतया पुरुष की ही पुरुष को प्रतीति होती है। 'यह वाक्य मुझे क्रिया में नियुक्त कर रहा है' ऐसा ही भान पुरुष को होता है (न की विधि का)। इस बोध के बाद तो फलेच्छा से ही पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अतः पुरुषप्रवृत्ति की अन्यथा = विधि के बिना, अनुपपत्ति न होने से, प्रवृत्ति विधि के बिना भी सिद्ध होने से, दूसरे विकल्प में, पुरुषप्रवृत्ति की अन्यथा अनुपपत्ति भी लिट्प्रत्ययार्थ विधि की बोधक नहीं हो सकती। यह भी ध्यान रहे कि प्रवृत्ति की अन्यथा अनुपपत्ति तो सिर्फ निमित्तमात्र का बोध करायेंगी न कि उस निमित्त के रूप में विध्यर्थ का भी, क्योंकि निमित्त तो प्रत्यक्षादि कोई भी हो सकता है, प्रत्यक्षादि से भी जन्तुवर्ग हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त करके निवृत्ति-प्रवृत्ति करते हैं। प्रत्यक्षादि से होने वाली निवृत्ति-प्रवृत्ति में विधि को निवर्तक या प्रवर्तक नहीं माना जाता, तो फिर यहाँ भी स्वर्गादि इष्ट फल का अभिलाषी अध्येषणा से अथवा इच्छा से यथासम्भव प्रवृत्ति कर लेगा, विधि को मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि — पहले अध्येषणा-प्रेषणा में व्यभिचार दर्शाया है, अतः अध्येषणा आदि को प्रवर्तक नहीं माना जा सकता — तो यह गलत है क्योंकि अध्येषणादि में भी यथासम्भव (जब जो उपस्थित हो उन में) प्रवर्तकता घट सकती है, जैसे देखिये कि प्रेषणा के बदले जहाँ अध्येषणा मौजूद है वहाँ अध्येषणा प्रवर्तक होगी, जहाँ अध्येषणा नहीं है प्रेषणा है — वहाँ प्रेषणा प्रवर्तक होगी। यदि एक प्रकार का कारण मौजूद न होने पर दूसरे प्रकार के कारण से कार्यनिष्पत्ति के स्थल में व्यभिचार दोष माना जायेगा तो रक्ततन्तु आदि की कारणता का भंग होगा। रक्त तन्तुओं के न होने पर श्वेत तन्तुओं से वस्त्र की उत्पत्ति होती है, इस का मतलब यह कभी नहीं है कि रक्त तन्तुओं से उत्पन्न होनेवाले वस्त्र के प्रति रक्त तन्तु उपादान कारण न बनते हो। जहाँ श्वेतादि तन्तु नहीं है सिर्फ रक्त तन्तु मौजूद है और वस्त्रोत्पत्ति होती है वहाँ रक्त तन्तु के अलावा और कोई उपादान कारण बन ही नहीं सकता।

✽ निष्पन्न धात्वर्थ धातुवाच्य हो तब विधि निरर्थक ✽

यह भी विचारयोग्य है कि यदि धात्वर्थ निष्पन्न ही है और वह धातु से प्रतिपाद्य माना जाय तो विधि

सम्बन्धाऽयोगात् । न ह्यनित्येन नित्यः सम्बन्धो घटतेऽभ्युपेयते वा, वाच्य-वाचक-तत्सम्बद्धानां परेण नित्यत्वाभ्युपगमात् । अपि च विधेः प्रवर्त्तकत्वे कारकत्वं स्यात् न प्रामाण्याम् इच्छा-प्रयत्नादेरिव तथात्वे तदनुपपत्तेः, प्रवर्त्तकत्वं च यथोक्तन्यायादनुपपन्नम् । एवं 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इति प्रतिषेधविधिरपि प्रतिक्षिप्तो दृष्टव्यः । तथाहि - अयं पुरुषं क प्रेरयतीति वक्तव्यम् नञर्थे, ^bभावनायां ^cधात्वर्थे वा ? तत्र यदि नञर्थे विधिः पुरुषं प्रवर्त्तयति - तदयुक्तम्, नञर्थस्याभावरूपत्वात् तत्र विधेः प्रेरकत्वाऽ-सम्भवात् । न हि अक्रियात्मके नञर्थे कस्यचित् प्रेरकत्वमुपपत्तिमत् । अथ वधप्रवृत्तं पुरुषं निवर्त्तयति प्रतिषेधविधिः - अयुक्तमेतत्, प्रतिषेधेनैव निवर्त्ति(त)त्वाद् विधेस्तत्र नैरर्थक्यात् । अथ प्रतिषेध-निषिद्धस्याऽनिवृत्तेस्तत्र विधिराश्रीयते, विधिनिषिद्धोऽपि यदि न निवर्त्तते तदा किमाश्रयणीयम् ? ^bअथ भावनायां विधेः प्रवर्त्तकत्वम् - अयुक्तमेतत्, रागत एव तस्यामस्य प्रवृत्तेः विधेर्वैयर्थ्यात् । न च ^cधात्वर्थेऽपि तमसौ प्रवर्त्तयति, तत्रापि रागादेवाऽस्य प्रवृत्तेः । विधिर्हि अप्रवृत्तप्रवर्त्तकः, रागात् प्रवृत्तस्य

को पुरुष का प्रवर्त्तक मानना निष्फल है क्योंकि धात्वर्थ तो स्वतः निष्पन्न है, फिर प्रवृत्ति आवश्यक नहीं है तो विधि को प्रवर्त्तक मानने से लाभ क्या ? तथा, जाति को पदार्थ मानने वाले मीमांसक के मत में जो धातु-वाच्य सामान्य है वह पुरुष-प्रवृत्ति का साध्य ही नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य नित्य है इसलिये उस में साध्यता नहीं घटेगी । यदि विशेष को धातुवाच्य माना जाय तो यह भी दुर्घट है, क्योंकि विशेष भी नित्य है अतः नित्य होने के कारण विशेष के साथ धातु-पद का कोई सम्बन्ध घट नहीं सकता अनित्य के साथ नित्य का सम्बन्ध दुर्घट है, कोई स्वीकार भी नहीं करता, क्योंकि प्रतिवादी तो वाच्य-वाचक और उन के सम्बन्ध को नित्य मानने वाला है । नित्य-नित्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

यह भी विचार किया जाय कि विधि को प्रवर्त्तक माना जाय तो वह कारक हो सकता है लेकिन प्रमाणभूत कैसे हो गया ? कारक तो इच्छा और प्रयत्नादि भी होते हैं किन्तु उन्हें 'प्रमाणभूत ही हो' ऐसा नहीं माना जाता तो विधि में भी उसी तरह प्रामाण्य दुर्घट है । प्रामाण्य दुर्घट होने के बावजूद उपर कहे युक्तिसंदर्भ के अनुसार वह प्रवर्त्तक भी नहीं हो सकता ।

✽ निषेधक विधि का नैरर्थक्य ✽

जैसे यागादि का विधायक विधि प्रमाण से असंगत है वैसे ब्राह्मणहत्या का निषेधक विधि भी वास्तव में प्रमाण से दुर्घट है अतः उस का भी प्रतिक्षेप युक्तिसंगत है । कैसे यह देखिये - ब्राह्मण हत्या का निषेधक 'ब्राह्मण का घात नहीं करना' यह विधि पुरुष को कहाँ प्रवृत्त करता है यह बताईये । क्या नञर्थ निषेध में ? ^bभावना में ? या ^cधात्वर्थ में ? विधि नञर्थ में पुरुष को प्रवृत्त करे यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि नञर्थ तो अभावात्मक है, विधि कभी अभाव में प्रेरक नहीं बन सकती । नञर्थ क्रियात्मक नहीं है अतः अक्रियारूप नञर्थ में कोई भी प्रवर्त्तक नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि वध में प्रवृत्त पुरुष को निषेधविधि रोकती है, तो यह भी अयुक्त है क्योंकि रोकने का काम तो नञर्थ निषेध से ही हो जाता है अतः निषेधविधि तो वहाँ निरर्थक है । यदि कहा जाय कि नञर्थ निषेध से भी जो नहीं रुकता उस को रोकने के लिये निषेधविधि शरण्य है, तो यहाँ भी प्रश्न है कि निषेधविधि से भी जो नहीं रुकता तब कौन शरण्य होगा ?

^bनिषेधविधि भावना में भी प्रवर्त्तक नहीं हो सकती । क्योंकि राग से ही भावना में प्रवृत्ति हो जायेगी, उस को रोकने के लिये विधि निरर्थक है । ^cधात्वर्थ में भी विधि प्रवृत्तिकारक नहीं है, क्योंकि वहाँ भी राग (इच्छा) से ही प्रवृत्ति होती है । विधि तो अप्रवृत्त का प्रवर्त्तक होना चाहिये, जहाँ विधि के बिना भी राग

च प्रवर्त्तने विधित्वायोगात् ।

अथ नञ्सम्बद्धभावनायां विधिः प्रवर्त्तयति । न, नञर्थसम्बद्धायास्तस्याः अभावरूपत्वेन प्रवृत्ति-विषयत्वाऽयोगात् । न च भावनायां हननविशिष्टायां रागात् प्रवर्त्तमानः पुरुषः प्रतिषेधपर्युदस्तायां विधिना नियुज्यते, अभावविशिष्टाया भावनाया विधिविषयत्वऽयोगात् । न चासौ हननाभावविशिष्टा विधिविषयतां प्रतिपद्यते, अभावस्याव्यापाररूपतया भावनां प्रति व्यवच्छेदकत्वाऽयोगात् । न च हन्ति-नञ्प्रहितः अभक्ष्याऽस्पर्शनीयन्यायेन हननव्यतिरिक्तधात्वर्थाऽन्तराभिधायकत्वात् तदवच्छिन्नां भावनां प्रकाशयति, सा च विधेर्गोचरतां प्रतिपद्यत — इति वक्तव्यम् यतो भावनायां हननव्यतिरिक्तधात्वर्थ-मात्रविशिष्टायां विधेः प्रवर्त्तकत्वमेव न निवर्त्तकत्वम् प्रवर्त्तकत्वैकरूपत्वेन तस्याऽभ्युपगमात्, तच्च यथा तस्य न सम्भवति तथा प्रतिपादितमेव । तन्न मीमांसकाभिप्रायेण विधेः प्रवर्त्तकत्वं निवर्त्तकत्वं वा सम्भवति । तेन —

‘साधने पुरुषार्थस्य संगिरन्ते त्रयीविदः । ^१बोधं विधौ समायत्तम् ॥ ()

से प्रवृत्ति सम्भव है उस में यदि कोई अन्य प्रवर्त्तक कल्पित किया जाय तो उस में विधित्व संगत नहीं होगा क्योंकि विधि तो अन्यथा अप्रवृत्त का ही प्रवर्त्तक होना चाहिये ।

✽ नञ्सम्बद्ध भावनादि में विधि का प्रवर्त्तकत्व अयुक्त ✽

यदि कहा जाय कि — विधि अविशिष्ट नञर्थ, भावना और धात्वर्थ प्रत्येक में प्रवर्त्तक न हो तो कोई हानि नहीं है, नञ्सम्बद्धभावना में अर्थात् निषेधान्वित भावना में प्रवर्त्तक होगा — तो यह संगत नहीं है, क्योंकि नञर्थसम्बद्ध भावना अभावरूप है, अभावरूप होने से वह प्रवृत्ति का विषय ही बन नहीं सकती । यदि कहा जाय — नञर्थविशिष्ट धात्वर्थ में प्रतिषेधविधि पुरुष को प्रवृत्ति करायेगी — तो यह भी असार है क्योंकि धात्वर्थ भी नञर्थविशिष्ट होने पर अभावरूप होने से प्रवृत्ति का गोचर नहीं बन सकता । यदि कहा जाय कि धातुविशिष्ट भावना में पुरुष राग से प्रवृत्ति करने जाता है तब विधि उस को निषेधविशिष्ट भावना की ओर मोड देता है — तो यह भी असंगत है क्योंकि अभी कह आये हैं कि अभावविशिष्ट भावना अभावरूप होने से विधि का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि विधि हर हमेशा भावस्पर्शी होता है । यही कारण है कि घाताभावविशिष्ट भावना भी विधि-विषय नहीं बन सकती, क्योंकि व्यवच्छेदव्यापारयुक्त हो वही विशेषण हो सकता है, अभाव व्यापारशून्य होने से व्यवच्छेदक नहीं है अतः वह भावना का विशेषण न होने से घाताभावविशिष्ट भावना हो नहीं सकती ।

यदि कहा जाय — ‘जैसे अभक्ष्य-अस्पृश्य आदि नञ् से अनुश्लिष्ट शब्द, भक्षण-स्पर्शन का अभाव नहीं किन्तु उन से अतिरिक्त भक्षण-स्पर्शन-अनौचित्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करता है वैसे ही नञ्अनुश्लिष्ट हन् धातु भी घात-अतिरिक्त अन्य धात्वर्थ का यानी घात-अनौचित्य का प्रतिपादक होता है और तथाविधधात्वर्थ से विशिष्ट भावना वहाँ प्रकाशित होती है, ऐसी भावना विधि का गोचर हो सकती है।’ — तो यह उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ विधि घातभावना का निवर्त्तक तो नहीं होगा, होगा तो सिर्फ घातभिन्न धात्वर्थविशिष्ट भावना में प्रवर्त्तक ही होगा, क्योंकि आप के मत से विधि सिर्फ प्रवर्त्तक ही है । वह भी सम्भवारूढ तो नहीं है यह पहले बताया हुआ ही है । निष्कर्ष, मीमांसक मत में विधि किसी का भी प्रवर्त्तक या निवर्त्तक होना सम्भव नहीं है । अत एव “साधने पुरुषार्थस्य...” इत्यादि श्लोक से जो कहा गया है कि — तीन

✽. ‘बोधविधौ’ इति पूर्वमुद्रिते ।

इत्याद्यसंगतार्थाभिधानम् ।

ये तु भावनां वाक्यार्थत्वेन प्रतिपादयन्ति - भावना हि भाव्येऽर्थे स्वर्गादिके पुरुषस्य व्यापारः 'भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना' () इति वचनात् । सा च 'किं केन कथम्' इति त्र्यंशपरिपूर्णा - 'किम्' ति स्वर्ग 'केन' इति दर्श-पूर्णमास्यादिना भावयन्, 'कथम्' इति इतिकर्तव्यतां दर्शयति प्रयोगादिव्यापाररूपाम् । इयमित्थंभूता भावना पदार्थप्रतिपाद्या पदानां वाक्यार्थप्रतिपादने सामर्थ्याभावात् । तानि हि स्वार्थप्रतिपादनमात्रेण निवृत्तव्यापाराणि न वाक्यार्थबोधक्षमाणि, आकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावच्छिन्नानां पदार्थानामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यार्थवेदकत्वप्रतिपत्तेः । तथाहि - पदश्रवणाभावेऽपि यदा श्वेतगुणं द्रव्यं पश्यति, अश्वजातिं च 'हेषा'शब्दात् अनुमिनोति, क्रियां च खुरविक्षेपादिशब्देन च बुध्यते - तदा 'श्वेतोऽश्वो धावति' इत्यवगच्छति । उक्तं च - 'पश्यतः श्वेतिमारूपं हेषाशब्दं च श्रृण्वतः । पदविक्षेपशब्दं च श्वेताश्वो धावतीति धीः ॥' (श्लो० वा० वाक्या० श्लो० ३५८)

वेद के वेत्ताओं का कहना है कि पुरुषार्थ के साधन का बोध विधि को समायत्त है.... इत्यादि - वह भी असंगतार्थ का प्रतिपादन है ।

✽ पदार्थप्रतिपाद्य भावना ही वाक्यार्थ - मीमांसक ✽

कुछ पण्डित मानते हैं कि भावना ही वाक्यार्थ है । भावना क्या है ? भाव्य स्वर्गादि अर्थ सम्बन्धी पुरुष का व्यापार ही भावना है । यह शास्त्रवचन है कि 'भावक (पुरुष) का भाव्यनिष्ठ व्यापार भावना है ।' यह भावना तीन अंशों में परिपूर्ण व्याप्त रहती है - (१) किं = क्या, (२) केन = कौन से साधन से, (३) कथम् = किस प्रकार से ? - यहाँ 'किं' का उत्तर होगा स्वर्गादि, 'केन' का उत्तर है दर्शपूर्णमासीसंज्ञक यागविशेष से भावना की जाय, और 'कैसे' यह प्रश्न इतिकर्तव्यता का प्रश्न है - उत्तर है कि प्रयोग आदि व्यापार स्वरूप इतिकर्तव्यता से । ऐसी तीन अंश व्याप्त भावना जो कि वाक्यार्थरूप है उस का प्रतिपादक कौन है - इस प्रश्न का उत्तर अभिहितान्वयवादी देता है, पदार्थों से ही भावना (=वाक्यार्थ) का निरूपण होता है, न कि पदों से । पदों में यह सामर्थ्य ही नहीं है कि वे वाक्यार्थ का बोध करा सके । पद तो अपने अपने अर्थ का (पदार्थ का) बोध करा कर ही चरितार्थ हो जाते हैं, अतः वे वाक्यार्थबोध कराने के लिये सक्षम नहीं होते । पदार्थ ही संनिधि, योग्यता, आकांक्षादि के सहयोग से वाक्यार्थ के प्रतिपादक होते हैं - यह तथ्य अन्वय-व्यतिरेक सहचार बल से ज्ञात होता है । कैसे यह देखिये -

✽ श्वेत अश्व दौडता है - ऐसी बुद्धि का उदाहरण ✽

(पहले अन्वय सहचार प्रदर्शन) पदों का श्रवण नहीं है उस अवस्था में ज्ञाता दूर से आते हुए (अश्व) श्वेतगुणवाले द्रव्य को देखता है, हेषारव सुनाई देता है अतः अश्व जाति का अनुमान हो जाता है और पादनिक्षेपध्वनि से धावन क्रिया का भान हुआ - तब श्वेत गुण रूपे पदार्थ का प्रत्यक्ष से ज्ञान, अश्वजाति का अनुमान से और धावनक्रियारूप पदार्थ की उपस्थिति ध्वनि से हुई - इस प्रकार पदार्थों की उपस्थिति हो जाने पर उन पदार्थों में आकांक्षादि के सहयोग से ज्ञाता को यह बोध हो जाता है जो 'श्वेत अश्व दौडता है' इस वाक्य से भी होता है । श्लोकावार्त्तिक में कहा है कि 'श्वेतरूप को देखने वाले, हेषारव सुननेवाले और खुरनिक्षेप की टाँप को सुनने वाले ज्ञाता को 'श्वेत अश्व दौड रहा है' यह बुद्धि होती है' - यह अन्वय सहचार हुआ । (अब व्यतिरेक सहचार प्रदर्शन) दूसरी ओर, जब मानस अपचार यानी कोई मानसिक विक्षेप रहता है तब पदों

यत्र चापचारात् मानसात् श्रुण्वन्नपि पदानि पदार्थान् नावधारयति तत्र न भवति वाक्यार्थप्रत्यय इति व्यतिरेकबलात् पदार्थानां वाक्यार्थवेदकत्वमवसीयते। उक्तं च (श्लो० वा० वाक्या० श्लो० ३३०-३३१) 'भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्रारख्यातवत्तया ॥ अनेकगुणजात्यादिविकारार्थानुरञ्जिता।'

एतेऽप्ययुक्तवादिन एव, पुरुषव्यापारस्य तद्व्यतिरिक्तस्य प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् वाक्यार्थानुपपत्तेः। तत्सत्त्वेऽपि यद्यसौ पदार्थादभिन्नस्तदा पदार्थ एव स्यात् न वाक्यार्थः। तथा च कुतः पदार्थगम्यता ? न च पदार्थस्य सामान्यात्मकत्वात् कार्यता, ततो न धर्मरूपता, तथा च प्रत्यक्षादिगोचरत्वात् चोदनायास्तदनुवादकत्वेन तद्विषयत्वेन प्रवर्तमानाया न प्रामाण्यं स्यात् इत्युक्तं प्राक्। न च पदानामपि प्रामाण्यं स्मृत्युत्पादकत्वेन भवद्भिरभ्युपगम्यते — 'पदमप्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते' (श्लो०वा० शब्दप० श्लो० १०७) इत्यभिधानात्। तथा च न कचिदर्थे शाब्दस्य प्रामाण्यं भवेत्।

अथ क्रियाकारकसंसर्गरूपः पदार्थादर्थान्तरं वाक्यार्थः। ननु असावपि यद्यनित्यः तदा ँकारक-सम्पाद्यः षपदार्थसम्पाद्यो वा ? न ँकारकसम्पाद्यः, स्वकृतान्तप्रकोपात्। पदार्थोत्पाद्यत्वेऽपि य एव

को सुनने पर भी पदार्थों की उपस्थिति न होने से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है। यह व्यतिरेक सहचार है। इन दोनों से यह फलित होता है कि पदार्थ ही वाक्यार्थ के निवेदक हैं न कि पदसमूह। श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि — 'अनेक गुण-जाति आदि कारकार्थों से अनुरक्त भावना ही सर्वत्र आख्यात (क्रियापद) विशेषित होने से वाक्यार्थ होती है।' तात्पर्य यह है कि 'शुक्ल गाय' इत्यादि वाक्यों में भी 'गच्छति' इत्यादि आख्यात का अध्याहार करना ही पडता है इस लिये आख्यातवाच्य भावना ही शुद्ध वाक्यार्थ है, उस में ही अनेक गुणादि अन्य पदार्थों का अन्वय किया जाता है। इस प्रकार अनेक पदार्थों से अन्वित आख्यातार्थ भावना ही वाक्यार्थ है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्य पदार्थों से अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है।

✽ एकान्तवाद में पुरुषव्यापारस्वरूप वाक्यार्थ का असंभव ✽

ये पंडित भी अयुक्तवादी हैं क्योंकि एकान्तवादीयों के मत में पुरुष से अतिरिक्त पुरुषव्यापार का पहले ही प्रतिक्षेप किया जा चुका है, अतः पुरुषव्यापार वाक्यार्थरूप हो यह संगत नहीं है। कदाचित् किसी तरह पुरुषव्यापार की सिद्धि कर ली जाय तो वह यदि पदार्थ से अभिन्न होगा तो पदार्थस्वरूप ही हुआ न कि वाक्यार्थरूप, तब वाक्यार्थ पदार्थगम्य है ऐसा कहने का क्या मतलब ? तथा सामान्य को वाच्यार्थ मानने वाले एकान्तवादि के मत में सामान्यात्मक पदार्थ नित्य होने से कार्यरूप नहीं हो सकता। कार्यरूप न होने से वह धर्मरूप भी नहीं हो सकता। उपरांत, सामान्यात्मक नित्य पदार्थ प्रत्यक्षादिगोचर भी हो सकता है। अतः चोदना अन्यप्रमाणाधिगत अर्थ की अनुवादक हो जाने से, तथाविध अर्थ के विषय में प्रवृत्त होने वाली चोदना को प्रमाण नहीं माना जा सकेगा, पहले भी यह बात हो गयी है। दूसरी ओर, आप के मत में पद तो मात्र पदार्थ की स्मृति = उपस्थिति कारक होने से (अधिकग्राही न होने से) उस को प्रमाण नहीं माना जाता। श्लोकवार्तिक में कहा है — 'आधिक्य न होने से पद भी स्मृतिकारक से पृथग् नहीं है।' अब परिणाम यह होगा कि शाब्द प्रमाण ही लुप्त हो जावेगा क्योंकि पद तो वाचक ही नहीं है। (सिर्फ स्मारक हैं।)

✽ क्रिया-कारकसंसर्गरूप वाक्यार्थ की आलोचना ✽

यदि कहा जाय — वाक्यार्थ और पदार्थ अभिन्न नहीं है, पृथग् है। 'चैत्रः पचति' यहाँ 'चैत्र' पद का

✽. 'दिकारार्था' इति पाठः श्लोकवार्तिके।

पदार्थास्तस्योत्पादकास्त एव यदि ज्ञापकास्तदा पूर्वं किं ज्ञापका उतोत्पादका^d इति वक्तव्यम्—

यदि प्राक् ज्ञापकाः तदा तदुत्पादितं ज्ञानमविद्यमानवाक्यार्थविषयत्वात् केशोन्दुकादिज्ञानवत् अप्रमाणं स्यात्। 'कर्त्तव्यतया ते तं ज्ञापयन्ति' इति चेत् ? न, तस्यामपि भावाभावोभयानुभय-विकल्पानतिक्रमात्।^१ आद्यविकल्पे तत्कर्त्तव्यताया भावस्वभावतया विद्यमानवाक्यार्थविषया चोदना स्यात्, तथा च विद्यमानोपलम्भनत्व-तत्सम्प्रयोगजत्वोपपत्तेरध्यक्षवद् न भावनाऽर्थविषया स्यात्।^२ अथाभावस्वभावा कर्त्तव्यता। न, अभावस्य तुच्छतया कर्तुमशक्तेः। अतुच्छत्वेऽपि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात् कर्त्तव्यताऽसम्भवात्। न चाभावविषयं चोदनायाः परैः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, अभाव-प्रमाणविषयत्वाच्चाभावस्य तद्विषयत्वे चोदनायाः अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च।^३ न चोभयाकारताऽपि, उभयदोषप्रसक्तेः।^४ अनुभयविकल्पेऽपि चोदनाजनितज्ञानस्य निर्विषयताप्रसक्तिः।^५ अथ ते तं प्राग् उत्पादयन्ति पश्चाद् ज्ञापयन्तीत्यभ्युपगमः सोऽपि अनुपपन्नः विद्यमानार्थविषयत्वेन चोदनायाः प्रत्यक्षाद्यवगतार्थगोचरत्वादप्रामाण्यप्रसक्तेः। अथ नित्यो वाक्यार्थः पदार्थैः प्रतिपाद्यते। नन्वेनं

पदार्थं चैत्र है और 'पचति' का पदार्थ है पाकक्रियानुकूल कृति, अब वाक्यार्थ होगा क्रिया में कारक का संसर्ग, यानी चैत्र का पाकक्रिया के साथ जो संसर्ग भासित होता है वही वाक्यार्थ है। — तो यहाँ दो विकल्प होंगे कि यह वाक्यार्थ^A अनित्य है या^B नित्य ? यदि^A अनित्य है तो^C कारकसम्पाद्य है या^D पदार्थसम्पाद्य ?^E कारक सम्पाद्य है ऐसा मानेंगे तो आप का सिद्धान्तरूपी यमराज कोपायमान होगा, क्योंकि आप के मत में वाक्यार्थ कारकसम्पाद्य नहीं पदार्थसम्पाद्य ही माना गया है। यदि यह^D दूसरा विकल्प मान लेंगे तो यहाँ विकल्प है — जो पदार्थ वाक्यार्थ के उत्पादक हैं वे ही यदि उस के ज्ञापक माने जाय तो^F पहले वे उस के ज्ञापक हैं और बाद में उत्पादक ?^G या पहले उत्पादक और बाद में ज्ञापक ?

✽ असत् वाक्यार्थ की ज्ञापकता के ऊपर विविध विकल्प ✽

यदि कहा जाय कि पदार्थ पहले वाक्यार्थ का ज्ञापक हैं, बाद में उत्पादक; तो यहाँ ज्ञापक पदार्थों से वाक्यार्थ का ज्ञान वाक्यार्थ की असदवस्था में उत्पन्न हो जाने से केशोण्डुकादि असत् पदार्थ के ज्ञान की तरह अविद्यमान विषय स्पर्शी होने से प्रमाणभूत नहीं होगा। यदि ऐसा कहा जाय कि 'ज्ञापक पदार्थ वाक्यार्थ को कर्त्तव्यरूप से परिचित कराता है अतः अप्रमाण नहीं हो सकता।' तो यहाँ भी चार विकल्प हैं — ज्ञात करायी जाने वाली कर्त्तव्यता उस समय^१ भावात्मक सद्रूप है ?^२ या अभावात्मक है ? या^३ उभयात्मक है ? या^४ अनुभयात्मक ?

प्रथम विकल्प में कर्त्तव्यता भावात्मक होने से उस की ज्ञापक चोदना विद्यमानवाक्यार्थविषयक हो जायेगी। वाक्यार्थ विद्यमान होने से उस के ज्ञान में विद्यमान का उपलम्भकत्व और सत्-संनिकर्षजन्यत्व भी घट सकता है जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान में होता है। इस स्थिति में भावना अर्थस्पर्शी यानी प्रमाणभूत नहीं रहेगी, क्योंकि भावना तो असिद्धसाधनस्पर्शी होती है।^३ यदि कर्त्तव्यता को अभावात्मक मानी जाय तो वह भी संगत नहीं है क्योंकि तुच्छ होने से अभाव कर्त्तव्यरूप नहीं हो सकता। यदि तुच्छस्वरूप न हो कर वह अन्य कोई स्वरूप से है तो वह जिस स्वरूप से विद्यमान है उस स्वरूप से सिद्ध होने के कारण कर्त्तव्यभूत नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अभाव तो अभावप्रमाण का विषय होता है, चोदनागोचर नहीं हो सकता अत एव अभाव के विषय में मीमांसको ने चोदना को प्रमाण नहीं माना है। यदि चोदना को भी अभावविषयक मानेंगे तो चोदना अभावप्रमाणाधिगत अभाव की अनुवादक मात्र ही हो जाने से उस में अप्रामाण्य प्रसक्त होगा।

तीसरे विकल्प में यदि कर्त्तव्यता को भाव-अभाव उभयस्वरूप माना जाय तो एक-एक पक्ष में कहे गये

विद्यमानार्थगोचरत्वं चोदनायाः स्यात् तथा च 'त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका चोदना' — इत्यभ्युपगमव्याघातः ।

अपि च वाक्यार्थमवबोधयन्तः पदार्था किं ^१शब्दप्रमाणतयाऽवबोधयन्ति ^२उतानुमानत्वेन आहो-
स्वित् ^३अर्थापत्तितः उतस्वित् ^४प्रमाणान्तरत्वेनेति विकल्पाः । ^५यद्याद्यो विकल्पः स न युक्तः पदार्था-
नामशब्दात्मकत्वात् । ^६अथ द्वितीयः सोऽपि न युक्तः, पदार्थानां वाक्यार्थाविनाभावित्वेन प्रागप्रति-
पत्तेः अनुमानानवतारात् । न च वाक्यार्थस्य प्रमाणान्तराऽगोचरत्वात् पदार्थव्यापकताऽनवगता
अनुमानगोचरः, अन्यत्रापि तथाभावप्रसक्तेः । वाक्यार्थविनाभावित्वावगमे वा पदार्थानां चोदनाया
अनुवादरूपताप्रसक्तेरप्रामाण्यानुषङ्गः । न च पदार्थानां पक्षधर्मता क्वचिदवगम्यते । न च तदवगम-
व्यतिरेकेणानुमानप्रवृत्तिः । ^७न चार्थापत्तिरूपत्वेन पदार्था वाक्यार्थमवबोधयन्ति 'चोदनालक्षणोऽर्थो

सभी दोष मिल कर इस पक्ष में प्रसक्त होंगे। (अथवा सापेक्षरूप से उभयात्मक मानने पर अनेकान्तवादप्रवेश प्रसक्त होगा।) यदि 'भाव या अभाव में से एक भी नहीं' यह चौथा विकल्प माना जाय तो चोदनाजन्य ज्ञान विषयशून्य बन कर रहेगा क्योंकि भाव या अभाव कोई भी उस का विषय नहीं है।

^८यदि कहा जाय — पदार्थ पहले वाक्यार्थ को उत्पन्न करते हैं बाद में उस के ज्ञापक बनते हैं। — तो यह भी असंगत है, क्योंकि तब वाक्यार्थ उत्पन्न यानी विद्यमान होने से उस की ज्ञापक चोदना विद्यमानार्थविषयक बन जायेगी और विद्यमानार्थग्राहकप्रत्यक्षादि से अधिगत अर्थ को गोचर करने से चोदना अप्रमाण बन जायेगी। ये सब ^९अनित्यपक्ष में विकल्प हुए।

^{१०}पदार्थों के द्वारा यदि नित्य वाक्यार्थ का प्रतिपादन माना जाय तो चोदना, नित्य यानी 'सदा विद्यमान' अर्थ की अवगाहिनी हो जायेगी। इस स्थिति में आपने जो माना है 'चोदना तो कालत्रयशून्य कार्यात्मक अर्थविषयक विज्ञान को उत्पन्न करती है' — उस को चोट पहुँचेगी।

❀ वाक्यार्थज्ञापक पदार्थ कौन सा प्रमाण ? ❀

यह भी विचार किया जाय — वाक्यार्थ का अवबोध करानेवाले पदार्थ कौन सा प्रमाण है ? ^१'शब्दप्रमाण हो कर वे वाक्यार्थप्रकाशक होते हैं ? ^२या अनुमान प्रमाण हो कर ? ^३अथवा अर्थापत्ति हो कर ? ^४या अन्य कोई प्रमाण बन कर ?

^५पहला विकल्प अयुक्त है क्योंकि पदार्थ शब्दात्मक नहीं होते। ^६दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है क्योंकि अनुमिति के पहले वाक्यार्थ के साथ पदार्थों का अविनाभाव गृहीत होना चाहिये किन्तु वह गृहीत नहीं है इस लिये अनुमान का अवतार अशक्य है। यदि कहा जाय कि वाक्यार्थ में पदार्थों की व्यापकता यानी वाक्यार्थ के साथ पदार्थों का अविनाभाव ही अनुमान का विषय मानते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रमाण से उस का बोध सम्भव नहीं है अतः अनुमानप्रमाण का ही यहाँ अवतार मानना होगा — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य अग्नि आदि अनुमानस्थल में भी आँख मुँद कर ऐसा कहा जायेगा कि अग्नि की व्यापकता आदि अन्य प्रमाण गोचर न होने से अनुमान का ही वहाँ अवतार मानना होगा, फिर उस की व्यापकता भले अनुमानागोचर हो। यदि किसी तरह पदार्थों में वाक्यार्थ के साथ अविनाभाव का ग्रहण अनुमान से हो जाय तो वाक्यार्थ के अनुमानगम्य हो जाने पर चोदना में अनुवादरूपता की प्रसक्ति के द्वारा अप्रामाण्य प्रसक्त होगा। यह भी ज्ञातव्य है कि पक्षधर्मता का ज्ञान न होने पर अनुमान नहीं होता है — वाक्यार्थबोध के समय किसी को यह एहसास नहीं होता कि ये पदार्थ पक्षधर्म यानी हेतु हैं, यहाँ पक्षधर्मता का ज्ञान न होने पर भी

धर्मः' इत्यभ्युपगमव्याघातप्रसक्तेः। न चार्थापत्तिरनुमानाद् विशिष्यते इति प्राक् प्रतिपादितत्वात्।^१ न च प्रमाणान्तरात्मकाः सन्तः पदार्था वाक्यार्थं गमयन्ति, तृतीयविकल्पोक्तदोषप्रसक्तेः।

अथ 'पदेभ्यः पदार्थाः तेभ्यश्च वाक्यार्थः प्रतीयते' इति पारम्पर्येण चोदनाया धर्मं प्रति निमित्तता तर्हि श्रोत्रात् पदज्ञानम् ततोऽपि पदार्थविज्ञानम् तस्माच्च धर्मज्ञानम् इति प्रत्यक्षलक्षणोऽर्थः धर्मः प्रसक्तः। अथ साक्षाद् धर्मं प्रति अक्षस्य व्यापाराभावाद् न प्रत्यक्षलक्षणता धर्मस्य। तर्हि चोदनाया अपि साक्षात्तत्र व्यापाराभावाद् न चोदनालक्षणोऽपि धर्मः स्यात्। पदं च पदार्थस्यापि स्मारकत्वाद् न वाचकम्; न च वाक्यार्थे स्मर्यमाणपदार्थसम्बद्धतयाऽविज्ञाते पदार्थस्मरणान्यथानुपपत्त्या प्रतिपत्तिर्युक्ता। न च सम्बन्धो वाक्यार्थेन सह कस्यचिदवगन्तुं शक्यः, सम्बन्धवगमपुरस्सरत्वात् सम्बन्धप्रतिपत्तेः, स्मर्यमाणपदार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिं च विना नान्यतो वाक्यार्थप्रतिपत्तिः तामन्तरेण च नान्यथानुपपत्तेः प्रवृत्तिः - इतीतरेतराश्रयप्रवृत्तेर्न कथंचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्। सम्बन्धावगममन्तरेणापि पदार्थानां वाक्यार्थविदकत्वे एकपदार्थसमुदायस्य सर्ववाक्यार्थविदकत्वप्रसक्तिः।

वाक्यार्थबोध होता है, अत एव अनुमान निरवकाश है।

^३पदार्थ अर्थापत्तिप्रमाण बन कर वाक्यार्थ का प्रकाशक हो यह तीसरा विकल्प भी अयुक्त है, क्योंकि तब अर्थापत्ति ही धर्मात्मक बन जाने से, 'चोदनात्मक पदार्थ धर्म है' इस मान्यता का भंग प्रसक्त होगा। तथा यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं है, अतः अनुमानविकल्प में कहे गये दोष इस में सावकाश होंगे।^४ यदि अन्य किसी प्रमाण के रूप में पदार्थ वाक्यार्थबोध करावे यह चौथा विकल्प स्वीकार करेंगे तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जो तीसरे विकल्प में दोष कहा है कि 'चोदनात्मक पदार्थ धर्म है' इस मान्यता का भंग होगा - यह दोष यहाँ भी सावकाश है।

✽ प्रत्यक्ष अर्थ धर्मस्वरूप होने की विपदा ✽

यदि कहा जाय - 'चोदनास्वरूप अर्थ धर्म है' इस मान्यता के भंग का प्रसंग नहीं हो सकता क्योंकि चोदना परम्परया धर्म के प्रति निमित्तभूत है - कैसे यह देखिये, पदों से पदार्थ का बोध और पदार्थों से वाक्यार्थबोध होता है' - तो ऐसा मानने पर प्रत्यक्षस्वरूप अर्थ (अर्थात् इन्द्रिय) को भी धर्म मानना होगा क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से पदज्ञान, पदज्ञान से पदार्थविज्ञान और पदार्थज्ञान से धर्म का ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि - श्रोत्रेन्द्रिय का धर्म के प्रति साक्षात् योगदान नहीं होता, अतः धर्म प्रत्यक्षरूप यानी इन्द्रियस्वरूप नहीं हो सकता - तो प्रतिपक्ष में कह सकते हैं कि चोदना का भी धर्म के प्रति साक्षात् योगदान न होने से चोदना भी धर्मरूप नहीं हो सकती। दूसरी बात, पद तो पदार्थ का स्मारक माना गया है न कि वाचक, जब तक पदज्ञान से स्मरण किये जानेवाले पदार्थों के सम्बन्धि के रूप में वाक्यार्थ ज्ञात नहीं हुआ तब तक पदार्थस्मृति की अन्यथानुपपत्ति से वाक्यार्थ की प्रतीति होना असम्भव है। अन्यथानुपपत्ति के लिये सम्बन्धज्ञान आवश्यक है, किन्तु वाक्यार्थ के साथ तो किसी का भी सम्बन्ध ज्ञात हो नहीं सकता क्योंकि सम्बन्ध का ज्ञान सम्बन्धिज्ञानपूर्वक ही हो सकता है। इस स्थिति में ऐसा होगा कि स्मरण किये जाने वाले पदार्थों की प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति के अलावा और किसी से भी वाक्यार्थ का बोध होगा नहीं - और वाक्यार्थबोध के विना अन्यथानुपपत्ति की प्रसिद्धि सम्भव नहीं है - इस प्रकार अन्योन्याश्रित हो जाने से वाक्यार्थ की प्रतीति किसी भी तरह हो नहीं सकेगी। यदि सम्बन्ध के अज्ञात रहने पर भी - पदार्थों से वाक्यार्थ का बोध हो जाय तो वह विपदा होगी कि किसी भी एक पदार्थवर्ग से समस्त वाक्यार्थों का प्रकाश हो जायेगा, क्योंकि अब सम्बन्ध के अन्वेषण की जरूर ही नहीं है।

यदपि मानसादपचारात् पदश्रवणेऽपि पदार्थानवगमाद् न वाक्यार्थज्ञानं दृष्टमिति पदार्थानामेव वाक्यार्थबोधकत्वमवसीयते इत्युक्तम् (पृष्ठ-३३८) तदप्यचारु, विशिष्टपदसमुदायात् कथंचिदभिन्नस्य वाक्यस्यैवानवबोधात्तत्र वाक्यार्थप्रतीत्यनुपपत्तेः, न पुनः पदार्थानवगमात् । न ह्युपहतमनसो वाक्यात्मकपदानां श्रोत्रसम्बन्धमात्रेणावगमः, न चानवगतं स्वरूपेण वाक्यं वाक्यार्थसंबद्धत्वेन वा स्वार्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात् । यदि चोपहतमनाः पदानि शृणोति तदर्थान् किमिति नावधारयति ? अथ परामर्शरूपं तदर्थावधारणं तर्हि पदश्रवणमपि निश्चयात्मकमेवाभ्युपगन्तव्यम् अतदात्मकस्य तच्छ्रवणस्य स्वाप-पद-मूर्छादिष्विव परमार्थतोऽश्रवणरूपत्वात् अविकल्पज्ञानस्याज्ञानरूपतया व्यवस्थापितत्वात् । पूर्वपदानुविद्धं चान्त्यपदं यदा वाक्यम् पूर्वपदानि च स्वाभिधेयविशिष्टतयाऽन्त्यपदप्रतिपत्तिकाले परामर्शमानानि वाक्यार्थप्रतिपत्तिजनकानि तदा पदार्थानवगमे वाक्यस्यैव स्वार्थाभिसम्बद्धतयाऽनवगमात् कथं ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तिर्भवेत् ?!

✽ वाक्य के अनवबोध से वाक्यार्थअप्रतीति ✽

यह जो पहले कहा गया था कि (पृष्ठ - ३३८) पदों का श्रवण होने पर भी, मानसिक विक्षेप या उपघात के कारण पदार्थों का बोध नहीं होता इसी लिये वाक्यार्थ का ज्ञान भी नहीं होता है, इस लिये पदार्थ ही वाक्यार्थ का बोधक है यह फलित होता है — यह कल्पना गलत है क्योंकि वहाँ वाक्यार्थबोध न होने का कारण पदार्थबोधाभाव नहीं है किन्तु विशिष्टपदसमूह से कथंचिद् अभिन्न वाक्य का अबोध ही है । अर्थात् मानसिक विक्षेप चल-विचलता के काल में वाक्यश्रवण ही ठीक ढंग से नहीं होता । मानसिक उपघातवाले पुरुष के श्रोत्रेन्द्रिय के साथ वाक्यात्मक पदों का सम्बन्ध होने मात्र से वाक्यबोध नहीं हो जाता । अत एव, स्वरूप से अज्ञात अथवा वाक्यार्थसम्बन्धि के रूप में अज्ञात वाक्य अपने अर्थ के बोध-प्रयोजक नहीं होते । यदि वाक्य के अज्ञात रहने पर भी वाक्यार्थबोध हो जायेगा तो वाक्य न सुननेवाले भी सभी को वह हो जायेगा । यदि कहा जाय कि मानसिक उपघातवाला मनुष्य पदों को (वाक्य को) नहीं सुनता ऐसा नहीं, सुनता ही है, तब तो यह भी कह सकते हैं कि वह वाक्यार्थ का अवधारण भी करता ही है क्यों नहीं कर सकता ? यदि कहें कि अर्थ का अवधारण तो परामर्शरूप होता है जो कि मानसिक उपघात अवस्था में सम्भव नहीं है — तब तो यह भी जान लीजिये कि वाक्यार्थबोधप्रयोजक पदश्रवण भी सुनिश्चितस्वरूप हो तभी वाक्यार्थबोध होता है, मानसिक उपघातावस्था में सुनिश्चित पदश्रवण सम्भव न होने से वाक्यार्थ बोध नहीं होता । अनिश्चयात्मक अनध्यवसायरूप पदश्रवण तो निद्रा, बेहोशी और नशे की अवस्था में भी होता है किन्तु वह परमार्थ से श्रवणरूप ही नहीं होता । पहले भी यह स्थापित किया गया है कि अविकल्पात्मकज्ञान अज्ञानतुल्य ही होता है ।

यदि ऐसी प्रक्रिया मानी जाय कि पूर्व-पूर्व पदों से संसक्त अन्त्य पद यही वाक्य है, अन्त्य पद के श्रवण काल में अपने अपने अर्थ से विशिष्ट स्वरूप में परामर्शरूढ पूर्वपद ही वाक्यार्थ के बोध के प्रयोजक हैं — ऐसी प्रक्रिया मानने पर तो स्पष्ट है कि पदार्थों का बोध न होने पर, वास्तव में अपने अर्थ से सम्बन्धि के रूप में वाक्य का ही बोध अनुपस्थित है, जब वाक्य ही इस प्रकार विशिष्ट रूप से अज्ञात है तब वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होगी ? तात्पर्य, इस प्रक्रिया में भी वाक्य के अज्ञात होने से ही वाक्यार्थबोध का अभाव सिद्ध होता है ।

तथाहि - 'गौर्गच्छति' इति वाक्यप्रयोगे गोशब्दात् सामान्यविशेषात्मकं गवार्थं गच्छत्याद्यन्यतम-क्रियासापेक्षं प्राक् प्रतिपद्यते, 'गच्छति' इत्येतस्माच्च तमेव प्रतिनियतगमिक्रियावच्छिन्नमवगच्छति, ततः क्रियाद्यवच्छिन्नः सामान्यविशेषात्मको वाक्यार्थो व्यवतिष्ठते पदसमुदायात्मकाद् वाक्यात् पदार्थात्मकस्यैव तस्य प्रतिपत्तेः। यस्मिन्नुच्चरिते यः प्रतीयते स एव तस्यार्थः इति शाब्दिकानां व्यवहारात्। यश्च शब्दमन्तरेणापि अध्यक्षादेरर्थः प्रतीयते न स शब्दार्थः तेन 'पश्यतः श्वेतिमारूपम्' (पृ० ३३७) इत्याद्यभिधानं प्रकृतानुपयोग्येव। अतः -

“पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीं पदार्थाः प्रागवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति तस्मात् पदेभ्यः पदार्थप्रत्ययः पदार्थेभ्यो वाक्यार्थप्रत्ययः।

पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावभावतः। पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थितः।। (श्लो० वा० वाक्या० श्लो० १११ उ०-३३६ पू०)” इत्यादि - यत् परैरुक्तम् तदपास्तं भवति, अतो नाभिहितान्वयः।

नाप्यन्वितानां क्रिया-कारकादीनामेकान्ततोऽभिधानम्, यतः पदार्थः पदार्थान्तरसंसक्त एव यदि पदेनाभिधीयते तदा प्रथमपदेनैव वाक्यार्थस्याभिहितत्वात् शेषपदोच्चारणमनर्थकमासज्येत, पदस्य च

❀ अभिहित अन्वय-वाद निरसन ❀

कैसे यह देखिये - 'गौः गच्छति = गाय जा रही है' इस वाक्यप्रयोग में गोशब्द से गमनादि किसी एक क्रिया से सापेक्ष सामान्य-विशेषात्मक 'गो' अर्थका पहले ज्ञान होता है। फिर 'गच्छति' पद से नियत गमनक्रिया से विशिष्ट एक गो का बोध होता है - इस प्रकार क्रियादि से विशिष्ट सामान्यविशेषात्मक ही वाक्यार्थ फलित होता है। पदसमुदायात्मक वाक्य से कथंचित् पदार्थाभिन्न ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस तथ्य में शब्दशास्त्रीओं का यह व्यवहार साक्षिभूत है कि जिस के उच्चार के बाद जो प्रतीति हो वही उस उच्चरित पद का अर्थ होता है। शब्दश्रवण के विना भी प्रत्यक्षादि से जो अर्थप्रतीति होती है वह शब्दार्थ रूप हो ही नहीं सकती क्योंकि वह शब्दजन्य नहीं है, अतः 'पश्यतः श्वेतिमारूपम् = श्वेतरूप को देखता हुआ...' (श्वेत अश्व दौड़ रहा है) इत्यादि का शाब्दबोध के रूप में प्रस्तुतीकरण प्रकृत में निष्प्रयोजन है। इसी लिये अभिहितान्वयवादियों ने यह जो कहा है -

“पदसमूह तो अपने अपने अर्थ का प्रकाशन कर के चरितार्थ हो जाता है, अब तो उन से उपस्थित पदार्थों का समूह ही वाक्यार्थ का प्रकाशन करता है, अतः 'पदों से पदार्थबोध, पदार्थबोध से वाक्यार्थबोध' यह फलित होता है, जैसे कि श्लोकवार्तिक में कहा है कि - “(वाक्यार्थज्ञान के प्रति) पदार्थज्ञान का मूलत्व (कारणत्व) इष्ट है क्योंकि पदार्थों का ज्ञान होने पर वाक्यार्थप्रतीति होती है। इस युक्ति के आधार पर, वाक्यार्थ पदार्थमूलक है यह स्थापित किया जाता है।”

अन्य वादियों का यह कथन भी निरस्त हो जाता है। निष्कर्ष, अभिहितान्वयवाद संगत नहीं है।

वाक्यार्थबोध के अधिकरण में मीमांसकों और नैयायिकों का दो परस्पर विरुद्ध मत है। मीमांसक अभिहितान्वयवादी है - उस का कहना है कि शाब्दबोध में पदादि से प्रतिपादित पदार्थों के (न कि पदों के) परस्पर अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है। इस मत का निरसन व्याख्याकार ने किया है। नैयायिकों का मत है कि संसर्गमर्यादा अर्थात् पदगत आकांक्षा से अन्योन्य अन्वित पदार्थस्वरूप वाक्यार्थ का पदों से प्रकाशन होता है। अब व्याख्याकार इस के प्रतिक्षेप में कहते हैं -

वाक्यरूपताप्रसक्तिः विशेषाभिधायित्वात्, यावन्ति च वाक्ये पदानि तावन्ति वाक्यानि स्युः यावन्तश्च पदार्था वाक्यार्था अपि तावन्त एव प्रसज्येरन्। यदि च पदार्थानेकत्वेऽपि एक एव वाक्यार्थस्तदा प्रतिपादितार्थप्रतिपादकत्वात् शेषपदार्थपदानां पौनरुक्त्यमासज्येत। अन्वितार्थाभिधायकत्वे च पदस्य 'गौः' इत्युक्ते 'गच्छति' आदिक्रियाविशेषाकाङ्क्षा न स्यात् तत एव क्रियाविशेषसंसर्गस्यावगतत्वात्। न च विशेषाणामानन्त्यात् समयकरणाशक्तेरसंकेतितस्य चातिप्रसङ्गतः प्रतिपादनसामर्थ्याऽयोगात् पदानां विशेषप्रत्यायनसामर्थ्यं स्यात्। न च केवलसामान्याभिधायि पदं सम्भवति, सामान्यस्यार्थक्रियाऽनिर्वर्तकत्वेन व्यापित्वेन चानयनादिक्रियासंसर्गाभावात्। ततश्च सामान्यविशेषयोरन्यतरस्यापि पदेनाऽनभिधानात् कथमन्विताभिधानम् ? सामान्यस्य नित्यत्वादेकत्वाच्च पदेन सह संकेतसद्भावात् पदार्थत्वेऽपि वाक्यार्थस्य तत्सम्बद्धत्वेनाऽग्रहणात् कुतस्तत्प्रतिपत्तिरित्युक्तं प्राक् !

यदि च पदात् पदार्थे उत्पन्नं ज्ञानं वाक्यार्थपर्यवसायि अभ्युपगम्येत चक्षुरादिप्रभवरूपादिज्ञानं

✽ अन्विताभिधानवादि एकान्तमत का निरसन ✽

एकान्त से, क्रिया-कारकादि अन्वित पदार्थों का पदप्रयुक्त अभिधान भी युक्तियुक्त नहीं है। यदि अन्यपदार्थ से संसक्त ही पदार्थ पद से व्याख्यात किया जाता हो तब तो प्रथम पद से ही अन्यपदार्थान्वित स्वपदार्थस्वरूप वाक्यार्थ का निरूपण हो जाने से शेष पदों का उच्चारण निरर्थक ठहरेगा। एवं पद में वाक्यात्मकता की प्रसक्ति होगी, क्योंकि उस से विशिष्ट अर्थका अभिधान होता है। तथा, जितने पद उतने वाक्य, इसी तरह जितने पदार्थ उतने वाक्यार्थ होने की भी अन्विताभिधान पक्ष में विपदा आयेगी। यदि कहा जाय कि 'पदार्थ की बहुलता होने पर भी वाक्यार्थ तो एक ही होता है — जो कि अन्यपदार्थान्वित पदार्थरूप है' तब तो एक पदार्थ के द्वारा जिस वाक्यार्थ का प्रतिपादन हुआ, उसी का प्रतिपादन करने से शेषपदार्थप्रकाशक पदों के भाषण में पुनरुक्तिदोष प्रशक्त होगा। तथा अन्विताभिधान पक्ष में 'गौः' एक पद के श्रवण से, गमन क्रिया से अन्वित गाय का बोध हो जाने से 'गच्छति' आदि क्रिया पदों के अध्याहार आदि की आकांक्षा नहीं रहेगी, क्योंकि 'गौः' पद से ही क्रियाविशेष का संसर्ग ज्ञात हो चुका है।

तथा, पदों में विशेषार्थ अवबोधक सामर्थ्य हो नहीं सकता, क्योंकि विशेष अनन्त होने से यह शक्य नहीं है कि प्रत्येक विशेष में पृथक्-पृथक् संकेत किया जा सके। जिस का संकेत नहीं है उस अर्थ का प्रतिपादन पद से शक्य होगा तो शशसींग आदि के प्रतिपादन की प्रसक्ति हो सकती है, अतः विशेषों का प्रतिपादन शक्य नहीं होने से, पदों में विशेषार्थप्रतीति का सामर्थ्य हो नहीं सकता। पद से केवल सामान्य का प्रतिपादन भी असम्भव है, क्योंकि सामान्य किसी भी अर्थक्रिया के सम्पादन में सक्षम नहीं है और व्यापक भी है इसलिये उस के आनयनादि क्रिया का संसर्ग किसी भी पदार्थ में हो नहीं सकता। जब इस प्रकार सामान्य या विशेष — एक का भी प्रतिपादन किसी भी पद से शक्य नहीं है तब अन्विताभिधान की तो बात ही कहाँ ? पहले कहा है कि सामान्य एक और नित्य होने से यद्यपि उस में पद का संकेत हो सकता है, अतः सामान्य का पदार्थ के रूप में ग्रहण हो सकता है, किन्तु वाक्यार्थ का पदार्थ के सम्बन्धिरूप में ग्रहण शक्य न होने से वाक्यार्थ की प्रतीति किस से होगी यह प्रश्न ज्यों का त्यों ही खड़ा रहता है।

✽ पदजन्य पदार्थज्ञान वाक्यार्थपर्यवसायि मानने में अतिप्रसंग ✽

पद का व्यापार परम्परया वाक्यार्थज्ञान तक खिँच कर अगर यह कहा जाय कि पद से पदार्थज्ञान उत्पन्न

गन्धादिपर्यवसितं तदा प्रसज्येत। अथ चक्षुरादिप्रभवं रूपादिज्ञानं न गन्धादिसाक्षात्कारि इति नायं दोषः। तर्हि पदप्रभवं पदार्थज्ञानमपि न वाक्यार्थावभासि इति न तत्पर्यवसितमभ्युपगन्तव्यम्। चक्षुरादेर्गन्धादाविव पदस्यापि वाक्यार्थसम्बन्धानवगमात् सामर्थ्यानुपपत्तेः। न च पदात् सामान्यमात्र-पदार्थप्रतिपत्तावपि तद्विशेषप्रतिपत्तिः स्यात्, विशेषरूपेण तु प्रवृत्त्यादिव्यवहारसमर्थो वाक्यार्थो न संसर्गमात्रम् तस्याऽर्थक्रियाऽक्षमस्य श्रोत्रनभिवाञ्छितत्वात्, अनभिवाञ्छितार्थप्रतिपादकस्य च वचस उन्मत्तक-विरुतस्येवाऽप्रमाणत्वात्। न च विशेषमन्तरेण सामान्यमनुपपद्यमानं संसर्गविशेषमवबोधयतीति शक्यं वक्तुम् आधारप्रतिपत्तावपि तद्विशेषप्रतिपत्तेरयोगात्। न हि 'पय आनीयताम्' इत्युक्ते तदाधारमात्रप्रति-पत्तावपि कुटादिविशेषप्रतिपत्तिः सम्भविनी। तद् न अन्विताभिधानम् अभिहितान्वयो वा एकान्तवादि-मतेन सम्भवी।

विधिवाक्यस्य च प्रामाण्यनिरासेऽर्थवादादिवाक्यानां प्रामाण्यमपास्तमेव क्रियाङ्गत्वेन तेषां परैः प्रामाण्याभ्युपगमात् अन्यथा तदयोगात्। तदुक्तम् - 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्'

होता है और उस से अन्ततः वाक्यार्थज्ञान उत्पन्न होता है - तो फिर नेत्रादिजन्य रूपादिज्ञान को भी परम्परया गन्धादिज्ञान पर्यवसायी मानना पडेगा। अर्थात् नेत्र से रूपज्ञान और रूपज्ञान से रूपाविनाभावि गन्ध का ज्ञान भी नेत्र से ही हुआ ऐसा मानना होगा। यदि कहा जाय - परम्परया नेत्र से उत्पन्न रूपज्ञान गन्ध के साक्षात्कारात्मक नहीं होता इस लिये उसे नेत्रजन्य मानने का दोष नहीं है। तो फिर पदजन्य पदार्थज्ञान भी वाक्यार्थावभासी नहीं है इसलिये पदार्थज्ञान को वाक्यार्थपर्यवसायी मानना उचित नहीं होगा। चक्षु में जैसे गन्धग्रहणसामर्थ्य नहीं होता वैसे ही वाक्यार्थ के साथ पदार्थ या पद का सम्बन्ध अज्ञात रहने के कारण पद में भी वाक्यार्थबोध का सामर्थ्य नहीं होता। हाँ, पद से यद्यपि मात्र सामान्यात्मक पदार्थ का बोध हो सकता है किन्तु पदार्थविशेष का अर्थात् वाक्यार्थ का बोध उस से शक्य नहीं है। दूसरी ओर वाक्यार्थ ही विशेषरूप से प्रवृत्ति आदि व्यवहार के सम्पादन में समर्थ होता है न कि संसर्गमात्र। संसर्ग तो अर्थक्रिया करने में सक्षम नहीं होता, अतः उस का ज्ञान भी श्रोता को अपेक्षित नहीं होता। अनपेक्षित संसर्गमात्र अर्थ का प्रतिपादन करने वाला वचन प्रमाणभूत नहीं माना जाता जैसे किसी पागल का प्रलाप।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि - 'विशेष के विना सामान्य का रहना असंगत है उस अन्यथानुपपत्ति से पद संसर्गविशेष का बोध करायेगा' - क्योंकि आधारात्मक विशेष के विना सामान्य की अन्यथानुपपत्ति से सामान्यतः आधारात्मक विशेष का यानी पात्र का बोध होने पर भी विशिष्ट प्रकार के धातुपात्रादि आधार का बोध होना सम्भव नहीं है। जैसे - 'दूध लाओ' ऐसा आदेश सुननेवाले श्रोता को किसी सामान्य आधार पात्र में दूध को ले जाना - यह मालूम पड जाता है किन्तु कौन से आधार में ले जाना ? कुट में या कटोरे में - इस का भान नहीं होता है। निष्कर्ष यह है कि एकान्तवादमत में न तो अन्विताभिधान वाद सही है न अभिहितान्वयवाद।

✽ अर्थवादादि वाक्यों का प्रामाण्य सुदुर्घट ✽

विधिवाक्य का प्रामाण्य जब उक्त रीति से गगनपुष्प तुल्य हो गया तो अर्थवादादि वाक्यों का प्रामाण्य तो सुदूर प्रतिक्षिप्त हो जाता है। मीमांसक तो विधिवाक्यसूचित क्रिया के अङ्गरूप में उपयोगी होने से ही अर्थवादादि वाक्यों के प्रामाण्य को गौणरूप से स्वीकार करता है, क्रिया का अंग न हो ऐसे वेदवाक्यों को वह प्रमाण ही नहीं मानता। मीमांसासूत्र में कहा है कि 'आम्नाय यानी वेद का प्रयोजन क्रिया ही है इस

(मीमांसा० १-२-१) इति । न च विध्यङ्गताऽपि अर्थवादादिवाक्यानां पराभ्युपगमेन सम्भवति सामान्यदेस्तदर्थस्यासम्भवेन विध्यर्थोपकारकत्वाऽयोगतोऽर्थद्वारेण तेषां तदङ्गत्वानुपपत्तेः । न चार्थकृतं सम्बन्धमपहाय शब्दः शब्दान्तरस्याङ्गभावमासादयतीत्यतिप्रसङ्गात् । तन्न सामान्यशब्दार्थवादिप्रकल्पितं तत् तदभिधेयं सम्भवतीति न प्रथमपक्षाभ्युपगमः श्रेयान् ।

^Bद्वितीयविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषाः किं समुच्चिताः शब्दवाच्याः ? उत विकल्पिताः ? इति वक्तव्यम् । यदि विकल्पिता इति पक्षस्तदा एकविशेषव्यतिरेकेणान्येषां विशेषाणां न विवक्षित-दुग्धशब्दवाच्यता स्यात् ततश्चैकपयःपरमाणोरन्यत्र तत्परमाण्वादौ न दुग्धशब्दात् प्रतिपत्ति-प्रवृत्ती स्याताम् । समुच्चितानामपि तेषां तच्छब्दवाच्यत्वे एकस्मिन्नपि पयसि तद्बहुत्वप्रसङ्गः परस्परविविक्तपयः-परमाणूनां तत्रानेकत्वात् । न च तत्समुच्चयेऽपि ^{पयः}, तद्व्यतिरेकेण तदनभ्युपगमात् तथा तस्याऽप्रतीतिश्च । न चैकार्थकारितया तथा व्यपदेशः, तस्यापि वस्तुत्वे तद्रूपत्वात् अवस्तुत्वे कार्यविरोधात् ।

लिये क्रियार्थक न हो जैसे वेदवाक्य प्रमाण नहीं है।' यहाँ परामर्श यह करना है कि एकान्तवादी के मत के अनुसार अर्थवादादि वाक्य में विधि-अङ्गरूपता घट नहीं सकती, क्योंकि अर्थवादादि वाक्यों का सामान्यादि कोई अर्थ ही एकान्तवाद में संगत नहीं हो सकता, तो फिर विध्यर्थ के उपकारक होने की तो बात ही कहाँ ? फलतः अर्थ द्वारा वे विधि के अंग भी बन नहीं सकते। एक शब्द अन्य शब्द का अङ्गरूप तभी बन सकता है जब उस का उस के साथ कोई अर्थकृत सम्बन्ध हो। अर्थप्रयुक्त सम्बन्ध के विना यदि कोई शब्द दूसरे शब्द का उपकारक बन सके तो लौकिक शब्द भी विधिशब्द का उपकारक बन जाने का अतिप्रसंग हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि सामान्य को शब्द का वाच्यार्थ मानने वाले एकान्तवादियों के पक्ष में, अनेक दोषों के कारण सामान्य में शब्दवाच्यता की संगति असम्भव है। अतः पृष्ठ ३२० से ३२१ में जिन चार विकल्पों का निर्देश किया गया है उन में से प्रथम विकल्प का अङ्गीकार निष्फल है यह सिद्ध होता है। (अब तक विस्तृत विवेचन सब प्रथम विकल्प का ही हुआ, अन्य तीन विकल्पों का विवेचन संक्षेप में अब करेंगे।)

✽ विशेष शब्दवाच्य है ? दूसरा विकल्प ✽

विशेष को शब्दवाच्य माना जाय — यह दूसरा विकल्प विमर्शरूढ है — समुच्चित (यानी समूहभाव में रहे हुए) विशेषों को शब्दवाच्य मानना या विकल्पित (यानी पृथक् पृथक्) एक एक विशेष को ? यह सोचा जाय। यदि विकल्पित विशेष को शब्दवाच्य माना जाय तो विवक्षित एक 'दुग्ध' शब्द किसी एक विशेष (दुग्ध व्यक्ति) का वाचक होगा किन्तु अन्य सभी दुग्धव्यक्तियों का वाचक नहीं बनेगा। नतिजा यह होगा कि एक 'दुग्ध' शब्द से किसी एक ही दुग्ध-परमाणु का बोध होगा, उस में ही प्रवृत्ति होगी; किन्तु अन्य दुग्धपरमाणुओं का बोध एवं उन में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि सब समुच्चित विशेषों को शब्दवाच्य माना जाय तो इस दूसरे विकल्प में, किसी एक दुग्ध (अवयवीस्कन्ध) में भी दुग्ध-बहुत्व यानी अनेकत्व की प्रसक्ति होगी, क्योंकि एक दुग्ध (अवयवी) में भी परस्पर पृथक् अनेक दुग्ध-परमाणु मौजूद रहते हैं। यदि कहें कि समुच्चित विशेषों को नहीं किन्तु विशेषों के समुच्चय को पयस् आदि शब्दवाच्य माना जाय तो यहाँ भी तुल्य दोष है क्योंकि समुच्चित विशेषों से अतिरिक्त कोई समुच्चय जैसी चीज ही नहीं होती, न तो उस की उन से पृथक् प्रतीति होती है। यदि यह कहा जाय कि — 'समुच्चित विशेष मिल कर एक कार्य निष्पन्न करते हैं, अत एव एककार्यकारी होने से उसे एक समुच्चयरूप ✽. पयःशब्दप्रवृत्तिः इत्यभिप्रायः ।

तेषां चैकत्रैव सामर्थ्ये तस्यैकस्यैकपरमाणुरूपत्वेऽनुपलभ्यताप्रसक्तिः अनेकाणुरूपत्वे एककार्यत्वविरोधः, एकस्य तत्कर्तृत्वविरोधश्च स्थूलैकवस्तुनस्तदेककार्यत्वे तस्य समानरूपताप्रसङ्गः, स्वारम्भाववद्व्यव्यापकैकरूपत्वात्। एवं च विशेषमात्रवादत्यागः।

स्वावयवसाधारणैकरूपवस्त्वनभ्युपगमेऽपि च प्रतिनियतविषयप्रतिपत्त्यभावप्रसक्तिः। अनेकावयवात्मकैकस्थूलवस्त्वभावे तदाकारप्रतिपत्तेरभावात् सर्वदा सर्वस्यास्तस्यास्तदाकारतयैव संवेदनात् अन्योन्यानुविद्धाऽननुविद्धवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणाभावे च प्रमाणान्तरप्रतिपन्नतथाभूतवस्तुप्रतिपादकाभिधानस्याप्यसम्भवात् प्रतिनियतप्रवृत्तिहेतुशाब्दव्यवहाराभावप्रसक्तिश्च। अत एव तथाभूतविकल्पजननात् 'शब्दः प्रमाणमसत्यपि बाह्यस्वलक्षणविषयत्वे'... इत्युक्तम्। 'पयः पीयताम्' इत्यभिधानोत्थापितविकल्पाकारस्य खरविषाणशब्दोत्थापितविकल्पाकाराद् अभेदप्रसक्तेः सर्वत्र तथाभूतवस्त्वनुभवाभाव एव विकल्पाकारप्रवृत्तेर्बहिष्प्रवृत्त्यभावश्च। न च तदध्यवसायेन तत्र प्रवृत्तिः, सर्वदा तत्तत्त्वाऽग्रहणेऽतत्त्वस्य तत्त्वरूपतया तत्राध्यारोपाऽसम्भवात्। न चैवं मृगतृष्णिकास्वधारोपितोदकाकारस्येव तस्य प्राप्तिर्भवेत्। न च स्वलक्षणानुभवद्वारायातविकल्पप्रभवशब्दस्य संवादित्वकल्पनाऽपि भवन्मतेन संगता, निरंशक्षणिक-

मान कर उस को शब्दवाच्य मानेंगे' - तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक कार्य में भी ये ही मुसीबतें खड़ी हैं कि एक कार्य समुच्चयात्मक है या नहीं ? यदि वह वस्तुरूप है तब तो समुचित विशेषों से अतिरिक्त नहीं होगा और यदि वह अवस्तरूप - असत् है तो उस के कार्यरूप होने में विरोध होगा, क्योंकि असत् कार्यरूप नहीं होता। दूसरी बात यह है कि एककार्यकारी समुचित विशेषों से जो एक कार्य किया जाता है वह भी यदि एक परमाणुस्वरूप ही होगा तो उपलब्धियोग्य ही नहीं होगा। यदि वह कार्य अनेकपरमाणुरूप होगा तो उन में (एक) कार्यता का ही विरोध होगा। एवं कार्यरूप परमाणु अनेक होने से उस के कारण भी एक नहीं अनेकात्मक ही मानना पड़ेगा, अतः कार्यों में एक कर्तृत्व का विरोध प्रसक्त होगा। यदि किसी एक स्थूल वस्तु को उन समुचित अनेक परमाणुओं के एक समुच्चय का कार्य मानेंगे तो वह स्थूल वस्तुरूप कार्य में समानरूपता की यानी सामान्यमयत्व की प्रसक्ति होगी, क्योंकि अपने आरम्भक अवयव (परमाणु) जो कि अनेक हैं उन सभी के प्रति व्यापक रूप से वह स्थूल एक वस्तु 'समान कार्य रूप' है। फलतः सामान्यात्मकत्व की प्रसक्ति होने से विशेषरूपता का विलोप प्रसक्त होगा।

✽ अनेकावयवात्मक स्थूल अवयवी का अपलाप अशक्य ✽

यदि विशेषलोप के अनिष्ट से बचने के लिये अपने अवयवों में सम्बद्ध साधारण एक स्थूल वस्तुका अपलाप किया जाय तो नियत एक विषय का शब्द से बोध नहीं हो सकेगा। दूसरी विपदा यह है - यदि जैनमतसम्मत अनेकावयवात्मक ही एक स्थूल अवयवी वस्तु का स्वीकार नहीं करेंगे तो आयत-वृत्त आदि नियत वस्तु-आकारों की प्रतीति असम्भव हो जायेगी, जब कि सभी दृष्टाओं को सर्वकाल में कोई भी स्थूल वस्तु किसी एक विशिष्टाकारवाली ही संविदित होती है। अनेकान्तमतानुसार, हर कोई वस्तु एक-दूसरे से कथंचित् अनुविद्ध एवं अननुविद्ध ही प्रमाणगोचर है, यदि ऐसी वस्तु के स्थापक प्रमाण का अपलाप किया जायेगा तो अन्य प्रमाण से प्रसिद्ध ऐसे नामाभिधान का भी असंभव प्रसक्त होगा जिस नामाभिधान से (उदा० चित्रपद से) अनेकान्तात्मक वस्तु का ही प्रतिपादन किया जाता है। इस का नतीजा यह होगा कि नियतप्रवृत्तिकारक शब्दव्यवहार का भी लोप प्रसक्त होगा। जब अनेकान्तवाद न स्वीकारने पर शाब्द व्यवहार ही शून्य प्रसक्त

परमाणुस्वलक्षणानुभवस्याभावात् अन्यस्य चानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा शब्दस्यानेकान्तवस्तुविषय-
प्रामाण्यप्रसङ्गः त्रिरूपलिङ्गप्रतिपादकवाक्यवत् पारम्पर्येण तस्य तत्र प्रतिबन्धात्। न चैवमपि विशेषै-
कान्तसिद्धिः उभयवादप्राप्तिप्रसङ्गात्। तन्न द्वितीयविकल्पस्यापि संभवः।

तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्येकपक्षभाविदोषप्रसङ्गतोऽनभ्युपगमविषयः। न च परस्परनिरपेक्षयोः सा-
मान्यविशेषयोरसत्त्वे तदारब्धोभयवादो युक्तः अङ्गुलीद्वयाभावे तत्संयोगवत्।

हो जाता है, तब एकान्तवादी बौद्धोंने जो यह कहा है कि 'शब्द यद्यपि बाह्य स्वलक्षणात्मक वस्तुगोचर नहीं होता फिर भी वस्तुप्रापक व्यवहार में प्रयोजक विकल्प को पैदा करने से प्रमाणभूत होता है' यह अयुक्त ठहरेगा, क्योंकि एकान्तवाद में शाब्दव्यवहार को ही लोप प्रसक्त है, कारण, यथार्थ वस्तु का बोधक कोई नाम ही हो नहीं सकता। फलतः, 'खरशृंग' शब्द से जनित विकल्प का आकार और 'दूध पीओ' इन शब्दों से जनित विकल्प का आकार दोनों समानरूप से असदाकार स्वरूप हो जाने से — उन में कोई भेद नहीं रहेगा। भेद नहीं रहने का कारण यह कि दोनों विकल्पों के आकार की प्रवृत्ति वास्तविक वस्तुगोचर अनुभव के विरह में ही हुई है। परिणाम यह आयेगा कि बाह्यवस्तुगोचर प्रवृत्ति का ही उच्छेद हो जायेगा।

यदि यह कहा जाय कि — प्रवृत्ति का उच्छेद नहीं होगा क्योंकि विकल्प से वस्तु का यथार्थज्ञान न होने पर भी वस्तु का अध्यवसाय तो होता ही है और ऐसे मिथ्या अध्यवसाय से भी प्रवृत्ति हो सकती है। — तो यह नितान्त गलत है क्योंकि मिथ्या अध्यवसाय से प्रवृत्ति उसी वस्तु के बारे में हो सकती है जब कभी उस वस्तु के बारे में पहले कभी तात्त्विक ग्रहण हो चुका हो। किन्तु आपके मत में तो विकल्प से कभी वस्तुतत्त्व का ग्रहण हुआ ही नहीं, तब अतत्त्व में तत्त्वरूपता के अध्यारोप - अध्यवसाय होने का सम्भव ही कहाँ है जिस से प्रवृत्ति हो सके। पहले कभी सत्यजल का विकल्प हुआ हो तब कभी मृगमरिचिका में जलाकार के अध्यारोप के द्वारा उस के लिये प्रवृत्ति होना सम्भव है, किन्तु तात्त्विक जल का विकल्प से ग्रहण ही नहीं हुआ, तो उस से प्रवृत्ति और सत्य जल की प्राप्ति का सम्भव कहाँ रहता है ?

एकान्तवादी बौद्धोंने जो स्वलक्षण के निर्विकल्प अनुभव के बल से निपजनेवाले विकल्प के द्वारा उत्पन्न होने वाले शब्द को प्रवृत्ति का संवादी होने की कल्पना कर बताया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस के मतानुसार स्वलक्षण तो निरंश एक परमाणु रूप ही है और वह भी क्षणिक, इस लिये उसका निर्विकल्प अनुभव सम्भव ही नहीं है। तथा, परमाणु के अलावा कोई स्थूल अवयवी द्रव्य उसे मान्य नहीं है तब उस के अनुभव के बल पर विकल्प, उस विकल्प से संवादी शब्द की सम्भावना ही दूर भाग जायेगी। यदि वह परमाणुपुञ्जात्मक स्थूल द्रव्य का स्वीकार कर लेगा तब तो एकानेकात्मकवस्तु के स्वीकार से अनेकान्तवस्तुगोचर शब्द प्रमाण का स्वीकार भी उस के गले में आ पड़ेगा। कारण, तीनरूपवाले लिंग के प्रतिपादक वाक्य की तरह अन्य शब्दों का भी परम्परया अनेकान्तात्मक वस्तु के साथ सम्बन्ध बैठ जाता है। लेकिन इस स्थिति में भी सामान्य-विशेषोभयात्मक वस्तु की प्राप्ति होने से एकान्ततः स्वतन्त्र विशेष की सिद्धि तो दूर ही रह जायेगी।

निष्कर्ष :- एकान्तवाद में 'विशेष शब्दवाच्य है' यह दूसरा विकल्प भी युक्तिसंगत नहीं है।

✽ सामान्य-विशेष उभय की वाच्यता का तीसरा विकल्प ✽

तीसरा विकल्प- सामान्य को और विशेष को दोनों को शब्द का वाच्यार्थ माना जाय - यह भी स्वीकृतिपात्र नहीं है क्योंकि जो दोष सामान्य-पक्ष में दिये गये हैं, एवं जो दोष विशेषपक्ष में दिये गये हैं वे सब उभयपक्ष में प्रविष्ट हो सकते हैं। सच तो यह है कि स्वतन्त्र, परस्पर निरपेक्ष न तो सामान्य का अस्तित्व है न विशेष का। अत एव परस्पर निरपेक्ष उभयवाद भी गलत है। जब दो ऊँगली विद्यमान हो तब तो उस का

अनुभयविकल्पाभ्युपगमोऽप्यसंगतः प्रतिनियतसामान्यविशेषयोरनभिधाने प्रवृत्त्यादिव्यवहारा-
भावप्रसक्तेः । न चानुभयपक्षः सम्भवति, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरन्यतरनिषेधस्य तदपरविधिनान्तरीयक-
त्वात् । परस्परापेक्षया द्वयोरपि उपसर्जनत्वे निरपेक्षत्वे चासत्त्वमेव सापेक्षत्वे चेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः ।
द्वयोरपि प्राधान्ये सापेक्षत्वानुपपत्तेरसत्त्वमेव । अन्यतरस्यैवोपसर्जनत्वे निमित्तानुपपत्तिः । द्वयोरप्यौदा-
सीन्याभ्युपगमेऽसंख्यव्यवहार्यतोपपत्तिः । तदतदात्मकैकवस्तुनो यथाक्षयोपशमं प्रमाणतः प्रधानोपसर्जनतया
प्रतिपत्त्यभ्युपगमे 'स्यात् सामान्य-विशेषात्मकं वस्तु' इत्यशेषरूपात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वेन शब्दादेः
प्रमाणभूतप्रतिपत्तिनिबन्धनस्याभ्युपगमात् अनेकान्तमतानुप्रवेशः, समानाऽसमानपरिणामात्मकैकवस्तु-

संयोग विश्वासपात्र है किन्तु दो ऊँगली ही जहाँ न हो वहाँ उस के संयोग का क्या भरोसा ?

✽ अनुभय की वाच्यता का चौथा विकल्प ✽

चौथा विकल्प - प्रथम-द्वितीय दोनों का निषेध यानी अनुभय का है। अर्थात् शब्द का वाच्य न तो सामान्य है, न विशेष। किन्तु यह विकल्प भी असंगत है। कारण, शब्द से यदि विशेष में से किसी भी एक नियत पदार्थ का प्रतिपादन ही नहीं माना जाय तो शब्दमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि पूरे व्यवहारों का उच्छेद मानना पड़ेगा। वास्तव में, अनुभयपक्ष सम्भवारूढ भी नहीं है। कारण यह है कि अनुभय का अर्थ है सामान्य और विशेष यानी उभय का निषेध। सोचना यह है कि सामान्य का निषेध करने पर विशेष को शब्दवाच्य मानना पड़ेगा, क्योंकि तीसरा कोई वाच्यार्थ हो यह सम्भव नहीं है। (अतः विशेष को वाच्यार्थ मानने पर विशेषपक्षकथित दोष प्रसक्त होंगे।) एवं विशेष का निषेध, सामान्य के विधान में पर्यवसित होगा। जहाँ दो पदार्थ एक दूसरे के व्यवच्छेदरूप होते हैं वहाँ किसी एक का निषेध करने पर शेष दूसरे का विधान अनिवार्य हो जाता है। (अतः यहाँ सामान्यपक्षकथित दोष भी प्रसक्त होंगे।)

यदि व्यवहारसम्पादन के लिये एक-दूसरे की अपेक्षा एक दूसरे को गौण वाच्य मान लिया जाय - अर्थात् सामान्यवादी सामान्य की अपेक्षा विशेष को गौण वाच्य माने और विशेषवादी विशेष की अपेक्षा सामान्य को गौण वाच्य माने तो यहाँ समस्या यह है कि उभयवादी उन दोनों को सर्वथा निरपेक्ष (स्वतन्त्र) मानेंगे तो पूर्वकथनानुसार उन का असत्त्व प्रसक्त है, क्योंकि स्वतन्त्र सामान्य का या विशेष का अस्तित्व ही खतरे में है। यदि उन दोनों को परस्पर सापेक्ष मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा क्योंकि अपने अपने मान्य पदार्थ में मुख्यता सिद्ध होने पर अन्य स्वीकृत पदार्थ में गौणता सिद्ध होगी, गौणता की सिद्धि होने पर मुख्यता की सिद्धि होगी।

यदि परस्पर सापेक्ष सामान्य-विशेष दोनों को प्रधान माना जाय तो पुनः असत्त्व प्रसक्त होगा, क्योंकि सापेक्षभाव में एक प्रधान एक गौण अवश्य होता है, अतः उभय प्रधान असत् हैं। यदि ऐसा भी माना जाय कि एक प्रधान, दूसरा गौण - तो एकान्तमत में ऐसा मानने के लिये (अर्थात् एक को गौण या प्रधान मानने के लिये) कोई आधारभूत निमित्त ही नहीं है। यदि सामान्य-विशेष दोनों को गौण-प्रधान भावमें सर्वथा उदासीन ही माना जाय (यानी कौन गौण कौन प्रधान इस चर्चा को निरवकाश बताया जाय) तो उदासीन होने के कारण वे व्यवहार के योग्य ही नहीं रहेंगे।

✽ अनेकान्तवाद में शब्दप्रमाण का यथार्थविषय ✽

यदि ऐसा माना जाय कि वस्तु भिन्न भिन्न अपेक्षा से कथंचित् सामान्यरूप होती है और नहीं भी होती; एवं कथंचित् विशेषरूप होती है और नहीं भी होती - अर्थात् कथंचित् सामान्य-विशेषोभयात्मक होती है।

प्रतिपादकत्वेन शब्दादेरभ्युपगमात्। तस्मात् अनुगत-व्यावृत्तात्मकैकप्रतिभासजनकस्वभावं तथाभूत-धर्मद्वयात्मकमेकं वस्तु अभ्युपगन्तव्यमन्यथा तथाभूतप्रतिभासस्य हेत्वभावतोऽभावप्रसक्तेः, अन्यादृशस्य च तस्याऽसंवेदनात्, सर्वप्रतिभासविरतिप्रसङ्ग इत्युक्तं प्राक्।

न चानादितथाभूतविकल्पप्रसववासनातस्तथाभूतप्रतिभाससद्भावादयमदोषः, तस्या अपि अनन्त-धर्मात्मकैकरूपताऽनभ्युपगमे तथाविधविज्ञानजनकत्वाऽयोगात् इत्यसकृदावेदितत्वात्। न च सर्व एवायं प्रमाण-प्रमेयव्यवहारो भ्रान्तिरूप इति वक्तव्यम् अपरस्याभ्रान्तरूपस्याभावात्। न च सुगतज्ञानम-भ्रान्तम् तस्योत्पत्तिकारणाभावतोऽभावात्। न नैरात्म्यादिभावना तत्कारणम् तस्या मिथ्यारूपतया-ऽमिथ्यारूपतज्ज्ञानहेतुत्वाऽयोगात्। न च तस्य सद्भावः सिद्धः अध्यक्षतोऽनधिगमात्। न चानुमान-

किन्तु श्रोता का अपने क्षयोपशम (अर्थग्रहणशक्ति की तीव्र-मन्दता) के अनुसार, प्रामाणिक तौर पर कभी सामान्य की तो कभी विशेष की - मुख्य अथवा गौणरूप से प्रतीति होती है - तो यहाँ स्पष्ट ही अनेकान्तवाद में प्रवेश हो जायेगा। अनेकान्तवाद में वस्तु स्यात् (यानी कथंचित्) सामान्य-विशेषात्मक मानी गयी है। एवं शब्दादि माध्यम को सम्भवित सामान्य-विशेष सर्वधर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादक होने पर प्रमाणभूत प्रतीति कराने वाला माना गया है। 'स्यात्' पद समुचित अपेक्षा से किसी एक-दो धर्मों की मुख्यता के साथ गौण रूप से अन्य तद्गत सकल धर्मों का सूचन करने वाला है। जब कोई भी वाक्य 'स्यात्' पद के सदुपयोगपूर्वक अस्तित्वादि का निरूपण करता है तब वस्तुगत सकल धर्मों का मुख्य-गौण भाव से प्रकाशन कर के प्रामाणिक बोध को उत्पन्न करता है। सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु को अनुगत-व्यावृत्त उभयस्वरूपानुविद्ध एक प्रतिभास उत्पन्न करने के स्वभाव से विशिष्ट, एवं अनुगत-व्यावृत्त उभय धर्मात्मक एक पदार्थरूप मानना न्याययुक्त है। यदि इस का इन्कार किया जायेगा, तो अनुगत-व्यावृत्त स्वभाव प्रतिभास का जनक कोई तथाविध कारण न होने से प्रतिभास का ही अभाव प्रसक्त होगा। एकान्त एकस्वरूप वस्तु का संवेदन हो नहीं सकता। फलतः समग्र प्रतिभासों के उच्छेद का अनिष्ट प्रसक्त होगा। पहले यह तथ्य कई बार कहा जा चुका है।

✽ वासना भी अनन्तधर्मात्मक एकवस्तुरूप स्वीकारार्ह ✽

बौद्ध :- अनेकान्तवाद में प्रवेश की कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि अनादिकालीन प्रवाहागत विकल्पजनित वासना की महिमा से लोकप्रसिद्ध प्रतिभासों का उत्पादन होता ही रहेगा।

जैन :- वासना यदि कोई पारमार्थिक चीज है तो वह भी अनन्तधर्मात्मक फिर भी एकात्मक है ऐसा मानना होगा। नहीं मानेंगे तो पूर्वकथितानुसार उस से लोकसिद्ध विज्ञानों का जन्म होना ही संगत नहीं होगा - यह बात अनेक दफा पहले कही जा चुकी है। अतः अनेकान्तवाद प्रवेश अनिवार्य है।

ऐसा तो कह नहीं सकते कि 'यह पूरा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार भ्रमणा है' - यदि यह भ्रमणा है तो दूसरा अभ्रान्त कौनसा व्यवहार है ? नहीं है। वास्तव में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार नहीं किन्तु सुगत (बुद्ध) का ज्ञान ही भ्रमणा है। वह अभ्रान्त नहीं है क्योंकि सुगत को अभ्रान्त ज्ञान उत्पन्न करने वाला कोई कारण ही सम्भव नहीं है अतः सुगत में अभ्रान्त ज्ञान का अभाव कह सकते हैं।

✽ सुगतज्ञान अभ्रान्त नहीं हो सकता ✽

'आत्मा है नहीं' ऐसी नैरात्म्य दर्शन की भावना सुगत के अभ्रान्त ज्ञान का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जो नैरात्म्य भावना स्वयं मिथ्या है वह अमिथ्यास्वरूप सुगत के अभ्रान्तज्ञान का कारण कैसे हो सकती है ? तदुपरांत, सुगत को अभ्रान्त ज्ञान होने में कोई प्रमाण न होने से उस का सत्त्व ही सिद्ध नहीं है। दूसरे लोगों

तोऽपि तत्सिद्धिः तत्प्रतिबद्धलिङ्गाऽप्रतिपत्तेः। न च लोकप्रसिद्धप्रमाणस्य प्रमाणताऽभ्युपगता 'सर्व एवाऽयं प्रमाण'० - इत्याद्यभिधानात्। न चाऽप्रमाणकवस्तुभावनाप्रकर्षजं ज्ञानमभ्रान्तम्, काम-शोक-भयादिज्ञानस्य भावनाप्रकर्षजस्यापि भ्रान्तत्वोपलब्धेः, नैरात्म्यादेश्च वस्तुनोऽप्रमाणोपपन्नत्वप्रतिपादनात्। न च सत्यभयादिज्ञानपूर्वकस्यापि भावनोत्थभयज्ञानस्य सत्यतोपलब्धा इत्यस्याप्यसत्यताप्रसक्तिः। 'अध्यारोपात् कामादिज्ञानस्याऽसत्यता' इति चेत् ? अत्राप्यध्यारोपः समानः इन्द्रियज्ञानग्राह्यवस्तुनः तद्विषयत्वेनाभावात् निर्विकल्पविषयस्य विकल्पज्ञानविषयत्वविरोधात्।

न च भावनाजमविकल्पम् विशदत्वात् इति वाच्यम् तथात्वेऽपि तत्प्रतिभासस्याभ्यासकृतत्वेन तत्र मिथ्यात्वोपपत्तेः। न च तत्प्रतिभासो वस्तुकृत एव न भावनाकृत इति वाच्यम्, इतरत्रापि तथा प्रसक्तेः। न च प्रमाणान्तरबाधातः तत्रासौ न तत्कृतः, अत्रापि तद्वाधासम्भवात् क्षणिकस्यार्थस्य प्रमाणान्तरतः प्रागुपलब्धस्य भावनाप्रकर्षजे ज्ञानेऽसम्भवात् अविकल्पविषयस्य भावनाविकल्पविषयत्वा-ऽयोगात् तत्प्रकर्षजेऽपि तस्याऽप्रतिभासनात्। न चान्यदा तस्य दृष्टत्वाद् न प्रमाणबाधा, इतरत्राप्यस्य

को सुगत का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है इसलिये प्रत्यक्ष से सुगत के अभ्रान्तज्ञान की सिद्धि दुष्कर है। अनुमान से भी उस की सिद्धि हो नहीं सकती, क्योंकि सुगतज्ञान का अविनाभावी कोई तत्त्व नहीं है जो लिङ्ग बन कर उस के अभ्रान्तज्ञान का अनुमान करा सके। दूसरी बात यह है कि यदि लोकप्रसिद्ध प्रमाण से उस की सिद्धि करने की चेष्टा करे तो वह निष्फल होगी क्योंकि लोकप्रसिद्ध प्रमाणों में आप तो प्रामाण्य स्वीकारने को तैयार नहीं है.. आप तो कहते हैं कि 'यह पूरा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार भ्रान्तिरूप है।'

जब सुगत का ज्ञान प्रमाणसिद्ध वस्तु ही नहीं है, तब उस का भावना के प्रकर्ष से उत्पन्न ज्ञान अभ्रान्त कैसे हो सकता है ? भावनाप्रकर्ष से उत्पन्न होने वाला कामवासना-शोकवासना-भयवासना प्रेरित ज्ञान भ्रान्त होता है यह दिखाई देता है। नैरात्म्य भावना का विषय नैरात्म्य = आत्मा का अभाव भी प्रमाणसिद्ध वस्तु नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। कभी कोई भय का स्रोत सत्य होता है तब भयादि का सत्य ज्ञान होता है, किन्तु उस के बाद भयवासना जाग्रत होने पर भयस्रोत नहीं होता फिर भी भावना से भयज्ञान पैदा हो जाता है। वह भयज्ञान सत्यभयज्ञानपूर्वक होने पर भी भावनाजन्य होने से मिथ्या होता है। जब इस में सत्यता की उपलब्धि नहीं है तो नैरात्म्यभावनाजन्य ज्ञान में असत्यता क्यों प्रसक्त नहीं होगी ? यदि कहा जाय कि - 'भय-कामादिज्ञान तो अध्यारोपात्मक होने से सत्य नहीं होता, नैरात्म्यभावना जनित ज्ञान अध्यारोप नहीं होता इस लिये वह सत्य हो सकता है।' - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नैरात्म्यभावनाजनित ज्ञान में भी अध्यारोप समान है, क्योंकि उस ज्ञान का विषय न तो इन्द्रियज्ञान(प्रत्यक्ष) - ग्राह्य वस्तु होती है, न निर्विकल्प का विषय उस का विषय होता है, भावनाजन्य ज्ञान तो विकल्पात्मक है, विकल्पात्मक ज्ञान का विषय निर्विकल्पग्राह्यविषयात्मक नहीं हो सकता।

✽ विशद नैरात्म्यज्ञान भी मिथ्या है ✽

यदि भावनाजन्य ज्ञान को विशद = स्पष्ट होने के कारण निर्विकल्प ही माना जाय जिस से कि नैरात्म्य प्रमाणित हो सके - तो वह अनुचित है क्योंकि विशद होने पर भी भावनाजन्यप्रतिभास है तो आखिर अभ्यासप्रेरित, जो अभ्यास प्रेरित ज्ञान होता है वह वस्तुस्पर्शी होने का नियम नहीं है अतः नैरात्म्यज्ञान विशद होने पर भी मिथ्या है। यदि कहा जाय कि - 'नैरात्म्यबोध वस्तुस्पर्शी ही होता है न कि भावनाप्रेरित' - तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब भय-शोक की भावना से उत्पन्न ज्ञान को भी भावनाजन्य न मान

तुल्यत्वात्। न च निरन्वयविनाशसंगते चेतसि भावनादेः सम्भव इति प्रतिपादितमनेकशः। न च सौगतं ज्ञानं कथंचिदपि प्रमाणतामासादयति तन्निबन्धनतदाकारोत्पत्त्यादेर्निरस्तत्वात् 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा' (प्र० वा० १-७) इत्यस्यापि पारमार्थिकप्रमाणलक्षणस्य प्रतिक्षिप्तत्वात्।

तदेवमेकान्तवादिप्रकल्पितस्य प्रमाण-प्रमेयादेः सर्वस्याऽघटमानत्वात् तच्छासनं दृष्टवददृष्टार्थेऽपि विसंवादित्वादप्रमाणम्। तत्प्रतिपक्षभूतं च यथोक्तजीवादितत्त्वप्रकाशकं सर्वत्र दृष्टार्थेऽव्यभिचारित्वात् अदृष्टार्थेऽपि सहेतुके हेयोपादेयस्वरूपे बन्धमोक्षलक्षणे वस्तुतत्त्वे प्रमाणमिति स्थितम्। अतः पूर्वापरैक-वाक्यतया सकलानन्तधर्मात्मकजीवादितत्त्वप्रतिपादकसूत्रसंदर्भस्य नय-प्रमाणद्वारेण प्रवृत्तस्य तात्पर्यार्थ-ज्ञाता सिद्धान्तज्ञाता न पुनरपरिहृतविरोधतदेकदेशज्ञाता। न चैकदेशज्ञः स्याद्वादप्ररूपणायाः सम्यक्

कर वस्तुस्पर्शी मानने की विपदा होगी। 'वहाँ तो अन्य प्रमाणों का बाध है इस लिये भयादिज्ञान वस्तुस्पर्शी नहीं हो सकता' — ऐसा कहे तो नैरात्म्यभावना में अथवा क्षणिक अर्थ होने में भी अन्य प्रमाणों का बाध सम्भव है। अर्थात् आत्मसत्ता साधक अथवा स्थिरतासाधक कई प्रमाण क्रमशः नैरात्म्य अथवा क्षणिक अर्थ के बाधक हैं। वस्तुतः भावनाप्रकर्षजन्य ज्ञान में भी पूर्वोपलब्ध पदार्थ की विषयता सम्भव नहीं है, क्योंकि भावना विकल्पात्मक है अतः अविकल्प का विषय कभी उस का विषय नहीं हो सकता। अर्थात् भावनात्मक विकल्प का विषय नैरात्म्यादि कभी भी अविकल्प का विषय न होने से प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि — 'भावनारहित काल में क्षणिक पदार्थ या नैरात्म्य, अविकल्प से दृष्ट होने के कारण उस में अन्य प्रमाण का बाध असम्भव है' — तो आत्मा या स्थिरपदार्थ के लिये भी इस तरह कह सकते हैं कि भावनारहित काल में वे भी प्रत्यक्षादि से दृष्ट है, अतः उस में भी अन्य प्रमाण का बाध असम्भव है। वास्तव में, बौद्धमत में नैरात्म्यभावना भी कोई संगत पदार्थ नहीं है, क्योंकि उस के मत में वस्तुमात्र निरन्वयनाशशील है, कोई स्थायी वस्तु या अनेकक्षण में प्रवाहित वस्तु ही नहीं है तो अनेकक्षण भावी भावना भी कैसे हो सकती है ? अनेकबार यह तथ्य कहा जा चुका है। एक और बात यह है कि बुद्ध का ज्ञान प्रमाणमुद्रा को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि प्रामाण्य का मूल है अर्थाकार ज्ञानोत्पत्ति, बौद्धमत में अर्थ (स्वलक्षण) और ज्ञान समानक्षणवृत्ति न होने से अर्थाकार ज्ञानोत्पाद सम्भव नहीं है। प्रमाणवार्तिक में (१-७) 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम्' इस श्लोकार्थ से जो पारमार्थिक माने जाने वाले अज्ञातार्थप्रकाशरूप लक्षण का निरूपण किया है वह भी पहले निरस्त किया जा चुका है।

✽ दृष्टविषयाविसंवादी होने से अनेकान्तवाद प्रमाण है ✽

निष्कर्ष :- एकान्तवादियों ने जो प्रमाण-प्रमेयादि की प्रक्रिया दिखाई है वह अत्यन्त दुर्घट है, विसंवादी है, जैसे दृष्ट पदार्थों के बारे में विसंवादी है वैसे ही अदृष्ट-अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे में भी विसंवादी है, अत एव अप्रमाण है। एकान्तवाद का विपक्ष यानी अनेकान्तवाद प्रमाणभूत है क्योंकि उस में युक्तिसंगत जीवादितत्त्वों का निरूपण है, किसी भी दृष्ट विषय में विसंवादी नहीं है, इस लिये सहेतुक यानी हेतुवादसंगत अतीन्द्रिय हेय बन्धादि और उपादेय मोक्षादि स्वरूप वस्तु तत्त्व के विषय में भी प्रमाण है — यह सुनिश्चित सत्य है।

व्याख्याकार ६३ वीं गाथासूत्र का हार्द दिखाते हुए कहते हैं कि सच्चा सिद्धान्तज्ञाता वही है जो नय और प्रमाण के माध्यम से, पूर्वापर एकवाक्यता से अलंकृत एवं समस्त अनन्तपर्यायात्मक जीवादितत्त्व के प्रकाशक, ऐसे सूत्र समूह के तात्पर्यार्थ का ज्ञाता हो। जिस में पूर्वापर विरोध का परिहार न किया गया हो, ऐसे

समर्थ इति व्यवस्थितम् ॥६३॥

✽ अर्थाधीनं सूत्रम्, न सूत्राधीनो अर्थः ✽

सूत्रस्य सूचनार्थत्वात् अर्थवशात् तस्य निष्पत्तिः, न पुनः सूत्रमात्रेणैवान्यनिरपेक्षेणार्थनिष्पत्तिः इत्याह -

सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।

अत्थगई उण णयवायगहणलीला दुरभिगम्मा ॥६४॥

अनेकार्थराशिसूचनात् सूत्रे वाऽस्मादर्थराशिः शेते वाऽस्मिन्नर्थसमूहः श्रूयते वाऽस्मादनेकार्थ इति निरुक्तवशात् सूत्रम् । अर्थत इति अर्थः साक्षात्तस्याऽभिधेयः गम्यश्च सामर्थ्यात् तस्य स्थानमेव सूत्रम् यथाऽर्थं सूत्रार्थव्यवस्थापनात् सूत्रान्तरनिरपेक्षस्य तस्यार्थव्यवस्थापने प्रमाणान्तरबाधया तदर्थस्य तत्सूत्र-स्योन्मत्तवाक्यवत् असूत्रत्वापत्तेः । अत एव निर्युक्त्याद्यपेक्षत्वात् सूत्रार्थस्य न सूत्रमात्रेणैवार्थस्य पौर्वापर्येणाविरुद्धस्य प्रतिपत्तिः अयथार्थतयाऽप्यविवृतस्य तस्य श्रुतेः । अर्थस्य तु यथावस्थितस्य गतिः

सिद्धान्तों के लेशमात्र की जानकारी रखनेवाला ज्ञाता सच्चा सिद्धान्तज्ञाता नहीं । जो सिर्फ एक देश की - लेशमात्र की जानकारी रखता हो उसे पूर्वापर विरोध का भान न रहने से वह सही ढंग से स्याद्वाद महासिद्धान्त के निपुण प्ररूपण में समर्थ नहीं हो सकता, इस में कोई संदेह नहीं है ॥६३॥

✽ सूत्र अर्थाधीन है, अर्थ सूत्राधीन नहीं ✽

अर्थ का सूचन करने से 'सूत्र' कहा जाता है । यदि अर्थ ही न हो तो सूत्र का अस्तित्व नहीं रहेगा, अतः सूत्रनिर्माण अर्थाधीन है किन्तु अर्थ सूत्राधीन नहीं होता । एवं व्याख्यानादि अन्यसहाय से निरपेक्ष सूत्र से अर्थ की निष्पत्ति (प्रतिपत्ति) नहीं की जा सकती - यह तथ्य ६४ वीं गाथा से दिखाया जा रहा है -

गाथार्थ :- सूत्र अर्थ का निवासस्थान है, अतः केवल सूत्र से अर्थावबोध नहीं होता । अर्थप्राप्ति नयवाद के विपिन में लीन होने से दुरधिगम्य है ॥६४॥

✽ सूत्रशब्द के विविध व्युत्पत्ति-अर्थ ✽

व्याख्यार्थ :- सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है, जैसे : अनेक अर्थसमूह का सूचन करने वाला होने से 'सूत्र' कहा जाता है । अथवा जिस से अर्थसमूह का प्रसव (= बोधात्मक) होता है वह 'सूत्र' है । अथवा जिस में व्याख्यान के विरह में अर्थसमूह सुषुप्त रहता है वह 'सूत्र' है । अथवा जिस के आलम्बन से अनेक अर्थ सुनने को मिलते हैं वह 'सूत्र' है । 'अर्थ' शब्द 'ऋ'धातु से बनता है, 'ऋ' धातु का अर्थ है ज्ञान अथवा प्राप्ति । सूत्र या शब्द से जिस का साक्षात् ज्ञान, प्राप्ति या अभिधान होता है, वह अर्थ है । सूत्र या शब्द में ऐसा सामर्थ्य होता है जिस से वह अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है । इसलिये सूत्र अर्थ का स्थान है - निवासस्थान है । सूत्र यथार्थरूप से अपने अर्थ की व्यवस्था करनेवाला होता है, किन्तु यह व्यवस्था अन्य सूत्रों से निरपेक्षरूप में वह नहीं कर सकता । अपवादादि सूत्रों के सापेक्ष रह कर ही उत्सर्गादि सूत्र अर्थव्यवस्था कर सकता है । यदि वह अन्यसूत्र को सापेक्ष न रहेगा तो उस की अर्थव्यवस्था में प्रमाणबाध प्रसक्त होने से वह सूत्र पागलों के प्रलाप की तरह सूत्र कहलाने के लायक नहीं रहेगा । यही कारण है कि सूत्रार्थव्यवस्था निर्युक्ति आदि अर्थव्याख्यान पर अवलम्बित होने से ही, स्थानकवासी या तेरापंथियों की तरह केवल सूत्र को पकड़ने पर उन्हें कभी भी पूर्वापर भाव से अविरुद्ध अर्थ का अवबोध नहीं होता । कारण, अव्याख्यात सूत्र का बोध अयथार्थ भी हो सकता है ऐसा ज्ञानीयों का परामर्श है ।

= प्रतिपत्तिः पुनर्द्रव्यार्थ-पर्यायार्थलक्षणनयवादावेव गहनं = विपिनम् तत्र लीना तथा च दुरधिगम्या दुरवबोधा । सकलनयसम्मतार्थस्य प्रतिपादकं सूत्रम् 'जीवो अणाइणिहणो'... (धर्मसंग्रहणी-३५) इत्यादिवाक्यादत्र[✱] प्रमाणार्थसूचकं स्यात् । प्रवृत्तानि च नयवादेन सूत्राणि, तथा चागमः - णत्थि णएण विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि । आसज्ज उ सोआरं णए णअविसारओ बूआ ॥ इति (आव० उवग्घायनि० गा० ३८) ॥६४॥

तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं ।

आयरियधीरहत्था हंदि महाणं विलंबेन्ति ॥६५॥

यत एवमनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादकत्वेन सूत्रं व्याख्येयम् - 'तस्मात्' इति पूर्वोक्तार्थप्रत्यव-
मर्शार्थः, अधिगतम् = अधीतम् अशेषं सूत्रं येनासौ तथा - अधीततत्कालव्यावहारिकाशेषसिद्धान्तेन

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आदि नयों के वाद अति गहन वन जैसा है, यथावस्थित अर्थावबोध उस में छीपा हुआ है इस लिये वह सुगम नहीं किन्तु अतिदुर्गम है ।

जिस सूत्र से सकलनयसम्मत अर्थ का निरूपण किया जाता है वह सूत्र प्रमाणार्थ का सूचक कहा जा सकता है, जैसे : 'जीवो अणाइनिहणो' [✱] इत्यादि सूत्रवाक्य ।

जैनशासन में एक एक सूत्र अनेक नयों के आधार पर व्याख्यात किये जा सकते हैं, क्योंकि जैन सूत्र सब विविध नयों से गर्भित ही होते हैं, इसी लिये वे प्रमाणार्थ के निरूपक माने जाते हैं । आवश्यकनिर्युक्ति - आगम में यही बात कही गयी है - 'जिनशासन में कोई भी सूत्र या अर्थ नय से विधुर नहीं होता । नय-विशारद वक्ता श्रोताओं (की ग्रहण-धारणादि शक्ति) को लक्ष में रख कर नयनिरूपण करते हैं' ॥६४॥

गाथार्थ :- इस लिये सूत्र के ज्ञाता को अर्थ-सम्पादन में प्रयत्नशील होना चाहिये । धीरहस्त यानी अर्थ न पढे हुए आचार्य बेशक महापुरुषों की आज्ञा की विडम्बना करते हैं ॥६५॥

व्याख्यार्थ :- सूत्र की व्याख्या इस ढंग से करना चाहिये जिस से कि अनेकान्तगर्भित अर्थ का निरूपण हो - 'तस्मात्' शब्द से इस तथ्य का परामर्श करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अत एव सूत्र का सुचारुरूप से ज्ञान प्राप्त करने के बाद अनेकान्तवाद का अवलम्बन कर के सूत्रज्ञाता को सूत्र के अर्थ का अभ्रान्त सम्पादन करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये । सूत्रज्ञान का मतलब है अपने काल में व्यवहारप्रसिद्ध सम्पूर्ण सिद्धान्त का अध्ययन । अर्थसम्पादन का तात्पर्य है कि प्रमाण और नयों के अवलम्बन से यथार्थ अर्थ का अवधारण । सारांश यह है कि श्रवणयोग्य सूत्र का अध्ययन यानी श्रवण कर के किसी भी नय से सर्वथा

✱. 'वाक्यवद् न' इति पूर्वमुद्रिते, अत्र तु लि० आदर्शानुसारेण पाठः ।

✱. 'जीवो अणाइनिहणोऽमुत्तो परिणामी जाणओ कत्ता । मिच्छत्तादिकतस्स य णियकम्मफलस्स भोत्ता उ ॥३५॥

अर्थ :- जीव अनादि-अनन्त है, अमूर्त है, परिणामी है, ज्ञाता एवं कर्ता है, मिथ्यात्वादि से किये हुए कर्मों के फलों का भोक्ता है । (धर्मसंग्रहणी गाथा ३५)

इस गाथा में विविध दुर्नयों के विविध विवादों का निरसन करते हुए ग्रन्थकार श्री हरिभद्रसूरिजीने सभी नयों को सम्मत ऐसे आत्मतत्त्व का स्वरूप दर्शाया है, जैसे - द्रव्यार्थिकनय आत्मा को अनादि-अनन्त नित्य मानता है, पर्यायार्थिक नय उस को परिणामी यानी अनित्य मानता है ।

इतियानत् अर्थसम्पादने = तद्विषयप्रमाण-नयस्वरूपावधारणे यतितव्यम्। अधीत्य सूत्रं श्रोतव्यम् श्रुत्वा च नयसर्वसंवादविनिश्चयपरिशुद्धं भावनीयम् अन्यथा आचार्या धीरहस्ता = अशिक्षितशास्त्रार्था अनभ्यस्त-कर्मापि कर्मणि धृष्टतया व्याप्रियते येषां हस्तस्ते धीरहस्ता आचार्याश्च ते अशिक्षितधृष्टाश्च इति यावत्, हंदि गृह्यताम् ते तादृशा महाज्ञाम् = आप्तशासनं विगोपयन्ति विडम्बयन्ति इति यावत्।

✽ वस्त्रादिवतां नैर्ग्रन्थविरहः - दिगम्बरपूर्वपक्षः ✽

तथा च दृश्यन्ते एव सर्वज्ञवचनं यथावस्थितमनवगच्छन्तो दिग्वाससो 'वस्त्र-पात्रादिधर्मोपकरण-समन्वितानां यतीनां नैर्ग्रन्थाभावाद् न सम्यग्ब्रतानि तीर्थकृद्भिः प्रतिपादितानी'ति प्रतिपादयन्तः।

तथाहि - (१) यद् रागाद्यपचयनिमित्तनैर्ग्रन्थविपक्षरूपं तत् तदुपचयहेतुः यथा विशिष्टशृङ्गारानुषक्ताङ्गनाङ्गसंगादिकम्, यथोक्तनैर्ग्रन्थविपक्षभूतं च वस्त्रादिग्रहणं श्वेतावाससामिति। (२) तथा, यः स्वीकृतग्रन्थः सोऽध्वनि संचरन् नाभीष्टस्थानप्राप्तिमान् भवति, यथा चौराद्युपद्रुते पथि संचरन् असहायः स्वीकृतग्रन्थोऽध्वगः, स्वीकृतग्रन्थश्च मोक्षाध्वनि संचरन् वस्त्राद्युपकरणवान् सितपट इति। (३) तथा यो यद्विनेयः स तल्लिङ्गानुकारी यथा चीवरादिलिङ्गधारिसुगतविनयो रक्तपटः, व्युत्सृष्ट-

विसंवाद न हो इस ढंग से विशिष्ट निश्चय से परिशुद्ध अर्थविभावन करना चाहिये। इस सूत्र के उत्तरार्ध में कटाक्ष के रूप में 'धीरहस्त' शब्द का प्रयोग किया है - 'धीर' का मतलब यह है कि जिस कर्म में अपना कौशल न हो ऐसे कर्मों में भी धृष्टता से प्रवृत्ति करने वाला, जिस का हस्त ऐसा धीर है ऐसे आचार्य को यहाँ धीरहस्त कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जिसने अर्थ का शिक्षण नहीं लिया फिर भी अनधिकृत चेष्टा करता है ऐसा धृष्ट आचार्य वास्तव में आप्त महापुरुषों की यानी पूर्वाचार्यों की या तीर्थकर भगवान की आज्ञा की विडम्बना करते हैं - उस का उपहास कराते हैं।।

✽ दिगम्बरों का पूर्वपक्षप्रारम्भ ✽

सूत्रकारने जो निर्देश किया है उस की यथार्थ प्रतीति सर्वज्ञवचन को यथार्थ ढंग से न समझने वाले दिगम्बरों में की जा सकती हैं। वे कहते हैं कि वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरण रखनेवाले यतियों में निर्ग्रन्थता न होने से उन के ब्रत श्री तीर्थकरों ने सही नहीं बताये, अर्थात् श्वेताम्बर यतियों के ब्रत तीर्थकरवचन के अनुसार सम्यग् नहीं है।

यहाँ दिगम्बरों की ओर से तीन आभासिक अनुमान प्रयोग प्रस्तुत हैं -

(१) रागादि की क्षीणता में निमित्तभूत निर्ग्रन्थता का जो प्रतिपक्षी है वह रागादि की पुष्टि का हेतु बनता है - जैसे श्रृंगारी महिला का अंग-आश्लेष; श्वेताम्बर यतियों का वस्त्रादिग्रहण भी निर्ग्रन्थता का प्रतिपक्षी है इस लिये रागादिपुष्टिकारक सिद्ध होते हैं।

(२) जो ग्रन्थ (परिग्रह) धारण करता है वह मार्ग में चलता हुआ भी इष्ट गन्तव्य स्थान पर पहुँच नहीं पाता, जैसे : तस्करों के उपद्रव वाले मार्ग में धनादि ग्रन्थ धारण कर के चलनेवाला बेसहारा मुसाफिर, मुक्ति मार्ग में चलने वाला श्वेताम्बर यति भी वस्त्रादि उपकरणवाला होने से ग्रन्थधारक है। अतः उसे मोक्षप्राप्ति दुर्लभ है।

(३) जो जिस का शिष्य (अनुयायी) होता है वह उस के लिङ्ग का धारक होता है, जैसे - वस्त्रादि

त्यक्तदेहतीर्थकृद्भिनेयाश्च भिक्षव इति ।

न च वस्त्राद्युपकरणाऽऽग्रहवत्सु प्रव्रज्यापरिणामः सम्भवी मिथ्यादृष्टिष्वपि परिग्रहाग्रहवत्सु अन्यथा तत्प्रसक्तेः । तथा च प्रयोगः — श्वेतभिक्षवो महाव्रतपरिणामवन्तो न भवन्ति न वा तत्फलसाधकाः, वस्त्र-पात्रादिपरिग्रहाग्रहयोगित्वात्, महारम्भगृहस्थवत् । न च भगवद्भिः वस्त्रग्रहणं यतीनामुपदिष्टम् तदागमे वस्त्रग्रहणप्रतिषेधस्य श्रवणात् । तथाहि — स्थितकल्पे ‘आचेलक(कु)द्देसिय... (बृ०भा० गाथा १९७२)’ इत्यादिसूत्रे चेलग्रहणप्रतिषेधः आचेलक्यपदेन कृत एव । तथा, परीषहेष्वचेलपरीषहस्य यतेरुपदेशात्, तथा ‘णगिणस्स वा वि मुण्डस्स’^४ (दशवै० ६-६५) इत्याद्यागमे बहुशो यतेर्वस्त्रादिपरित्यागो भगवद्भिः प्रतिपादित इति । तत् प्रतिषिद्धं वस्त्रादिग्रहणमाचरन्तः परतीर्थिका इव कथं सम्यग्ज्ञान-दर्शनचारित्रलक्षणमुक्तिमार्गसमन्विता श्वेताम्बराः ? इति ।

अत्र प्रतिविधीयते — यत्तावद् ‘रागाद्यपचयनिमित्त...’ इत्यादिप्रयोगोपादानम् तत्र रागाद्यपचय-

लिङ्गधारक बुद्ध के रक्तवस्त्रधारी शिष्य; यति भी देह का विसरण और त्याग करनेवाले तीर्थकर के शिष्य होते हैं। अतः तीर्थकर के (नग्नतारूप) लिंग के धारक होने चाहिये। (श्वेताम्बर यति तीर्थकरलिंग के धारक न होने से वे तीर्थकर के शिष्य नहीं है — यह तात्पर्य है।)

✽ वस्त्रादि के आग्रह मे प्रव्रज्यापरिणामशून्यता ✽

जिन यतियों को वस्त्र-पात्रादि धर्मोपकरण रखने का आग्रह हो उन में प्रव्रज्या यानी संयमधर्म का परिणाम उदित नहीं हो सकता। यदि वस्त्रादि रखने पर भी चारित्र परिणाम का उदय हो सकता तो अपरिमित परिग्रह रखने के आग्रहवाले मिथ्यादृष्टियों में भी प्रव्रज्या का परिणाम प्रसक्त होगा। अनुमान प्रयोग :- ‘श्वेताम्बर भिक्षुओं में महाव्रतों का परिणाम अथवा महाव्रतपालन के फल का उदय असम्भव है क्योंकि वे वस्त्र-पात्रादि परिग्रह से बोझिल हैं, जैसे: महापरिग्रह धारण करने वाला गृहस्थ।’ तात्पर्य, परिग्रहधारी श्वेताम्बर यतियों का महाव्रत या उन का फल असम्भव है। तीर्थकर भगवानने यतियों का वस्त्रग्रहण के लिये किसी भी विधान का उपदेश नहीं किया बल्कि उन के ही आगमों में वस्त्रग्रहण का स्पष्ट प्रतिषेध सुनाई देता है। स्थितकल्पप्रतिपादक बृहत्कल्पादि शास्त्र में यतियों के कल्प यानी आचार “आचेलकुद्देसिय...” इत्यादि गाथा में गिनाये गये हैं उस सूत्र में ‘आचेलक्य’ शब्द से स्पष्ट ही चेल (=वस्त्र) के ग्रहण का निषेध किया गया है। उपरांत, साधुओं को २२ कष्टों को सहन करना चाहिये जिन को ‘परिषह’ कहा जाता है, उन में ‘अचेल’ परिषह भी कहा गया है। तथा “णगिणस्स वा वि मुण्डस्स...” इत्यादि दशवैकालिक सूत्र में भगवानने यति के नग्न होने का निर्देश किया है। जब इतने सारे सूत्रों में वस्त्रग्रहण का निषेध किया गया है तब अन्य मिथ्यादृष्टि दर्शनीयों की तरह वस्त्रादि का बेझिझक ग्रहण करनेवाले श्वेताम्बर मुनियों में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्-चारित्रस्वरूप मुक्तिमार्ग के समन्वय की आशा ही क्या रखना ?!

✽ श्वेताम्बरों का उत्तरपक्ष ✽

दिगम्बरमत के पूर्वपक्ष को अब सतर्क प्रत्युत्तर देते हुए व्याख्याकार कहते हैं —

दिगम्बरप्रस्तुत तीन प्रयोग में से प्रथम प्रयोग में जो हेतु है रागादि अपचय के निमित्तभूत निर्ग्रन्थता का विपक्षत्व, इस में रागादि अपचय के निमित्तभूत जो निर्ग्रन्थता है वह^A देशनिर्ग्रन्थता विवक्षित है या^B सम्पूर्ण

✽. णगिणस्स वा वि मुण्डस्स दीह-रोम-नहंसिणो। मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाइ कारिअं ?।। (द०वै० ६-६५)

निमित्तं ^Aकिमेकदेशनैर्ग्रन्थ्यम् आहोस्वित् ^Bसर्वथा नैर्ग्रन्थ्यमिति ? यदि ^Bसर्वथा नैर्ग्रन्थ्यं रागाद्य-पचयनिमित्तम् तत्र तथाभूतनैर्ग्रन्थ्यस्य मुक्तव्यतिरेकेणाऽसंभवात्, मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगबलप्रवृत्ताष्टविधकर्मसम्बन्धस्य ग्रन्थत्वात् तदभावस्य चात्यन्तिकस्य निःशेषतो मुक्तेषु एव सम्भवात्, ततश्च कथं तस्य रागाद्यपचयहेतुतेति कथं न विशेषणाऽसिद्धो हेतुः ? ^Aअथ देशनैर्ग्रन्थ्यं रागाद्यपचय-निमित्ततथाऽत्र विवक्षितं तदाऽत्रापि वक्तव्यम् - ^१किं तत् सम्यग्ज्ञानादितारतम्येनोपचीयमानम् ^२आहोस्विद् बाह्यवस्त्राद्यभावरूपम् ? ^३तत्र यदि आद्यः पक्षः स न युक्तः, तथाभूतस्य सम्यग्ज्ञानादि-विपक्षत्वेन वस्त्रादिग्रहणस्याऽसिद्धेः हेतोर्विशेष्याऽसिद्धताप्रसक्तेः। ^४नापि द्वितीयः, वस्त्राद्यभावस्य रागाद्यपचयनिमित्तत्वासिद्धेः हेतोर्विशेषणासिद्धतादोषात्।

न च वस्त्राद्यभावो रागाद्यपचयहेतुत्वेन सिद्ध इति वक्तव्यम् अतिशयरागवद्भिः पारापतादिभि-र्व्यभिचारात्। न च पुरुषत्वे सति वस्त्राभावो रागाद्यपचयहेतुः, वस्त्रविकलनाहलैर्व्यभिचारात्। न चार्यदेशोत्पत्तिमत्पुरुषत्वे सति असौ तद्वेतुरिति वक्तव्यम् तथाभूतकामुकपुरुषैर्व्यभिचारात्। न च व्रतधारितथाभूतपुरुषत्वे सत्यसौ तन्निमित्तम्, तथाभूतपाशुपतैर्व्यभिचारात्। न च जैनशासनप्रति-

निर्ग्रन्थता ? ये दो विकल्प हैं। ^Aप्रथम विकल्प में, यदि सम्पूर्ण निर्ग्रन्थता रागादिअपचय के निमित्तरूप में विवक्षित हो तो हेतु में विशेषणासिद्धि का दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि सम्पूर्ण निर्ग्रन्थता यानी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योगबल से अर्जित आठों प्रकार के कर्मों के सम्बन्धरूप ग्रन्थ का सर्वथा अभाव; ऐसा अत्यन्त ग्रन्थाभाव तो मुक्तात्मा के अलावा और किसी संसारी जीव में सम्भव ही नहीं है, मुक्तात्मा की निर्ग्रन्थता तो रागादिअपचय का फल है न कि निमित्त, तब हेतु में निर्ग्रन्थता (यानी सम्पूर्ण मुक्तात्मा की निर्ग्रन्थता) को जो 'रागादिअपचयनिमित्त' ऐसा विशेषण लगाया है वह कैसे घटेगा ?

^Bदूसरे विकल्प में यदि देश (=आंशिक) निर्ग्रन्थता को लिया जाय तो वह रागादिअपचय का निमित्त जरूर है, किन्तु यहाँ दो प्रश्नों का उत्तर देना होगा। ^१वह देशनिर्ग्रन्थता सम्यग्ज्ञान आदि की तरतमता से उपचित होने वाली विवक्षित है या ^२बाह्यवस्त्रादि के अभावस्वरूप लेना है ? ^३पहले पक्ष में, जो सम्यग् ज्ञानादि का विपक्ष होगा वह सम्यग्ज्ञानादि की तरतमता से तरतमभाव में उपचित होनेवाले नैर्ग्रन्थ्य का भी विपक्ष होगा, किन्तु वस्त्रादिग्रहण सम्यग्ज्ञानादि के विपक्षरूप में सिद्ध न होने से निर्ग्रन्थता विपक्षरूपत्व भी वस्त्रादिग्रहणरूप पक्ष में असिद्ध है। अतः पक्ष में हेतु विशेष्यअंश में असिद्धिदोषग्रस्त हो जायेगा। ^४यदि दूसरे पक्ष में देशनिर्ग्रन्थता वस्त्रादि के अभावरूप ही विवक्षित हो तो यहाँ हेतु में विशेषणांश असिद्ध होने का दोष होगा। कारण, हेतु के अंशभूत निर्ग्रन्थता यानी वस्त्रादि-अभाव में रागादि के अपचय की निमित्तता ही असिद्ध है।

✽ वस्त्रादि का अभाव रागादिअपचयहेतु नहीं है ✽

ऐसा नहीं कह सकते कि वस्त्रादि का अभाव रागादि के अपचय का हेतु है - क्योंकि अतिशय कामी कबूतर आदि निर्वस्त्र हैं किन्तु उन में रागादि का अपचय नहीं होता। 'पुरुष यदि वस्त्र न रखे तो रागादि का अपचय होता है' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि निर्वस्त्र होने पर भी अनार्य पुरुषों को रागादि का अपचय नहीं होता। यदि कहा जाय कि आर्य-पुरुष में वस्त्रादि का अभाव रागादि के अपचय का हेतु होता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कामातुर आर्यदेशोत्पन्न पुरुष में नग्न होने पर भी रागादि का अपचय नहीं होता। यदि व्रतधारी आर्यपुरुष की नग्नता को रागादिअपचय में हेतु कहा जाय तो यह भी अनुचित

पत्तिमत्तथाभूतपुरुषत्वे सतीति विशेषणोपादानाददोषः, उन्मत्तदिगम्बरैर्व्यभिचारात् । न चानुन्मत्तत्वे सति इत्यपरविशेषणाद् दोषाभावः, मिथ्यात्वोपेतद्रव्यलिगावलम्बिदिग्वाससा व्यभिचारात् । न च सम्यग्दर्शनादिसमन्वितपुरुषत्वे सत्यसौ तद्वेतुः; विशेषणस्यैव तत्र सामर्थ्येन विशेष्यस्याऽसामर्थ्यतोऽनुपादान-प्रसक्तेः । न च विशिष्टश्रुतसंहननविकलानामर्वाकालभाविपुरुषाणां वस्त्रादिधर्मोपकरणाभावे यतियोग्या-हारविरह इव विशिष्टशरीरस्थितेरभावतः सम्यग्दर्शनादिसमन्वितत्वविशेषणोपपत्तिरिति विशेष्यसद्भावो विशेष-णस्य बाधक एव ।

अथ वस्त्रादिपरिग्रहस्य तृष्णापूर्वकत्वात् तस्या च रागादेरवश्यंभावित्वात् सम्यग्दर्शनादेश्च तद्वि-पक्षत्वात् तृष्णाप्रभववस्त्रग्रहणाभावः स्वकारणनिवृत्तिमन्तरेणानुपपद्यमानो रागादिविपक्षभूतसम्यग्ज्ञा-नाद्युत्कर्षविधायकत्वात् कथं तद्भावबाधकत्वेनोपदिश्यते ? इति । न, वस्त्रादिपरिग्रहस्य तृष्णानिमि-त्तत्वे आहारग्रहणस्यापि तथात्वप्रसक्तेः । न चाहारग्रहणस्य परिग्रहव्यवहाराऽविषयत्वात् न तृष्णा-

है क्योंकि पाशुपत (शांकर) मतवाले व्रतधारी आर्यपुरुष को नग्न रहने पर भी रागादि का अपचय नहीं होता । यदि जैन व्रतधारी आर्यपुरुष की नग्नता को रागादिहास का हेतु माना जाय तो वह भी नहीं घटेगा क्योंकि कारणवश पागल बने हुए (=उन्मत्त) जैन दिगम्बर व्रतधारी को नग्न होने पर भी रागादिहास नहीं होता । यदि अब पागल न हो ऐसे को लिया जाय तो भी दोष तो रहेगा, क्योंकि भीतर से मिथ्यात्वी द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर को रागादि का हास नहीं होता । अब यदि ऐसा कहें कि सम्यग् दर्शनादि गुणगणोपेत नग्न पुरुष को रागादिहास होता है तो यहाँ 'नग्न' कहने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि 'सम्यग्दर्शनादिगुणोपेत' यह विशेषण ही रागादिहास में जब समर्थ है तो वस्त्रादिअभाव अन्यथासिद्ध हो जाता है । अतः मूल प्रयोग में 'रागादिअपचयनिमित्तभूत सम्यग्दर्शनादिगुण उपेत वस्त्रादिविरह स्वरूप निर्ग्रन्थता....' ऐसा कहने के बदले 'रागादिअपचय निमित्त वस्त्रादि-अभावरूप निर्ग्रन्थता' ऐसा जो कहा है वहाँ 'वस्त्रादिअभाव' यह विशेष्य असमर्थ होने से उस का उपादान निरर्थक प्रसक्त होगा, फलतः व्यर्थविशेष्यता यह हेतुदोष पहले प्रयोग में स्पष्ट है ।

वास्तव में तो 'वस्त्रादि अभाव' निर्ग्रन्थता में या मुक्तिसाधना में प्रतिकूल होने से वह उलटा विशेषण का विरोधी सिद्ध होगा । कैसे यह देखिये — जैसे साधु के लिये ग्रहण योग्य आहार-पानी न मिलने पर संयमानुकुल शरीरधारण न होने से सम्यग्दर्शनादि गुणों की पुष्टि नहीं होती; वैसे ही विशिष्ट श्रुताभ्यास-विशिष्ट संघयणबलादि से शून्य पंचम काल के ऐदंयुगीन पुरुषों के पास यदि धर्मोपकरण (वस्त्र-पात्रादि) न होगा तो संयमानुकुल देहधारण सम्भव न होने से 'सम्यग्दर्शनादिगुणोपेत' यह अंतिम विशेषण सम्पन्न ही नहीं होगा, फलतः वस्त्रादिअभावस्वरूप निर्ग्रन्थता यह विशेष्य 'सम्यग्दर्शनादिगुणोपेत' विशेषण का बाधक सिद्ध होगा । इस लिये वस्त्रादिअभाव निर्ग्रन्थतास्वरूप नहीं हो सकता ।

✽ वस्त्रादि के ग्रहण में तृष्णामूलकत्व के भ्रम का निरसन ✽

प्रश्न :- अरे ! वस्त्रग्रहणाभाव को आप सम्यग्दर्शनादि में बाधक कैसे बता रहे हैं ? वह तो उलटा रागादि के विपक्षभूत सम्यग्ज्ञानादि का उत्कर्ष बढ़ानेवाला है । तृष्णा के विना कोई वस्त्रादि का ग्रहण नहीं करता, अत एव वस्त्रादिग्रहण तृष्णामूलक ही होता है । तृष्णामूलक वस्त्रादि को रखने पर राग-द्वेष का होना अनिवार्य है । सम्यग्दर्शनादि गुण तो रागादि का विपक्ष है । अतः राग-द्वेषादि की निवृत्ति के होने पर ही तृष्णामूलक वस्त्रादिग्रहण का अभाव घट सकता है । तब आप रागादि के विपक्षभूत सम्यग्ज्ञानादि में वस्त्रग्रहणाभाव को बाधक कैसे कह सकते हैं ?

पूर्वकत्वमिति वाच्यम्, मूर्छाविषयत्वे तस्य 'परिग्रह'शब्दवाच्यत्वोपपत्तेः 'मूर्छा परिग्रहः' (तत्त्वार्थ० ७-१२) इति वचनात्। अथ सक्-चन्दनादिवदुपभोगार्थं मांसादिभक्षणवत् शरीरबृंहणार्थं वा नासौ गृह्यते किन्तु ज्ञानाद्युपष्टम्भनिमित्तशरीरस्थित्यादिहेतुतया, अतो न तृष्णापूर्वकः नापि 'परिग्रह'शब्द-वाच्यः। तर्हि वस्त्रादिधर्मोपकरणग्रहणेऽपि समानमेतत्। अथ वस्त्राद्यभावेऽपि शरीरस्थितिसम्भवात् तृष्णापूर्वकमेव तद्ग्रहणम्। न, आहारेऽप्यस्य समानत्वात्।

अथ तमन्तरेण चिरतरकालशरीरस्थितेरस्मदादेरदर्शनात् वेदनोपशमादिभिः षड्भिर्निमित्तैस्तस्य ग्रहणम् तर्हि अनुत्तमसंहननस्य विशिष्टश्रुताऽपरिकर्मितचित्तवृत्तेः कालातिक्रान्तादिवसतिपरिहारकृतप्रयत्नस्य षड्विधजीवनिकायविध्वंसविधाय्यग्न्याद्यनारम्भिणः शीताद्युपद्रवाद् वस्त्रादिग्रहणमन्तरेण शरीरस्थितेरभावात् तद्ग्रहणमपि न्याय्यम्। तथा, वाय्वादिनिमित्तप्रादुर्भूतविक्रियावल्लिङ्गसंवरणप्रयोजनपटलाद्युपधिविशेषस्य च ग्रहणं किं नाभ्युपगम्यते ? शीतादिबाधोपजायमानार्त्तध्यानप्रतिषेधार्थं युक्तकल्पादेश्वादानं किमिति नेष्यते ? न च स्त्रीसक्-चन्दनाद्यभावोपजायमानसंक्लेशपरिणामनिबर्हणार्थं स्व्यादेरपि ग्रहणं प्रसज्यते

उत्तर :- आप की यह धारणा गलत है कि तृष्णा के विना वस्त्रादिग्रहण नहीं होता। यदि आप का आग्रह है कि वस्त्रादिग्रहण तृष्णामूलक ही होता है तो आहारग्रहण भी तृष्णामूलक ही होने का अनिष्ट प्रसक्त होगा।

यदि कहा जाय - आहार का ग्रहण परिग्रहात्मक नहीं है, क्योंकि आहारग्रहण के लिये 'इसने आहार का परिग्रह किया' ऐसा व्यवहार नहीं होता। - तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जो मूर्छा का विषय हो वह निर्विवाद परिग्रहव्यवहार का विषय हो जाता है। श्वेताम्बर शिरोमणि श्री उमास्वातिआचार्य के तत्त्वार्थसूत्र (७-१२) में स्पष्ट ही निर्देश किया हुआ है कि 'मूर्छा परिग्रह'रूप है। आहार भी गृद्धि-मूर्छा का विषय होता ही है अतः उस का ग्रहण भी तृष्णामूलक परिग्रहस्वरूप ही होगा। यदि कहा जाय - जैसे उपभोग के लिये पुष्पमाला-चन्दनादि का ग्रहण होता है, अथवा शरीरबलवृद्धि के लिये मांसादि का भक्षण किया जाता है जैसे यहाँ उपभोग या शरीरबलवृद्धि के लिये मुनिजन आहारग्रहण नहीं करते, किन्तु ज्ञानादि गुणों की पुष्टि के निमित्तभूत देहस्थिति को टिकाने के लिये ही आहार लिया जाता है। अतः आहारग्रहण तृष्णामूलक नहीं होता, अत एव वह परिग्रहशब्दप्रयोग की परिधि में नहीं आता। - धन्यवाद ! यही बात अब वस्त्रग्रहण के लिये भी समझ लो ! ज्ञानादि के पोषण में निमित्तभूत देहस्थिति के लिये ही वस्त्रादि धर्मोपकरण का ग्रहण किया जाता है, अत एव वह भी परिग्रहशब्दप्रयोग के घेरे में नहीं आ सकते। यदि कहा जाय - वस्त्रग्रहण के विना भी देहस्थिति सुरक्षित रह सकती है, अतः तृष्णा के विना वस्त्रादिग्रहण का सम्भव नहीं। - तो आहारग्रहण में यह बात समान है, आहार के विना भी देहस्थिति कई दिनों तक सुरक्षित रह सकती है, अतः तृष्णा के विना आहारग्रहण भी सम्भव नहीं होगा।

✽ आहारग्रहण की तरह वस्त्रादिग्रहण निर्दोष है ✽

यदि यह कहा जाय - हमारे लोगों में दिखता है कि आहार के विना भी सुदीर्घकालपर्यन्त देहस्थिति बनी रहती नहीं है। अतः क्षुद्वेदना का उपशम, सेवा, इर्यासमितिपालन, संयमपालन, जीवदया और धर्मअनुप्रेक्षा इन छः निमित्तों के आलम्बन से आहारग्रहण में दोष नहीं है। - तो अब यह वस्त्रादिग्रहण में भी समान है। जिन लोगों का संघयणबल उत्तम नहीं है, चित्तपरिणाम विशिष्ट श्रुताध्ययन से परिकर्मित नहीं है, जो ऐसी वसति के परिहार में प्रयत्नशील हैं जिस में कालातिक्रान्त आदि दोषों का सम्भव है, जो छः जीवनिकायहिंसाफलक

— इति वक्तव्यम् क्षुद्धेदनाप्रशमनिमित्तत्रिकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणवदङ्गनासम्प्रयोगसंकल्पप्रभववेदनापरिणामो-
पशमार्थं वृष्यतरमांसाद्याहारग्रहणस्यापि प्रसक्तेः। अथ तथाभूताहारग्रहणे सुतरां क्लिष्टाध्यवसायोत्पत्ति-
प्राबल्यमिति न तद्ग्रहणम् — तत् स्यादिग्रहणेऽपि समानम्।

यदपि वस्त्राद्यभावे संक्लेशपरिमाणोत्पत्तिः कातराणाम् न स्वशरीरमपि काष्ठवद् मन्यमानानां
दिग्वाससाम् तथाऽदर्शनात् इति — तदपि अनुभवविरुद्धम्, आर्त्तध्यानोपगतानामनन्तसत्त्वोपमर्दविधा-
य्यनलारम्भादिप्रतिषिद्धाचरणवत्तया तेषामुपलम्भात् तदनाचरणवतस्त्वात्महिंसकत्वेनाविरत्याश्रयणात्
अयतित्वं न्यायतः प्रसक्तम्। अथ गण्डच्छेदनादिप्रादुर्भवदुःखातिशयमसहमानकातरातुरवत् तददुःखान्तं
न शीतादिदुःखमसहमानः संसारबाधान्तमुपयातुं क्षमः — तर्हि क्षुद्धेदनादुखाऽसहनेऽप्येतत् समानम्।
अथ मुक्तिमार्गाविरोधित्वादाहारग्रहणमदुष्टम् — वस्त्रादिग्रहणमप्यत एव किं नादुष्टम् ? अथ वस्त्रादे-
र्मलादिदिग्धस्य यूकादिसन्मूर्च्छनानेकसत्त्वहेतुतया तद्ग्रहणे तद्व्यापत्तेरवश्यंभावित्वात् मुक्तिमार्गाविरोधित्वं

अग्निआदि आरम्भ-समारम्भ से दूर रहते हैं — ऐसे इस काल के मुनियों को सख्त ठंडी आदि उपद्रवों में
शरीरस्थिति की सुरक्षा वस्त्रादिग्रहण के विना सम्भव नहीं है अतः उन के लिये वस्त्रादि का ग्रहण भी न्याययुक्त है।

तथा यह आश्चर्य है कि जब वायुप्रकृतिविकार आदि से पुरुषलिंग में विक्रिया उत्पन्न होती है तब उस
का संवरण शासननिन्दानिवारण के लिये अत्यन्त आवश्यक होने से उस के लिये तीर्थकरोने पटलादि वस्त्रविशेष
के ग्रहण की अनुज्ञा दी हुई है, फिर भी दिगम्बर मुनि क्यों ऐसी विशिष्ट दोषनिवारक उपधि (=धर्मोपकरण)
का ग्रहण नहीं करते ? तथा यह भी आश्चर्य है कि सख्त ठंडी आदि की पीडा से होनेवाले आर्त्तध्यान
को रोकने के लिये तीर्थकरोने प्रमाणयुक्त कपडे आदि के ग्रहण की अनुज्ञा दी है, फिर भी दिगम्बर मुनि
उस का ग्रहण न कर के क्यों आर्त्तध्यान का वारण नहीं करते ?

दिगम्बर :- आर्त्तध्यानपरिणाम को रोकने के लिये यदि आज आप वस्त्रादि ग्रहण करेंगे तो फिर कल
स्त्री-पुष्पमाला-चन्दनादि के अभाव में उत्पन्न होनेवाले क्लिष्ट संक्लेशस्वरूप आर्त्त-रौद्र परिणाम को रोकने के
लिये स्त्री आदि का भी आप परिग्रह कर बैठेंगे।

श्वेताम्बर :- ऐसा भद्दा तर्क तो आहारग्रहण के लिये भी कर सकते हैं - यदि आप क्षुधावेदना शान्त
करने के लिये आज त्रिकोटिपरिशुद्ध आहार का ग्रहण करते हैं वैसे कल अंगनासंगसंकल्पजन्य आतुरतास्वरूप
वेदनापरिणाम के निवारण के लिये वाजीकर मांसादिआहार का भी ग्रहण कर बैठेंगे।

दिगम्बर :- मांसादिआहार के ग्रहण में तो उलटा जोर से संक्लिष्ट अध्यवसाय जाग्रत होगा, अतः उस
का ग्रहण नहीं कर सकते, सिर्फ त्रिकोटिपरिशुद्ध आहारपिण्ड का ही ग्रहण कर सकते हैं।

श्वेताम्बर :- तो यह बात स्त्रीआदि ग्रहण के लिये भी तुल्य है, यदि स्त्री का ग्रहण किया जाय तो उस
के सेवन से अतिशय संक्लिष्ट अध्यवसाय प्रगट होगा अतः उस का ग्रहण शास्त्रविहित नहीं हो सकता। किन्तु
शीतादिजन्यार्त्तध्यान के वारण के लिये त्रिकोटिपरिशुद्ध वस्त्रादिपिण्ड का ग्रहण शास्त्रविहित होने से उचित ही है।

✽ वस्त्रादि के विरह में संक्लेशोत्पत्ति दिगम्बरपक्ष में ✽

दिगम्बरों का यह प्रगल्भन है कि — 'वस्त्रादि के विरह में शीतादि से संक्लिष्ट परिणामों का जन्म कायरों
को हो सकता है किन्तु अपने शरीर को भी काष्ठतुल्य समझने वाले निःस्पृह दिगम्बर मुनियों को नहीं होता,
क्योंकि वैयास दीखता नहीं है कि निर्वस्त्र दिगम्बर यतियों को वस्त्रादि के विना आर्त्तध्यान होता हो।' — यह
प्रगल्भन भी अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि बहुत से दिगम्बर यति जब शीतादिवेदना से आर्त्तध्यान में पड़ते हैं तब

तस्याऽसिद्धम् — तर्हि आहारग्रहणेऽप्येतत् समानम्, सम्मूर्च्छनाद्यनेकजन्तुसम्पातहेतुत्वस्य तत्परिभोग-निमित्ततद्विनाशस्य च तत्रापि सम्भवात् । तथाहि — संभवन्त्येवागन्तुकाः सम्मूर्च्छनजाश्चानेकप्रकाराः तत्र जन्तवः, तत्परिभोगे चावश्यंभावी तेषां विनाशः । भुक्तस्य च तस्य कोष्ठगतस्य संसक्तिमत्त्वात् तदुत्सर्गेऽनेककृम्यादिसत्त्वव्यापत्तिरवश्यंभाविनी ।

अथ विधानेन तत्परिभोगादिकं विदधतो न सत्त्वव्यापत्तिः, व्यापत्तौ वा शुद्धाशयस्य तद्रक्षादौ यत्नवतो गीतार्थस्य ज्ञानादिपुष्टालम्बनप्रवृत्तेरहितसकत्वात् न तद्ग्रहणं मुक्तिमार्गविरोधि — तर्हि वस्त्रादि-ग्रहणमप्येवं क्रियमाणं कथं मुक्तिमार्गविरोधि स्यात् ? अथ वस्त्रादेर्मलदिग्घस्य क्षालनेऽप्यादिविनाशः

यथासम्भव अनन्तजीवघातहेतु अग्निप्रज्वालन आदि शास्त्रनिषिद्ध चेष्टा करते हुए दिखाई देते हैं । तथा, जो अग्निप्रज्वलनादि नहीं करते वे भी शीतादिवेदना सहन न होने से आर्त्तध्यान कर के आत्महिंसा करने द्वारा अविरति तक नीचे उतर जाते हैं ऐसे भी बहुत दिग्म्बर देखे जाते हैं — अतः उन में असाधुता मानना न्यायसंगत है ।[✽]

दिग्म्बर :- जब शरीर के किसी अंग में खतरनाक ग्रन्थि-फोडादि हो जाता है और उस की वेदना असह्य बन जाती है तब उस का छेद-दाहादि करना पड़ता है । जो दर्दी उस छेद-दाह आदि से होनेवाली पीडा को सहन नहीं कर पाता वह उस फोडा आदि से होने वाली भयंकर पीडा का अन्त नहीं कर सकता । ठीक इसी तरह शीतादिवेदना को सहन न कर सकनेवाला पूरे संसार के दुःखों का अन्त नहीं कर सकता । अतः वस्त्रादिग्रहण नहीं करना चाहिये ।

श्वेताम्बर :- और आगे समानरूप से यह भी बोलिये कि जो क्षुधावेदना को सहन नहीं कर सकता वह भी संसार के दुःखों का अन्त नहीं कर सकता । अतः आहार ग्रहण भी यति को नहीं करना चाहिये । — यह अनिष्टापादन है ।

दिग्म्बर :- आहारग्रहण मुक्तिमार्ग का विरोधि न होने से निर्दोष है ।

श्वेताम्बर :- तो ऐसे ही वस्त्रादि धर्मोपकरण का ग्रहण मुक्तिमार्ग का विरोधि न होने से निर्दोष क्यों नहीं मानते ?

दिग्म्बर :- वस्त्रादि पहनेंगे तो वह शरीर के मल से मलिन होगा, फिर उस में जूँ आदि अनेक सम्मूर्च्छिम जीवों का उद्भव होगा । ऐसे वस्त्रों को पहनने से अवश्यमेव उन जीवों की विराधना होगी, इस प्रकार वस्त्रादि का ग्रहण विराधनाहेतु होने से मुक्तिमार्ग का विरोधी है, मुक्तिमार्ग का अविरोधित्व उस में असिद्ध है ।

श्वेताम्बर :- आहार ग्रहण करेंगे तो उस में भी कृमि आदि अनेक संमूर्च्छिम जीवों का उद्भव होगा, ऐसे आहार का भक्षण करने पर उन जीवों की विराधना भी होगी । अथवा पेट के अंदर बिमारी के कारण गृहीत आहार में कृमि आदि जीवों का उद्भव और उन की विराधना भी होगी । तब आहारग्रहण में भी वह विराधना समान है । देखिये — आहार में तो आगन्तुक मक्खी आदि सूक्ष्म जन्तु का पात एवं संमूर्च्छिम अनेक प्रकार के जीवों का उद्भव होता है । ऐसे आहार को खाने पर उन का विनाश अवश्य होगा । तदुपरांत, वह खाया हुआ भोजन जब उदर में जायेगा तो वहाँ भी अनेक सूक्ष्म जीवों की संसक्ति (=उद्भव) होगी जैसे विष्ठा में होती है । जब दिग्म्बर यति मलोत्सर्ग करेगा तब कृमि आदि अनेक जीवों का घात भी अवश्य होगा । अतः आहारग्रहण भी मुक्तिमार्ग का विरोधि मानना पड़ेगा ।

✽. जयपुर (राज०) में जब चातुर्मास था तब तलाश करवाने पर पता चला था कि जाड़े की मौसम में उन के आश्रयस्थानों में रात को चारों कोने में सगडीयाँ जलाई जाती थी । अतः व्याख्याकार का कथन अनुभव से सत्य प्रतीत होता है ।

बाकुशिकत्वं च, अक्षालने संसक्तिदोषः; इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति तद्ग्रहणं मुक्तिमार्गविरोधि। न, आहारादिग्रहणेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि — तद्विधस्यास्यादेः प्रक्षालनादावप्कायादिविनाशः अक्षालने प्रवचनोपघात इति तद्ग्रहणस्य मुक्तिमार्गविरोधित्वं कथं न समानम् ? अथ प्रासुकोदकादिना यत्नतस्तद्विधास्यादिप्रक्षालने नायं दोषः। — वस्त्रादिशोधनेऽपि यत्नतः क्रियमाणेऽदोष एव। तेन — ‘न साक्षाद् वस्त्रग्रहणस्य मुक्तिसाधनत्वम् रत्नत्रयस्यैव साक्षात् तत्साधनत्वात्। नापि परम्परया रत्नत्रयकारणत्वेन, तद्ग्रहणस्य रत्नत्रयविरोधित्वात्। निष्परिग्रहविरोधि सपरिग्रहत्वमिति सकललोक-प्रसिद्धम् रूपज्ञानोत्पत्तेस्तम् इव। न च रत्नत्रयहेतुशरीरस्थितिकारणत्वेन वस्त्रादिग्रहणं परम्परया

✽ आशयशुद्धि से अहिंसा और अपरिग्रह ✽

दिगम्बर :- इतना होने पर भी यदि जयणा आदि विधिपूर्वक आहार का परिभोग किया जाय तो किसी भी जीव की विराधना नहीं होगी। कदाचित् विराधना हो जाय तो भी विशुद्ध आशय से अर्थात् संयमवृद्धि के भाव से जीवरक्षा में सतत प्रयत्नशील रहनेवाले गीतार्थयति को ज्ञानादि के पुष्ट आलम्बन से आहारग्रहण में प्रवृत्त होने के कारण हिंसा का दोष नहीं रहेगा, वह यति अहिंसक ही बना रहेगा। अतः वैसे यति का आहारग्रहण मुक्तिमार्ग का विरोधि नहीं हो सकता।

श्वेताम्बर :- धन्यवाद ! यह भी सोचिये कि शुद्धाशयवाला जीवरक्षाप्रयत्नशील यति विधिपूर्वक वस्त्रादि परिभोग करे तो भी वह अपरिग्रही ही बना रहेगा, तब वस्त्रादिग्रहण भी मुक्तिमार्ग-विरोधि कैसे हो सकता है ?!

✽ आहार की तरह वस्त्रादि में जयणा से शुद्धि ✽

दिगम्बर :- पहनने पर वस्त्रादि मलिन होंगे ही। अब यदि उन को धोयेंगे तो अप्काय जीवों की विराधना होगी एवं वस्त्रधावनादि के कारण बकुशपन भी होगा। बकुशपन यानी एक प्रकार का शिथिलाचार। यदि नहीं धोयेंगे तो जूँ आदि जीवों की संसक्ति होगी। वस्त्रादि धारण करने वाले यतियों को इस ढंग से दोनों ओर से फाँसा है। सारांश, वस्त्रादि ग्रहण मुक्तिमार्ग का विरोधि है।

श्वेताम्बर :- आहारग्रहण भी ऐसी समान युक्ति से मुक्तिमार्ग का विरोधि बन जायेगा। कैसे यह देखिये — आहार हस्त में ग्रहण करेंगे और मुख में प्रक्षेप करेंगे तो हस्त-मुखादि भी मलिन-चीकने होंगे। यदि उन को धोयेंगे तो अप्काय के जीवों की विराधना होगी। नहीं धोयेंगे तो आहार से मलिन हस्त-मुखादि को देख कर लोग खिल्ली उडायेंगे तो प्रवचनोपघात यानी शासननिंदा का बड़ा दोष होगा — ऐसे दोनों ओर से फाँसा होने से आहारग्रहण को भी समान ढंग से मुक्तिमार्ग का विरोधी क्यों घोषित नहीं करते ?

दिगम्बर :- प्रासुक यानी अचेतन जल से यतनापूर्वक आहार से लिप्त हस्तादि को धोने से कोई दोष नहीं होगा।

श्वेताम्बर :- धन्यवाद ! यतनापूर्वक अचेतन जल से मल-मलिन वस्त्रों को धोने पर भी कोई दोष सम्भव नहीं है।

दिगम्बर का निम्नोक्त प्रलाप भी ऊपर कहे गये युक्तिसंदर्भ से निरस्त हो जाता है। दिगम्बर कहते हैं — “वस्त्रग्रहण साक्षात् मुक्ति का साधन नहीं है, साक्षात् मुक्ति-उपाय तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रय ही है। इस रत्नत्रय का कारण होने से परम्परया वस्त्रादिग्रहण मुक्ति-उपाय हो ऐसा भी नहीं है क्योंकि वस्त्रादिग्रहण तो उल्टा रत्नत्रय का विरोधी है। जैसे तिमिर रूपसाक्षात्कार का विरोधी है वैसे परिग्रहधारण भी

मुक्तिसाधनम्, तदन्तरेणापि रत्नत्रयनिमित्तशरीरस्थितिसम्भवात्' - इति यदुक्तम् तत् प्रदर्शितन्यायेन प्रतिक्षिप्तं दृष्टव्यम् - आहारग्रहणेऽपि अस्य समानत्वेन प्रदर्शितत्वात् ।

अत एव - 'साक्षात् पारम्पर्येण वा मुक्त्यनुपयोगिवस्त्रादिग्रहणं रागाद्युपचयहेतुः, तत् स्वीकुर्वन् तृष्णायुक्तत्वात् यत्याभासो गृहस्थं नातिशेते' - इत्याद्यपकर्णनीयम् आगमोक्तविधिना वस्त्रादिग्रहणस्य हिंसाद्यपायरक्षणनिमित्ततया मुक्तिमार्गसम्यग्ज्ञानाद्युपबृंहकत्वात् तत्परित्यागस्य त्वर्वाकालीनयत्यपेक्षया तद्बाधकत्वात् ।

ततो विशेष्यसद्भावे 'सम्यग्ज्ञानाद्यन्वितत्वे सति' इति विशेषणमसिद्धम् सति चास्मिन् विशेष्यम-सिद्धम् इति व्यवस्थितम् । तन्न रागाद्युपचयनिमित्तता परव्यावर्णितस्वरूपस्य नैर्ग्रन्थ्यस्य सिद्धा । अत एव व्यावर्णितस्वरूपनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वेऽपि वस्त्रादिग्रहणस्य न रागाद्युपचयं प्रति जनकत्वम् तद्विरुद्धेन सम्यग्दर्शनाद्युपचयेन यथोक्तवस्त्रादिग्रहणस्य व्याप्तत्वेन तद्विरुद्धसाधकत्वात् । दृष्टान्तस्यापि परव्या-

अपरिग्रह का विरोधी है - सारी दुनिया इसे जानती है । 'रत्नत्रयसम्पादक देहस्थिति का कारण होने से परम्परया वस्त्रादिग्रहण मुक्ति-उपाय हो' ऐसा भी नहीं है क्योंकि वस्त्रादिग्रहण के बिना भी रत्नत्रयसम्पादक देहस्थिति सुरक्षित हो सकती है ।' - दिगम्बरों का यह प्रलाप इस लिये निरस्त है कि वस्त्रादिग्रहण देहस्थिति का कारण होने से परम्परया रत्नत्रयपुष्टि करने द्वारा मुक्ति का हेतु बनते हैं यह विस्तृत चर्चा से सिद्ध कर दिया है । यदि दिगम्बर इस ढंग से वस्त्रादिग्रहण की परम्परया मुक्ति - हेतुता का अपलाप करेगा तो उसी ढंग से आहारग्रहण में भी मुक्तिहेतुता का निरसन हो जाने का अनिष्ट होगा - यह समानरूप से उपरोक्त चर्चा में कहा जा चुका है ।

✽ वस्त्रादिग्रहण से रागादि का उपचय असिद्ध ✽

दिगम्बरों के मत का पर्दाफाश हो चुका है इसी लिये उन का यह प्रलाप श्रवणयोग्य भी नहीं रहता कि - 'साक्षात् अथवा परम्परया जो मुक्तिप्राप्ति में उपयोगी नहीं है ऐसे वस्त्रादि का ग्रहण सिर्फ रागादि की ही वृद्धि करनेवाला है । जो यति उस का ग्रहण करेगा वह बेशक तृष्णापराधीन बनेगा । फिर उस श्रमणाभास और गृहस्थ में कोई भेद नहीं रहेगा ।' - यह दिगम्बरप्रलाप श्रवण के काबिल न होने का कारण यह है कि आगमशास्त्र से विहित विधि के अनुसार किया गया वस्त्र-पात्रादि का ग्रहण हिंसा आदि अपायों से बचने में सहायक होने से मुक्ति के उपायभूत सम्यग्ज्ञानादि का पुष्टिकारक है । प्रारम्भिक साधनाकाल में जो यति उस का त्याग कर देता है वह आर्त्तध्यानादि में पडता है और उस के लिये वस्त्रादि का त्याग मुक्तिमार्ग का बाधक बन जाता है ।

✽ दिगम्बरोक्त हेतु में विशेषणादि की असिद्धि ✽

दिगम्बर ने पहले प्रयोग में हेतु में विशेष्य अंश में नैर्ग्रन्थ्य शब्द का अर्थ वस्त्रादि का अभाव किया है, किन्तु वह उक्त रीति से सम्यग्ज्ञानादि का बाधक है इसलिये यदि विशेष्यांश का आग्रह रखेंगे तो 'सम्यग्ज्ञानादि से युक्त होते हुए निर्ग्रन्थता (नग्नता)' से पूर्वसूचित परिष्कार में विशेष्यांश सम्यग्ज्ञानादियुक्तत्व ही पलायन हो जायेगा, और यदि विशेषण को नहीं छोड़ना है तो विशेष्य अंश 'वस्त्रादिअभावस्वरूप निर्ग्रन्थता' असिद्ध हो जायेगा - यह सिद्ध हो जाता है । सारांश, दिगम्बर की बतायी हुई वस्त्रादिअभाव स्वरूप निर्ग्रन्थता रागादिहास में सहायक नहीं हो सकती यह सिद्ध होता है । इसी लिये, वस्त्रादिग्रहण दिगम्बरप्रतिपादित वस्त्रादिअभावस्वरूप निर्ग्रन्थता का विपक्षभूत होने पर भी उस में रागादिपुष्टिकारकत्व की सिद्धि की आशा नहीं रख सकते, क्योंकि वस्त्रादि में संयम का 'विपक्षभूतत्व' हेतु तो उलटा रागादिपुष्टिकारक से विरुद्ध यानी

वर्णितनैर्ग्रन्थविपक्षभूतत्वाऽसिद्धेः साधनविकलता । न च यथोक्ताङ्गनासंगादिरपि उपसर्ग-सहिष्णो-
वैराग्यभावनावशीकृतचेतसो योगिनो रागाद्युपचयहेतुः, भरतेश्वरप्रभृतिषु तस्य तत्प्रक्षयहेतुत्वेन शास्त्रे
श्रवणात्, 'जे जतिआ उ हेऊ भवस्स...' () इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । रागाद्युपचयनिमित्त-
नैर्ग्रन्थविपक्षभूतत्वं च वस्त्राद्युपादानस्यासिद्धम् धर्मोपकरणत्वेन तस्य ग्रन्थत्वानुपपत्तेः ।

तथा च प्रयोगः — अर्हन्मार्गोक्तक्रियाव्यवस्थितानां सम्यग्दर्शनादिसंपद्युक्तानां यतीनां वस्त्रादिकं न
ग्रन्थः धर्मोपकरणत्वात्, प्रमार्जनादिनिमित्तोपादीयमानपिच्छिकादिवत्; यत् तु कर्मबन्धहेतुतया ग्र-
न्थत्वेन प्रसिद्धं तत् धर्मोपकरणमपि न भवति यथा लुब्धकादेर्मृगादिबन्धनिमित्तं वागुरादिकम् । न
च धर्मोपकरणत्वं वस्त्रादेरसिद्धम् वस्त्राद्यन्तरेण यतीनामुक्तलक्षणानामर्हत्प्रणीताऽब्रह्मपरित्यागादिलक्ष-
णस्य व्रतसमूहस्य सर्वथा संरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः । यच्च व्रतसंरक्षणहेतुस्तद् धर्मोपकरणत्वेन परस्यापि
सिद्धम् यथा पिच्छिकादि, वैधर्म्येण वागुरादि । न च पिच्छिकादेरभिष्वङ्गहेतुत्वानुपपत्तेर्धर्मोपकरणत्वं
सम्यग्दर्शनादि के पुष्टिकारकत्व से व्याप्त हो ऐसा वस्त्रादिग्रहण में ही देखा जाता है, अतः विपक्षभूतत्व हेतु
विरुद्धसाधक होने से विरोधदोषग्रस्त सिद्ध होता है ।

तथा, दिगम्बरने अपने प्रथम प्रयोग में जो विशिष्ट शृंगारअलंकृतनारीसंग का दृष्टान्त पेश किया है उस
में, दिगम्बरप्रतिपादित 'वस्त्रादिअभावस्वरूप निर्ग्रन्थता का विपक्षभूतत्व' यह हेतु भी असिद्ध है क्योंकि तथाविधनारीसंग
वस्त्रादिअभाव का विपक्षभूत नहीं है । एवं यह भी सोचना जरूरी है कि स्फारशृंगारअलंकृतनारीसंग भी उन
योगिपुरुषों के लिये रागादिपुष्टिकारक नहीं होता जो उपसर्गों को सहन करने में कठोर होते हैं और जिन
का चित्त निरंतर वैराग्यभावना से प्लावित रहता है । शास्त्र में सुन पडता है कि भरतेश्वर आदि चक्रवर्त्तियों
को हजारों नारियों का संग भी रागादि उपचय कारक नहीं हुआ, अपि तु इतना होते हुए भी विषयों के
प्रति वैराग्यभावना और एकत्व भावना के पुष्ट बन जाने से उलटा रागादि का क्षय फलित हुआ । आगम
शास्त्र में भी स्पष्ट कहा है कि जो जितने संसारवृद्धि के हेतु हैं वे ही विपरीतरूप से उतने मोक्ष के हेतु
है । तथा, रागादिहासकारक निर्ग्रन्थता ग्रन्थाभावरूप लिया जाय तो वस्त्रादिग्रहण में तथाविध निर्ग्रन्थता का
विपक्षभूतत्व सिद्ध नहीं होगा (यानी हेतु पक्ष में असिद्ध है ।) क्योंकि वस्त्रादि धर्मोपकरणस्वरूप होने से उस
में ग्रन्थत्व ही नहीं घटेगा ।

✽ वस्त्रादि ग्रन्थरूप नहीं है — अनुमानसिद्धि ✽

वस्त्रादि में ग्रन्थत्वाभावसाधक अनुमान प्रयोग इस प्रकार है — श्री तीर्थकरप्रणीतमार्ग में विहित किये गये
क्रियाकलाप में व्यवस्थित रहनेवाले और सम्यग्दर्शनादि की सम्पदा से अलंकृत यतियों के लिये वस्त्रादि ग्रन्थस्वरूप
नहीं है क्योंकि उन के लिये वस्त्रादि धर्मोपकरणरूप है; जैसे प्रमार्जनादि के लिये दिगम्बरयतिगृहीत पीछी
(मयूरपीच्छ) आदि । तथा जो कर्मबन्ध का हेतु होने से ग्रन्थस्वरूप प्रसिद्ध होता है वह धर्मोपकरणरूप नहीं
होता, जैसे पशु आदि को फँसाने वाली शिकारीयों की जाल आदि । वस्त्रादि धर्मोपकरणस्वरूप है इस में कोई
संदेह नहीं है, असहिष्णु साधुओं को अर्हत् प्रभु प्रदर्शित अब्रह्मत्यागादिस्वरूप व्रतसमुदाय का संरक्षण करने
में वस्त्रादि अत्यन्त उपयोगी बनते हैं, वस्त्रादि के विना वे यति व्रतसमुदाय का संरक्षण नहीं कर सकते । दिगम्बर
मत में भी यह तथ्य स्वीकृत ही है कि जो व्रतसंरक्षण में उपयोगी हो वह धर्मोपकरणस्वरूप होता है जैसे
पीछी आदि । उस से उलटा, जो व्रतसंरक्षण में विरोधी हो वह धर्मोपकरण नहीं होता जैसे पशु आदि को
फँसानेवाली जाल ।

युक्तम् न वस्त्रादेः तद्विपर्ययात् इति वाच्यम् अनभिष्वङ्गनिमित्तस्यैव तस्यापि धर्मोपकरणत्वाभ्युपग-
मात् अभिष्वङ्गनिबन्धनस्य शरीरादेरपि अधर्मोपकरणत्वात् । न च शरीरेऽपि अप्रतिबद्धानां विदितवे-
द्यानां साधूनां वस्त्रादिषु 'मम इदम्' इत्यभिनिवेशः । उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रकृता वाचकमुख्येन -

‘यद्वत् तुरगः सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिषक्तः ।

तद्वद् उपग्रहवानपि न संगमुपयाति निर्ग्रन्थः ॥१४१॥ (प्रशमरति का० १४१)

अभ्युपगमनीयं चैतत् परेणाऽपि, अन्यथा शुक्लध्यानाग्निना कर्मन्धनं भस्मसात् कुर्वतः परित्य-
क्ताऽशेषसंगस्य केनचित् तदुपसर्गकरणबुद्ध्या भक्त्या वा वस्त्राद्यावृतशरीरस्य ग्रन्थत्वात् परमयोगिनो
मुक्तिसाधकत्वं न स्यात् । अथ यत् स्वयमादत्तं वस्त्रादि तदभिष्वङ्गनिमित्तत्वाद् न धर्मोपकरणम् ।
न, स्वयंगृहीतपिच्छिकादिना व्यभिचारात् । अथ पिच्छिकाद्यग्रहेऽप्रमार्जितासनाद्युपवेशनादिसम्भवतः

यदि यह कहा जाय - पीछी आदि जरूर धर्मोपकरणस्वरूप होते है क्योंकि वह रागजनक नहीं होते ।
वस्त्रादि में उलटा है, वस्त्रादि राग-जनक है अतः वह धर्मोपकरणरूप नहीं है - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि
जो रागादि-जनक न हो वैसे वस्त्रादि को ही हम धर्मोपकरणस्वरूप मानते हैं, दूसरी ओर जिस को शरीरादि
राग-जनक होते हैं उन के लिये शरीरादि भी अधर्म का ही उपकरण होता है, दिगम्बर यह क्यों नहीं मानता ?
तत्त्वार्थसंवेदी साधुओं को तो शरीर में भी प्रतिबन्ध = ममत्वभाव नहीं होता, फलतः 'यह मेरा है' ऐसा
ममत्वगर्भित अभिनिवेश वस्त्रादि में नहीं होता । व्याख्याकारने यहाँ तत्त्वार्थसूत्रकार वाचकमुख्य और प्रशमरतिग्रन्थकार
एक होने का निर्देश करते हुए श्री उमास्वाती महाराज के प्रशमरतिग्रन्थ की एक कारिका (१४१) साक्षी
के रूप में उद्धृत की है, जिस का भावार्थ यह है कि -

आभरण और विभूषा आदि के होते हुए भी जैसे अश्व को उन आभरणादि का अभिष्वङ्ग-अभिमान नहीं
होता; वैसे ही वस्त्रादिउपग्रह (=संग्रह) कारक निर्ग्रन्थ भी उस में संगवान् (=आसक्त) नहीं होता ॥

✽ वस्त्रादि की धर्मोपकरणतासाधक युक्तिवृन्द ✽

वस्त्रादि धर्मोपकरण व्रतबाधक नहीं है इस तथ्य का स्वीकार प्रतिवादी को अवश्य करना होगा, अन्यथा
यह मुसीबत होगी - कोई परमयोगी पुरुष शुक्लध्यान की आग में कर्म को इन्धन बना कर उस को भस्मसात्
कर रहा है, समस्त संग का (वस्त्रादि का भी) उसने त्याग कर दिया है, उस को कष्ट देने की बुद्धि से
किसी दुष्ट ने अथवा करुणा-भक्तिबुद्धि से किसी भक्त ने उस को ठंडी से ठिठुरते हुए देख कर शरीर पर
वस्त्र लपेट दिया । अब वस्त्र तो ग्रन्थ हो गया, उस का निर्ग्रन्थपन चला जायेगा और उस बेचारे की मुक्ति
वहाँ ही रुक जायेगी । यदि वस्त्रसंग मात्र से उस की मुक्ति नहीं रुकेगी तो मानना पड़ेगा कि वस्त्रसंग व्रतबाधक
या मुक्तिबाधक नहीं है ।

यदि कहा जाय - स्वयं ग्रहण किया हुआ वस्त्रादि ही राग-जनक होने से, वह धर्मोपकरणरूप नहीं
होता । वहाँ उस योगीने स्वयं वस्त्रग्रहण नहीं किया, इसलिये उस की मुक्ति नहीं रुकेगी । - तो स्वयं पिच्छीआदि
ग्रहण करने वाले दिगम्बर यति की भी मुक्ति रुक जायेगी, अन्यथा 'स्वयं गृहीत हो वह धर्मोपकरण नहीं
होता' - इस नियम का भंग होगा । यदि कहा जाय कि - "पिच्छिका आदि का ग्रहण न किया जाय
तो विना पूंजे-प्रमार्जे बैठ जाने का अत्यधिक सम्भव होने से सूक्ष्म जीव-जंतुओं की विराधना सहज हो जाने
से प्रथम महाव्रत 'समग्र हिंसा से विरमण' का भंग हो जाने की मुसीबत होगी, उस से बचने के लिये,

सूक्ष्मसत्त्वव्याप्तिसद्भावे प्राणातिपातविरमणादिमहाव्रतधारणानुपपत्तेः तदर्थं तद्ग्रहणम् धर्मोपकरणत्वं च पिच्छिकादेः अत एवोपपन्नम् – तर्हि अत एव पात्रस्यापि धर्मोपकरणत्वं तद्ग्रहणं चोपपन्नम् तदन्तरेणैकत्रैव भुजिक्रियां हस्त एव विदधतामारम्भदोषतः कर-चरणक्षालने च जलगताऽसंख्येयादिसत्त्वव्यापत्तितो महाव्रतधारणानुपपत्तेः । न च प्रतिगृहमोदनस्य भिक्षामात्रस्योपभोगाद् वस्त्रपूतोदकाङ्गीकरणाच्चायमदोषः, तथाभूतप्रवृत्तेर्युष्मास्वनुपलम्भात् प्रवृत्तावपि प्रवचनोपघातप्रसक्तेः तस्य चाऽबोधिबीजत्वात् – ‘छक्कायदयावंतो वि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं आहार...’ * () इत्याद्यागमप्रामाण्यात् ।

न च गृहस्थवाससा पूतमप्युदकं निर्जन्तुकं सर्वं संपद्यते तज्जन्तूनां सूक्ष्मत्वात् वस्त्रस्य चाघनत्वात् गृहिणां तच्छोधनेऽतिशयप्रयत्नानुपपत्तेश्च । न च कर एव प्रत्युपेक्ष्य तत्सत्त्वानुपलब्धौ तद्रूपभोगाद्

पूजने-प्रमार्जने के लिये पिंछी आदि (धर्मोपकरण) का ग्रहण करना ही होगा और अहिंसाव्रतरक्षा में उपयोगी होने से ‘पिंछी धर्मोपकरण है’ यह भी संगत हो जायेगा” – तो इसी तरह पात्र (और वस्त्रादि) में भी धर्मोपकरणता सुसंगत हो जायेगी, क्योंकि उस के विना जीव-जन्तु अन्वेषण न होने से अहिंसाव्रत की सुरक्षा शक्य नहीं है। अहिंसाव्रत की सुरक्षा के लिये अत एव धर्मोपकरणस्वरूप पात्र का ग्रहण भी न्याययुक्त है। पात्र के विना स्वयं हाथ में ही आहार ग्रहण कर के भोजन करने पर एक ही घर से भोजन लेने से आरम्भ यानी हिंसा दोष का होना पूरा सम्भव है, प्रवाही या घन विकीर्ण पदार्थ भोजन के लिये हाथ में लेने पर, हाथ से वह नीचे गिरेगा, हाथ-पैर आदि अवयव जूटे होंगे, उस का प्रक्षालन करने के लिये गृहस्थ सचित्त जल का उपयोग करेगा तो अप्काय के असंख्य जीवों की विराधना होने से प्रथम महाव्रत का धारण शिथिल हो जायेगा। यदि ऐसा कहा जाय कि – ‘दिगम्बर यति हाथ में सिर्फ चावल की ही भिक्षा ग्रहण करेंगे अतः नीचे गिरने का सम्भव – दोष नहीं होगा। एवं कर-चरण प्रक्षालन के लिये वस्त्र से छाने हुए जल का ही उपयोग करने से अप्काय जीवों की विराधना भी नहीं होगी।’ – तो यह प्रलापमात्र है क्योंकि दिगम्बर यति रोटी-बाटी सब भिक्षा में लेते हैं न कि सिर्फ चावल। एवं पानी का उपयोग भी वस्त्र से छाने विना ही करते हैं। कदाचित् सिर्फ चावलादि की भिक्षा का ग्रहण करते हो, फिर भी एक ही घर के द्वार पर खड़े खड़े असम्य पद्धति से भोजन करने पर जैन शासन की बहुत ही निंदा-उपघात का बड़ा दोष प्रसक्त होता है। प्रवचन उपघात यह बोधिबीज का नाशक होता है। शास्त्रों में कहा है –

‘आहार-निहार के विषय में लोगों को अत्यन्त जुगुप्सा पैदा करनेवाला साधु स्वयं बोधिप्राप्ति को दुर्लभ बना रहा है, चाहे वह कितना भी छ जीवनिकायों की रक्षा में उद्यमवंत हो।’

* पात्र के विना इस काल में विडम्बना *

दिगम्बर ने जो गृहस्थ के द्वारा वस्त्र में छाने हुए पानी को ग्रहण करने का आलाप किया है वह भी सारहीन है, क्योंकि गृहस्थ पानी को वस्त्र से छान ले तो भी वह पूरा जन्तुरहित नहीं हो जाता, क्योंकि जलगत कुछ ऐसे सूक्ष्म जन्तु होते हैं जो वस्त्र से छानने पर भी जल से अलग नहीं होते क्योंकि वस्त्र इतना सघन नहीं होता कि उस के छिद्रों में से वे जन्तु आरपार निकल न सके। तथा गृहस्थों को जल छानने में इतनी सावधानी या कौशल भी नहीं होता। यदि कहा जाय कि – दिगम्बर यति हाथ में भोजन को ले कर उस का प्रत्युपेक्षण कर के जब उस में कोई जीव-जन्तु का उपलम्भ न हो तब उस का उपभोग

*. आहारे निहारे परस्स उच्छं जणेमाणे।। - इत्युत्तरार्द्धः।

न पूर्वोक्तो दोषः; तथाऽनिरीक्षणात्, तदनुपलब्धावपि तदभावनिश्चयाऽयोगात्। न च यत्ननिरीक्षणा-
नुपलब्धा व्यापाद्यमाना अपि सत्त्वा न व्रतातिचारकारिणः; विषचूर्णदिरनुपलब्धभुक्तस्य प्राणनाशहेतु-
त्वोपलब्धेः। न च चतुर्थरसादेः प्रासुकोदकस्योपभोगादयमदोषः; तत्रापि सत्त्वसंसक्तिसंभवात् -
करप्रक्षिप्ते तस्मिन् तन्निरीक्षणे पानोज्ज्वनयोस्तद्व्यापत्तिदोषस्याऽपरिहार्यत्वात्। पात्रादिग्रहणे तु
तत्प्रत्युपेक्षणस्य तद्रक्षणस्य च सुकरत्वात् न व्रतातिचारदोषापत्तिः। न च त्रिवारोद्वृत्तोष्णोदकस्यैव
परिभोगाद् अयमदोषः, तथाभूतस्य प्रतिकालं तत्कालोपस्थायिनः तस्याऽप्राप्तेः, प्राप्तवापि तस्य तृडप-
नोदाऽक्षमत्वात् तद्युक्तस्य चानुत्तमसंहननस्येदानींतनयतेरार्त्तध्यानोपपत्तेः तस्य च दुर्गतिनिबन्धनत्वात्। न
च तृडादेर्दुःखस्य तपोरूपत्वेनाश्रयणीयत्वात् अयमदोषः अनशनादेर्बाह्यतपस आन्तरतपउपचयहेतुत्वे-
नाश्रीयमाणत्वात्, अन्यादृग्भूतस्य चाऽतपस्त्वात् -

करेगा, अथ- पूर्वोक्त दोष को अवकाश नहीं रहेगा - तो इस में तथ्य नहीं है क्योंकि (ऐसे कोई दिग्म्बर
यति प्रायः निपुण निरीक्षण करता नहीं है, हाथ में ले कर तुरन्त ही मुँह में डाल देते हैं अथवा) वैसे ऊपरि
सतह पर देख लेने मात्र से जीव-जन्तु का उपलम्भ (निरीक्षण) न होने पर भी उस के सर्वथा अभाव का
निश्चय छद्मस्थ पुरुष नहीं कर सकता।

यदि ऐसा कहा जाय - प्रयत्नपूर्वक निरीक्षण करने पर यदि जीव-जन्तु उपलब्ध न हुए तब उस के उपभोग
से यदि किसी सूक्ष्म जीव-जन्तु का प्राण-विनाश हो जाय, फिर भी उस से अहिंसाव्रत में कोई अतिचार (=दोष)
नहीं होता - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भोजन में विषचूर्ण का ज्ञान न होने पर भी अगर विषैला भोजन
कर लिया जाय तो उस अज्ञात विषभक्षण से जैसे स्वप्राण-विनाश होता है वैसे ही अज्ञात जीवहिंसा से व्रतभंग
भी हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि - 'चतुर्थरसादि यानी खट्टा या मधुर एवं अचित्त जल का ही उपभोग
किया जाय तो जीवहिंसा का दोष नहीं रहेगा - क्योंकि खट्टे जलमें जीवों का सद्भाव नहीं होता' - तो
यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वैसे जल में भी जीवों की संसक्ति (=प्रादुर्भाव) होने की सम्भावना बहुत है।
दिग्म्बर यति ऐसे पानीको हाथ में लेगा और बाद में अगर तथाविध जीव-जन्तु दिखाई देगा तो क्या करेंगे
- अगर पी जायेंगे तो भी विराधना होगी, अगर वहाँ ही छोड़ देंगे तो भी विराधना दोष का निवारण अशक्य
है। हाँ, पात्रादि रखा हो तो एक पात्र से जीव-जन्तु को दूसरे पात्र में संक्रान्त कर के उस की रक्षा अच्छी
तरह से हो सकती है। शुभ फल यह होगा कि व्रत में कोई अतिचार दोष का दाग नहीं लगेगा।

✽ बाह्यतप का प्रयोजन अभ्यन्तरतपपुष्टि ✽

यदि कहा जाय - तीन बार उबाले हुए उष्णजल का पान करने पर यह दोष भी नहीं होगा - तो
यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब दिग्म्बर यति वहाँ पहुँचे तभी सर्वदा घर-घर में वैसा गरम-गरम ही पानी
मिल जाय ऐसा सम्भव नहीं है। कदाचित् कहीं एक-दो बार वैसा गरम-गरम पानी मिल जाय तो भी उस
से प्यास नहीं बुझ सकती। नतीजा यह होगा कि उत्तम शारीरिक गठन के विरह में वर्तमानकालीन यति
को प्यास नहीं बुझने से बैचेनी और आर्त्तध्यान प्रसक्त होगा जो कि दुर्गति का मूल है। यदि यह कहा
जाय - तृषा आदि का दुःख (कष्ट) तो तपोमय है अतः स्वागतपात्र ही है, कोई दोष नहीं है अगर प्यास
न बुझे। - तो यह ठीक नहीं है, आर्त्तध्यान न होने पर कुछ हद तक वह तपोमय हो सकता है किन्तु
प्यास न बुझने पर आर्त्तध्यान हो जाना बहु सम्भव है, तब वह तप रूप होवे तो भी क्या ? आखिर
बाह्य अनशनादि तप तो अभ्यन्तरतप की पुष्टि के लिये होने चाहिये न कि आर्त्तध्यानप्रेरक। अभ्यन्तरतप

‘सो य तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चित्तेई’ (पञ्चव० गाथा २१४) इत्याद्यागमप्रामा-
ण्यात्। स्तुतिकृताऽप्युक्तम् — ‘बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरध्वमाध्यात्मिकस्य तपस उपबृंहणार्थम्’ (स्वयं-
भूस्तो० ८३) इति। तन्न वस्त्र-पात्रादिविकलस्येदानींतनयतेः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानं सम्भवतीति कथं
न तस्य धर्मोपकरणत्वम् ?

एवं ‘यः स्वीकृतग्रन्थः’... इत्यादिप्रयोगेऽपि वस्त्रादिधर्मोपकरणस्याऽग्रन्थत्वप्रतिपादनात् ‘स्वीकृत-
ग्रन्थश्च मोक्षाध्वनि संचरन् वस्त्राद्युपकरणवान्’ इति हेतुरसिद्धः। न च तथाविधवस्त्राद्युपकरण-
धारिणां चौरादिभ्य उपद्रवः संभवति, तद्वस्त्रादेरशोभनत्वाऽल्पमूल्यत्वाभ्यां चौराऽग्राह्यत्वात्। अथाधम-
चौरास्तथाभूतमपि गृह्णन्ति इति तदग्राह्यत्वं तस्याऽसिद्धम्। नन्वेवं पुस्तकाद्यपि मोक्षाध्वसंचारिणा
न ग्राह्यं स्यात् तत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात्। अथ तदपि भगवता प्रतिषिद्धम् — न, तत्प्रतिषिद्ध-
पुस्तकादिग्राहिणाभिदानींतनर्षीणां तदाज्ञाविलोपकारित्वेनाऽयतित्वप्रसक्तेः। ज्ञानाद्युपग्रहहेतुत्वेन तद्ग्रहणे
पात्रादावपि तत एव ग्रहणप्रसक्तिः। न च पाथेयाद्युपकरणरहितस्याध्वगस्याप्यभीष्टस्थानप्राप्तिः

का पोषक ही बाह्यतप उपादेय होता है, अन्यथा वह तपरूप ही नहीं हो सकता। शास्त्रकार महर्षि भी कहते
हैं कि — ‘वही तप उपादेय है जिस के होने पर मन से अशुभ चिन्तन नहीं होता।’ इस आगम प्रमाण
से उक्त तथ्य का समर्थन होता है। दिगम्बरमान्य स्तुतिकार (स्वयंभूस्तोत्रकर्ता) ने भी कहा है कि ‘आध्यात्मिक
(अभ्यन्तर) तप की पुष्टि के लिये परम दुष्कर बाह्य तप का आचरण करना चाहिये।’

सारांश, वस्त्र-पात्रादि के विरह में वर्तमानकालीन साधु का परिपूर्ण सर्वसावद्ययोग का पचक्खाण सम्भव
नहीं है, तो उस में सहायक होने वाले वस्त्र-पात्रादि को धर्मोपकरण क्यों न माना जाय ?!

दिगम्बर ने दूसरा अनुमानप्रयोग ऐसा कहा था कि ‘ग्रन्थ रख कर पथ-संचरण करने वाला इष्ट स्थान
पर नहीं पहुँच सकता’.. इत्यादि। किन्तु अभी तो यह सिद्ध किया जा चुका है कि वस्त्रादि तो धर्मोपकरण
है न कि ‘ग्रन्थ’। अतः मुक्तिपथ-संचरण करनेवाला श्वेत भिक्षु वस्त्रादि धर्मोपकरणवाला होने पर भी ग्रन्थयुक्त
न होने से, उस में उक्त प्रयोगवाला हेतु ही असिद्ध है। दूसरी बात यह है कि साधु जो वस्त्र रखते हैं
वे वस्त्र जीर्ण-शीर्ण शोभाहीन एवं अल्पमूल्य के होते हैं, चौरादि भी उन को पसंद नहीं करे ऐसे होते हैं।
अतः ऐसे वस्त्र धारण करने वाले साधु महात्मा को चोर आदि के उपद्रव का सम्भव नहीं है।

दिगम्बर :- जो अधमवृत्तिवाले चोर होते हैं वे तो शोभाहीन अल्पमूल्य वस्त्रों की भी चोरी करते हैं,
इस लिये ‘वैसे वस्त्रों को चोर पसंद नहीं करते’ यह कथन असिद्ध है।

यथार्थवादी :- अरे भैया ! तब तो मुक्तिमार्ग के पथिकों के लिये पुस्तकादि भी अग्राह्य मानना होगा,
क्योंकि अधम चोर तो पुस्तकादि की भी चोरी करते हैं। वस्त्रादि में जो दोष है वही पुस्तकादि में भी है।

दिगम्बर :- इसी लीए भगवानने तो पुस्तकादि का भी प्रतिषेध किया है।

यथार्थवादी :- आप की यह बात गलत है क्योंकि पुस्तकादि को भगवत्प्रतिषिद्ध मानने पर जिन दिगम्बर
यतियों ने वर्तमानकाल में पुस्तकादि का परिग्रह किया है उन को असाधु मानना होगा क्योंकि उन्होंने पुस्तक-
अग्रहण संबंधी भगवदाज्ञा का विलोप किया है।

दिगम्बर :- हमने परिग्रह के रूप में नहीं किन्तु ज्ञानादिपुष्टिकारक होने से पुस्तकादि का ग्रहण किया
है, अतः असाधुता अथवा भगवदाज्ञाभंग का दोष नहीं होगा।

यथार्थवादी :- अब तो वस्त्र-पात्रादि का ग्रहण भी आप को प्रसक्त होगा, क्योंकि चारित्र की पुष्टि

सम्भविनीति दृष्टान्तोप्यसंगत एव, सर्वस्य विशिष्टफलारम्भिणस्तदुपकरणरहितस्य तत्फलाऽप्रसाधकत्वात् । तथाहि — यो यत्रोपायविकलो नासौ तत् साधयति यथा कृष्याद्युपायविकलस्तत्फलम् अशेषकर्म-विगमस्वभावमुक्तिफलवस्त्रादिधर्मोपकरणोपायविकलश्च मुनिर्भवद्भिरभ्युपगम्यत इति । न च क्षायिकज्ञान-दर्शनचारित्राण्येव तदुपाय इति वक्तव्यम् 'वस्त्रादिधर्मोपकरणविकलस्य क्षायिकज्ञानादेरेवाऽसम्भवात्' इत्युक्तत्वात् ।

'यो यद्विनेयो'... इत्यादिकोऽपि प्रयोगोऽनुपपन्नः, 'सर्वथा परित्यक्तवस्त्रतीर्थकृद्विनेयत्वात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वात्, भगवत एव परित्यक्तवस्त्रत्वानुपपत्तेः — 'सर्व्वे वि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा' (आ० नि० गाथा २२७) इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । न चास्यान्यार्थत्वम् आचाराद्यङ्गेषु तैस्तैः सूत्रैर्भगवत्ये-कवस्त्रग्रहणस्य श्रामण्यप्रतिपत्तिसमये प्रतिपादितत्वात् । न चैवं तदा सर्व्ववस्त्रपरित्यागावेदकस्तत्र कश्चिदागमः श्रूयते । योऽपि 'वोसट्टचत्तदेहो विहरइ गामाणुगामं तु' () इत्यागमः सोऽपि न श्रामण्यप्रतिपत्तिसमयभाविभगवन्नग्रत्वाऽवेदकः, किन्तु तदुत्तरकालं रागादिविप्रमुक्तत्वं भगवत्यावेद-के लिये वे भी उपयोगी हैं ।

तदुपरान्तं, दिगम्बरने जो उक्त अनुमानप्रयोग में ग्रन्थधारक मुसाफिर का उदाहरण दिया है वह भी गलत है — क्योंकि पाथेयादि उपकरणशून्य मुसाफिर कभी इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इतना ही नहीं — यह भी समझने लायक है कि विशिष्ट फल के लिये उद्यम करनेवाले यदि उस के लिये उपयोगी उपकरण का आदर नहीं करेंगे तो कभी भी अपने विशिष्ट फल की प्राप्ति नहीं कर पायेंगे। ऐसा अनुमानप्रयोग देख लीजिए — जो जिस प्रवृत्ति में उपायशून्य होता है वह उस के फल को नहीं प्राप्त कर सकता। उदा० कृषि कर्म के लिये जरूरी औजार हल आदि से शून्य पुरुष कृषि के फल को नहीं प्राप्त कर सकता। आप भी यही मानते हैं कि यति वस्त्रादिशून्य ही होता है जो (वस्त्रादि) कि धर्मोपकरणरूप होने से सकलकर्मविनाशात्मक मुक्तिस्वरूप फल का उपायभूत है। यदि कहें कि — 'वस्त्रादि नहीं किन्तु क्षायिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही मुक्ति के उपाय हैं' तो ऐसा कहने की जरूर नहीं है क्योंकि वस्त्रादि धर्मोपकरण से शून्य साधक को क्षायिक ज्ञानादि की प्राप्ति ही असम्भव है। पहले यह कहा जा चुका है।

✽ शिष्य को गुरुधारितलिंग के ग्रहण का उपदेश व्यर्थ ✽

दिगम्बरने जो तीसरा अनुमान बताया है — 'जो जिस का शिष्य हो वह उसके लिंग का अनुसरण करता है' यह तीसरा प्रयोग भी मिथ्या है। कारण, उस में जो यह हेतु कहा गया है 'सर्व्वथा वस्त्र का त्याग करनेवाले तीर्थकर के शिष्य भिक्षु होते हैं' — यह हेतु असिद्धिदोष से दूषित है, क्योंकि 'भगवान तीर्थकर ने वस्त्र का सर्व्वथा त्याग किया था' यह विधान शास्त्रसंगत नहीं है। प्रमाणभूत आवश्यकनिर्युक्ति आगम में तो यह कहा है कि — सभी तीर्थकरोंने एक देवदूष्य (दैवी वस्त्र) ग्रहण कर के निष्क्रमण किया था।' यह प्रामाणिक आगमवचन दिगम्बर के हेतु को 'असिद्ध' घोषित करता है। 'इस आगमवचन का अर्थ तो दूसरा ही कुछ है, वस्त्रग्रहण अर्थ नहीं है', ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आचारांग आदि आगमों के उन सूत्रों में दीक्षा अंगीकार करते समय भगवान में एकवस्त्र ग्रहण का स्पष्ट निर्देश किया गया है। उस से विपरीत, यानी दीक्षाग्रहण समय में सर्व्वथा वस्त्रपरित्याग सूचित करनेवाला एक भी आगमवचन दिगम्बर को भी उपलब्ध नहीं है।

दिगम्बर :- ऐसा नहीं है, 'वोसट्टचत्तदेहो विहरइ गामाणुगामं तु' () अर्थात् देह का व्युत्सर्ग एवं त्याग

यति, न ह्यनेनागमेन भगवतो वस्त्रवैकल्यमावेद्यते ।

किंच, यदि यो यद्विनेयः स तल्लिङ्गधारी, तदा भवतामिव भगवतोऽपि कमण्डलु-टट्टिकादिलिङ्गधारित्वप्रसक्तिः । अथ न दैवचरितमाचरितुं शक्यते इति तदगृहीतटट्टिकादिग्रहोऽस्माभिस्तद्व्यतिरेकेण महाव्रतधारणं कर्तुमशक्तकैराश्रीयते, तर्हि 'जारिसयं गुरुलिङ्गं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं' () इत्याद्यभिनिवेशस्त्यज्यताम् ।

यदपि 'न च वस्त्राद्युपकरणग्रहवत्सु प्रव्रज्यापरिणामः सम्भवति' इत्याभिधानम् तदप्यसंगतम् परिग्रहाग्रहवत्सु प्रव्रज्यापरिणामस्याऽस्माभिरप्यनिष्टेः । न च सर्वसावद्ययोगविरतिप्रतिज्ञानिर्वाहनिमित्तवस्त्रादिधर्मोपकरणयोगिषु परिग्रहाग्रहवत्सु, अन्यथा शरीरयोगिष्वपि परिग्रहाग्रहवत्त्वं स्यात् । अथ तन्न परित्यक्तुं शक्यते इति, अविधानेन तत्परित्यागेऽनेकभवानुबन्धितदनुषक्तिप्रसक्तिः विधानपरित्यागस्तु तस्य प्रस्तुतविधिनैव तर्हि वस्त्राद्युपकरणत्यागेऽपि अयमेव विधिः, अन्यथा प्रव्रज्यापरिणामस्य प्रकृष्टफलनिर्वर्तकस्य वस्त्राद्युपादानमन्तरेण असम्भवात्, तत्सम्भवे च शरीरत्यागवद् वस्त्रादित्या-

कर के भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हैं — यह आगमवचन भगवान् के नग्नत्व को सूचित करता है ।

यथार्थवादी :- नहीं नहीं, उस आगम में दीक्षाग्रहण काल में भगवान् की नग्नता का कतई सूचन नहीं है, वह सूत्र तो यह कहता है कि दीक्षा लेने के बाद भगवान् अपने देहादि में भी रागादि न रखते हुए विचरते हैं । यहाँ इस आगम में भगवान् के वस्त्रत्याग का गन्ध भी नहीं है ।

यह भी सोचना चाहिये कि यदि ऐसा आग्रह रखा जाय कि जो जिस का शिष्य हो वह उसी के लिंग का अनुसरण करता है — तो जैसे आप कमण्डलू और टट्टिकादि को लिंगरूप में धारण करते हैं उस से तो यह सिद्ध होगा कि आप के गुरु तीर्थकर भी कमण्डलू आदि यतिलिंग को धारण करते होंगे, क्योंकि आप के मत में तो शिष्य गुरु के लिंग का ही उपासक होता है, अर्थात् तीर्थकर ने कमण्डलू आदि को धारण किया होगा, तभी आप उसे धारण करते होंगे । यदि कहा जाय — 'भगवान् के लोकोत्तर आचरण का अनुकरण शक्य नहीं है इसलिये उन्होंने कमण्डलू आदि का ग्रहण नहीं किया था फिर भी हम दिगम्बर यतियों ने टट्टिका आदि का ग्रहण किया है क्योंकि उस के बिना हमारे लिये महाव्रतों का पालन अशक्य है ।' — अहो ! तब तो 'जैसा गुरु का लिंग हो वैसे ही लिंग का धारण शिष्य को करना चाहिये' ऐसे कदाग्रह को जलाञ्जलि देना ही उचित है ।

✽ वस्त्रधारकों में परिग्रहाग्रह का आपादान व्यर्थ ✽

दिगम्बर ने जो यह कहा था — वस्त्रादि उपकरणों का आग्रह (कदाग्रह) रखनेवाले को प्रव्रज्या का परिणाम कभी उदित नहीं होता । — यह भी असंगत विधान है । यह तो हमें भी इष्ट नहीं है कि परिग्रह का कदाग्रह रखे उसे प्रव्रज्या का परिणाम प्रस्फुटित हो । लेकिन, जिन्होंने सर्व सावद्ययोग के त्याग की प्रतिज्ञा की है, उस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिये ही जिन्होंने वस्त्रादि धर्मोपकरणों को धारण किया है — उन योगी महात्माओं के ऊपर परिग्रह के आग्रह का आक्षेप ही गलत है । यदि संयमरक्षा के लिये वस्त्रादिधर्मोपकरणों के धारण में जिस को परिग्रह के आग्रह का दर्शन होता है उसे तो संयमपालन के लिये शरीरधारण में भी परिग्रह के आग्रह का दर्शन करना पड़ेगा ।

यदि कहा जाय कि — शरीर का परित्याग अशक्य है । तथा, यदि अविधि से उस का त्याग जैसे तैसे आत्महत्यादि कर के किया जाय तो अनेक भवों की परम्परा में पुनः पुनः शरीर की जैल में फँसना

गस्यापि स्वतःसिद्धत्वात् उत्तीर्णमहार्णवपुरुषयानपरित्यागस्येव प्राक् तु तत्परित्यागो महार्णवयानमध्या-
सीनयानपरित्यागवद् अपायहेतुरेव । तेन 'श्वेतभिक्षवो महाव्रतपरिणामवन्तो न भवन्ति' इत्यादिप्रयोगे
'परिग्रहाग्रहयोगित्वात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धतैव ।

यदपि 'न च भगवद्भिर्वस्त्रग्रहणं यतीनामुपदिष्टम्' तदपि अनधीतागमस्याभिधानम् आचाराद्यङ्गेषु
वस्त्रपात्रैषणाध्ययनादिषु तद्ग्रहणस्य यतीनां विस्तरतो भगवता प्रतिपादनात् । तथा चौधिकोपधिर्जिन-
कल्पिकानां द्वादशविधः स्थविरकल्पिकानां चतुर्दशविधः निर्ग्रन्थीनां पञ्चविंशतिविधो भगवद्भिरनुज्ञातः

'जिणा बारसरूवाणि (ओ?) थेरा चोहसरूविणो । अज्जाणं पणवीसं तु अओ उड्डुमवग्गहो' ॥

- (पञ्चवस्तु० ७७१)

इत्याद्यर्हदुक्तागमप्रामाण्यात् । यदपि स्थितकल्पे आचेलक्यम् परीषहेषु वाऽचेलत्वं यतेरुपदिष्टम् तदपि
शुक्लाऽकृत्स्नवस्त्रग्रहणापेक्षया वस्त्राभावेऽपि अनेषणीयतद्ग्रहणापेक्षया च, अन्यथा वस्त्रादिग्रहणा-
भिधायकस्यानेकस्यागमस्यैतदागमबाधितत्वेनाऽप्रामाण्यप्रसक्तेः । यथा च भुञ्जानोप्येषणीयमाहारं
क्षुत्परीषहेजेता यतिः अनेषणीयाहारपरित्यागात्, तथा वस्त्रैषणाऽपरिशुद्धवस्त्राऽग्रहणात् शुक्लजीर्ण-

होगा । यदि विधिपूर्वक उस के त्याग का आग्रह किया जाय तो यही ज्ञानादि की आराधना ही उस के सर्वदा
त्याग का बेजोड विधि है । - अहो ! तब तो वस्त्रत्याग के लिये भी समान बात है । वस्त्रादि का नग्नता
आदि रूप अविधिपूर्वक त्याग करने से भवोभव तक भटकना पड़े, यदि विधिपूर्वक वस्त्रादित्याग का आग्रह
हो तो यह ज्ञानादि की आराधना ही उस के सर्वदा त्याग की उत्तम विधि है । यदि सर्वथा नग्न हो कर
वस्त्रत्याग (अविधिपूर्वक) किया जाय तो वस्त्रग्रहण के अभाव में उत्कृष्टफलसम्पादक स्थिर-दृढ प्रव्रज्या परिणाम
ही जाग्रत् नहीं होगा । जब प्रकृष्ट प्रव्रज्या परिणाम और उस का उत्कृष्ट फल केवलज्ञानादि मोक्षपर्यन्त प्राप्त
हो जायेगा तब शरीरत्याग की तरह वस्त्रादित्याग भी अनायास ही होने वाला है - जैसे, महासागर को
पार कर जानेवाले मुसाफिर अपने आप ही जहाज का त्याग कर देता है । यदि केवलज्ञानादि लब्धि प्राप्त
करने के पहले ही वस्त्रादि का त्याग कर दिया जाय तो बहुत ही नुकसान हो सकता है जैसे मझधार में
अगर समुद्र में नौका का त्याग कर दिया जाय तो आदमी कभी समुद्र पार नहीं उतरेगा ।

सारांश, 'श्वेताम्बर भिक्षु महाव्रत परिणामवाले नहीं होते क्योंकि परिग्रह के आग्रही हैं' ऐसे दिग्म्बर
अनुमानप्रयोग में 'परिग्रह के आग्रही' यह हेतु असिद्ध घोषित हो जाता है ।

✽ आगमों में यति को वस्त्रादिग्रहण का स्पष्ट विधान ✽

दिग्म्बर ने जो पहले कहा है - भगवान ने यतियों को वस्त्रग्रहण का उपदेश नहीं किया - यह भी
आगम के अनभिज्ञ पुरुष का विधान है, क्योंकि आचारंग आदि आगमों में वस्त्रैषणा-पात्रैषणा आदि अध्ययनों
में भगवान ने यतियों को स्पष्ट ही विस्तार से वस्त्रादिग्रहण का विधान किया हुआ है । भगवान ने जिनकल्पी
मुनियों के लिये बारहभेदी, स्थविरकल्पी मुनियों के लिये चतुर्दशभेदी एवं साध्वीयों के लिये पञ्चवीशभेदी ओघ
(सामान्य) उपधि (उपकरणवृन्द) के ग्रहण की अनुज्ञा दी है । जैसे पञ्चवस्तु आदि शास्त्रों में भी कहा है -
'जिनकल्पियों के लिये बारह प्रकार की, स्थविरकल्पियों के लिये चउदह प्रकार की और साध्वीयों के लिये
पञ्चवीश प्रकार की ओघ उपधि होती है, उस से ज्यादा औपग्रहिक होती है ।' भगवान के भाखे हुए इस
आगमवचन के प्रमाण से वस्त्रादिग्रहण सिद्ध होता है ।

वस्त्रवानपि मुनिः अचेलपरीषहजेता किं न स्यात् ? ‘णगिणस्स वा वि’ (दशवै० ६-६५) इत्याद्य-
प्यागमः तथाविधवस्त्रवतोऽपि नग्नत्वमाह उक्तन्यायात्, दृश्यन्ते हि लोके तथाविधवस्त्रवन्तोऽपि ‘नग्रा
वयम्’ इत्यात्मानं व्यपदिशन्तः।

‘जे भिक्खू कसिणं वत्थं पडिगाहेइ’ () इत्यादेः प्रमाणमूल्याधिकवस्त्रग्रहणप्रतिषेधविधायिनः
योग्याऽयोग्य-तद्ग्रहण-प्रतिषेधविधायिनश्चागमस्य

‘पिण्डं सेज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य। अकप्पियं ण इच्छेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं।।’
(दशवै० ६-४८)

— इत्यादेर्द्वादशाङ्ग्यन्तर्गतस्यानेकस्य सद्भावाच्च गौणार्थवृत्तेरुत्तमसंहननपुरुषविशेषविषयप्रतिनियताव-
स्थागोचरवस्त्रमोक्षप्रतिपादकतया मुख्यवृत्तेर्वाऽऽगमलेशस्य श्रवणमात्रात् भगवत्प्रतिपादितं यतीनां वस्त्रा-
दिग्रहणं प्रतिक्षेपं युक्तम्। तत्प्रतिक्षेपकारिणो बृहस्पतिमतानुसारिण इव मिथ्यादृष्टित्वप्रसक्तेः। अतो
वस्त्राद्युपकरणसमन्विताः श्वेतभिक्षवो निर्वाणफलहेतुसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्ययुक्ताः अविकलार्हत्प्रणीत-
महाव्रतसम्पन्नत्वात्, गणधरादिवत्। तदेवं धर्मोपकरणयुक्तस्य महाव्रतधारिणो निर्ग्रन्थत्वात् आर्थिकाणा-
मपि मुक्तिप्राप्त्यविरोधः।

दिगम्बर ने जो कहा है कि — ‘स्थित कल्प में मुनियों को आचेलक्य का (चेलाभाव यानी वस्त्राभाव का)
एवं परीषहों में अचेल परीषह का उपदेश होने से वस्त्रग्रहण का निषेध हो जाता है’ — यह भी अपेक्षा को विना
समझे कह दिया है। कारण, आचेलक्य का उपदेश अपरिपूर्ण-शुक्लवर्ण जीर्णशीर्ण वस्त्रग्रहण की अपेक्षा से किया
गया है, तथा कभी पुराना वस्त्र चोरी हो गया, अब वस्त्र न होने पर भी साधु कभी अनेषणीय (अकल्प्य रेशमी
आदि) वस्त्रों का ग्रहण नहीं करता, इस अपेक्षा से ही आचेलक्य का उपदेश है न कि सर्वथा नग्नता की अपेक्षा से।
यदि सर्वथा नग्नता की अपेक्षा से आचेलक्य का उपदेश समझ बैठेंगे तो फिर वस्त्रादिग्रहण के उपदेशक अनेकविध
आगमवचन उक्त आचेलक्यविधान से बाधित हो जाने से अप्रामाणिक हो जाने की बड़ी विपदा सिर उठायेगी।

तथा, अचेल परिषह का वास्तव रहस्य यह है कि जैसे साधु अनेषणीय आहार का त्याग कर के एषणीय
आहार-भोजन करने पर भी क्षुधा-परिषह का विजेता कहा जाता है, क्योंकि क्षुधा होने पर भी वह आकुल
हो कर अनेषणीय आहार का ग्रहण नहीं करता — ऐसे ही मुनि वस्त्रैषणा से अपरिशुद्ध वस्त्र का ग्रहण नहीं
करता किन्तु एषणीय प्रमाणयुक्त जीर्ण एवं शुक्लमात्र ही वस्त्र का ग्रहण करता है — तो उसे भी अचेलपरीषह
का विजेता क्यों न माना जाय ?

दिगम्बर ने जो कहा था कि — ‘णगिणस्स वा वि मुण्डस्स दीहरोमनहंसिणो। मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाइ
कारिअं।। नग्न और मुण्ड एवं दीर्घ केश-नखधारी, मैथुन से विरत मुनि को विषूभा का क्या प्रयोजन ?’
— इस प्रकार के आगमों में कई बार भगवान ने वस्त्रादित्याग का उपदेश किया है।’ — यह भी भ्रमणा
है, क्योंकि उक्त युक्तियों के अनुसार नग्नतासूचक आगमवचनों में भी जीर्ण-शीर्ण-शुक्लवस्त्र के लिये ही ‘नग्नता’
शब्दप्रयोग किया है न कि सर्वथा वस्त्रत्याग की अपेक्षा से। लोक-व्यवहार में भी फटे-तूटे मैले कपडे पहनने
वाले अपने लिये बार बार कहते हैं कि हम तो (गरीबी के मारे) नंगे फिरते हैं। अतः आचेलक्यादि सूत्रों
के आधार पर भी दिगम्बर मत का अभिप्राय नहीं होता।

✽ सूत्र विधानों का परमार्थ ✽

दिगम्बर प्रवक्ता ‘णगिणस्स वा वि०’ इत्यादि सूत्रलेश के श्रवणमात्र से उस के अर्थ को विना समझे ही
गलत ढंग से वस्त्रादिग्रहण का प्रतिक्षेप कर बैठता है वह न्याययुक्त नहीं है। कारण, ‘जे भिक्खू०’ इत्यादि सूत्र

❖ स्त्रीमोक्षाधिकारे दिगम्बरमतनिर्मूलनम् ❖

अथ स्त्रियो मुक्तिभाजो न भवन्ति, स्त्रीत्वात्, चतुर्दशपूर्वसंविद्भागिन्य इव ।

अत्र यदि 'सर्वाः स्त्रियो मुक्तिभाजो न भवन्ति' इति साध्येत तदा सिद्धसाध्यता, अभव्यस्त्रीणां मुक्तिसद्भावानभ्युपगमात् । अथ 'भव्या अपि तास्तद्भाजो न भवन्ति' इति साध्यते तदाऽत्रापि सिद्धसाध्यता, भव्यानामपि सर्वासां मुक्तिसंगाऽनिष्टेः -

'भव्या वि ते अणंता सिद्धिपहं जे ण पावेंति' () इति वचनप्रामाण्यात् । अथ अवाप्तसम्यग्दर्शना अपि ता न तद्भाजः इति पक्षः । अत्रापि सिद्धसाध्यता तदवस्थैव प्राप्तोज्झितसम्यग्दर्शनानां तासां तद्भाक्त्वानिष्टेः । अथ अपरित्यक्तसम्यग्दर्शना अपि न तास्तद्भाजः, तथापि सिद्धसाध्यता अप्राप्ताऽविकलचारित्राणां सम्यग्दर्शनसद्भावेऽपि तत्प्राप्त्यनभ्युपगमात् । अथ अविकलचारित्रप्राप्तिरेव तासां न भवति । कुत एतत् ? यदि स्त्रीत्वात्, पुरुषस्यापि सा न स्यात् पुरुषत्वात् । अथ पुरुषे

में 'जो भिक्षु पूर्ण वस्त्र का ग्रहण करे०' (वह प्रायश्चित्तभागी होता है) इस तरह प्रमाण से अधिक और अतिमूल्यवान वस्त्र का ग्रहण प्रतिषेध किया गया है उस से ही प्रमाणयुक्त और अल्पमूल्य वस्त्रों के ग्रहण का विधान फलित हो जाता है । तथा आगम में यतिप्रायोग्य वस्त्रादि का ग्रहण और अयोग्य वस्त्रादि का प्रतिषेध किया गया है जैसे - दशवैकालिक सूत्र में कहा है 'पिण्ड (आहारादि), शय्या, वस्त्र और पात्र यदि अकल्पित है तो साधु इसे ग्रहण की इच्छा न करे, कल्पित हो तो ग्रहण करे ।' इस सूत्रार्थ से भी कल्पित वस्त्रादि ग्रहण का स्पष्ट विधान सिद्ध होता है । इस प्रकार द्वादशांगी में वस्त्रग्रहण विधायक अनेक सूत्र मौजूद हैं । अत एव गौणरूप से यानी औपचारिक नग्नता (जीर्ण-शीर्ण वस्त्र) के प्रतिपादक सूत्रलेश के श्रवण मात्र से, अथवा मुख्यवृत्ति से श्रेष्ठसंघयणबलवाले पुरुषविशेष के लिये अवस्थाविशेष में वस्त्रत्याग का विधायक किसी सूत्र के श्रवणमात्र से ग्रथिल बन कर, अन्य सूत्रों में भगवान के द्वारा उपदिष्ट वस्त्रादिग्रहण का निषेध करने का साहस करना, अविचारितरमणीय है । वस्त्रादिग्रहण प्रतिपादक सूत्रों का अपलाप करने वाले प्रवक्ताओं में नास्तिकमत के उपासकों की तरह मिथ्यात्व प्राप्ति का प्रसंग दुर्निवार है । जैसे नास्तिक मतवाले जैनागम का अपलाप करते हैं वैसे ही दिगम्बर प्रवक्ता भी वस्त्रग्रहण प्रतिपादक जैनागमों का अपलाप करके अपनी ही हानि कर रहा है ।

उपरोक्त समग्र चर्चा का निष्कर्ष यह है कि वस्त्रपात्रादि उपकरण के धारक श्वेताम्बर यति निःसंदेह मोक्षफलप्रापक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रात्मक रत्नत्रयी से विभूषित होते हैं, क्योंकि वे भगवदुपदिष्ट अखंड पाँच महाव्रतों से सम्पन्न हैं, जैसे गौतमस्वामी आदि गणधर महर्षि । उपसंहार करते हुए और स्त्रीमुक्ति का निर्देश करते हुए व्याख्याकार कहते हैं कि धर्मोपकरण के धारक महाव्रतों के पालक निर्ग्रन्थ होते हैं अत एव महाव्रतधारी साध्वियों को भी मोक्षप्राप्ति में कोई बाधा नहीं है ।

❖ स्त्रीमुक्ति के अधिकार में दिगम्बरमत प्रतिक्षेप ❖

'स्त्रियों की मुक्ति' यह सुन कर दिगम्बर को क्यों पीडा होती है पता नहीं - वह गर्जना करने लग जाता है - स्त्रियों की मुक्ति कभी नहीं होती क्योंकि उस को स्त्री का अवतार मिला है, स्त्री के अवतार में जैसे चौदह पूर्व-दृष्टिवाद का ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता । दिगम्बर की पीडा के अपहरण के लिये अब व्याख्याकार कहते हैं कि यदि 'सभी स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती' इतना ही उसे सिद्ध करना हो तो सिद्धसाधन (आयासमात्र) है क्योंकि सभी स्त्रियों में अभव्य स्त्री भी समाविष्ट ही हैं । यदि सभी भव्य स्त्रियों की भी मुक्ति का निषेध साध्य हो तो यहाँ भी सिद्धसाधन (आयासमात्र) है क्योंकि हम भी नहीं मानते कि समस्त

सकलसावद्योगनिवृत्तिरूपा चित्तपरिणतिः स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धा स्वात्मनि, अन्यैरनुमानादवसीयते; ननु सा स्त्रियां तथैव किं नावसीयते येन तत्र तस्याः स्वाग्रहावेशवशादभावः प्रतिपाद्यते ?!

अथ तासां भगवता नैर्ग्रन्थस्याऽनभिधानाद् न तत्प्राप्तिः। असदेतत्, तासां तस्य भगवता 'णो कप्पइ णिगंथस्स णिगंथीए वा अभिन्नतालपलम्बे पडिगाहित्तए' (बृहत्कल्प० उ०१ सू०१) इत्याद्यागमेन बहुशः प्रतिपादनात्, अयोग्यायाश्च प्रब्रज्याप्रतिपत्तिप्रतिषेधस्य 'अद्वारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु' () इत्याद्यागमेन विधानाच्च। विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञापरत्वाच्च न तासां भगवत्प्रतिपादितनैर्ग्रन्थनिमित्ताऽविकलचारित्रप्राप्त्यनुपपत्तिः। अथ तथाभूतचारित्रवत्त्वेऽपि न तासां तद्भाक्त्वमिति साध्यार्थः तथाप्यनुमानबाधितत्वं पक्षस्य दोषः। तथाहि — यदविकलकारणं तदवश्यमुत्पत्तिम् यथाऽन्त्यावस्था-

भव्यों की मुक्ति होगी। शास्त्रवचन है जिस का भावार्थ यह है कि 'अनंत ऐसे भी भव्य हैं जो सिद्धिमाग को प्राप्त नहीं कर पायेंगे।' इस वचनप्रमाण से मान सकते हैं कि सभी भव्य स्त्रियों की मुक्ति असम्भव है। यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका हो ऐसी स्त्रियों के लिये भी मुक्ति का निषेध अभिप्रेत हो तो यहाँ भी सिद्धसाधन (आयासमात्र) है। कारण, सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद खो बैठनेवाली किसी भी मिथ्यात्वी स्त्री की मुक्ति हमारे मत में भी नहीं होती।

यदि सम्यग्दर्शन का त्याग न करने वाली स्त्रियों की मुक्ति का निषेध अभिप्रेत हो - तो यह भी हमें मान्य होने से साधनप्रयास निरर्थक है क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर भी जिन्होंने अखंड चारित्र को प्राप्त नहीं किया उन स्त्रियों की मुक्ति न होना, हमें भी मान्य है। अब यदि स्त्रियों को सर्वथा अखंडचारित्रप्राप्ति का ही दिग्म्बर की ओर से निषेध कर दिया जाय तो यहाँ प्रमाणप्रश्न खड़ा होगा। किस प्रमाण के आधार पर वे स्त्री को संयमप्राप्ति का निषेध करते हैं ? यदि 'स्त्रीत्व' हेतु से स्त्रियों में संयम का निषेध किया जाय तो 'पुरुषत्व' हेतु से पुरुष को भी संयम का निषेध किया जा सकेगा। यदि दिग्म्बर कहता है कि 'पुरुषों को अपनी आत्मा में स्वकीय प्रत्यक्ष संवेदन से सर्वसावद्योगनिवृत्तिगर्भित चित्तपरिणाम अनुभवसिद्ध होता है, एवं दूसरे लोगों को सद्हेतु से दूसरे में सर्वविरतिपरिणाम का अनुमान होता है' - तो यहाँ पक्षपात को छोड़ कर यह भी क्यों नहीं कहते कि स्त्रियों को भी स्व-आत्मा में सर्वविरतिपरिणाम स्वसंवेदनसिद्ध है और सद्हेतु के द्वारा दूसरे लोग उन में उस का अनुमान कर सकते हैं। ऐसा कहने के बदले दिग्म्बर लोग अपने आग्रह के वश हो कर स्त्रियों में सर्वविरति के अभाव की घोषणा क्यों कर देते हैं ?!

✽ महिलाओं में निर्ग्रन्थता का सद्भाव आगमसिद्ध ✽

यदि भगवान ने महिलाओं में निर्ग्रन्थता की सत्ता का निरूपण नहीं किया इसलिये स्त्रियों में निर्ग्रन्थता की सत्ता न होने का सिद्ध होता है - ऐसा कहा जाय तो वह गलत है क्योंकि भगवान ने बृहत्कल्पसूत्र आदि आगम में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी दोनों को अखंड तालप्रलम्ब (फल-सब्जी आदि) ग्रहण करने का स्पष्ट निषेध किया है - यहाँ निर्ग्रन्थी शब्द से ही महिला में निर्ग्रन्थता का प्रतिपादन सिद्ध हो जाता है। तथा, १८ प्रकार के पुरुषों को एवं २० प्रकार की महिलाओं को चारित्रग्रहण के लिये अयोग्य घोषित किया है और उन्हें चारित्र के स्वीकार का निषेध किया है - उसी आगम से यह फलित हो जाता है कि शेष प्रकार वाले स्त्री-पुरुष प्रव्राजन के योग्य है। कारण, व्यक्तिविशेष के लिये किया गया निषेध, तदितर शेष व्यक्तियों के लिये विधानफलक होता है, जैसे कि कहा जाय कि 'दिग्म्बर का मोक्ष नहीं होता' तो उस से यह फलित होता है कि 'दिग्म्बर से भिन्न श्वेताम्बरआदि का मोक्ष होता है।' तात्पर्य यह है कि बृहत्कल्पसूत्र

प्राप्तबीजादिसामग्रीकोऽङ्कुरः, अविकलकारणश्च तस्यामवस्थायां सीमन्तिनीमुक्त्याविर्भावः इति कथं न पक्षस्याऽनुमानबाधा ?

अथ स्त्रीवेदपरिक्षयाभावात् नाऽविकलचारित्रप्राप्तिस्तासामिति न मुक्तिभाक्त्वम्, तर्हि पुरुषस्याऽपि पुरुषवेदाऽपरिक्षयात् नाऽविकलचारित्रप्राप्तिरिति न मुक्तिप्राप्तिर्भवेत्। अथ तत्परिक्षये शैलेश्य-वस्थाभाविचारित्रप्राप्तिमतः पुरुषस्य मुक्तिप्राप्तिर्न प्राक् - तर्हि सीमन्तिन्या अपि एवं मुक्तिप्राप्तौ न कश्चिद् दोषः सम्भाव्यते। अथाऽस्याः स्त्रीवेदपरिक्षयसामर्थ्याननुपत्तेर्नायं दोषः - ननु तत्परि-क्षयसामर्थ्याभावस्तस्याः कुतः सिद्धः ? 'आगमात्' इति चेत् ? न, तस्य तथाभूतस्य द्वादशाङ्ग्या-मनुपलब्धेः। 'तत्परिक्षयसामर्थ्यप्रतिपादकस्यापि तस्यानुपलब्धिरिति चेत् ? न, 'सव्वथोवा तित्थयरिसिद्धा थियरितित्थे अतित्थयरिसिद्धा असंखेज्जगुणा' () इत्यादिसिद्धप्राभृतागमस्यानेकस्य सामर्थ्यवृत्त्या सीमन्तिनीनां स्त्रीवेदपरिक्षयसामर्थ्यप्रतिपादकस्योपलम्भात्। न हि सर्वकर्माणीकनायकरूपमोहनीय-

आदि आगमों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भगवान के कहे हुए निर्ग्रन्थता के मूलभूत अखंड चारित्र की प्राप्ति स्त्रियों को अलम्ब्य नहीं है।

यदि ऐसा अनुमानप्रयोग किया जाय कि - 'अखंड चारित्रवती होने पर भी स्त्रियाँ मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती' - तो यह अनुमान प्रति-अनुमान से बाधित होने का दोष अनिवार्य है। प्रति-अनुमान : जिस के कारण सम्पूर्ण मिल जाते हैं वह कार्य बे-रोकटोक उत्पन्न होता ही है, जैसे बीजादि सामग्री सम्पूर्ण चरम अवस्थाप्राप्त हो जाय तो अंकुरात्मक कार्य उत्पन्न होता ही है। अखंडचारित्रवती को स्त्री अवतार में मुक्ति के आविर्भाव की सामग्री परिपूर्ण होती है अतः स्त्रियाँ मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं।

✽ सिद्धप्राभृत आदि आगमों में स्त्रीमुक्ति विधान ✽

दिगम्बर :- स्त्रियों के स्त्रीवेद का क्षय नहीं होता, अतः उन्हें अखंड चारित्र की प्राप्ति शक्य न होने से मुक्ति प्राप्ति शक्य न होने से मुक्ति प्राप्ति की तो बात ही कहाँ ?!

यथार्थवादी :- ऐसी मौखिक काल्पनिक बात के सामने ऐसी भी कल्पना शक्य है कि पुरुष के पुरुषवेद का क्षय नहीं होता, अतः उन्हें भी अखंड चारित्र प्राप्त न होने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

दिगम्बर :- पुरुषवेद का क्षय न होने तक पुरुष की मुक्ति भले ही न हो किन्तु पुरुषवेद का क्षय होने के बाद शैलेशी अवस्था में अखंड चारित्र (यथाख्यातसंज्ञक चारित्र) प्राप्ति के बाद मोक्ष जरूर प्राप्त होता है।

यथार्थवादी :- ठीक है, इसी तरह स्त्रीवेद का क्षय हो जाने पर स्त्री को भी शैलेशी अवस्था में अखंड चारित्र प्राप्ति द्वारा बाद में मोक्ष हो सकता है - इस में कोई दोष नहीं है।

दिगम्बर :- स्त्री में यह सामर्थ्य नहीं होता कि यह स्त्रीवेद का क्षय कर सके, अतः उन्हें मुक्तिप्राप्ति के दोष की सम्भावना भी नहीं है।

यथार्थवादी :- कैसे आपने यह सिद्ध कर लिया कि स्त्रियों में स्त्रीवेदविनाश का सामर्थ्य नहीं होता ? आगम से तो यह सिद्ध नहीं हो सकता। समग्र द्वादशांगी आगम में कोई भी ऐसा सूत्र नहीं है जो स्त्री में स्त्रीवेदविनाशसामर्थ्य का निषेध करता हो।

दिगम्बर :- ऐसा कोई सूत्र भी नहीं है कि जिस में स्त्रीवेदक्षय के सामर्थ्य का विधान हो।

यथार्थवादी :- यह कथन गलत है, 'सिद्धप्राभृत' आदि अनेक आगमों में 'सव्वथोवा०' इत्यादि सूत्रों

कर्माङ्गभूतस्त्रीवेदपरिक्षयमन्तरेण तासां मुक्तिप्राप्तिरिति मुक्तिसद्भावावेदकमेव वचस्तासां सामर्थ्यविदकं सिद्धम् ।

अथ स्त्रीत्वादेव न तासां तत्परिक्षयसामर्थ्यम् । न, स्त्रीत्वस्य तत्परिक्षयसामर्थ्येन विरोधाऽसिद्धेः । न ह्यविकलकारणस्य तत्परिक्षयसामर्थ्यस्य स्त्रीत्वसद्भावादभावः क्वचिदपि निश्चितो येन अग्नि-शीतयोरिव सहानवस्थानविरोधस्तयोः सिद्धो भवेत् । नापि भावाभावयोरिवानयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपता अवगता येन परस्परपरिहारस्थितलक्षणविरोधसिद्धिर्भवेत् । न चाऽविरुद्धविधिरन्यस्याभावावेदकः अतिप्रसङ्गात् । तन्न स्त्रीत्वादपि तासां तत्परिक्षयसामर्थ्यानुपपत्तिसिद्धिः । प्रत्यक्षस्य तु इन्द्रियजस्यातीन्द्रियपदार्थ-भावाभावविवेचनेऽनधिकार एवेति नाऽतोऽपि तत्परिक्षयसामर्थ्यानुपपत्तिसिद्धिस्तासाम् । अतोऽनेकदोषदुष्ट-त्वान्न प्रकृतपक्षः साधनमर्हति ।

‘स्त्रीत्वात्’ इति हेतुरपि यदि ‘उदितस्त्रीवेदत्वात्’ इत्युपात्तस्तदाऽसिद्धः मुक्तिप्राप्तिप्राक्तनसमयादिषु

से अल्पबहुत्वविचारमें कहा गया है कि स्त्रीतीर्थकर सिद्ध कम से कम होते हैं। स्त्रीतीर्थकर के तीर्थ में अतीर्थकरी (= तीर्थ स्थापना न करने वाली महिला) हो कर सिद्ध होने वाली महिलाएँ तीर्थकरी की संख्या से असंख्यगुण होती हैं। ऐसे अनेक आगमों में स्त्रीसिद्ध का निर्देश यह अर्थापत्ति से सिद्ध करता है कि स्त्रियों में स्त्रीवेद के क्षय का सामर्थ्य अक्षुण्ण होता है। समस्त कर्मसेना में नायक है मोहनीय कर्म, उस का एक भेद है स्त्रीवेद कर्म, उस के क्षय के विना मुक्ति प्राप्त करने वाले स्त्रीसिद्ध का सम्भव नहीं है अतः स्त्रीसिद्ध को मुक्ति की प्राप्ति के सूचक आगमवचन से अर्थतः यह भी सूचित हो जाता है कि स्त्रियों में स्त्रीवेद विनाश का सामर्थ्य अवश्य होता है।

✽ स्त्रीत्वहेतुक अनुमान में दोषपरम्परा ✽

दिगम्बर :- स्त्रियों में स्त्रीवेदविनाशसामर्थ्य मूल से ही नहीं होता यह हमारी प्रतिज्ञा है। हेतु है स्त्रीत्व, ‘स्त्री होना’ यही हेतु पर्याप्त है।

यथार्थवादी :- स्त्रीत्व और स्त्रीवेदविनाशसामर्थ्य में कोई प्रतिष्ठित विरोध नहीं है अतः हेतु साध्यसाधक नहीं हो सकता। किसी भी स्थल में ऐसा निर्णय नहीं हो सकता कि मोक्षप्राप्ति के परिपूर्ण कारण के होते हुए भी स्त्रियों में सिर्फ एकमात्र स्त्रीत्व की बद्दौलत स्त्रीवेदविनाश की क्षमता नहीं होती। यदि ऐसा होता तो ठंडी और अग्नि की तरह उन में सहानवस्थान संज्ञक विरोध सिद्ध होता। भाव और अभाव जैसे परस्पर-व्यवच्छेदात्मक स्वरूप होता है वैसा विरोध भी यहाँ स्त्रीत्व और स्त्रीवेदविनाशसामर्थ्य में नहीं है क्योंकि ये दो परस्पर व्यवच्छेदक नहीं हैं। यदि एक पदार्थ दूसरे भाव का व्यवच्छेदकरूप से विरुद्ध हो तो उस एक के विधान से दूसरे की निवृत्ति सिद्ध की जा सकती, किन्तु जहाँ विरोध ही नहीं है वहाँ एक के विधान से दूसरे की व्यावृत्ति का निवेदन शक्य नहीं है। सारांश, स्त्रीत्व होने पर स्त्रीवेदविनाश के सामर्थ्य की दुर्घटता सिद्ध नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष से तो यह सिद्ध हो नहीं सकता कि स्त्री में स्त्रीवेदविनाशक्षमता दुर्घट है, क्योंकि स्त्रीवेदादि पदार्थ अतीन्द्रिय होने से, अतीन्द्रिय भाव और अभाव के परिच्छेद में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष खुद ही पंगु है, उस का वहाँ अधिकार ही नहीं है। दिगम्बर की यह स्त्रीमुक्तिविरोधि प्रतिज्ञा ऐसे कई दोषों से दुष्ट है इसलिये वह सिद्धिकोटि पर पहुँचने के काबिल नहीं है।

दिगम्बरने यहाँ जो ‘स्त्रीत्व’ को हेतु किया है उस का अभिप्राय यदि यह हो कि ‘उदितस्त्रीवेदत्व’ अर्थात् ‘स्त्रीवेद का उदय होने से’ – तो हेतु ही असिद्ध बन जायेगा, क्योंकि मोक्षप्राप्ति के निकट पूर्वकाल में स्त्रियों

स्त्रीवेदोदस्य तासामसम्भवात्, अनिवृत्तिगुणस्थाने एव तस्य परिक्षयात् । 'परिक्षीणस्त्रीवेदत्वात्' इति च हेतुर्विपर्ययव्याप्तत्वाद् विरुद्धः । न च 'स्त्रीत्वात्' इत्यस्य 'परिक्षीणस्त्रीवेदत्वात्' इत्ययमर्थः, अत्रार्थे प्रकृतशब्दस्याऽरूढत्वात् । अथ 'स्त्र्याकारयोगित्वात्' 'स्त्रीत्वात्' इति हेत्वर्थस्तदा विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् अनैकान्तिको हेतुः ।

चतुर्दशपूर्वसंवित्सम्बन्धित्वाभावोऽपि तासां कुतः सिद्धः येन साध्यविकलो दृष्टान्तो न स्यात् ? 'सर्वज्ञप्रणीतागमात्' इति चेत् ? तत एव मुक्तिभाक्त्वस्यापि तासां सिद्धिरस्तु । न ह्येकवाक्यतया व्यवस्थितः दृष्टेष्टादिषु बाधामननुभवन् आगमः क्वचित् प्रमाणं क्वचिन्नेत्यभ्युपगन्तुं प्रेक्षापूर्वकारिणा शक्यः । अथ विवादगोचरापन्नाऽबला अशेषकर्मक्षयनिबन्धनाध्यवसायविकला, अविद्यमानाधःसप्तमनरकप्राप्त्यविकलकारणकर्मबीजभूताध्यवसानत्वात् । यस्त्वशेषकर्मपरिक्षयनिबन्धनाध्यवसायविकलो न भवति नासावविद्यमानाधःसप्तमनरकप्राप्त्यविकलकारणकर्मबीजभूताध्यवसानः, यथोभयसम्प्रतिपत्तिविषयः

को भी स्त्रीवेद के उदय का सम्भव नहीं होता क्योंकि अनिवृत्तिबादरमोहसंज्ञक नवमें गुणस्थान में स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद ही १३ वें और १४ वें गुणस्थानक को प्राप्त किया जा सकता है । यदि 'स्त्रीत्व' हेतु का यह अभिप्राय हो कि 'स्त्रीवेद क्षीण हो जाने से' — तो वह हेतु विपर्ययव्याप्त होने से विरुद्ध हो जायेगा । स्त्रीवेदविनाशसामर्थ्याभाव का विरोधी है स्त्रीवेदविनाशसामर्थ्य और स्त्रीवेदक्षय उस का कार्य होने से उस का व्याप्य है — इस प्रकार जो विपर्यय का व्याप्य है वह तो उलटा साध्य के अभाव को यानी सामर्थ्य को सिद्ध करता है, इसी लिये विरुद्ध है । दूसरी बात यह है कि 'स्त्रीत्व' शब्द का 'स्त्रीवेदपरिक्षय' अर्थ दिखाना यह भी अनुचित है क्योंकि स्त्रीवेद की क्षीणता के अर्थ में प्रस्तुत 'स्त्रीत्व' शब्द कहीं भी रूढ नहीं है । यदि कहा जाय कि — 'स्त्रीत्व' हेतु का मतलब है 'स्त्रीआकार का योग होना' — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि हेतु यदि विपक्ष से व्यावृत्त है या नहीं ऐसा संशय हो तब उस संशय का निवर्तक उचित तर्क होना चाहिये, यदि वह नहीं हो तो हेतु की विपक्षव्यावृत्ति संदिग्ध हो जाने से वह अनैकान्तिकदोषग्रस्त बन जायेगा । प्रस्तुत में, यदि स्त्री-आकार का योग विपक्षभूत स्त्रीवेदविनाशसक्षम व्यक्ति में भी रहे तो कौन बाधक है ऐसी शंका की जाय तो उस का कोई समाधान नहीं है, स्त्री-आकार का योग भी हो और उस में स्त्रीवेदविनाशशक्ति भी हो — उस में कोई बाधकप्रमाण न होने से हेतु की विपक्षव्यावृत्ति संदिग्ध हो जाती है, अतः स्त्रीत्व हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा ।

✽ चौदहपूर्वज्ञानाभावसाधक आगम से मुक्तिसिद्धि ✽

दिगम्बरने जो स्त्रीत्वहेतुक प्राथमिक अनुमान में, स्त्री में चउदहपूर्व के ज्ञान के अभाव को दृष्टान्त बनाया है, यहाँ प्रश्न है कि चउदहपूर्वज्ञानाभाव स्त्री में किस प्रमाण से सिद्ध है ? जब कोई प्रमाण ही नहीं है तब दृष्टान्त क्यों साध्यशून्य न कहा जाय ?

(यद्यपि यहाँ चउदहपूर्वज्ञानाभावविशिष्ट स्त्री को उदाहरण करने पर यह भी प्रश्न है कि चउदहपूर्व का ज्ञान न रहे तो मुक्ति नहीं होती ऐसा भी किस प्रमाण से सिद्ध है ? तीर्थकरों को चउदहपूर्व का पाठ नहीं होता किन्तु मुक्ति होती है । फिर भी अब इस बात को स्थगित रखा है ।)

यदि सर्वज्ञभाषित आगम के आधार पर स्त्री को चउदहपूर्वज्ञान न होने में विश्वास किया जाता है तो उसी आगम के द्वारा स्त्रियों को मुक्तिप्राप्ति की भी सिद्धि होती है, उस के ऊपर अविश्वास क्यों ? सर्वज्ञ-भाषित सम्पूर्ण आगम एक विस्तृत महावाक्यस्वरूप है, उस के पहले सूत्र से अन्तिमसूत्र पर्यन्त एकवाक्यता होती है,

पुरुष इति वैधर्म्यदृष्टान्तः। असदेतत् — यतोऽत्रापि प्रयोगे साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धाभावाच्चातो हेतोर्विवक्षितसाध्यसिद्धिः। तथाहि — यथोक्ताध्यवसानं निवर्तमानमबलातोऽशेषकर्मक्षयाध्यवसायनिवर्तकं कारणं वा (भवद्) भवेत् व्यापकं वा ? अन्यस्य निवृत्तावपि अपरनिवृत्तेरवश्यंभावाभावात् अन्यथाऽश्वनिवृत्तावपि गवादेर्नियमेन निवृत्तिप्रसक्तेः। आह च न्यायवादी (प्रमाणवार्तिके ३-२३)

तस्मात्तन्मात्रसम्बन्धः स्वभावो भावमेव वा। निवर्तयेत् कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः॥ इति।

तत्र न तावत् कारणं यथोक्ताध्यवसानमशेषकर्मक्षयाध्यवसानस्य येन तन्निवृत्त्या तस्यापि निवृत्तिः स्यात्। कारणत्वे वा यत्राशेषकर्मक्षयाध्यवसानं योगिनि सम्भवति तत्राधःसप्तमनरकपृथिवीप्राप्त्यवध्य-कारणस्य बीजभूताध्यवसानसद्भावात् कार्यस्य कारणाव्यभिचारित्वात् तस्य नरकप्राप्तिसद्भाव इति किसी भी दृष्ट या इष्ट वस्तु के बारे में सर्वज्ञागम बाधित नहीं देखा जाता। ऐसे आप्तपुरुष भाषित आगम के किसी एक अंश को प्रमाण मानना और अन्य अंश को अप्रमाण करना यह बुद्धिमानों के लिये उचित नहीं है।

❀ कर्मक्षयसाधकाध्यवसाय साधक अनुमान की सदोषता ❀

अब दिगम्बर नया अनुमान प्रस्तुत करता है — विवादास्पद स्त्री (जिस की मुक्ति के बारे में विवाद चल रहा है ऐसी स्त्री) सकलकर्मों के क्षय-सम्पादक अध्यवसाय से शून्य होती है, क्योंकि उस में नीचे सातवीं नरक में ले चले ऐसे परिपूर्ण कारणभूत कर्मों का जनक अध्यवसाय नहीं होता। यहाँ व्यतिरेकव्याप्तिसहित यह उदाहरण है कि जो सकलकर्मक्षयकारक अध्यवसाय से शून्य नहीं होता वही नीचे सातवीं नरक में ले चले ऐसे परिपूर्णकारणभूत कर्मों के बीजभूत अध्यवसाय से शून्य नहीं होता। उदा० जैसे कोई प्रसन्नचन्द्रराजर्षि जैसा उभयमान्य पुरुष जो कि सकलकर्मक्षयकारक अध्यवसाय से शून्य नहीं थे तो सातवीं नरक प्रयोजककर्म-जनकअध्यवसाय से विकल भी नहीं थे। इस प्रकार यहाँ वैधर्म्यदृष्टान्त प्रस्तुत है।

यथार्थवादी कहते हैं कि दिगम्बर का यह अनुमान गलत है। कारण, इस प्रयोग में भी साध्य-साधन के बीच व्याप्तिरूप प्रतिबन्ध न होने से, उक्त हेतु से भी स्त्री में मुक्ति का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता।

समीक्षा :- सकलकर्मक्षयकारक अध्यवसाय को अपनी निवृत्ति के द्वारा निवृत्त करनेवाला सातवींनरकप्रयोजक-कर्मजनकअध्यवसाय पूर्वोक्त अध्यवसाय का कारण है या व्यापक है ? जो कारण या व्यापक होता है वही अपनी निवृत्ति के द्वारा अपने कार्य या व्याप्य का निवर्तक हो सकता है, दूसरे किसी की निवृत्ति में अन्य की निवृत्ति अवश्य हो ऐसा कभी नहीं होता। अन्यथा अश्व, गो का कारण या व्यापक न होने पर भी स्वनिवृत्ति के द्वारा गो का निवर्तक हो बैठने का अनिष्ट होगा। न्यायवादी धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है कि — '(अदर्शनमात्र से व्यतिरेकसिद्धि नहीं होती) अत एव तन्मात्र यानी साधन से सम्बद्ध (व्यापकीभूत) वृक्षात्मक स्वभाव ही निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्यभूत (सीसम) भाव का निवर्तन करता है। अथवा कारण अपनी निवृत्ति के द्वारा कार्य का निवर्तन करता है।' इस कथन से यही सिद्ध होता है कि निवर्तकभाव निवर्त्यभाव का कारण अथवा स्वभावरूप में व्यापक होना चाहिये, अन्यथा वह स्व की निवृत्ति के द्वारा अन्य का निवर्तक नहीं बन सकता।

❀ सप्तमनरकप्रापकअध्यवसाय न कारण है, न व्यापक ❀

अधः सप्तमनरकगमनप्रयोजक कर्मजनक अध्यवसाय मुक्तिसाधक सकलकर्मक्षयकारक अध्यवसाय का कारण है या व्यापक ? इन दो में से एक हो तब तो वह अपनी निवृत्ति से मुक्तिअध्यवसाय का निवर्तक कहा जा सकता है। यदि उसे कारण माना जाय तो फलित यह होगा कि जिस योगि-आत्मा में सकलकर्मक्षय का

अनिष्टापत्तिः। न च योगिन्यशेषकर्मक्षयनिबन्धनमध्यवसानं जनयदपि नरकप्राप्तिनिबन्धनकर्मबीज-
भूतमध्यवसानं नरकप्राप्तिलक्षणं स्वकार्यं न जनयतीति वाच्यम् अविकलकारणस्यावश्यंतया स्वकार्य-
निर्वर्तकत्वात् अन्यथाऽविकलकारणत्वायोगात्। न च यदेव तथाभूतकर्मनिर्वर्तनसमर्थं तदेव तत्क्षयहेत्व-
ध्यवसाननिबन्धनं भवति, भावाभावयोरेकस्मिन्नेकदा विरोधात्, तन्निर्वर्तकस्य हेतोः स्वभावान्तरमप्राप्नु-
वतस्तन्निर्वर्तकत्वविरोधात्। न हि यदेव यदैवाङ्गुलीद्रव्यस्य ऋजुत्वोत्पादकम् तदेव तदैव तस्य विनाशकं
सम्भवति एकनिमित्तयोरेकदा भावाभावयोर्विरोधात्। नापि तत् तस्य व्यापकम् येन ततस्तन्निवर्त-
मानं तदप्यादाय निवर्तेत। व्यापकत्वे वा यत्राशेषकर्मक्षयनिबन्धनाध्यवसायसद्भावस्तत्र व्यापकस्यावश्यं-
भावित्वात् अन्यथा तस्य तद्व्यापकत्वाऽयोगात् - योगिनस्तदध्यवसायवतोऽधः सप्तमनरकप्राप्तिप्रसङ्गोऽ-
निष्टः तदवस्थ एव स्यात्।

न च यत्र क्लिष्टतराध्यवसायसद्भावस्तत्रातिशुभतराध्यवसायेन भाव्यमिति प्रतिबन्धसम्भवः तन्दुल-
मत्स्येन व्यभिचारात्। न च मनुष्यजातियोगित्वे सति अव्यभिचारः, उत्तमसंहननेन चारित्रप्राप्ति-

अध्यवसाय होगा उस योगी में उस का कारणभूत अधः सप्तमनरकपृथ्वीप्राप्ति के अवन्ध्यकारणरूप बीजात्मक अशुभ
अध्यवसाय भी अवश्य होगा; उपरांत, कार्य अपने अवन्ध्य कारण का व्यभिचारि नहीं होता अतः उस योगी
को अवश्यमेव तथाविध अशुभ अध्यवसाय के फलस्वरूप सप्तमनरक की प्राप्ति हो कर रहेगी। (वह योगी मोक्ष
में जायेगा या सप्तम नरक में यह प्रश्न खड़ा होगा!) ऐसा नहीं कहना कि उस योगी में वह अशुभ अध्यवसाय
मुक्तिसाधक अध्यवसाय का कारण होने से मुक्ति का सर्जन करेगा, नरकप्राप्तिरूप अपना कार्य नहीं करायेंगा।
- ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि नरक में ले जानेवाले कर्मों के बीजभूत अध्यवसाय नरकप्राप्ति का परिपूर्ण कारण
होने से अपने कार्यस्वरूप नरकप्राप्ति को अवश्य करावेगा ही। अन्यथा, उसे नरक का परिपूर्ण कारण ही नहीं
कह सकेंगे। यह भी विचित्र कथा है कि जो सप्तमनरकप्रापक कर्मों के निर्माण में समर्थ अध्यवसाय है वह उन्हीं
कर्मों के विनाशकारक अध्यवसाय का भी हेतु बन सके। ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। एक काल में एक
ही वस्तु भाव और उस के विरोधी अभाव दोनों का सर्जन करे यह विरोधग्रस्त होने से सम्भव नहीं है। जब
तक नरकप्रापक अध्यवसाय अपने स्वभाव में परिवर्तन कर के कर्मक्षयकारकअध्यवसायजनक स्वभाव को आत्मसात्
न कर ले तब तक उसी एक अध्यवसाय से सप्तमनरकयोग्य कर्मों का सर्जन एवं उन कर्मों के विसर्जन करानेवाले
अध्यवसाय का भी सर्जन करे यह सम्भव नहीं है। उदा० जो कारण जिस समय में अंगुलीद्रव्य में सरलता
का आधान करनेवाला है वही कारण उस सरलता का उसी काल में विनाशक हो (या उस विनाशक निमित्त
का भी सर्जक हो) यह कभी नहीं हो सकता। परस्पर विरोधी भाव और अभाव ये दोनों का एक ही काल
में समान निमित्त हो नहीं सकता, क्योंकि विरोध खड़ा होगा।

वह अशुभ अध्यवसाय उस सकल कर्मक्षयकारक अध्यवसाय का व्यापक भी नहीं है जिस से कि नरकप्रापक
अध्यवसाय की निवृत्ति से मुक्तिसाधक अध्यवसाय की निवृत्ति दिखायी जा सके। यदि उसे व्यापक मानेंगे
तो मुक्तिसाधक अध्यवसाय को व्याप्य मानना होगा; व्याप्य होने पर व्यापक अवश्य वहाँ होता है अतः
कर्मक्षयकारक अध्यवसाय वाले योगी पुरुष में सप्तमनरकप्रयोजककर्मजनक अध्यवसाय भी अवश्य रहेगा। यदि
नहीं रहेगा तो उसे व्यापक ही नहीं कहा जायेगा। फलतः उस योगी को सप्तमनरक प्राप्ति का अनिष्ट अनिच्छया
भी प्रसक्त होगा, यह दोष कारणपक्ष की तरह तदवस्थ ही रहेगा।

कालार्वाक्समयभाविना सर्वपर्याप्तिसम्पन्नेन तथाविधक्लिष्टपरिणामवता पुरुषेण व्यभिचारात् । न च यत्रा-
तिशुभतरः परिणामस्तत्राप्यशुभतरपरिणामेन भाव्यमित्यत्रापि प्रतिबन्धः तथाविधयोगिना व्यभिचारात् ।

किं च, स्त्रीणां सप्तमनरकपृथ्वीप्राप्तिनिबन्धनकर्मबीजाध्यवसायाभावः कुतः प्रतिपन्नः ? 'आप्ता-
गमात्' इति चेत् ? अशेषकर्मशैलवज्राशनिभूतशुभाध्यवसायसद्भावोऽपि तत एवाभ्युपगन्तव्यः । न हि
अतीन्द्रिये एवंविधेऽर्थे अस्मदादेरर्वागृशः आप्तागमाद् ऋतेऽन्यत् प्रमाणमस्ति । न च दृष्टेष्टाविरो-
ध्याप्तवचनमसत्तर्कानुसारिजातिविकल्पैर्बाधामनुभवति तेषां प्राप्ताऽप्राप्तव्यापादकमतंगजविकल्पवदवस्तु-

✽ अतिक्लिष्ट और अतिशुभ परिणामों में व्याप्तिअभाव ✽

ऐसा कोई कानून (व्याप्ति) नहीं है के जिस व्यक्ति में अतिक्लिष्ट अध्यवसाय का स्फुरण हो उसे अतिशुभतर
अध्यवसाय का उदय भी होना चाहिये । तन्दुल मत्स्य बड़े मत्स्य के अक्षिपटल पर बैठा बैठा सोचता है कि
यह बड़ा मत्स्य कैसा मूर्ख है - अपने मुँह में स्वयं जलप्रवाह के बल से आये हुए छोटे छोटे मत्स्यों को
पेट में गिल लेने के बजाय ऐसे ही छोड़ देता है । अगर मैं होता तो सभी का कचूर कर के पेट में
गिल लेता । ऐसा अतिक्रूर सप्तमनरक गमनयोग्यकर्मबन्धजनक रौद्र अध्यवसाय अतिक्लिष्ट होता है किन्तु उसे
मुक्तिप्रापक कर्मक्षयकारक अध्यवसाय कभी नहीं होता, अतः यहाँ वैसा कानून व्यर्थ सिद्ध होता है । यदि ऐसा
कहा जाय कि - मनुष्यजाति में जन्म ले कर जिसे अतिक्लिष्ट अध्यवसाय होता है उसे अतिशुभाध्यवसाय
भी अवश्य होता है ऐसा कानून व्यर्थ नहीं होगा । - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भविष्य में चारित्र लेने
वाला हो ऐसा पुरुष, उत्तम प्रथम संघयणबल से युक्त हो, सर्वपर्याप्ति से सम्पन्न हो, अतिक्लिष्ट अध्यवसायवाला
हो तो दृष्टप्रहारी आदि की तरह उस के पापाचार से भरपूर काल में अतिशुभ अध्यवसाय नहीं होता, अतः
उक्त कानून की व्यर्थता तदवस्थ है ।

तथा, जिस व्यक्ति में अतिशुभतर अध्यवसाय परिणाम हो उस व्यक्ति को अशुभतर परिणाम होता ही
है - ऐसी व्याप्ति भी नहीं रच सकते, क्योंकि अनुत्तरदेवलोक से आये हुए तद्भवमुक्तिगामी चारित्रसम्पन्न
भव्य योगीपुरुष में जब क्षपकश्रेणिसम्पादक अतिशुभ अध्यवसाय जाग्रत होता है तब उस व्यक्ति को क्लिष्टाध्यवसाय
नहीं होता अतः वैसी व्याप्ति बना लेना भी व्यर्थ है ।

✽ आगमवचन में अनुमान बाध का असंभव ✽

यह भी प्रश्न है - स्त्रियों को सप्तमनरकपृथ्वी में ले जाने वाले कर्मों के बीजभूत क्लिष्ट अध्यवसाय
नहीं होता यह भी किस प्रमाण से सिद्ध है ? यदि आप्तपुरुषविरचित आगमप्रमाण से, तो फिर उसी प्रमाण
से सकलकर्मों के पहाड को चूरा करने में समर्थ वज्राशनिपाततुल्य शुभाध्यवसाय भी स्त्रियों में मान लेना चाहिये ।
स्पष्ट बात है कि अध्यवसाय जैसी अतीन्द्रिय वस्तु के विषय में अपने जैसे अल्पदर्शी लोगों में आप्त आगम
के अलावा और कोई प्रमाण शरण्य नहीं है । चाहे कितने भी कुतर्कपथगामी असत् विकल्पों की प्रपञ्चजाल
खड़ी की जाय, लेकिन दृष्टाविरुद्ध और इष्टाविरुद्ध ऐसे आप्तवचन को कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते । कुतर्कानुसारि
विकल्प कभी वस्तुस्पर्शी नहीं होते, सिर्फ गज के बारे में किये गये प्राप्तघातक-अप्राप्तघातक विकल्पयुगल की
तरह निरर्थक होते हैं ।

एक पंडितजी रास्ते से गुजर रहे थे तो पीछे मदमस्त तूफानी हाथी दौड़ता आ रहा था, किसी ने
पंडितजी को कहा, बाजू पर चले जाओ नहीं तो वह तूफानी हाथी आप को मार देगा - तब पंडितजी
अपने कुतर्कस्वभाव का प्रदर्शन करते हुए विकल्प करने लगे - वह तूफानी हाथी प्राप्त (संयुक्त) को मारेगा

संस्पर्शित्वात्। उक्तं च भर्तृहरिणा - (वा० प० १-३८)

‘अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।’

न चात्र वस्तुनि आगमनिरपेक्षमनुमानं प्रवर्तितुमुत्सहते, पक्षधमदिलिङ्गरूपस्य प्रमाणान्तरतः प्रति-पत्तुमशक्तेः, प्रतिपत्तौ वा साध्यस्यापि प्रतिबन्धग्राहिणा प्रमाणेन प्रतिपत्तेर्नैकान्ततोऽतीन्द्रियता भवेत्। आगमानुसारि चानुमानं प्रकृते वस्तुनि संवादकृदेव, न बाधकमिति प्रदर्शितम्। न चाप्तवचनं स्त्रीनिर्वाणप्रतिपादकप्रमाणम्, सप्तमनरकप्राप्तिप्रतिषेधकं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, उभयत्राप्तप्रणीतत्वादेः प्रामाण्य-निबन्धनस्याऽविशेषात्। न चैकमाप्तप्रणीतमेव न भवति, इतरत्रापि अस्य समानत्वात्, पूर्वाप-रोपनिबद्धाशेषदृष्टादृष्टप्रयोजनार्थप्रतिपादकाऽवान्तरवाक्यसमूहात्मकैकमहावाक्यरूपतयाऽर्हदागमस्यैकत्वात्। तथा चान्तरवाक्यानां केषाञ्चिदप्रामाण्ये सर्वस्याप्यागमस्याऽप्रामाण्यप्रसक्तेः अङ्गदुष्टत्वे तदात्मकाङ्गिनोऽपि

या अप्राप्त को ? प्राप्त को मारेगा तो पहले उस फिलहान को ही मार देगा जो उस की पीठ पर सवार है। यदि अप्राप्त को मारेगा तो सारे जनपद के अप्राप्त लोगों को भी मारेगा, फिर मुझे अकेले को ही क्यों मारने का डर दिखाया जाता है ? ऐसे कुतर्कगर्भित विकल्प करनेवाले पंडितजी को क्या कहा जाय ? चार आदमीयों ने उस को गले से पकड कर मुश्किल से बाजू पर किया न होता तो विकल्प करते करते ही वहाँ निर्विकल्प हो जाते सदा के लिये।

भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीय में कहा है -

‘अन्य प्रमाण से असंवेद्य इन्द्रियगोचर पदार्थों को ऋषिसाक्षात्कारस्वरूप नेत्र से जो लोग देख रहे हैं, उन का वचन कभी भी अनुमान से स्वलित नहीं हो सकता।’

✽ अतीन्द्रिय वस्तु में आगमनिरपेक्ष अनुमान गतिहीन ✽

अध्यवसाय जैसी अतीन्द्रिय वस्तु के विषय में स्वतन्त्र आगमनिरपेक्ष अनुमान की गुंजाईश ही नहीं है कि वह प्रवृत्ति कर सके। स्त्रीस्वरूप पक्ष में तथाविध अशुभ अध्यवसाय के अभाव को हेतु करने पर भी उस हेतु में पक्षधर्मतादि रूपों का निश्चय आगमभिन्न प्रमाण से शक्य ही नहीं है। यदि वैसा निश्चय अतीन्द्रिय पदार्थ के बारे में शक्य हो तब अतीन्द्रिय साध्य का निश्चय भी आगमभिन्न व्याप्तिग्राहक प्रमाण से शक्य हो जायेगा, फलतः वैसे साध्य को एकान्ततः ‘अतीन्द्रिय’ नहीं कहा जा सकेगा। फलतः यहाँ आगमसापेक्ष अनुमान ही प्रवृत्त हो सकता है। आगमसापेक्ष अनुमान तो प्रकृत विषय यानी स्त्री की मुक्ति के बारे में संवादी है न कि बाधक यह पहले दिखाया जा चुका है।

यदि कहा जाय - स्त्रीनिर्वाणविधायक आगमस्वरूप आप्तवचन प्रमाणभूत नहीं है, दूसरी ओर स्त्री को सप्तमनरक में गति का प्रतिषेधक सूत्र प्रमाण है - तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वचन में प्रामाण्य का प्रयोजक है आप्तभाषितत्व, वह दोनों ही स्त्रीमुक्तिविधायक एवं स्त्रीसप्तमनरकगतिनिवारक सूत्रों में विना पक्षपात से मौजूद है, अतः एक को अप्रमाण, दूसरे को प्रमाण मानना गैरवाजीब है। ‘उन में से नरकगतिनिषेधक सूत्र आप्तभाषित है किन्तु स्त्रीमुक्तिविधायक सूत्र आप्तभाषित नहीं है ऐसा कहना भी गलत है। कारण, वीतरागसर्वज्ञभाषित आगम एक ऐसा महावाक्य है जिस में दृष्ट-अदृष्ट प्रयोजन भूत अर्थों के प्रतिपादक, अनेक पूर्वापरभाव से स्थापित अवान्तरवाक्यों का समूह अभेदभावापन्न है अत एव वह अलग अलग नहीं किन्तु एक ही अखंड इकाई है। उन में से यदि किसी एक-दो अवान्तर वाक्यखंडों को अप्रमाण करार देंगे तो उन से अभेदभावापन्न महावाक्यात्मक समुचे आगम में अप्रामाण्य का अनिष्टप्रसंग गले में आ पड़ेगा। जैसा वक्त्र

दृष्टत्वाऽऽपत्तेः । न च प्रदर्शितवाक्यात्मकः सर्वज्ञप्रणीतागमत्वेनास्मान् प्रत्यसिद्ध इति वक्तव्यम्, नास्तिक-मीमांसकान् प्रति पुरुषनिर्वाणावेदकस्यापि तत्प्रणीतत्वेन असिद्धेः । या च तान् प्रति तस्य तत्प्रणीतत्वावेदिका युक्तिः सेतरत्रापि समाना पूर्वापरैकवाक्यत्व-दृष्टाऽदृष्टाबाधितार्थत्वादेरविशेषात् ।

अथ स्त्रीणां घातिकर्मक्षयनिमित्ताद्यशुक्लध्यानद्वयस्याऽसम्भवाद् न निर्वाणप्राप्तिः संभविनी । ननु कुतस्तद्द्वयस्य तत्राभावगतिः ? 'पूर्वधरस्यैव तयोः सद्भावात् 'आद्ये पूर्वविदः'' (तत्त्वार्थ० ९-३९) इति वचनप्रामाण्यात्, न च पूर्वधरत्वं तासाम् तदनधिकारित्वादि'ति चेत् ? तर्हि प्राक्तनभवानधीत-पूर्वाणां वर्तमानतीर्थाधिपत्यादीनामपि न तद् भवेत्, तदध्ययनाऽसम्भवात् आद्यशुक्लध्यानद्वयाऽसम्भवतः तन्निमित्तघातिकर्मक्षयसमुद्भूताशेषतत्त्वावबोधस्वभावकेवलज्ञानाभावे न मुक्तिश्रीसंगतिः स्यादित्यनिष्ठा-पत्तिः । अतः शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वातिसूक्ष्मेष्वपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमवीर्यविशेष-प्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावाद् आद्यशुक्लध्यानद्वयप्राप्तेः कैवल्यावाप्तिक्रमेण मुक्त्य-

के एक अंश में दाग लगने पर पूरा वस्त्र मलिन कहा जाता है और धोया जाता है ।

यदि ऐसा कहा जाय — सिद्धप्राभूत आदि के स्त्री-निर्वाण साधक प्रदर्शित सूत्रों को हम सर्वज्ञभाषित मानते ही नहीं — तो बड़ी आपत्ति होगी, क्योंकि नास्तिक लोग एवं मीमांसक आदि पंडितवर्ग पुरुषमुक्तिसूचक सूत्रों को भी सर्वज्ञभाषित अथवा प्रमाणभूत नहीं मानते, तो क्या आप भी उन सूत्रों को अप्रमाण मानेंगे ? 'हम उन के सामने ठोस युक्तियाँ पेश कर के दिखायेंगे कि पुरुषनिर्वाणसूचक शास्त्र प्रमाणभूत है - तो उन्हीं युक्तियों का सदुपयोग करके यह भी दिखाया जा सकता है कि स्त्रीनिर्वाणसूचक सूत्र भी प्रमाण है, क्योंकि पुरुषनिर्वाणसाधक एवं स्त्रीनिर्वाणसाधक सूत्रों में पूर्वापर एकवाक्यता अबाधित है और उन दोनों ही सूत्रों की एकवाक्यता धारण करनेवाला आगम दृष्ट अर्थों के बारे में बाधमुक्त हैं, अतः दोनों सूत्र के प्रामाण्य में कोई भेद नहीं हो सकता ।

✽ पूर्वी का ज्ञान न होने पर भी तीर्थंकर को शुक्लध्यान ✽

दिगम्बर :- शुक्लध्यान का प्रथम और दूसरा भेद घाती कर्मों के क्षय का मुख्य कारण है, स्त्रियों में ये दो भेद सम्भव नहीं है इसलिये उन को मोक्षप्राप्ति का सम्भव नहीं है ।

प्रश्न :- कैसे पता चला कि स्त्रियों में वे दो भेद असम्भव हैं ?

उत्तर :- पूर्वधरों को ही वे होते हैं, तत्त्वार्थसूत्र का वचन प्रमाण है कि 'आद्ये पूर्वविदः' यानी पहले दो भेद सिर्फ पूर्वश्रुतधारीयों को ही सम्भव है । स्त्रियों को पूर्वश्रुत के अभ्यास का अधिकार ही नहीं है यह तो आप भी मानते हैं । पूर्वश्रुत के अभाव में शुक्लध्यान के दो भेदों का भी अभाव अर्थात् सिद्ध हो जाता है ।

यथार्थवादी :- जिन्होंने पूर्वभव में कभी पूर्वश्रुत का अध्ययन नहीं किया ऐसे चरमतीर्थपति श्री महावीर प्रभु आदि को भी शुक्लध्यान के दो भेदों का अयोग फलित हो जायेगा क्योंकि उन्होंने भी इस भव में पूर्वश्रुत का अध्ययन नहीं किया । फलतः उन्हें शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों का सम्भव न होने से तन्मूलक घाती कर्मों का क्षय भी नहीं होगा । नतीजतन, सकलतत्त्वावबोधस्वरूप केवलज्ञान न होने से उन को भी मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये — यह बड़ा अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होगा ।

दिगम्बर :- चरम तीर्थपति आदि को पूर्वश्रुत का अभ्यास नहीं था यह सही है । किन्तु उन को सूक्ष्म भावों के बारे में पूर्वश्रुतधर जैसा ही अतिशायी बोध जरूर था । शास्त्रयोग से अगम्य किन्तु सामर्थ्ययोग से ही गम्य ऐसे सूक्ष्मभावों को अवगत करने के लिये उन के पास विशिष्ट कोटि का क्षयोपशम था, एवं ऐसा अद्भुत वीर्य (सामर्थ्य) था जिस के प्रभाव से सूक्ष्म भावों को जान सके । इस प्रकार पूर्वश्रुतधर की तरह

वासिरिति न दोषः, तदध्ययनमन्तरेणापि विशिष्टक्षयोपशमसमुद्भूतज्ञानात् पूर्ववित्त्वसम्भवात् । — तर्हि निर्ग्रन्थीनामपि एवं द्वितयसम्भवे न कञ्चिद् दोषमुत्पश्यामः । अभ्युपगमनीयं चैतत्, अन्यथा मरुदेवस्वामिनीप्रभृतीनां जन्मान्तरेऽपि अनधीतपूर्वाणां न मुक्तिप्राप्तिर्भवेत् । न चासौ तेषामसिद्धा, सिद्धप्राभृतादिग्रन्थेषु गृहिलिंगसिद्धानां प्रतिपादनात् । न च तेऽप्रमाणम् सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तेषां प्रामाण्यस्य साधितत्वात् ।

अथ मायागारवादिभूयस्त्वादबलानां न मुक्तिप्राप्तिः । न, तदा तासां तद्भूयस्त्वाऽसम्भवात्, प्राक् तु पुरुषाणामपि तत्सम्भवोऽविरुद्धः । अथाल्पसत्त्वाः क्रूराध्यवसायाश्च ता इति न मुक्तिभाजः । न, सत्त्वस्य कार्यगम्यत्वात् तस्य च तासु दर्शनात् अल्पसत्त्वत्वाऽसिद्धिः । दृश्यन्ते ह्यसदभियोगादौ तृणवत् ताः प्राणपरित्यागं कुर्वाणाः परिषहोपसर्गाभिभवं चाऽङ्गीकृतमहाव्रताः विदधानाः । क्रूराध्यवसायत्वं दृढप्रहारिप्रभृतीनां प्रागवस्थायां तद्भवे विद्यमानमपि न मुक्तिप्राप्तिप्रतिबन्धकम् तदवस्थायां तु तस्य तास्वपि अभाव एव । अथ लोकवद् लोकोत्तरेऽपि धर्मे पुरुषस्योत्तमत्वात् मुक्तिप्राप्तिः, न स्त्रीणाम्

सातिशयबोधवाले होने से उन को शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद की प्राप्ति सरलता से हो सकती है, घाती कर्मों का क्षय और केवलज्ञान एवं मुक्ति भी प्राप्त होने में कोई बाध नहीं है । तात्पर्य, पूर्वश्रुत के अध्ययन के बिना भी उन को ऐसा विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है कि वे स्वतः (भावतः) पूर्ववत्ता होते हैं ।

यथार्थवादी :- हाँ जी ! ऐसे ही पूर्वश्रुत अध्ययन के बिना भी साध्वियों को विशिष्ट क्षयोपशम के प्रभाव से पूर्वो का ज्ञान, शुक्लध्यान के दो भेद, घाती कर्मों का क्षय केवलज्ञान और मोक्षप्राप्ति होने में कोई संकट खड़ा नहीं रहता ।

दिगम्बरों को इस तथ्य का अनिच्छा से भी स्वीकार कर लेना चाहिये, अन्यथा पूर्व जन्मों में पूर्वश्रुत का अभ्यास न करनेवाले भी ऋषभदेवमाता मरुदेवास्वामिनी आदि पुण्यात्माओं को मोक्षप्राप्ति कभी नहीं होती । ‘उन्हें मोक्ष प्राप्त ही नहीं हुआ’ ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि सिद्धप्राभृत आदि अनेक आगमों में गृहस्थलिंग में भी सिद्ध होने वाले अनेक पुण्यात्माओं का निर्देश किया है । सिद्धप्राभृत आदि शास्त्रोंको अप्रमाण नहीं करार देना, सर्वज्ञभाषित होने के आधार पर उन के प्रामाण्य को सिद्ध किया जा चुका है ।

दिगम्बर :- स्त्रियों में मायागारव आदि प्रबल दोष होते हैं इसलिये उन को मोक्षलाभ नहीं होता ।

यथार्थवादी :- यह विधान गलत है, साधक दशा में स्त्रियों में मायागारवादि प्रबल दोषों का सम्भव नहीं होता । पूर्वावस्था में तो स्त्रियों की तरह पुरुषों में भी प्रबल दोष होने में क्या विरोध है ? ऐसा कहना कि — ‘महिला में सत्त्व कम होता है और उन की प्रकृति क्रूर होती है इसलिये उन की मुक्ति नहीं होती’ — यह भी ठीक नहीं है । सत्त्व कम है या अधिक यह तो एक मात्र उन के कार्यों से ही हम जान सकते हैं और विशिष्ट पराक्रम आदि कार्य महिलाओं में भी देखा जाता है इसलिये उन में कम होने की बात असिद्ध है । क्या नहीं देखा है कि कभी पवित्र महिला के ऊपर गलत आक्षेप किया जाय तो वे घासफूस की तरह प्राणों की कुरबानी कर देती है और बहुत साध्वियाँ महाव्रती बन कर परिषह-उपसर्गों की फौज को परास्त करती है । क्रूर प्रकृति की बात भी विचारशून्य है । दृढप्रहारी आदि में पूर्वावस्था में अत्यन्त क्रूरता थी लेकिन प्रतिबोध पा जाने पर साधनाकाल में वह नहीं थी और उसे मोक्षलाभ हुआ । ऐसे ही पूर्वावस्था में महिलाओं में क्रूरता के रहने पर भी वह मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं होती क्योंकि साध्वी अवस्था में उस क्रूरता का अभाव हो सकता है ।

अनुत्तमत्वात् । न, अन्यगुणापेक्षाऽनुत्तमत्वस्य मुक्तिप्राप्त्यप्रतिबन्धकत्वादन्वया तीर्थकृद्गुणापेक्षया गण-
धरादेरप्यनुत्तमत्वात् मुक्तिप्राप्त्यभावो भवेत् । अथाशेषकर्मक्षयनिबन्धनस्याध्यवसायस्य गणधरादिषु तीर्थकृदपेक्षया
तुल्यत्वादयमदोषः । समानमेतदबलास्वपि तथाविधयोग्यतामापन्नासु ।

अथ महाव्रतस्थपुरुषावन्धत्वात् न तासां मुक्त्यवाप्तिः तर्हि गणधरादेरप्यर्हदवन्धत्वात् न मुक्त्य-
वाप्तिः स्यात् । अथ 'तित्थपणामं काउं' ^५(आ० नि० गाथा ४५) इत्याद्यागमप्रामाण्यात् प्रथमगणधरस्य
'तीर्थ'शब्दाभिधेयत्वात् तदवन्धत्वं तस्याऽसिद्धम् — तर्हि चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघस्यापि 'तीर्थ'शब्दवाच्यत्वात्
तत्र तु तासामन्तर्भावात् महाव्रतस्थपुरुषाऽवन्धत्वं तासामप्यसिद्धम् । तन्न युक्त्यागमाभ्यां तासां मुक्ति-
प्राप्त्यभावः प्रतिपत्तुं शक्यः । तत्सद्भावस्तु प्रदर्शितागमात् युक्तितश्च प्रतीयत एव । तथाहि — विमत्य-
धिकरणभावापन्नाः स्त्रियो मुक्तिभाजः अवाप्ताशेषकर्मक्षयनिबन्धनाध्यवसायत्वात्, उभयाभिमतगणधरा-
दिपुरुषवत् इत्याद्यागमयुक्तिगर्भमनुमानं निर्दोषं युक्तिशब्दवाच्यं समस्येव ।

दिग्म्बर :- लोकव्यवहार में जैसे पुरुष उत्तम होते हैं ऐसे ही लोकोत्तर धर्मक्षेत्र में भी पुरुष ही उत्तम
होते हैं अतः उनको मोक्षप्राप्ति हो सकती है, महिलाओं को नहीं, क्योंकि वे उत्तम नहीं होती ।

यथार्थवादी :- यह तर्क भी अयोग्य है । शरीरबलादि अन्यगुणों की अपेक्षा महिलाएँ अनुत्तम हो इस
से मोक्षलाभ में कोई प्रतिबन्ध नहीं हो जाता । अन्यथा, तीर्थकर प्रभु के गुणों की तुलना में गणधरादि भी
अनुत्तम होने से उन को भी मोक्षलाभ न होने का संकट होगा । यदि कहा जाय - 'गणधरादि में सकलकर्मक्षयहेतु
अध्यवसाय तीर्थकर की तुलना में समान ही होता है इसलिये मुक्ति-अभाववाला संकट नहीं होगा ।' - तो
वैसी समानयोग्यता धारण करने वाली महिलाओं में भी यह बात समान ही है । मतलब, सकलकर्मक्षयसाधक
अध्यवसाय महिलाओं में, पुरुषों की तुलना में समान ही होता है ।

✽ महाव्रति-अवन्धत्व हेतु की दुर्बलता ✽

दिग्म्बर :- अङ्गना महाव्रतधारी पुरुषों के लिये अवन्ध होने से उन की मुक्ति नहीं हो सकती ।

यथार्थवादी :- ऐसे तो गणधरादि मुनिवर्ग भी तीर्थकरों के लिये अवन्ध है तो गणधरादि की मुक्ति
कैसे होगी ?

दिग्म्बर :- आप के आगम में 'तीर्थ को प्रणाम करके भगवान योजनगामिनी सभी समझ सके ऐसी
साधारण वाणी से सभी संज्ञिजीवों को (धर्म) सुनाते हैं।' — इस प्रकार के शास्त्र में तीर्थकर भगवान तीर्थ
को प्रणाम करते हैं यह कहा हुआ है । तथा पहले गणधर की 'तीर्थ' में गणना की हुई है इसलिये गणधर
तीर्थकर से अवन्ध न होने से उनकी मुक्ति में बाध नहीं होगा ।

यथार्थवादी :- साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका यह चतुर्विधसंघ भी 'तीर्थ' शब्द का अभिधेय है जो कि
तीर्थकर से वन्ध है, उस में स्त्री का भी अन्तर्भाव है इसलिये महिला महाव्रतधारीपुरुष से अवन्ध होने का
विधान असत्य है । निष्कर्ष — युक्ति या आगम से महिलाओं में मोक्षलाभ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता ।
हमने जो आगम और युक्तियों का उपन्यास किया है उन से तो उलटा स्त्रीमुक्ति का सद्भाव ही सिद्ध होता
है । देखिये — विवाद के अधिकरणभूत महिला मोक्षलाभ की अधिकारी है क्योंकि सकलकर्मक्षय कारक अध्यवसाय
से अवंचित है जैसे उभयसम्मत गणधरादिपुरुष । इस प्रकार आगम एवं युक्तियों से गर्भित, 'युक्ति' अपरनाम
यह अनुमान निर्दोष है ।

✽. तित्थपणामं काउं कहेइ साहारणेण सदेण । सव्वेसिं संनीणं जोअणनिहारिणा भयवं ॥ (आवश्यक नि० ४५)

यदपि - 'भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेया' इति स्वाग्रहावष्टब्धचेतोभिर्दिगम्बरै-
रुच्यते' - तदपि अर्हत्प्रणीतागमापरिज्ञानस्य विजृम्भितमुपलक्ष्यते, तत्करणस्य शुभभावनिमित्ततया
कर्मक्षयाऽवन्ध्यकारणत्वात्। तथाहि - भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणम्, कर्तुर्मनःप्रसाद-
जनकत्वात्, कुङ्कुमाद्यालेपनवत्। न च व्रतावस्थायां भगवता भूषणादेरनङ्गीकृतत्वाद् न तत्प्रतिकृतौ
तद् विधेयम् संमज्जनाङ्गरागपुष्पादिधारणस्यापि तदवस्थायां भगवताऽनाश्रितत्वात् न तत्तत्र विधेयं
स्यात्। अथ मेरुमस्तकादिषु तदभिषेकादौ इन्द्रादिभिस्तस्य विहितत्वादस्मदादिभिरपि कृतानुकरणादिभिः
प्रयोजनैस्तत् तत्र विधीयते तर्हि तत एवाभरणादिभिर्विभूषादिकमपि विधेयम् कृतानुकरणादेः समान-
त्वात्। एवमन्यदप्यागमबाह्यं स्वमनीषिकया परपरिकल्पितमागम-युक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेद्धव्यम् न्यायदिशः
प्रदर्शितत्वात्। तदेवमनधीताऽश्रुतयथावदपरिभावितागमतात्पर्या दिग्वासस इवाप्ताज्ञां विगोपयन्तीति
व्यवस्थितम्॥६५॥ यत एवं ततः -

जह जह बहुस्सुओ संमओ अ सिस्सगणसंपरिवुडो य।

अविणिच्छिओ य समए तह तह सिद्धंतपडिणीओ॥६६॥

✽ जिनप्रतिमा की आभरणादिविभूषा कर्मक्षयसाधक ✽

दिगम्बरों का चित्त अपने कदाग्रह से इतना उपप्लुत है कि वे कहते हैं कि - 'भगवान की प्रतिमा की
वस्त्राभूषणादि से पूजा-शोभा नहीं करना चाहिये।' व्याख्याकार कहते हैं कि इस में उन लोगों का भगवत्
केवलीभाषित आगमों के बारे में गाढ अज्ञान ही प्रदर्शित होता है। उन लोगों को यह ज्ञान नहीं है कि भगवान
की प्रतिमा को आभूषणादि से सजाना कर्मक्षय का कारण है क्योंकि कर्त्ता को (एवं दृष्टा को भी) मनःप्रसन्नता
का हेतु है जैसे केसरचन्दनादि का विलेपन (जो कि दिगम्बर भी करते हैं।) यदि यहाँ कहा जाय - भगवान
ने व्रतग्रहण के बाद आभूषणादि का अङ्गीकार नहीं किया अतः उन की प्रतिमा में वह नहीं होना चाहिये। -
तो फिर व्रतधारण के बाद भगवान ने स्नान, अंगविलेपन, पुष्पादिधारण भी नहीं किया था, इसलिये दिगम्बरों
को यह भी सब छोड़ देना पड़ेगा। यदि कहा जाय - मेरुपर्वत के शिखर पर जन्माभिषेकादि अवसर पर इन्द्रादि
देवताओं ने भगवान को स्नानादि कराया था, उस सुकृत का अनुकरण आदि प्रयोजन को लक्ष में रख कर
हम लोग भी प्रतिमा के स्नानादि करते हैं - तब तो उस अवसर पर देवताओं ने भगवान को आभरणादि
से विभूषित भी किया था, तो सुकृत-अनुकरणादि प्रयोजन श्वेताम्बर पक्ष में भी न्याययुक्त हैं।

इस प्रकार, यहाँ जो न्याय दिशा का निर्देश किया गया है उस के अनुसार आगमों से विपरीत अपनी
स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पित अन्य अन्य कुछन्दों का भी आगम एवं युक्तिविन्यास के द्वारा प्रतिषेध, सज्जनों
के लिये कर्त्तव्य है। सारांश यह है कि दिगम्बरों की भाँति जिन्होंने न तो आगमों का अध्ययन किया है,
न तो ठीक ढंग से श्रवण किया है और न उस के तात्पर्य का सम्यग् परिभावन किया है वे आप्तजनों
की आज्ञा की विडम्बना करनेवाले हैं। वर्त्तमानकाल में भी ऐसे कुछ अनभिज्ञ लोग देवद्रव्यवृद्धि के सुविहित
उपायों से संचित देवद्रव्यादि से जिनप्रतिमा की पूजा-विभूषादि करने का विरोध करते हैं और अन्तरायकर्मों
का बन्ध करते हैं, निःसंदेह वे लोग जिनाज्ञा की विडम्बना करते हैं। - यह फलित होता है॥६५॥

भगवदाज्ञा का पर्यालोचन न करने से ही ऐसा होता है इस तथ्य का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार
कहते हैं -

यथा यथा बहुश्रुतः सम्यगपरिभावितार्थानेकशास्त्रश्रवणमात्रतः तथाविधाऽपराऽविदितशास्त्राभि-
प्रायजनसम्मतश्च शास्त्रज्ञत्वेन अत एव श्रुतविशेषानभिज्ञैः शिष्यगणैः समन्तात् परिवृतश्च अविनिश्चितश्च
समये तथाविधपरिवारदर्पात् समयपर्यालोचनेऽनादृतत्वात् तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः यथावस्थितवस्तु-
स्वरूपप्रकाशकार्हादागमप्रतिपक्षः निस्सारप्ररूपणयाऽन्यागमेभ्योऽपि भगवदागममधः करोतीति यावत् ॥६६॥

तस्मात् शास्त्रमधीत्य तदर्थावधारणं विधेयम् अवधृतश्च तदर्थो नय-प्रमाणाभिप्रायतो यथावत् परि-
भावनीयः अन्यथा तत्फलपरिज्ञानविकलताप्रसक्तिरित्याह -

चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्त्वावारा ।

चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति ॥६७॥

गाथार्थ :- ज्यों ज्यों बहुश्रुतसम्मत एवं शिष्यवर्ग से अधिक परिवृत हो जाता है किन्तु आगम के बारे में अविनिश्चित रहता है, त्यों त्यों वह सिद्धान्त का दुश्मन बनता है ॥६६॥

व्याख्यार्थ :- कोई एक पंडित कहा जाने वाला आचार्य या साधु (या श्रावक भी) अनेक शास्त्रों का श्रवण (एवं वांचन) कर लेता है और लोगों में 'बहुश्रुत' अथवा 'शास्त्रपुरस्कर्त्ता' की मिथ्या ख्याति को प्राप्त कर लेता है, किन्तु शास्त्रों के अर्थ का वह सम्यक् पर्यालोचन नहीं करता; ऐसा आचार्यादि शास्त्रतात्पर्य से अनभिज्ञजनों में अपनी वाचालता आदि के कारण व्याख्यानवाचस्पति आदि के रूप में सम्मत यानी तथाविध अज्ञानी लोगों में लोकप्रिय हो जाता है। उसकी लोकप्रियता - ख्याति-आडम्बर आदि को देख कर वैसे ही शास्त्रतात्पर्य के अनभिज्ञ जन उस से आकृष्ट हो कर उस के शिष्य बन बैठते हैं - इस प्रकार इधर-उधर से दूसरे के शिष्यों को भी प्रपञ्चादि से अपनी ओर खिंच कर विशाल शिष्यपरिवार का नेता बन जाता है। विशाल परिवार के अभिमान में वह शास्त्र के तात्पर्य के पर्यालोचन में, कदाग्रह के कारण कभी दत्तचित्त नहीं होता, मैं जो मानता हूँ - समझता हूँ और कहता हूँ वही सत्य है - वही शास्त्र का सच्चा अर्थ है ऐसा लोगों के दिल में ठसाने के लिये वह भारी प्रपञ्च खेलता है किन्तु शास्त्र के सही तात्पर्य के बारे में अविनिश्चित-यानी निश्चयशून्य ही रहता है - ऐसा बहुश्रुत, सम्मत, विशालशिष्यवर्गवाला शास्त्रतात्पर्यविमुख आचार्यादि अधिक अधिक शास्त्र का - सिद्धान्त का - जैनशासन का दुश्मन बन बैठता है। वास्तव में तो वह यथावस्थितवस्तुस्वरूप के प्रकाशक तीर्थंकर-आगम का विरोधी ही होता है इतना ही नहीं वह हजारों लाखों रूपयों का पानी करके अपने मिथ्या मताभिप्राय को जिनवाणी-जैनप्रवचन के स्वरूप में प्रस्तुत करके उस की तथ्यहीन सारहीन शास्त्रविरुद्ध प्ररूपणा के द्वारा परमेश्वर के आगमशास्त्रों का 'शास्त्र-शास्त्र' के नाम पर ही अन्यदीय शास्त्रों की तुलना में भी बड़ा अवमूल्यन कराता है। प्रत्यक्ष उदाहरण है वर्तमान काल में जयवीररायसूत्र के इष्टफलसिद्धि पद की अनेक पूर्वाचार्यकृत व्याख्याओं से उलटा मनमाने अर्थ का प्रचार करनेवाले आभासिकजैनप्रवचनकार ॥६६॥

*** नयप्रमाण से शास्त्रार्थ का परिभावन-कर्त्तव्य ***

इस प्रतिपादन से कहने का तात्पर्य इतना है - शास्त्र का सम्यक् अध्ययन कर के उस के अर्थ का ठीक अवधारण करना चाहिये। अर्थावधारण करने के बाद उस अर्थ का नय एवं प्रमाण के अभिप्राय के आलोक में पर्यालोचन करना चाहिये, नहीं तो उस के फलभूत ऐदम्पर्य ज्ञान से वंचित रह जाने का अनिष्ट प्रसक्त होता है - इस बात को ६७ वीं गाथा से सूत्रकार कहते हैं -

गाथार्थ :- चरण-करण के पालन में ही तत्पर बने रह कर जो स्वआगम एवं परागम के परिशीलन

चरणम् = श्रमणधर्मः, (ओ०नि०गाथा-२)

‘वय-समणधम्म-संजम-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ। णाणाइतियं तव कोहणिग्गहाई चरणमेयं ॥ इति वचनात्। व्रतानि हिंसाविरमणादिनि पञ्च। श्रमणधर्मः क्षान्त्यादिर्दशधा, संयमः पञ्चास्रव-विरमणादिः सप्तदशभेदः, वैयावृत्यं दशधा आचार्याराधनादि, ब्रह्मगुप्तयो नव वसत्यादयः, ज्ञानादि-त्रितयं ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि, तपो द्वादशधा अनशनादि, क्रोधादिकषायषोडशकस्य निग्रहश्चेत्यष्टधा चरणम् ॥

करणम् पिण्डविशुद्ध्यादिः - (ओ०नि०गाथा-३)

‘पिण्डविसोही समिई भावण-पडिमाइ-इंदियनिरोहो। पडिलेहण-गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ इति वचनात्। तत्र पिण्डविशुद्धिः त्रिकोटिपरिशुद्धिराहारस्य -
‘संसद्धमसंसद्धा उद्धइ तह अप्पलेविया चेव। उग्गहिया पग्गहिया उज्झियहम्मा य सत्तमिया’ ॥ () इति सप्तधा वा। समितिः ईर्यासमित्यादिः पञ्चधा। भावना अनित्यत्वादिका द्वादश। प्रतिमा मासादिका द्वादश भिक्षूणाम्, दर्शनादिकैकादशोपासकानाम्। इन्द्रियनिरोधः चक्षुरादिकरणपञ्चकसंयमः।

से दूर रहते हैं वे निश्चयशुद्ध चरण-करण के सार को नहीं जान सकते ॥६७॥

व्याख्यार्थ :- व्याख्या में पहले कुछ विस्तार से अष्टविध चरण की एवं अष्टविध करण की भेद-प्रभेद के साथ विवेचना की गयी है।

❀ चरणसित्तरी - करणसित्तरी ❀

चरण यानी सामान्यतः साधुओं का आचारधर्म। ओधनिर्युक्ति में उस के आठ भेद ऐसे गिनाये हैं -
व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्यरक्षक नव मर्यादा, ज्ञानादित्रितय, तप एवं क्रोधनिग्रहादि।
सर्वजीवहिंसानिवृत्ति, सर्वमृषावाद-निवृत्ति, सर्वविधचौर्यनिवृत्ति, सर्वविधमैथुननिवृत्ति, सकलपरिग्रहनिवृत्ति ये हैं पाँच महाव्रत। श्रमणधर्म के ये दश प्रकार हैं - सत्य, क्षमा, मृदुता, शौच (भीतर की पवित्रता), असंगता, सरलता, ब्रह्मचर्य, विमुक्ति, संयम और तपस्या। संयम के सत्तरा भेद हैं जिस में पञ्च आस्रवों से विरति आदि गिनाये जाते हैं। दशविध आचार्यादि की सेवा को वैयावृत्य कहा गया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये स्त्रीआदिशून्य वसति में रहना इत्यादि नव गुप्ति = मर्यादाएँ कही गयी है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये ज्ञानादित्रितय है। अनशन-ऊनोदरी, ध्यान-कायोत्सर्गादि १२ प्रकार तप के हैं। अनन्तानुबन्धि आदि चतुर्विध क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों चतुष्क का विजय। यह सारा ‘चरणसित्तरी’ कहा जाता है क्योंकि इस में ७० प्रतिभेद होते हैं।

करण में पिण्डविशुद्धि आदि ७० प्रतिभेद गिनाये गये हैं। ओधनिर्युक्ति में मुख्य करण का निर्देश इस प्रकार से किया है - पिण्डविशुद्धि पहला करण है, उस का मतलब है अकृत-अकारित-अक्रीत ऐसे तीन कोटि से विशुद्ध आहारपिंड का ग्रहण करना। अथवा संसृष्ट, असंसृष्ट, उद्धृत, अल्पलोपा, अवगृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा ऐसे सात भेद जो पिण्डैषणा के हैं यही है पिण्डविशुद्धि। पिण्डैषणा यानी पिण्ड-ग्रहण के विविध प्रकार। पाँच समिति - ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति, परिष्ठापनिकासमिति। सम्यक् सप्रयोजन प्रवृत्ति को समिति कहा जाता है। अनित्यत्व-अशरणत्व आदि की तीव्र अनुभूतिस्वरूप बारह भावना है जो संसार के राग को शिथिल कर देती हैं। एकमास - दो मास आदि पर्यन्त जो विशिष्ट कठोर

❀ दृष्टव्यास्या गाथायाः व्याख्या पंचाशके १८-६ टीकायाम्।

प्रतिलेखनं मुखवस्त्रिकाद्युपकरणप्रत्युपेक्षणमनेकविधम् । गुप्तिः मनो-वाक्-कायसंवरणलक्षणा त्रिधा । अभिग्रहा वसतिप्रमार्जनादयोऽनेकविधाः —

एतयोश्चरण-करणयोः प्रधानास्तदनुष्ठानतत्पराः, स्वसमय-परसमयमुक्तव्यापाराः ‘अयं स्व-समयः अनेकान्तात्मकवस्तुप्ररूपणात्, अयं च परसमयः केवलनयाभिप्रायप्रतिपादनात्’ इत्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृता अनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वं यथावदनवबुध्यमानाः तदितरव्यवच्छेदेन इति यावत्, चरणकरणयोः सारं = फलम् निश्चयशुद्धं निश्चयश्च तत् शुद्धं च ज्ञान-दर्शनोपयोगात्मकं निष्कलङ्कं न जानन्ति = न अनुभवन्ति, ज्ञान-दर्शनचारित्रात्मककारणप्रभवत्वात् तस्य कारणाभावे च कार्यस्याऽसम्भवात् अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः चरणकरणयोश्च चारित्रात्मकत्वात् द्रव्य-पर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमस्वभावरुच्यभावेऽभावात् । अथवा चरणकरणयोः सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति । न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तदुचिः, न च स्वसमय-परसमयतात्पर्याथानवगमे तदवबोधः

अभिग्रह (नियम) पालन किया जाता है उसको ‘प्रतिमा’ कहते हैं, भिक्षुओं के लिये बारह प्रतिमा (और श्रावकवर्ग के लिये सम्यग्दर्शनादि ग्यारह प्रतिमा) का विधान है। इन्द्रियनिरोध यानी चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों का निरोध = संयम = नियन्त्रण। जीव-जन्तु की हिंसा न हो जाय उस के लिये मुखवस्त्रिका आदि अनेक धर्मोपकरणों का प्रत्युपेक्षण-निरीक्षण करना यह प्रतिलेखन है। मन, वचन एवं काया की अशुभ प्रवृत्तियों पर अंकुश एवं शुद्ध प्रवृत्तियों में प्रवर्तन - ये गुप्ति तीन हैं। अभिग्रह यानी विशिष्ट प्रकार से त्यागादिप्रतिज्ञा जिस के अनेक भेद हैं। ये सभी प्रतिभेद ७० प्रकार के होते हैं।

चरणसित्तरी और करणसित्तरी के विस्तार के जिज्ञासु पंचवस्तु, पश्चाशक, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थों का परिशीलन करें।

✽ स्वपरसमयभेद के अजाण चरण-करणसारवंचित ✽

अब व्याख्याकार गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वे मुनि, जो इन चरण-करण के ही अनुष्ठान में निमग्न रहते हैं किन्तु ‘अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप को दिखाने वाला होने से यह स्वसमय है — केवल (अन्यनिरपेक्ष) एक नय के अभिप्राय पर भार देने के कारण यह परसमय है’ — इस प्रकार के विवेकज्ञान का अर्जन करने के लिये परिश्रम करने के बदले जो अनादर करते हैं वे चरणकरण के सारभूत रहस्य को नहीं जानते - ऐसा आगे अन्वय करना है। अनेकान्तात्मक होता है वस्तुतत्त्व — इस तथ्य को एकान्त के व्यवच्छेदपूर्वक न समझनेवाले वे मुनि निश्चयात्मक निष्कलङ्क शुद्ध ज्ञान-दर्शनोपयोगरूप चरण करण के फल का अनुभव नहीं कर पाते। निश्चयात्मक निष्कलंक ज्ञान-दर्शनोपयोग यानी विशुद्ध उपयोग तो ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक कारणकलाप का सामुदायिक कार्य है, कारणों के विरह में कार्य का सम्भव ही नहीं होता, अन्यथा कारण के विना कार्य उत्पन्न होगा तो वह निर्हेतुक होने की आपत्ति होगी। चरण-करणानुष्ठान चारित्ररूप है, द्रव्य-पर्यायात्मक जीवादितत्त्व के बोधस्वरूप शुद्ध रुचि के विरह में चारित्र का सम्भव नहीं होता।

गाथा के उत्तरार्द्ध का दूसरे प्रकार से विवेचन इस प्रकार है — चरण-करण का सार है निश्चयतः शुद्ध ऐसा सम्यग्दर्शन। स्वसमय-परसमय का विवेकज्ञान न रहने पर उस का अनुभव नहीं होता। जब तक यथावस्थित वस्तुतत्त्व का अवबोध न हो तब तक यथार्थरुचि नहीं होती, स्वसमय-परसमय के तात्पर्यार्थ का अवबोध न होने पर बोटिक = दिग्म्बरादि को तत्त्वावबोध का सम्भव नहीं रहता।

बोटिकादेरिव सम्भवी ।

अथ जीवादिद्रव्यपर्यायार्थाऽपरिज्ञानेऽपि 'यदर्हद्भिरुक्तं तदेवैकं सत्यम्' इत्येतावतैव सम्यग्दर्शन-सद्भावः । 'मण्णइ तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पण्णत्तं' (दृष्टव्यः-आचारांग-५-५-१६२) इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । न, स्वसमय-परसमयपरमार्थानभिज्ञैर्निरावरणज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरूपाऽज्ञानवद्भिः तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाप्यन्यव्यवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्* । नन्वेव-मागमविरोधः सामायिकमात्रपदविदो माषतुषादेर्यथोक्तचारित्रिणस्तत्र मुक्तिप्रतिपादनात्, सकलशास्त्रार्थ-ज्ञताविकलव्रतस्य व्रताद्याचरणनैरर्थक्यापत्तिश्च तत्साध्यफलानवाप्तेः । न च यथोपवर्णितचरणकरणे सम्यग्दर्शनवैफ(?)ल्ये भवतः, ज्ञानादित्रितयस्यापि तत्र पाठात् । न, ये यथोदितचरणकरणप्ररूपणासे-वनद्वारेण प्रधानादाचार्यात् स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्ति-इति नञोऽत्र सम्बन्धात्, ते चरण-करणस्य सारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव, गुर्वाज्ञया प्रवृत्तेः चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धतयाऽभ्युप-

✽ सामायिकमात्रापदज्ञानी माषतुषमुनि की मुक्ति कैसे ? ✽

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है - जीवादि तत्त्वों के द्रव्यपर्यायभेद से अर्थ का विज्ञान न होने पर भी 'जो अरिहंत ने कहा है वही एक सच है' इतनी सामान्यतः श्रद्धा से भी सम्यग्दर्शन का सद्भाव माना जा सकता है । इस तथ्य में यह आगमप्रमाण साक्षी भी है - 'मण्णइ०' इत्यादि, जिस का यह भावार्थ है कि 'जिनेश्वरदेवों ने जो कहा है वही एक निःशंक सत्य है ऐसा (सम्यग्दृष्टि) मानता है ।'

उत्तर यह है कि... सामान्यतः श्रद्धा भी कुतत्त्वव्यवच्छेदपूर्वक तत्त्व के सामान्यतः सत्यरूप से ज्ञान के विना नहीं हो सकती । जिस को स्वसमय और परसमय के परमार्थ का ज्ञान नहीं है, एवं निरावरण ज्ञान-दर्शन उभयस्वरूप तीर्थंकर जिनेन्द्र के स्वरूप का भी ज्ञान नहीं है - उस जीव को सामान्यतया कुतत्त्वव्यवच्छेदपूर्वक केवलिभाषित तत्त्वों का सत्यस्वरूप से ज्ञान हो नहीं सकता, तब उस के विना उसे सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ?!

प्रश्न :- ऐसा कहने पर आगमविरोध क्यों नहीं होगा ? आगमशास्त्र में कहा है कि सामायिकपदमात्र के ज्ञानी और सामायिक चारित्र के धारक माषतुषादि मुनि को स्वसमय-परसमयादि का कुछ अन्यव्यवच्छेदपूर्वक सामान्यज्ञान भी नहीं था । वे तो 'मा ऋष मा तुष' इतना भी कंठस्थ कर नहीं पाये थे । फिर भी उन की मुक्ति हो गयी । तथा, आप के कथनानुसार तो सम्यग्दर्शन के लिये सकलशास्त्रीय अर्थों का स्वसमयादि भेद से ज्ञान अनिवार्य हो जायेगा । फलतः उस के विना व्रतधारण करने वाले यतियों का व्रतादिपालन निरर्थक हो जाने की विपदा होगी, क्योंकि उससे साध्य फल का, सम्यग्दर्शनप्रयोजक ज्ञान न होने से आविर्भाव नहीं होगा । यह भी जान लीजिये कि जिस चरण-करण को आप सम्यग्दर्शन के विना निष्फल बता रहे हैं वे चरण-करण के विना सम्भव ही नहीं है क्योंकि वहाँ 'चरण' में ज्ञानादि तीनों का समावेश है ।

उत्तर :- आगमविरोध इस लिये नहीं है कि नञ्पद का अन्वय दूसरे ढंग से (पूर्वार्ध के साथ) करेंगे । जिन्होंने शास्त्रोक्त चरण-करण की प्ररूपणा एवं उस के यथार्थ पालन द्वारा प्रधानभूत आचार्य के पास रह कर स्वसमय और परसमय के परिशीलनादि व्यापार को ताक पर नहीं रख दिया (इस प्रकार पूर्वार्ध के साथ नञ् का अन्वय हुआ-) वे निश्चयविशुद्ध चरण-करण के सार को जान सकते हैं - प्राप्त करते हैं, क्योंकि हमारा

✽. अविभक्तसर्वज्ञश्रद्धानस्य चाऽपुनर्बन्धकादिसम्भवित्वेन सम्यग्दर्शनाऽनियामकत्वात् - इत्यधिकपाठोऽनेकान्तव्यवस्थायाम् ।

गमात् 'तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणद्विओ साहू ॥ (आ०नि०१०२) इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । अगीतार्थस्य तु स्वतन्त्रचरणकरणप्रवृत्तेः व्रताद्यनुष्ठानस्य वैफल्यमभ्युपगम्यत एव — 'गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ ।' (ओ०नि०१२१) इत्याद्यागमप्रामाण्यात् ॥६७॥

अत्र च सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानादभेदाद् ज्ञान-क्रियोरन्यतरविकलयोनशेषकर्मक्षयलक्षणफलनिर्वर्तकत्वं सम्भवतीति प्रतिपादयन्नाह —

णाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि एगंता ।

असमत्था दाएउं जम्म-मरणदुक्ख मा भाई ॥६८॥

ज्ञायते यथावद् जीवादितत्त्वमनेनेति ज्ञानम्, क्रियते इति क्रिया = यथोक्तनुष्ठानम् तथा रहितम् 'जन्म-मरणदुःखेभ्यो मा भैषीः' इति दर्शयितुं दातुं वा असमर्थम् । न हि ज्ञानमात्रेणैव पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते क्रियारहितत्वात्, दृष्टप्रदीपनक-पलायनमार्गपङ्गुवत् । क्रियमात्रं वा ज्ञानरहितम् न 'तेभ्यो मा भैषीः' इति दर्शयितुं दातुं वा समर्थम् — न हि क्रियामात्रात् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते सज्ज्ञानविकलत्वात्

यही मत है कि गुरु-आज्ञासापेक्ष प्रवृत्ति करने वाला चरण एवं गुण (ज्ञान) उभय में संतुलनपूर्वक अचल रहने वाला साधु सर्वनयविशुद्ध यानी सभी नयों को मान्य होता है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है — 'चरण और गुण में रहनेवाला साधु सर्वनयविशुद्ध है।' इस आगमप्रमाण से उक्त गाथा का अर्थ समर्थित होता है।

स्वच्छंद ढंग से चरण-करण में प्रवृत्त होने वाले अगीतार्थ यति का व्रतादि अनुष्ठान निष्फल मानने में कोई हरकत नहीं है, क्योंकि ओघनिर्युक्तिकार आदि शास्त्रकारोंने कहा है कि - 'स्वयं गीतार्थ हो कर शिष्यपरिवार के साथ विहार करे अथवा स्वयं अगीतार्थ हो तो गीतार्थ की निश्चा में रह कर विहार करे, इन दो प्रकार के विहार की अनुज्ञा है। (तीसरे स्वच्छंद एकाकी विहार की जिनमत में किसी को भी अनुज्ञा नहीं है)।' - इस अर्थवाले 'गीयत्थो०' इत्यादि आगमप्रमाण से, अगीतार्थ स्वच्छंद विहारी के व्रतादि को निष्फल ही मानना चाहिये ॥६७॥

✽ परस्परशून्य ज्ञान-क्रिया से दुःखभयनिवारण अशक्य ✽

यदि प्रश्न हो कि चरण और गुण (ज्ञान) में अवस्थित को साधु कहा गया तो सम्यग्दर्शन को क्यों छोड़ दिया ? तो उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अभेद है। एक दूसरे से शून्य ज्ञान और क्रिया सकल कर्मों के क्षयस्वरूप फल का निर्माण कर नहीं सकते - इस तथ्य को सूत्रकार अब ६८ वीं गाथा से कहते हैं -

गाथार्थ :- क्रियाशून्यज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया ये दोनों ही एकान्त, जीव को यह बताने में असमर्थ है कि 'जन्म और मृत्यु के दुःख का भय मत रखना ।'

व्याख्यार्थ :- ज्ञान का यह व्युत्पत्ति-अर्थ है 'जिस के द्वारा जीव-अजीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध हो वह ज्ञान है।' जो की जाती है उसे क्रिया कहा जाता है, अर्थात् शास्त्रोक्त आचार का पालन यह क्रिया है। क्रिया से रहित ज्ञानमात्र जीव को यह आश्वासन देने में या बताने में समर्थ नहीं होता कि 'तू जन्म-मरण के दुःखों से डरना नहीं'। ज्ञानमात्र से पुरुष भयमुक्त नहीं हो जाता क्योंकि उस में भयमोचक क्रिया की कमी है। जैसे पंगु पुरुष अटवी में दावानल को देखता है उस से भागने के लिये सही रास्ते को भी जानता है किन्तु पलायनक्रिया न कर सकने के कारण वह दावानल के भय से मुक्त नहीं होता।

प्रदीपनकभयप्रपलायमानान्धवत् । तथा चागमः - (आ०नि०गाथा २२)

‘हयं णाणं कियाहीणं हया अण्णाणओ किया । पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ’ ॥
 उभयसद्भावस्तु ‘तेभ्यो मा भैषीः’ इति दर्शयितुं समर्थः । तथाहि - सम्यग्ज्ञानक्रियावान् भयेभ्यो
 मुच्यते उभयसंयोगवत्त्वात् प्रदीपनकभयान्धस्कन्धारूढपंगुवत् । उक्तं च - ‘संजोगसिद्धिए फलं वयंति’^४
 (आ०नि०गाथा २३) इत्यादि । तस्मात् सम्यग्ज्ञानादित्रितयनयसमूहाद् मुक्तिः । नयसमूहविषयं च सम्यग्-
 ज्ञानम् श्रद्धानं च तद्विषयं सम्यग्दर्शनम् तत्पूर्वं च अशेषपापक्रियानिवृत्तिलक्षणं चारित्रम् - प्रधानोपसर्जन-
 भावेन मुख्यवृत्त्या वा - तत् त्रितयप्रदर्शकं च वाक्यमागमः नान्यः, एकान्तप्रतिपादकस्यासदर्थत्वेन
 विसंवादकतया तस्य प्राधान्यानुपपत्तेः, जिनवचनस्य तु तद्विपर्ययेण दृष्टवददृष्टार्थेऽपि प्रामाण्यसंगतेः ॥६८॥
 तस्य तथाभूतस्य स्तुतिप्रतिपादनाय मङ्गलार्थत्वात् प्रकरणपरिसमाप्तौ गाथासूत्रमाह -

ज्ञानशून्य क्रिया भी जीव को यह बताने में अथवा आश्वासन देने में समर्थ नहीं होती कि ‘तू जन्म-
 मरण के दुःखों से डरना नहीं’ - क्योंकि वह सद्ज्ञान से विकल है । जैसे: अन्धपुरुष दावानल के भय से
 पलायन करता है किन्तु किस मार्ग से भागना यह नहीं देख सकने के कारण दावानल के संकट से मुक्त
 नहीं हो सकता । आवश्यकनिर्युक्ति आदि आगम में कहा गया है - ‘क्रियाहीन ज्ञान हतभागी है और अज्ञानपूर्वक
 क्रिया भी हतभागिनी है । देखनेवाला भी पंगु और दौड़नेवाला अन्ध - दोनों ही जल गये ।’

✽ सम्यग्ज्ञान - सम्यक्क्रिया से दुःखभय का वारण ✽

सम्यग्ज्ञान और सम्यक् क्रिया इन दोनों का मिलन यह आश्वासन देने में समर्थ है कि ‘तू अब जन्म-
 मरण के भय से डरना नहीं’ । देखिये प्रयोग - सम्यग्ज्ञान एवं क्रियावान् पुरुष भयमुक्त होता है, क्योंकि
 उभयसंयोजन करनेवाला है । उदा० दावानल के संकट में अन्धे के खंधे पर बैठ जानेवाला पंगु पुरुष ।
 आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है - ‘संयोग सिद्ध होने पर फल प्राप्त होता है’ । (एक चक्र से रथ प्रयाण नहीं
 कर सकता ।)

सारांश यह है कि सम्यग्ज्ञानादि तीन नयोंके समूह के आलम्बन से मोक्षप्राप्ति होती है । यहाँ विविधनयों
 के समूह को विषय करने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । सम्यग्ज्ञान के विषयों में श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है ।
 सम्यग्ज्ञान-दर्शनगर्भित सकल सावद्योगनिवृत्ति यह चारित्र है । इन सभी को मुख्य या गौणरूप से दिखानेवाला
 अथवा प्रत्येक को अपने अपने स्थान में मुख्यवृत्ति से दर्शानेवाला वाक्य आगमप्रमाण कहा जाता है । उस
 से अन्य वाक्य एकान्त का प्रतिपादन करने से, असद्भूतार्थस्पर्शी होने से विसंवादी होते हैं अत एव आगमरूप
 नहीं होते । वैसे वाक्यों का कोई प्राधान्य यानी महत्त्व नहीं होता । जिनवचन वैसे विसंवादी नहीं है, दृष्ट
 विषयों के बारे में वह पूर्णरूप से संवादी है, अत एव अदृष्ट पदार्थों के क्षेत्र में भी उस को प्रमाणभूत मानना
 संगत है ॥६८॥

भूतपर्व सम्पादक पं.सुखलाल आदि के कथनानुसार ६८वीं कारिका के बाद मूलग्रन्थ के किसी एक हस्तादर्श
 में ६९ वीं कारिका के पहले यह एक अधिक कारिका उपलब्ध होती है -

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वड(?ह)इ । तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो अणेगंतवायस्स ॥

इस कारिका की व्याख्या यद्यपि उपलब्ध नहीं है किन्तु कारिकानिर्दिष्ट तथ्य महत्त्व पूर्ण है । कारिका

✪. संजोगसिद्धिए फलं वयंति न हु एगचक्केण रहो पयाइ । अंधो अ पंगू अ वणे समिच्चा ते संपज्जा नगरं पविट्ठा । इति
 संपूर्णगाथा ।

भद्रं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।

जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥६९॥

भद्रं = कल्याणम् जिनवचनस्य अस्तु इति सम्बन्धः मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य । ननु यद् मिथ्या-दर्शनसमूहमयं तत् कथं सम्यग्रूपतामासादयति ? न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपतापत्तिः प्रसिद्धा । न, परस्परनिरपेक्षसंग्रहादिनयरूपापन्नसांख्यादिमिथ्यादर्शनानां परस्परसव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसंदोहस्येव सम्यक्त्वापत्तेः । दृश्यन्ते हि विषादयोऽपि भावाः परस्पर-संयोगविशेषसमासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः, मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगा-वाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषयरूपतामासादयन्तः । न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता,

में कहा गया है कि 'जिस के विना लोकव्यवहार का निर्वाह भी शक्य नहीं, ऐसे भुवन में एकमात्र गुरु तुल्य अनेकान्तवाद को नमस्कार है।'

पूर्व-पश्चिमादि दिशाओं का, छोटा-बड़ा इत्यादि परिमाण का, लघु-गुरु इत्यादि भार का, ऊँचा-नीचा इत्यादि का जो लोक व्यवहार होता है वह अनेकान्तसिद्धान्त के विना न्यायसंगत नहीं हो सकता। किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा जो पूर्वदिगवस्थित होता है वही दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा पश्चिमदिगवस्थित हो सकता है। जैसे उज्जैनी नगरी काश्मीर से दक्षिण में है, कलकत्ता से पश्चिम में है, बेंगलोर से उत्तर में है और अहमदाबाद से पूर्व में है। इस प्रकार तत्तद्दिगवस्थितत्व काश्मीरादि अन्य प्रान्तों से सापेक्ष ही होता है — कहीं भी एकान्त से नहीं कह सकते कि उज्जैनी कौनसी दिशा में है। अतः ऐसे प्रचुर लोकव्यवहारों का समर्थन-व्युत्पादन अनेकान्तसिद्धान्त करता है इसी लिये वह गुरुतुल्य है। गुरु के विना व्यवहारों का विशुद्ध सम्पादन शक्य नहीं होता इसी लिये यहाँ अनेकान्तसिद्धान्त को 'विश्व का एकामात्र गुरु' कहा गया है, क्योंकि लोक एवं ('अपि' शब्द से) लोकोत्तर सभी व्यवहारों के सम्पादन में अनेकान्तसिद्धान्त ही परम मार्गदर्शक है। ऐसे महान् सिद्धान्त को नमस्कार।

सूत्रकार प्रमाणभूत जिनवचन की स्तवना के लिये एवं इस प्रकरण ग्रन्थ की समाप्ति में आशिर्वचनात्मक अंतिम मंगलाचरण स्वरूप अन्तिम गाथासूत्र का निर्वाचन करते हैं -

गाथार्थ :- मिथ्यादर्शनों के (संतुलित) समूहात्मक एवं अमृत के सार भूत (अथवा अमृतास्वादमय), तथा संविग्रजनों के लिये सुखाधिगम्य भगवद् जिनवचन का भद्र हो ! (कल्याण हो !) ॥६९॥

व्याख्यार्थ :- भद्र यानी कल्याण, जिनवचन का हो — ऐसा संक्षेप से अन्वय करना है। इस कारिका में जिनवचन के 'मिथ्यादर्शनसमूहमय' इत्यादि विशेषण हैं — उन में से प्रथम विशेषण का विस्तृत विवेचन व्याख्याकार प्रस्तुत करते हैं।

✽ जिनवचन मिथ्यादर्शनसमूहमय, फिर भी अमृततुल्य ✽

मिथ्यादर्शनसमूहमय :- यहाँ एक प्रश्न है, जो मिथ्यादर्शनों के समूह से अव्यतिरिक्त है वह कैसे 'सम्यक्' स्वरूप को प्राप्त करेगा ? जहाँ अनेक विषकणिकाओं का संयोग किया जाय वहाँ एक अमृतमय समूहद्रव्य निष्पन्न नहीं होता।

उत्तर :- सामान्यतः विषकणिकाओं का समुदाय अमृततुल्य नहीं होने पर भी, विशेष प्रकार के विषप्रायः द्रव्यों का संयोजन होने पर अमृततुल्य औषध का निर्माण होता है (विषं विषस्य घातकम्) यह सर्वविदित

अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्य-दहनशक्त्यादिपर्यनुयोगोपपत्तेः । अत एव निरपेक्षा नैगमादयो दुर्नयाः सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते । अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाचार्यवचनम् -

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।

भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ () इति

अथवा सांख्याद्येकान्तवादिदर्शनसमूहमयैकस्य चूर्णनस्वभावस्य मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा ; यद्वा मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमादयः - एकैकस्य नैगमादेर्नयस्य शतविधत्वात् - 'एक्केक्को वि सयविहो'^५ (आ०नि०गाथा ३६) इत्याद्यागमप्रामाण्यात् - अवयवा यस्य तद् मिथ्यादर्शनसमूहमयम्

है । जैसे मणि-मन्त्र-औषध का प्रभाव अचिन्त्य होता है वैसे ही द्रव्यों के संयोजन का प्रभाव भी अचिन्त्य होता है । आयुर्वेद के शास्त्रों में यह प्रसिद्ध तथ्य है । ठीक इसी तरह विषतुल्य सांख्यादि मिथ्यादर्शन, जो कि परस्पर निरपेक्ष (परस्पर प्रतिक्षेपक) होने के कारण ही मिथ्यात्व को प्राप्त हैं, उन का परस्परसापेक्ष उचित ढंग से यथास्थान आयोजन कर के समुदाय बनाया जाय तो वे एकान्तविरोधी यानी अनेकान्तस्वरूप अमृतमयता यानी सम्यक्त्व को प्राप्त करे, इस में कोई आश्चर्य नहीं है ।

जगत् में भी दिखाई देता है कि जहर आदि पदार्थों का जब विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया से संयोजन किया जाता है तब उन के समुदाय (Compound) में एक ऐसे परिणाम विशेष का उद्भव हो जाता है कि वे औषध का चमत्कारिक कार्य कर देते हैं । इससे उलटा, मधु, घी आदि उत्तम द्रव्यों का विशिष्ट ढंग से संयोजन करने पर वे मौत को आमन्त्रण देनेवाले विषतुल्य द्रव्यात्मक बन जाते हैं । जो चीज प्रत्यक्षसिद्ध हो - जैसे कि दाहक स्वभावी प्राणवायु (Oxygen) और दाह्यस्वभावी उदजन (Hydrogen) वायु के संयोजन से दाहशामक पानी बन जाता है इत्यादि, उस में 'यह कैसे' ? इस प्रश्न को अवकाश नहीं रहता । यदि प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुस्वभाव के बारे में प्रश्न करेंगे तो अग्नि की दहनशक्ति, काष्ठ की दाहयोग्यता आदि के विषय में भी प्रश्न खड़े हो जायेंगे ।

बात यही है कि नैगमादिनय के अपने अपने अभिप्राय, अन्य अभिप्रायों का तिरस्कार कर के परस्पर निरपेक्ष रहते हैं तब वे 'दुर्नय' कहे जाते हैं । वे ही नैगमादि नयों के अभिप्राय परस्पर सहयोग कर के जब अन्य नयों का तिरस्कार नहीं करते तब 'सुनय' कहे जाते हैं । निर्दिष्ट हकीकत के साथ संवादी एक श्लोक वादिवृषभ स्तुतिकार श्री सिद्धसेनाचार्य का रचा हुआ उद्धृत किया गया है - "स्वर्णसिद्धिरस से परिष्कृत लोहधातुओं (स्वर्ण में पलट जाती है उस) की तरह 'स्यात्' (अनेकान्तवाचक) पद से अलंकृत आप के नय भी ये इष्टफलप्रद बन जाते हैं, इसी लिये हितकांक्षी आर्यजन आप को प्रणाम करते हैं ।"

✽ सांख्यादि के दर्शनों का अवयव समूह, जिनदर्शन अवयवी ✽

'मिथ्यादर्शनसमूहमय' पद की दूसरी व्याख्या :- सांख्य नैयायिकादि एकान्तवादीयों का दर्शन मिथ्यादर्शन है, जिनशासन उन का समूहात्मक एकसंकलन है, जैसे अनेक द्रव्यों के संयोग से एक चूर्ण औषध बनता है वैसे यह जिनवचन है जो मिथ्यादृष्टिवादी पुरुषों के समूह का विघटन यानी पराभव करने में सक्षम हो जाता है । अथवा तीसरे ढंग से व्याख्या- मिथ्यादर्शनों का समूह जिस के एक एक अवयव मात्र हैं ऐसा जिनवचनरूप अवयवी है । नैगमादिनय मिथ्यादर्शनों का ही समूह है और नैगमादि एक एक नय की सो-सो विधाएँ हैं । आवश्यक

✽. एक्केको वि सयविहो सत्तनयसया हवंति एवं तु । अन्नो वि य आएसो पञ्च सया हुंति उ नयाणं ॥

(तस्य) जिनवचनस्य नैगमादयः सापेक्षाः सप्तावयवाः, तेषामप्येकैकः शतधा व्यवस्थितः इत्यभिप्रायः।

✽ सप्तभंगीव्युत्पादनेनानेकान्तवादसमर्थनम् ✽

समूहरूपसप्तनयावयवोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञा विदधति सामान्यविशेषात्मक-
त्वाद् वस्तुतत्त्वस्य —

सामान्यस्यैकत्वात् तद्विवक्षायां यदेव घटादिद्रव्यम् 'स्यादेकम्' इति प्रथमभङ्गविषयः तदेव देश-
काल-प्रयोजनभेदात् नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया 'स्यादनेकम्' इति द्वितीयभङ्गविषयः। तदेवो-
भयात्मकमेकदैकशब्देन यदाऽभिधातुं न शक्यते तदा 'स्यादवक्तव्यम्' इति तृतीयभङ्गविषयः। यदेव
चावकाशदातृत्वेनासाधारणेन एकमाकाशं तदेवावगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकं भवति तद्रूपैर्विना
तस्याऽवस्तुत्वापत्तेः, प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम् अन्यथा हिमवत्-विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्तेः, तस्य
च तथाविवक्षायाम् 'स्यादेकं चानेकं च' इति चतुर्थभङ्गविषयता। यदेव चैकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं
तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकम् अवयवस्यावयवान्तराद् भिन्नत्वाद् भिन्नानां चावयवानां वाचकस्य शब्द-

निर्युक्ति आगम के 'एक एक सातसो प्रकार के हैं' इस प्रमाणवाक्य से नैगमादिनयों के सातसो भेद प्रसिद्ध
हैं। मिथ्यादर्शनों के समूह के सातसो प्रकार कहे जा सकते हैं — और वे जिनवचन के अवयवभूत हैं। अवयव
जब अवयवी को छोड़ कर स्वतन्त्र हो जाते हैं तब उन की कोई किमत नहीं रहती। यहाँ कहने का मतलब
यही है कि स्वतन्त्र होने पर जो मिथ्यादर्शन बन जाते हैं ऐसे नैगमादि सात नय सापेक्ष हो कर जिनवचन के
अविभाज्य अंग बन जाते हैं और उस एक एक के सो-सो भेद है — अर्थात् वह इतना विशाल है।

✽ अनेकान्तवाद - सप्तभंगी का निरूपण ✽

वस्तुतत्त्व सामान्य-विशेष उभयात्मक है। सामान्य के अवान्तर अनेक भेद हैं एवं विशेष के भी अनेक
भेद होते हैं। एक साथ उन सभी सामान्य विशेष भेदों का निरूपण शक्य नहीं है क्योंकि वचनबल मर्यादित
है। एक एक अंश को ले कर ही वस्तु का शाब्दिक प्रतिपादन शक्य होता है जिसे नय कहा जाता है।
वे सब भेदप्रभेदयुक्त नय मिलकर ही एक वस्तु का सही निरूपण कर सकते हैं इसलिये समुदायभावापन्न सात
नयों के एक एक के भी अनेक अवयव फलित होते हैं। उन अवयवों को उदाहरण के साथ दिखाने के लिये
आगम के पंडितों ने सप्तभंगी का प्रदर्शन किया है-

प्रथमभंग :- सामान्य एकरूप होता है, उस के प्रतिपादन की चाह होने पर घटादि द्रव्य के लिये 'स्याद्
एक है' ऐसा पहला भंग प्रस्तुत किया जाता है। चाहे घट के देशादिभेद से कितने भी भेद हो किन्तु सामान्यदृष्टि
से सभी घट एक ही होते हैं, यहाँ भेददृष्टि गौण = उपेक्षित है।

दूसरा भंग :- जब भेददृष्टि से प्रतिपादन की चाह हो तब उसी घटादिद्रव्य के देश-काल-प्रयोजनभेद
को लक्ष्य में रख कर भिन्न भिन्न घटादि की विवक्षा से 'स्यात् अनेक हैं' ऐसा दूसरा भंग प्रस्तुत किया
जाता है।

तीसरा भंग :- घटादि द्रव्य एक है और अनेक भी किन्तु एक साथ एक कालमें भेद-अभेद उभय
दृष्टि से उस का निरूपण वचनगोचर नहीं हो सकता इस लिये तब सिर्फ 'स्यात् अवक्तव्य' इस तीसरे भंग
से ही संतोष मानना पड़ेगा।

चतुर्थ भंग :- यदि एकसाथ उभयदृष्टि से निरूपण करने के बदले क्रमशः उभयदृष्टि से निरूपण करने की

स्याभावादवक्तव्यं चेति तथाविवक्षायाम् 'स्यादेकमवक्तव्यं च' इति पञ्चमभङ्गविषयस्तत् । यदेवैकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः तदवगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकम् एकानेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चातः 'स्यादनेकमवक्तव्यं च' इति षष्ठभङ्गविषयः । यदेवैकमाकाशात्मतयाऽऽकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेव तथैकम् अवगाह्यावगाहकावगाहनक्रियापेक्षयाऽनेकं च युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्यं चेति 'स्यादेकमनेकमवक्तव्यं च' इति सप्तमभङ्गविषयः ।

एवं 'स्यात् सर्वगतः' 'स्याद् असर्वगतो घटादिः' इत्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या । यतो य एव पार्थिवा परमाणवो घटः त एव विस्रसादिपरिणामवशात् जलानिलानलावन्यादिरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः 'स्यात् सर्वगतो घटः' इत्यादिसप्तभङ्गविषयतां यथोक्तन्यायात् कथं नासादयन्ति ?! न च घट-

चाह हो तब आकाश का उदाहरण ले कर चतुर्थभंग कहा जा सकता है कि 'अवकाशदान' एक मात्र आकाश का असाधारण धर्म है उस दृष्टि से आकाश द्रव्य एक है, किन्तु उस में अवगाहन करनेवाले घटादिद्रव्य समस्त आकाश में व्याप्यवृत्ति न हो कर किसी एक देश में ही अवगाहन करते हैं, इस प्रकार अवगाह्य आकाशक्षेत्र के पूर्व-पश्चिमादि अनेक भेद हो जाते हैं, तथा उन क्षेत्रों में अवगाहन करनेवाले द्रव्यों के भेद से उन की अवगाहन क्रिया भी अनेकरूप हो जाती है, फलतः अवगाह्य क्षेत्र भेद, अवगाहन भेद एवं अवगाहन क्रियाओं के वैविध्य के कारण, आकाश अनेक भी है यह मानना होगा । यदि आकाश में इस तरह अवगाह्यादि अनेक रूपों का इनकार किया जाय तो आकाश जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहेगी । तथा, एक आकाश द्रव्य के भी असंख्य-अनंत सूक्ष्म प्रदेश होते हैं इसलिये भी उस को 'अनेक' मानना होगा । अन्यथा, हिमालयव्याप्त क्षेत्र और विन्ध्याचलव्याप्त क्षेत्र में अल्प-बहु प्रदेशों के भेद से भेद न रहने पर दोनों में समपरिणाम एवं समानदेशवृत्तित्व का अनिष्ट प्रसक्त होगा । इस प्रकार क्रमशः विवक्षा रखने पर 'स्यात् एक और अनेक' ऐसा चौथा भंग निष्पन्न होगा ।

पंचमभंग :- आप आकाश को एक मानते हैं, उस के एक प्रदेश के साथ आकाश का कथंचित् अभेद होने से उस एक प्रदेश के पृथक् पृथक् विवेचन की विवक्षा की जाय तो शब्द-अगोचर होने से, समस्त प्रदेशों के वाचक पृथक् पृथक् शब्दों के न होने से वह अवक्तव्य भी है । इस प्रकार क्रमशः विवक्षा करने पर 'स्यात् एक है और अवक्तव्य भी' यह पाँचवा भंग निष्पन्न होगा ।

छट्टा भंग :- प्रसिद्ध एक आकाश भी अवगाह्य-अवगाहक-अवगाहनादि भेद दृष्टि से देखा जाय तो अनेक तो है ही, किन्तु एक साथ उस के एकत्व और अनेकत्व का प्रतिपादक शब्द न होने से, अवक्तव्य भी है । अतः क्रमशः और एकसाथ, इस ढंग से विवक्षा करने पर 'स्यात् अनेक है और अवक्तव्य भी' यह छट्टा भंग निष्पन्न होगा ।

सप्तम भंग :- अखंडाकाशरूप से आकाश एक है, अवगाह्य-अवगाहक-अवगाहनाक्रिया भेदों की दृष्टि से अनेक है, किन्तु पूर्ववत् एकसाथ प्रतिपादन का आग्रह होने पर अवक्तव्य कहना पड़ेगा । इस प्रकार क्रमशः और एकसाथ विवक्षा करने पर 'स्यात् एक है और अनेक एवं अवक्तव्य भी है' यह सातवाँ भंग निष्पन्न हुआ । इस प्रकार हर एक धर्म पर सप्तभंग निष्पन्न हो सकते हैं ।

✽ घट के व्यापकत्व के बारे में सप्तभङ्गी ✽

उदाहरण के रूप में घट के सर्वगतत्व यानी व्यापकत्व को ले कर सप्तभङ्गी दर्शायी जा सकती है — 'घट स्यात् व्यापक है स्यात् अव्यापक है' इत्यादि । घट व्यापक इस तरह है कि घटान्तर्गत जो पार्थिव परमाणु हैं वे ही नैसर्गिक परिवर्तनशीलता के कारण कभी जलपरिणाम, कभी वायुपरिणाम, कभी अग्निपरिणाम तो

परमाणूनां पुद्गलरूपतापरित्यागे पूर्वपर्यायाऽपरित्यागे च घटपर्यायापत्तिः, क्षणिकाऽक्षणिकैकान्तयोरर्थ-क्रियानुपपत्तेरसत्त्वापत्तेः । परिणामिन एव सुवर्णात्मना व्यवस्थितस्य केयुरात्मना विनाशमनुभवतः कटकाद्यात्मना उत्पद्यमानस्य वस्तुनः सत्त्वात्, अन्यथा क्वचित् कस्यचित् कदाचिदनुपलब्धेः । न चाध्यक्षादन्यद् गरिष्ठं प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तद्विपरीतभावाभ्युपगमः क्रियते । अन्तर्बहिश्च हर्षविषादाद्यनेकाकारवितर्का(वर्त्ता)त्मकैकचैतन्य – स्थासकोशकुशूलाद्यनेकाकारस्वीकृतैकमृत्पिण्डादेः स्वसंवेदनाक्षजाध्यक्षतः प्रतिपत्तेः ।

सर्वधोपलभ्यमध्यरूपं पूर्वापरकोट्योरसत् इति वदतः सर्वप्रमाणविरोधात् कुण्डलाङ्गदादिषु पर्यायेषु तादृग्भूतसुवर्णद्रव्योपलब्धेः कार्योत्पत्तौ कारणस्य सर्वथा निवृत्त्यनुपलब्धेः ।

न च सादृश्यविप्रलम्भात् तदध्यवसायकल्पनेति वक्तव्यम् तदेकान्तभेदसाधकप्रमाणस्यापास्तत्वात् । न च कथंचित् स्वभावभेदेऽपि तादात्म्यक्षितिः, ग्राह्य-ग्राहकाकारसंविद्धत् विविक्तपरमाणुषु

कभी पृथ्वी परिणाम को आत्मसात् कर लेते हैं इस प्रकार समस्त लोकाकाशस्पर्शी बन जाने से 'स्यात् घट सर्वगत है' यह पहला भंग निष्पन्न होता है, इस प्रकार यहाँ भी सात भंगों की विषयता पूर्वोक्त न्याय से संगत ही है ।

यहाँ एक प्रश्न है कि घट के परमाणु जब जलादिपरिणाम को प्राप्त हो गये तो घट ही नहीं रहा, फिर उस की व्यापकता कैसे ? इस के उत्तर में व्याख्याकार कहते हैं कि घट सर्वथा अनित्य या नित्य नहीं है किन्तु नित्यानित्य है । यदि घट के परमाणु पुद्गलस्वरूप का ही त्याग कर दे तो उन में घटपर्याय की प्राप्ति कालत्रय में कभी भी नहीं हो सकेगी क्योंकि पुद्गलद्रव्य ही घटादिपर्याय वाला हो सकता है न कि जीवादिद्रव्य । अतः पुद्गलरूप से घटादि द्रव्य नित्य है । यदि घट के परमाणु पूर्वकालीन पिण्डादि अवस्था का त्याग नहीं करेंगे तो घटपर्याय का आविर्भाव अशक्य है, इस लिये पर्यायरूप से उसे अनित्य भी मानना होगा । वस्तु को एकान्त क्षणभंगुर (अनित्य) अथवा एकान्त नित्य मान लीया जाय तो उस में अर्थक्रिया की संगति न बैठने से उस के असत् होने पर संकट होगा । सुवर्णादि वस्तु को परिणामी मानने पर ही, केयुरपर्याय से विनष्ट, कटकादिपर्याय से उत्पन्न और सुवर्णरूप से अवस्थित होने के कारण उसे 'सत्' कहा जा सकेगा । अन्यथा, द्रव्य-पर्यायात्मक या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के न होने से उस की कहीं भी कभी किसी को भी उपलब्धि ही नहीं होगी । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य साक्षात्कारसिद्ध होने से स्वीकारना ही चाहिये, प्रत्यक्ष से अन्य कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो बलवत्तर हो, अतः प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुस्वभाव को न मान कर उस से उलटे स्वभाव को मानना उचित नहीं हो सकता । स्वसंवेदनप्रत्यक्ष प्रमाण से सभी को महसूस होता है कि अभ्यन्तर चैतन्य कभी हर्षात्मक विवर्त्त में, तो कभी विषाद के विवर्त्त में – इस प्रकार अनेक आकारों में स्व को बदलता रहता है फिर भी चैतन्यरूप में अपने एकत्व को अखंडित रखता है । बाह्य घटादि द्रव्य भी स्थास-कोश-कुशूल आदि आकारों में स्व को बदलता हुआ मिट्टीपिण्ड के रूप में अनुगत एक स्वरूप, प्रत्यक्ष से दिखता है ।

ऐसा कहीं दिखता नहीं कि वस्तु सर्वथा एक मात्र मध्यमावस्था में ही स्थिर रहती हो और पूर्व या पश्चाद्भावि कोटि में असत् यानी अपरिवर्त्त हो । फिर भी वैसा माननेवाले बौद्ध विद्वानों के मत में सभी प्रमाणों का विरोध प्रसक्त होगा । कुण्डल एवं अंगदादि पर्यायों में अनुगत एक सुवर्णद्रव्य का प्रत्यक्षानुभव किस को नहीं है ? ऐसा दिखता नहीं है कि मिट्टी से घड़े की या तन्तुओं से वस्त्र की उत्पत्ति होने पर मिट्टी या तन्तुओं का सर्वथा विनाश यानी असत्त्व हो जाय ।

स्थूलैकघटादिप्रतिभासवद्वा। ग्राह्य-ग्राहकाकारविविक्तसंवित्प्रकल्पनेऽध्यक्षधियोऽपि विवक्षिताकारविवे-
कानुपलब्धेरध्यक्षेतरस्वभावाभ्यां विरोधस्वरूपाऽसिद्धावन्यत्रापि कः द्वेषः ? तथाहि - शक्यमन्य-
त्राप्येवमभिधातुम् - एकमेव पार्थिवद्रव्यं लोचनादिसामग्रीविशेषात् वर्णादिप्रतिपत्तिभेदेऽपि भिन्नमिव
प्रतिभाति प्रत्यासन्नेतररूपताव्यवस्थितैकविषयवत्। न हि स्पष्टाऽस्पष्टनिर्भासभेदेऽपि तदेकत्वक्षितिस्तत्र,
तद्वदिहापि रूपादिप्रतिभासभेदेऽपि एकत्वं किं न स्यात् प्रतीतेरविशेषात्। एवं च स्याद्वादिनोऽग्नेर-
प्यनुष्णत्वप्रसक्तिरिति असंगतमभिधानम् यतस्तत्रापि 'स्याद् उष्णोऽग्निः' इति स्पर्शविशेषेणोष्णस्य
भास्वराकारेण पुनरनुष्णस्य तस्यैकस्य नानास्वभावशक्तेरबाधितप्रमाणविषयस्यैवं वचने दोषाऽऽसंगाऽ-

✽ एक अनुगत प्रतीति काल्पनिक नहीं ✽

यदि कहा जाय कि - 'एक अनुगत स्वर्णद्रव्य की प्रतीति का मूल है सादृश्य। सर्व वस्तु क्षणिक होने पर भी उत्तरक्षण में पूर्वक्षण का सादृश्य रहने से एकत्व की प्रतारणा हो जाती है, अत एव एकत्व के अध्यवसाय की कल्पना कर ली जाती है।' - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने से पहले क्षणिकता की सिद्धि होनी चाहिये, क्षणिकता सिद्ध करने के लिये पूर्वोत्तरक्षणवर्ती वस्तु में भेद सिद्ध होना चाहिये, किन्तु यहाँ जो एकान्तभेदसाधक प्रमाण का उपन्यास किया जाता है उस का कई बार निरसन हो चुका है।

यह ध्यातव्य है कि कुछ मात्रा में एक ही वस्तु में स्वभाव-भेद हो सकता है किन्तु उस से तादात्म्यभाव को कोई हानि नहीं हो जाती। एक ही संवेदन ग्राह्याकार और ग्राहकाकार उभय से संश्लिष्ट होता है। तथा एक एक पृथक् पृथक् परमाणुओं में अनेकत्व एवं सूक्ष्मता होने पर भी उन के समुदाय में एकत्व एवं स्थूलत्व का प्रतिभास होता है। यहाँ कथंचित् एकत्व-अनेकत्व, सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व, ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व स्वभावों में भेद होने पर भी उन के तादात्म्यभाव को हानि नहीं है। यदि कहा जाय - संवेदन और उस के ग्राह्याकार अथवा ग्राहकाकार में भेद होता है, अतः आकारों में भेद होने पर भी संवेदन एक रह सकता है - ऐसी कल्पना ठीक नहीं है, प्रत्यक्षबुद्धि भी एक विशिष्ट आकार से पृथक् स्वरूप में उलपब्ध नहीं होती। अतः उस में प्रत्यक्षस्वभाव तो मानना ही होगा, साथ साथ दूसरे लोगों को वह परोक्ष होने से उस में परोक्षस्वभाव भी स्वीकार करना होगा। इस प्रकार दो स्वभाव मानने में जब कोई विरोध की बदबू नहीं आती तो फिर अक्षणिक स्थिर पदार्थ में ही क्यों द्वेष रखते हैं ? देखिये - स्थिर भाव के लिये भी कह सकते हैं कि घटादि पार्थिव द्रव्य एक होते हुए भी नेत्रादि भिन्न भिन्न सामग्री के कारण वर्ण-रसादि प्रतीतियों का भेद होते हुए भी श्वेतमधुरादिरूप से भिन्न प्रतीत होता है, जैसे एक ही विषय के लिये दूर हो तब और नजदिक हो तब भिन्न भिन्न प्रतीति होती है। नजदिक होने पर 'स्पष्ट' और दूर होने पर 'अस्पष्ट' ऐसे भिन्न भिन्न प्रतिभास होते हैं फिर भी उस वस्तु के एकत्व को कोई हानि नहीं होती। तो ऐसे ही रूप-रसादि प्रतिभास-भेद एवं पूर्वक्षण-उत्तरक्षण में प्रतिभासभेद के होते हुए भी उस में एकत्व क्यों नहीं हो सकता ? जब कि स्वभावभेद की प्रतीति तो दोनों स्थल में समान है।

✽ अग्नि को अनुष्ण मानने में स्याद्वादी को संकट नहीं ✽

यदि स्याद्वादी एक वस्तु में स्वभावभेद का स्वीकार करेगा और वस्तु को सद्-असद् अनेकस्वभाव मानेगा तो अग्नि को भी अनुष्ण मानने का संकट खडा होगा - ऐसा तर्क असंगत है, क्योंकि 'स्यात् अग्नि उष्ण है' इस से हमें यही कहना है कि स्पर्शविशेष के दृष्टिकोण से अग्नि उष्ण है, किन्तु भास्वराकार है इतने मात्र से उष्ण नहीं है (अर्थात् अनुष्ण है।) - इस प्रकार एक ही अग्नि में पृथक् पृथक् अनेक स्वभावशक्ति

सम्भवात्। तस्मादेकस्यैव सामग्रीभेदवशात् तथाप्रतिभासाऽविरोधः।

कारणस्य च कार्यात्मनोत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयमस्ति यतस्तथोत्पित्सुस्वभावता न भवेत्। अत एव मृदादिभावो घटस्वभावेन नश्वरः कपालस्वरूपेण चोत्पत्तौ तिष्ठतीति स्वभावत एव नश्वर उत्पित्सुः स्थास्नुश्च अन्यतमापाये पदार्थस्यैवाऽसम्भवात् त्रितयभावं प्रत्यनपेक्षत्वाच्च। न हि उत्पन्नः पदार्थः किञ्चित् स्थितिं प्रत्यपेक्षते स्थित्यात्मकत्वादुत्पादस्य। न चावस्थित उत्पत्तौ किञ्चिदपेक्षते उत्पत्तिस्वभावत्वात् स्थितेः। न च विनष्ट उत्पत्तिं प्रति हेत्वन्तरापेक्षः विनाशस्योत्पत्त्यात्मकत्वात्। ततः पूर्वापर-स्वभावपरित्यागावाप्तिलक्षणं परिणाममासादयन् भावो व्यवतिष्ठत इति प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरमेतत्। अतः शब्द-विद्युत्-प्रदीपादेरपि निरन्वयविनाशकल्पनाऽसंगतैव। तेषामादौ स्थितिदर्शनात् अन्तेऽपि तत्स्वभावानतिक्रमात्। न हि भावः स्वं स्वभावं परित्यजति प्रागपि तत्स्वभावपरित्यागप्रसक्तेः। अन्ते च क्षयदर्शनात् प्रागपि नश्वरस्वभाववत् आदावुत्पत्तिसमये स्थितिदर्शनादन्ते स्थितिः किं नाभ्युपेयते ?

मानने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, अतः अग्नि को अनुष्ण कहने में भी स्याद्वाद के ढंग से कोई दोषलेख नहीं है। निष्कर्ष, एक ही वस्तु के बारे में भिन्न भिन्न सामग्री के जरिये भिन्न भिन्न प्रतिभास भी हो सकते हैं और वस्तु एक भी हो सकती है — इस में कोई विरोध नहीं है।

मिट्टी आदि भावों की निर्बाध त्रयात्मकता

स्याद्वादसिद्धान्तानुसार उपादान कारण स्वयं ही कार्यरूप से उत्पन्न होता है, इस में ऐसे किसी की पराधीनता नहीं होती जिस की प्राप्ति के असम्भव से कार्योत्पत्ति रुक जायेगी। अतः कारण में कार्यरूप से उत्पत्तियोग्यतामय स्वभाव न होने की शंका ही निरवकाश है। इसी लिये मिट्टी आदि भाव त्रयात्मक सिद्ध होता है, क्योंकि मिट्टी आदि भाव घटरूप से नाशवंत, कपालस्वरूप से उत्पत्तिशील हो कर भी मिट्टीरूप में ध्रुव रहता है - इस प्रकार स्वभावतः पदार्थमात्र नाशवंत-उत्पत्तिशील-ध्रुवस्वभाव त्रयात्मक होता है, एक के भी विरह में पदार्थ के स्वतत्त्वका भंग फलित होगा। जो विनाशादि तीन प्रक्रिया से निरपेक्ष होता है वह शशसींग की तरह असत् होता है। कोई भी उत्पन्न पदार्थ अपनी स्थिति के लिये परसापेक्ष अर्थात् परमुखदर्शी या पराधीन नहीं होता, उस की उत्पत्ति स्थिति के साथ तादात्म्यापन्न ही होती है। ऐसे ही ध्रुव पदार्थ अपने नये पर्याय से उत्पत्ति होने में भी अन्यसापेक्ष नहीं रहता, क्योंकि उस की स्थिरता-स्थिति स्वयं ही उत्पत्तिशील होती है। ऐसे ही विनष्ट पदार्थ भी उत्पत्ति के लिये अन्यहेतुसापेक्ष नहीं होता क्योंकि विनाश भी उत्पत्तिस्वभाववाला ही होता है। उत्पत्ति आदि के जो हेतु कहे जाते हैं वे सिर्फ उत्पत्तिआदि स्वभाव के व्यञ्जकमात्र ही होते हैं। अब प्रत्यक्षादिप्रमाण से देखा जायतो स्पष्ट ही यह दिखाई देगा कि भाव मात्र पूर्वस्वभावत्याग एवं अपरस्वभावप्राप्ति स्वरूप परिणाम को आत्मसात् करता हुआ अवस्थित रहता है।

बौद्ध ने जो ऐसी कल्पना की है कि — शब्द, बीजली और प्रदीप आदि प्रत्येक पदार्थ निरन्वयविनाशी होते हैं — वह संगत नहीं होती, क्योंकि प्रारम्भ में जिस की स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है उस का यह स्वभाव अन्तिमक्षण तक अतिक्रान्त नहीं होता। कोई भी भाव अपने स्वभाव का सर्वथा परित्याग कर दे यह तो सम्भव नहीं है, अन्यथा पहले से ही उस का त्याग क्यों नहीं कर देता ? जब बौद्धवादी यह मानता है कि अन्तिम क्षण में वस्तुमात्र का विनाश दिखता है अतः प्रतिक्षण वस्तु विनाशी ही होने चाहिये - तो ऐसा भी क्यों नहीं मानता कि प्रारम्भ में उत्पत्तिक्षण में वस्तुमात्र की स्थिति दिखती है अत एव अन्तसमय तक वह स्थितिशील होती है ?!

न च विद्युत्प्रदीपादेस्तैजसरूपपरित्यागात् तामसरूपस्वीकरणे किञ्चिद् विरुद्धं भवेत् । न च स्वभावभेदस्तदेकत्वविघातकृत्, ग्राह्य-ग्राहकाकारसंवेदनवत् वेद्यवेदकाकारविवेकपरोक्षाऽपरोक्षसंवित्तिवद्वा । यथा च ध्वंसहेतोस्तदतद(त्)करणविरोधात् अकिञ्चित्करत्वम् तथा स्थित्युत्पादहेत्वोर्विशारुधर्मणः स्थास्नुताकरणाभावात् स्वत एव स्थितिस्वभावस्य स्थितिहेतोरानर्थक्यात् । अथ स्थितिहेतुरपातं करोतीत्युच्यते तर्हि 'पातं न करोति' इति प्रसक्तम् एवं चाकिञ्चित्करत्वमेव तस्य । यदि वाऽर्थान्तरं ततोऽपातः तर्हि तस्य करणे विनश्चरस्वभावः किं न विनश्येत् ? अथाऽसौ स्थास्नुः तथापि स्थितिहेतोरानर्थक्यम् स्वत एव तस्य स्थितेः । तथा उत्पत्तिहेतुरपि यदि भावं करोति तदा तस्याऽकिञ्चित्करत्वमेव भावस्य स्वयमेव भावरूपत्वात् । अथाभावं भावरूपतां नयति तर्हि नाशहेतुरपि भावमभावीकरोतीति कथमकिञ्चित्करः स्यात् ? न हि अभावस्य भावीकरणे भावस्य वाऽभावीकरणे कश्चिद् विशेषः सम्भवी । अत एव तेषामन्यतमस्य सहेतुकत्वमहेतुकत्वं वाऽभ्युपगच्छन् सर्वेषां तदभ्युपगन्तुमर्हत्यविशेषात् ।

✽ विद्युत् आदि निरन्वयविनाशी नहीं है ✽

विद्युत् आदि का भी निरन्वय विनाश नहीं होता, प्रदीप-विद्युत् आदि पुद्गलद्रव्य के ही तैजस परिणाम हैं । जब वे तैजस परिणाम का त्याग करते हैं तब तामस परिणाम का अंगीकार कर लेते हैं । इस तथ्य के स्वीकार में कोई विरोध नहीं है । तैजस एवं तामस द्रव्य का परस्पर उलटा स्वभाव उन के एकत्व का विघातक नहीं है जैसे संवेदन में ग्राह्याकार और ग्राहकाकार एक दूसरे से विभिन्न होने पर भी संवेदन एक होता है, यद्वा वेद्य-वेदकाकार से मुक्त संवेदन परोक्ष-अपरोक्ष उभयाकार होने पर भी एक होता है ।

बौद्ध :- ध्वंस को स्वाभाविक मानने के बदले आप उसे सहेतुक मानते हैं वहाँ स्पष्ट है कि ध्वंसक माने गये दण्डादि घटादि का विनाश यानी अभाव करता है, उस पर प्रश्न है कि वह नाशशील का विनाश करेगा या अनाशशील का ? दोनों ही विकल्प में विरोध होने से ध्वंसहेतु निरर्थक है ।

स्याद्वादी :- ऐसे ही स्थिति और उत्पत्ति के हेतु को भी निरर्थक क्यों नहीं मानते ? जो स्वतः नाशशील है उस को स्थितिस्थापक से कोई स्थिरस्वभाव का लाभ हो नहीं सकेगा । यदि भाव स्वतः स्थितिस्वभाव है तो भी उसे स्थितिस्थापक से कोई अतिरिक्तलाभ नहीं होगा, दोनों ही विकल्प में स्थिति हेतु निरर्थक है ।

यदि कहा जाय — स्थिति हेतु निरर्थक नहीं है, वह वस्तु के अपात को करता है — तो भी निरर्थकता नहीं टलेगी क्योंकि अपात को करने का मतलब है 'पात को न करना' — इस में स्थिति को क्या लाभ हुआ ? यदि 'अपात' स्थिति से अभिन्न होगा तो अपात को करने से 'स्थिति' को ही करता है यह अर्थ हुआ । यहाँ पुनः प्रश्न होगा कि यदि वह विनाशस्वभाव पदार्थ की स्थिति को करने जायेगा तो उसी वक्त विनाश ही क्यों नहीं हो जायेगा ? यदि स्वतः स्थितिस्वभाव की स्थिति करने जायेगा तो अकिञ्चित्कर ठहरेगा ।

इसी तरह उत्पत्तिहेतु भी निरर्थक ठहरेगा । दो प्रश्न होंगे, भाव की उत्पत्ति का हेतु यदि भाव को करने का दावा करता है तो वह व्यर्थ है, जो स्वयं भावस्वरूप ही है उस का पुनः क्या भावीकरण होगा ? यदि कहा जाय कि वह अभाव का भाव बनायेगा — अरे ! तब तो नाशहेतु भाव को अभाव बनायेगा फिर वह कैसे निरर्थक होगा ? अभाव का भाव बनावे या भाव का अभाव बनावे — दोनों प्रक्रिया में ऐसा कोई भेद नहीं है कि जिस से एक को हेतु माना जाय और अन्य को नहीं । अत एव यदि उत्पत्ति-स्थिति-विनाश में किसी एक को भी सहेतुक या अहेतुक मानेंगे तो तीनों को तथैव सहेतुक या अहेतुक मानना पड़ेगा,

न च भिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्य-कारणयोरेकत्वमनुपपन्नम् स्वभावभेदेऽप्येकत्वप्रतिपत्तेः, सर्वसंवित्क्ष-
णानामेकदोत्यत्तिविनाशवतामभिन्नयोगक्षेमत्वेऽपि च परस्परतः पृथग्भावसिद्धेः। अथात्राभिन्नयोगक्षेम-
पक्षेऽपि प्रतिभासभेदाद्भेदस्तर्हि यत्र प्रतिभासाभेदस्तत्र भिन्नयोगक्षेमत्वेऽप्यभेदः, प्रतिभासभेदाभेद-
योर्वस्तुभेदाभेदव्यवस्थापकत्वात् समुदायस्य च देशकालभेदाभावात् सकृदेव संवित्यात्मनोत्पत्तेरेकत्वं च
प्रसज्येत। यदि च स्वभावभेदो वस्तुभेदलक्षणम् तदा सन्तानान्तरयोरिव विषयविषयीरूपायां संवि-
त्तेरेकत्वेऽपि प्रत्यक्षेतरयोर्वाऽसौ विद्यत इति नानात्वं भवेत्। यदि पुनः स्वभावभेदाऽविशेषेऽपि
विवक्षितज्ञानक्षणाकारयोरेव तादात्म्यम् न पुनः सन्तानान्तरसंवित्तीनामिति प्रत्यासत्तेः कुतश्चिद् व्यवस्थाप्यते
तर्हि परस्यापि विवक्षितैकार्थोपादानोपादेयभूतयोरेवावस्थयोस्तादात्म्यं कथंचिद् वदतो न कश्चिद् दोषः
प्रसक्तिमान्। निराकृतथानेकशः एकान्तवादः तत्प्रसाधकहेतुनां सर्वेषामनेकान्तव्याप्ततया विरुद्धताप्रदर्शनात्,
तत्प्रदर्शनं चैकान्तवादिनिग्रहस्थानमनेकान्तवादिविजयस्यैवैतरपराजयाधिकरणप्राप्तिलक्षणत्वात्, 'विरुद्धं
क्योकि एक को अहेतुक और अन्य को सहेतुक मानने के पक्ष में कोई युक्ति नहीं है।

✽ प्रतिभास का भेद-अभेद वस्तुभेद-अभेद का स्थापक ✽

शंका :- कारण और कार्य के योग-क्षेम भिन्न भिन्न होते हैं। कारण पूर्ववर्ती होता है, कार्य उत्तरवर्ती
होता है; कारण सिद्ध रहता है, कार्य साध्य होता है इत्यादि। अतः योग-क्षेम के भेद से कारण और कार्य
में भेद मानना उचित है न कि पहले कहे आये हैं ऐसा एकत्व।

उत्तर :- ऐसा नहीं है। स्वभावभेद (योग-क्षेम आदि का भेद) के रहने पर भी एकत्व मानना उचित
है। उस से उलटा, एक साथ उत्पन्न-विनष्ट संवेदनक्षणों में योग-क्षेम-भेद न होने पर भी उन में परस्पर भेद
सिद्ध माना जाता है। यदि कहा जाय - 'वहाँ योग-क्षेम-भेद के न होने पर भी प्रतिभास भिन्न भिन्न होता
है इस लिये एक श्वेतवस्त्रक्षण से अन्य श्वेतवस्त्रक्षण में भेद मान सकते हैं।' - तो यहाँ समझना चाहिये कि
जैसे योगक्षेमभेद न होने पर भी प्रतिभासभेद से क्षणभेद माना जाता है तो वैसे ही योगक्षेमभेद रहने पर
भी प्रतिभास के अभेद से अभेद मान लेना चाहिये, क्योंकि अब तो आप प्रतिभास के भेद या अभेद के
आधार पर वस्तु में भेद या अभेद की स्थापना करते हैं। तथा, बौद्धमत में स्थूल द्रव्य को अवयवीरूप न
मान कर परमाणुसमुदायात्मक ही माना जाता है; वास्तव में वहाँ एकत्व न होने पर भी अब एकत्व प्रसक्त
होगा, क्योंकि वहाँ न देशभेद है न कालभेद, और उन का आत्मसंवेदन भी एक ही होता है।

यदि स्वभावभेद को वस्तुभेदप्रयोजक माना जाय तो जैसे एकसंतान के संवेदन से अन्य सन्तानगत संवेदन
भिन्न होता है वैसे एक ही संवेदन में विषयस्वभाव और विषयीस्वभाव का भेद होने से संवेदनभेद प्रसक्त होगा।
अथवा वही एक संवेदन स्व के लिये प्रत्यक्ष और अन्य के लिये परोक्षस्वभाव होने से पुनः संवेदनभेद प्रसक्त
होगा। अब यदि स्वभावभेद दोनों स्थल में समान होने पर भी सन्तानान्तरवर्ती क्षणों में ही भेद स्वीकार्य
है, विषय-विषयीभावापन्न अथवा प्रत्यक्ष-परोक्षभावापन्न विवक्षितज्ञानक्षण के आकारों में भेद स्वीकार्य नहीं है,
किसी भी सम्बन्धविशेष के आधार पर आप ऐसी स्थापना करना चाहते हैं; तो फिर प्रतिवादी भी कह सकता
है कि विवक्षित एक भाव की उपादान-उपादेय-भावापन्न कारण-कार्यभूत अवस्थाओं में ही कथंचित् तादात्म्य
होता है - ऐसा कहने में स्याद्वादी को कोई दोष नहीं लगता।

निष्कर्ष यह है कि एकान्तवादसाधक सभी हेतु वास्तव में एकान्त से उलटा यानी अनेकान्त के साथ
व्याप्त होने से विरुद्धदोषग्रस्त होते हैं यह प्रदर्शन पहले कई बार कर के अनेक दफा एकान्तवाद का निरसन

हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः' () इत्यस्य वचसो न्यायानुगतत्वात् ।

❖ न्यायदर्शनोक्तनिग्रहस्थानस्वरूपमीमांसा ❖

यदि पुनरसाधनाङ्गवचनं वादिनः पराजयाधिकरणमभ्युपगम्येत तदा वादाभ्युपगमं विधाय तू-
ष्णीभावमात्रेणा(?ण)साधनांगस्यावचनाद् वादिनो विजयः किं न स्यात् ? प्रतिवादिनोऽपि स्वप-
क्षसिद्धिमकुर्वतः कथं न विजयस्तत एव भवेत् ? अथ साधनांगाऽवचनमपि निग्रहस्थानं तर्हि वादि-
प्रतिवादिनोर्यौगपथेन निग्रहाधिकरणता भवेत् तूष्णीभावाऽविशेषात् । 'तूष्णीभावोपलम्भेनेतरो विजयवान्'
इति चेत् ? नन्वेवमितरजयस्यान्यतरपराजयाधिकरणतैव प्राप्ता । न च स्वपक्षसिद्धिमकुर्वत इतरोपलम्भ-
मात्रेण जयप्राप्तिः, तदप्राप्तौ च कथं तदितरस्य पराजयः ? यदपि 'इष्टस्यार्थस्य सिद्धिः = साधनम्,
तस्याङ्गं स्वभाव-कार्याऽनुपलम्भलक्षणं हेतुत्रयं पक्षधर्मत्वादि वा त्रैरूप्यम् तस्याऽवचनं निग्रहस्थानं
वादिनः' इत्युक्तम् - तदप्यचारु, प्रतिवादिनोऽपि पक्षधर्मत्वादेरन्यतमस्यानुक्तावसमर्थने वा विजयाऽ-
प्राप्तेः, तदप्राप्तौ च वादिनो निग्रहस्थानानुपपत्तेः, इतरजयनान्तरीयकत्वादितरपराजयस्य । एवं हेत्वा-
भासादेरसाधनाङ्गस्य वचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति प्रतिक्षिप्तमुक्तन्यायाद् द्रष्टव्यम् । अथ ततः

किया जा चुका है । एकान्तसाधक हेतुओं में विरुद्धता का प्रदर्शन एकान्तवादियों के लिये निग्रहस्थान है, क्योंकि
एकान्तसाधक हेतुओं से अनेकान्त की सिद्धि होने पर अनेकान्तवादी का विजय हो जाता है और वही एकान्तवादी
के लिये पराजय का अधिकरण बन जाता है । यहाँ यह न्यायसंगत वचन साक्षिरूप है विरुद्धं० इत्यादि -
अर्थात् 'प्रतिवादी वादी के प्रयुक्त हेतु में विरुद्धता का उद्भावन कर के वादी को जीत लेता है ।'

❖ न्यायदर्शनोक्त निग्रहस्थान के स्वरूप की आलोचना ❖

वादी विरुद्धता दोष का उद्भावन कर के जब अनायास स्वपक्षसिद्धि का प्रदर्शन करता है तब वादी का
जय और प्रतिवादी का पराजय ध्वनित होता है - यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक वादी स्वपक्षसिद्धि
न करे तब तक किसी भी हालत में प्रतिवादी का पराजय यानी निग्रह नहीं होता ।

यदि सिर्फ असाधनभूत अंग का वचन = निरूपण करने मात्र से (प्रतिवादी की स्वपक्षसिद्धि न होने
पर भी) वादी को पराजय का अधिकरण घोषित किया जाय - तो एक बार वाद का स्वीकार कर के वादी
वादसभा में मौन धारण कर ले तो उतने से ही वहाँ (अ)साधनभूत अंग का वचन न करने से वादी का
विजय क्यों नहीं माना जाय ? तथा प्रतिवादी भी वहाँ मौन धारण कर ले तो स्वपक्षसिद्धि चाहे न भी करे,
विजय क्यों न होगा ? यदि कहा जाय - अवचनमात्र से जय नहीं हो जाता, साधनभूत अंग का वचन
भी करना चाहिये, उस के न करने पर वादी को निग्रहस्थान ही प्राप्त होगा । - तो प्रतिवादी भी वहाँ मौन
रख कर साधन के अंगभूत वचन न करने से, यहाँ मौनधारक वादी-प्रतिवादी दोनों ही एक साथ निग्रह
के अधिकरण बनेंगे क्योंकि दोनों समानरूप से मौन है ।

यदि कहा जाय - मौन रहने से जय-पराजय नहीं किन्तु जो दूसरे के मौन का उपलम्भ यानी उल्लेख
प्रथम कर दिखावे उस की विजय होगी । - तो इस का मतलब यह हुआ कि एक की विजय से ही दूसरा
पराजय का अधिकरण हो जाता है । किन्तु यहाँ प्रश्न है कि जब तक कोई भी स्वपक्षसिद्धि नहीं करता,
तब तक सिर्फ दूसरे के मौन का उल्लेख कर देने मात्र से एक का जय और उल्लेख न कर सकने मात्र
से दूसरे का पराजय कैसे न्यायसंगत कहा जाय ?

साध्यसिद्धेरभावात् तस्य निग्रहस्थानमेव । न, भ्रूविक्षेपादेरसाधनाङ्गकरणस्य तत एव तत्प्राप्तेः । ततो वादिनमसाधनाङ्गमभिधानं कुर्वाणं वा स्वपक्षसिद्धिं विदधदेव प्रतिवादी तत्पक्षप्रतिक्षेपेण निगृह्णातीत्ये- तदेव न्यायोपेतमुत्पश्यामः ।

एवं प्रतिवादिनो दोषमनुद्वावयतो न निग्रहस्थानम् तावता स्वपक्षसिद्धिमकुर्वाणस्य वादिनो विजयप्राप्त्ययोगात् तत्साधनस्य सदोषत्वसम्भवात् । 'तस्य सदोषत्वेऽपि तदुद्भावनाऽसमर्थत्वात् प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं तद्' इति चेत् ? न, दोषवत्साधनाभिधानाद् वादिनोऽपि पराजयाधिकरणत्वात् द्वयोरपि युगपत् पराजयप्राप्तेः । अत एव प्रतिवादिनो दोषस्यानुद्वावनमपि न निग्रहस्थानम् । यच्च वादि- पक्षसिद्धेरप्रतिबन्धकं पक्षादिवचनाधिक्योद्भावनं प्रतिवादिपक्षसिद्धावसाधकतमं तत् सर्वं न वादिनः पराजयाधिकरणम् अन्यथा तत्प्रादप्रसारिकाद्युद्भावनमपि तस्य पराजयाधिकरणम् स्यात् ।

किसी ने जो यह कहा है — 'साधन' यानी इष्ट अर्थ की सिद्धि, उस के तीन अंग हैं स्वभाव हेतु — कार्य हेतु और अनुपलम्भ हेतु । अथवा ये तीन अंग हैं — पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व और विपक्षव्यावृत्ति । इस प्रकार के अंग का कथन नहीं करना- अर्थात् स्वपक्षसाधक हेतु का अथवा उस हेतु में त्रिरूपता का निरूपण न करना, यही वादी के लिये निग्रहस्थान है । - किन्तु यह भी पूरा सच नहीं है, क्योंकि वादी के स्वपक्षसिद्धि न करने मात्र से उस की पराजय होने द्वारा स्वपक्षसिद्धि न करनेवाले प्रतिवादी का जय मान लेना भी उचित नहीं है । जब तक प्रतिवादी अपने हेतु में पक्षधर्मतादि किसी एक अंग का निरूपण न करे या उस का समर्थन न करे तब तक प्रतिवादी का विजय नहीं हो सकता और प्रतिवादी का विजय न होने से वादी का पराजय भी घट नहीं सकता क्योंकि जय-पराजय तो एक ही मुद्रा के दो पहलू हैं, अतः एक का पराजय अन्य के जय के विना नहीं हो सकता । इसी न्याय से, 'जय के विना पराजय नहीं' इस न्याय से ही, हेत्वाभास की निग्रहस्थानता दूरापास्त हो जाती है, क्योंकि प्रतिवादी जब तक स्वपक्षसिद्धि न करे तब तक अनाभोग आदि से असाधनाङ्गभूत हेत्वाभास का प्रयोग कर देने मात्र से वादी को पराजित नहीं मान सकते ।

यदि कहा जाय — हेत्वाभास से वादी की स्वपक्षसिद्धि नहीं होती इसी लिये वह निग्रहस्थान को प्राप्त हो जायेगा । — तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वादी के भ्रू-विक्षेप आदि भी कायिकरूप से असाधनाङ्गभूत होने से, अत एव साध्य-सिद्धि-कारक न होने से वादी निगृहीत हो जाने का संकट खड़ा होगा ।

निष्कर्ष, स्वपक्ष की सिद्धि करने के साथ ही यदि प्रतिवादी, असाधनाङ्ग कथन करने वाले अथवा असाधनाङ्गभूत क्रिया करने वाले वादी के पक्ष का प्रतिक्षेप कर के उस को निगृहीत कर सकता है — यही न्यायसंगत दृष्टि है । अतः नैयायिकादि ने जो २१ निग्रहस्थानों का प्रदर्शन किया है वह पूर्णरूप से स्वपक्षसिद्धिनिरपेक्ष होने पर युक्तियुक्त नहीं है ।

✽ दोषोद्भावन में अशक्तिमात्र से निग्रह अशक्य ✽

प्रतिवादी यदि वादी के मत में दोषोद्भावन न करे तो निग्रहस्थान प्राप्त करे — यह भी न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि तब भी वादी स्वपक्षसिद्धि न करने से विजयी नहीं होता, क्योंकि तब उस काल में उस का हेतु सदोष होने की सम्भावना बनी रहती है । 'हेतु सदोष होने पर भी प्रतिवादी उस का उद्भावन करने में समर्थ न होने से निग्रहस्थान को प्राप्त हो जाय' — ऐसा तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि तब दोषयुक्त साधन का कथन करने वाला वादी भी पराजय का अधिकरण बन रहा है । इस प्रकार से तो दोनों ही पराजित हो जायेंगे । इसी लिये दोष का उद्भावन न करनेवाला प्रतिवादी निग्रहस्थान को प्राप्त नहीं होता ।

अथ पक्षादिवचनस्याऽसाधनाद्गत्वात्तद्गद्वावने वादिनस्तदपरिज्ञाननिबन्धनपराजयाधिकरणता तर्हि 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इति व्याप्तिवचनादेव शब्दस्यापि क्षणिकत्वसिद्धौ 'संश्व शब्दः' इत्यभिधानं तत एव तस्य पराजयाधिकरणं भवेत्। न च शब्दे शब्द(?सत्त्व)विप्रतिपत्तिर्येन तन्निरासाय सत्त्वाभिधानं तत्राऽपुनरुक्तं भवेत्, तद्विप्रतिपत्तौ वा तत्साधकहेतु(तो)रसिद्धत्वादिदोषत्रयानतिवृत्तेर्भवतैवाभ्युपगमात् तत्साध्यत्वानुपपत्तिः।

यदि च संक्षिप्तवचनात् साध्यसिद्धौ तद्विस्तराभिधानं निग्रहस्थानं तर्हि सत्त्वात् क्षणक्षयसिद्धौ कृतकत्व-प्रयत्नान्तरीयकत्वाद्यभिधानं कथं न निग्रहस्थानं स्यात् ? कथं वा कृतकप्रयत्नानन्तरीयकादिषु स्वार्थिकस्य तस्योपादानं तत्र स्यात् ? 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादिसाधनवाक्यमभिधाय पक्षादिवचनवत् तत्समर्थनमपि निग्रहस्थानं प्रसक्तम् असमर्थितमपि स्वत एव तत्त्वेनोक्तमेव। स्वसाध्याऽविनाभूतस्य हेतोः प्रदर्शनमात्रात् साध्यसिद्धेः सद्भावात् स्वभाव-कार्यानुपलम्भप्रकल्पनया

तथा, नैयायिक ने जो 'अधिक' आदि निग्रहस्थान बताया है वह भी वादी के पराजय का अधिकरण नहीं बन सकता। सच तो यह है कि वादी ने अगर पक्षादि के निर्देश करने में कोई अधिक निर्देश कर दिया तो उस से न तो वादी की पक्षसिद्धि में प्रतिबन्ध होता है, न तो वह प्रतिवादी की पक्षसिद्धि में साधकतम बनता है, इसीलिये वैसा कोई भी दोषोद्भावन पराजयप्रयोजक नहीं हो सकता। अन्यथा, वादी पादप्रसारण करे तो वह भी पक्षसिद्धि में अनुकूल न होने से, उस का उद्भावन भी वादी-प्रतिवादी के लिये पराजय-जय का अधिकरण हो जायेगा।

✽ पक्षादिवचन से निग्रह का बौद्धमत अनुचित ✽

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि व्याप्तिसहित हेतु और उपनय से ही साध्य सिद्धि हो जाने पर पक्षादि का अधिक वचन साधनाद्गद्भूत न होने से, जब उस का (अधिकता का) प्रतिवादी की ओर से उद्भावन किया जाय तब अधिकतादिदोषाज्ञानमूलक पराजय वादी को जरूर प्राप्त होना चाहिये — तो बौद्ध को भी कहना होगा कि 'जो सत् है वह क्षणिक होता है' इस व्याप्ति का उल्लेख करने मात्र से ही 'यत्' — पदार्थ अन्तर्गत शब्दपदार्थ में भी सत्त्वहेतुक क्षणिकता की सिद्धि हो जाती है, तब 'शब्द भी सत्' है यह उपनय वचन अधिक हो जाने से बौद्ध भी पराजयाधिकरण हो जायेगा। शब्द में सत्त्व के होने में किसी को विवाद नहीं है जिस का निराकरण करने के लिये शब्द में सत्त्व का निर्देश करने पर, 'पुनरुक्ति नहीं है' ऐसा कहा जा सके। यदि शब्द में सत्त्व होने-न होने में विवाद होगा तो शब्द-पक्ष में सत्त्व हेतु असिद्धि आदि तीन दोष में से किसी एक दोष से ग्रस्त हो जायेगा, (अर्थात् संदिग्धासिद्धि का भोग बन जायेगा) बौद्ध ने भी यह माना हुआ है, फलतः शब्द में क्षणिकत्व साध्य की संगति ही नहीं बैठेगी।

✽ अधिकवचन की निग्रहस्थानता अमान्य ✽

'अधिक' वचन को दोष मानते हुए यह जो कहा है कि संक्षिप्त कथन से ही साध्य सिद्धि हो सकता है तब विस्तार से कथन निग्रहस्थान है — तो बौद्ध मत में सत्त्व हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है तब कृतकत्व अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि हेतुप्रयोग भी निग्रहस्थान क्यों नहीं होगा? अथवा, कृतक और प्रयत्नानन्तरीयक शब्दों का हेतुरूप में जब प्रयोग किया जाता है तब वहाँ 'कृत' और 'प्रयत्नान्तरीय' शब्दों के प्रयोग से भी निर्वाह हो सकता है तब स्वार्थ में 'क' प्रत्यय के साथ हेतु का उपादान वहाँ कैसे उचित कहा जा सकता है ? तथा, बौद्ध की ओर से 'जो सत् है वह क्षणिक होता है' इस साधनवाक्य

तद्वचनं निग्रहस्थानं परस्य प्रसक्तम् । अनुपलब्धावुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य इति विशेषणोपादानं निग्रहस्थानं अदृश्यानामपि व्याधि-भूत-ग्रहादीनां कुतश्चिद् व्यावृत्तिसिद्धेः । यदि तु उपलब्धानुपलब्धेरवाभावसिद्धिः तदा 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्' इत्यत्र घटादेरात्मनोऽक्षणिकस्यादृश्यानुपलब्धादभावासिद्धेः 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इति सामस्येन व्याप्त्यसिद्धितः क्षणक्षयानुमानं नानवद्यं स्यात् ।

किञ्च, देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टभावानुपलब्धेरभावासिद्धौ 'सर्वत्र सर्वदा सर्वो धूमोऽग्निमन्तरेणानुपपत्तिमान्' इति व्याप्तेरसिद्धेर्न ततस्तत्सिद्धिः स्यात् । न चाध्यक्षानुपलब्धौ तत्कार्यकारणभाव-प्रसाधकावभ्युपगम्यमानौ सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्चेयतो व्यापारान् विधातुं क्षमौ । तत्पृष्ठ-भावविकल्पस्य तन्निवर्तनसामर्थ्याभ्युपगमे सविकल्पकस्यानिष्टं प्रामाण्यं प्रसज्येताऽनधिगतार्थाधि-गन्तृत्वादविसंवादित्वाच्च तस्य । अविकल्पकस्य तु हिंसाविरतिदानचेतसां स्वर्गादिफलनिवर्तनसामर्थ्य-स्वभावसंवेदनस्येव सर्वात्मना वस्तुसंवेदनेऽपि निर्णयवशादेव प्रामाण्योपपत्तेः । अन्यथा अनुमानस्याऽ-

का प्रदर्शन करने के बाद पक्षादिकथन को जैसे निग्रहस्थान मानते हो तो उस साधनवाक्य के समर्थन के लिये असिद्धि आदि दोष का प्रदर्शन भी निग्रहस्थान क्यों नहीं माना जाता ?! समर्थन के बिना भी अपने आप साध्य के साधकरूप में साधन का कथन हो ही जाता है; अपने साध्य के अविनाभूत हेतु के प्रदर्शन मात्र से साध्य की सिद्धि हो जाती है, तब 'इति स्वभावहेतुः' अथवा 'इति कार्यहेतुः' अथवा 'अनुपलब्धिहेतुः' इत्यादि हेतुभेद की कल्पना एवं उस के शब्दतः प्रदर्शन में भी बौद्ध को निग्रहस्थान प्राप्त होगा । तथा, अनुपलब्धिहेतु से अभाव की सिद्धि करते समय 'उपलब्धिलक्षण (उपलब्धियोग्यता) प्राप्त होने पर भी अनुपलब्ध होने से' ऐसा हेतुप्रयोग करते हैं तो उस में 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' ऐसा विशेषण का उपादान निरर्थक होगा, क्योंकि जिन अदृश्य व्याधि, भूत, ग्रहादि के व्यवच्छेद के आशय से उस विशेषण का प्रयोग किया जाता है वह आशय तो अन्य किसी भी ढंग से, प्रकरणादि से भी ज्ञात हो सकता है ।

यह भी विचारणीय है कि यदि एकान्त से उपलब्धियोग्य की अनुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि मानी जाय, तो — आत्मसिद्धि के लिये यह जो अनुमानप्रयोग किया जाता है की 'वह जीवंत शरीर आत्मशून्य नहीं है क्योंकि प्राणादियुक्त है' — इस प्रयोग से आत्मा सिद्ध हो जाने के बाद यदि वह अक्षणिक है तो भी उस की अनुपलब्धि अदृश्यानुपलब्धि होने से घटादि में या दूसरे क्षण में उस के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकेगी, फलतः अक्षणिक आत्मा का अभाव सिद्ध न होने से 'जो सत् है वह सब क्षणिक होता है' ऐसी व्याप्ति भी आत्मा का अन्तर्भाव कर के व्यापक रूप से सिद्ध नहीं होगी; परिणाम यह आयेगा कि वस्तु में क्षणिकता का निर्दोष अनुमान दुर्लभ बन जायेगा ।

✽ योग्यानुपलब्धि से अभावासिद्धि का एकान्त अमान्य ✽

यह भी ज्ञातव्य है — यदि उपलब्धियोग्य की अनुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि का आग्रह करेंगे तो कुछ ऐसे भाव जो सदा के लिये देशविप्रकृष्ट या कालविप्रकृष्ट अथवा स्वभावतः विप्रकृष्ट होते हैं उन की कभी भी हमें उपलब्धि नहीं होती, अतः उन की अनुपलब्धि उपलब्ध्यानुपलब्धि नहीं है, फलतः उन का भी अभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा । ऐसी स्थिति में ऐसे धूम जो देशादिविप्रकृष्ट ही होते हैं उन का भी अग्नि के अभाव में अभाव सिद्ध न होने से यह व्याप्ति ही सिद्ध नहीं हो सकेगी कि किसी भी क्षेत्र या काल में, धूम कभी भी अग्नि के बिना विद्यमान नहीं होता । नतीजतन, धूम हेतु से अग्नि भी सिद्ध नहीं होगा ।

प्रामाण्यप्रसक्तेः तद्गृहीतग्राहितया इत्युक्तं प्राक्। अदृश्यानामनुपलम्भादभावाऽसिद्धावर्थक्रियया सत्ता भावानां व्याप्तेत्येतदपि परस्य निग्रहस्थानमेव। ततः स्वपक्षसिद्धिरितरस्य पराजयाधिकरणम् सा च परोपन्यस्तहेतोर्विरुद्धताप्रदर्शनेन स्वतन्त्रनिर्दोषहेतुसमर्थनेन वा परोपन्यस्तहेत्वसिद्धतादिदोषप्रतिपादनपुरस्सरा कर्त्तव्या अन्यथा परपराजयनिबन्धनस्वविजयाऽयोगात्। यदा च विजिगीषुणा स्वपक्षस्थापनेन परपक्षनिराकरणेन च सभाप्रत्यायनं विधेयम् - अन्यथा जयपराजयानुपपत्तेः, तदाऽसिद्धानैकान्ति-कत्वसाधनदोषोद्भावेऽपि न वादि-प्रतिवादिनोर्जय-पराजयौ, प्रकृतार्थाऽपरिसमाप्तेः।

अथ स्वपक्षसिद्धेरभावात् हेत्वाभासादसाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहस्थानम्। न, इतरत्रापि त-त्प्रसंगात्। अथ वादिनः साधनत्वेनाऽभिमतस्यासाधनत्वप्रदर्शनेन प्रतिवादिकृतेन पराजयः प्रतिवादि-

तथा, धूम और अग्नि के कार्य-कारणभाव की सिद्धि-कारक के रूप में माने गये जो प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ (अन्वय और व्यतिरेक) कहे जाते हैं उन में प्रत्यक्ष तो निकटस्थितविषय के बल से ही उत्पन्न होता है अतः विप्रकृष्ट धूम-अग्नि की बात करने में सक्षम नहीं है; अनुपलम्भ तो अनुपलब्धिरूप है किन्तु उस में गर्भितरूप से ऐसा विचार समाविष्ट नहीं होता कि 'इस के न होने पर न रहनेवाला यह उस का कार्य है'। अत एव वह न तो कार्य-कारणभाव का ग्रहण कर सकता है, न व्याप्ति आदि के ग्रहण का व्यापार कर सकता है। यदि प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ के बाद होने वाले विकल्प को उक्त व्यापार के लिये सक्षम माना जाय, उसी से व्याप्ति आदि का ग्रहण स्वीकार किया जाय तो उस सविकल्प को बलात् प्रमाण मानने का संकट बौद्ध को होगा, क्योंकि एक तो वह प्रत्यक्षादि से अगृहीत व्याप्ति आदि का ग्राहक है और दूसरा, विसंवादी नहीं है। तथा निर्णयात्मक सविकल्प की ही यह महिमा है कि हिंसाध्यवसायी चित्त में दुर्गति की हेतुता का और हिंसाविरमण अथवा दानादि के अध्यवसायी चित्त में स्वर्गादिफलसम्पादनसमर्थस्वभाव का अविकल्प में संवेदन होता है फिर भी निर्णय नहीं होता, फिर भी सविकल्पात्मक निर्णय के बल से ही उस के प्रामाण्य का समर्थन होता है, इसलिये भी विकल्प का प्रामाण्य मानना चाहिये। अन्यथा, निर्विकल्पगृहीतग्राहक होने से यदि विकल्प को अप्रमाण मानेंगे तो अनुमान भी प्रत्यक्ष या विकल्प से गृहीत विषय का ग्राही होने से अप्रमाण मानने का संकट खड़ा होगा - यह पहले भी कह आये हैं। ऐसी स्थिति में अदृश्य के अनुपलम्भ से अभाव की सिद्धि न होने का मानने वाले बौद्ध को 'पदार्थों की सत्ता अर्थक्रिया से व्याप्त होती है' ऐसा कहने पर निग्रहस्थान ही प्राप्त होगा, क्योंकि सत् होने पर भी बहुत सारे पदार्थ और उन की अर्थक्रिया अदृश्य होते हैं, उन के अदृश्य होने से उन के अनुपलम्भ से सत्ता का व्यतिरेक सिद्ध न होने पर व्याप्ति ही सिद्ध नहीं होगी।

✽ वाद में जय-पराजय का आधार है स्वपक्षसिद्धि ✽

तात्पर्य यह है कि - अपने पक्ष की सिद्धि ही वास्तविकरूप से दूसरे के पराजय का अधिकरण हो सकती है। वह तभी हो सकती है जब अन्य द्वारा प्रदर्शित हेतु में विरुद्धता दोष का उद्भावन किया जाय। असिद्धि या अनैकान्तिक दोष के उद्भावन में परपक्षसिद्धि का प्रतिबन्ध होगा किन्तु स्वपक्षसिद्धि नहीं होगी, जब कि विरुद्धता दिखाने पर तो हेतु प्रतिपक्षी के साध्य का व्याप्त सिद्ध होने से प्रतिपक्षी के साध्य की सिद्धि अनायास हो जाती है। अथवा, स्वतन्त्र ढंग से वादी की ओर से अपने अनुमानप्रयोग के हेतु का समर्थन किया जाय और उस के साथ साथ प्रतिवादी के हेतु में असिद्धि या अनैकान्तिक दोष का प्रदर्शन किया जाय तभी प्रतिवादी निग्रहस्थान को प्राप्त होगा। ऐसा न करने पर, सिर्फ असिद्धि या अनैकान्तिक दोष का उद्भावन कर देने मात्र से प्रतिवादीपराजयमूलक स्वविजय की आशा नहीं की जा सकती। अत एव

नस्तु सद्भूतदोषोद्भावनान्नाजयः । न, यदि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वता प्रतिवादिना स्व-परोत्कर्षापकर्षप्रत्यायन-मात्रेण वादी निगृह्यते इत्यभ्युपगमस्तर्हि असद्भूतदोषोद्भावनेनापि निरुत्तरीकरणादात्मोत्कर्षसम्भवात् प्रति-वादिनो विजयप्राप्तेः वादिनो निर्दोषसाधनाभिधायिनोऽपि पराजयप्रसक्तिः । अथ समर्थस्यापि साधनस्या-ऽसमर्थनेन स्वपक्षसिद्धेरभावात् वादिनो(?नः)पराजयो न्यायप्राप्त एव । न, उभयत्र पराजयप्रसक्तेः । न ह्यभूतदोषपक्षोपनयनिगमनाद्युद्भावनमात्रेण प्रतिवादिना प्रकृतं वस्तुतत्त्वं प्रसाधयन् स्वपक्षसाधनसामर्थ्य-विकलेन वादी निगृह्यते इति न्यायोपपन्नम् । अथ प्रतिवाद्यप्यसाधनाङ्गस्य साधनाङ्गत्वेनोपादानात् स्व-पक्षसिद्धिमकुर्वन् मिथ्याभिनिवेशी निगृह्यत इति चेत् ? न, उभयोर्निग्रहप्राप्तेरित्युक्तत्वात् । तस्माद् —

यह खास ध्यान देने योग्य है। कि जब विजय की कामना हो तब अपने पक्ष की स्थापना और अन्य पक्ष का निरसन सभा के मध्य प्रतीतिकारक ढंग से किया जाना चाहिये, अन्यथा किसी का जय-पराजय निश्चित नहीं हो सकेगा। कहने की जरूर नहीं है कि यहाँ परवादी के हेतु में सिर्फ असिद्धि या अनैकान्तिक दोष के उद्भावन से न तो वादी का जय होगा न प्रतिवादी का पराजय, क्योंकि स्वपक्षसिद्धि के विना प्रस्तुतप्रयोजन (सत्यार्थनिर्णय) की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

✽ हेत्वाभासमात्र से निग्रहस्थान नहीं हो जाता ✽

यदि — ‘हेतु हेत्वाभास बन जाने से स्वपक्षसिद्धि नहीं होती अत एव वादी को असाधनभूत हेत्वाभास स्वरूप अंग के कथन से निग्रहस्थान प्राप्त होना चाहिये।’ — तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ प्रतिवादी की स्वपक्षसिद्धि भी न होने से उस को भी निग्रहस्थान की प्राप्ति का प्रसंग होगा। यदि कहा जाय — वादी जब हेतुप्रयोग करे तब प्रतिवादी की ओर से उस के हेतु में हेत्वाभास के रूप में असाधनत्व का प्रदर्शन करने से वादी का पराजय एवं वादी के हेतु में सच्चे दोष के उद्भावन से प्रतिवादी का जय हो सकता है। — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जब प्रतिवादी स्वपक्षसिद्धि नहीं कर सकता और केवल अपनी (पर पक्ष में दोषोद्भावन के द्वारा) हुशियारी और अन्यपक्ष का अपकर्ष ही प्रदर्शित करता है — इतने मात्र से आप वादी को निगृहीत मान लेते हैं — यह ठीक नहीं है। कारण, वादी के पक्ष में असद्भूत (जूठे-बनावटी) दोष का उद्भावन कर के वादी को निरुत्तर कर देने पर प्रतिवादी का उत्कर्ष-प्रदर्शन हो जायेगा और उस को विजय प्राप्त होगा तो निर्दोष साधन बोलने वाले वादी को जूठे पराजय की प्राप्ति प्रसक्त होगी — क्या यह न्याय है ?

‘हाँ, न्याय है, क्योंकि निर्दोष समर्थ हेतु का भी समर्थन न कर सकने से, स्वपक्षसिद्धि रुक जाने के कारण वादी का पराजय होना चाहिये’ — यह विधान न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी भी अपने साधन के समर्थन की उपेक्षा कर के स्वपक्षसिद्धि न कर सकने से उस का भी पराजय होना चाहिये। अर्थात् तब वादी-प्रतिवादी उभय का पराजय मानना चाहिये — अकेले वादी का पराजय मानना अन्याय है। प्रतिवादी के द्वारा वादी के निर्दोष पक्ष में उपनय-निगमन के उद्भावन करने मात्र से वादी प्रस्तुत वस्तुतत्त्व का साधन न कर सके तब भी प्रतिवादी यदि स्वपक्षसाधन के सामर्थ्य से शून्य हो तो वादी को निगृहीत मानना न्याययुक्त नहीं है।

यदि कहा जाय — जैसे वादी असाधन अंग को साधन मान कर प्रस्तुत करे तो निगृहीत होगा वैसे प्रतिवादी भी असाधन अंग को साधन मान कर प्रयुक्त करे और स्वपक्षसिद्धि न कर सके तो वह भी मिथ्याभिनिवेशी होने से निगृहीत होगा — यहाँ अन्याय की बात कहाँ है ? — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हमने पहले ही बताया है कि जब दोनों ही पक्ष अपने साध्य की सिद्धि न करे तब प्रत्येक स्थिति में दोनों ही निगृहीत हो यही न्याययुक्त है, सिर्फ एक को ही निगृहीत मानना अन्याय है।

“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यद्वि न युक्तमिति नेष्यते ॥ ()

इत्यादिवादन्यायलक्षणमेकान्तवादिनां सर्वमसंगतम्, उक्तन्यायात् सर्वस्य चैकान्तसाधनाङ्गत्वात्तस्या-
सत्त्वेन साधयितुमशक्यत्वात् अनेकान्तस्य च निर्दोषत्वेन तत्र दोषोद्भावनस्याऽदोषोद्भावनरूपत्वाद् दोषा-
नुद्भावनस्य च निर्दोषे पराजयानधिकरणत्वात्तदुद्भावनस्यैव तत्र निग्रहार्हत्वात् इत्यलं पिष्टपेषणेन इति
व्यवस्थितम् - मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वम् 'मयिकत्वं वा ।

न विद्यते मृतं = मरणं यस्मिन् असौ अमृतः = मोक्षः, तं सारयति = गमयति = प्रापयतीति
वा तस्य अवन्ध्यमोक्षकारणत्वात् मोक्षप्रतिपादकत्वाच्च । 'अमयसायस्स' वा इति पाठे अमृतवत् स्वाद्यते
इत्यमृतस्वादम् = अमृततुल्यमिति यावत् । तथा रागाद्यशेषशत्रुजेतृपुरुषविशेषैरुच्यते इति 'जिनवचनम्'

❖ वादन्यायग्रन्थोक्त निग्रहस्थानलक्षण असंगत ❖

स्वपक्षसिद्धि न करने वाले दोनों ही पक्ष निग्रह-योग्य है यह नग्न सत्य है, इसी लिये एकान्तवादीयोंने
वादन्याय ग्रन्थ में जो यह लक्षण प्रदर्शित किया है - '(१) स्वयं असाधनभूत अंग का निर्देश करना, तथा
(२) अन्य पक्ष में दोष का उद्भावन न करना - ये दो ही दोनों वादी-प्रतिवादी के लिये निग्रहस्थान है,
अन्य निग्रहस्थान जो अधिकादि दिखाये गये हैं वे अयुक्त है' - यह भी असंगत ही है, क्योंकि स्वपक्षसिद्धि
न कर सकना यही उक्त न्याय से निग्रहस्थान है। तथा, एकान्तवादीयोंने जितने भी हेतुप्रयोग दिखाये हैं वे
सब 'एकान्त' के ही साधनाङ्ग है, एकान्त तो असत् है, वह साधनार्ह नहीं है। 'अनेकान्त' निर्दोष तथ्य
है, उस में दोषों का उद्भावन भी अनेकान्तवाद के प्रभाव से कथंचित् इष्टापत्तिस्वरूप होने से निर्दोषता के
उद्भावनरूप ही हो जाता है। तथा यह ध्यान में होना चाहिये कि निर्दोष में दोष का अनुद्भावन पराजय
का अधिकरण नहीं है किन्तु निर्दोष में दोष का उद्भावन करना यही निग्रहस्थान है।

उपरोक्त सब बात बार बार कही जा चुकी है - पुनः पुनः पिष्टपेषण की क्या जरूर ? सूत्रकार ने
जो जिनवचन को मिथ्यादर्शन के समूहरूप बताया है वह पूर्व में कहे हुए अनेक प्रकार से बिलकुल ठीक
है, क्योंकि अनेकान्तदर्शन नैगमादिनियों के परस्परसापेक्ष विशिष्ट संकलनात्मक है, जिस के एक-एक किन्तु
परस्पर निरपेक्ष नैगमादि नयांश मिथ्यादर्शनात्मक है, अतः अनेकान्त दर्शन को मिथ्यादर्शनसमूहात्मक कहने
में उस के गौरव की हानि नहीं अपि तु वृद्धि है। (यहाँ ऐसा नहीं समझना है कि नैयायिकादि एक एक
मिथ्यादर्शन के अंशों को चुन चुन कर एकत्रित करके जैन दर्शन को समुदायात्मक रूप दिया गया है। वास्तविकता
उलटी है, जैन दर्शन सम्पूर्ण सांगोपांग दर्शन है, नैगमादि नय उस के एक एक अंग है, उन एक एक अंगों
को पकड़ कर नैयायिकादि स्वतन्त्र दर्शन खड़े हुए हैं, इसी तथ्य का निर्देश करने के लिये सूत्रकारने
'मिथ्यादर्शनसमूहमय' ऐसा विशेषण कहा है। मिथ्यादर्शनों का समूह जैनदर्शन का विकृतरूप है - इसी तथ्य
का निर्देश 'मयट्' प्रत्यय से किया है।)

❖ अमृततुल्य जिनवचन का कल्याण हो - अन्त्यमंगल ❖

सूत्र में जिनवचन का 'अमृतसार' ऐसा विशेषण है। मृत यानी मौत। जहाँ मौत का प्रसर ही नहीं है
उसे अर्थात् मोक्ष को अमृत कहते हैं। जिनवचन ऐसे अमृत को सारनेवाला - झरनेवाला-प्राप्त करानेवाला है
क्योंकि जिनवचन मोक्ष का अवन्ध्य उपाय है और वही एक तात्त्विक मोक्ष का निदर्शक है। अथवा मूल सूत्र
में 'अमयसायस्स' ऐसा कहीं पाठ है तो उस का अर्थ यह होगा - अमृत तुल्य स्वादवाला अर्थात् स्वयं जिनवचन

तस्य । अनेन विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वनिबन्धनं प्रामाण्यं निगमयति । क्षीराश्रवाद्यनेकलब्ध्याद्यैश्वर्यादिमतो भगवत् इत्यनेनापि विशेषणेन तस्यैहिकसम्पद्धिशेषजनकत्वमाह । संविग्रैः संसारभयोद्वेगाविर्भूत-मोक्षा-भिलाषैरपकृष्यमाणाराग-द्वेषाऽहंकारकालुष्यैः 'इदमेव जिनवचनं तत्त्वम्' इत्येवं सुखेनावगम्येत यत् तत् संविग्रसुखाभिगम्यम् । एतेनापि विशिष्टबुद्ध्यतिशयसंवित्समन्वितयतिवृषनिषेव्यत्वमस्य प्रतिपादयति । एवंविधगुणाध्यासितस्य जिनवचनस्य सामायिकादिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधेः कल्याणमस्तु इति प्रकरणसमाप्तावन्त्यमङ्गलसम्पादनार्थं विशिष्टां स्तुतिमाह ।

॥ इति तत्त्वबोधविधायिन्यां सन्मतिटीकायां तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥

✽ व्याख्याकार-अभयदेवसूरि कृता प्रशस्तिः ✽

इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यद् मयाऽऽप्तम् कुशलमतुलमस्मात् सन्मतेर्भव्यसार्थैः ।
भवभयमभिभूय प्राप्यतां ज्ञानगर्भम् विमलमभयदेवस्थानमानन्दसारम् ॥१॥

सुधातुल्य है। जिनवचन यानी जिनों का प्ररूपित वचन। जिन यानी विजेता, जो रागादि सकल अन्तःशत्रुओं के विजेता हैं ऐसे पुरुषविशेष 'जिन' कहे जाते हैं। इस से यह ध्वनित करना है कि वचनगत प्रामाण्य हरहमेश विशिष्टपुरुषरचनामूलक ही होता है। मूलसूत्र में जिनवचन को भी 'भगवत्' विशेषण से अलंकृत किया है जिस से यह सूचित किया जाता है कि जिनवचन के प्रतिपादक जिनों में क्षीराश्रवादिलब्धि एवं कैवल्यज्ञानादि ऐश्वर्य बेजोड होता है। इस से यह भी संकेत मिलता है कि ऐसा जिनवचन इहलौकिक विशिष्ट सम्पदाओं का प्रणेता है। 'संविग्रसुखाधिगम्य' यह भी मूल सूत्र में जिनवचन का विशेषण है - अर्थ यह है - संविग्र = जिन को संसार के भय से उद्वेग है ओर संसारभयजनित उद्वेग से जिन को मुक्ति की इच्छा का आविर्भाव हुआ है, तथा जिन के राग-द्वेष और अहंकार का मालिन्य क्षीण होते चला है ऐसे जीवों को 'संविग्र' कहा जाता है। 'यह जिनवचन ही परम तत्त्व है' ऐसा अधिगम सुखपूर्वक उन को ही होता हो - अतः जिनवचन संविग्रजन को सुखाधिगम्य कहा गया है। इस से सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि विशिष्ट बुद्धि-अतिशय एवं विशिष्ट संवेदन से समन्वित यतिवृषभों के लिये यही एक जिनवचन उपासनाई है।

संक्षेप में, मूलसूत्रकारने अपने सम्मति-तर्क प्रकरण ग्रन्थ की सहर्षसमाप्ति के अवसर पर अंतिम मंगल-सम्पत्ति के लिये विशिष्ट प्रकार से जिनवचन की स्तुति करते हुए इस अंतिम गाथा मे यही कहा है कि मिथ्यादर्शनसमूहमय-अमृतसार इत्यादि असाधारण गुणगण से अलंकृत सामायिक से लेकर बिन्दुसार (१४ वाँ पूर्व) पर्यन्त सुविस्तृत श्रुतजलधि का कल्याण हो। अर्थात् जिनवचन का योग्यजनों में अधिक अधिक प्रसार हो।

'सन्मति' तर्कप्रकरण की 'तत्त्वबोधविधायिनी' व्याख्या में तीसरा काण्ड समाप्त हुआ। सूत्र में निहित गूढतत्त्वों का अवबोध करा कर व्याख्याने अपना नाम सार्थक किया है।

✽ व्याख्याकार अन्तिम प्रशस्ति ✽

व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरि व्याख्या के उपसंहार में मंगलकामना प्रगट करते हैं -

कुछ कुछ अंश में सन्मतिप्रकरण के सूत्रों का व्याख्यान करने से मुझे जो कुछ असाधारण कुशल कर्म का (पुण्य का) लाभ हुआ, उस से भव्य जीवसमुदायों के भवभय का पराभव हो और वे निर्मल ज्ञान से छलकते आनन्द के सारभूत निर्भयता के देवस्थान को (अर्थात् मोक्ष को) प्राप्त करें ॥१॥

अब व्याख्याकार अपने उपकारी गुरुदेव प्रद्युम्नसूरिजी महाराज की स्तुति प्रस्तुत करते हैं -

पुष्यद्वादानवादि-द्विरद-घनघटाकुण्ठधीकुम्भपीठ -

प्रध्वंसोद्भूतमुक्ताफलविशदयशोराशिभिर्यस्य तूर्णम् ।

गन्तुं दिग्दन्तिदन्तच्छलनिहितपदं व्योमपर्यन्तभागान्

स्वल्पब्रह्माण्डभाण्डोदरनिबिडभरोत्पिण्डितैः सम्प्रतस्थे ॥२॥

प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण तत्त्वबोधविधायिनी । तस्यैषाऽभयदेवेन सन्मतेर्विवृतिः कृता ॥३॥

अङ्कतो ग्रन्थप्रमाणं २५००० ।

प्रवादिमदमर्दनप्रकटसन्मतिव्याजतो

निवेशितजगत्त्रयस्फुरितसान्द्रकीर्त्तिद्रुमः ।

समस्तजगतीतले गुणवतां शिरःशेखरो

जयत्यतुलवाग () अभयदेवसूरिः प्रभुः ॥

(इति प्रशस्तिः)

पुष्ट वचनरूपी मदवाले वादीस्वरूप गजराजों की घनघटा के तीक्ष्णबुद्धिस्वरूपगण्डस्थल का भेद करने से, बाहर आये हुए मुक्ताफलस्वरूप जिसके निर्मल यशःपुञ्जों जो कि बहुत छोटे ब्रह्माण्डरूपी बरतन के अंदर खचाखच भरे जाने के कारण उत्पीडन महसूस करते थे (अथवा खचाखच समूह से उत्पिण्डित यानी बिखर कर के) वे शीघ्र ही गगन के पर्यन्त भागों तक पहुँचने के लिये दिग्गजों के दन्तों के छल से कदम भरते हुए प्रस्थान करने लग गये - (ऐसे वे प्रद्युम्नसूरिजी) ॥२॥

उन प्रद्युम्नसूरिजी के 'अभयदेव' शिष्यने तत्त्वबोध विधायक सन्मतिविवरण किया ॥३॥

विवरण का ३२ अक्षर के एक श्लोक के प्रमाण से ग्रन्थाग्र अंकत २५००० है। यहाँ अभयदेवसूरिजी की प्रशंसापरक 'प्रवादि०' इत्यादि एक वृत्त मिलता है - उस का अर्थ :-

प्रवादीयों के मद का मर्दन करने के लिये गुप्त न रहनेवाली सदबुद्धि (अर्थात् श्लेष से सन्मतिविवरण) के बहाने से जिन का तीन जगत् में चमकता हुआ सघन कीर्त्तिरु स्थापित हो चुका है (दृढ-मूल बना है) ऐसे सम्पूर्णविश्वमंडल में गुणवानों में शिरोमणितुल्य एवं बेजोड वाणीवैभववाले प्रभु श्री अभयदेवसूरि की जय हो ॥

(प्रशस्ति सम्पूर्ण)

पोषसुदि ११ वि.सं. २०४८ के शुभदिन गुरुवार को आज श्री सन्मतिप्रकरण की तत्त्वबोधविधायिनी व्याख्या के पंचम खंड का हिन्दीभाषाविवरण सानन्द समाप्त हुआ - मुनि जयसुंदर विजय । श्री सूत्रकार और व्याख्याकार के चरणों में कोटि कोटि वन्दना ।

परिशिष्ट-१ पञ्चमखंडे तृतीयकाण्डे गाथा-अकारादिक्रमः

गाथांशः	गाथांक	पृष्ठाङ्कः	गाथांशः	गाथांक	पृष्ठाङ्कः
अणु दुअणुएहिं दव्वे	(३९)	५८	ते उ भयणोवणीया	(५१)	२२२
अत्थि अविणासधम्मी	(५५)	२४४	नत्थि पुढवीविसिद्धो	(५२)	२२३
उप्पज्जमाणकालं	(३७)	५५	दव्वस्स ठिई जम्म -	(२३)	२८
उप्पाओ दुवियप्पो	(३२)	४०	दव्वत्थंतरभूआ	(२४)	२८
एगसमयग्गि एग०	(४१)	६९	दव्वट्टियवत्तव्वं	(५७)	२७४
एगंतणिव्विसेसं	(२)	२	दव्वंतरसंजोगाहि	(३८)	५७
एयन्ताऽसब्भूयं	(५९)	२७६	दव्वं जहा परिणयं	(४)	११
एयंतपक्खवाओ	(१६)	२३	दव्वं खित्तं कालं	(६०)	२८०
काय-मण-वयणकिरिया	(४२)	७०	दुविहो धम्मावाओ	(४३)	७३
कालो सहाव णियई	(५३)	२२४	दूरे ता अण्णत्तं	(९)	१८
कुम्भो ण जीवदवियं	(३१)	३८	दोहि वि णएहि णीअं	(४९)	८२
कोवं उप्पायंतो पुरिसो	(७)	१६	दो उण णया भगवया	(१०)	१९
गइपरिणयं गई चेव	(२९)	३५	परपज्जवेहिं असरिस -	(५)	१२
गुणसट्टमन्तरेणावि	(१४)	२१	परिगमणं पज्जाओ	(१२)	२०
गुणणिव्वत्तियसण्णा	(३०)	३७	पच्चुपण्णम्मि वि	(६)	१४
चरण-करणप्पहाणा	(६७)	३८५	पच्चुप्पन्नं भावं	(३)	४
जं च पुण अरिहया	(१९)	१९	परिसुद्धो नयवाओ	(४६)	७९
जंपन्ति अत्थि समये	(१३)	२१	पाडेक्कनयपहगयं	(६१)	२९९
जह जह बहुस्सुओ	(६६)	३८६	पिउपुत्तण्तु-भव्वय	(१७)	२४
जह दससु दसगुणम्मि	(१५)	२२	बहुयाण एगसद्दे	(४०)	६८
जह संबंधविसिद्धो	(१८)	२४	भद्द मिच्छादंसणसमूह	(६९)	३९२
जावइया वयणपहा	(४७)	८०	भण्णइ संबंधवसा	(२०)	२६
जुज्जइ संबंधवसा	(२१)	२६	भण्णइ विसमपरिणयं	(२२)	२७
जं काविलं दरिसणं	(४८)	८१	भयणा वि हु भइयव्वा	(२७)	३१
जे संतवायदोसे	(५०)	२०२	भविओ सम्मदंसण	(४४)	७५
जेण विणा लोगस्स	()	३९१	रूव-रस-गंध-फासा	(८)	१७
जो आउंचणकालो	(३६)	५३	विगमस्स वि एस विही	(३४)	४८
जो हेउवायपक्खम्मि	(४५)	७६	सम्मदंसणमिणमो	(६२)	३००
णत्थि ण णिच्चो	(५४)	२४१	साभाविओ वि समुदयकओ	(३३)	४१
ण हु, सासणभत्ती-	(६३)	३०१	सामण्णम्मि विसेसो	(१)	१
णवि अत्थि अण्णवादो	(२६)	३०	साहम्मउ व्व अत्थं	(५६)	२४७
णाणं किरियारहियं	(६८)	३९०	सीसमईविप्फारण-	(२५)	३०
णियमेण सद्दहतो	(२८)	३४	सुत्तं अत्थनिमेणं	(६४)	३५३
तम्हा अहिगयसुत्तेण	(६५)	३५४	हेउविसओवणीयं	(५८)	२७५
तिण्णि वि उप्पायाई	(३५)	५०	होज्जाहि दुगुणमहुरं	(१९)	२५

परिशिष्ट-२ पंचमखंडे तृतीयकाण्डटीकागतोद्धरण-अकारादिक्रमः

उद्धरणांशः	पृष्ठाङ्कः	उद्धरणांशः	पृष्ठाङ्कः
अज्ञातार्थप्रकाशो वा (प्रमाणवार्तिक-१-७)	३५२	क्रियावद् गुणवत् (वैशे० द० १-१-१५)	१७
अत इदम् इति यत- (वैशे० द०-२-२-१०)	११२	गीयत्थो य विहारो (ओ० नि० १२१)	३९०
अतीन्द्रियानसंवेधान् (वाक्यपदीय १-३८)	३८१	गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (तत्त्वार्थसूत्र-५-३७)	२२
अनर्थः खल्वपि कल्पना (-न्यायविद्)	२५५	गूढ-सिर-संधि-पव्वं (जीवविचार प्र० १२)	७८
अन्यतरकर्मजः (वैशे० द० ७-२-९)	२०१	ग्राह्य-ग्राहकोभयशून्यं ()	२९९
अपरस्मिन् परं युगपद् (वैशे० द० २-२-६)	१११	चित्रया यजेत (शाबरभाष्य १-४-३)	२९६
अयुतसिद्ध० (प्रशस्त० भा० कन्दली)	१९२	चोदनालक्षणो धर्मः (मीमांसाद० १-१-२)	३००
अवयवी अवयवेषु (-उद्धोतकरः)	१०५	छक्कायदयावंतो वि ()	३६६
अशक्तं सर्वम् इति चेत् ()	२१३	जारिसयं गुरुलिङ्गं ()	३७०
अशाब्दे वापि वाक्यार्थे (श्लो० वा० शब्द०२३०)	३२६	जिणा बारसरूवाणि (पंचवस्तु-७७१)	३७१
असाधनाङ्गवचन० ()	४०७	जीवाऽजीवाश्रव० (तत्त्वार्थ० १-४)	७६
आचेलकुद्देसिय (बृ०क०भा० गाथा-१९७२)	३५६	जीवो अणाइनिहणो (धर्मसंग्रहणी-३५)	३५४
आत्मा रे श्रोतव्यो ()	२९९	जे जत्तिआ इ हेउ० ()	३६४
आद्ये पूर्वविदः (तत्त्वार्थसूत्र-९-३९)	३८२	णगिणस्स वा वि (दशवै० ६-६५)	३५३, ३७२
आम्नायस्य क्रियार्थ० (मीमांसा० १-२-१)	३४६	णत्थि णण विहूणं (आव० उव० नि०३८)	३५४
आश्रवनिरोधः संवरः (तत्त्वार्थसूत्र ९-१)	३१२	णो कप्पइ णिग्गंधस्स (बृ० क० उ० १-१)	३७४
इन्द्रियार्थसंनिकर्षो० (न्यायदर्शन १-१-४)	२०१	तथा यत्रासौ वर्तते ()	१६८
उत्क्षेपणमपक्षेपण० (वैशे० द० १-१७)	१५१	तपसा निर्जरा च (तत्त्वार्थ० ९-३)	३१४, ३१८
उपलम्भः सत्ता ()	२२३	तस्मात्तन्मात्रसम्बन्धः (प्रमाणवार्तिक ३-२३)	३७८
ऊर्णनाभः इवांशूनां ()	२३६	तस्य शक्तिरशक्तिर्वा ()	१७८
एकद्रव्यमगुणं संयोग- (वैशे० द० १-१-१७)	१२०	तित्थपणामं काउं (आ० नि० गाथा-४५)	३८४
एकस्मिन् भेदाभावात् (-उद्धोतकर)	९९	तं सव्वनयविशुद्धं (आ० नि० गाथा-१०२)	३९०
एकेको वि सयविहो (आ० नि० ३६)	३९३	दव्वट्टयाए सासया० ()	३२
एगुणकालए.... (भग० सू० श० ५-७-२१७)	२१	द्वयाश्रयी अगुणवान् (वैशे० द० १-१-१६)	१८, १२०
एवं धर्मैर्विना... (प्रशस्त० भा० पृ० २६)	९३	धर्माधर्मक्षयकरी दीक्षा	३००
कइविहे णं भंते ! आया...(भग०सू०श०१२ उ-१०)१५	१५	न याति न च तत्रा० ()	१६८
कम्मं जोगनिमित्तं (प्रथम कर्मग्रन्थ-१९)	३०५	नयास्तव स्यात्पद० ()	३९३
कर्तुः प्रिय-हित-मोक्ष० (प्रशस्त० भाष्य)	१५१	न व्यक्तशक्तिरीशो ()	२३९
कः कण्टकानां प्रकरोति ()	२२७	न शाबलेयाद्रोबुद्धिः (श्लो० वा० वन०-४७)	१८०
कालो य होइ सुहुमो ()	७८	न हेतुरस्तीति वदन् ()	२३२
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः	२०९-२९९	नानुकृतान्वयव्यतिरेकं ()	२८६

उद्धरणंशः

निर्गुणाः गुणाः ()	१२८
नैकरूपा मतिर्गोत्वे ()	१८०
नित्यमेकमण्डव्यापि ()	२९०
पद्मप्यधिकाभावात् (श्लो०वा०शब्द०श्लो० १०७)	३३८
परलोकिनोऽभावात् ()	३००
पश्यतः श्वेतिमारूपं (श्लो०वा०वाक्य०श्लो०३५८)	३३७
पिंडभेदेषु गोबुद्धिः (श्लो० वा० वन० श्लो० ४४)	१८०
पिंडविसोही समिई (ओ० नि० गाथा-३)	३८७
पिंडं सेज्जं च वत्थं (दश वै० ६-४८)	३७२
पुरुष एव इदं सर्वं ()	२३७
पुरुषो जन्मिनां हेतुः ()	२३७
प्रकृतेर्महान् महतो (सांख्यकारिका-२२)	३०३
प्रत्येकसमवेतापि ()	१८०
प्रत्येकसमवेतार्थविषयैवाथ (श्लो० वा० वन-४९)	१८०
प्राप्तव्यो नियतिबल ()	२३३
बन्धवियोगो मोक्षः ()	३१६
बाह्यं तपः परमदुश्चर० (स्वयंभूस्तोत्र-८३)	३६८
बुद्धिः उपलब्धि० (न्यायद० १-१-१५)	१४५
भच्चा वि ते अणंतां० ()	३७३
भावनैव हि वाक्यार्थः (श्लो० वा० वाक्य० श्लो० ३३०/३३१)	३३८
मण्णइ तमेव सच्चं (आचारांग ५-५-१६२)	३८९
मति-श्रुतयोर्निबन्धः (तत्त्वार्थ० १-१७)	३०२
महति अनेकद्रव्य० (वैशे० द० ४-१-६)	८८
मालादौ च महत्त्वादि (प्रमाणवार्तिक २-१५७)	१२९
मूर्छा परिग्रह० (तत्त्वार्थ० ७-१२)	३५९
य एव पर्यायः स० ()	२०
यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षा० (न्या०वात्स्या०भा०पृ०४)	२५६
यथा यथा पूर्वकृतस्य ()	२३५
यद्वत्तुरगः सत्स्वप्या० ()	३६५

पृष्ठाङ्कः

उद्धरणंशः

पृष्ठाङ्कः

यस्मात्प्रकरणचिन्ता० (न्या०द०१-२-७)	२४९/२५३
युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति० (न्या०द०१-१-१६)	११३/२०१
रयणप्यभा सिआ (जीवा० प्रतिप० ३-१-७८)	३२
वयसमणधम्मसंजम० (ओ० नि० गाथा-२)	३८७
वर्णाकृत्यक्षराकार० (प्रमाणवार्तिक २-१४७)	१७३
वस्त्रस्य रागः कुड्कुमादि० ()	१०१
वाक्यार्थे तु पदार्थम्यः (श्लो० वा० शब्द० १०९)	३२३
वाक्येष्वदृष्टेष्वपि (श्लो० वा० शब्द० १११)	३२३
विधावनाश्रिते साध्यः (श्लो०वा०औत्प०श्लो०१४)	३३१
विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य ()	४०१
वोसट्टचत्तदेहो विहरइ ()	३६९
शेषाणामाश्रयव्यापि० (प्रज्ञस्त० भा० पृ० २४९)	२१५
सत्ताद्रव्यत्वसम्बन्धात् ()	३००
सदकारणवन्नित्यम् (वैशे० द० ४-१-१)	६२,८२,२९९
समवायिनः श्वैत्यात् (वैशे० द० ८-१-९)	१७४
सम्यग्दर्शनज्ञान० (तत्त्वार्थ० १-१)	७६
संयोगसिद्धिए फलं (आ० नि० २३)	३९१
सर्गस्थित्युपसंहारान् ()	२३९
सव्वथोवा तित्थयारि० ()	३७५
सव्वे वि एगदूसेण (आ० नि० गाथा-२२७)	३६९
संख्या-परिमाणानि (वैशे० द० ४-१-११)	१२२,१५२
संसङ्गमसंसङ्गा ()	३८७
संसर्गमोहितधियो ()	३२८
साधने पुरुषार्थस्य ()	३३६
सो य तवो कायव्वो (पंचवस्तु-२१४)	३६८
सामान्यमपि नीलत्वादि (-शंकरस्वामी)	१७३
स्वकारणसम्बन्ध० ()	१५५
स्वाश्रयेन्द्रियसंनिकर्षा० ()	१७६
हयं नाणं कियाहीणं (आ० नि०-२२)	३९१

परिशिष्ट-३ विविधग्रन्थेषूद्धृताः सन्मति० गाथाः

श्री जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण-विशेषावश्यकभाष्ये (काण्डः/गाथांकः)

१/११(२५४८), १/१९(१९३५), १/६(२९४०), २/१५(१४१), २/४३(७७४), ३/४७(२२६५),
३/५२(२१०४), ३/४९(२१९५)

श्रीसिंहक्षमाश्रमण-नयचक्रटीकायाम् - (काण्डः/गाथांकः)

१/३१, १/४१, १/२८, ३/६९, १/३, ३/५८, १/४७, १/६, १/५, ३/४५

श्रीसिद्धसेनगणित-तर्त्वाथभाष्यवृत्तौ - १/२०, १/२८

श्रीहरिभद्रसूरिभिः पञ्चवस्तुके ३/५३ (१०४९) उपदेशपदे ३/५३ दशवैकालिकटीकायाम् १/१८, ३/५२

श्रीशीलांकाचार्येण-आचारांगटीकायाम् - १/२१, १/१२, ३/४५, १/३१

सूत्रकृतांगटीकायाम् - ३/५३, १/२२, १/२३, १/२४, १/२५

श्रीवादिवेतालशान्तिसूरि - उत्तराध्ययनपाइयटीकायाम् - १/३, १/६, ३/४७

श्रीहेमचन्द्रसूरि - प्रमाणमीमांसायाम् ३/४९

श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरि - विशेषावश्यकटीकायाम् - १/३, १/४७, ३/५२

श्रीमल्लिषेणसूरि - स्याद्वादमंजर्याम् - ३/४७

श्रीविद्यानन्दी - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके - ३/४५

श्रीअनन्तवीर्य - सिद्धिविनिश्चयटीकायाम् - ३/५०

श्रीअमृतचन्द्र - पंचास्तिकायटीकायाम् - ३/६७

परिशिष्ट-४ महोपाध्यायश्रीयशोविजयग्रन्थेषु सन्मतिगाथाः

शास्त्रवार्ता-समुच्चयटीकायाम्			
१/३५	१/१०	३/२९	३/९
१/४७	१/५१	३/३०	३/१०
१/३७	१/९	३/१४	३/३९
१/३९	१/१२	३/१५	३/३
१/११	१/४३	३/४७	३/१२
१/४९	१/५४	३/५०	३/४०
१/५३	१/४८	३/४८	३/२७
१/५०	२/३५	३/११	३/४४
१/४४	३/३६	३/१३	३/८
१/६	३/३९	३/२८	३/३४
१/२८	३/३२	३/३५	३/३३
१/२१	३/५३	३/५७	३/५६
१/५२	३/३१	३/३८	

नयोपदेशो		ज्ञानबिंदु	
१/१३	१/५४	१/८	२/२९
१/३१	१/३४	१/३५	२/२५
१/४१	१/३५	२/१२	२/९
१/१५	१/१६	२/१३	२/२२
१/५३	३/३७	२/३२	२/२१
१/१४	३/५३	२/२४	२/१६
१/२८	३/४७	२/४	२/१८
१/३	३/५४	२/१४	२/११
१/१०	३/२८	२/५	२/१५
१/९	३/६	२/२०	२/२७
१/१२	३/२५	२/२३	२/३
१/८		२/१०	२/२६
		२/१९	२/३३
		२/२८	२/३१
		२/३०	२/७
			२/८

अनेकान्तव्यवस्था			
१/४	१/२३	१/३९	३/२०
१/३५	१/२४	१/४०	३/२१
१/८	१/२५	१/४१	३/२२
१/९	१/२६	३/४९	३/२३
१/१०	१/२७	३/५	३/२४
१/११	१/२८	३/६	३/२५
१/१२	१/५	३/७	३/२६
१/१३	१/४१	३/८	३/२७
१/१४	१/५३	३/१५	३/२८
१/१५	१/५४	३/३९	३/२९
१/१६	१/३६	३/३३	३/३०
१/२१	१/३७	३/१२	३/३१
१/२२	१/३८	३/१९	३/६७

द्रव्यगुणपर्यायरास		महावीरस्तवे	धर्मपरीक्षा
१/४७	३/१३	१/२८	१/३
१/४१	३/३८	१/८	३/४८
२/३५	३/१०	३/२९	३/४९
२/३६	३/४९	३/६	३/२७
३/३९	३/१२		
३/३७	३/३४		
३/३२	३/३३		
३/१४			
३/६७			
३/१५			
३/११			
		गुरुतत्त्वविनिश्चय	
		१/२८	
		३/५४	
		३/२७	

“ગૌતમ-વીરની યાદ અપાવે

ગુરુ-શિષ્યની જોડી”



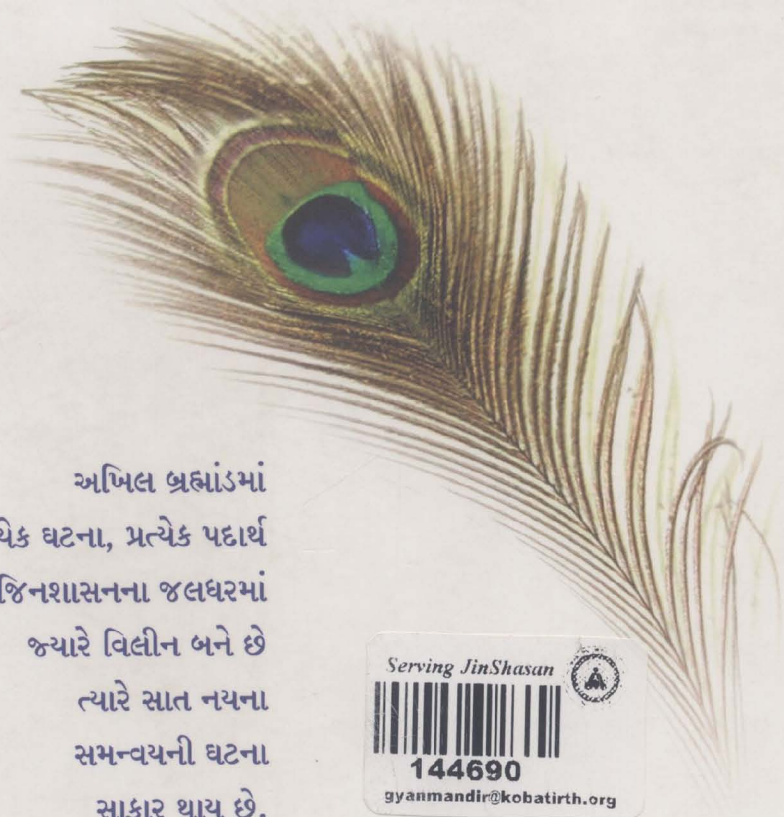
પૂ. આ. શ્રી ભુવનભાનુસૂરીશ્વરજીમ. સા.

પ. પૂ. આ. શ્રી પ્રેમસૂરીશ્વરજીમ. સા.



પ. પૂ. આ. શ્રી જયઘોષસૂરીશ્વરજી મ. સા.

વિરાટ વાદળ ભાણી
પોતાના સમગ્ર અસ્તિત્વને ઓગાળવા
દોટ મૂકતાં નાનલડાં સૂર્યકિરણના
આ અપ્રતિમ શૌર્યને
વાદલડી સાત રંગોના
નવલાં નજરાણાથી
નવાજે છે.



અખિલ બ્રહ્માંડમાં
ઘટતી પ્રત્યેક ઘટના, પ્રત્યેક પદાર્થ
જિનશાસનના જલધરમાં
જ્યારે વિલીન બને છે
ત્યારે સાત નયના
સમન્વયની ઘટના
સાકાર થાય છે.

જિનશાસનની
આ ઉજ્જવળ યશોગાથાને
વાર્ણવતું મેઘધનુષ
એટલે

સન્મતિ - તર્કપ્રકરણ



પ્રત્યેક ઁંડ કા મૂલ્ય - ૬૦૦/- રૂપયે
સમ્પૂર્ણ સેટ મૂલ્ય ૩૦૦૦/- રૂપયે